गीता-ज्ञानेश्वरी

(हिन्दी पद्यानुवाद)



अनुवादक—

कविभूषण श्री गणेशप्रसाद अग्रवाल



सम्पादक—

श्री वेणीशंकर शास्त्री

—:o:—

प्रकाशक—

श्री रामसनेही अग्रवाल

एम.ए., बी. कॉम., एलएल.बी.

बिलासपुर (मध्यप्रदेश)

प्रथम बार २००० | विजयदशमी २०१४

प्रकाशक –
श्री रामसनेही अग्रवाल, एडवोकेट
बिलासपुर (मध्य प्रदेश)

प्राप्ति स्थान –
१–मोहन मन्दिर, ७७ धर्मतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता—१३
२–श्री रामसनेही अग्रवाल, एडवोकेट
बिलासपुर (मध्यप्रदेश)
३–श्री सेठ भद्दूलाल गणेशप्रसाद
मण्डला (मध्य प्रदेश)
४–धर्मप्रेस, कमलानगर, दिल्ली—६

मूल्य १५)

मुद्रक:—
आचार्य श्रीकण्ठ शास्त्री एम.ए.
धर्मप्रेस कमलानगर दिल्ली—६

गीता माहात्म्य

—◉:★:◉—

गीता सुगीता कर्तव्या
किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य
मुखपद्माद् विनिसृता ॥

सर्वोपनिषदो गावो
दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता
दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

विषय-सूची



माननीय सम्मतियाँ

ज्ञानेश्वरी का प्रस्तुत पद्यानुवाद पूर्ण हो जाने के उपरान्त अनुवादक इसे लेकर स्वयं भारत के प्रसिद्ध महात्माओं मण्डलेश्वरों, विद्वानों एवं प्रमुख शिक्षा संस्थाओं के पास गए। अनेक जगह ग्रन्थ की प्रतिलिपि डाक से भेजी गई। उस समय प्रायः सबने अनुवाद को देख अपनी शुभ सम्मतियां भेजकर इसे शीघ्र प्रकाशित करने के लिए अनुवादक को प्रोत्साहित किया था। इन अनेकों सम्मतियों में से कुछ गण्य मान्य सम्मतियां यहां उद्धृत की जाती हैं।—'सम्पादक'

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पदवाक्यप्रमाणपारावारीण ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज —

'मध्यप्रदेशान्तर्वर्तिमण्डलानगरनिवासिनः श्री गणेशप्रसादगुप्तस्याभिनवां महाराष्ट्रभाषांकितायाः ज्ञानेश्वरीटीकाया हिन्दीभाषानुवादात्मकपद्यरचनां यथावदवाकलय्यांशतः आलोचनमात्रेण लोकोपकारि सम्भाव्य कृतिकारोऽभिहितो गाम्भीर्यं जगदानन्दसम्पादकमस्थिदानन्दश्रीजगदीश्वरतः काम्यते।'

श्री १०८ स्वामी विद्यानन्द जी मण्डलेश्वर गीताव्यास

'गीता ज्ञानेश्वरी का अनुवाद बड़ा अच्छा है। प्रभु कृपा से उसका अच्छा प्रचार हो, लोग इससे लाभ उठावें—हमारी ऐसी अभिलाषा है।'

वीतराग ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती श्री करपात्री जी महाराज

'यह ज्ञानेश्वरी पद्यानुवाद हिन्दी भाषाभाषियों एवं पद्यरसिकों के हितानुकूल होगा।'''वैसे तो ज्ञानेश्वरी के हिंदी में अनेक अनुवाद निकल चुके हैं किन्तु गद्य की अपेक्षा पद्य को कंठस्थ करने में विशेष सरलता होती है, इस दृष्टि से श्री गणेशप्रसाद अग्रवाल का यह प्रयास हिन्दी भाषाभाषी गीताप्रेमी महानुभावों के लिए विशेष कल्याणकर होगा।'

श्री १०८ स्वामी भागवतानन्द जी मण्डलेश्वर काव्य सांख्य योग-वेद-वेदान्त-तीर्थ, वेदांत-वागीश, वेदरत्न, मीमांसाभूषण दर्शनाचार्य—

'मैंने श्रीयुत् गणेशप्रसाद जी की गीता ज्ञानेश्वरी की हिंदी पद्यमयी टीका को देखा। यह व्याख्या प्रशंसनीय एवं प्रचार योग्य है। अनुवादक का प्रयत्न स्तुत्य है। सरल सरस शब्दों में यह व्याख्या सर्वांगसुन्दर है।'

श्रीमन्माध्वसंप्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्यदर्शनाद्याचार्य न्यायतर्करत्न
गोस्वामी दामोदर शास्त्री—

दादा धर्माधिकारी, वर्धा—

'श्री गणेशप्रसाद जी कृत ज्ञानेश्वरी का हिंदी पद्यानुवाद मैंने देखा। भाषा सरल और प्रवाहिनी है। अनुवाद में मूल मराठी के अर्थ की हानि नहीं हुई है इतना मैं कह सकता हूं।'

महामहोपाध्याय श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' साहित्यवाचस्पति, बिलासपुर—

'यह अनुवाद सफल और इतना सुन्दर हुआ है कि जिस अध्याय को पढ़िये वहीं मन मुग्ध हो जाता है। 'जहां जाय मन तहां लुभाई।' यह ग्रन्थ तुलसीकृत रामायण के समान प्रिय होगा इसमें सन्देह नहीं।'

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर—

'श्रीयुत गणेशप्रसाद जी अग्रवाल ने गीता ज्ञानेश्वरी का हिन्दी पद्यानुवाद किया है। मेरी सम्मति में यह अनुवाद उपयुक्त हुआ है।' ज्ञानेश्वरी एक प्रसिद्ध टीका है। इसके पद्यानुवाद की हिन्दी में आवश्यकता थी। इस अभाव की पूर्ति कर श्रीयुत गणेशप्रसाद जी ने हिन्दी संसार का उपकार किया है।

महामहोपाध्याय पण्डित बालकृष्ण मिश्र, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

हिन्दी भाषाविलिखितं, गीता विवरणमस्य।
पश्यन्प्रीतिमुपागतो, वाग्विस्तारमुदस्य ॥१॥
लोकस्योपकृतिर्भवेदद्भीयाफलनेन।
आवेदयति समासतो मिश्रोऽयं हृदयेन ॥२॥

श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे भूतपूर्व सम्पादक नवनीत, भारतमित्र दैनिक, श्रीकृष्ण-संदेश, नवजीवन आदि, काशी—

'ज्ञानेश्वरी जैसे महान् ग्रन्थ का छन्दोबद्ध हिन्दी अनुवाद श्री गणेशप्रसाद जी अग्रवाल ने किया। यह हिन्दी साहित्य और साधकवर्ग की वास्तव में बहुत बड़ी सेवा की है। अनुवाद शुद्ध है, विशेषता यह है कि इसमें वह प्रसाद गुण है जो अधिकारी पुरुषों की वाणी और लेखनी में ही होता है। यह ग्रन्थ इस योग्य है कि इसका सर्वत्र प्रचार हो। गीता ज्ञानेश्वरी का ज्ञान कराने वाला यह सर्वोत्तम प्रामाणिक ग्रन्थ है, इस पर श्री वेणीशंकर शास्त्री की सम्पादनात्मक प्रस्तावना तथा परिशिष्ट आदि यह बहुत उपयोगी हैं।'

बलदेवप्रसाद मिश्र एम. ए. डी. लिट्, प्रिन्सिपल एस. बी. आर. आर्ट्स कालेज, बिलासपुर—

'अनुवाद सरल और सुबोध है। यह पद्यानुवाद अपने ढंग का निराला है। उपयुक्त संस्थाओं द्वारा इसके कुछ अंश आवश्यकतानुसार पाठ्यपुस्तक के रूप में भी स्वीकृत किए जाने चाहिये।'

श्रीधर अण्णा शास्त्री वारे काव्यतीर्थ मीमांसक, विद्याभूषण—

'श्रीमान् कविवर गणेशप्रसाद अग्रवालकृत श्री ज्ञानेश्वरी का हिन्दी पद्यानुवाद देखा, अनुवाद में मूल का भाव ध्वनित है। भाषा सरस है। इस ग्रंथ से हिन्दी जनता को ज्ञानेश्वरी का यथार्थ परिचय अवश्य होगा।'

सदाशिव माधवराव पराडे, डिस्ट्रिक्ट जज, नागपुर—

'यह ऐसा ग्रन्थ है कि हिन्दी भाषा में तुलसीकृत रामायण के समान अजर और अमर रहेगा।

विद्याभास्कर कविरत्न श्री धर्मेन्द्रजी शास्त्री साहित्याचार्य, बड़ौदा—

'श्री गणेशकी लेखनी, ज्ञानेश्वर का ज्ञान।
शब्द अर्थ संयोग यह, चाँदी चन्द्र समान॥'

शास्त्रार्थमहारथी, श्री पं. माधवाचार्य शास्त्री, धर्मधाम कमलानगर, देहली।

'कविभूषण श्री गणेशप्रसाद अग्रवाल जी ने श्रीज्ञानेश्वरी के पद्यानुवाद द्वारा धार्मिक जनता की जो अमूल्य सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। अनुवाद सरल और सुन्दर है। प्रत्येक गीताप्रेमी को इस पुस्तक की एक प्रति अपने पास अवश्य रखनी चाहिये।'

॥ श्री ज्ञानेश्वर माउली समर्थ ॥

प्रकाशकीय

अपने पूज्य पितृचरण द्वारा विरचित श्री गीता ज्ञानेश्वरी का हिन्दी पद्यानुवाद पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। लगभग साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व सन्त श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी द्वारा महाराष्ट्र में जिस ज्ञान-गंगा को प्रकट किया था, उससे समूचा देश पावन हो सके, मराठी भाषा से अनभिज्ञ लोग भी स्वाध्याय, नित्य-पाठ, संगीत, प्रवचन आदि द्वारा ज्ञानेश्वरी का रसास्वादन कर सकें; भक्ति-ज्ञान-वैराग्य के अनमोल देदीप्यमान रत्नों की यह रत्न-करण्डिका जन-जन के लिये सुलभ हो सके और सब से बड़ी बात कि सद्गुरु श्री गुलाबराव महाराज की आज्ञा का पालन हो; बस ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया गया था।

आज थोथे भ्रामक बुद्धिवाद का सर्वत्र बोलबाला है। लोग विलास प्रिय पश्चिमी भौतिकवाद की ऊपरी चमक दमक में पड़ कर प्रातः-स्मरणीय ऋषि महर्षियों द्वारा निर्दिष्ट धर्माचरण—सत्य-मार्ग से भटक गए हैं। इन्हें सच्ची शान्ति चाहिए और वह पूर्वजों के अमूल्य उपदेशों को जीवन में उतारने से ही मिल सकती है। मनुष्य-जीवन एक मूल्यवान निधि है। इसे सफल और सप्रयोजन बनाने के लिये सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने में श्रीमद्भगवद्गीता का बहुत बड़ा भाग है। 'ज्ञानेश्वरी' गीता की ही सुन्दर व्याख्या है। भारतीय तत्वज्ञान के क्षेत्र में ज्ञानेश्वरी का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी, गुजराती, बंगाली, कन्नड़, तामिल आदि भारतीय भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। बैरिस्टर श्री मनु सूबेदार कृत "Gita Explained by Jnaneshwar Maharaj" नामक अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है। संयुक्त राष्ट्र संघ की यूनेस्को नामक संस्था द्वारा ज्ञानेश्वरी का अनुवाद विविध विदेशी भाषाओं में करने का उपक्रम जारी है। अभी हाल ही में बम्बई सरकार ने पूना के प्रो० श्री शंकर वामन दाण्डेकर एम० ए० की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की है, जो स्वर्गीय श्री वी० के० राजवाडे द्वारा सम्पादित संस्करण को दुहरा कर इसका पुनः सम्पादन करेगी। समिति के अध्यक्ष प्रो० दाण्डेकर जी तथा अन्य सभी सदस्य ज्ञानेश्वरी के अधिकारी विद्वान हैं। यह आयोजन सरकार द्वारा ज्ञानेश्वरी का प्रामाणिक एवं सस्ता संस्करण प्रकाशित करने के लिये है।

पद्यानुवाद की दिशा में मराठी के [illegible] श्री अनन्त विष्णु खासनीस ने संस्कृत के सुललित पद्यों में 'गीर्वाण ज्ञानेश्वरी' की रचना की है। यह अनुवाद इतना लोकप्रिय हुआ कि इसकी प्रशंसा भारतीय वाङ्मय के उपासकों के अतिरिक्त प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० एफ० आर० रेस्मन ने भी की है।

हिन्दी में गद्य में तो अनेक अनुवाद हुए किन्तु कविता में यह सर्वप्रथम [illegible] है। अनुवाद पूर्ण हो जाने के उपरान्त इसे प्रकाशित करवाने के विषय में पहले हमारा विचार यही था कि ग्रन्थ हिन्दी की किसी [illegible] संस्था को सौंप दिया जाय। इसके लिये प्रयत्न भी किये गए। किन्तु उत्तर भारत में ज्ञानेश्वरी का प्रचार नहीं के बराबर होने के कारण और युद्ध-जनित कागज आदि की कठिनाइयों से भी आज से पांच वर्ष पूर्व तक यह कार्य रुका पड़ा रहा। इस बीच भारत के अनेक विद्वानों, ऋषिकुल हरिद्वार आदि अनेक [illegible] एवं [illegible] प्रेमियों के आग्रह-पत्र इसे शीघ्र प्रकाशित करने के लिये हमारे पास पहुँचने लगे। फलतः श्री [illegible] उपाध्याय द्वारा भारत प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री जी के 'धर्म-प्रेस' [illegible] दिल्ली में इसके मुद्रण की व्यवस्था कर दी गई। मूल ग्रन्थ १८ अध्याय पर्यन्त छप जाने के बाद गत दिनों दिल्ली में आयोजित महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन के अवसर पर पधारे हुए ज्ञानेश्वरी के तत्वज्ञ विद्वानों एवं श्री नरहरि विष्णु गाडगिल (संसद् सदस्य) को यह अनुवाद दिखाया गया। सब ने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए इसे अधिक सुबोध बनाने के [illegible] के रूप में क्लिष्ट स्थानों की व्याख्या देने एवं ज्ञानेश्वरी विषयक अन्य ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख प्रस्तावना में करने का सुझाव दिया। आज्ञानुसार यह सम्पादनभार श्री [illegible] उपाध्याय [illegible] को ही सौंपा गया। जिसको उन्होंने [illegible] निभाया। इसके अतिरिक्त श्री [illegible] श्री शास्त्री साहित्याचार्य से भी इसके सम्पादन में जो अमूल्य सहयोग मिला उसके लिये हम उन्हें सर्वदा स्मरण रखेंगे।

अन्त में संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित श्री [illegible] शास्त्री [illegible], एम० ए० [illegible] धर्म-प्रेस के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिन्होंने पूर्ण [illegible] एवं बड़ी योग्यता से ग्रन्थ का मुद्रण किया। यदि ज्ञानेश्वरी के इस पद्यानुवाद से पाठकों को कुछ भी लाभ हुआ तो हम अपने प्रयत्न को सफल समझेंगे।

[illegible] अग्रवाल

बिलासपुर
(मध्य-प्रदेश)

दो शब्द

करुणावरुणालय भक्तवत्सल भगवान् की लीला का रहस्य कौन जान सकता है ? बड़े २ ऋषि-मुनि, सिद्ध-महात्मा और वेदों तक के लिये वह रहस्यमय ही रहा। किन्तु, इतना दुर्विज्ञेय होकर भी अपने भक्तों के लिये कितना मधुर, मनमोहन एवं कल्याणमय है वह देव! भगवच्चरणारविन्दों के रसिक जन परम सौभाग्यशाली हैं। वे समस्त सांसारिक एवं स्वर्गीय सुखोपभोगों से मुख मोड़ अनन्यभाव से उस रूप-माधुरी का रसास्वादन करते नहीं अघाते।

बुद्धि के लिये तो वह प्रभु अगम्य ही रहा। जिसे समझना तपोनिष्ठ मेधावी आचार्यों एवं योगपूर्ण यतियों के लिये भी कठिन रहा है, जिस पर नानात्व बुद्धि के कारण विश्व में अनन्त मत-मतान्तरों तथा सम्प्रदायों की प्रवृत्ति हुई और होती रहेगी, उसे मुझ जैसा मन्दबुद्धि समझ सके, यह कैसे सम्भव है ? मेरे पास तो इसके लिये विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विचार, श्रद्धा आदि कुछ भी नहीं है। इस ओर प्रवृत्त होना भी हंसी की बात है। ज्ञानेश्वरी के पद्यानुवाद द्वारा इस ओर प्रवृत्ति तो और भी आश्चर्य का विषय है। मैं अनुभव करता हूँ कि इस दिशा में मेरा यह प्रयास एक अनधिकार चेष्टा तथा विद्या और विद्वानों के प्रति अपराध ही है। किन्तु एक बात है, जिससे संकोच एवं आश्चर्य से छुटकारा मिल जाता है। जीवन में हम बार बार देखते हैं कि इच्छा न होने पर भी हमें बलात् ऐसे अनेक कार्य करने पड़ जाते हैं, जिनकी ओर प्रवृत्त होने की कभी आशा नहीं थी। कारण यही है कि हमारी प्रवृत्तियों का नियामक हृदय में देहाभिमान के पर्दे के पीछे छिपा हुआ कोई और ही है। समस्त क्रिया कलापों में हमारी कर्तृत्व बुद्धि तो केवल अज्ञान जनित अहंकार की क्रीड़ा मात्र है। ऐसी दशा में अज्ञानमूलक अहंकार की सत्ता को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

विज्ञान सूर्य का उदय होते ही यह देहाभिमान रूपी उलूक न जाने कहां छिप जाता है ? तब कर्त्ता, कर्म, करणादि का भेद नहीं रह जाता। फिर तो प्रवृत्ति प्रवर्तक केवल एक अन्तर्यामी ही रहता है, जिसकी कृपा कटाक्ष से सत्ता पाकर असत् सत् बना है। अतः संकोच और आश्चर्य तभी तक हैं, जब तक हम सब कुछ देहाभिमान के शिर नहीं लाद देते। उन्हीं की आज्ञा से ही सब प्रवृत्तियां हैं, उन्हीं की इच्छानुसार सफलता और असफलता हैं और उन्हीं का सौंपा हुआ कार्य समझ कर करने में ही कल्याण है। मन करते तो हैं, पर समझते नहीं।

प्रस्तुत पद्यानुवाद सद्गुरु श्री गुलाबराव महाराज (जिनका दूसरा नाम श्री पाण्डुरङ्ग नाथ भी था) की प्रेरणा का फल है। उन्हींके आदेश से यह कार्य प्रारम्भ हुआ था। लगभग पचास वर्ष पुरानी बात है, जब कि श्री महाराज ने बड़े प्रेम से अपना हाथ हमारे हाथों पर रख कर ज्ञानेश्वरी की मराठी ओवियों का हिन्दी-पद्यानुवाद करने की आज्ञा की थी। अपने मर्यादित ज्ञान को देखते हुए 'श्री महाराज की आज्ञा का पालन कैसे होगा?' यह धर्म-संकट पर्याप्त समय तक दिमाग में चक्कर काटता रहा। और कालान्तर में विविध व्यावसायिक उलझनों के बीच यह विचार प्रायः लुप्त सा हो गया था। किन्तु, श्री महाराज के परमपद में जाने के अनेक वर्ष उपरान्त अचानक भाद्र शुक्ला षष्ठी संवत् १९९१ की मध्यरात्रि में श्री गुलाबराव महाराज ने स्वप्न में प्रकट होकर पूछा, "गणेश, ज्ञानेश्वरी का हिन्दी पद्यानुवाद अभी तक नहीं हुआ?" उनकी अंगुली गीता के—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता १८-६६)

इस श्लोक पर थी। घबड़ाहट में नींद खुल गई और श्री ज्ञानेश्वर महाराज के नामस्मरण के उपरान्त इसी अठारहवें अध्याय के छियासठवें श्लोक की ओवियों से दोहा एवं सोरठा में पद्यानुवाद प्रारम्भ हुआ। अढ़ाई वर्षों के निरन्तर प्रयास से यह कार्य चैत्र शुक्ला पंचमी संवत् १९९३ के दिन ईश-कृपा से पूर्ण हो गया। अनुवाद को मूलानुसारी बनाए रखने का यथाशक्य प्रयत्न किया गया।

श्री गुलाबराव महाराज एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न प्रज्ञाचक्षु महात्मा थे। उन्हें विवेकज ज्ञान प्राप्त था। वे श्री ज्ञानेश्वर महाराज को अपना पिता तथा गुरु और स्वयं को उनकी कन्या, श्रीकृष्ण को अपना पति और राधादि गोपियों को अपनी भगिनी मानते थे। इन्हीं सद्गुरु की कृपा तथा श्री ज्ञानेश्वर महाराज के नामस्मरण मात्र से यह कार्य सम्पन्न हुआ। अतः इनके श्रीचरणों में कोटिशः प्रणाम हैं।

ज्ञानेश्वरी कोई नवीन ग्रन्थ नहीं। महाराष्ट्र में यह आदि-ग्रन्थ है, जो विश्वगुरु श्री ज्ञानेश्वर महाराज के श्रीमुख से जन-कल्याणार्थ आविर्भूत हुआ था। यह भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, एवं नीति सम्बन्धी उपदेशों से भरा हुआ है। गीता की अनेक टीकाओं में ज्ञानेश्वरी अति

विस्तृत और सर्वोत्तम व्याख्या है। ज्ञानेश्वरी के भी अनेक अनुवाद हैं उनमें श्री नाना साखरे कृत मराठी टीका से तथा विशेषतया श्री रघुनाथराव भगाड़े कृत हिन्दी अनुवाद से इस कार्य में विशेष सहायता मिली है। ग्रन्थ की प्रतिलिपि करवाते समय प्रत्येक पद के आदि में शुभ गण एवं भद्राक्षर प्रयोग की प्रेरणा हुई थी। तब वैसा ही किया गया।

पद्यानुवाद पूर्ण हो जाने के उपरान्त मैं स्वयं भारत के प्रसिद्ध पूज्य महात्माओं, मण्डलेश्वरों, विद्वानों एवं प्रमुख धार्मिक संस्थाओं के पास इसे लेकर गया। अनेक जगह अनुवाद के कुछ अंशों की प्रतिलिपि डाक से भेजी गई। सब ने शिशुवाणी के सामान प्रिय लगने पर अपने आशीर्वादात्मक पत्र देते हुए इसे शीघ्र प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया, एतदर्थ उन सब महानुभावों के हम आभारी हैं। श्रीयुत वेणीशंकर उपाध्याय, शास्त्री, साहित्याचार्य, बी. ए. ने परिशिष्ट आदि लिखकर इस ग्रन्थ को सम्पादित किया है, इसे छपवाने एवं प्रचारार्थ अपना अमूल्य समय लगाया है और इस कार्य की सफलता प्रेम से चाहते हैं, अतः हम इनके चिरायुष्य की प्रार्थना सर्वेश्वर से करते हैं।

खटकने वाली बात एक है। लगभग पांच वर्ष पूर्व अनुवाद की मूल प्रति संस्कृत के एक विद्वान् के पास इस प्रार्थना के साथ भेजी गई थी कि प्रत्येक पद का प्रारम्भ भद्राक्षर एवं शुभ गणों से है, इसमें तथा अनुवाद में जहां कहीं भूल से त्रुटि रह गई हो उसे सुधार कर प्रेस के लिए कापी तैयार कर दें किन्तु उन्होंने इस बात का ध्यान नहीं रखा और यत्र-तत्र कुछ अनपेक्षित परिवर्तन भी कर दिए। इस प्रकार अब "प्रत्येक पद का प्रारम्भ भद्राक्षर एवं शुभ गण से हुआ है" यह कहने लायक बात नहीं रह गई।

"राम कीन्ह चाहहिं सो होई, करै अन्यथा अस नहिं कोई।"

कुछ का संशोधन तो शुद्धिपत्र में कर दिया गया है, शेष त्रुटियां छपने की शीघ्रता में नहीं सम्हाली जा सकीं।

अब जो कुछ भी है, भक्तवत्सल, सर्वेश्वर, स्वात्मरूप भगवान् श्री रामचन्द्र-जानकी को सादर समर्पित है। हरिः ॐ तत्सत्! हरिः ॐ तत्सत्! हरिः ॐ तत्सत्॥

किंकर—

—गणेशप्रसाद अग्रवाल

विजया दशमी २०१४

मण्डला (मध्यप्रदेश)

श्री सद्गुरुस्तोत्रम्

सदा सद्गुरुं शान्ति-कल्याणरूपं, शुभं भक्तिदं पादपद्मस्वरूपम् ।
महानन्ददं ज्योतिषां धामभूतं, प्रसादेन येषां ममत्वादिनाशम् ॥ १ ॥
परासिद्धि-वैराग्यदं ज्ञानरूपं, मनोरम्य-पादारविन्दं भजेऽहम् ।
चतुर्वेद-तत्त्वार्थ-ज्ञानाभिरामं, तुरीयां स्थितिं संश्रित चित्स्वरूपम् ॥ २ ॥
निरीहं सदा सच्चिदानन्दरूपं, प्रभुं वेदरूपं गुणातीतमीशम् ।
कृपादृष्टि-संपात-पापापहारं, प्रसन्नाननं मंद-मंदस्मितास्यम् ॥ ३ ॥
स्वतन्त्रं समं निर्गुणं निर्विकारं, जगद्भेषजं शिष्य-कल्याणकारम् ।
स्वभक्तस्यकाले महामेघ-घोषं, जगत्सौख्य-संपादने धीश-तुल्यम् ॥ ४ ॥
ध्रुवं निर्मलं केवलं साक्षिभूतं, अनन्यं अजं निर्मलं ज्ञानरूपम् ।
महामंगलं दिव्य रत्नप्रकाशं, श्रुतेः सारमूलं सुशान्तस्वरूपम् ॥ ५ ॥
असंगं प्रपूर्णं महानन्द-कन्दं, सदात्मस्वरूपस्थितं विश्ववन्द्यम् ।
महाशक्ति-शक्तिं परब्रह्मरूपं, भजेऽहं सदा सद्गुरुं सर्वरूपम् ॥ ६ ॥
दिनेशाय दीपो, महेशाय पत्रं, गणेशाय दूर्वा, समुद्राय नीरं ।
स्तवं सद्गुरुभ्यो यथा मोदकन्दं, गणेशप्रसादेन तथा सदास्तु ॥ ७ ॥



सद्गुरु श्री १०८ पूज्य गुलाब राव महाराज

प्राक्कथन

प्राक्कथन

ज्ञानेश्वरी के अनेक अनुवाद विविध भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में हुए हैं, जिनका विवरण विस्तार से प्रकाशकीय वक्तव्य में दिया जा चुका है। अतः यहाँ केवल प्रस्तुत पद्यानुवाद एवं इसके अनुवादक के विषय में ही कुछ प्रकाश डालना शेष है।

यह एक विशुद्ध प्रासादिक रचना है। प्रतिष्ठा, मान, साहित्यसेवा, लोकोपकार या अन्य किसी उद्देश्य को मन में रखकर यह कार्य किया गया हो—ऐसी बात नहीं है। ज्ञानेश्वरी के अन्त में श्री ज्ञानेश्वर ने कहा है कि 'डोरी की गति के अनुसार जैसे कठपुतली चलती है वैसे ही मेरे स्वामी गुरुदेव निवृत्तिनाथ ने जैसा कहलाया वही मैंने कह दिया। अन्यथा चमत्कारपूर्ण शब्दरचना कैसे होती है, सिद्धान्त कैसे स्थापित किए जाते हैं, अलंकार किसे कहते हैं, इत्यादि बातें मैं क्या जानूँ!' ठीक इसी प्रकार अपनी अनन्य अहैतुकी भगवत्प्रीति द्वारा भगवान को अपना बनाकर अहर्निश उसी सायुज्य-सौख्य में निमग्न प्रस्तुत पद्यानुवाद के रचयिता कविभूषण श्री गणेशप्रसाद अग्रवाल को भी—मेरी समझ से—यह नहीं मालूम कि यह कार्य कैसे और क्योंकर हुआ। भगवदिच्छा और सद्गुरु सिद्ध महात्मा श्री गुलाबराव महाराज की प्रेरणावश ही आपकी निर्मल प्रतिभा इस ओर मुड़ी।

जीवन परिचय

आपका जन्म मध्यप्रदेश के मण्डला नामक ग्राम में वैशाख कृष्णा तृतीया संवत् १९२६ में हुआ था। नर्मदा के पुण्य तट पर बसा यह नगर प्राचीन ऐतिहासिक महत्त्व का रमणीय स्थान है। आपके पूर्वज छट्टू बाबू अति उदार, प्रतापी तथा धर्मशील पुरुष थे। आज भी मण्डला में नर्मदा तट पर अनेक देवालय, घाट तथा नगर का एक मुहल्ला ही उनके नाम से प्रसिद्ध है। आपके पिता श्री सेठ भईलाल जी भी सत्सङ्ग, साधुसेवा, नित्य-नैमित्तिक कर्मानुष्ठान द्वारा एक आदर्श जीवन बिताने वाले सत्पुरुष थे। घर का वातावरण ही पूर्ण सात्त्विक एवं भक्तिमय बना रहता था। इन्हीं पैतृक संस्कार और जीव के स्वतन्त्र पूर्वजन्मकृत कर्मों को लेकर इस पवित्र और श्रीमान् कुल में आपका जन्म हुआ। पितृपुण्य, ज्ञान, पवित्रता और तपस्विता के कारण ही 'भक्त' सन्तान के पिता होने का सौभाग्य किसी को

गीता ज्ञानेश्वरी-हिन्दीपद्यानुवाद



अनुवादक—कविभूषण गणेशप्रसाद अग्रवाल

मिलता है। प्रायः जीवन में आने वाली बातों के लक्षण पहले ही प्रकट होने लगते हैं। ईश कृपा का एक अपूर्व प्रसंग इनके बाल्यकाल में आया। जब ये आठ मास के थे, तब की बात है। एक रात आप अपनी तीन वर्ष की बहिन हीराबाई के साथ आंगन में सो रहे थे, कि एक भयानक काला नाग आया और हीराबाई के पेट पर गिण्डली मार कर बालक के ऊपर अपने फन को हिलाने लगा। घर वालों को यह खबर मिली तो वे घबरा गए। किन्तु भयचकित दृष्टि से उस ओर देखते रहने के सिवाय और वे कर ही क्या सकते थे! सबने मन ही मन उस नागदेवता की स्तुति करते हुए बालक के प्राणदान की याचना की। लगभग पन्द्रह मिनट तक यह नागलीला चलती रही। अन्त में वह कृष्ण सर्प बिना किसी को हानि पहुँचाए खिसक गया। जिसका रक्षक प्रभु हो, भला, उसे मारने वाला कौन?

बचपन से ही आपकी प्रकृति वैराग्यशील थी। सन्त महात्माओं के चरणों में बैठकर परम तत्त्व का परिचय प्राप्त कर लेने की इनके हृदय में तीव्र अभिलाषा रहती थी। जब ये लगभग सोलह वर्ष के हुए तो नैपाल के एक सिद्ध महात्मा से इनकी भेंट हुई। महात्मा ने इन्हें सत्पात्र जानकर प्राणायाम की विधि बताई और कहा, "पन्द्रह दिन इसका विधिवत अभ्यास करो और इसी बीच स्वप्न में तुम्हें आदेश मिलेगा।" दृढ़ श्रद्धा और विश्वास से आपने महात्मा के आदेश का पालन किया। एक रात स्वप्न में आपको जिस मन्त्र का उपदेश मिला, उस सिद्ध-दीक्षा-मंत्र का आज भी प्राणायामपूर्वक आप जप करते हैं। वैश्योपनयन नामक पुस्तक से पता चलता है कि मिर्जापुर के आचार्य श्री घनश्याम जी ने आपको ब्रह्म गायत्री का उपदेश दिया था। अस्तु, स्कूल की शिक्षा तो आपको नहीं के बराबर मिली किन्तु स्वाध्याय तथा सत्सङ्ग द्वारा जो ज्ञान आपको प्राप्त हुआ वह जीवन में बड़ी से बड़ी एक विश्व-विद्यालय की उपाधियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से भी कहीं अधिक मूल्यवान् साबित हुआ। बड़े होने पर आपके कन्धों पर अपने पिता की जिम्मेदारी और विस्तृत व्यापार का कार्यभार आ पड़ा। ईश्वराज्ञा समझकर आपने यह उत्तरदायित्व भी बड़ी कुशलता से निभाया। शादी हुई, सन्तानें हुईं—चार पुत्र —चारों के चारों यशस्वी तथा उच्च शिक्षा प्राप्त। श्री गोपालप्रसाद ए. आई. एस. एम. (माइनिंग इन्जीनियर) श्रीरामसनेही एम. ए. बी. काम, एल एल. बी., श्री रामशरण बी. ए. एल. एल. बी. और डा० श्री रमेशचन्द्र एम. बी. बी. एस.। खूब धन कमाया। नाम हुआ। आनरेरी मजिस्ट्रेट हुए और न जाने क्या क्या! किन्तु, विट्ठल के लाड़ले भक्त तुकाराम की भाँति आप भी यह दुनियावी गोरखधन्धा अधिक दिनों तक न चला सके।

कभी कभी मनुष्य के जीवन में कोई एक ऐसा प्रसङ्ग आता है जिससे कि उसके सारे—जीवन की काया पलट हो जाती है। आपके जीवन में भी भाद्र शुक्ला षष्ठी संवत् १६६१ की मध्यरात्रि के एक

स्वप्न ने सांसारिक प्रपञ्चों का रास्ता ही उलट दिया। बात कुछ ऐसी थी कि बाल्यकाल में ही आपके तीव्र साधु सन्त रूपी जंगम तीर्थों के दर्शन के लिए तरसा करते थे। साधु-महात्मा, वैरागी से स्वामी यति-योगी जहां जो भी मिला आप सौ काम छोड़कर उनके दर्शनार्थ जाते। ताकि उनसे कुछ परमार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और इस सत्सङ्ग गुण द्वारा अपना जन्म सफल बना सकें। उन दिनों अमरावती के प्रख्यात सन्त श्री गुलाबराव महाराज की बड़ी चर्चा थी। यह एक विलक्षण प्रतिभाशाली महात्मा थे। अनेक भाषाओं का इन्हें ज्ञान था। अनेक ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। ये लेखक, कवि, उपदेष्टा सब कुछ थे। आत्मबोध में पूर्णतया आगत होकर सगुण प्रेम को ही उन्होंने अपनी उपासना का अवलम्ब बनाया था। उनका विवेकज ज्ञान कृष्णप्रेम में इतना घुल-मिल गया था कि वे एक अखण्ड प्रेममूर्ति ही बन गए थे। ज्ञानेश्वर को अपना पिता तथा सनातन सखियों को अपनी भगिनी समझते थे, स्वयं को 'ज्ञानेश्वर कन्या' कहा करते थे। ऐसा तादात्म्य था उनका! उनके यहाँ नामस्मरण और भगवद्भक्ति का ही लेन-देन था। ऐसी दिव्य विभूति के सत्सङ्ग का लोभ भला आप कैसे छोड़ देते? अमरावती में जब आप गुलाबराव महाराज से मिलने उनके निवास स्थान पर गए तो उस समय वे 'कबीर-कसौटी' नामक पुस्तक के पन्ने उलट रहे थे। आपको यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि गुलाबराव महाराज इतनी क्लिष्ट किताब बिना आँखों के कैसे पढ़-समझ लेते हैं! कौतूहलवश आपने उनसे पूछा, "महाराज, इतनी कठिन किताब आप कैसे पढ़-समझ लेते हैं! उत्तर में महाराज बोले—कबीर ही स्वयं आकर हमें इस किताब का मर्म समझा जाते हैं।"

आपने जिज्ञासु भाव से पुनः प्रश्न किया,—"कबीर के वैकुण्ठवास को तो काफी समय बीत गया। फिर वे आपसे कैसे मिलते हैं?" उत्तर मिला, "उनका सूक्ष्म शरीर हमसे मिलता है।" यह सुन आपका हृदय श्रद्धा से भर गया। ऐसा लगा कि जैसे अनेक जन्मों के शुभ कर्म ईश कृपा से फलित हुए हैं। बात भी सच थी। सद्गुरु से भेंट हो और सत्सङ्ग लाभ द्वारा इस अपार संसार समुद्र को पार करने की लालसा हृदय में जाग जाय ऐसा सौभाग्य बिना ईश्वरानुग्रह के कहां हाथ लगता है? महाराज ने आपसे आने का कारण पूछा तो आपने कहा, "आपके दर्शनार्थ ही आया था। आपके दर्शन हो गए तो अब भगवान् के दर्शन भी हो जायेंगे।" गद्गद स्वर में महाराज ने आश्वासन दिया, "भगवान् के दर्शन अवश्य होंगे।" और उसी रात आपको स्वप्न में वृन्दावनबिहारी की अशेष की मनोहर रासलीला दीखी। जागने पर श्री गुलाबराव महाराज के अलौकिक व्यक्तित्व पर आपकी आस्था दृढ़ हो गई। चलते समय आप महाराज से फिर भेंट करने गए तो उन्होंने इन्हें ज्ञानेश्वरी की एक प्रति देकर कहा, "इसका नित्य

पाठ करना। परम ज्ञान के अक्षय भंडार की कुंजी यही है।" सद्गुरु की आज्ञा शिरोधार्य मानकर आप सतखला चले आए। यहाँ आने के कुछ दिनों बाद आपने महाराज के पास हिन्दी में पद्यबद्ध "सद्गुरु-प्रार्थना" लिख कर भेजी। इस पत्र का उत्तर महाराज ने भी हिन्दी पद्यों में ही लिख कर भेजा।

यह एक महत्त्वपूर्ण पत्र था। क्योंकि इससे एक ऐसे कार्य का सूत्रपात हुआ, जिसका मूल्य महाराज की दृष्टि में बहुत अधिक था। इसी कारण इसे श्री गुलाबराव महाराज ग्रन्थसंग्रह के 'सूक्ति रत्नावली' नामक ग्रन्थ की द्वितीय वृष्टि के पृष्ठ ४७-४८ में प्रकाशित किया गया है। पत्र का कुछ अंश हम नीचे दे रहे हैं:—

। श्री ज्ञानेश्वर माउली समर्थ।

१६—गणेशप्रसाद गाण्डलेकर यानी पाठविलेलें पत्र।

सद्गुरु की करुणा मन केवल राखि अयत्न न वृत्ति फले हैं।
यत्नहि तें जन कर्म करे अरु यत्नहि तें मुनि ब्रह्म मिले हैं ॥३॥
यत्नहि तें मन आवत साधन, यत्नहि तें गुरु ध्यान खुले हैं।
यत्न विचार उपाय करे, अरु यत्नहि तें श्रुति भाग फुले हैं ॥४॥

यत्नहितें वर देवत हैं, अरु यत्नहि तें मुनि शाप न लागे।
यत्नहि तें कलिकाल हटे, अरु यत्नहि तें चिति में मन लागे ॥६॥

× ×

आदी कर्म विहित निज करिये, तिसकरि मतिमल सागर तरिये।
फिरि चाथि हरि हर गुण गावो, तिन तें अज्ञलताग्नि बुझावो ॥१०॥
साधन चार करो फिरि वंदन, गुरुपद सुमिरि होहु गुण चंदन।
सज्जन संग सदा सुखदाई, जिस करि पंछी पशुहिं 'चिति' पाई ॥११॥

तातें बाहर मेल करि, मन में भरो विराग ।
गुरु निगमन मुख्यबोध सुन तजि धन नन्दन राग ॥१३॥
'साधन त्रिक' कैवल्य पथ, उपरति बोध विराग ।
योग मांहिं उपरति मिलै, सांख्यमांहि सुविराग ॥१४॥
बोध होत वेदान्त के महावाक्यतें तात ।
दृढ़ गुरु हरिहर भक्ति तें अन्तराय मिटि जात ॥१५॥
श्री ज्ञानेश्वर कृपावश लिख दीन्हा निगमार्थ ।
ज्ञानेश्वर गुरु नाम सदा सुमिरि करो परमार्थ ॥१६॥

कुन्दपति नन्दलाल की जय

॥ श्रीमत्सद्गुरु ज्ञानेश्वरमहाराजार्पणमस्तु ॥

उक्त पत्र में श्री गुलाबराव महाराज ने सद्गुरुचरण कमलों पर अनन्य निष्ठा रखते हुए यत्नपूर्वक विहित कर्माचरण, साधन चतुष्टय, सत्सङ्ग और निष्काम कर्मयोग के मार्ग का अवलम्ब लेकर ज्ञान और भक्ति का समन्वयवादी, त्रिकसाधन, योग, सांख्य, वेदान्त आदि निगमार्थबोध द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त हरिहर भक्ति में खोजाने—स्वत्व को मिटा देने की बात (ज्ञानेश्वर सम्मत साधना का अथ से इति तक प्रकार) सूत्र रूप में आपको लिखी थी ।

महाराज की आज्ञानुसार ज्ञानेश्वरी का स्वाध्याय आप नियम से करते थे । और स्वाध्याय के बीच-बीच कभी किसी किसी ओवी का कौतूहलवश हिन्दी पद्यों में अनुवाद भी कर देते थे । स्वाध्याय का यह क्रम चलता रहा । संवत् १९६९ के करीब जब श्री गुलाबराव महाराज मण्डला आए तब उन्होंने आपसे पूछा, "ज्ञानेश्वरी का पाठ चलता है ?" आपने महाराज को अपने स्वाध्याय का क्रम बताया और इसी प्रसङ्ग में एक दो ओवियों के हिन्दी दोहे भी सुनाए । दोहों को सुना तो महाराज का हृदय सात्विक प्रेम से भर गया, मानों कि कोई अलभ्य लाभ हुआ हो ! कुछ ध्यानस्थ हो, महाराज ने आपके हाथ पर हाथ रख कर बड़े प्रेम से स्नेहपूर्ण आदेश दिया, "गणेश, सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी का हिन्दी में पद्यानुवाद करो ।" इस पर अपने अल्पज्ञान को देखते हुए आपने महाराज से निवेदन किया कि, "यह कार्य मुझ जैसे

अल्पज्ञ व्यक्ति से कैसे होगा ?" श्री महाराज बोले, "होगा, और अवश्य होगा। इस 'गणेश-पुराण' की रचना तुमसे ही होगी।" बात समाप्त हो गई। दिन बीते। मास बीते। और वर्ष भी बीत गए, किन्तु अनुवाद कार्य प्रारम्भ न हो सका। कुछ व्यावसायिक अड़चनें भी आ पड़ीं। कहो, यह बात एक तरह से आपके दिमाग से उतर सी गई। आखिर, भाद्र शु० षष्ठी संवत् १६६१ की मध्य रात्रि में श्री गुलाबराव महाराज अचानक स्वप्न में प्रकट हुए और ज्ञानेश्वरी पद्यानुवाद का कार्य अविलम्ब शुरु करने का आदेश दिया। गीता के अठारहवें अध्याय के ६६ वें श्लोक पर महाराज की उंगली थी। इसके बाद महाराज अन्तर्धान हो गए। भय से अचानक आपकी निद्रा टूट गई। गुरु की आज्ञा के पालन में इस प्रकार प्रमाद के लिए हृदय में तीव्र अनुताप हुआ। और उसी समय आप अनुवाद कार्य में जुट गए। शास्त्रज्ञान, अभ्यास, प्रतिभा आदि कोई साधन पास न था जो था, वह केवल सद्गुरु एवं श्री ज्ञानेश्वर महाराज का अवलम्ब मात्र था। दो वर्ष, साढ़े पाँच मास में यह कार्य सम्पन्न हो गया।

पद्यानुवाद समाप्त हो जाने के बाद आपने संसार से एक तरह वैराग्य ही ले लिया। न कोई साहित्य सृजन किया और नाँ ही ईश्वराराधन को छोड़ कोई दूसरा धन्धा। आज भी भगवत्प्रेम की वह अखण्ड ज्योति को आप जगाए ही जा रहे हैं। धर्मध्वजित्व अर्थात् धर्म के बाह्याडम्बरों से दूर नर्मदा के पवित्र तट पर आप एकान्तनिष्ठ, शान्तिमय सात्विक जीवन बिताते हैं।

× × ×

ग्रन्थ का इस प्रकार प्रासादिक होना आज का बुद्धिवादी मस्तिष्क संभवतः स्वीकार न करे, किन्तु दैवी प्रेरणा के साम्राज्य में बुद्धि का हस्तक्षेप नहीं चलता। क्यों ? कैसे ? यहाँ भ्रम में डाल देंगे। 'कबीर' और 'सूर' किस विश्वविद्यालय में पढ़े थे ? कालिदास को किसने कविता सिखाई ? केवल द्वादशवर्षीय सन्त ज्ञानेश्वर में इतना बुद्धि-वैभव, इतना शास्त्रज्ञान कहाँ से आ गया ? बुद्धि यहाँ काम नहीं करती। मम्मट का—

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

वाला काव्य का मापदण्ड यहाँ असफल ही रहता है। अस्तु।

अनुवादक ने पद्यानुवाद को मूलानुसारी—अर्थात् मूल भावों को दोहों के फिट साँचे में बन्द करने का भरसक प्रयत्न किया है। दोहों में भाव जगत की अभिव्यक्ति की काफी क्षमता है, स्वाभाविकता है।

पाण्डित्य की कहीं भी झलक नहीं मिलती। हिन्दी के अनेक दोहा सोरठा छन्दों में ज्ञानेश्वरी की ओवियों का अविकल अनुवाद करने के प्रयत्न में यत्र तत्र भाषा शिथिल हो गया है। एकदेशीय भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। छन्दानुरोधेन कहीं विस्तार और कहीं संक्षेप भी मिलता है। किन्तु यह सब विषय की गम्भीरता, छन्द के बन्धन और पद्यानुवाद को अधिक मूलानुसारी बनाने के प्रयास के कारण स्वाभाविक है। अनुवाद की भाषा अवधी है।

हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं के उपादेय ग्रन्थों का पद्यानुवाद करने का प्रचलन नहीं के बराबर है। यदि इस दिशा में प्रयत्न किये जायें तो हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि में एक महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। भाषा भगिनी सम्मेलन का यह सच्चा और व्यावहारिक तरीका है। भारत धर्मप्राण देश है। कुछ अंगुली-गण्य विदेशी सभ्यता की चमक-दमक में भटके लोगों को छोड़ कर समूचा देश अब भी वेद-शास्त्र-पुराण गीता और इनके आधार पर लिखे गए सन्त साहित्य को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। प्रत्येक भारतीय भाषा के साहित्य में भक्तिमय सन्त-साहित्य की कमी नहीं और यह प्रायः पद्यमयी गेय भाषा में ही है। लोग जीवन के हर क्षेत्र में इस साहित्य से अवलम्ब पाते हैं। इन सन्त वाणियों का यदि दूसरी भाषा के तदनुरूप पद्यों में ही अनुवाद कर दिया जाय तो यह सर्व साधारण तक अनायास पहुँचेगी।

हिन्दी अब प्रायः सारे भारत में बोली-समझी जाने वाली 'राष्ट्रभाषा' है। अतएव यदि अन्य भाषाओं के सन्त-साहित्य का पद्यानुवाद करके देश में उसका प्रचार, पठन-पाठन-पारायण आदि का प्रचलन हो सके तो भाषा एवं प्रान्तीयता की विभाजक दीवारों को सदा के लिए समाप्त कर देने की दिशा में यह एक ठोस कदम होगा, क्योंकि इससे सामान्य जनता में एक दूसरे के प्रति प्रेम और श्रद्धा का उदय होगा। प्रस्तुत पद्यानुवाद तो एक दिशा निर्देश मात्र है। देश के प्रतिभाशाली कवि यदि मौलिकता का मोह छोड़ कर इस ओर रुचि लें तो इससे देश का महान उपकार होगा।

यहाँ हमने यथासंभव ज्ञानेश्वरी विषयक सभी ज्ञातव्य बातों का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तावना तथा परिशिष्ट आदि लिखने में पूज्य श्री शंकर वामन दाण्डेकर द्वारा संपादित "सार्थज्ञानेश्वरी" (मराठी) श्री रघुनाथ राव भगाड़े एवं श्री रामचन्द्र वर्मा द्वारा अनूदित हिन्दी ज्ञानेश्वरी, हरिभक्तिपरायण श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर कृत ज्ञानेश्वरचरित्र (हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस) प्रो. श. गो. वालिम्बे कृत ज्ञानेश्वरचरित्र आणि ज्ञानेश्वरी-चर्चा, उत्तर भारत की सन्त-परम्परा, ज्ञानेश्वर

दर्शन (मराठी) नाथसम्प्रदाय आदि अनेक ग्रन्थों से सहायता मिली है । लेखक एवं प्रकाशक श्री यशवंत गोपाल जोशी, 'प्रसाद प्रकाशन' पूना ने उदारतापूर्वक उचित मूल्य में ज्ञानेश्वरी चित्र भेज कर इस कार्य में हमें सहयोग दिया है। महाराष्ट्र निवास कलकत्ता के युवा सन्त श्री गोपालकृष्ण ठाकुर का अमूल्य सहयोग इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने में बहुत सहायक हुआ। इसके अतिरिक्त श्री पा. द. दीक्षित एम. ए. (प्रकाशक महाराष्ट्र-विस्तार) श्री शान्ताराम परशुराम काले महाराष्ट्र रीजनल लायब्रेरी पूना, आचार्य पं. श्रीकण्ठ शास्त्री एम. ए. स्नातक ऋषिकुल हरिद्वार एवं श्री के. ललित आदि बन्धुओं के सौजन्यपूर्ण सहयोग भी इस कार्य में मिले हैं। एतदर्थ धन्यवाद !

धन्यवाद के इस प्रसङ्ग में अपने सुहृद् गुरु विद्याभास्कर, कविरत्न श्री अमीरचन्द्र जी शास्त्री, साहित्याचार्य, स्नातक ऋषिकुल हरिद्वार को भी नहीं भुलाया जा सकता। हमारी बड़ी इच्छा थी कि यह कार्य उन्हीं के योग्य हाथों से होता। मूल दोहों के छपने के समय इस दिशा में प्रयत्न भी किए गए। किन्तु कई कारणों से आपका अमूल्य समय इस कार्य के लिए न मिल सका। और अगत्या यह सम्पादन भार मुझ जैसे अयोग्य व्यक्ति के हाथों आ पड़ा। मराठी भाषा, विषय, साहित्य आदि का अपेक्षित ज्ञान न होते हुए भी इस कार्य को हाथ में लेना दुःसाहस मात्र था। अतएव कालिदास के सफल व्याख्याकार आचार्य वल्लभ के शब्दों में कुछ हेर फेर से हमें भी यही कहना पड़ता है—'कहां तो श्री ज्ञानेश्वर की दिव्य वाणी ! और कहां उसकी व्याख्या करने वाले हम जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति !! ऐसी अवस्था में हमारा यह प्रयास टिमटिमाते दीपक के सहारे विशाल राजप्रसाद में प्रवेश करना है।'

"ज्ञानेश्वरवचः कुत्र, व्याख्यातारो वयं कुतः ?
तदिदं मन्ददीपेन, राजवेश्मप्रवेशनम् ॥"

विनीत—

बम्हनी, मण्डला
(मध्यप्रदेश)

—वेणीशंकर शास्त्री

"आरति गाइय गीता जी की"

आरति गाइय गीता जी की,
ज्ञानामृत निधि सर्व श्रुती की ॥ टक ॥

क्षीर उदधि तट शिव वर बानी,
वर्णन सुनत उमा हरषानी ॥
उतर न दीन्ह सुनत अलसानी,
तब मत्स्येन्द्र कहत 'हां' ही की ॥ १ ॥ आरति०

मीननाथ कहि प्रति चौरंगा,
ज्ञान प्रकाश पूर्ण सब अंगा।
गोरखनाथहिं पुनः उमंगा,
देकर योगपट्ट अभिषेकी ॥ २ ॥ आरति०

क्रमशः गहनिनाथ सन वरणी,
निवृतिनाथ से कही मनहरणी।
ज्ञाननाथ लहि भव-निधि-तरणी,
ज्ञानेश्वरी प्रकाशित नीकी ॥ ३ ॥ आरति०

कर्म उपासन ज्ञान प्रकाशनि,
त्रयहु काण्ड भवरोग–विनाशनि।
द्वैतभाव अज्ञान विनाशनि,
ऐक्यतत्त्व सर्वस्व यती की ॥ ४ ॥ आरति०

संत गुलाब पाण्डुरंग नाथा, दे आदेश गणेशप्रसादा।
करु भाषा पद्यहि अनुवादा, इमि दोहा ज्ञानेश्वरि नीकी ॥ ५ ॥ आरति०

प्रस्तावना





श्री ज्ञानेश्वर महाराज

प्रस्तावना

(सम्पादक-वेणीशङ्कर शास्त्री साहित्याचार्य बी.ए.)

यत्कृपालवमात्रेण महिषो वेदपारगः ।
ज्ञानेश्वरं तमाचार्यं वन्दे बद्धाञ्जलिर्मुदा ।।

(श्री गुलाबराव महाराज)

ज्ञानेश्वरी श्रीमद्भगवद्गीता की एक स्वतन्त्र एवं सरस व्याख्या है। इसकी रचना महाराष्ट्र के अवतारी सन्त श्री ज्ञानेश्वर महाराज के गीता पर पद्य बद्ध प्रवचन द्वारा शक संवत् १२१२ में अहमदनगर जिला के नेवासें नामक स्थान में हुई। नेवासें 'प्रवरा' नदी के पुण्य तट पर बसा है। यहीं मोहिनी राजा के मन्दिर के निकट गुरु श्री निवृत्तिनाथ तथा उपस्थित सन्त समुदाय के समक्ष सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर के मुख से यह अद्वयानन्द से उमड़ती ज्ञानोत्तर भक्ति की गंगा बही। तब श्री ज्ञानेश्वर केवल पन्द्रह वर्ष के थे। उनकी सम्पूर्ण 'गीता-कथा' मराठी के 'ओवी' नामक छन्दों में हुई, जिसे कि पास ही बैठे सच्चिदानन्द बाबा ने लेखनी-बद्ध कर लिया।

"द्वादश शत द्वादश शके, करि टीका ज्ञानेश ।
साधु सच्चिदानन्द तें, सादर लिखित अशेष ।।"

(गीता 'ज्ञानेश्वरी' अ० १८—१८१०)

ज्ञानेश्वरी के पुस्तक रूप में सामने आने का बस, यही संक्षिप्त इतिहास है। गीता विषयक इस काव्यमय रचना-प्रबन्ध का समस्त तत्त्वज्ञान द्वैत-अद्वैत अथवा सगुण-निर्गुण के ऐक्य पर आधारित है।

"उक्त तत्त्वज्ञान, मौलिक विचार-प्रगल्भता एवं मनोरम शब्द-सौष्ठव के कारण यह ग्रन्थ मराठी साधना साहित्य का अपि प्रेरणा-स्रोत बना। भारतीय वाङ्मय के अध्यात्म विषयक ग्रन्थों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।"

ज्ञानेश्वरी के रचयिता श्री ज्ञानेश्वर इस संसार में कुल इक्कीस वर्ष जीवित रहे। इस थोड़े से समय में स्वामी शंकराचार्य के समान ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव आदि अध्यात्म विषयक उच्च कोटि के ग्रन्थों के निर्माण के कारण, तथा भैंसा से वेद मन्त्रोच्चारण करवाना, चाङ भीत को चलाना, ज्ञानेश्वरी के लेखक सच्चिदानन्द बाबा के मृत शरीर को जीवित कर देना आदि लोकोत्तर यौगिक चमत्कारों के कारण और सर्व साधारण के लिए कल्याणप्रद भागवद्धर्म सुलभ बना देने वाले दैवी गुण सम्पन्न महापुरुष होने के नाते इन्हें महाराष्ट्र में साक्षात् भगवान् विष्णु का अवतार समझा जाता है।

जीवन वृत्त—

गोदावरी के उत्तर में आपेगाँव नाम का एक स्थान है। यहाँ श्री ज्ञानेश्वर के पूर्वज कुलकर्णी (पटवारी) का काम करते थे। राज्याश्रय के कारण इस कुल का बड़ा सम्मान था। भगवद्भक्ति का पौधा इस वंश में स्वयं योगिराज गुरु गोरखनाथ ने लगाया था। इसी पवित्र कुल में गोविन्द पन्त हुए। इन्हें तथा इनकी पत्नी निराबाई को गोरखनाथ के शिष्य गहनीनाथ से ब्रह्मोपदेश मिला था। दीर्घकाल तक वेदमाता गायत्री के पुरश्चरण से इन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पुत्र क्या था, यह तो "आँखों वाला—विवेकशील—मूर्तिमन्त वैराग्य" ही गोविन्दपन्त के घर जन्मा था! इसका नाम रखा गया 'विट्ठल पन्त'। पैठण में मामा के घर ही विट्ठल पन्त को वेद-शास्त्र-पुराणादि की शिक्षा मिली और फिर आलन्दी के कुलकर्णी सिधो पन्त की कन्या रुक्मिणी बाई से विवाह हो गया। विवाह तो ये न करते। पर, स्वप्न में विट्ठल भगवान् के आदेशानुसार न चाहते हुए भी इन्हें इस जग जंजाल में फँसना पड़ा। लेकिन, इससे इनके उस अखण्ड वैराग्य में कोई असर नहीं पड़ा। रात-दिन हरि कथा, नाम-संकीर्तन, सन्त सेवा में अवकाश कहाँ? जो घर की ओर ध्यान देते! नवविवाहिता रुक्मिणीबाई को इनके ये रंग-ढंग पसन्द न थे। श्वसुर सिधोपन्त तथा अन्य घर वाले इन्हें संसार की ओर मोड़ने का जितना प्रयत्न करते उतना ही इनका जन्मजात वैराग्य और दृढ़ होता जाता था। प्रवृत्ति और निवृत्ति की यह रस्साकशी कुछ समय चली पर प्रचण्ड वैराग्य की सच्ची लगन के सामने ये निस्सत्त्व सांसारिक प्रलोभन कब तक टिकते? विट्ठल पन्त का अन्तर्द्वन्द्व इतना घन हुआ कि ये घर से भाग कर काशी चले गए और वहाँ स्वामी रामानन्द से "अकेला हूँ, स्त्री-पुत्र आदि का बन्धन नहीं है" इस प्रकार झूठ बोल कर विधिवत् सन्यासाश्रम की दीक्षा ले ली। लेकिन, इस एक झूठ ने उनके जीवन के सारे साधना-पथ पर काँटे बिछा दिए! अब ये विट्ठल पन्त से स्वामी चैतन्याश्रम बन गए। कुछ समय पश्चात् इनके गुरु स्वामी रामानन्द तीर्थयात्रा करते हुए आलन्दी पहुँचे। संयोगवश वहाँ रुक्मिणीबाई भी आ गईं और स्वामी की धीर गम्भीर मूर्ति के सामने परमश्रद्धा से प्रणाम किया। उत्तर में स्वामी ने "पुत्रवती भव" यह कह कर आशीर्वाद दे दिया। इस पर रुक्मिणीबाई हँस पड़ी। स्वामी ने हँसने का कारण पूछा तो उसने सब हाल कह सुनाया। उसकी बात सुनकर स्वामी को यह निश्चय हो गया कि "हो, न हो रुक्मिणी का पति उनका चेला चैतन्याश्रम ही है। अतएव यात्रा बीच में ही रोक कर वे रुक्मिणीबाई तथा सिधो पन्त के साथ काशी आए।

अपने आश्रम में पहुँचकर चैतन्याश्रम से पूछा तो उसने सब बात सच-सच कह दी। फलतः स्वामी रामानन्द ने विठ्ठल को समझाया,—"सन्तानहीन तरुण स्त्री को छोड़कर सन्यास ग्रहण करने से गुरु और शिष्य दोनों नरक में जा पड़ेंगे। इस कारण तुम पुत्रोत्पत्तिरूपी पितृऋण से मुक्त होने तक शास्त्रोचित गृहस्थ धर्म का पालन करो।" गुरु की आज्ञा से विठ्ठलपन्त रुक्मिणीबाई को लेकर आलन्दी लौट आए। सन्यासी से फिर गृहस्थ बन गए। और यथा समय रुक्मिणीबाई से उनकी चार सन्तानें हुईं—निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई।

विठ्ठल पन्त ने कुटुम्ब का पसारा फैला तो लिया किन्तु उनसे गृहस्थी की यह गाड़ी आगे खिंची नहीं। सन्यासी से गृहस्थी बनने के कारण समाज में उनकी स्थिति बड़ी विकट हो गई थी। उन दिनों महाराष्ट्र में शास्त्राचार का पालन बड़ी कठोरता से किया जाता था। विठ्ठल जैसे "आरूढ़पतित" को जाति में मिला लेने की शास्त्रों में कोई व्यवस्था न थी। अतः समाज से बहिष्कृत हो जाने के कारण इस कुटुम्ब पर विपत्तियों के पर्वत टूट पड़े। विठ्ठल पन्त को लोग विषय-लम्पट और पापी समझते थे। समाज में इनका दर्शन भी पाप समझा जाता था। निवृत्ति, ज्ञानेश्वर आदि बच्चों को लड़के "सन्यासी के बच्चे" कह कर छेड़ते थे। समाज के इन अत्याचारों से तंग आकर विठ्ठल को नगर से दूर इन्द्रायणी के तट पर झोंपड़ी बनाकर रहना पड़ा। लेकिन, इन सब बातों से विठ्ठल पन्त की सघन शांति पर कोई असर न पड़ा। रात-दिन नामस्मरण और शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा वे चित्त की अखण्ड शान्ति को विचलित नहीं होने देते थे। लड़के जरा बड़े हुए तो उनके उपनयन की चिन्ता हुई। किन्तु, 'आरूढ़ पतित' के इन बच्चों को गायत्री मन्त्र की दीक्षा देने वाला ब्राह्मण समाज में कहाँ था? अतएव एतदर्थ कोई यज्ञानुष्ठान करने के लिए ये लोग त्र्यम्बक नासिक चले गए। वहाँ ब्रह्मगिरि की परिक्रमा करते हुए रास्ते में एक भयानक शेर सामने आ पड़ा। उसे देखकर सब प्राणरक्षार्थ इधर उधर भागे। इसी भगदड़ में निवृत्तिनाथ रास्ता भूलकर एक गुफा में चले गए। वहाँ गुरु गोरखनाथ के शिष्य गहनीनाथ बैठे तप कर रहे थे। बालक के तेजस्वी और सौम्यरूप को देख त्रिकालज्ञ योगी—गहनीनाथ ने उसे नाथ सम्प्रदाय-सम्मत योगमार्ग के प्रचार का उत्तम साधन जानकर अपना शिष्य बना लिया। गुफा से बाहर आने पर निवृत्तिनाथ ने गुरु से प्राप्त वही भागवततत्व ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई के हाथों देकर उन्हें कृतार्थ कर दिया। यात्रा समाप्त कर विठ्ठल बाल बच्चों सहित घर वापस आगए। व्रत, तीर्थानुष्ठान द्वारा देवताओं को अनुकूल करने का प्रयत्न तो इनके हाथ की बात थी, सो कर लिया। किन्तु, बच्चों के उपनयन की समस्या का समाधान तो ब्राह्मणों के ही हाथों में था! इसलिए अब कोई अन्य उपाय न देख सत्यनिष्ठ विठ्ठल बच्चों को

इस जातिबहिष्काररूपी नारकीय यन्त्रणा से बचाने के लिए कठोर से कठोर प्रायश्चित्त करने को तैयार हो गए। वे आलन्दी के ब्राह्मणों के पास गए और साष्टांग दण्डवत् करके प्रायश्चित्त की व्यवस्था मांगी। ब्राह्मणों के पास तो एक ही तराजू था—शास्त्र ! पोथी देखकर उन ब्राह्मणपञ्चजी ने एक स्वर में व्यवस्था दी—"तुम्हारा अपराध इतना बड़ा है कि देहान्त प्रायश्चित्त को छोड़ धर्मशास्त्रों में इसके लिए अन्य कोई व्यवस्था नहीं है।" ब्राह्मणों की इस आसुरी आज्ञा को शिरोधार्य मानकर विठ्ठलपन्त सपत्नीक प्रयाग गए और वहीं त्रिवेणी संगम में अपने नश्वर शरीर का अन्त कर दिया।

विठ्ठलपन्त के इस देहान्त प्रायश्चित्त के बाद निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर आदि बालकों की दशा और भी शोचनीय हो गई। उनपर किसी को दया न आई। शुष्कान्न भिक्षा तक मुश्किल से मिलती थी। कभी कभी तृण-पत्ते, कन्द-मूल खाकर तो कभी निराहार रहकर ही गुज़ारा करना पड़ता था। कुछ चारा न देख ये अपने पैतृक स्थान आपेगांव गए, तो वहां भी कुटुम्बियों ने उन्हें घर में नहीं घुसने दिया और इनकी सारी सम्पत्ति हड़प ली। अतः ये फिर आलन्दी वापस आ गए।

विपत्तियां आईं। घर बार सब चला गया। किन्तु इससे त्रैलोक्य को ही अपना घर समझने वाले इन जन्मजात ज्ञानी बालकों को कोई दुःख नहीं हुआ। फिर भी उपनयन की समस्या तो पूर्ववत जटिल ही थी। स्वरूपानन्द में निमग्न निखिल चैतन्यरूप निवृत्तिनाथ को तो यज्ञोपवीत की उतनी चिन्ता नहीं थी किंतु कुलधर्म की रक्षा के पक्षपाती ज्ञानेश्वर के कहने से अब ये बालक स्वयं ब्राह्मणों के पास पहुंचे। इस बार ब्राह्मण कुछ दयालु थे। उन्होंने बालकों को समझाया कि "यदि तुम पैठण जाकर वहां के ब्राह्मणों से शुद्धिपत्र ले आओ तो हम तुम्हें जाति में मिला लेंगे।" इस पर ये हंसते-खेलते पैठण पहुंचे। पैठण उन दिनों कर्मठ शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों का गढ़ था। "संन्यासी के बच्चों के आने की खबर नगर में बिजली की तरह फैल गई। ब्राह्मणों की एक बहुत बड़ी सभा जुटी। बालकों के यज्ञोपवीत के लिए कोई व्यवस्था ढूंढ निकालना टेढ़ी खीर थी। धर्मशास्त्रों को बड़ी बारीकी से देखा गया। दिग्गज पण्डितों के शास्त्रार्थ हुए। किन्तु, अन्त में उन्होंने भी कोई अन्य उपाय इनके उद्धार का न देखकर यही व्यवस्था दी कि, तुम लोग "उभयथा कुलभ्रष्ट" हो। अतः शास्त्र दृष्टि से केवल एक उपाय है कि अनन्य भाव से मार्ग का अनुसरण करो। तीव्र अनुताप करो। और गौ गधा तथा कुत्ते को समान भाव से प्रणाम करो।"

सभा विसर्जित हुई तो कुछ चञ्चल युवकों ने इन बालकों को छेड़ना शुरु किया। एक ने पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है ?' उत्तर मिला 'ज्ञानेश्वर' अर्थात् चराचर को एक समझने वाला और सकल निगमागम शास्त्रों में जो ज्ञान भरा है उसका ईश्वर। "ज्ञानेश्वर की इस छोटे मुंह बड़ी बात को सुन

कर उस भूर्गभवली में ढकेला ढकेला गया। पास ही एक भैंसा चर रहा था। उसकी ओर इशारा करके एक दूसरे युवक ने व्यंग्य से कहा, "तब तो यह भैंसा भी वेदों का ज्ञाता ज्ञानेश्वर है।" "अवश्य," ज्ञानेश्वर ने उत्तर दिया और भैंसे के मस्तक पर हाथ रखा तो वह जोर जोर से वेदमन्त्रों का उच्चारण करने लग गया। यह देख शास्त्रीय सामान्य-विशेष और विधि-निषेध में ही उलझे हुए पद-वाक्य प्रमाणज्ञ उन पण्डितों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ज्ञानेश्वर का यह "न भूतो न भविष्यति" चमत्कार देख कर पण्डितों को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। और उन्होंने इन दैवी विभूतियों को शुद्धि पत्र दे दिया।

अब तो वातावरण ही बदल गया। सब इन पर श्रद्धा करने लगे। कल के भिखारी—पतित—और जातिबहिष्कृत आज योगीराज पूज्य और पापों से छुटकारा दिलाने वाले महात्मा समझे जाने लगे। भक्तों की भीड़ लग गई। सत्सङ्गी पुरुषों के आग्रह पर ये लोग पैठण में ही गोदावरी के किनारे कुछ काल तक रहे। यहीं ज्ञानेश्वर ने शङ्कराचार्य के सब भाष्य, सूत्र ग्रन्थ, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ देख डाले। पैठण में कुछ समय रहकर वेद मन्त्र बोलने वाले भैंसे को साथ ले ये लोग नेवासें के लिए चल पड़े। रास्ते में आलें नामक स्थान पर श्री ज्ञानेश्वर ने भैंसे को समाधि दे दी। भैंसा मुक्त हो गया। ज्ञानेश्वर नेवासें पहुँचे तो वहां एक सती स्त्री अपने मृतपति का शिर गोद में लिए रो रही थी। ज्ञानेश्वर को उसपर दया आ गई। मृतपुरुष का नाम पूछा तो लोगों ने बताया—सच्चिदानन्द। ज्ञानेश्वर ने स्त्री को धैर्य बंधाते हुए कहा, भला, "सत् चित् आनन्द" कहीं मरा है? और शव पर अपना वरद-हस्त रख दिया। उस अमृतस्पर्श के मिलते ही मुर्दा जी उठा। यही सच्चिदानन्द बाबा आगे जाकर ज्ञानेश्वरी के लेखक हुए। इसी नेवासें में ज्ञानेश्वर का सबसे बड़ा चमत्कार सामने आया—'ज्ञानेश्वरी'! यहां मोहिनी राजा के मन्दिर से कुछ दूर 'ज्ञानेश्वरी स्तम्भ' है। कहते हैं इसी स्थान पर इस अभिनव 'गीता-कथा' का प्रादुर्भाव हुआ। खम्भे के पास चारों भाई बहिन बैठते और सम्मुख श्रद्धालु सन्त समुदाय। अपने बड़े भाई और मोक्षदाता गुरु श्री निवृत्तिनाथ की आज्ञा से ज्ञानेश्वर ने जगदुद्धारार्थ यह निर्मल ज्ञान-गंगा प्रकट की। कथा लगभग तीन साल तक चली। बारह वर्ष की बाल्यावस्था में ज्ञानेश्वरी प्रारम्भ की गई थी और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में समाप्त हुई। ज्ञानेश्वर का यह लोकोत्तर विभूतिमत्त्व इतिहास में अमर रहेगा। ज्ञानेश्वरी का विशेष परिचय हम आगे देंगे।

ज्ञानेश्वरी समाप्त करके ज्ञानेश्वर अपने भाई बहिन और सन्त मण्डली के साथ तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। इस यात्रा में विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा मेला, नरहरि सुनार और दर्जी नामदेव आदि सन्त ज्ञानेश्वर के साथ थे। यह एक भगवद्भक्तों का मेला था। यहां सब समान थे। भगवत्प्रेम

की मधुरिमा का प्रसाद सबको बिना किसी भेदभाव के समान रूप से मिलता था। सभी प्रेम के पुतले थे। "राम-कृष्ण-हरि" यही एक धुन सारे रास्ते आकाश में गूंजती रहती थी। शास्त्रीय विधिनिषेधों की कोरी आचारमूलक धार्मिकता की भांति भक्ति-भावना परतन्त्र नहीं होती। यहां हरि को भजने वाले सब हरि के ही आत्मरूप होते हैं। सब सन्तों ने उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, मथुरा, द्वारिका, गिरिनार आदि तीर्थों का भ्रमण किया। अनेक स्थानों पर ज्ञानेश्वर ने यौगिक चमत्कार दिखाए और लोगों के हृदय से भेदभाव का कचरा दूर कर अक्षय आनन्द का बीज बोया। तीर्थयात्रा समाप्त कर सब सन्त अपने अपने स्थानों को चले गए। ज्ञानेश्वर आलन्दी आ गए।

ज्ञानेश्वर ने योग के साधना मार्ग को सर्वजनप्रिय लोकोपकारी बनाने के कार्य में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दान दिया। उन दिनों तापी के तट पर सिद्धाश्रम में चाङ्गदेव नाम के एक सिद्ध योगी रहते थे। भूतभावन भगवान् शङ्कर के प्रसाद से ये चौदह विद्याओं, चौसठ कला और सब सिद्धियों के मालिक थे। दुनिया को बड़े बड़े आश्चर्यप्रद यौगिक चमत्कार दिखाने और सौ वर्ष की अवस्था पूर्ण हो जाने पर काल जब इन्हें हरने आता तो योगबल से प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाकर दस दिन अपने पार्थिव शरीर से बाहर रहते थे। काल दशाह तक इनकी प्रतीक्षा करके चला जाता तब ग्यारहवें दिन ये पुनः उस शरीर में आ जाते थे। इस प्रकार से काल छलना करके १४०० वर्षों तक जीवित रहे। पर "एक प्रेमकला के अभाव से उनकी ये सारी कला विफल थी।" इस योग सिद्धियों के अहङ्कार के कारण सर्वसाधारण इनके अलौकिक व्यक्तित्व से लाभ नहीं उठा सके। ये जन-सम्पर्क से दूर एक अखण्ड आत्म-ज्योति में ही रमे रहते। हां, शिष्य-मठ-हाथी आदि तामझाम की उपाधियां—शानो शौकत—इन्होंने बहुत फैला रखी थी। कहो, इनका रहन सहन एक दूसरे ईश्वर के समान ही था। ज्ञानेश्वर की अलौकिक योगसामर्थ्य की चर्चा जब इनके कानों में पड़ी तो इनकी इच्छा उनसे मिलने की हुई, पर इतने बड़े योगीराज एक बालक से मिलने कैसे जाते ?

अतः पहले ज्ञानेश्वर के योगैश्वर्य की परीक्षा लेने के लिए चाङ्गदेव ने एक कोरा कागज ही उनके पास भेज दिया। कोरा कागज देख ज्ञानेश्वर जान गए कि चाङ्गदेव कितने पानी में है। उत्तर में गुरु श्री निवृत्तिनाथ की आज्ञा से ज्ञानेश्वर ने उसी कोरे कागज पर ६५ ओवियों वाला आत्मबोध से पूर्ण चाङ्गदेवपासष्टी नामक प्रसिद्ध पत्र लिखा, जो कि मराठी सन्त साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में समझा जाता है। इस पत्र में ज्ञानेश्वर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से अध्यात्मज्ञान का रहस्य चाङ्गदेव को समझाया है। दृश्य और अदृश्य सब एक परमात्म-तत्त्व ही है। द्रष्टा दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी जब

समाप्त हो जाती है तब वहां एक आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और कुछ बच नहीं रहता। इस कारण एक वस्तु को तीन समझना भ्रान्ति है। एकत्व ही चरम सत्य है। चाङ्गदेव, हम-तुम में कोई भेद नहीं। फिर हमारा तुम्हारा संवाद तो मुख के दर्पण से मुख को देखना और शब्द से शब्द को सुनने के समान ही है। प्यारे मित्र! तुमसे मिलने के लिए हृदय में बड़ा उल्लास है। वैसे तो परमार्थरूप से हम तुम एक हैं। फिर यदि व्यवहार द्वारा हम मिलें भी तो यह हमारा मिलना ऐसा होगा जैसे कि नमक की डली समुद्र से जा मिले। नामरूपातीत आत्मानन्द के अमृत का पान कर चाङ्गदेव, तुम सुखी रहो।" संक्षेप में उस पत्र का यही भावार्थ है।

चाङ्गदेव ने पत्र पढ़ा तो १४०० शिष्यों सहित शेर पर सवार होकर ज्ञानेश्वर से मिलने गए। उस समय ज्ञानेश्वर अपने भाई बहिनों सहित एक टूटी दीवार पर बैठे खेल रहे थे। 'चाङ्गदेव शेर पर चढ़कर चौदह सौ शिष्यों सहित आ रहे हैं' यह सुनकर ज्ञानेश्वर ने भी तदनुरूप ही अगवानी की। जिस भीत पर वे बैठे थे उसी जड़ भित्ति को चलाकर चाङ्गदेव से मिले। जड़ भित्ति को चलते देख चाङ्गदेव का गर्व चूर २ हो गया। वे शेर से उतरकर ज्ञानेश्वर के चरणों पर गिर पड़े। उनके हृदय में सच्चे ज्ञान का उदय हुआ। नामस्मरण के महामन्त्र का सहारा लिया तो योगसिद्धियों की उपाधियों से उन्हें छुट्टी मिल गई।

इस प्रकार के अनेक लोकोपकारी कार्य करके २१ वर्ष की अवस्था में ज्ञानेश्वर ने जीवित समाधि ले ली। इसके बाद सोपानदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी दो-तीन वर्ष के भीतर ही समाधिस्थ हो गए।

ज्ञानेश्वरी—

ज्ञानेश्वर को समाधिस्थ हुए आज ६५० वर्षों से भी अधिक समय बीत गया। तब से आज तक भारतीय जीवन में कितने उतार-चढ़ाव आए किन्तु ज्ञानेश्वरी की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई। वर्षों में कभी कोई मौलिक रचना प्रकाश में आती है। उसे भी मनुष्य यदि हाथों से खो दे, तो उसके पास रह क्या जायेगा? समाज ने अपने आत्मकल्याण के लिए ज्ञानेश्वरी को कठिन से कठिन राजनैतिक परिस्थितियों में भी प्राणों से अधिक सुरक्षित रखा। मुद्रणकला के विकास से पूर्व लोग हस्त-लिखित प्रतियों के सहारे स्वाध्याय और नित्यपाठ द्वारा कंठस्थ करके इससे लाभ उठाते थे। किन्तु, इतने बड़े ग्रन्थ को कंठस्थ कर लेना भी तो सबके बस की बात नहीं! कालान्तर में इसके अन्दर कितने ही अशुद्ध पाठ, क्षेपक आदि दोष आ गए। लेखकों के प्रमाद से ज्ञानेश्वरी की कई पोथियां अशुद्ध हो गईं। बालमनि

लेखकों को जो मन भाया वैसा उन्होंने लिखा, और इससे शब्द इधर-उधर हो गए। अतः इस दिशा में ध्यान देने की आवश्यकता हुई।

आज से लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व—महाराष्ट्रीय सन्त एकनाथ महाराज ने अनेक स्थानों से अनेक हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह करके प्रयत्नपूर्वक सबको मिलाकर जो शब्द इधर-उधर हो गए थे उनको ठीक किया। "पाठभेद में आमद्ध" ओवियों को शुद्ध किया और ग्रन्थ संशोधन का यह कार्य समाप्त करके ज्ञानेश्वरी के अन्त में लिख दिया कि "अमृत परोसकर रखी गई इस थाली में जो कोई अपनी ओवी मिलावेगा उसका यह प्रयत्न अमृत में क्षार मिलाने के समान होगा।" इस तरह सन्त एकनाथ महाराज ने ज्ञानेश्वरी की प्रामाणिक प्रति तैयार करने का प्रयत्न किया। सच्चिदानन्द बाबा द्वारा लिखित ज्ञानेश्वरी तो कहीं मिल न सकी। अतः भिन्न भिन्न हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ज्ञानेश्वरी का प्रामाणिक संस्करण तैयार करने की दिशा में ऐतिहासिक विद्वान आज भी प्रयत्नशील हैं।

आगे हम ज्ञानेश्वरी के काव्यांश को न छोड़ते हुए अध्यायसार के रूप में ग्रन्थ का प्रति-अध्याय विषय दिग्दर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं। ताकि हिन्दी के सामान्य पाठक कविभूषण श्री गणेशप्रसाद अग्रवाल द्वारा विरचित ज्ञानेश्वरी के प्रस्तुत पद्यानुवाद का पूरी तरह से विषय-प्रवेश पूर्वक रसास्वादन कर सकें। किन्तु पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञानेश्वर कोरी प्रतिपद-गीता ही नहीं है। ज्ञानेश्वर ने गीतार्थ को आबाल-वृद्ध-सुलभ बनाने के लिए चमत्कारपूर्ण आलंकारिक भाषा में बहुत विस्तार से प्रस्तुत किया है। गीता के ७०० श्लोकों का विस्तार लगभग बारह गुना अधिक ओवियों में है। इसमें ग्रन्थ का करीब दशमांश मंगलाचरण, गुरुस्तुति, महाभारत, गीताप्रशंसा, स्वयं के विनयपूर्ण उद्गार, श्रोताओं से ध्यान देने की प्रार्थना, कृष्णार्जुन प्रेम, अर्जुन भाग्यप्रशंसा, संजय का सात्त्विक प्रेम आदि गीता से बाहरी विषयों पर खर्च किया गया है। २, ३, ४, ७ और ८ अध्यायों को छोड़ कर अन्य सब अध्यायों के उपक्रमोपसंहार में तथा अध्यायों के अन्दर भी यथास्थान इन बहिरङ्ग विषयों की चर्चा है। यह बहिरङ्ग भाग केवल स्तुतिपरक ही नहीं है।

अध्यात्मतत्त्व से पूर्ण यह अंश परम उपादेय तथा सारगर्भित है। ज्ञानेश्वरी से इसे अलग कर देने से ग्रन्थ का सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो जाता है। तथापि सामान्य पाठकों के लिए ज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित गीतार्थ तक सीधे पहुँचने में बाधक देख इस भाग को आगे दिए जाने वाले अध्याय सार में न देकर परिशिष्ट में ही विस्तार से देना ठीक होगा।

रूप पुरुष ही जानते हैं, किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे भेद बुद्धि से नानाविध कामनाएं मन में रखकर अनेक थी देवताओं की पूजा अर्चा करते हैं और कर्मानुसार उन्हें फल भी मिलता है, क्योंकि कर्म के अतिरिक्त फल का देने वाला कोई दूसरा नहीं है।

इसी प्रकार ब्राह्मणादि चार वर्णों में भी मनुष्यमात्र एक हैं। फिर भी प्रकृतिजन्य गुण-कर्मों के भेद से मनुष्य चार भेदों में बांट दिए गए हैं। इस तथ्य को भली भांति समझकर प्रत्येक मनुष्य यदि अपनी योग्यतानुसार कर्म करता रहे तो वही कर्म उसे संसार-बन्धन से छुड़ाकर मोक्ष तक ले जायेगा। जैसे भुने हुए बीज से अंकुर नहीं फूटता वैसे ही ज्ञानाग्नि में तपे 'निष्काम-कर्म' बन्धक नहीं होते।

कर्म-अकर्म का विचार करते समय अच्छे अच्छे दूरदर्शी भी चकरा जाते हैं। इन सब क्रियाओं के मूल में महत्वपूर्ण विचार बस एक ही है कि मनुष्य कर्म करता हुआ भी स्वयं को निष्कर्म समझे। कर्मों का सङ्ग होते हुए भी फल की आशा न रखे। यही दृढ़ भावना नैष्कर्म्य की कुंजी है। जिसे यह कुंजी मिल गई वह महात्मा पुरुष सन्तोष के घर में बैठकर आशाबोध की रसोई का आस्वाद लेते नहीं अघाता। समयानुसार उसे जो कुछ प्राप्त हो जाए उसी से वह संतुष्ट हो जाता है। अपना-पराया भेद उसके निकट नहीं रहता। द्वैतभाव के नष्ट हो जाने से सारा संसार उसे आत्मवत प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त हुए पुरुष के लिए कर्म की पृथक् सत्ता कहां है? और वह सहज लीला वह यज्ञ-यागादि नित्य नैमित्तिक कर्म करे भी तो वे सब कर्म अन्त में उसके आत्म-स्वरूप—ऐक्यभावना—में ही लीन हो जाते हैं। "जो कर्म है वही ब्रह्म है" इस प्रकार की समबुद्धि से किया गया कर्म भी निष्कर्मता है। वेदों में "द्रव्य यज्ञ" आदि बहुत से यज्ञों का विधान है। किन्तु जैसे नक्षत्रों का तेजोवैभव सूर्य की बराबरी नहीं कर सकता वैसे ही ये सब यज्ञ ज्ञानयज्ञ की बराबरी नहीं कर सकते। ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। इसे प्राप्त करने की यदि इच्छा हो तो सब प्रकार से सन्तों की सेवा करो। अभिमान छोड़कर अनन्य भाव से उनके चरण गहो। फिर जो-जो जानने की इच्छा हो, वे पूछते ही बतला देंगे। उससे अन्तःकरण को बोध होगा। मोहान्धकार दूर होकर भ्रान्ति एवं व्यामोह से छुटकारा मिल जायगा। मन कल्पनारहित हो जायगा। हे अर्जुन, यदि महातेजस्वी सूर्य को कसने के लिए कोई कसौटी मिल सके और आकाश को यदि एक गठरी में बांधा जा सके तभी ज्ञान की बराबरी का कोई उपमान ढूंढा जा सकता है। ज्ञान द्वारा प्राप्त आत्मसुख की चाट लग जाने पर विषयों के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियों के उत्पात समाप्त हो जाने पर ज्ञानी कर्मों का कर्ता अपने को नहीं मानता। श्रद्धा-बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानवान् के हृदय में शान्ति विराजती है।

जिस प्राणी को पवित्र ज्ञान के प्रति रुचि न हो, जिसने जन्म पाकर संतमहात्मा की सेवा नहीं की उसका परलोक तो दूर रहा वर्तमान जीवन भी तितर बितर हो जाता है। ऐसा विषय-लम्पट पुरुष पापी है। ज्ञान से संशय दूर होकर मन और बुद्धि के मल धुल जाते हैं। इसलिए अर्जुन, अन्तःकरण से सब संशय या भ्रम दूर करके युद्धार्थ तैयार हो जाओ।

पंचम अध्याय



"भगवन्! कर्म-सन्यास और कर्मयोग इन दो मार्गों में कौन श्रेयस्कर मार्ग है?" अर्जुन की इस शंका का समाधान पंचम अध्याय में किया गया है। गत अध्याय में ज्ञान की अत्यधिक प्रशंसा की गई और अन्त में अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देते हुए कहा गया कि वह युद्ध से मुख न मोड़े। इससे उसका मन फिर दुविधा में पड़ गया। अतः वह अपने इस प्रश्न का सीधी सादी भाषा में स्पष्ट और निश्चित उत्तर चाहता था। उसकी प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने कहा "अर्जुन, यद्यपि कर्मसन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही मार्ग मोक्षप्रद हैं तथापि तारतम्य का विचार करने पर कर्मयोग ही सब के लिए सुगम तथा सरल मार्ग दिखाई देता है। किसी नदी या जलाशय को पार करना हो तो नाव जैसे स्त्री बालक आदि सब के लिए सुलभ साधन है वैसे ही कर्मयोग ज्ञानी अज्ञानी सबके लिए सुगम सुलभ तथा अन्त में मोक्ष को देने वाला मार्ग है।"

"ज्ञानमार्ग में भी आलसी की भांति कुछ न करते हुए निश्चेष्ट बैठ जाने मात्र से काम नहीं चलता। ज्ञानी का नैष्कर्म्य निराला है। वह देह-इन्द्रियादि द्वारा कर्म करता रहता है किन्तु इससे उसके अकर्तापन में तनिक भी अन्तर नहीं आता। प्रपञ्च में आसक्त मन जब विषयों से नाता तोड़ कर निःसंग बन जाता है तब गृह दारा आदि संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसके अन्तःकरण में "मैं-मेरा" इस तरह के संकल्प नष्ट हो गए हैं वह प्रपञ्च में रह कर भी कर्म-सन्यासी ही है। आग के बुझ जाने पर

जैसे राख कपास तक को नहीं जला सकती उसी प्रकार बुद्धि में संकल्प-विकल्प की ज्वाला जब शान्त हो जाती है तब कर्मों में बांधने की शक्ति नहीं रहती। जिसने प्रपञ्च और परमार्थ का तत्त्व जान लिया उसके लिए जो सांख्य है वही योग है, जो परमार्थ है वही प्रपञ्च है। जो सन्यास है वही संसार है। जिसने सांख्य और योग दोनों को अभेद रूप से एक जाना उसी ने संसार में प्रकाश देखा, उसी ने अपने आपको देखा। जिसने अपने मन से भ्रम को हटा दिया; गुरु वाक्य से इसे धो डाला उसे आत्म-स्वरूप में स्थिर कर दिया ऐसे पुरुष से कर्म हुए तो भी उसके सब कर्म धर्माधर्मरूप कर्मबन्ध से अलिप्त ही रहते हैं। उसकी बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त कहीं अहंकार का नाम तक नहीं रहता। इसी कारण वह सकाम पुरुषों की भांति कर्म करता हुआ भी कर्मफल के सम्बन्ध में उदासीन ही रहता है। ऐसा फलत्यागी पुरुष इस नश्वर देह में रह कर भी नहीं रहता। सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता। ऐसी नैष्कर्म्य स्थिति में वर्तन करने वाले पुरुष के हृदय में अमर्याद शान्ति विराजती है। वह ईश्वरवत् है। इस जगत के आदि बीज परमेश्वर को ही देखो, वह कुछ नहीं करता किन्तु इस त्रिभुवन का विस्तार वही करता है। सगुण रूप धारण करने पर भी उसके समर्थ निर्गुण-निर्विकारत्व में अणुमात्र की भी न्यूनता नहीं आती। यही बात ज्ञान सम्पन्न पुरुष के लिए भी है। "अहं ब्रह्मास्मि" या "सर्वत्र समान रूप से रहने वाला—सर्वव्यापक—ब्रह्म मैं ही हूँ" ऐसा अद्वैतबोध जिसे प्राप्त हो गया उसके लिए तीनों लोकों में कोई भेद नहीं। इस एवं अलिप्त अवस्था के प्राप्त होने पर उसके मन में किञ्चिन्मात्र भी सुख-दुःखादि विकार पैदा नहीं होता और नांही कर्म करते समय इन्द्रियों के साथ तादात्म्य या गांठ-सांठ करके उनके द्वारा विषयों का उपभोग ही वह लेता है।

इसके विपरीत आत्मसुख से वञ्चित विषय-लम्पट अज्ञानी पुरुष विषयों की मृगतृष्णा के पीछे पागल होकर आजन्म दुःख भोगते हैं। विषयों में सुख समझना मूर्खता है। तुम ही कहो, क्या सर्प के फन की छाया में चूहा आराम से सो सकता है? विषयासक्त पुरुष यदि विषयों को छोड़ दें तो महापाप कहां रहेंगे? ज्ञानीजन विषयों के दुःखद स्वरूप से भली भांति परिचित हैं और इसी कारण वे इस भ्रम जाल से दूर ही रहते हैं।

"इस प्रकार की अक्षय और निःसीम नैष्कर्म्य स्थिति को पहुंचे वैराग्यवान् पुरुष देहधारी होकर भी साक्षात् ब्रह्म ही हैं। उनके पन्थराज योग मार्ग में रुकना की नहीं आवश्यकता है। वे वैराग्य का आधार ले अन्तःकरण से विषयों को बाहर निकाल फैंकते हैं। फिर यमनियम और प्राणायाम द्वारा विषयहीन मनोवृत्तियों को अन्तर्मुखी बना कर मन को एकाग्र करके मन को ही समूल नष्ट कर देते हैं।

जिस मनोरूप पट पर यह संसार चित्र खींचा जाता है वह पट ही जब फट गया तो जैसे सरोवर के सूखने पर प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है वैसे ही जब मन ही नहीं रहा तो अहंभावादि विकार कहां रहेंगे ? इस कारण ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुआ पुरुष शरीर में ही ब्रह्म है।"

योगमार्ग का इतना चमत्कारी वर्णन सुन कर अर्जुन के हृदय में इस विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्कण्ठा जागी।

आगे षष्ठ अध्याय में श्री भगवान योग किसे कहते हैं ? इसका उपयोग क्या है और इसके अधिकारी कौन हैं आदि विषयों पर प्रकाश डालेंगे।

छठा अध्याय



श्री भगवान् ने कहा, "अर्जुन, संसार में योगी और सन्यासी एक ही हैं। इन्हें पृथक् न मानो। जैसे एक ही पुरुष को भिन्न भिन्न दो नामों से पुकारा जा सकता है या जैसे एक ही ग्राम को दो मार्गों से जाया जा सकता है वैसे ही सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग ये दोनों मार्ग साधक को परब्रह्म तक पहुंचा कर एक हो जाते हैं। पृथ्वी जैसे सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष आदि उत्पन्न करती है और फल बीज आदि की अपेक्षा नहीं रखती, वैसे ही संकल्प का सर्वथा परित्याग करके निष्काम भाव से जो कर्म करते रहते हैं, वेही सन्यासी हैं, हे पार्थ ! सुनो, वे ही योगीश्वर हैं।

योगरूपी पर्वत के शिखर तक पहुंचना हो तो कर्माचरण रूपी पगडंडी मत छोड़ो। यमनियमादि अष्टांग योग की घाटियां पार करके ब्रह्मैक्य रूपी मंजिल तक पहुंच जाओगे। जहां साध्य (ब्रह्म) और साधन (योग) का भेद नष्ट हो जाता है—वही समाधि है। योगारूढ़ पुरुष आत्मज्ञान की कोठरी में सोता है। अतः उसकी इन्द्रियों के घर में विषयों का आवागमन बन्द हो जाता है। इन्द्रियां कार्य करती रहती हैं किन्तु अन्तःकरण के कामना रहित होने से उसके चित्त में कोई विक्षोभ उत्पन्न नहीं होता। यही

भावना है कि उसके हृदय में अक्षय शान्ति विराजती है। यह योगस्थिति कहीं बाहर से नहीं आती। आत्मसंस्थिति की इस आत्मरूप अद्वैतस्थिति में, भला कौन किसे क्या दे सकता है? भ्रान्ति और अज्ञान के कीचड़ से आत्मा का उद्धार करने वाला योगी स्वयं है। मन के भ्रामक संकल्प-विकल्पों के फेर में पड़ कर मिथ्या "मैं-मेरा" इस तरह के देहाभिमान से चिपका रहने वाला, व्यक्ति आप ही अपना बैरी है। सच्ची आत्मस्थिति को प्राप्त पुरुष के सामने सुख-दुःखादि द्वंद्व नहीं टिकते। जैसे मेघों से निकली पानी की धाराएँ समुद्र में आकर एक हो जाती हैं वैसे ही योगी के चित्त में शुभाशुभ कर्म, मित्र-शत्रुभाव पृथक् नहीं रहते। चराचर में एकत्व का दर्शन करने वाले योगी को विश्व में भिन्न भिन्न आकार के वस्तु रूपी अलंकार एक ही परमात्मा रूपी स्वर्ण के बने प्रतीत होते हैं। ऐसी अद्वैत भावना के जाग्रत हो जाने पर योगी निरन्तर अपने आप में निमग्न रहता है। ऐसे विवेकशील अपरिग्रही व्यक्ति की महिमा निराली है। इस योगमार्ग से चल कर अनेक ऋषि महर्षि सिद्धावस्था तक पहुँचे। प्रवृत्ति से इस मार्ग का आरम्भ है और निवृत्ति में जाकर अन्त है।

योगाभ्यास का स्थान कैसा होना चाहिए? यह जानना चाहो, तो सुनो। वह स्थान निर्वात और रमणीक होना चाहिए। वह स्थान ऐसा हो कि वहाँ जाने पर, पाखण्डी और नास्तिक के हृदय में भी श्रद्धा उत्पन्न हो जाय। उस स्थान को देख कर विलासी और कामी पुरुष के हृदय में भी सार्वभौम राज्य छोड़ कर एकान्तवास और तप करने की इच्छा उत्पन्न हो। ऐसे उपयुक्त स्थान पर साधक आसन जमावे और एकाग्र चित्त से सद्गुरु-स्मरणपूर्वक अभ्यास आरम्भ करे।"

यहाँ योगाभ्यास के प्रकरण में आसन से लेकर कुण्डलिनी जागरण तक की समस्त योग-क्रियाओं का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है।

श्री ज्ञानदेव कहते हैं "कुण्डलिनी-जागरण के रूप में पिण्ड से पिण्ड का ग्रास जो नाथ-सम्प्रदाय का मर्म है वही अभिप्राय श्री महाविष्णु ने यहाँ प्रकट किया।" नाथ-सम्प्रदाय-सम्मत पंथराज हठयोग प्रणाली ही यहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताई।

योगी के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् विषयों के प्रति उदासीनता नितान्त आवश्यक है। इन्द्रियों पर काबू पा लेने पर उसका मन भी वश में आ जाता है। निर्वात स्थान में रखे हुए दीपक की भाँति उसके मन की समस्त वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और तब वह स्वात्मरूप में आरूढ़ हो इस मन का ही समूल नाश कर देता है। उसकी इस समाधि अवस्था में केवल एक चैतन्यमात्र ही शेष रहता है। इस स्थिति से परे और कुछ नहीं है।

योगाभ्यास के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु उनसे डरना नहीं चाहिए। ये दुष्ट इन्द्रियाँ वृथा भय दिखाती हैं। प्राणों की रक्षा करने वाली औषधि क्या जिह्वा को कड़वी नहीं लगती? जीवन के लिए सच्चा हितकारी मार्ग इन्द्रियों के लिए सर्वदा दुःखदायी रहता है। योगी दुःख से विचलित नहीं होता। सारे दुःखों का मूल इन्द्रियों को लाड़ लड़ाने या प्रोत्साहन देने में है। संकल्प विकल्पों से हीन योगी के शान्त-समरस चित्त में इन्द्रिय-कौतुक के लिए स्थान कहाँ?"

श्री ज्ञानदेव कहते हैं कि यह योगमार्ग सरल हो कर भी अपनी पीठ पर स्वयं अपने ही पैरों द्वारा चलने की भाँति कठिन है। इस कारण श्री भगवान अर्जुन को योग-साधना का दूसरा उपाय बताते हैं, "हे अर्जुन, तुम समदर्शी बन जाओ। सर्वत्र सब स्थानों में केवल एक मुझे ही देखो। (सबको मुझ में और मुझे सब में देखो।) जैसे भिन्न भिन्न अलंकारों में एक ही स्वर्ण है वैसे ही सर्वत्र मुझ एक सर्वात्मा सर्वव्यापक को ही देखो। इससे शुभाशुभ कर्मों से, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से छुटकारा मिल जायगा। साम्य-स्थिति से बढ़कर संसार में दूसरी कोई बड़ी वस्तु प्राप्तव्य नहीं है।"

भगवान् की इस बात पर अर्जुन ने शंका की "देव! साम्यस्थिति के लिए मन की एकाग्रता चाहिए। किन्तु, यह कैसे हो सकता है कि चञ्चल मन काबू में आ जाय? क्या बन्दर समाधि लगा सकेगा? क्या तूफान या झंझावात कहने से थम जायगा? यह मन ऐसा है कि बुद्धि को भरमाता है; धैर्य को चकमा देकर निकल जाता है, विवेक को डिगाता है, संतोष को चसका लगाता है और चुप बैठे रहिए तो दसों दिशाएँ घुमाता है।" श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन, बात सच है। चंचल मन को रास्ते में लाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु, अभ्यास और वैराग्य के सहारे यदि इसे वश में लाया जाय तो यही मारक मन तारक बन जाता है। कारण, कि मन में एक अच्छी बात यह है कि जहाँ इसे चसका लग जाता है वहीं यह चिपक जाता है। अतः इसे सर्वदा स्वात्मानुभव सुख ही देते रहना चाहिए।" मनोनिग्रह का यह मूल्यवान् उपाय सुन कर अर्जुन ने योगभ्रष्ट साधकों के विषय में प्रश्न किया, "भगवन्! साधक श्रद्धायुक्त भी है। दृढ़ता से योगाभ्यास भी करता है किन्तु इसी बीच दैव दुर्विपाक से यदि उसका आयुष्य समाप्त हो जाय तो प्रपंच और परमार्थ से उभयथा-भ्रष्ट इस साधक की क्या गति होगी?"

भगवान् ने कहा, "अर्जुन, योगभ्रष्ट पुरुष की गति नहीं रुकती। शीघ्र ही वह पवित्र और श्रीमान् कुल में जन्म लेकर अपनी पूर्व साधना फिर वहीं से आरम्भ करता है। साधना पूर्ण हो जाने पर समाधि उसके घर का पता पूछने चली आती है। अर्जुन, यह मार्ग ज्ञानी, भक्त आदि सभी साधकों के लिए लोकप्रद है।

हे पाण्डुकुमार ! मैं तुम से सदा यही कहता हूँ कि तुम अपने अन्तःकरण को योगयुक्त—समदर्शी बना लो। योगयुक्त पुरुष मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। वह मद्रूप ही है।

सप्तम अध्याय

श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा,—"पार्थ, योग का सारतत्त्व तुम्हें समझा दिया। अब मैं ज्ञान और विज्ञान का मर्म बताऊँगा। इन्हें यदि जान लिया तो परमात्मतत्त्व तुम्हारे हाथ ऐसे आजावेगा, जैसे हथेली पर रखा रत्न। सांसारिक प्रपञ्च को ही "विज्ञान" नाम से पुकारा जाता है। प्रपञ्च को सत्य समझना अज्ञान है और जहां प्रपञ्च और अज्ञान दोनों समाप्त हो जाते हैं; जिसका रास्ता विचार और तर्क को भी ढूंढे नहीं मिलता, हे भाई अर्जुन, वही मन-बुद्धि से अगोचर स्वरूप—'ज्ञान' है।

इस मिथ्या प्रपञ्च की मृगतृष्णा के पीछे लोग पागल हैं। हजारों में कोई एक मनुष्य "सत्य की खोज" के लिए प्रयत्न करता है और इन प्रयत्न करनेवालों में भी कोई विरला ही मुझे तत्त्वतः जानता है। "विज्ञान" का पर्दा हट जाय तो "ज्ञान" के दर्शन होते हैं। अतः "विज्ञान" ही पहले कहता हूं। सुनो ? आंखों से दिखाई देने वाली इस दृश्य सृष्टि की जननी है—'माया'। इसी का दूसरा नाम 'प्रकृति' है। प्रकृति दो प्रकार की है—'परा' और 'अपरा'। इनमें "अपरा-प्रकृति" के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये आठ भेद हैं। इन आठों भेदों की ऐक्यावस्था—(जहां ये आठों भेद एक होकर रहते हैं) को "परा-प्रकृति" कहते हैं। यह मेरी श्रेष्ठ प्रकृति है। इसी का नाम जीव है। यही चराचर में प्राण फूंकने वाली शक्ति है। इसी से उत्पन्न अहंभाव पर संसार टिका है। मेरी यह सूक्ष्म प्रकृति (परा प्रकृति) लीलावश जब स्थूल प्रकृति (अपरा प्रकृति) से मिलती है तो इसके पृथ्वी-अप्-तेज आदि आठों भेदों से अण्डज, स्वेदज, जारज और उद्भिज ये चार प्रकार के भिन्न भिन्न आकार वाले किन्तु समान योग्यता के असंख्य प्राणी जन्म लेते हैं। संक्षेप में यों समझो कि प्रकृति या माया से ही नाम-रूप से प्रतीत होने वाले संसार का विस्तार है। यह प्रकृति मुझ में ही समरस होकर रहती है। अतः इस

अग्नि की आदि गर्भ और अंत में मैं ही हूँ। अर्थात् और मुझ परमेश्वर में कोई भेद नहीं। इसीसे स्वप्नों की मणियाँ बना कर उन्हें स्वप्न के धागे में ही पिरो दिया जाय वैसे ही इस जगत के बाहर-भीतर मैं ही हूँ। यह त्रिगुणात्मक सृष्टि मुझ से ही बनी है पर मैं उसमें नहीं हूँ। जल से बिजली उत्पन्न होती है। इसलिए जल में तो बिजली है, पर बिजली में जल नहीं रहता। माया की महिमा निराली है। देखो, यह मुझ से ही उत्पन्न हुई है। किन्तु जैसे जल से उत्पन्न हुआ शैवाल सारे जल पर छा जाता है वैसे ही माया ने मुझ पर पर्दा डाल रखा है। फलस्वरूप प्राणी मुझ में बड़ी आसानी से लीन सकते थे किन्तु "मैं-मेरा" रूपी माया के चक्कर में पड़ कर विषयों में भटक गए। इस माया रूपी नदी को पार करना बड़ा कठिन है। यदि अपथ्य करने वाला चटोरा रोगी रोग को वश में कर सके, यदि दावानल फूंक से बुझ जाय, और चिउँटी मेरु पर्वत को लांघ जाय तभी जीव माया नदी को पार कर सकता है। बुद्धि, योग, ज्ञान, मद-मत्सर आदि साधनों के सहारे जो अपने पुरुषार्थ द्वारा इसे पार करने का प्रयत्न करते हैं उनका मद-मत्सर्य विषय-अहंकार आदि भँवरों में तथा लहरों में डूब-डूब जाता है।

तब, इस मायारूपी नदी को कैसे पार किया जाय. इस नदी को वे ही अनायास तैर कर पार कर सकते हैं जो अनन्य भाव से मुझे भजते हैं। उनका तैर कर इसे पार करना भी विचित्र है। वे इसी पार रहते हैं। जल में उन्होंने पैर भी नहीं रखा और तैर गए—माया का जल ही सूख गया। किन्तु बहुत थोड़े लोग इस प्रकार अनन्य भाव से मेरी शरण आते हैं। कारण, कि लोग अहंकार की मदिरा पीकर सन्मार्ग से विचलित हो गए हैं। काम सरिता की बाढ़ आने से वे इतने निमग्न हो गए हैं कि इस कीचड़ से ऊपर उठने का इनमें साहस ही नहीं रहा। जो कुछ थोड़े भक्त आत्मकल्याण के लिए मुझे भजते हैं, वे चार प्रकार के हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें आर्त दुःख निवारण के लिए, जिज्ञासु ज्ञान की लालसा से और अर्थार्थी धन के लिए मेरी भक्ति करता है। किन्तु चौथे ज्ञानी भक्त के हृदय में कोई कामना नहीं। वह बिना किसी इच्छा के मुझे भजता है। ज्ञानी भक्तों में श्रेष्ठ भक्त मुझे सब से अधिक प्रिय है। देखो, ज्ञान के प्रकाश से उसने द्वैतरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है और मद्रूप होकर भी अनन्यगति से मुझ पर प्रीति रखता है। जन्म जन्म तक निष्काम भाव से कर्म करते हुए वह सर्वत्र एकमात्र मुझ वासुदेव को ही देखता है। पानी में डूबे घड़े के बाहर भीतर जैसे पानी ही पानी रहता है वैसे ही आत्मानुभव में निमग्न इस ज्ञानी भक्त के बाहर भीतर केवल मैं ही हूँ। हे अर्जुन, ऐसा महात्मा दुर्लभ है। हाँ, स्वार्थ को लेकर आशा के अन्धकार में इधर उधर भटकने वाले दूसरे प्रकार के भक्त जितने चाहो, उतने मिल जायेंगे। सांसारिक विषयों की प्राप्ति के लिए ये लोग दूसरे देवी-देवताओं

की पूजा बड़े विधि-विधान से करते हैं। पर, ये हतबुद्धि यह नहीं जानते कि इनकी मनोकामना को पूर्ण करने वाले उन देवताओं में भी मैं ही हूं। इनके इस कार्य में हानि बस इतनी ही है कि सकाम उपासना से उन्हें अभिलषित वस्तु तो मिल जाती है, पर मैं नहीं मिलता। ये मेरे पास आकर भी मुझसे दूर हो जाते हैं। समुद्र को छोड़ चुल्लू भर पानी में तैरने की चेष्टा करते हैं। इनका यह प्रयास ऐसा ही है जैसे कि कोई अमृत के समुद्र में डूबकर मुख बंद कर ले और मन से क्षुद्र जलाशय का स्मरण करे। ऐसा क्यों? अमृत के सागर में डूबकर भी कोई क्यों मरे? अमृत में अमृत होकर क्यों न रहे? वैसे ही हे अर्जुन, फल हेतु का पिंजरा छोड़ अनुभव के पंखों से उड़कर चिदाकाश का स्वामी बनकर क्यों न रहे? उस आनन्द की नाप-जोख में क्या रखा है? मुझ अव्यक्त को व्यक्त मानने से क्या लाभ? मैं तो सहज-सिद्ध अर्थात् प्राणियों के घट घट में विराजमान हूं फिर मुझे प्राप्त करने के लिए साधनों के फेर में कोई क्यों पड़े?

मैं भूतमात्र में आत्मस्वरूप से ओतप्रोत हूं। फिर, प्राणी मुझे भूलकर संसार के मायाजाल में क्यों बंधे रहते हैं? सुनो। इसका कारण है लोगों के चित्त में जमकर बैठा अहंकार। इसी से इच्छा उत्पन्न होती है और फिर काम-क्रोध, सुख-दुःखादि द्वंद्वों के फेर में पड़कर प्राणी जन्म-मरण के संकट झेलते रहते हैं।

केवल पुण्यात्मा लोग ही इन काम-क्रोध आदि लुटेरों के चंगुल से बच निकलते हैं। ये चित्त की भ्रान्ति को दूर कर अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए श्रद्धापूर्वक जो मेरी शरण आते हैं वे ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधियज्ञ और अधिदैव का सम्पूर्ण रहस्य जान जाते हैं और अन्तकाल तक—आयुष्य की डोरी टूटते समय भी—मुझे नहीं भूलते।

अष्टम अध्याय



"हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और इस देह में रहने वाला अधियज्ञ क्या है?

कृपया इनके उत्तर स्पष्ट भाषा में समझाइए और यह भी कहिए कि शुद्धान्तःकरण वाले ज्ञानी साधकों को अन्तकाल में आपका जो स्मरण होता है, उसकी महिमा क्या है ?" अर्जुन के इन सात प्रश्नों के उत्तर से अष्टम अध्याय बना है।

श्री ज्ञानदेव कहते हैं कि "श्री भगवान अर्जुन के इन प्रश्नों का उत्तर अविलम्ब देंगे। भाग्यवान अर्जुन कामधेनु का बछड़ा है और कल्पवृक्ष की छाया में बैठा है। ऐसी अवस्था में मनोरथ सिद्धि यदि स्वयं आकर उसके सामने खड़ी हो जाए तो इसमें आश्चर्य कैसा ? श्रीकृष्ण क्रोध से जिसे मारते हैं उसे भी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। फिर, जिसे वे अति प्रेम से उपदेश दें, भला, उसे ब्रह्मज्ञान कैसे न हो ? अस्तु। देव ने क्या कहा, सो सुनिए।"

फिर सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन, आकार को प्राप्त हुए सब नाशवान पदार्थों में ओत-प्रोत हुआ अविनाशी तत्त्व "ब्रह्म" है। सृष्टि के उत्पत्ति-विनाश का जिस पर प्रभाव नहीं पड़ता वह ब्रह्म की निश्चलता या सहजस्थिति "अध्यात्म" है। निर्मल गगन में जैसे किसी समय, न जाने कैसे, रङ्ग-बिरंगे बादल आ जाते हैं वैसे ही बिना कर्ता के अव्यक्त (निराकार ब्रह्म) में व्यक्त होने वाला व्यापार "कर्म" है। आकाश में उत्पन्न और विलीन होने वाले शरत्कालीन मेघों का जैसे कोई अस्तित्व नहीं उसी प्रकार जो ऊपर से तो देखने में आते हैं, परन्तु वास्तव में नश्वर हैं, जो पञ्च महाभूतों के पुतले और भूतों के बिखरते ही अस्तित्व हीन नाम रूपात्मक, उत्पत्ति विनाश धर्म वाले सब पदार्थ—"अधिभूत" नाम से पुकारे जाते हैं। परमात्मा होकर भी अहंकार के कारण पृथक् सा प्रतीत होने वाला शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा—"अधिदैव" है। और देहाभिमान नष्ट होने पर देह में ही—परमात्मा रूप से प्रतीत होने वाला—"अधियज्ञ" है। वास्तव में तो अधिभूत, अधिदैव आदि सब कुछ एक मैं ही हूँ किन्तु, क्या किया जाए, अविद्या के पर्दे में ढँके होने के कारण ये भिन्न भिन्न से प्रतीत होते हैं। इस अविद्या या अज्ञान को दूर करने का बस एक ही उपाय है कि मनुष्य वैराग्य का सहारा ले इन्द्रिय निग्रहपूर्वक अष्टाङ्गयोग की साधना करे। साधना की चरम सीमा ज्ञान और ज्ञेय की समाप्ति में है और सब अन्त में एक ज्ञेय ही स्वात्मरूप में शेष रहेगा।

अन्तकाल में जिन्हें मेरा स्मरण रहता है, उनके विषय में बस, इतना जानो कि बाहर-भीतर मद्रूपता को प्राप्त हुए आत्मज्ञानी को शरीर कब चला गया इसका पता भी नहीं चलता। मृत्यु के समय मनुष्य अपने मन में जो स्मरण करता है आगे उसकी गति भी वही होती है। अतः तुम सब छोड़ अहर्निश मेरा ही स्मरण करो और लड़ो। सर्वदा सब कार्यों में मेरा ही चिन्तन करने के कारण तुम मद्रूप हो जाओगे। फिर, युद्ध से भय कैसा ?

यदि तुम सोचो कि इस प्रकार की एकरूपता कैसे प्राप्त होगी ? तो इसके लिए अभ्यास करो। अभ्यास से कर्मयोग चित्त को निर्मल एवं समर्थ बनाता है। निरन्तर अभ्यास से चित्त को परमपुरुष के मार्ग में लगा दो। फिर शरीर चाहे रहे या जाए।

जैसे घड़े के नीचे ढका दीपक न जाने कब बुझ जाता है वैसे ही अभ्यासयोग द्वारा जो अपना अन्तःकरण मुझ अविनाशी—निरंजन—में स्थिर कर देता है उसका शरीरत्याग शान्ति से होता है। योग-साधना में चित्त वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना परमावश्यक है। संयत जीवन बिताते हुए जब चित्त को एकाग्र रहने की आदत पड़ जाय तो प्राणायाम के द्वारा प्रणव साधना (ॐकार का चिन्तन) करना चाहिए। कुछ काल बाद यह साधना साध्य (ब्रह्म) में मिल जायगी और तब पूर्ण ब्रह्मैक्यता का अनुभव होगा। ऐसा साधक सदेह ही मुझ में मिल जाता है और इसी कारण यह पाञ्चभौतिक शरीर जो अनर्थों का समुद्र है, उसे मृत्यु के बाद दुबारा धारण नहीं करना पड़ता। अर्जुन, इस प्रकार शरीर-बन्धन से छुटकारा पाना बड़े सौभाग्य की बात है ! यह जन्म-मरण का चक्कर स्वर्गलोक के राजा इन्द्र और चराचर के निर्माता ब्रह्मदेव के साथ भी लगा है। ब्रह्मा की बनाई यह व्यक्त सृष्टि प्रलय के समय अव्यक्त में लीन हो जाती है। किन्तु इन दोनों—व्यक्त और अव्यक्त—का आधार अक्षर चैतन्य (ब्रह्म) दूसरा ही है। वह इन दोनों भावों से परे तथा अनादिकाल से सिद्ध है। जैसे अक्षर मिटा देने से अर्थ नहीं मिटता वैसे ही सृष्टि के नाश से उसका नाश नहीं होता। उस परम पुरुष तक पहुँचने का एक मात्र साधन उसकी अनन्य भक्ति है। जैसे आग में जला कोयला लाख प्रयत्न करने पर भी काष्ठ नहीं बन सकता, वैसे ही एकनिष्ठ भक्ति द्वारा मुझ परमात्मा में मिला भक्त पुनर्जन्म नहीं पाता। यम-नियमादि द्वारा योग-युक्त पुरुषों की अन्तगति के विषय में ज्ञातव्य बात एक और है। प्रयाण काल (देहत्याग) के समय यदि शरीर में अग्नि का तेज रहेगा और बाहर उत्तरायण शुक्लपक्ष होगा तो उसे सायुज्य प्राप्ति होगी। यही अर्चिरा मार्ग (ज्योतिर्मय मार्ग) है। और इसके विपरीत अन्त समय में यदि शरीर में कफ-वात-पित्त का प्रकोप होगा और बाहर दक्षिणायन कृष्णपक्ष हो तो योगी को योगसिद्धि नहीं होती। उसे फिर जन्म लेना पड़ता है। यह धूम्र मार्ग है। किन्तु मरण के समय इन शुक्ल-कृष्ण गतियों को अनुकूल रखना बस की बात नहीं। तब, क्यों न मृत्यु से पूर्व ही अनन्य गति से परमात्मा की शरण में जाकर ब्रह्म के साथ एकरूपता प्राप्त कर ली जाय ? इस स्थिति में न जन्म-मरण की और न इह लोक-परलोक की चिन्ता रहेगी। ऐसी अखण्ड ब्रह्मैक्य स्थिति को प्राप्त हुआ व्यक्ति इन्द्र के सिंहासन को भी तुच्छ समझता है—सर्वदा आत्मानन्द में ही रममाण रहता है।

नवम अध्याय



सप्तम अध्याय में श्री भगवान अर्जुन को ज्ञान-विज्ञान का रहस्य समझा रहे थे। किन्तु बीच में—अष्टम अध्याय में—अर्जुन ने सात प्रश्न पूछ लिए और श्रीकृष्ण को उनका उत्तर देना पड़ा। अब पुनः उसी ज्ञान-विज्ञान का वर्णन पूरा करने के लिए श्री भगवान कहते हैं, "अर्जुन, वह आदि बीज—विज्ञान सहित ज्ञान का मर्म—फिर कहता हूँ। सुनो। इसे भली भांति जान लोगे तो तुम्हारे मन को सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त होकर इस प्रपञ्चयुक्त संसार से छुटकारा मिल जायगा। यह ज्ञान सकल विद्याओं में श्रेष्ठ, सम्पूर्ण गुप्त रहस्यों का राजा, पवित्र, सुगम तथा समस्त सुखों का आश्रयस्थल है।"

तुम यह पूछ सकते हो कि यदि यह इतनी मूल्यवान और उपयोगी वस्तु है तो आज तक आम लोगों के हाथ से कैसे बची रह गई? जो लोग स्वल्प लाभ के लिए भी जलती आग में कूदने के लिए तत्पर रहते हैं, वे इस बिना परिश्रम प्राप्त होने वाले रमणीय एवं शाश्वत आत्मसुख से वञ्चित कैसे रह गए? इसका प्रधान कारण है लोगों के हृदयों में श्रद्धा का अभाव। अहंकार और मोह के फन्दे में पड़े ये बेचारे विषयरत जीव मेरे पास तक आकर भी मुझ से नहीं मिल पाते! अजी, देखो तो, दूध कितना मधुर और पवित्र होता है। और होता भी है पास ही—गौ के स्तन की पतली त्वचा के पर्दे के अन्दर! किन्तु, किलनी उसे छोड़ क्या अशुद्ध रक्त का सेवन नहीं करती? भ्रमर और मेंढक दोनों एक ही स्थान में रहते हैं किन्तु भ्रमर को कमल का सुवासित पराग प्रिय है और मेंढक के भाग्य में केवल कीचड़ ही आता है। अज्ञानवश ही जीव जन्म-मरण के दो तटों के बीच गोते खाते हैं। सब के हृदय में वर्तमान सर्व सुख निधान जो मैं हूँ, उसे छोड़ मूर्खजन सुख की मृगतृष्णा में विषयों के पीछे भागते हैं।

अन्यथा यदि यह अज्ञान की बाधा हट जाय तो मुझे ढूंढने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। यह समस्त संसार मेरा ही विस्तार है। जैसे दूध का जमना ही दही है। अथवा बीज ही जैसे वृक्ष होता है या स्वर्ण ही जिसप्रकार अलंकार का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व मेरा ही विस्तार है।†

† स्वर्ण पहले भी स्वर्ण है; अलंकार बनने के बाद भी स्वर्ण है और अलंकार को गला देने के बाद भी वैसे स्वर्ण ही है, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अवस्थाओं में परमात्मा अखण्ड, अनुस्यूत और नित्य है।

मेरा निराकार तत्त्व ही माया के संयोग से भिन्न भिन्न विश्वाकार धारण करता है। किन्तु इतना होने पर भी मैं विश्व में नहीं हूँ। फेन जल का ही बना है, किन्तु क्या ध्यान से देखने पर भी फेन में जल दिखाई देता है? दूसरी बात यह भी ठीक तरह समझ लो कि यह विश्व मुझ में नहीं है—न मैं विश्व में हूँ और न ही विश्व मुझ में है। कारण—कि कल्पना को दूर करके यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि केवल मैं ही सर्वत्र ओतप्रोत हूँ। क्या कपास के ढोंडे के अन्दर कपड़ों का सन्दूक रखा रहता है? नहीं! पहनने वाले की कल्पना से ही कपास के कपड़े बनते हैं। इसी प्रकार समुद्र के पानी में तरङ्गों की क्या अलग खान होती है? तरङ्गें तो वास्तव में वायु के चलने से ही उत्पन्न होती हैं। जब कल्पना की जननी माया का अन्त हो जाता है तब मेरा शुद्ध-बुद्ध और निर्मल स्वरूप ही बच रहता है। आकाश और वायु में तत्त्वतः कोई भेद नहीं, किन्तु पंखा की हलचल से वायु आकाश में ही पृथक् प्रतीत होता है। वैसे ही कल्पना की हलचल होने पर मुझ में प्राणिमात्र अलग से दीखते हैं। इस मायाजन्य कल्पना का अन्त होते ही तुम देखोगे कि स्वयं तुम ही यह सब चराचर जगत् हो।

विश्व की उत्पत्ति भी माया से ही है। जब मैं अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति (माया) को स्वीकार करता हूँ तब यह भूतसृष्टि—संसार—उत्पन्न होता है। किन्तु सृष्टि के इस उत्पादन कार्य में मैं स्वयं कुछ करता कराता नहीं हूँ। मैं निमित्त मात्र हूँ और प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य बिना कर्ता के ही अपने आप सत्तामात्र से ही होते हैं। हे पार्थ, यदि तुम इधर उधर भटकने वाली इन्द्रियों के द्वार बन्द करके मन की आँखों से इस परम रहस्य का चिन्तन करोगे तो यह यथार्थ-बोध तुम्हारे सामने आ जावेगा।

मूर्ख लोग इस परम सत्य की ओर से मुख मोड़ केवल स्थूल दृष्टि से ही काम लेते हैं। उनकी भ्रमिष्ठ बुद्धि मुझे मनुष्य-देहधारी समझ कर मेरे यथार्थ स्वरूप का मर्म नहीं जानती। फेन पीने से क्या प्यास बुझेगी? विवेक का ठौर ठिकाना मिटा देने वाली तामसी प्रकृति के वशीभूत इन लोगों का समस्त शास्त्रज्ञान उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे कि अन्धे के हाथ में रखा हुआ रत्न। ये लोग व्यर्थ की आशा में पड़कर राग-द्वेष चिन्ता आदि तामसिक जाल में उलझे हैं।

किन्तु जो श्रद्धायुक्त, पवित्र अन्तःकरण वाले ज्ञानसम्पन्न महात्मा हैं वे सर्वत्र मुझ एक वासुदेव का ही दर्शन करते हैं। इनके अद्वैत बोध का चमत्कार देखो! अहर्निश मेरा भजन करते रहने पर भी द्वैत-भाव की इन पर छाया तक नहीं पड़ती। ये लोग मत्स्वरूप ही होकर रहते हैं। निरन्तर मेरे नाम-संकीर्तन में मग्न ये भक्त महापातकों का समूल नाश करके विश्व में महासुख भर देते हैं। हरि कीर्तन के इस मेले में राय-रंक, छोटे-बड़े पापी-पुण्यात्मा किसी का भेद नहीं रहता। सम्पूर्ण जगत् एक आनन्द-

कानन बन जाता है । हे भाई अर्जुन, मैं न वैकुण्ठ में नहीं रहता, योगियों के हृदयों में भी चाहे उस समय न मिलूं पर जहां मेरे भक्त 'कृष्ण-विष्णु हरि गोविन्द' इन नामों की रटना करते हैं वहां तुम मुझे अवश्य पाओगे । मेरी भक्ति करने वाले योगी भी हैं और चराचर को नारायणरूप मानकर श्रद्धा-भक्ति से नमस्कार करने वाले भी । इनके आर्तभाव से निर्लिप्त शान्त चित्त में मैं ही विराजता हूं । ज्ञानी भक्तों की बात तो मैं तुमसे कह ही चुका हूं । वह भक्तों में श्रेष्ठ और मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं । इनकी अखंड ज्ञान-भक्ति में द्वैतभाव का लेश भी नहीं रहता । इनके लिए सारा ब्रह्माण्ड ही ब्रह्मस्वरूप है । ज्ञान भक्ति के दो प्रकार और हैं । अवयव भिन्न-भिन्न हैं, पर जैसे वे सब एक ही देह के होते हैं, वैसे ही नाम रूप आदि से भिन्न प्रतीत होने वाला संसार एक हरि का ही है इस प्रकार की भेद में अभेद बुद्धि ज्ञान-भक्ति ही है । तीसरा प्रकार वह है जिसमें भक्त सर्वत्र सम स्थिति में केवल अखण्ड ब्रह्मस्थिति—में मग्न रहता है । यद्यपि ये भक्त पृथक् से मेरी भक्ति करते दिखाई नहीं देते तथापि इनकी दृष्टि में भक्त-भजन-भगवान ही क्या सर्वत्र चराचर में जब केवल एक मैं ही हूं, तब तुम ही कहो, वहां कौन किसका भजन करेगा ?

देव-पितृयज्ञ, मन्त्र, अग्नि-आहुति, परमेश्वर वेद आदि समस्त क्रिया, भाव एवं पदार्थों में अन्दर बाहर एक मैं ही व्याप्त हूं । सत् और असत् मैं ही हूं । बहुत क्या, ऐसा कोई स्थान नहीं जहां मैं नहीं हूं । किन्तु प्राणियों का दुर्भाग्य कि मैं उन्हें दिखाई नहीं देता । जैसे तरंगें पानी के बिना सूख रही हों, सूर्य की किरणें बिना दीपक के अन्धी हो जायं, वैसे ही यह कितने आश्चर्य की बात है कि लोग मद्रूप होकर भी मुझे नहीं पा सकते !! ज्ञान के बिना समस्त सकाम-उपासना व्यर्थ है । उन वेदविहित यज्ञ-क्रियाओं में स्वर्ग-प्राप्ति और पुण्य क्षीण हो जाने के बाद "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं" के सिवाय और रखा ही क्या है ? मुझे छोड़ स्वर्ग प्राप्ति अज्ञानियों का पुण्यमार्ग है । मेरी ओर आते समय स्वर्ग और नरक नाम के आड़े-टेढ़े दो चोर-मार्ग लगते हैं । पुण्य रूपी पाप से स्वर्ग को और पाप रूपी पाप से नरक को जाया जाता है । किन्तु जिस मार्ग से मेरे पास पहुंचा जाता है, वह शुद्ध पुण्य-मार्ग है ।

अर्जुन, मुझमें रहते हुए जिसके कारण मुझसे वञ्चित रहना पड़े, उसे पुण्य कहने वाली जीभ के टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ! इसलिए तुम चाहे और कुछ जानो या न जानो पर, मुझे जान लो । जो लोग एकनिष्ठभाव से मेरी सेवा करते हैं उनकी सेवा मैं करता हूं । मुझे छोड़ इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं की उपासना करने वाले लोग यद्यपि उन देवताओं के रूप में मेरा ही भजन करते हैं, किन्तु यह भजन का गलत तरीका है । यह तो ऐसा ही है जैसे यदि कोई जड़ को छोड़ वृक्ष की शाखा पल्लव आदि को सींचे । सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु मैं हूँ । जो मुझे इस तरह जान कर नहीं भजते वे तत्त्वज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं और अपनी श्रद्धानुरूप अन्य देवादि की उपासना द्वारा स्वर्ग एवं

पितृलोकों के अनित्य सुखों को भोगते हैं। इसके विपरीत जो अनन्य भाव से मेरी भक्ति करते हैं, उन्हें सायुज्य मोक्ष मिलता है। मन-वाणी कर्म द्वारा जब मनुष्य आत्मार्पण करे; बड़प्पन छोड़ दे; तर्क-वितर्क भुलावे; और संसार के सामने छोटा बने तभी मैं मिलता हूँ। मुझे भेंट करने के लिए किन्हीं मूल्यवान् उपहारों की आवश्यकता नहीं। पत्र पुष्प फल जो भी हो—सुदामा के तण्डुलों की भांति भक्तों की प्रेम भरी भेंट मैं बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करता हूँ। शरीर से जो भी कर्म होते चलें मेरे प्रीत्यर्थ अर्पण करते चलो। फिर जैसे अग्निकुण्ड में डाले हुए बीजों से अंकुर नहीं फूटते वैसे ही मुझे अर्पित शुभाशुभ कर्म बन्धन-कारक नहीं होते।

मैं सब भूतों में समान हूँ। जो प्रेम से मुझे भजते हैं मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं। पश्चात्ताप रूपी तीर्थ में स्नान करके सर्वात्मना मेरी शरण में आया भक्त चाहे दुराचारी भी हो उसे साधु ही समझना चाहिए। कारण कि उसने बुद्धि के सकल व्यापार श्रद्धा की पिटारी में भरकर उसे मेरे पास रख दिया है। अजी, मेरी भक्ति के बिना जो जीता है, ऐसे जीने में आग लगे! पृथ्वी पर पत्थर क्या कम हैं? निम्बोलियों की बहार से नीम यदि झुक जाए तो उससे कौवों को ही सुकाल होता है। भक्तिहीन मनुष्य पापों के लिए ही बढ़ता है। हृदय में सच्ची भक्ति चाहिए फिर मनुष्य चाहे पापी ही क्यों न हो शीघ्र ही मेरी पदवी को प्राप्त कर परम शान्ति लाभ करता है। भक्ति के द्वारा ही दैत्यों ने देवताओं का महत्व कम कर दिया। कुल, जाति, वर्ण इनसे कुछ भी आता-जाता नहीं। केवल एक सद्भाव ही चाहिए। स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि भेद तभी तक हैं जब तक कि वे मेरी शरण नहीं आते। छोटे-छोटे नाले-परनाले गंगा में मिलते ही कलिकल्मष-नाशिनी गंगा ही बन जाते हैं। फिर पुण्यवान् ब्राह्मण अथवा भक्त राजर्षि यदि मेरी निष्काम सेवा द्वारा मुझ में मिल जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसलिए प्रतिदिन हाथ से खिसकती आयु की ओर देखो। निगलने के लिए काला नाग सामने खड़ा है, फिर भी जैसे मेंढक मक्खियों को पकड़ने में भूला रहता है, वैसा ही मनुष्य लोभवश तृष्णा को बढ़ाते हैं! हाय हाय, यह कैसी निकृष्ट स्थिति है? इस मृत्यु-लोक में सब कुछ उल्टा है! हे अर्जुन, यद्यपि तुमने यहां अकस्मात् जन्म लिया है, फिर भी तुम यहां से जल्दी निकल चलो। भक्ति के मार्ग में लगो, जिसपर चलकर तुम मेरे अविनाशी अक्षय धाम में पहुंचोगे। अपना मन मद्रूप कर दो, प्रेम से मेरा भजन करो, सर्वत्र मुझ एक वासुदेव को ही नमस्कार करो, तुम निःसन्देह मुझमें मिल जाओगे।

इस प्रकार उस सांवले परमात्मा—भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष श्रीकृष्ण ने—अर्जुन से भक्ति का रहस्य कहा। अब आगे दशम अध्याय में वही सिद्धों के राजा अपनी विभूतियों का वर्णन करेंगे।

दशम अध्याय

दशम अध्याय से गीता का उत्तरखण्ड प्रारम्भ होता है। सप्तम और नवम अध्याय में विभूतियों का वर्णन अति संक्षेप में होने के कारण उनका पुनः विस्तार से वर्णन इस अध्याय में किया गया है। कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन, मेरे गुण-प्रभाव, और तत्त्व का रहस्य खोलने वाला अभिप्राय ही मैं फिर कहूँगा। आत्म कल्याण के लिए इन परमश्रेष्ठ वचनों पर ध्यान दो। मेरे इन वचनों के रूप में स्वयं परब्रह्म ही अक्षरों के आभूषण धारण कर तुम्हें आलिंगन देने आया है। वास्तुतः तुम मुझे नहीं जानते। स्वामी, मैं जो हूँ, वही संसार है। मच्छर जैसे आकाश का उल्लंघन नहीं कर सकता वैसे ही देवता एवं ऋषि महर्षियों का ज्ञान भी मुझ तक पहुँचने में असमर्थ है। वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। तब मेरे यथार्थ स्वरूप को वे कैसे जान सकेंगे? गर्भ में बैठा बालक क्या अपनी माता की उमर जान सकता है? तथापि, यदि कोई इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके अपने सम्पूर्ण—स्थूल-सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहभावों को छोड़कर योग-स्थिति द्वारा मेरा लोकमहेश्वर रूप देख सके तो उसे मनुष्य रूपी पत्थरों के बीच पारस समझो। उससे डर कर पाप दूर भागते हैं। मन के व्यापक संकल्प विकल्प उसे ऐसे छोड़ देते हैं जैसे जलते हुए चन्दन को सर्प। यदि तुम सोचो कि इस प्रकार का ज्ञान कैसे प्राप्त हो? तो इसके लिए पहले यह जान लो कि मैं कैसा हूँ और मेरे धर्म कैसे हैं? ये मेरे धर्म प्राणियों में उनकी भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् में बिखरे हुए हैं। प्राणियों में बुद्धि, ज्ञान, क्षमादि भाव या विकार तथा सात महर्षि एवं सनकादि की उत्पत्ति भी मुझसे ही है। ब्रह्मा से लेकर चिउंटी पर्यन्त मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। अतः मैं, मेरी विभूतियाँ तथा उनसे व्याप्त जगत् इन तीनों में एकता का अनुभव प्राप्त करना ही अभेद भक्ति-योग है।

इस अभेद भक्तियोग में आत्मज्ञानी भक्त जगद्रूप मुझ को हृदय में बैठाकर सुख से त्रिभुवन में विहार करते हैं। और उन्हें संसार में जो भी मिलता है उसे भगवान् ही समझते हैं। ऐसे भक्त जब आपस में मिलते हैं तब उनके आनन्द का पारावार नहीं रहता। वे सुध-बुध भूल कर प्रेम की उमंग में रात दिन सबको मेरे नाम का उपहार भेंट करते हैं। संसार का महान् कार्य इन ज्ञानी भक्तों के कीर्तन में है। मेरी प्रीति का सम्पूर्ण सुख वे पा चुकते हैं इसी कारण स्वर्ग और मोक्ष के आड़े-टेढ़े मार्गों में चलना उन्हें नहीं भाता। इनके प्रेम में पगा मैं भी इनकी इस तन्मयता में, दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि करता हूँ।

कारण ? बस यही कि इस तरह प्रेमी भक्तों का मेरे यहां अभाव है। स्वर्ग-मोक्ष की कामना से आने वाले तो बहुत हैं और मैं भी उन्हें उनकी मनचाही चीज देकर वापस लौटा देता हूँ। किन्तु सच्चा सुख इन्हीं निष्काम प्रेमियों को मिलता है। अज्ञान की रात में जब मेरे ये भक्त ज्ञान की लाठी लेकर चलते हैं तब इनका पथ-प्रदर्शन मैं ही करता हूँ।

भक्तों के प्रिय श्री पुरुषोत्तम जब इसप्रकार बोले तो अर्जुन के ज्ञानचक्षु खुल गए। मन का संसाररूपी कचरा उड़ गया। वह श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को पहचान गया। ऋषि-मुनि और वेद शास्त्रों के वचनों की सत्यता सामने आ गई। वह यह अच्छी तरह समझ गया कि बुद्धि द्वारा श्रीकृष्ण-स्वरूप को जान सकना मानव तो क्या देवता और दानवों तक के भी बस की बात नहीं। कृष्ण को कृष्ण ही जानते हैं। और दूसरों को भी केवल वे ही स्वात्मज्ञान दे सकते हैं। इस कारण अर्जुन की ज्ञान पिपासा उत्कट हो गई। जगत् कृष्णमय है इतना जान लेने मात्र से उसका काम न चला। अतः उसने भगवान् की मुख्य मुख्य विभूतियों के विषय में पुनः विस्तार से सुनने की इच्छा प्रकट की।

अर्जुन की बातों से श्रीकृष्ण का रोम रोम खिल उठा। वे जान गए कि अर्जुन अब भक्ति और ज्ञान का घर बन गया है। इसी प्रेम के प्रवाह में भक्तवत्सल श्री भगवान् बोले, अर्जुन, मेरी विभूतियां अनन्त हैं। जैसे कोई अपने शरीर के रोम नहीं गिन सकता वैसे ही अपनी विभूतियों की गणना करने में मैं असमर्थ हूँ। फिर भी मेरी जो विभूतियां मुख्य मुख्य नामों से प्रसिद्ध हैं उन्हें सुनो। बीज मुट्ठी में आने से जैसे वृक्ष ही करगत हुआ सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार इन विभूतियों को जान लेने पर सम्पूर्ण विश्व ही दृष्टिगोचर सा हो जायगा ?

इतना कहकर श्री भगवान् ने प्रथम सब के हृदय में रहने वाली आत्मा से प्रारम्भ करके अपनी मुख्य मुख्य ७५ विभूतियों का वर्णन किया और अन्त में इन भेदमूलक विभूतियों के वर्णन का उपसंहार अभेदभाव से करते हुए कहा, "अर्जुन बहुत जानने से क्या! गगन में सूर्य एक है, किन्तु जैसे उसकी प्रभा त्रिभुवन को आलोकित करती है वैसे ही मुझ एक की ही आज्ञा का सम्पूर्ण जगत् पालन करता है। मेरी भिन्न भिन्न विभूतियों का वर्णन हजार जन्म में भी पूरा न होगा। बस, मर्म की बात एक जान लो कि प्राणिमात्र का सनातन बीज-स्वरूप मैं हूँ और मुझ से ही इस चराचर जगत् का विस्तार हुआ है। इस कारण छोटा-बड़ा, सामान्य-विशेष का कलंक अपनी बुद्धि को न लगने दो और इसे मेरे शुद्ध-स्वरूप पर टिका कर समबुद्धि बन जाओ।

एकादश अध्याय

अब अर्जुन के हृदय में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि विश्व कृष्णमय है—सारा जगत् ही सर्वेश्वर है, तो वह गुह्यातिगुह्य विश्वरूप इन चर्म-चक्षुओं से कैसे दिखाई दे ? इसी उलझन से उसने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की-हे कृपानिधान ! आपने मुझसे दुर्लभ अध्यात्म-तत्त्व कहा। इसी कारण मेरे हृदय का अज्ञान मूलक अहंकार दूर हो गया। अब मुझे आपके उस गूढ़-स्वरूप को देखने की बड़ी इच्छा है, जहां से आप बहुरूपियाकी भांति अपने द्विभुज चतुर्भुज रूपोंको धारण करते और मर्त्य-संस्थापनादिका खेल समाप्त हो जाने पर इन्हें पुनः वहीं वापस रख देते हैं। हे योगेश्वर ! मेरी योग्यता पर विचार कीजिये और यदि आपका वह अविनाशी रूप मैं देख सकूं तो विश्वरूप प्रकट कीजिये। अर्जुन का इतना कहना ही था कि कृष्ण विश्व-रूप होगए। और बोले "अर्जुन, देखो! सम्पूर्ण जगत् मेरे ही रूपों में भरे हैं। इस दृश्य जगत् के पार भी जो कुछ है वह सब सृष्टि इसी में है।" श्रीकृष्ण इस प्रकार अपने सर्वाश्चर्यमय विराट् रूप का वर्णन कर रहे थे, किन्तु अर्जुन चुपचाप स्तब्ध खड़ा था। श्रीभगवान् उसकी कठिनाई को समझ गये और उसे दिव्य चक्षु प्रदान करके अपना पारमैश्वर्य योग देख सकने के योग्य बनाया। महामुनि वेदव्यास की कृपा से सञ्जय को भी दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। उसने अन्धे धृतराष्ट्र से कहा—हे कौरवकुल-चक्रवर्ती ! जिस अनादि भूमिका पर यह चराचर विश्व का चित्र खींचा जाता है, वह विश्व-रूप अर्जुन देखने लगा। साक्षात् परब्रह्म ही विश्वरूप में उसके सामने खड़ा था। विशाल आकाश, पञ्च महाभूत, दशों दिशायें ही क्यों ऐसी कोई वस्तु न बची थी जो वहां न हो। सारी सृष्टि ही समाप्त हो गई थी। यह देख अर्जुन भौचक्का रह गया। ऐसा हुआ कि मानों उसके समस्त विचारसमूह पर किसी ने सम्मोहनास्त्र फेंका हो। उसका मनत्व नष्ट होकर स्वरूप समाधान हुआ।

उस विराट रूप में आनन्ददायक सौम्यरूपों के साथ साथ ऐसे महा विकराल भयानक रूप भी थे कि मानों कालरात्रीकी सेना ही उमड़ पड़ी हो। लाखों हजारों सूर्य आकाश में एक साथ उदित हो गए हों। उस विश्वरूप की व्यापकता ऐसी थी कि क्या कहा जाय ! ये सम्पूर्ण जगत् उसमें ऐसे लगते थे जैसे पृथ्वी पर चिऊंटियों द्वारा बनाए गये मानों ढोहे पर हों।

विश्वरूप दर्शन द्वारा अर्जुन के मन का दृष्टा और दृश्य का द्वैतभाव नष्ट हो गया। आठों

सात्विक भाव * परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करते हुए अर्जुन के अंगों में भर आए। उसका हृदय महानन्द की हिलोरों से भर गया। इस अखण्ड सुखानुभव के उपरान्त वह भक्त और भगवान रूपी द्वैत का आश्रय ले हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगा—देव, मुझ सामान्य मनुष्य को आपने अपना विश्वरूप दिखाया, यह सचमुच आपका महान् उपकार है। इसमें मुझे स्वर्ग कैलाश ही क्या चतुर्दश भुवन ही दिखाई दे रहे हैं। अज्ञानवश मैं अब तक आपको चतुर्भुज रूप में ही मर्यादित समझता था। किन्तु आज आपके आदि मध्यान्त-हीन स्वरूप के भी पार जो सत्य-स्वरूप है उसे मैं स्पष्ट देख रहा हूं। निखिल ब्रह्माण्ड, देव, यक्ष, राक्षस सब आपकी तेजोराशि के महामृत्युरूपी समुद्र में गोते खा रहे हैं। प्रलय-काल का रुद्र भी आप से डरता है। ये समस्त कौरव भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि आपके मुख में विलीन हो रहे हैं। इतना खाने पर भी आपकी भूख शान्त नहीं होती। यह त्रिभुवन ही इसकी नोक पर टिका है। इस प्रकार विराट रूप दर्शन से भयग्रस्त होकर अर्जुन शोक करने लगा। तब अपनी जगसंहारक शक्ति का मर्म समझाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा "अर्जुन, वास्तव में मैं काल हूं और लोक-संहार के लिए उद्यत हुआ हूं। तुम्हारे सिवाय सब सेना समाप्त हो जायगी। युद्धोन्माद में पागल सभी योद्धाओं को मिट्टी के पुतलों की भांति मैंने पहले ही तोड़ फोड़ डाला है। अरे, युद्ध में जो कुछ करना था वह तो मैं कर ही चुका हूँ। अब तू इन सत्वीर के शेरों को मार कर निमित्त मात्र तो बन। उठ, युद्ध कर! विजय श्री तेरी प्रतीक्षा में खड़ी है।" इस प्रकार प्रलय में महामेघों की गर्जना के समान विराट् पुरुष की गम्भीर वाणी को सुन कर डरते डरते अर्जुन ने श्री भगवान् के चरणों में प्रणाम किया और उनकी स्तुति की। वह यह भलीभांति समझ गया कि श्रीकृष्ण का अनादि निर्गुण स्वरूप ही विश्वरूप में विस्तृत हुआ है। उसने अब तक श्रीकृष्ण को मित्र समझ कर उनका प्रसंगवश उपहास में अपमान किया था। उसका उसे पश्चात्ताप हुआ। पारसमणि का ढेर हाथ लगा था, पर उसने तोड़ कर मकान की नींव में भर दिया। श्रीकृष्ण से उसने क्षमा याचना की और विश्वरूप का उपसंहार कर पुनः शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूप में आजाने की प्रार्थना की।

श्रीभगवान् को अर्जुन की बात पर कुछ विस्मय हुआ और वे बोले "अर्जुन, तुम्हारे प्रेम के कारण ही मैंने यह अपरम्पार और परात्पर स्वरूप प्रकट किया। कृष्ण आदि सभी अवतार यहीं से बनते हैं। मेरा यह रूप विशुद्ध ज्ञान के तेज से बना है। यह विश्वमय है। अचल अनन्त और सबका आदि कारण है, इसे आज तक तुम्हारे सिवाय अन्य किसी ने नहीं देखा। साधनों द्वारा यह अप्राप्य है।

* अष्ट सात्त्विक हैं-स्तंभ, स्वेदोऽथ, रोमांचः, स्वरभेदोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमथ प्रलयमित्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥

अतः जैसे गाय पहाड़ पर चरती है परन्तु उसका चित्त बछड़े पर लगा रहता है वैसे ही तुम बाह्यतः मेरी सख्यभक्ति का उपयोग लेने के लिए मेरी चतुर्भुजी मूर्ति का अवलम्ब लो, किन्तु अपने हृदय की अलख अहैतुकी प्रीति को कभी भी इस विश्वरूप से न हटने दो।

इतना कह श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप समेट लिया। इससे अर्जुन का भय जाता रहा। उन्होंने अर्जुन को समझाया कि अचल भक्ति को छोड़ अन्य किसी भी वेद, यज्ञ, तप आदि साधनों से मैं मिलने वाला नहीं।

इस सत्य को हृदय में रख कर मेरी शरण में आ जाओ।

बारहवां अध्याय

बारहवें अध्याय के "श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्" (१२-१२) इस श्लोक तक उपासनाकाण्ड चला है। बाद "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्" (१२-१३) से पन्द्रहवें अध्याय के अन्त तक ज्ञानकाण्ड की चर्चा है। इसलिए बारहवाँ अध्याय उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में समझा जाना चाहिए।

अब तक सगुण साकार भगवान् की उपासना करने वाले व्यक्तोपासक तथा निर्गुण निर्विकार ब्रह्म की उपासना करने वाले अव्यक्तोपासक दोनों प्रकार के साधकों की समान रूप से प्रशंसा सुन कर अर्जुन यह नहीं समझ सका कि इन दोनों में से किसने तत्त्वतः भगवान् को जाना है। उसने अपनी यह शंका श्रीभगवान् के सामने रखी। अर्जुन के वचनों से संतुष्ट हो जगन्मित्र श्रीकृष्ण बोले—हे किरीटी, डूबते हुए सूर्य के पीछे जैसे किरणें जाती हैं वैसे ही सब इन्द्रियों के साथ मन को मुझ में रख कर जो भक्त रातदिन मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं सर्वश्रेष्ठ योगयुक्त मानता हूं। किन्तु इससे तुम यह न समझ बैठना कि योगमार्ग से प्राप्त समदृष्टि द्वारा अव्यक्त निराकार परब्रह्म की उपासना करने वाले साधक मुझ तक नहीं पहुंचते। वे मुझे निःसंदेह मिलते हैं। अन्तर केवल यही है कि सगुण साकार उपासना

का भक्तिपन्थ सीधा रास्ता है और निर्गुण निर्विकार ब्रह्म में चित्त को टिकाने का योगमार्ग टेढ़ा मेढ़ा दुर्गम पन्थ है। पोपले मुंह वाले को यदि लोहे के चने चबाने पड़ें तो न जाने उसका पेट भरेगा या उसकी मृत्यु हो जाएगी। हाथों से तैर कर जैसे समुद्र पार नहीं किया जा सकता वैसे ही देहासक्त शरीरधारी जीवों के लिए अव्यक्तोपासना कठिन है। भक्तिमार्ग का आश्रय लेने वाले को दुःख नहीं होता।

जो वर्णाश्रमधर्मानुसार अपने कर्मों को करते हुए मनसा वाचा कर्मणा सर्वात्मना मेरे हो जाते हैं उनके काम मैं संवारता हूँ। उन्हें मृत्यु संसार सागर से पार ले जाता हूँ। गृही हो तो नाम-स्मरण और यदि एकान्तवासी हो तो उन्हें योगमार्ग बता कर इन दोनों का उद्धार करता हूँ। इस कारण हे भक्तराज धनञ्जय! तुम भक्तिमार्ग का ही आश्रय लो।

मन और बुद्धिको मेरे प्रेमके आधीन कर दो। फिर जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर प्रकाश भी उसके साथ ही चला जाता है, वैसे ही मन और बुद्धि के साथ सब अनर्थों का मूल तुम्हारे चित्त में जम कर बैठा अहंकार भी मुझ में आकर समा जाएगा। तुम निःसन्देह मत्स्वरूप हो जाओगे।

यदि मन और बुद्धि को मुझमें स्थिर कर सकना कठिन जान पड़े तो प्रतिदिन कुछ समय निकाल कर नियम से चित्त को ईश-चिन्तन में लगाया करो। धीरे धीरे मन को मेरी भक्ति के माधुर्य का चस्का लग जायगा। विषयों से छुट्टी मिल जायगी और इस प्रकार के अभ्यासयोग से मद्रूप होने में देरी न लगेगी।

यदि यह भी न हो सके तो एक काम करो। मुझ पर अटल विश्वास रखते हुए मन, वाणी और शरीर से जो जो कर्म होते चलें उन पर कर्तृत्वाभिमान अर्थात् "मैं करता हूँ" ऐसा अहंभाव न रखो और उन कर्मों को चुपचाप मुझे अर्पण कर दो। इससे भी तुम मेरे मोक्षरूपी घर तक पहुंच जाओगे।

और यदि यह भक्तियुक्त कर्मयोग का साधन भी तुम से न हो सके तो एक और उपाय बताता हूं। कर्मों से अपना नाता तोड़ लो। ऐसा समझो कि कर्म मानो तुमसे हुए ही नहीं। तब जैसे पत्थर पर वर्षा हुआ जल और अग्नि में बोया गया बीज व्यर्थ होता है वैसे ही कर्म भी निष्फल हो कर जीव को कर्मबन्ध में न फांस सकेंगे। इससे चित्त को वैराग्य की आदत पड़ेगी और इस प्रकार यह—सर्व-कर्म-फलत्याग—उन्हें जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त कर देगा। बहुत क्या, अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से सर्व कर्म-फल-त्याग की प्राप्ति होगी। फिर इसी त्याग के द्वारा क्रमशः पूर्ण शान्ति सुख का लाभ होता है।

इस प्रकार जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो प्राणिमात्र का मित्र है जो कृपालु है, जो ममता और

अहंकाररहित, सुख-दुःख में समान और क्षमावान् है जिसके हृदय में जीव और परमात्मा दोनों एक हो कर एक ही आसन पर विराजते हैं और इतना आत्म-साक्षात्कारी योगयुक्त हो कर भी वह निरन्तर अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पण कर देता है, हे भाई अर्जुन, वही मेरा भक्त है, वही मुझे सब से अधिक प्रिय है। जो न तो दूसरोंको दुःख देता है और ना ही दूसरोंसे क्लेश पाता है। हर्ष-क्रोध-भय-विषाद की दुनियां से दूर है। जिसे कोई इच्छा नहीं। जो गंगा से भी अधिक पवित्र है। जो अनन्य भक्ति द्वारा आत्मभिन्न परमात्मा को प्राप्त कर लेनेकी कलामें दक्ष है। जो कर्मके प्रति—फलाफल के विषय में उदासीन है सुख-दु:खादि द्वन्द्व उसे नहीं सताते। वह बिना किसी स्वार्थ के अपना जीवन-सर्वस्व—परमात्मा की अहैतुकी प्रीति—संसार को मुक्तहस्त होकर बांटता है। जिसने शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के प्रति आसक्ति छोड़ दी है, जिस के लिए शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, निन्दा स्तुति सब समान हैं। ऐसी उन्नत अवस्थामें वर्तन करने वाला पुरुष मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारा है। उसकी सगुण भक्ति से खिंच कर मैं अपनी निर्गुण-निर्विकार मूलस्थिति को छोड़ उसके अधीन हो जाता हूं। हे पाण्डु-सुत ! इस प्रकार की हमारे भक्तों की अमृत-कथा को जो सुनते और उस पर आचरण करते हैं, उन्हें हम अपना परम देवता मानते हैं।

त्रयोदश अध्याय

"क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार" ज्ञानकाण्ड का महत्वपूर्ण अंग है। क्षेत्र क्या है ? जड़, क्षणभंगुर, नाशवान् एवं विकारी—'शरीर'। क्षेत्रज्ञ क्या है ? चेतन अविनाशी विकारहीन और ज्ञानस्वरूप—'आत्मा'। ज्ञान मार्ग के पथिकों के लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (शरीर और आत्मा) का तत्वतः रहस्य जान लेना परमावश्यक है। यही सच्चा ज्ञान है।

ब्रह्मदेव से लेकर वेद, ऋषि महर्षि एवं परवर्ती आचार्योंने इस दिशा में अनेक प्रयत्न किए। किन्तु यह तत्त्व आज तक किसी के हाथ न लगा। श्री भगवान् इसी क्षेत्र के स्वरूप और विकारों का वर्णन करते हुए कहते हैं, अर्जुन यह क्षेत्र छत्तीस तत्त्वों का बना है।

खेत में बोए गए बीज से जैसे समय पर तदनुसार फसल तैयार होती है, वैसे ही इस पांचभौतिक शरीर रूपी खेत में बोए गए कर्म-संस्काररूपी बीजों से पाप पुण्य के अङ्कुर फूटते हैं। इसका विस्तार इतना विशाल है कि समस्त स्थावर-जङ्गम दृश्यवर्ग से परमब्रह्म के इस तीर तक जो भी सृष्टि है वह सब क्षेत्र ही है।

अब मैं तुम्हें बताता हूँ कि निर्मल एवं श्रेष्ठ ज्ञान क्या है ? ज्ञानकी महिमा अपार है इसे प्राप्त करने के लिए साधक योग, जप, तप, स्वाध्याय आदि अनेक साधनों द्वारा अनवरत चेष्टा करते हैं। क्यों कि इस दुःखों से भरे संसार का समूल नाश करके जीव को साक्षात् परमात्मा से मिला देने की सामर्थ्य इसमें है। किन्तु शब्दों द्वारा ज्ञान का व्याख्यान अशक्य है। इस कारण तुमसे ज्ञान के ये १८ लक्षण कहता हूँ। जिनसे ज्ञान की पहचान की जाती है। जैसे कांच में रखे दीपक से प्रकाश बाहर आता है उसी प्रकार हृदय स्थित ज्ञान का मनुष्य के स्वभाव पर जो परिणाम प्रकट होता है उसका वर्णन करता हूँ। सुनो।

(१)—अमानित्व—बड़प्पन, विद्वत्ता आदि के अभिमान का न होना। बृहस्पति के समान सर्वज्ञ होकर भी मानहीन व्यक्ति प्रशंसा के भय से अज्ञानियों के बीच जा बैठता है। (२)—अदम्भित्व—दम्भ या धमण्ड का न होना। दूधको झाड़ने वाली गौ जैसे अपना दूध चुराती है, वेश्या जैसे अपनी आयु छिपाती है और कुलवधू जैसे अपने अङ्ग छिपाती है वैसे ही वह देह की ऊपरी सजावट नहीं करता, एवं

---

* ये ३६ तत्व हैं —१-५ पृथ्वी अप तेज वायु और आकाश ये पंच महाभूत ६-अहंकार ७-बुद्धि ८-पंचमहाभूत प्रलय के बाद जिसमें सूक्ष्म रूप से निवास करते हैं वह अव्यक्त ९—कान, नाक, नेत्र, त्वचा और जिह्वा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां; हाथ पैर वाणी पायु (गुदा) और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां १९—रजोगुण की चंचलता और कल्पना के सहारे इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाला 'मन' २०-२४—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय और चलना बोलना, लेना, देना, मल, मूत्र-त्याग ये पांच कर्मेन्द्रियों के विषय ३०—इच्छा ३१—द्वेष ३२-३३—सुख और दुःख ३४-जड़ को चेतनता प्रदान करने वाली साक्षीभूत चैतन्य की सत्ता चेतना ३५-पांचों महाभूत परस्पर का विरोध त्याग कर इस शरीर में जिसके कारण एकत्र हो मिलभाव से रहते हैं वह 'धृति' ३६ और उक्त ३५ तत्त्वों का समुदाय 'संघात' या पांचभौतिक शरीर।

अपने किए हुए भलाई का अपने मुखसे ढिंढोरा नहीं पीटता । (३)-अहिंसा (४)—शान्ति या क्षमा । क्षमावान पुरुष विपत्तियोंके आपड़ने पर विचलित नहीं होता । मानापमान, सुख दुःख निन्दास्तुति सब उसमें आकर ऐसे ही विलीन हो जाते हैं जैसे कि बड़े बड़े नद नदी समुद्र में । (५)—आर्जव—सरलता । इस गुणसे विभूषित व्यक्ति का अमृत धारा के समान सरल स्वभाव सब के प्रति समान तथा मधुर होता है । अपना पराया भाव उसे छू तक नहीं जाते । माँ के पास जाते हुए जैसे बच्चे को कोई डर या संकोच नहीं होता, वैसे ही लोग उसे अपना मन देते नहीं सकुचाते । उसके मन में कपट नहीं होता व्यवहारमें ओछापन नहीं होता । उसकी दसों इन्द्रियाँ उत्पातशून्य सरल एवं निर्मल रहती हैं । (६)—गुरु भक्ति यह सम्पूर्ण भाग्योदयों की जन्म भूमि है । क्यों की जीव को भव-सागर से उतार कर परमात्मा से मिलादेने की सामर्थ्य इसमें है । (७)—शुचित्व या पवित्रता । बाहर शुद्ध कर्माचरण से और अन्तःकरण विमल ज्ञान से निर्मल होजाने पर व्यक्ति स्फटिक के घर में रखे रत्नदीप की भाँति सुशोभित होता है । (८)—स्थैर्य—स्थिरता से युक्त ज्ञानी की देह तो ऊपर ऊपर कम करती रहती है किन्तु इससे उसके मन की बैठक में कोई अन्तर नहीं आता । चलते हुए मेघों से जैसे आकाश नहीं घूमता वैसे ही कर्मरत शरीर के साथ उसका मन चलायमान नहीं होता । दैन्य दुःखसे, भय सन्तापसे, यहाँ तक कि मृत्युसे भी वह विचलित नहीं होता । निन्दा से यदि अपमान हो; काम और क्रोध चाहे आकर लिपट ही जावें तब भी उसके मन का बाल भी बाँका नहीं होता । (९) आत्म विनिग्रह—मन और इन्द्रियों सहित शरीर को साधनों की सहायता से वशमें लाना । (१०) वैराग्य—इन्द्रियोंको अच्छे लगने वाले दुःखदायी विषयों के प्रति अरुचि । (११)—अहंकार का न होना । (१२)—जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःख और दोषों को बार २ देखना । कल आने वाली जन्म मृत्यु आदि उपर्युक्त विपत्तियों से जो आज ही सावधान हो जाता है वही सच्चा ज्ञानी है । (१३)अनासक्ति—पुत्र, दारा, घरबार आदि के बीच जीवन यापन करते हुए भी वह उनमें चिपटता नहीं । और यात्री की भाँति जीवन के विहित कर्मों को करता हुआ उदासीन भाव से काल यापन करता है । (१४) समचित्तत्व—प्रतिकूल या अनुकूल प्रसंगों के आपड़ने पर चित्तमें हर्ष शोकादि विकारों का न होना । सदा समरस रहना ही समचित्तत्व है । (१५) अव्यभिचारी भक्ति—मन, वाणि और शरीर से सर्वात्मना मत्स्वरूप हो कर भी वह अनन्य भाव से मुझे भजता है । समुद्रमें गंगाजल मिल कर भी जैसे मिलता ही रहता है वैसे ही वह मत्स्वरूप होकर भी मुझे भजता रहता है । जलकी सतह पर जो हिलोरें होती हैं दुनिया उसे तरङ्ग कहती है, वैसे है वह जल ही । उसी प्रकार मद्रूप भक्त की भी बात समझो । (१६)—एकान्त प्रियता—एकान्त से जिसे प्रेम है और जनपद के कोलाहल से जिसका जी ऊबता है उसे मूर्तिमन्त ज्ञान ही

समझना चाहिए। (१७) अध्यात्म ज्ञान नित्यत्व—अर्थात् परमात्मा या अध्यात्म तत्त्व ही नित्य है और अन्य सब संसार स्वर्ग इत्यादि व्यर्थ के आडम्बर हैं इस प्रकार की दृढ़ धारणा रखना। और (१८)—तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शन—तत्त्व ज्ञान से प्राप्त पूर्णपरब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मा का सर्वत्र समभाव से दर्शन करना तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन है।

अस्तु। हथेली में रखे आंवले को दिखाने के लिए जैसे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही हे धनञ्जय! हमने ज्ञान के इन १८ लक्षणों द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान ही तुम्हारी आंखों के सामने प्रत्यक्ष कर दिया।

इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है। यह अज्ञान सकल अनर्थों का मूल है। इसके हृदय में प्रवेश करते ही मनुष्य मदान्ध हो जाता है। विवेक का साथ छूट जाने के कारण ज्ञेय अर्थात् ब्रह्म के दर्शन से वञ्चित ही रहना पड़ता है। अतः अज्ञान की ओर से पीठ फेर ज्ञान पर भलीभांति दृढ़ होना चाहिए।

ज्ञान से परिचय प्राप्त कर लेने के बाद प्रश्न उठता है कि इस ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य (ज्ञेय) वस्तु क्या है? और इसे जान लेने से होगा क्या? इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सर्वज्ञों के राजा श्रीकृष्ण आगे कहते हैं–अर्जुन, परमात्म वस्तु को ही ज्ञेय कहते हैं। इसका कारण यही है कि यह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता। और इसे जान लेने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है। ज्ञेय या परब्रह्म निराकार और रूप रंग से रहित है। जिसे भली भांति जान लेने पर 'है या नहीं है' का झगड़ा ही मिट जाता है। विचार शक्ति जिसके पास तक नहीं पहुंच सकती घड़ा कहिए मिट्टी कहिए बात एक ही है। उसी प्रकार परब्रह्म भी सभी पदार्थों और आकारों में अखण्ड रूप से निवास करता है। "इसके सब ओर हाथ, पांव, नेत्र, शिर, कान हैं और वह सबको व्याप्त करके रहता है।" यह कहना भी केवल अबोधमति शिष्यों को समझाने के लिए द्वैत के प्रतीक से अद्वैत की ही चर्चा है। कारण कि जहां एक वस्तु (ब्रह्म) हो वहां कौन किसको व्यापेगा?

इसीप्रकार वह इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं में भी अभिन्न रूप से व्याप्त है। सोने के कण में जैसे सोना ही सोना रहता है उसी प्रकार ब्रह्म वस्तु सर्व-स्वरूप हो कर सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक गुण, विकार और इन्द्रियों में व्याप्त है। किन्तु वह गुड़ की मिठास जैसे भेली के आकार में नहीं रहती उसी प्रकार ब्रह्म, गुण तथा इन्द्रियों में रह कर भी इनसे निर्लिप्त है। गुणों का नाश होने पर केवल वही शेष बचा रहता है। वह सब भूतों के अन्दर भी है और बाहर भी, चर भी है अचर भी। सूक्ष्म होने के कारण वह अज्ञेय है।

दूर भी है और पास भी। भूतों में नाना रूप से विभक्त हो कर भी वह इनमें अलग अखण्ड एकरस रहता है। यही नानात्व में एकत्व का दर्शन ही सच्चा ज्ञान है।

इस प्रकार अब तक तुम्हें क्षेत्र, ज्ञान, अज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप बताया गया। मेरा भक्त इन्हें जान कर मद्रूप हो जाता है। यों कह देने को तो सब कुछ परमात्मा ही है, किन्तु तुम्हें समझाने के लिए उसी को चार भाग करके बताया। अब वही बात पुनः कपिल मुनि के सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति पुरुष विवेक रूप में कहता हूं।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को ही सांख्यशास्त्र में प्रकृति और पुरुष कहा गया है। स्मरण रखो कि ये नाम अलग अलग हैं किन्तु इनमें निरूप्य वस्तु एक ही है। इन दोनों (प्रकृति पुरुष) का सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय आदि विकार और सत्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। अतएव कार्य कारण और कर्तृत्व इन तीनों का मूल प्रकृति ही है। इसी से भले बुरे कर्मों द्वारा सुख-दुःखों की उत्पत्ति होती है और इस प्रकृति-जन्य सुख दुःखों का भोक्ता—प्रकृति का भर्ता—पुरुष है। इस प्रकृति पुरुष दम्पति का कृषि व्यापार भी निराला है। स्त्री कमाती है पुरुष बैठा खाता है। स्त्री पुरुष का कभी संगम या सम्बन्ध ही नहीं होता तथापि चमत्कार देखिए यह स्त्री (प्रकृति) जगत् को उत्पन्न करती है।

पुरुष निर्गुण और निर्विकार उदासीन होकर भी पराधीन राजा की भांति प्रकृति के वशीभूत होकर प्रकृति-जन्य गुणों को भोगता है और इसी कारण प्रकृति रूपी स्त्री का संग करने मात्र से—पुरुष को जन्म मरण की अनर्थ परम्परा भुगतनी पड़ती है।

किन्तु यथार्थ में पुरुष का भोक्तृत्व प्रकृतिजन्य गुणों के कारण आभास मात्र है। केवल शुद्ध निरंजन पुरुष का जब जन्म ही नहीं है तब 'भोग' कैसा? जो इस प्रकृतिपुरुष विवेक को भलीभांति जान लेता है वह कर्म करता हुआ भी जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा पा जाता है।

अन्तःकरण में सूर्य के समान इस विवेक को उदित करने के लिए सांख्य, योग, कर्म आदि अनेक प्रसिद्ध किन्तु कठिन उपाय हैं। इस कारण श्रद्धा भक्ति से निरभिमान हो कर दयालु संतों के उपदेशों पर आचरण करने से भी यह जन्म-मरण का संकट टल सकता है।

सब बातों का सारांश यह है कि समस्त स्थावर-जंगम की उत्पत्ति क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोगसे ही है। अतः जो पुरुष सर्वत्र नाशवान् भिन्न भिन्न प्राणियों (भूतों) में समान रूप से व्याप्त एक अविनाशी परमेश्वर को देखते हैं वे ही यथार्थ में तत्त्वज्ञ हैं। अनेक में एक का दर्शन ही सच्चा ज्ञान है।

देह नाशवान्, गुणयुक्त और दुःखमय है। पंचतत्वों की बनी यह काया कर्मों से बंधी जन्म मृत्यु के चक्कर काटती है। इसे कालानल में पड़ी मक्खन की डली ही समझो। मक्खी के पंख गजाने न गजाने उसका काम तमाम हो जाता है। यदि कदाचित् अग्नि में गिर जाय तो राख बन कर उड़ जाय। और कुत्ते के मुख लगजाए तो कुत्ते की विष्ठा बन जाय—ऐसी यह देह है। और आत्मा? वह तो निर्गुण अनादि तथा आनन्दमय तत्त्व है। इस शरीर में रह कर भी यह कुछ करता कराता नहीं—देह में रहता है पर इससे निर्लिप्त है। आत्मा इस देह का प्रकाशक है। इसप्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के अंतर को भली भांति जान कर पदार्थों के भिन्न रूपों में केवल नाशवान् प्रकृति का ही विस्तार है—आत्मा उससे भिन्न है—ऐसा जो अनुभव करते हैं उन्हें ही ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है।

चतुर्दश अध्याय

ज्ञान के मार्ग में एक और बाधा है—"सत्व-रज-तम" ये तीन गुण। इनका जन्म प्रकृति से है। इन्हीं की संगति में पड़कर आत्मा संसारी बनता है और उन्हीं के कारण मनुष्य के पीछे जन्म-मरण की अविद्य परम्परा लग जाती है। इनके बन्धन से मुक्त—त्रिगुणातीत—पुरुष ही ज्ञानस्वरूप परमात्मा तक पहुँचता है। ये गुण क्या हैं? ये बन्धन में कैसे डालते हैं? इनसे छुटकारा कैसे मिलेगा? और तब उस परमपुरुष से कैसे भेंट होगी? बस, यही चतुर्दश अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

सबसे पहले ज्ञान का माहात्म्य वर्णन करते हुए वैकुण्ठ के निवासी विश्वेश श्रीकृष्ण बोले, "अर्जुन, समस्त ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान तुमसे फिर कहता हूं। सुनो। यह ज्ञान कहीं बाहर से नहीं लाया जाता। अजी, यह तो अपना ही रूप है! किन्तु किया क्या जाय! जीव को संसारी विषयों का चस्का लग गया है। इसी कारण यह अपने अन्दर बैठे ज्ञान को नहीं पहचान सकता। विषयों के पीछे पागल मन को अन्तर्मुखी बनाकर यदि इसे उस सर्वोत्कृष्ट आत्मज्ञान की ओर मोड़ दिया जाय तो मनुष्य मद्रूप होकर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है।

और जिसे प्रकृति या माया कहते हैं वह भी मेरा ही रूप है। देखो, मैं एक हूं फिर भी ये त्रिगुण-रूपी बहेलिए मुझे अनेक देहरूपी पाशों में बांध लेते हैं। मेरे सङ्कल्पी बीज से इस क्षेत्र में प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं। माया जो विश्व उत्पन्न करती है मेरी सत्ता ही उसकी सहकारिणी है। मैं पिता हूं, माया माता है और यह सम्पूर्ण जगत् हमारा पुत्र है। किन्तु इन नाना रूपों को देखकर तुम अपनी बुद्धि में द्वैत को स्थान न दे बैठना। क्या एक ही शरीर के भिन्न २ अवयव नहीं होते? हमारा सम्बन्ध वैसा है जैसे कि मिट्टी का बना घड़ा मिट्टी का बेटा माना जाय या वस्त्र को कपास का पौत्र या नाती कह दिया जाय। सुवर्ण का अलङ्कार बनता है तो क्या इससे उसके सुवर्णत्व में कोई कमी आ जाती है? असंख्य तरंग-परम्परा जैसे समुद्र की सन्तति है, मेरा चराचर का सम्बन्ध भी वैसा ही है।

जगत् उत्पन्न हुआ इससे यदि मेरी एकता ढंक जाय तो बताओ जगत् के रूप में कौन प्रकट होता है? इस कारण जगत् को निकाल बाहर करके यदि कोई मुझे देखना चाहे तो मैं दिखने वाला नहीं; क्योंकि यह जो कुछ है वह सब मैं ही हूँ।

आत्मविस्मरण ही अज्ञान है। इसी सर्वानर्थमूल अज्ञान के कारण जीव को देहाभिमान आ घेरता है और तब यह सत्व-रज-तम नामक तीन गुणों की जंजीरों से जकड़ा जाता है। प्रकृति ही इन गुणों की जन्मभूमि है। सत्व गुण की वृद्धि होने पर मनुष्य का मन शान्त रहता है और विवेक जाग जाता है। इन्द्रियों के उत्पात तो नहीं चलते किन्तु, "अहा! मैं कितना सुखी हूं! कितना ज्ञानी हूं!! मेरे हृदयाकाश में चतुरता का चांद निकल आया है!!!" इस प्रकार का अभिमान तो उसे होता ही है। और यही सुख एवं ज्ञान का अभिमान उसे जन्म-मरण के घेरे में डाल देता है। मरकर वह फिर किसी सत्वगुण-सम्पन्न ज्ञानियों के कुल में जन्म लेता है। रजोगुणी पुरुष की प्रवृत्ति स्वैराचार की ओर झुकती है उसके मन में खुलकर विषयों का सेवन करने की—लोक-परलोक के सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त करने की—होड़ सी लगी रहती है। विषयों के प्रति उसकी वासना इतनी प्रबल रहती है कि उसके सामने धधकता अग्निकुण्ड भी अल्प दिखाई देता है। मरने पर वह किसी काम्य कर्मों में रत पुरुषों के कुल में जन्म लेता है।

तमोगुण से युक्त पुरुष मोहग्रस्त, आलसी एवं विचारशून्य होता है। उसकी बुद्धि पत्थर सी

होती है और उसका सारा जीवन अनाचार, प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा में ही बीतता है। मरकर वह पशु पक्षी वृक्ष कीड़े-मकोड़ों की योनि में जन्म लेता है।

सात्विक पुण्य कर्मों का फल सुख है। आपातरमणीय राजसिक कर्मों का फल है दुःख और प्रमाद मोह एवं अज्ञान-युक्त तामसिक कर्मों का परिणाम भी दुःख के सिवाय और क्या हो सकता है? यही कारण है कि ज्ञानी जन राजसिक एवं तामसिक व्यापारों की ओर से मुख मोड़ आजन्म सात्विक वृत्ति में ही रहते हैं।

तात्पर्य यह कि ये तीनों गुण आत्मवस्तु की सत्ता से ही चराचर को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वैसे तो आत्मतत्त्व-स्वरूप से पूर्ण है। किन्तु जब वह अपने को भूल कर गुणों में रम जाता है तो ये गुण उसके चिन्मय प्रकाश को ढंक देते हैं। जन्म-मरण, स्वर्ग नरक ये सब गुणों के आपसी खेल हैं। आत्मा सब अवस्था में गुणों के बन्धन से मुक्त है तथा साक्षिरूप से इन गुणों के बीच रहता हुआ भी गुणों से सम्बन्ध-रहित पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप ही है। हे अर्जुन, हृदय में ऐसा स्थिर भाव उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य मेरे स्वरूप में मिल जाता है। उसके हाथ से बुद्धि-भेद रूपी दर्पण गिर कर चूर-चूर हो जाता है और इसी कारण वह माया का मुखड़ा फिर नहीं देख पाता। देहाभिमान रूपी वायु का चलना बन्द हो जाने से जीव रूपी तरंग ईश्वर रूपी समुद्र में लीन हो जाती है।

जैसे समुद्र में बड़वानल नहीं बुझाई जा सकती, उसी प्रकार आने जाने वाले गुणों से ज्ञानी का आत्मज्ञान ठंडा नहीं पड़ जाता। इतना ही क्यों जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि रूप दुःखों से मुक्त होकर वह गुणातीत पुरुष अमृतत्व रूप सच्चिदानन्द परमात्मा में एक होकर रहता है।"

इस पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से गुणातीत पुरुष के लक्षण, आचरण और गुणातीत बनने के उपाय पूछे। श्रीकृष्ण बोले "अर्जुन, गुणातीत पुरुष गुणों से मेल-जोल नहीं बढ़ाता। गुणों के परिणामों का भी उसकी देह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सत्व गुण के आवेश में अपने को ज्ञानी-सुखी, रजोगुण के आवेश में कर्मठ और तमोगुण के आवेश में मोहग्रस्त नहीं पाता। आकाश में वायु चलती और बन्द होती रहती है किन्तु आकाश निश्चल रहता है। उसी प्रकार त्रिगुणातीत पुरुष भी गुणों की हलचल से विचलित नहीं होता। वह सुख-दुःख, मानापमान निन्दा-स्तुति, काञ्चन-मिट्टी सब में समदृष्टि रखता है। इस नश्वर देह के प्रति मोह न होने के कारण भोग के लिए उसकी कर्मों में प्रवृत्ति भी नहीं होती।

सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों से यदि छुटकारा पाना हो तो मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति का आश्रय लो। विश्व को और मुझ को अभिन्न समझ कर एकनिष्ठ भाव से मेरा भजन करना ही—मेरी

अव्यभिचारिणी भक्ति है। जैसे अग्नि ही ज्वाला है, द्रवत्व ही जल है, और जमा हुआ दूध ही जैसे दही है, वैसे ही विश्व के नाम से मैं ही सर्वत्र व्याप्त हूँ। विश्व को अलग करके मुझे देखना चाँदनी को हटा कर चन्द्रमा को देखने जैसी कुचेष्टा करना है।

अतएव हे भाई अर्जुन, सब भेदभाव छोड़ भेद चित्त से निज के समेत सब कुछ मेरा ही रूप जानो। यही मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति है। यही चौथा पुरुषार्थ है। इसी से तुम गुणों के बन्धन से मुक्त हो मद्रूप हो जाओगे यही भक्ति तुम्हें ब्रह्म तक पहुंचा देगी क्योंकि ब्रह्म में और मुझ में कोई भेद नहीं है।

पञ्चदश अध्याय

पञ्चदश अध्याय ज्ञानकाण्ड की अन्तिम कड़ी है। चतुर्दश अध्याय के अन्त में कैवल्यपति श्रीकृष्ण ने निर्णय किया कि—ज्ञान से मोक्ष मिलेगा। किन्तु वैराग्य के बिना ज्ञान अधूरा है। माना कि ज्ञान से मोक्ष मिलेगा लेकिन, उस ज्ञान को हृदय में प्रतिष्ठित करने के लिये शुद्ध मन तो हो! बिना चित्त-शुद्धि के ज्ञान स्थिर नहीं रह सकता और ज्ञान की स्थिरता दृढ़ वैराग्य पर निर्भर है। भोजन करने वाले को यदि यह मालूम हो जावे कि रसोई में विष मिला है तो जैसे वह तुरन्त थाल छोड़कर उठ जाता है वैसे ही संसार की अनित्यता का ज्ञान होते ही वैराग्य पीछे पड़ जाता है—हटाए नहीं हटता! पन्द्रहवें अध्याय का उद्देश्य यही है कि संसार का मिथ्यात्व सिद्ध हो और जीव के अन्दर जमकर बैठा अहंभाव स्वात्मरूप में मिलकर सर्वदा के लिए विलीन हो जावे।

सबसे पहले संसार का वर्णन एक वृक्ष के रूपक द्वारा करके वैराग्यरूपी शस्त्र से इस महावृक्ष को सरलता से काट गिराने की युक्ति बताते हुए श्री भगवान् कहते हैं—अर्जुन, यह प्रपञ्च, यह संसार स्वात्मरूपी घर की ओर जाते हुए सबसे बड़ी बाधा है। यह संसार नहीं इसे एक फैला हुआ विशाल वृक्ष ही समझो। यह बड़ा ही आश्चर्यजनक झाड़ है। साधारण वृक्षों से उलटा। अर्थात् इसकी जड़ ऊपर है और शाखाएं नीचे। अक्षय आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही इस वृक्ष का ऊर्ध्व (ऊपरी भाग) है।

और अनादि सदसद्विलक्षणा अनिर्वचनीय किन्तु अमम माया ही इसका मूल है। तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो इस संसार वृक्ष की जड़ बहुत ही कमजोर है क्योंकि इसका मूल जो माया है, वह ब्रह्म के साथ ऐसी है जैसे हुई ही नहीं। वास्तव में ब्रह्म का प्रकाश ही जगद्रूप से प्रकट हुआ है। ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान ही माया है। इस कमजोर जड़ पर यह इतना भारी संसार-वृक्ष उल्टा लटका है तब भला, इसे असंगशस्त्र (वैराग्य) से काटने में देर क्या लगेगी? अस्तु, इस मायारूपी मूल से ही आगे महत्तत्त्वादि "प्रकृति का पसारा" या भगवान् की माया के खेल चलते हैं। और यह संसाररूपी महावृक्ष तैयार हो जाता है। इस नाम रूपात्मक माया का स्वरूप नाशवान् तथा प्रतिक्षण बदलने वाला है। इसी कारण इसका नाम "अश्वत्थ" अर्थात् "कल तक न रहने वाला" रक्खा गया। वेद ही इसके पत्ते हैं और इसकी गुणों के संग से अच्छी बुरी योनिरूपी शाखायें ऊपर-नीचे (ब्रह्मलोक से पाताल तक) फैली हुई हैं। इसकी अहंकार-ममता-वासनारूपी जड़ें भी मनुष्य लोक में कर्मानुसार बाँधने के लिए सर्वत्र बिखरी हैं।

ऐसा विलक्षण है यह संसार वृक्ष! इसका न आदि है, न अन्त है और नां ही ठीक से स्थिति। इस प्रकार के मिथ्या और स्वप्न-सदृश भासमान वृक्ष को उखाड़ने में भला श्रम काहे का! बालक के हौवे का भगाना कौन बड़ी बात है? खरगोश के सींग क्या तोड़ने पड़ते हैं? आकाश पुष्प का कहीं अस्तित्व हो तो उन्हें तोड़ने की बात भी सोची जाय! इस वृक्ष का मूल ही खोटा है। जिस अज्ञान से यह उत्पन्न हुआ है उसका नाश केवल ज्ञान द्वारा ही संभव है और ज्ञान बिना वैराग्य के टिकने वाला नहीं।

इस प्रकार संसार के प्रति दृढ़ वैराग्य के जागृत हो जाने पर अपना-पराया भेद-भाव मिट जाता है और तब अखण्ड आत्मस्वरूप के दर्शन होते हैं। किन्तु, हे वीर! यह देखना दर्पण में मुख देखने जैसा दृश्य सापेक्ष दृश्य—नहीं है। यह तो ऐसा है जैसे कि आंखें अपनी ही पुतलियां देखें, जीभ अपना ही स्वाद चखे और जैसे जल जल में जा मिले। आत्मस्वरूप का देखना स्वयं अपने का ही अद्वैतरूप से देखना है।

यही सच्चा आत्मलाभ है। यही वह परमपद है, जहाँ जाकर वापस लौटना नहीं पड़ता। जिस परमपुरुष—पुरुषोत्तम—से इस संसारवृक्ष की अनादि परम्परा चली है, उसकी अनन्यभाव से शरण जाना चाहिए। जब ज्ञान द्वारा अज्ञान दूर होकर परमात्मा के साथ एकरूपता प्राप्त हो जाती है तब मान, मोह और सुख-दुःखादि द्वन्द्व नहीं सताते। ज्ञानी को जिस परमपद की प्राप्ति होती है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। सूर्य, चन्द्रमा आदि के प्रकाश भी उस तक नहीं पहुँच पाते।

स्वप्न में जैसे कोई राजा बन जाये या इस स्वप्न में जैसे कोई कोष मिला दे वैसे ही मेरा

शुद्ध स्वरूप जब मेरी माया से आच्छादित होता है तब अज्ञान उत्पन्न होता है और आत्मा अपने व्यापक स्वरूप को भूलकर "मैं देह हूँ" ऐसा समझने लग जाता है, एवं जन्म मृत्यु का बोझ अपने सिर पर लाद लेता है। मृत्यु के समय जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है तब अपने साथ मन और इन्द्रियों को भी ले जाता है। इस तरह जीवात्मा का कर्तापन और भोक्तापन एक ही देह में समाप्त नहीं हो जाता। जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है।

जो अज्ञानी हैं वे माया की इस आँख-मिचौनी को नहीं पहचान सकते। वे प्रकृति के जन्म-मरण, कर्म-भोग आदि सब व्यवहारों में आत्मा को ही कर्ता, भोक्ता, मरणशील आदि समझते हैं। किन्तु ज्ञानीजन देह में बैठे निर्गुण-निर्विकार निर्लिप्त निर्मल स्वरूप आत्मा को भली भांति जानकर दृढ़ वैराग्य का आश्रय ले सांसारिक विषयों को "काक-विष्ठावत्-त्याज्य" समझते हैं।

मेरी व्याप्ति इतनी है कि सूर्य-चन्द्र और अग्नि में जो तेज है उसे मेरा ही तेज समझो। सब भूतों का धारण-पोषण मैं करता हूं। संसार में दूसरी वस्तु नहीं है। सर्वत्र मुझे ही जानो।

प्रश्न उठता है 'जब मैं चराचर में इस तरह जलतरङ्ग न्याय से (जल में भी जल है और तरङ्ग में भी जल है) सर्वत्र व्याप्त हूं तो कुछ प्राणी सुखी और कुछ दुःखी क्यों दीखते हैं ? ऐसा भेदभाव क्यों ? उत्तर है प्राणियों की बुद्धि ही इसमें दोषी है। देखो, एक ही ध्वनि अलग-अलग बाजों के संसर्ग से भिन्न भिन्न रूप में प्रकट होती है। एक ही पानी अलग अलग बीजों के सहारे भिन्न २ वृक्षों में जा करके भिन्न २ रसों के रूप में सामने आता है। अजी, और छोड़ो, स्वाती सीप में गिरे तो मोती बन जाए और सर्प के मुख में जाय तो विष हो जाय ! इसी प्रकार मैं भी ज्ञानवालों में उनकी अभेद दृष्टि के कारण सुखरूप और अज्ञानियों में द्वैतमूलक भेदबुद्धि के कारण दुःखरूप हूं।

ज्ञानियों की समदृष्टि यदि प्राप्त करनी हो तो वैराग्य का आश्रय लेकर सन्तों के चरण गहो। उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर शुद्धान्तःकरण से सर्वत्र मुझ एक वासुदेव को ही देखो। सबके हृदयों में मैं ही सर्वान्तर्यामी रूप से विराजता हूं, समस्त बुद्धि और ज्ञान का आधार मैं ही हूं और सम्पूर्ण वेद-शास्त्र मेरे ही गीत गाते हैं। जहां अविद्या का समूल नाश होकर ज्ञान भी नहीं रहता वही भावाभाव-विनिर्मुक्त निर्मल स्वरूप मेरा है—जो विश्व का नाम निशान तक मिटा कर ले भागे ऐसे चोर को भला, कहां खोजा जाए ? ऐसा है मेरा यह अनिर्वचनीय निरुपाधिक (देहादि प्रपञ्च रहित) स्वरूप !

फिर आगे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन, जैसे इतने बड़े निःसीम गगन-मण्डल में केवल रात

और दिन ये दो ही वस्तुएँ रहती हैं, इसी प्रकार इस संसाररूपी महानगर की आबादी कुल दो पुरुषों की है। एक तीसरा पुरुष (निरुपाधिक ब्रह्म) भी रहता है जिसे इन दोनों का नाम तक पसन्द नहीं। और जिसका उदय होते ही इन दोनों का कहीं पता नहीं चलता। किन्तु, अभी इस तीसरे पुरुष की बात रहने दो। पहले संसारनगर के निवासी उन दो पुरुषों की कथा सुनो। हाँ, तो इन दोनों में से एक (क्षर पुरुष) अन्धा (ज्ञानदृष्टिहीन) पागल (देहासक्त) और पंगु (देहादि प्रपञ्च के आधीन) है। और दूसरा (अक्षर-पुरुष) सर्वाङ्गपूर्ण और भला चङ्गा है। इन दोनों की दोस्ती पास-पास या एक जगह रहने के कारण ही हुई है। समस्त नाशवान और अनित्य पदार्थ ही 'क्षर' हैं और कूटस्थ अविनाशी जीवात्मा "अक्षर" नाम से कहा गया है। तथा देहाभिमान अज्ञान के कारण ही "क्षर" पुरुष की ऐसी बुरी हालत हुई है।

पुरुषोत्तम नाम का तीसरा पुरुष इन "क्षर" और "अक्षर" दोनों से भिन्न है। जहाँ न एकत्व है, न द्वैत है अथवा जहाँ यह भी नहीं जान पड़ता कि कुछ है भी या नहीं, हे भाई अर्जुन, ऐसी द्वैताद्वैत विलक्षण जो कोई स्थिति है, उसे ही पुरुषोत्तम जानो। वही परमात्मा नाम से विख्यात है। जैसे नदी के तट पर खड़ा मनुष्य पानी में डूबते हुए आदमी की अवस्था का वर्णन करे वैसे ही वेद इस किनारे पर खड़े परतीरस्थ परमात्मा का वर्णन करते हैं। 'क्षर' और 'अक्षर' ये दोनों इस पार के हैं और पुरुषोत्तम परमात्मा उस पार का। उसका वर्णन करना शब्दों के बस की बात नहीं। मौन ही उसका वर्णन है, किसी इतर वस्तु (जीव, ब्रह्म आदि) का न होना ही, उसका स्वरूप है। उसे देखते जाओ तो देखने वाला और दृश्य दोनों ही विलीन हो जाते हैं। पर इससे तुम उसके अस्तित्व पर संदेह न कर बैठना। वह है, और अवश्य है ! नाक और फूल के बीच रहने वाली सुगन्ध दिखाई नहीं देती, परन्तु उसकी सत्ता के विषय में कौन सन्देह करेगा ? ऐसा पूर्णता का परिणामस्वरूप, निखिल ब्रह्माण्ड का विश्रामस्थल वह "पुरुषोत्तम" है। उसी की सत्ता से यह विश्व टिका है।

इस प्रकार जो संसार को मिथ्या प्रपञ्च समझकर सर्वात्मना—अनन्यभाव से मद्रूप हो मुझे भजता है वही बुद्धिमान् है, उसे ही—सच्चा आत्मलाभ हुआ है। वही कृतकृत्य है।

षोडश अध्याय



पञ्चदश अध्याय की समाप्ति के साथ साथ यह काण्डत्रयरूपिणी छोटी सी श्रुति‡—गीता—एक प्रकार से समाप्त हो जाती है। ज्ञान-सूर्य के उदित होते ही पुरुषोत्तम परमात्मा के दर्शन होते हैं और तब इससे आगे कोई ज्ञातव्य शेष बच नहीं रहता। किन्तु, अभी कुछ बातों का स्पष्टीकरण बाकी है, तथा ग्रन्थ का उपसंहार भी होना है। आगे के तीन अध्याय इसी लिए हैं। आत्मलाभ द्वारा निरतिशय आनन्द की जन्मभूमि—ज्ञान—कैसे प्राप्त होगा? प्राप्त ज्ञान की रक्षा का क्या उपाय है? ऐसी कौन सी वस्तुएं हैं जो या तो ज्ञान को उपजने ही नहीं देती और यदि उपजे तो उसे टेढ़े मेढ़े रास्ते पर लगा देती हैं? इत्यादि बातों का विवरण इस षोडश अध्याय में है।

सप्तम और नवम अध्यायों में जिन दैवी तथा आसुरी प्रकृतियों का संक्षेप में निर्देश किया गया था, उनका विस्तृत वर्णन करने के अभिप्राय से त्रैलोक्य-नायक श्रीकृष्ण ने प्रथम मोक्ष प्राप्ति के अचूक साधन—दैवी सम्पत्ति के २६ गुणों का वर्णन किया। ये छब्बीस गुण हैं:—(१) अभय (२) अन्तःकरण की पवित्रता (३) आत्म-लाभ के लिए परमात्मा के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान अथवा योगमार्ग पर चित्त की दृढ़ता—"ज्ञानयोगव्यवस्थितिः" (४) दान (५) दम या इन्द्रिय-निग्रह (६) अधिकारानुसार विधिपूर्वक यजन—यज्ञ (७) स्वाध्याय (८) तप (९) आर्जव या सरलता (१०) अहिंसा (११) सत्य (१२) क्रोध न करना (१३) त्याग (१४) शान्ति (१५) हृदय की क्षुद्रता से ऊपर उठना या चुगली न करना (१६) दया (१७) लालच या तृष्णा का अभाव (१८) मृदुता (१९) निषिद्धाचरण के प्रति संकोच (२०) मन और प्राणों की स्थिरता,—चञ्चलता या चपलता का अभाव (२१) तेज (२२) क्षमा (२३) धृति या धैर्य (२४) निषिद्धाचरण के प्रति संकोच—लज्जा (२५) किसी से द्रोह न करना। और (२६) मान या घमण्ड का न होना। दैवी सम्पत्ति के इन छब्बीस गुणों में निखिल ब्रह्म-सम्पदा का निवास है। मोक्ष के साधनभूत निरपेक्ष वैराग्य की इन गुणों से शोभा है।

---

‡ गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्म-उपासना और ज्ञान इन तीन काण्डों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे" इत्यादि पुष्पिका में गीता को श्रुति—उपनिषद् और ब्रह्मविद्या कहा गया है।

इसप्रकार दैवी सम्पत्ति रूपी गुणराशि का वर्णन करके संक्षेप में सर्वानर्थमूल त्याज्य आसुरी सम्पत्ति के ६ गुणों का निर्देश किया गया है। ये ६ गुण हैं—(१) दम्भ या ढोंग (२) दर्प या घमण्ड (३) अभिमान (४) क्रोध (५) पारुष्य या कठोरता। और (६) अज्ञान अर्थात् विधि-निषेध, धर्माधर्म के विवेक का न होना। इन छहों दोषों का सहारा लेकर आसुरी सम्पत्ति बलवती होती है। इन्हें छोटा न समझना चाहिए।

सर्प का शरीर छोटा सा दीखता है, किन्तु विष का प्रभाव कितना बड़ा है। यद्यपि दैवी सम्पत्ति का वर्णन कर चुकने के बाद आसुरी सम्पत्ति के वर्णन की कोई आवश्यकता न थी, तथापि त्याज्य वस्तु के त्याग के लिए इनका ज्ञान जरूरी है।

आगे श्रीकृष्ण ने कहा—इन दोनों में पहली—दैवी सम्पत्—मोक्ष के लिए है। और दूसरी—आसुरी सम्पत् बन्धन के लिए। हे पाण्डव! तुमने दैवी सम्पत्ति वाले कुल में जन्म लिया है, इसलिए शोक मत करो और इस दैवी-सम्पत्ति के स्वामी बन कर कैवल्य (मोक्ष के) सुख का उपभोग करो। सारा प्राणि-समुदाय इन दो दैव और आसुर प्रकृतियों में विभक्त है। इनके अपने २ व्यापार अनादिकाल से सिद्ध हैं। दैवी प्रकृति वाले पुरुषों का वर्णन पीछे भी ज्ञान वर्णन इत्यादि प्रकरणों में पर्याप्त हो चुका। अब आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों की वार्ता सुनो। इन लोगों का झुकाव स्वभावतः पाप कर्म की ओर होता है। कोयला अपना कालापन कैसे छोड़ दे? कौवा चाहे किसी तरह सफेद हो जाय; राक्षस भी चाहे मांस खाने से उकता जावे और हे धनञ्जय! मद्यपात्र भी चाहे पवित्र बन जाय किन्तु क्या आसुरी प्रकृति वाले पुरुष दुष्कर्मों की ओर से विमुख हो सकते हैं? भूलकर भी ये कभी पुण्यकर्म की ओर नहीं जाते। इनके लिए भले-बुरे कार्यों में, पवित्रता-अपवित्रता में पाप-पुण्य में यहां तक कि सत्यासत्य में भी कोई भेद नहीं। बिच्छू यदि अपने डंक से मीठी गुदगुदी पैदा करने लगे तभी इनसे सत्यभाषण की आशा की जा सकती है। ईश्वर में इनका विश्वास नहीं। स्वर्ग-नरक इनके लिए सब बराबर हैं। इनके मत से जगत् की उत्पत्ति का मूल काम के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है। इन नष्टात्मा क्रूर पुरुषों के समस्त उग्र कर्म संसार को केवल नाश की ओर ले जाने के लिये हैं। कभी भी पूरी न होने वाली सांसारिक भोगों के प्रति लालसा का अवलम्ब ले ये मोहान्ध लोग संसार में विचरते हैं। भोगों का मनमाना उपभोग करने की इनके मन में होड़ सी लगी रहती है। प्रलयकाल तक भी समाप्त न होने वाली अनन्त चिन्ताओं का मस्तिष्क में अखाड़ा जमा रहता है।

काम और क्रोध के घेरे इन आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के चारों ओर सैकड़ों बलवती आशाओं का

जाल बिछा रहता है। अपनी गन्दी वासनाओं की पूर्ति के लिए ये अन्याय से धन इकट्ठा करने की फिकर में रहते हैं। ये दिन रात बस यही सोचते रहते हैं कि आज मैंने यह पा लिया, कल उस मनोरथ को सिद्ध करूंगा। यह धन मेरा हो चुका और कल वह भी मेरा हो जायगा। मैंने इस दुश्मन को मार डाला अब उसको भी मार गिराऊंगा। मैं इस सृष्टि का ईश्वर—मालिक—हूं, मैं सुखों को भोगने वाला हूं, बलवान्, सुखी, धनी और ऊंचे खानदान का हूं। मेरे समान संसार में और कौन दूसरा है? अज्ञान से इनकी आंख अन्धी हो गई हैं। ये इसी प्रकार की ऊटपटांग बातें सोचा करते हैं। इनका मन तरह तरह की लालसाओं के पीछे भटकता रहता है। ये मोह जाल में फंसे हुए हैं तथा काम-भोग में उलझकर ये गन्दे नरक के गड्ढे में गिरते हैं। कभी कभी ये आत्मप्रशंसा में, ऐंठ में और केवल दिखावे के लिए यज्ञ-पूजा-कर्मकाण्ड भी करते देखे जाते हैं।

अहंकार से, बल से, घमण्ड से, काम से, क्रोध से भरत इन अधम पुरुषों के मनमाने आचरणों से सर्वान्तर्यामी को अपार कष्ट पहुँचता है। ये मेरी निन्दा करते हैं तथा सत्पुरुष दानी-तपस्वी तथा जो मेरे भक्त हैं उनको कष्ट पहुँचाने में नहीं चूकते। इसी कारण मैं इन क्रूर नराधम पुरुषों को सदा आसुरी योनियों में ही भटकाता रहता हूं। ये लोग जन्म जन्मान्तर तक यही नारकीय जीवन बिताते रहते हैं। इन्हें देख कर पाप को भी घृणा होती है, नरक भी इनसे डरता है और इनके नाम से ही महाभय कांपते हैं। हाय! वर्णन करते हुए वाणी को रोना आता है। हाय! हाय!! इन मूर्खों ने कितना पाप जोड़ रखा है। ये इस प्रकार के राक्षसी कर्म क्यों करते हैं? हे धनुर्धर! तुम इनकी अधोगति की ओर ध्यान दो और इनके मार्ग से सदा दूर रहो।

नरक के तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध, और लोभ। ये आत्मा (जीव) को विनाश के महागर्त में डाल देते हैं। अतः इन्हें दूर से ही नमस्कार कर देना चाहिए। आत्म कल्याण की इच्छा रखने वाले सत्पुरुषों को चाहिए कि इनकी संगति त्याग दें। ऐसा करने से मोक्ष मार्ग के साधक सज्जनों से भेंट होगी, आत्मलाभ द्वारा जन्म-मरण का चक्कर सदा के लिए समाप्त हो जायगा और नित्यानन्द की प्राप्ति होगी। काम-क्रोध और लोभ इन तीन नारकीय द्वारों को पार करने का एक मात्र उपाय है शास्त्र विहित कर्मों का आचरण। क्योंकि जो सदाचार-शास्त्र में बताए गए मार्ग को छोड़ कर मनमानी करता है। उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख और नाही परमगति। हे भाई अर्जुन, तुम्हारे ऊपर लोकसंग्रह का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। तुम जो करोगे दूसरे उसकी नकल करेंगे। इसलिए कार्याकार्य-व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय तुम्हें शास्त्रों को देख कर ही करना चाहिए।

सप्तदश अध्याय



"क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इस बात का यदि निर्णय करना हो तो शास्त्र ही एकमात्र कसौटी है" षोडश अध्याय के अन्त में श्री भगवान् की इस कर्तव्याकर्तव्य-व्यवस्था पर अर्जुन को संदेह हुआ। कारण कि एक शास्त्र हो तो उसकी बात भी मानी जाय! अनेकों शास्त्र हैं। फिर उनमें एकवाक्यता नहीं—सब विविध विसंवादी मतमतान्तरों से भरे पड़े हैं। इन परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के पास उतनी बुद्धि कहाँ? इसके अतिरिक्त शास्त्रानुसार कर्म करते समय कर्म की अचूक सिद्धि के लिए द्रव्य, देश, काल आदि की अनुकूलता प्राप्त हो ऐसा सुयोग सबके हाथ कहाँ लगता है? और यदि भिन्न भिन्न शास्त्रों का मेल बैठाकर आवश्यक साधन भी जुटा लिए जावें तो तदनुसार आचरण के लिए इतना समय कहाँ? आयु का विस्तार ही कितना है? सिंह के नाक के बाल कैसे उखाड़े जाय? और उसमें सर्प के मस्तक की मणि पिरोकर कैसे पहनी जावे? इसलिए प्रायः शास्त्र का साधन प्राप्त नहीं हो सकता। तब अल्पज्ञ मुमुक्षुओं के लिए क्या गति है? अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यही पूछा—भगवन, जिन्हें शास्त्रों का ज्ञान नहीं किन्तु जो श्रद्धा से यज्ञादि कर्म करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् स्थिति क्या है—सात्विक, राजस या तामस? अर्जुन के इसी प्रश्न के उत्तर से सप्तदश-अध्याय बना।

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन, तुम शास्त्राभ्यास को प्रतिबन्ध समझते हो! किन्तु, केवल श्रद्धा की पूंजी के बल पर भवबन्ध से मोक्ष या परमपद प्राप्त कर लेना जितना आसान दीखता है उतना आसान नहीं है। कारण कि संसार में प्राणिमात्र अनादि माया के प्रभाव से स्वभावतः त्रिगुणबद्ध हैं और इन गुणों का प्रभाव श्रद्धा पर पड़े बिना नहीं रहता। मनुष्यों में श्रद्धा उनके अन्तःकरण के स्वभावानुसार होती है। यह सम्पूर्ण जगत् श्रद्धा का ही बना हुआ है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह स्वयं भी है। भावार्थ यह कि सत्व-रज और तम इन तीन गुणों के भेद से श्रद्धा भी त्रिगुणात्मिका सात्विकी, राजसी और तामसी है। इसी प्रकार श्रद्धा के समान ही मनुष्यों का आहार, यज्ञ, तप और दान भी गुणों के अनुरोध से सात्विक राजस एवं तामस तीन प्रकार का हो जाता है। इनकी पहचान होना जरूरी है। अतः जैसे फूल को देखकर वृक्ष की पहचान की जाती है और बातचीत से जैसे मनुष्य के स्वभाव का पता चलता है वैसे ही जिन चिन्हों से श्रद्धा के ये तीनों रूप पहचाने जाते हैं, पहले उन्हें कहता हूं। सुनो?

सात्विक पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, राजस प्रकृति वाले यक्षों एवं राक्षसों की और तामसी श्रद्धा वाले भूत प्रेतों की आराधना करते हैं। इसलिए जो मोक्ष के इच्छुक हैं उन्हें राजसी और तामसी श्रद्धा को छोड़ शुद्ध सात्विकी श्रद्धा को ही अपनाना चाहिए। सात्विकी श्रद्धा वाला पुरुष चाहे शास्त्रों का प्रकाण्ड पण्डित न भी हो तो भी ज्ञानी एवं सदाचार-सम्पन्न सत्पुरुषों के चरण चिन्हों पर चल कर मोक्षधाम तक पहुँच जाता है।

किन्तु जो दम्भ और अहंकार के वशीभूत होकर काम और आसक्ति से शास्त्र के विरुद्ध घोर पाखण्ड युक्त तप—क्षुद्र देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जारण-मारण आदि प्रयोग—करते हैं उन्हें तुम निश्चय ही आसुरी प्रकृति वाला जानो। उनके इस आचरण से शरीर को और सर्वान्तर्यामी मुझको भी अपार कष्ट पहुँचता है। इनसे दूर रहना ही अच्छा है। इनसे सतर्क रहने के लिए इनका ठीक तरह से पहचान लेना जरूरी है इसी कारण यहां इनका उल्लेख किया गया।

सात्विक वृत्ति को जागृत रखने के लिए मनुष्य को अनवरत प्रयत्न करते रहना चाहिए। सात्विक आहार और सात्विक कर्म यज्ञ, दान, तप—ही आचरण योग्य हैं। इन्हीं से मोक्ष मिलेगा। आहार और चित्त-वृत्ति की अत्यन्त घनिष्ठता है। भोजन के अनुसार मनुष्य के रक्त-मज्जा-मांसादि धातु बनते हैं। और धातु के अनुरूप ही मनुष्य का स्वभाव बनता है। प्रत्येक की रुचि के अनुसार आहार भी तीन प्रकार का होता है। आयु, बल और आनन्ददायक रसीले, स्निग्ध तथा स्वादिष्ट आहार सात्विक लोगों के प्रिय हैं खट्टे, खारे, और गरमागरम, चटपटे मसालेदार, रजोगुणी लोगों को अच्छे लगते हैं और बासी, ठण्डा, दुर्गन्धयुक्त अपवित्र भोजन तामसी प्रकृति वाले लोगों के हैं।

यह तो हुई आहार की बात। अब, कर्म-यज्ञ दान और तप की त्रिविधता कैसे होती है, यह बताता हूँ सुनो। कर्तव्य बुद्धि से विधि विधान द्वारा एवं शान्त चित्त से किया गया निष्काम यज्ञ सात्विक यज्ञ है। फल की इच्छा से दिखावे के लिए किया गया राजस और बिना मन्त्र, बिना दक्षिणा और श्रद्धारहित विधिहीन यज्ञ तामसिक यज्ञ कहा जाता है। इसीप्रकार तप और दान भी गुणों के अनुरोध से त्रिविध हैं। †

† (१) तप.—कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से पहले तीन प्रकार का होता है। फिर इन तीनों में से प्रत्येक के सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के कारण तीन भेद हो जाते हैं। इनमें कायिक तप का सम्बन्ध प्रधानतया शरीर से है। स्वधर्माचरण, देव-गुरु-ब्राह्मण और विद्वानों की पूजा, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, सरलता तथा

श्रद्धा से लेकर आहार यज्ञ तपादि सकल क्रिया-समूहों का वर्णन समाप्त हुआ। लोगों की सत्व गुण में अनन्य निष्ठा उत्पन्न करने के अभिप्राय से ही यहाँ अन्य दो—रज और तम—गुणों का वर्णन (त्याज्य वस्तु के त्याग के लिए) किया गया। अस्तु, सूर्य के उदित होते ही क्या नहीं दिखाई देता? वैसे ही सत्व गुण के प्रकाश में किया गया कौन सा कर्म सफल न होगा? किन्तु सात्विक कर्म को भी मोक्ष के गाँव तक पहुँचने के लिए जिस तीसरी वस्तु की अपेक्षा रहती है, कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण आगे उसी का माहात्म्य कहते हैं?

"ॐ तत्सत्" यह महामन्त्र ब्रह्म का ही नाम है। वस्तुतः नामरूपरहित परब्रह्म को अविद्यारूपी रात्री में पहिचानने के लिए ही वेदों ने उसका यह एक नाम रख दिया। इस मन्त्र के विनियोग से किए गए समस्त सात्विक कर्म ब्रह्मार्पण होने के कारण कर्त्ता और कर्म के भेद से मुक्त हो जाते हैं और अन्त में केवल "अपने सहित सब ब्रह्म है" ऐसा अखण्ड अद्वैत बोध ही शेष बच रहता है। कर्त्ता को कर्म के सहित ब्रह्म में एक रूप कर देने की सामर्थ्य इस "ॐ तत्सत्" नाम में है।

परन्तु यदि इस व्यवस्था को त्यागकर और श्रद्धा का अवलम्ब छोड़कर कोई करोड़ों अश्वमेध यज्ञ करे, रत्नों से भरकर पृथ्वी भी दान कर दे और चाहे पैर के अंगूठे पर खड़ा होकर हजारों वर्षों तक तप करता रहे तो भी ये सब पत्थर पर बरसे जल के समान व्यर्थ हैं।

—:o:—

अहिंसा का पालन कायिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकारी एवं किसी को चोट न पहुँचाने वाली बात और स्वाध्याय वाचिक अर्थात् वाणी के तप हैं। और मानसिक तप वह है जिससे आत्मदर्शन में सहायता मिले। मन की प्रसन्नता, मौन, आत्मिक शान्ति या सौम्यता, इन्द्रिय-निग्रह, और विचारों की शुद्धि से मन को निर्मल बना कर मनुष्य को परम पद तक पहुँचा देने वाले मानसिक तप के अङ्ग हैं।

उपर्युक्त तीनों तप यदि फलाशा छोड़ कर, सात्विक बुद्धि से शुद्धान्तःकरण द्वारा किए जावें तो वह सात्विक तप होगा। पैसे हाथ आ जायें और लोगों में प्रतिष्ठा बढ़े इस इच्छा से दिखावे के लिए किया गया तप राजस तप कहा जाता है। और दुर्बुद्धि या हठ से, शरीर को कष्ट देकर अथवा मारण-मोहन आदि आभिचारिक क्रियाओं द्वारा किया गया तप तामस तप न होगा तो और क्या होगा?

(२) दान:—यही बात दान की भी है। सचाई से कमाया हुआ धन यदि देश-काल और पात्र का विचार करके दिया जावे तो वह सात्विक दान होगा किसी स्वार्थ को मन में रख कर तथा मन में क्लेश मान कर दिया गया दान राजस दान है। और देश-काल-पात्र का विचार न करते हुए तिरस्कारपूर्वक दिया गया दान तामस दान कहा जाता है।

अष्टादश अध्याय

अष्टादश अध्याय गीता का उपसंहार है। इसे गीता-रत्न-मन्दिर का कलश अथवा संपूर्ण गीता शास्त्र में आरम्भ से अन्त तक कहे गए तात्पर्य को प्रकट करने वाली—"एकाध्यायी गीता"—ही समझना चाहिए।

इस अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन की कर्म विषयक एक ऐसी शंका से है, जिसके उत्तर में सारे गीतोपदेश का निचोड़ निहित है। सप्तदश अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा "ॐ तत्सत्" या ब्रह्मनाम का सहारा लिए बिना किए गए कर्मों से मोक्ष तो दूर रहा प्रत्युत यदि उनमें कोई न्यूनता या खोट रह जाय तो उल्टे अधोगति प्राप्त होती है। कर्मों को निर्दोष बनाना हो तो रज-तम से निर्मुक्त पूर्ण सात्त्विकी श्रद्धा चाहिए। अज्ञान को दूर भगाकर हृदय में निर्मल ज्ञान का प्रकाश चाहिए। इससे मनुष्य को पात्रता प्राप्त होगी और तब कहीं जाकर कर्मों के द्वारा चिन्मय परब्रह्म परमात्मा से उसकी पहिचान होगी। भला, अज्ञान से बंधे जीव के लिए यह सब कैसे संभव है? भावार्थ यह, कि कर्मों के मार्ग में अनेक बाधाएं ‡ हैं और इनके भरोसे मोक्ष की ओर अग्रसर होना शस्त्र को आलिंगन करना, रस्सी पर दौड़ना या नागिन को खिलाने के समान खतरे से खाली नहीं है। तब, क्यों न कर्माचरण का बन्धन तोड़कर—कर्मों का स्वरूपतः त्याग करके—संन्यास मार्ग का आश्रय ले लिया जाये? इस मार्ग में कर्म बाधा का कहीं नाम भी सुनाई नहीं देता और केवल योग से ही आत्मज्ञान हाथ आ जाता है? अपनी इसी शंका का समाधान प्राप्त करने के लिए अर्जुन ने श्री भगवान् से "ज्ञान को खींच लाने वाली डोरी के दो तन्तुओं के समान जो "सन्यास" और 'त्याग' है उनका स्वरूप पृथक् पृथक् स्पष्टतया समझाने की प्रार्थना की।

वैसे तो त्याग और सन्यास इन दोनों शब्दों से त्याग ही सूचित होता है। किन्तु लोक में कर्मों को सर्वथा स्वरूपतः छोड़ देना 'सन्यास' कहा जाता है और कर्म करते हुए केवल फल को छोड़ देने का नाम 'त्याग' है। इस दिशा में विद्वानों के भिन्न भिन्न मतों का उल्लेख करने के उपरान्त श्री भगवान् ने

‡ कर्तृत्वाभिमान और फलाकांक्षा ये दो कर्म मार्ग की प्रधान बाधाएं हैं। कर्म को दूषित करने वाली ये बाधाएं मनुष्य को कर्म-बन्ध में फांस कर जन्म-मरण के फेरे में डाल देती हैं।

पहले 'त्याग' के विषय में अपना निश्चय बताया, 'हे अर्जुन, शास्त्रविहित नित्य नैमित्तिक शुभ कर्मों का परित्याग मनुष्य को किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। पुण्य तीर्थों के समान मनुष्य को पावन बना देने की क्षमता इन यज्ञ-दान-तप आदि विहित कर्मों में है। कर्तापन का अभिमान और फलाकांक्षा को छोड़कर यदि यथाविधि धर्मानुसार नियत कर्म किए जाएं तो वे कर्म ही कर्मों को कर्मबन्ध से मुक्ति दिला देंगे। यदि कोई मोह या अज्ञानवश शास्त्रों में मनुष्य के लिए बताए गए नियत कर्मों का त्याग करे तो वह त्याग तामस त्याग कहा जाएगा। कर्म को दुःखरूप मानकर शरीर-कष्ट के भय से कर्म का त्याग कर देना राजस त्याग है। और सच्चा सात्त्विक त्याग वह है जिसमें कर्तृत्वाभिमान और फलाकांक्षा की गन्ध भी नहीं रहती। यही त्याग मनुष्य को आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायता देता है। इससे अन्तःकरण के सारे मल धुल जाते हैं और आत्मज्ञान के प्रकाश द्वारा नेत्रों के सामने विद्यमान 'मैं-तू-मेरा' रूपी मिथ्याभास समाप्त हो जाता है। तब शुभाशुभ कर्मों का भेद नष्ट होकर कर्म के बीच का द्वैतभाव भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार यदि छोड़ें तो ही कर्म छूटते हैं अन्यथा बांधते हैं। शरीर के रहते कर्मों से सर्वथा छुट्टी पा जाने की आशा रखना निरा पागलपन है। घड़ा क्या मिट्टी को छोड़ सकता है। जल यदि अपना जलत्व छोड़ दे तो उसका क्या बचेगा? मनुष्य को यह देह पूर्वजन्मों के कर्मफलों को भोगने के लिए ही मिली है। अतः कर्मों का सर्वथा त्याग नितान्त असम्भव है। कर्मों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है फलाकांक्षा का त्याग करना।

यहां तक 'त्याग' का स्वरूप समझाकर आगे श्री भगवान 'सन्यास' के विषय में अपना निर्णय देते हैं। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार कर्म के कारण पांच हैं (१) देह (२) अपने स्वरूप को भूला हुआ 'जीव' (३) बुद्धि में ज्ञान का विकास करने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियां (४) प्राणवायु और (५) दैव। मन, वाणी और शरीर द्वारा शास्त्रानुकूल अच्छे या बुरे जो भी कर्म होते हैं, उनके मूल में बस, यही पांच कारण हैं। और जिसकी सत्ता से ये कर्म उत्पन्न होते हैं वह आत्मा सर्वथा निर्लिप्त शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है। अज्ञानी जन इस रहस्य से परिचित न होने के कारण आत्मा को ही कर्मों का कर्ता समझते हैं। किन्तु, गुरुकृपा से जिनकी आंखों के सामने से मिथ्याभास या द्वैत का पर्दा हट गया है उन आत्मस्वरूप मुक्त पुरुषों के लिए कर्ता बनकर कर्म से लिप्त होने का अवसर ही कहां है? यद्यपि जब तक देह रहती है तब तक कर्म होते ही रहते हैं। देहाभिमान नष्ट होने पर भी जिस स्वभाव (प्रारब्ध) के कारण यह देह उत्पन्न हुआ है वही प्रारब्ध उससे अपने आप कर्म करवाता है। तथापि आत्मज्ञानी पुरुष का उन कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध न रहने के कारण वे कर्म भुने हुए बीज की भांति भविष्य-जन्म

के लिए कर्मफल उत्पन्न करने में असमर्थ रहते है और उसे कर्मबन्ध से छुटकारा मिल जाता है। कर्म की ओर प्रवृत्त करने वाले तीन कारण हैं:—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। इसी प्रकार कर्म-संग्रह भी तीन हैं।—(१) कर्त्ता (२) करण (साधन) और (३) कर्म। आत्मा इन इस सब व्यवहारों से निर्लिप्त है। सांख्यशास्त्र के अनुसार ज्ञान-कर्म और कर्त्ता के गुणों के भेद से सात्विक-राजस और तामस ये तीन भेद हो जाते है। इनमें सात्विक ज्ञान वह है जिसमें ज्ञान के साथ ज्ञाता और ज्ञेय भी एकरूप हो जाते है। सात्विक ज्ञान के उदित होते ही शिव से लेकर तृण पर्यन्त समस्त चराचर में भेदभाव मिट जाता है। जो ज्ञान भेद या द्वैत के सहारे चलता है उसे राजस ज्ञान समझना चाहिए। राजस ज्ञान में भिन्न भिन्न भूत दिखाई देते हैं और ऐक्य की भावना लुप्त हो जाती है। तामस ज्ञान में आत्मा का कहीं पता भी नहीं चलता। विषयों के पीछे चलने वाला वह तामस ज्ञान जो कुछ देखता है उसे ही लेना चाहता है और लेकर उसे भी उदर और वासनाओं को बांट देता है।

इन तीन प्रकार के ज्ञानों से तीन प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं। शुद्ध बुद्धि, और सन्तोष से किया गया कर्म ब्रह्मार्पण होने के कारण—सात्विक कर्म है। फल की इच्छा रखकर अहंकारपूर्वक किया गया कर्म राजस है और परिणाम, हानि तथा दूसरों पर इसका क्या असर पड़ेगा आदि बातों का विचार बिना किए मोह द्वारा किया गया कर्म तामस कर्म है।

इन तीनों कर्मों के कर्ता भी तीन प्रकार के हैं। फलाकांक्षा और कर्तृत्वाभिमान छोड़कर सफलता असफलता का विचार न करते हुए धैर्य और उत्साहपूर्वक कर्मों को करने वाला व्यक्ति सात्विक कर्त्ता है। विषयासक्त कर्मफल के लिए लोभी, दूसरों को कष्ट पहुंचाने वाला, कर्त्ता राजस कर्ता है और तामस कर्त्ता उसे कहते हैं जो मन और इन्द्रियों का दास है, गंवार, धूर्त और घमण्डी है दूसरों के घात में लगा रहता है और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद के वशीभूत है।

इसीप्रकार बुद्धि धृति और सुख भी गुणों के भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं—सात्विक, राजस और तामस। संक्षेप में भावार्थ यह कि स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि में केवल कर्ता, कर्म, और फल इन तीनों की त्रिपुटी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ऊन के बिना कम्बल, मिट्टी के बिना ढेला, और जल के बिना तरङ्ग कैसे रह सकते हैं? गुणों के बिना सृष्टि का कोई भी व्यापार नहीं चल सकता। इन गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के पृथक् पृथक् कर्म नियत किए गए। इन गुणों ने ही प्राणियों के स्वभावानुसार इन्हें चार वर्णों में बांट दिया। शास्त्रों में इन चारों वर्णों के कर्म अलग अलग बताए गए हैं।

यद्यपि गुण कर्म स्वभावानुसार चारों वर्णों के लिए नियत किए गए ये वर्णाश्रम धर्म भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि इनका अन्तिम लक्ष्य है आत्मज्ञान ही। अतः स्वधर्म का आचरण करना चाहिए और निषिद्ध कर्मों से दूर रहना चाहिए। जो सर्वात्मना मेरे होकर विहित कर्मों का आचरण करते हैं उन्हें मैं सर्वोत्तम वैराग्य-सिद्धि का प्रसाद देता हूं। इसी वैराग्य से मोक्ष प्राप्त होता है। स्वधर्म चाहे आचरण में कठिन हो तो भी उसे कदापि नहीं छोड़ना चाहिए। स्वधर्म से विमुख होने पर यह नर देह व्यर्थ के पापकर्मों से घिर जायगी।

स्वकर्म करते रहने से भगवान द्वारा स्वकर्माचरण रूपी महापूजा से सन्तुष्ट हो मनुष्य की इन्द्रिय-जन्य वासनाओं को सत्व के प्रकृष्ट मार्ग में लगा देते हैं। तब संसार और स्वर्ग दोनों कालकूट विष की भांति त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं।

ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने पर ही मनुष्य की वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं। देहादि प्रपञ्च में रहते हुए भी उसे इनसे आसक्ति या मोह नहीं रहता। वह इस जन्म में प्रारब्ध के कर्मों का भोग लेकर उन्हें इसी जन्म में नष्ट कर देता है और आगे के लिए कर्म फलोपभोग या जन्म मरण की गठरी नहीं बांधता। वह जितात्मा, निरिच्छ पुरुष अज्ञान के पेट में छिपी कर्म-कर्ता और कार्यरूपी त्रिपुटी का मूलतः नाश कर देता है। इस प्रकार के स्वकर्माचरण द्वारा प्राप्त सन्यास से मनुष्य नैष्कर्म्य सिद्धि तक पहुंचता है।

यह नैष्कर्म्य सिद्धि ज्ञान की चरम सीमा है। इसे प्राप्त कर लेने पर ही ज्ञानयोग का उपासक ब्रह्म तक पहुंचता है। नैष्कर्म्यसिद्धि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का क्रम यह है कि ज्ञानयोगी प्रथम गुरु प्रदर्शित मार्ग से चलकर विवेक द्वारा बुद्धि के सारे मल धो डालता है, फिर सात्विक धैर्य से इन्द्रियों का नियमन कर मन सहित उन्हें योगमार्ग की ओर लगा देता है। अनुकूल या प्रतिकूल विषयों का राग-द्वेष छोड़-कर एकाकी मिताहार से "मैं ब्रह्म हूं" ऐसा अपरोक्षानुभव प्राप्त करने के लिए ध्यानयोग की साधना करता है।

साधना के मार्ग में बाधक देहाहंकार, बल, दर्प, मद, काम और परिग्रह (भोग सामग्री) पर विजय प्राप्त कर वह मुमुक्षु अमानित्वादि दैवी सम्पत्ति के गुणों से विभूषित होता है। ऐसी अलण्ड अद्वैत स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। ज्ञान की परम सीमा—शान्ति—को प्राप्त कर वह ब्राह्मी स्थिति के पास पहुंच जाता है।

तदनन्तर उसे जिस अद्वैतानुभव का बोध होता है वही मेरी श्रेष्ठ भक्ति है। इस ज्ञान भक्ति को ही मेरी सहज-स्थिति समझो। ज्ञानी भक्त शरीर से भिन्न होकर भी मद्रूप होकर रहता है। मैं जो कुछ हूं

वही सम्पूर्ण वह भक्त बन गया तो, भला बताओ, वह जायेगा कहां और आयेगा कहां ? उसकी यह जो अवस्था है यही मुझ अद्वय की यात्रा है। उसके मुख से जो शब्द निकलते हैं, वही मेरी स्तुति है, वह जो देखता है, वही मेरा दर्शन है और वह जो कुछ करता है, हे अर्जुन, वही मेरी पूजा है। कनक और कंकण जैसे अभिन्न हैं वैसे ही वह इस भक्ति द्वारा मद्रूप हो जाता है।

इस पराभक्ति या भक्ति प्रधान कर्मयोग से युक्त पुरुष से यदि कभी निषिद्ध कर्म हो भी जावें तो भी वे मुझ में समा जाते है। वे उसे बांध नहीं सकते। अज्ञान सहित सब कर्मों का त्याग उसे आत्मज्ञान के परमोच्च पद पर पहुंचा देता है। हे भाई अर्जुन, तू अपना चित्त मेरी अनन्य भक्ति में टिका दे। इससे तू जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जायेगा।

किन्तु यदि तू मेरी बात न मानकर देहाभिमान के फेर में पड़ेगा—"युद्ध में स्वजनों को मारना महापाप है" ऐसा समझेगा—तो निश्चय ही विनाश के महागर्त में जा पड़ेगा। नित्य एवं अव्यय होकर भी तेरा जन्म मरण का चक्कर समाप्त नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि लड़ना या न लड़ना यह तेरे हाथ की बात नहीं है। तेरी क्षात्र प्रकृति ही तुझे युद्ध में जा धकेलेगी। इस संसार में प्रारब्ध कर्मों के फल स्वरूप न जाने कितनी अनिच्छित वस्तुओं के भोग हमें भोगने पड़ते हैं। अतः यह अदृष्ट या प्रारब्ध जिस भगवान् के हाथ है उसी की शरण जाने में ही कल्याण है। चराचर का नियन्ता वह ईश्वर सब की तरह तेरे हृदय में भी है। किन्तु माया का पर्दा उसके दर्शन में बाधक है। जीव के चित्त से अहंकार रूपी माया का पर्दा हट जाने पर वही जीव ईश्वर रूप हो जाता है। "अर्जुनपन" न रह कर केवल एक अपरिच्छिन्न शुद्ध स्वरूप ही बच रहता है। कर्म का कर्तृत्व प्रकृति पर छोड़ कर यदि मनुष्य हृदय में विराजमान उस सर्वान्तर्यामी की शरण चला जावे तो कर्मबन्ध से मुक्त होकर अक्षय शान्ति को प्राप्त करता है।

"हे अर्जुन, तुम मेरे अतिशय प्रिय थे इसी कारण यह गुह्यज्ञान तुम्हें सुना दिया। यह ज्ञान बोलने सुनने से परतीर का लक्ष्य है। फिर एक बार ध्यान से सुन लो।

"इन्द्रियों से जो जो भी व्यापार होते चलें उन्हें मेरी ओर लगा दो और अपने को सेवक समझ सम्पूर्ण जग को ही मेरा रूप समझ लो इससे तुम्हारा देहाभिमान अपने आप समाप्त होकर तुम मद्रूप हो जाओगे। मुझमें मिल जाने के बाद पाप-पुण्य का भेद समाप्त हो जायगा। अज्ञान का नाम मिट जायेगा तुम अनन्यभाव से एक मेरी शरण में आ जाओ। तब जैसे नींद से जागने पर स्वप्न का कहीं पता भी नहीं चलता वैसे ही यह धर्माधर्म का बखेड़ा अपने आप मिट जायगा। अपने को भी अलग न रखकर

मुझ में एक हो जाने का नाम ही मेरी शरण में आना है। सुवर्ण मणि जैसे सोने की, लहरें जैसे समुद्र की, वैसे ही तुम मेरी शरण लो। देखो, "मेरी शरण आकर भी जीव दशा नहीं छूटी" ऐसा जो कहता है उसे धिक्कार है। मैं तो साक्षात् विश्वेश्वर हूं। मेरे मिलने पर भी जीव-ग्रन्थि न छूटे यह कैसे हो सकता है ? ऐसा निपट झूठ कान में भी न पड़ने दो। पाप पुण्यात्मक कर्मों का मूल अज्ञान है। किन्तु मेरे स्वरूप ज्ञान से अज्ञान दूर होकर पाप-पुण्यों का भेद नष्ट हो जाता है। अतः अभिन्न होकर तू मेरी शरण आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा।

इस प्रकार जो ऐक्यबोध वाणी से प्रकट न हो पाता था उसे सत्यानुभव द्वारा बड़े प्रेम से श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया। यह गीतोपदेश न था वरन साक्षात भगवती श्रुति ही श्रीकृष्ण के मुख से निकली। वेदों में अधिकार केवल तीन वर्णों का है। स्त्री शूद्रों का नहीं। गीता उसी कमी की पूर्ति है। इसके द्वारा मोक्ष का भण्डार प्राणिमात्र के लिए खुल गया। फिर सब रूपों के रूप, सब तेजों की ज्योति, सब देशों के निवास श्रीकृष्ण ने पूछा "अर्जुन तुमने मेरे इस उपदेश को ध्यान से तो सुना ? तेरा अज्ञान—तेरा मोह—दूर तो हो गया ?"

अर्जुन बोला "देव, आपने अपने उपदेश से मुझे कृतकृत्य कर दिया। मोह जाता रहा। अब पूछना कुछ नहीं, बतलाना भी कुछ नहीं। आपसे मैंने अपने आपको पाया, इसीमें सारा कर्तव्य समाप्त हो गया। अब आपकी आज्ञा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

यह कृष्णार्जुन संवाद महामुनि व्यास की कृपा से सुनकर संजय को अष्ट सात्विक भावों ने आ घेरा। उसके आनन्द की सीमा न रही। पुत्र मोह से अन्धे धृतराष्ट्र पर इस अमृतोपदेश श्रवण का कुछ भी असर न पड़ा देख संजय ने प्रकारान्तर से पाण्डवों की विजय की सूचना दी।

"राजन्, जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहां धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं विजय है, वहीं ऐश्वर्य है। यह मेरा निश्चित मत है। श्रीकृष्ण विजय स्वरूप हैं और अर्जुन का नाम भी विजय है अतः ये दोनों जिस पक्ष में होंगे, उसकी विजय में सन्देह कैसा ? लक्ष्मीकान्त जिस पक्ष में खड़े हैं, वहीं सब सिद्धियां अपने आप लगी हैं। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं जानता।

इति गीता ज्ञानेश्वरी संक्षिप्त सार।

श्रीज्ञानेश्वर की ग्रन्थसम्पत्तिः—



ज्ञानेश्वरी के अतिरिक्त श्री ज्ञानेश्वर की अन्य उपलब्ध कृतियों के नाम हैं—(१) अमृतानुभव (२) चाङ्गदेव पासष्ठी (३) हरिपाठ तथा (४) स्फुट अभङ्ग।

इनमें "अमृतानुभव" उच्चकोटि की अध्यात्म-विषयक स्वतन्त्र रचना है। 'ज्ञानेश्वरी' गीता की टीका है। इसमें अवतरित तत्त्वज्ञान मूल ग्रन्थ के अनुरोध से एक सीमा के अन्दर मर्यादित है। अतः गुरु श्री निवृत्तिनाथ की आज्ञा से अपने अद्वैत सिद्धान्तों को काव्य की रसमयी मनोहारिणी भाषा में अधिक स्पष्टरूप में एकत्र संकलित करने के उद्देश्य से श्रीज्ञानेश्वर ने इस मौलिक ग्रन्थ की रचना की। इसके दश प्रकरण हैं और लगभग ८०६ ओवियाँ।

"इस ग्रन्थ के जोड़ का अध्यात्म ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में भी शायद ही कोई हो! तत्त्वज्ञान की अत्युच्च भूमिका का यह ग्रन्थ है। यह स्वयं सिद्धानुवाद है—"अनुभव का अमृत!" यहाँ वाणी बेचारी क्या बोलेगी? पूर्णबोध का लक्षण दिखाने वाली यह सिद्ध वाणी है। ज्ञानेश्वरी के समान ही यह ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सुबोध तथा काव्य के रमणीय उपकरणों से अलंकृत है।"*

एक उदाहरण देखिए। शिवशक्ति समावेशन नामक प्रथम प्रकरण में प्रकृति पुरुष ऐक्य-प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"स्त्री-पुरुष-नाम-भेद से शिवतत्त्व अकेला ही विलास करता है। सारा जगत् उसका आधा आधा है। दो कानों की जैसे एक ही श्रुति, दो फूलों की जैसे एक ही गन्ध, दो दीपों की जैसे एक ही ज्योति, दो ओठों की जैसे एक ही बात और दो निगाहों की जैसे एक ही दृष्टि होती है वैसे ही भगवती-भगवान् दोनों की सृष्टि एकत्व की सृष्टि है।"

मराठी भाषा में इसके कई अच्छे सुसंपादित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। श्री प्रह्लाद बोवा ने संस्कृत-पद्यों में तथा शिवकल्याण नामक सत्पुरुष ने मराठी पद्यों में इसकी ओवीबद्ध टीका की है। जत स्टेट के विद्वान् न्यायाधीश, संस्कृत में 'गीर्वाणज्ञानेश्वरी' के रचयिता श्री अनन्त विष्णु खासनीस ने इसका अंगरेजी भाषा में सुन्दर अनुवाद किया है।

"चाङ्गदेव-पासष्ठी" अलौकिक योग सामर्थ्य द्वारा काल वञ्चना करके १४०० वर्षों तक जीने

* श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पंगारकर B.A. (ज्ञा. च. पृष्ठ १९२)

वाले चमत्कारी योगी चांगदेव के नाम श्री गुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञा से लिखा गया. अध्यात्म-तत्त्व ज्ञान से पूर्ण श्री ज्ञानेश्वर महाराज का पैंसठ ओवियों वाला प्रसिद्ध पत्र है ।

"हरिपाठ" तथा स्फुट अभङ्गों में विट्ठल विषयक सगुण प्रीति का वर्णन है । इनमें नामस्मरण को विशेष महत्व दिया गया है—"चारों वेद छहों शास्त्र, अठारहों पुराण हरि के ही गीत गाते हैं (२-१) "दिन रात प्रपञ्च के लिए इतने कष्ट सहते हो । भगवान् को क्यों नहीं भजते ?" (४-३) भाव मत छोड़, सन्देह छोड़ दे; गला फाड़ फाड़ कर राम कृष्ण को पुकार" (२४-२) हरिपाठ तथा अभङ्गों में बताया गया है कि "राम-कृष्ण-हरि" या अन्य किसी भगवन्नाम का सतत उच्चारण ही भगवत्प्राप्ति का सरल साधन है ।

ज्ञानेश्वरी की एक विशेषता:—

गीता पर अब तक जितने भाष्य या टीकाएं लिखी गईं, वे सब प्रायः विचारप्रधान हैं । प्राचीन टीकाकारों ने तर्क एवं शास्त्रप्रमाण के सहारे अत्यन्त गंभीर विवेचनापूर्वक अभ्यास खण्डन तथा स्वाभिलषित सिद्धान्तों की स्थापना में ही अपनी सारी शक्ति लगा दी । किन्तु, विषय प्रतिपादन की दिशा में श्री ज्ञानेश्वर का अपना निजी तरीका है । ज्ञानेश्वरी में घिसे-पिटे न्याय, प्रमाण, तर्क प्रतिपद व्याख्या तथा खण्डन-मण्डन की खटपट या वाग्विलास नहीं है । पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को न छोड़ते हुए श्री ज्ञानेश्वर ने गीता पर जो कहा वह स्वानुभूति की दृढ़ भित्ति पर आधारित है । 'अनुभव के सहारे जीवन में उतरा सत्य अधिक शक्तिशाली होता है ।' श्री ज्ञानेश्वर के मत से गीता कोई पाण्डित्य प्रदर्शन की वस्तु नहीं । यह तो जीवन में उतारने की चीज है । और—

शब्द बिना संवाद यह, इन्द्रिय बिनु सुख भोग ।
प्रथम प्रमेय* विचारियत, तदनु शब्द उपयोग ॥ (गीता ज्ञानेश्वरी अ० १-५८)

"गीतामृतपान का प्रकार कुछ अनोखा है । इस दिव्य कृष्णार्जुन-संवाद का श्रवण बिना शब्दों की सहायता के (मन ही मन) करना चाहिए; बिना इन्द्रियों को खबर दिए ही इस अमृतरस का उपभोग करना चाहिए और शब्द के मुख से निकलने से पूर्व ही इस परमतत्त्व को अन्तःकरण में प्रविष्ट कर लेना चाहिए । इस अतीन्द्रिय रहस्य को हृदयंगम करने का सच्चा तरीका कोई भ्रमर से सीखे ! कमल को पता भी नहीं चलता और भौंरा पुष्प-रस लेकर चल जाता है । वैसे ही व्यर्थ की बकवास में न पड़ इस

* प्रतिपाद्य विषय ।

ग्रन्थ का श्रवण-मनन तथा प्रवचन इन्द्रिय-चपलता-शून्य निर्मल शान्त चित्त से करना चाहिए। (गी. ज्ञा. अ० १ ४८,४६)।

भावार्थ यह कि गीता का अर्थ तत्त्वतः समझने के लिए केवल बहिरङ्ग परीक्षा, ऐतिहासिक तथ्या-तथ्य निर्णय, दार्शनिक समन्वयवाद आदि पर अटकी आलोचक बुद्धि से ही काम न चलेगा। इसके लिए आवश्यक है शुद्धान्तःकरण एवं अनन्य अवधान, ताकि यह परम सत्य हृदय पटल पर अंकित किया जा सके, आचरण में उतारा जा सके। श्री ज्ञानेश्वर ने संसार के दुःखों से प्रताड़ित मानवता को ज्ञानेश्वरी में अवतरित भक्ति, प्रेम, दर्शन द्वारा शान्ति का अमर सन्देश दिया। वेदों एवं उपनिषदों का जो अध्यात्म तत्त्व गीता में भरा है, उसे आचरण में कैसे उतारा जावे, यह बात ज्ञानेश्वरी में बताई गई है। ग्रन्थ के अन्त में श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं कि गीता का उद्देश्य आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी वर्णों को बिना किसी भेदभाव के समान अधिकार देना है। "गीता के रूप में श्रीकृष्ण ने मूर्तिमान् वेद ही रचा है।" वैसे तो वेद बहुत सम्पन्न हैं, किन्तु इनके समान कोई दूसरा कृपण भी नहीं है। क्योंकि इन्हें त्रैवर्णिक—ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य—ही सुन सकते हैं। अन्य—स्त्री-शूद्र आदि—इनसे वञ्चित ही रहते हैं। अपनी इसी कमी को पूरा करने के लिए वेद ही गीतारूप से पुनः प्रकट हुए हैं।" (गी. ज्ञा. अ० १८-१४५५, ५६) श्री ज्ञानेश्वर का उदार दृष्टिकोण जन साधारण के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। फलतः गीता का तत्त्वज्ञान मुट्ठीभर संस्कृत के नैष्ठिक आचार-परायण विद्वानों तक ही सीमित न रहकर जन जन के लिए सुलभ हो गया।

श्री ज्ञानेश्वर के बाद महाराष्ट्र में जिस सन्त-परम्परा का उदय हुआ, उसमें—लूटपाट करने वाला दर्जी नामदेव, घर का पिसान, कूटना और महरी का काम करने वाली जनाबाई, मिट्टी के बर्तन बनाने वाला गोरा कुम्हार, प्याज-लहसुन-कन्द-मिरची लगाने वाला सांवता माली, मकान बनाने वाला मिस्त्री या मरे ढोर खींचने वाला चोखा मेला, नरहरि सुनार आदि हैं।‡ इन हरि-भक्तिपरायण सन्तों के नाम से ही इनकी "हीनकी जाति" स्पष्ट है।

इन सौभाग्यशाली सन्तों को सगुण साक्षात्कार या भगवत्कृपा का साक्षात् अनुभव प्राप्त हुआ था और साधनामार्ग में इन सब का प्रेरणास्रोत यही ग्रन्थ—ज्ञानेश्वरी—था। उत्तर भारत में जो स्थान तुलसीकृत रामायण का है, महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी को भी वही स्थान प्राप्त है। सारांश यह कि श्री ज्ञानेश्वर

‡ मराठी और उसका साहित्य (प्रभाकर माचवे)

से आत्मानुभव और विलक्षण प्रतिभा द्वारा ज्ञानेश्वरी में जिस रसानुराग में पगे आत्मतत्त्व को प्रकट किया उसकी छाप शिक्षित प्रबुद्धवर्ग के लोगों के साथ-साथ शांति की इच्छुक दीन-हीन साधारण जनता पर भी गहरी पड़ी। ज्ञानेश्वरी की इस लोकप्रियता में कुछ कारण हैं।—

भाषा एवं कवित्व

सबसे बड़ा कारण है—इसका जनता की भाषा—मराठी—में लिखा जाना। ज्ञानेश्वरी की चमत्कार-पूर्ण भाषा—सालङ्कार शब्दयोजना—में पाठकों के हृदयों में भी उन्हीं विचारों एवं भावनाओं की तरंगावलि उत्पन्न करने की विलक्षण सामर्थ्य है, जिसके वशवर्ती होकर श्रीज्ञानेश्वर की वाणी लोकहितार्थ प्रस्फुटित हुई थी। ज्ञानेश्वरी का शब्द सौष्ठव भारतीय साधना साहित्य में बेजोड़ है। ग्रन्थ में अपनी मातृभाषा 'देशी मराठी' मराठी के प्रति अनेक साभिमान प्रेमपूर्ण उद्गार हैं:—

कौतुक प्राकृत* कथन मम, परिप्रण अमृत जीत।
ऐसे अक्षर मधुरधर, मिश्रण कियो अजीत॥ (गी. ज्ञा. ६ १४)

"मेरे ये शब्द मराठी में हैं सही, किन्तु ये सहज ही अमृत को भी प्रतिज्ञापूर्वक जीतेंगे। ऐसे रस भरित शब्दों की योजना मैं करूंगा" (६-१४) "मूल संस्कृत श्लोक और उसपर मेरी ओवियों में ध्यान से देखो तो कोई अन्तर नहीं" "मराठी भाषा और संस्कृत समान योग्यता के कारण यहां एक ही सुखासन पर आसीन हैं।" (१०-४२-४५)

श्री ज्ञानेश्वर का कवित्व भी उतना ही उच्चकोटि का था जितना कि उनका आध्यात्मिक व्यक्तित्व। ज्ञानेश्वरी में रसता के कवि और तत्त्वज्ञ का अद्भुत संगम मिलता है। ज्ञानेश्वरी एक प्रवचन ही तो है। और इसमें यह पता नहीं चलता कि तत्त्वज्ञ कहां बोलता है और कहां कवि। "तत्त्वज्ञान और काव्य का ऐसा अपूर्व संयोग संसार के सम्पूर्ण-साहित्य में ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं बन पड़ा।‡ ज्ञानेश्वरी की काव्यमयी विवेचन-प्रणाली ने ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय को दुर्बोध, तर्क-कर्कश एवं रूखा होने से बचा लिया है। काव्य का प्रयोजन है निरतिशय आनन्द प्राप्ति और यह ज्ञानेश्वरी में पूरा उतरा है। ज्ञानेश्वरी क्या है? यह तो श्री ज्ञानदेव द्वारा भवसागर में सन्तप्त मानवता को सुखी करने के लिए देशी "भाषा की थाली में ब्रह्मरस परोसा गया है निष्काम लोगों के लिए कलेवा तैयार किया गया है।" (६-२६) ज्ञानेश्वरी का काव्यशैली शान्तरस प्रधान है। ग्रन्थ में इसकी बड़ी महिमा गाई गई है।

* मराठी भाषा में। (पृ० ६६)   ‡ श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर (ज्ञा० च० पृ० २६७)

"यह शुद्ध शान्तरस की कथा है।" श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं, "साहित्य में रसराज नाम से विख्यात शृङ्गार के मस्तक पर पैर रखने वाला शान्तरस, मैं यहां प्रकट करूंगा। शान्त रस से ओत-प्रोत मेरी ये ओवियां अमृत को शीतल करने वाले चन्द्रमा से भी स्पर्धा करेंगी और सर्वत्र रस-रङ्ग छा जायेगा। इन्हें पढ़कर तामस वृत्ति वाले पिशाचों के हृदय में भी सात्त्विक प्रेम जागेगा। आइए, हम ऐसा वाग्विलास प्रारम्भ करें, जो संसार को आनन्द से घेर ले, विवेक का दारिद्र्य दूर हो जाय और ब्रह्मविद्या का भंडार सबके लिए खोल दिया जाय।" "मैं यहां उपमा श्लेष आदि अलंकारों की भीड़ लगा दूंगा ताकि प्रत्येक पद से ग्रन्थार्थ प्रकट हो।" (१३,—११४६-६६)

नाथ सम्प्रदाय एवं योगः—

ज्ञानेश्वरी के अन्त में श्री ज्ञानेश्वर ने अपनी गुरुपरम्परा का परिचय—आदिनाथ—मत्स्येन्द्रनाथ—गोरखनाथ—गैनीनाथ—निवृत्तिनाथ—ज्ञानेश्वर इस क्रम से देते हुए कहा है कि "गुरु श्री निवृत्तिनाथ ने गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त समाधिधन—नाथ सम्प्रदाय का सार—ही गीतोपदेश के मिस मुझसे कहलाया।" अतः ज्ञानेश्वरी में गीता के प्रतिपाद्य विषय—क्या योग, क्या ज्ञान और क्या भक्ति—सबके निरूपण में नाथपंथी सिद्धान्तों की स्पष्ट छाप है।

नाथपंथ एक विशुद्ध 'योगि-सम्प्रदाय' है, जिसका उद्देश्य है योग साधना द्वारा चित्त की बहिर्मुखता को अन्तर्मुखी बनाना। इससे साधक कैवल्य समाधि वाली सहजावस्था या परात्पर स्थिति तक पहुंचता है। यही मोक्ष है। योगी इस दृश्य जगत में ही उस अदृश्य परमतत्त्व का स्पर्श प्राप्त करने की चेष्टा करता है और इसे प्राप्त कर लेने के बाद उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जो आनन्द की चरम सीमा है। योग दो प्रकार का है हठयोग एवं राजयोग। दोनों में ही प्राण साधना मुख्य है। मूल वायु की दो वृत्तियां हैं—प्राण और मन। दोनों में से एक को भी वश में कर लेने से दूसरी स्वतः वश में आ जाती है। हठयोग में हठपूर्वक अर्थात् जबर्दस्ती विविध क्रियाओं द्वारा मनोलय किया जाता है जबकि राजयोग में परमात्मा के चरण कमलों का ध्यान धारणा जप-तप आदि द्वारा मनोलय की स्वतः प्राप्ति होती है। ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय में आत्मसाधन के इन दोनों व्यावहारिक मार्गों का सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित किया गया है। प्राण साधना एवं मनोलय के इस योगमार्ग को ज्ञानेश्वरी में पंथराज—कहा गया है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्री ज्ञानेश्वर-प्रतिपादित योग निरा "भावावेग—विनिर्मुक्त

शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानमार्ग" ही नहीं है। श्री गोरखनाथ निर्दिष्ट योग-साधना में कायाशोधन और नाद-बिन्दु के संयम के बिना आत्मतत्त्व हाथ नहीं आता। साधना के लिए हुए इस मानुषस शरीर की अपवित्रता "मन को गुरुमुख और काया को अग्निमुख" करने से ही दूर की जा सकती है। इस कारण इसमें न तो सब का अधिकार है और न ही भक्तिभाव के लिए कोई स्थान। किन्तु श्री ज्ञानेश्वर का योग "भक्ति युक्त योगमार्ग" है। इस पर चलते हुए साधक का ध्येय आत्मज्ञ लोकसेवा, स्वधर्म-स्वकर्म पालन, एवं निरभिमान—निरपेक्ष बुद्धि द्वारा कर्तव्यनिष्ठ जीवन यापन करना रहता है। श्री निवृत्तिनाथ के एक अभंग से पता चलता है कि "श्री ज्ञानेश्वर के पूर्व पुरुष त्र्यम्बक पंत को कृष्णभक्ति का उपदेश स्वयं गोरखनाथ ने दिया था। और गहनीनाथ द्वारा निवृत्तिनाथ को जो योगदीक्षा दी गई थी वह भी कठोर "हठयोगाग्नितप्तयोगमुद्रा" न होकर शान्त एवं मधुर "प्रेम-मुद्रा" थी। इस प्रेम से वैराग्य से तप्त गहनीनाथ को परम शान्ति मिली। पृथ्वी पर निर्द्वन्द्व और निःशंक होकर विचरते हुए उनके हृदय में वह सुखानन्द स्थिर हो गया। निवृत्तिनाथ को वैराग्यशील तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के सामञ्जस्य का उत्तम पात्र समझकर गहनीनाथ ने उन्हें नाथ-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सम्यक् आनन्दता (आनन्द प्रेम) का उपदेश दिया। निवृत्तिनाथ ने वही भगवत्-स्व ज्ञानेश्वर, सोपान और मुक्ताबाई के हाथों देकर कहा—गुरु के दिए हुए इस कृष्णनाम से मेरा कुल पवित्र हो गया।"

इस प्रकार महाराष्ट्र का यह नाथपंथ एक प्रकार से भागवतधर्म ही है। ज्ञानेश्वरी में ज्ञान-कर्म और योग तीनों साधनों का समन्वय भक्ति द्वारा ही किया गया है। निर्मल प्रेमदान द्वारा—चाङ्गदेव जैसे समर्थ योगी को सच्चे-आत्मज्ञान का मन्त्र सिखाने वाले महा मान्त्रिक श्री ज्ञानेश्वर ही थे। नाथ पन्थ के अन्य उपादेय अंग—जैसे गुरुभक्ति, अद्वयानन्द वैभव, हरिहरैक्य आदि का समावेश ज्ञानेश्वरी में दृष्टान्त रूपकादि अलंकारों की सहायता से बड़ी ही चमत्कारपूर्ण शैली में किया गया है।

तत्त्वज्ञान:—

गीतोक्त तत्त्वज्ञान का विशदीकरण ज्ञानेश्वरी में किस प्रकार किया गया है?—इस प्रश्न का उत्तर श्री ज्ञानेश्वर ने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं दिया है। "गीतार्थ प्रतिपादन करते समय मैं व्यासदेव के चरण चिन्हों पर चलते हुए भाष्यकारों से रास्ता पूछ-पूछकर आगे बढ़ा हूँ।"

"चालत पीछे व्यास के, भाष्यकार पथ ठांव।
मैं अयोग्य पूछत चलौं, तो का उतहि न जांव?" (१८—१७२२)

भावार्थ यह कि श्री ज्ञानेश्वर ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विचारधारा से पूरा लाभ उठाया और एक पूर्ण समन्वयवादी मार्ग निश्चित किया। श्री ज्ञानेश्वर का शास्त्राध्ययन विशाल था। "ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्, गीता, गौडपादकारिका, योगवाशिष्ठ, शांकर मत, काश्मीरी शैव संप्रदाय और गुरुपरम्परा से प्राप्त नाथपन्थीय तत्त्वज्ञान इन सात समुद्रों का प्रवाह ज्ञानेश्वरी के अद्वैतरूपी महासागर में आकर मिला है।.........तथापि शंकराचार्य का अद्वैत ही ज्ञानदेव के तत्त्वज्ञान की पार्श्वभूमि है।"[1] श्री शंकराचार्य ने वेदों तथा उपनिषदों के आधार पर जिस अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की है, उसके अनुसार जगत् में दिक्काल से अमर्यादित, अनादि, पूर्ण केवल एक अद्वैत तत्त्वब्रह्म—ही सत्य है, जगत मायिक तथा स्वप्नवत् मिथ्या है एवं जीव और ब्रह्म का भेद काल्पनिक है।

संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य को मायावाद का सहारा लेना पड़ा। किन्तु श्री ज्ञानेश्वर-सम्मत अद्वैत में मायावाद के लिए उतना स्थान नहीं। इनके द्वैताद्वैत-विलक्षण तत्त्वज्ञान की व्याप्ति कुछ अधिक है। इन्होंने द्वैत और अद्वैत की खाई को पाटने के लिए ही संभवतः मायिक जगत और ब्रह्म के भेद को जल-तरङ्ग तथा स्वर्ण एवं अलङ्कार के भेद के समान बताया। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध कैसा है?—यह बात ज्ञानेश्वरी में बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाई गई है। "हमारा (माया और ब्रह्म का) सम्बन्ध ऐसा है जैसे कि घड़ा मिट्टी का बेटा समझा जाय; वस्त्र को कपास का नाती (पौत्र) कह दिया जाय या अनेक तरङ्ग-परम्परा जल की सन्तति समझी जावे।" (१४—१२०,२१) इसी कारण ज्ञानेश्वरी के अधिकारी विद्वान् आचार्य श्री शं. वा. द. दांडेकर ने इसे "पूर्णाद्वैत" की संज्ञा दी है। ज्ञानेश्वरी में *गीतानुवाद* के अनुरोध से श्री ज्ञानेश्वर का यह पूर्णाद्वैत उतना स्पष्ट नहीं हो पाया अतः उन्होंने बाद में अमृतानुभव नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। एक ही आत्मस्वरूप द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी रूप से कैसे प्रकाशित होता है?—इसका उचित समाधान ग्रन्थ के 'चिद्विलास' नामक सातवें प्रकरण में दिया गया है। इसमें बताया गया है कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही 'चित्' शक्ति का विलास है। इस नाम-रूपात्मक जगत् से ब्रह्म विकसित हुआ है अतः द्रष्टा और दृश्य में कोई भेद नहीं। "चित्पुरुष ही अपने रूप को आप देख रहा है। इसमें दृश्य को अध्यारोप मानने का क्या प्रयोजन?" (७ १६४)

दूसरी बात यह कि श्री ज्ञानेश्वर की सिद्ध एवं स्वयंभू प्रतिभा ने तत्त्वज्ञान को केवल चिन्तन या विचार का बुद्धिगम्य विषय ही न रखकर अनुभूति का विषय बना दिया, ताकि यह अन्तःकरण तक पहुँचकर साधक को इस परमामृत का उपभोग करा सकने में समर्थ हो सके। इसी में ज्ञान की सार्थकता है।

[1] डा० रामचन्द्र.........' पृ० ३७ (प्रा शं० गो, तुलपुले कृत डा० म० भाग डा० .... से उद्धृत)

अपने इस तत्त्वज्ञान को अधिक लोकोपकारी बनाने के लिए श्री ज्ञानेश्वर ने ज्ञानोत्तर-भक्ति का कल्याणप्रद मार्ग बताया।

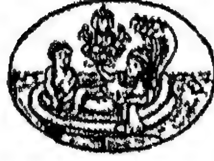
भक्तिः—

ज्ञानोत्तर भक्ति द्वारा श्री ज्ञानेश्वर ने अपने गीताव्याख्यान से सबके लिए "ब्रह्म विद्या का सुकाल" ला दिया—अद्वैतानन्द वैभव का भंडार खोल दिया। ज्ञान क्या है? उस सर्वात्मा परमतत्त्व का परमार्थतः ज्ञान। और भक्ति क्या है? उस परमतत्त्व से भली भांति परिचित हो कर उसमें तद्रूपता प्राप्त कर लेना। साधना क्षेत्र में भक्ति का सर्वोच्च स्थान है। आत्म साधना का चरम उद्देश्य है—परमानन्द प्राप्ति। केवल ज्ञान बुद्धि एवं तर्क की अपेक्षा रखता है, जो सुख का बाधक है। और कोरी भक्ति द्वैत पर आश्रित होती है, जो अज्ञान का कारण है। अज्ञान से मोह होता है और मोह से दुःख। अतः यह परमानन्द प्राप्ति या मोक्ष न केवल ज्ञान से सम्भव है और नहीं कोरी भक्ति से। इसके लिए अपेक्षित है—दोनों का सामञ्जस्य। अतः सद्गुरु की सहायता से उस परम रहस्य से परिचित होकर उसमें तदाकारता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार स्वानुभूति के सहारे उस अद्वय परब्रह्म के साथ तदाकारता एक अनिर्वचनीय आनन्द की उत्पत्ति का कारण बन जाती है। और तब ऐसी अवस्था में सगुण और निर्गुण दोनों एकरूप होकर केवल शुद्ध स्वभाव परमानन्द रूप में शेष बच रहते हैं। यही कारण है कि ज्ञानोत्तर भक्ति सर्वथा अहैतुकी तथा आनन्द विधायिनी होती है। द्वैतजनित पराश्रयता का यहाँ नाम तक नहीं रहता। वरन् आत्म-प्रत्यय की दृढ़ता, स्वानुभूति-जन्य पूर्ण तृप्ति और ब्रह्मज्ञान द्वारा प्राप्त अक्षय शान्ति की प्राप्ति इसमें होती है। तब भला, मोह और शोक यहाँ आकर क्या करेंगे?

"श्रुति जिसे आत्मानन्द किंवा ब्रह्मसुख कहती है उसे श्री ज्ञानेश्वर 'ज्ञानोत्तर भक्ति' कहते हैं; शैव शक्ति तथा ज्ञानी जिसे आत्मानुभव कहते हैं वही यहाँ पराभक्ति नाम से कही गई है।" (१८-११२२)

ज्ञानेश्वरी में द्वैत भावना के लिए तनिक भी स्थान नहीं। जीव ब्रह्मैक्य, उपास्य-उपासक की एकता, गुरु-शिष्य की एकता, साधन साध्य की एकता, सगुण-निर्गुण की एकता, बहुत क्या, सर्वत्र एकत्व का अनुभव ही सायुज्य सौख्य है—यही ज्ञानोत्तर भक्ति है।

इस लघुकाय प्रस्तावना भाग में ज्ञानेश्वरी विषयक सभी ज्ञातव्य बातों का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इससे सहृदय एवं जिज्ञासु पाठकों को आगे दिए जाने वाले गीता ज्ञानेश्वरी के कविभूषण श्रीगणेशप्रसाद अग्रवाल कृत हिन्दी पद्यानुवाद के रसास्वादन में सहायता मिलेगी।



गीता ज्ञानेश्वरी

प्रथम अध्याय

मङ्गलाचरण

(परब्रह्म)

ॐ परिपूरण ब्रह्म जो, निगमागम-प्रतिपाद्य ।
ताहि नमहुँ, जय स्वानुभव-वेद्य आत्ममय आद्य ॥१॥

(गणेश)

आपुहि देव गणेश सब, अर्थ सुबुद्धि प्रकास । सुनहु नाथ विनती करै, श्री निवृत्ति को दास ॥२॥
सकल शब्दमय ब्रह्म की, सुन्दर मूर्ति गणेश । स्वर व्यञ्जन निर्दोष वपु, झलकत कान्ति सुवेश ॥३॥
स्मृतिगण अवयव, काव्यगत-प्रगति आंगिक भाव । आर्थिक शोभा तासु पुनि, मनि लावण्य सुठाव ॥४॥
पुनि अष्टादश पुराण तस, मणिमय भूषण चारु । कुन्दन पद नव योजना, मणि सिद्धान्तराज सारु ॥५॥
सागर काव्य प्रबन्ध तस, अम्बर नाना रंग । ताना-बाना सा लगै, जहँ साहित्य अभंग ॥६॥
अभिनव नाटक देखियत, किंकिणि गण निरधारि । 'रुनझुन, रुनझुन' अर्थध्वनि, तासु कर्ण सुखकारि ॥७॥
देखि, निपुनमन कुशलतहिं, नानाविधि तथ्यार्थ । उचित प्रबन्धहिं सुपदावली, मनहर रतन यथार्थ ॥८॥

ताहि तड़ागि बिचारु, शोभित स्यामादिक सुमनि । प्रान्त दशा पद चारु, चमकें उज्ज्वलता जु तिहिं ॥९॥

शास्त्र जु षट् दर्शन सकल, लहत भुजा अनुहार । आयुध के मतभेद सम, कर-आयुधहिं बिचार ॥१०॥

तर्कहिं जानहु परशु है, न्यायहिं अंकुश जानि । असि रसाल वेदान्त पुनि, सोहत मोदक-मान ॥११॥

एक दशन जो बौद्धमत, खंडित आपुहिं देख । जासु करत संकेत लघु, वार्तिककार विशेष ॥१२॥

अरु विचार सत्कार्य सम, वरद पाणि-पाथोज । धर्म प्रतिष्ठा तासु पुनि, अभयद हस्त-सरोज ॥१३॥

लखियत बिमल विवेकयुत, ऋजुतर शुण्डादंड । केवल परमानंद जहँ, अति सुख रूप अखंड ॥१४॥

सकलवाद कलना प्रकृति, उत्तम उज्ज्वल दंत । सूक्ष्म नयन सुविवेकमय,-दृष्टि धरें भगवंत ॥१५॥

मुनि मधुकर परिपीत जहँ, बोधामृत-मधुपुष्प । मीमांसा द्वय से लसत, श्रवण युगल के तुल्य ॥१६॥

द्वैताद्वैत निकुंभ ही, श्रुति तत्त्वार्थ प्रवाल । एकहि सूँ समता लहत, मस्तक धनि सुविशाल ॥१७॥

ज्ञान कुसुम रसराट, ऊपर दश उपनिषद् जहँ । शोभित शुभ्र ललाट, मुकुट मनोहर सुरभियुत ॥१८॥

जहँ अकार ही पद युगल, उदर बिशाल उकार । अरु मकार सोहै महा-मण्डल शीर्षाकार ॥१९॥

इमि मिलि शब्द ब्रह्म जो, आदि बीज ओंकार । करहुँ नमन श्री गुरुकृपा, मैं तिहिं बारंबार ॥२०॥

(सरस्वती)

जगन्मोहिनी भारती, चातुर्यार्थ प्रवीन । नमहुँ कला की स्वामिनी, नित्य विलास नवीन ॥२१॥

(गुरुदेव)

जासु कृपा भवनिधि तरौं, सो सद्गुरु उरधाम । लहत तेहि ते ज्ञान महँ, मम मन अति विश्राम ॥२२॥

अंजन सम दृग देत ही, दिव्य दृष्टि जिमि होत । सुधि मधि नियमति निधि महा, हेरत ओत-प्रोत ॥२३॥

सकल मनोरथ हौं फलित, चिन्तामणि लहि हाथ । पूरहिंगे मम कामना, मेरी सद्गुरु नाथ ॥२४॥

गुरुहिं सयाने भजत भजि, लहैं कार्य की सिद्धि । मूलहिं सींचे सहज जिमि, शाखा-पल्लव वृद्धि ॥२५॥

त्रिभुवन तीरथ फल लहत, एक सिंधु महँ न्हाय । जिमि अमृत के स्वाद महँ, सब रस स्वाद समाय ॥२६॥

पूरत कृपा उदार, तिमि वाञ्छित मम रुचि सकल । सद्गुरु की बहुबार, अभिवादन पुनि पुनि करौं ॥२७॥

(महाभारत महिमा)

पावन कथा अवधार अब, कौतुक-जन्म-ठिकान । जो सब सुख विवेक को, है नवीन उद्यान ॥२८॥

किं वा सुख को आदि सब महानिधी-तत्त्वार्थ। सुधासिन्धु नव रसन को, जो परिपूर्ण यथार्थ ॥२९॥
अखिल शास्त्र आधार जो, प्रगट मोक्ष को धाम। सकल सुविद्याहित प्रथम-पीठ परम-विश्राम ॥३०॥
निखिल धर्म की मातृ भू, सज्जन जीवन-सार। लक्ष्मी-वाणी सुभगता-महारत्न-भंडार ॥३१॥
कहौं कहां लगि व्यास मुनि-नव प्रतिभा महँ स्फूर्ति। देइ सु देवी भारती, आविष्कृत इहि मूर्ति ॥३२॥
महा-काव्य जग की नृपति, ग्रन्थन गौरव मूल। नव रस भये रसाल लहि, जासु कृपा अनुकूल ॥३३॥
सुनहु सुजन इहि बल भयो, शब्द शास्त्र परिशुद्ध। आतम विचार विशेषता, द्विगुणित भई प्रबुद्ध ॥३४॥
लहै चतुरता चातुरी, लखौ भक्ति रस स्वाद। पुष्ट होय सौभाग्य सुख, जेहि के विमल प्रसाद ॥३५॥
शृङ्गारहिं शृङ्गार, लहै माधुरी मधुरता। याही के आधार, श्रेष्ठ वस्तु जनप्रिय भई ॥३६॥
देत कलाहिं कलाधिगम, पुण्यहिं अधिक प्रताप। जिहिं जनमेजय को प्रबल, ह्यों सहज ही पाप ॥३७॥
क्षण भर लखिये तो रँगहिं मिल्यौ विलक्षण रंग। गुण गुण महँ सद्गुणपनो, विलसत कथा प्रसंग ॥३८॥
सूर्य प्रभा त्रिभुवन करै, जिमि विशेष उजियार। व्यास महामुनि सुमति ते, सोहे तिमि संसार ॥३९॥
जिमि सुखेत महँ बीज परि, आपुहिं कर विस्तार। करहि महाभारत कथा, तिमि विज्ञान प्रसार ॥४०॥
नगर बसै नागर बनै, ह्वै के चतुर सुजान। व्यास वचन बल तिमि भयो, सकल जगत मतिमान ॥४१॥
प्रथम वयस के काल महँ, नव लावण्य उमंग। शोभा औ सौन्दर्य जिमि, सोहै तरुणी अंग ॥४२॥
जिमि वसन्त ऋतु में विपिन, लखियत शोभा खान। लघु गुरु सब तरुवर लहैं, रमणीयता महान ॥४३॥
जैसे खण्ड सुवर्ण को, सहज भाव मन भाय। अलंकार पुनि जो बनै, शोभा अधिक दिखाय ॥४४॥
सुन्दरता अधिकाय, ग्रन्थ अलंकृत व्यास-मति। आश्रय भयो सुहाय, यही ज्ञान इतिहास को ॥४५॥
अधिक प्रतिष्ठा आश करि, धरि नम्रता, उमंग। सब पुराण आख्यान बनि, प्रविशे भारत-अंग ॥४६॥
'जो न महाभारत अहै, सो न त्रिलोक मंझार।' 'जगत्त्रय जूठन व्यास को', यह लोकोक्ति विचार ॥४७॥
सुरस कथा ऐसी जगत, जन्मभूमि परमार्थ। वैशम्पायन मुनि कहैं, नृप जनमेजय सार्थ ॥४८॥
उत्तम औ अद्वितीय नव, निरुपम पुण्यनिकेत। करहु श्रवण मङ्गल अयन, इहिं अवधान समेत ॥४९॥

(श्रीमद्भगवद्गीता-महिमा)

कृष्णार्जुन संवाद तहँ, जिहिं भाषत श्रीरंग। भारत कमल पराग यह, गीता कथा प्रसंग ॥५०॥

साहित्याम्बुधि सब सकल, व्यास सुबुद्धि मथि डार । काढ़त भे नवनीत इहिं, तातें अकथ अपार ॥५१॥

ज्ञान अनल संपर्क पुनि, काढ़हिं परम विवेक । घृत स्वरूप परिपाक तें, लहैं सुगंध सु एक ॥५२॥

जिहिं विरक्त चाहत सदा, अनुभव करत सुसंत । जहँ नित पारंगत रमत, सोहं भाव निरंत ॥५३॥

प्रथम पूज्य जग सर्व, भगवद्गीतामृत मधुर । राजत भीषम पर्व, सुनें भक्तजन प्रेम सों ॥५४॥

सनक आदि सेवैं सबै, जिहिं अतिशय मनमानि । शंकर-ब्रह्म-प्रशंसिता, सो गीता करु पानि ॥५५॥

शरद पूर्णिमा चन्द्र की, कला सुधामय जानि । शिशु चकोर कोमल कणहिं, पीवत जिमि मन मानि ॥५६॥

श्रोता हू निज चित्त तें श्रवण करें बड़ भाग । भगवद्गीतहिं, अनुभवें, तिमि मृदु मन अनुराग ॥५७॥

शब्द बिना संवाद यह, इन्द्रिय बिन सुख भोग । प्रथम प्रमेय विचारियत, तदनु शब्द उपयोग ॥५८॥

कमल दलहिं नहिं लखि परैं, भ्रमर पुष्परस लेत । तिमि इहिं ग्रन्थ विचारियत, कहत-सुनत करि हेत ॥५९॥

कुमुदिनि ही जानत उदित-चन्द्र मिलन की रीति । ठाँव तजे बिन अनुभवत, जो प्रियतम की प्रीति ॥६०॥

जासु परम गंभीरतहिं, अन्तस्तल थिर होत । तासु रहस्य प्रतीति ते, होत हृदय उद्योत ॥६१॥

अर्जुन सरिस सुयोग्य जे, साधुक संत उदार । ते करुणा करि इहिं श्रवण, करें ध्यान मन धार ॥६२॥

(विनय)

विनय करी सिर धार, सन्त चरण अति लाड सों । हृदय गंभीर उदार, हौं जानत तुव सबन कों ॥६३॥

सहज सुभावहि मातु पितु, सुनि सुत तोतरि बैन । प्रगट करत अति मोद जिमि, धरि सन्तोष सुचैन ॥६४॥

आपुन बैनहिं संत तुम, मोहिं कियो स्वीकार । क्षमिय सहज ऊनापनो, विनवौं किमि न उदार ॥६५॥

अपर अहै अपराध मम, गीता अर्थ विचार । कहों रीति सुस्पष्ट अति, सुनिये तिहिं चित धार ॥६६॥

नाहिं विचारत कठिनता, हृदय ढीठपन पाय । भानुप्रभा के सम्मुखहिं, किमि खद्योत सुहाय ॥६७॥

चोंचहि भरि भरि सिन्धुजल, मापत टिटही जासु । त्यों अज्ञानी तिमि करत, गीता अर्थ बखानु ॥६८॥

गगनहिं को आवृत करै, को तातें सुविशाल । सोचत इमि यह कार्य उर, लागत कठिन कराल ॥६९॥

शंकर गीता अर्थ को, कियो महत्व बखान । तबहिं भवानी प्रश्न किय, चमत्कार मन मान ॥७०॥

देवि, तुम्हार स्वरूप जिमि, नित नवीन अज्ञेय । तिमहि गीतातत्त्व को, जानिय प्रिये ! अमेय ॥७१॥

जासु उसाँसहि श्वास, विदित वेद सागर भये । गीता आत्म प्रकाश, तेहि सर्वेश्वर की गिरा ॥७२॥

इहि अगाध गीताब्धि महँ, होय वेद मतिरोध। कुमति मन्दभागी तहां, किमि पावै अवबोध ॥७३॥
किमि समझौं गीता अगम किमि रवि करौं प्रकाश। मशक धरै निज मुष्टि महँ, किमि विस्तृत आकाश ॥७४॥
केवल एक अधार मोहिं, ताते धैर्य धराय। ज्ञानेश्वर कह गुरु चरण, मम अनुकूल सहाय ॥७५॥

(सन्त महिमा)

यद्यपि मैं अतिमूर्ख अरु, कहत वचन अविवेक। पै गुरु सन्तन की कृपा, दीप प्रकाशत एक ॥७६॥
पारस की सामर्थ्य सों, होय स्वर्ण जिमि लोह। मृतक जीव जीवन लहैं, अमृत शक्ति के छोह ॥७७॥
लहि सारस्वती की कृपा, मूक होंहि वाचाल। नहि नवीनता श्रेय सब, वस्तु शक्ति के भाल ॥७८॥
कामदुधा जाकी जननि, तिहिं अलभ्य कछु नाहिं। तैसी मोर प्रवृत्ति यह, गीता-ग्रन्थन मांहि ॥७९॥
न्यूनहिं पूरहु अधिकहिं, करहु प्रसंग सभागि। मम विनती ऐसी अहै, सन्त समाजहि लागि ॥८०॥
कहत आप मैं नाहिं, देहु आपनो लक्ष्य इत। सूत्राधीन रहाहिं, कठपुतली चेष्टा करत ॥८१॥
अनुगृहीत तिमि मैं अहौं, साधु कृपा आधार। मोहिं अलंकृत करहु प्रभु, निज इच्छा अनुसार ॥८२॥
श्रीगुरु आयसु देत मोहिं, 'इमि किमि बोलन लाग। लक्ष्य करहु अब ग्रन्थ दिशि, वेगि वत्स बड़भाग' ॥८३॥
गुरु वचनहिं अति हर्ष लहि, कह निवृत्ति को दास। बोलत मैं अब सुनहु सब, देहु मनहिं अवकाश ॥८४॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

अर्थ—धर्म अवनि कुरुक्षेत्र महँ, रणहित जुरि समुदाय।
संजय, मम अरु पाण्डुसुत, वरनहु कीन्हों काय ॥१॥

संजय ते धृतराष्ट्र इमि, निज सुत मोहहिं मांहि। समाचार कुरुक्षेत्र को, पूछत कहु जो जांहि ॥८५॥
धर्म अवनि या धर्म को, जो कहियत है खेत। पाण्डव अरु मम पुत्र तहँ, गये युद्ध के हेत ॥८६॥
इहिं अवसर लगि का करत, दोनों आपुस माहि। वेगि करहु विवरण सकल, संजय, तुम मम पाहिं ॥८७॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अर्थ—निरखि व्यूह पाण्डव अनी, दुर्योधन नृपराय ।
जा गुरु द्रोणाचार्य ढिंग, वचन कह्यो लगि पाँय ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

अर्थ—पाण्डुसुतन की सैन्य यह, निरखहु गुरु सद्रूप ।
द्रुपद पुत्र धीमान तव, शिष्य रचित यह व्यूह ॥३॥

संजय कह पाण्डव अनी, ताहि समय दिखलाय । प्रलयकाल महँ काल जिमि, अपनो मुख फैलाय ॥८८॥
सघन सैन्य इक साथ सब, भड़क उठी इक बार । मनहुँ हलाहल महँ उठ्यो, फेन करि गर्क सँभार ॥८९॥
प्रलय अनिल ते भयऊ, जिमि बड़वानल प्रज्वलित । होत प्रदीप्त अखण्ड, जिन्हु सोखि आकाश लगि ॥९०॥
एहि समय दुर्वार अति, भीषण केहि लगै न । नाना भाँतिहि व्यूह रचि, दुर्धर पाण्डव-सैन ॥९१॥
दुर्योधन तो ताहि लखि, तुच्छ आनि मन माँहि । केसरि लखि जिमि गजघटा, गनत न किंचित नाहि ॥९२॥
द्रोण निकट पुनि आय तब, कह दुर्योधन बैन । उछल कूद गुरु ! कर रही, निरखहु पाण्डव सैन ॥९३॥
अचल दुर्ग जिमि चलत हो, तिमि चल व्यूह अपार । जे विरचे गुरु ! शिष्य तव, धीयुत द्रुपद कुमार ॥९४॥
शिक्षा दै आपुहिं कियो, जिहिं विद्या-आगार । सेना सागर विलत सम, निरखहु दृष्टि पसार ॥९५॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

अर्थ—यहाँ भीम अर्जुन सरिस, शूर धरे धनु बान ।
अरु महारथी द्रुपद हैं, नृप विराट, युयुधान ॥४॥

अन्य असाधारण पुरुष, जे शस्त्रास्त्र प्रवीण । परम निपुण निज धर्म महँ, अद्भुत धनुष धुरीण ॥९६॥
जे बल अरु पुरुषार्थ महँ, अर्जुन भीम समान । कौतुक ते वर्णन करौं, तिहिं प्रसंग इहि जान ॥९७॥
श्रेष्ठ महारथि वीर इत, द्रुपद विराटहि जान । सुभट सराहन योग्य उत, नाम कहत युयुधान ॥९८॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

अर्थ—काशी नायक, धृष्टध्वज, चेकितान बलवीर ।
पुरुजित कुन्तीभोज इह, शैब्य नरोत्तम धीर ॥५॥
युधामन्यु विक्रम-निपुण, उत्तमौज रणक्रूर ।
पुनि अभिमन्यु महारथी, द्रौपदेय सब शूर ॥६॥

काशि-नृपति विक्रान्त, चेकितान अरु धृष्टध्वज । शैब्य शूर सम्भ्रान्त, उत्तमौज नरनाथ लखु ॥९९॥
निरखहु कुन्तीभोज यह, युधामन्यु पुनि आर्य । पुरुजितादि नृप सब इतै, लखहु लखहु आचार्य ॥१००॥
देखु सुभद्रा-हिय-सुखद, अर्जुन अपर नवीन । कहत सुयोधन द्रोण प्रति, यह अभिमन्यू प्रवीन ॥१०१॥
कुंवर द्रौपदी के सकल, महारथी रणधीर । अन्य नृपति गनियत नहीं, अपराजित अतिवीर ॥१०२॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अर्थ—हैं हम माहिं विशिष्ट जे, सुनहु ब्रह्मकुल केतु ।

आपहु, भीषम, कर्ण अरु विजयी कृप सम-काल ।
अश्वत्थाम विकर्ण अरु भूरिश्रवा भूपाल ॥८॥

अब प्रसङ्ग वश वरनिपत, निज सेना के वीर । सुनहु विप्रवर मुख्य हैं, जो नायक रणधीर ॥१०३॥
आप सरिस जे प्रथम हैं, तुव जानन उद्देश । तिनमहँ मैं दो एक को, बरनत हौं वीरेश ॥१०४॥
गंगानन्दन भीष्म यह, दिनकर सदृश प्रताप । पुनि रिपु गज बल केसरी, कर्णवीर धृत-चाप ॥१०५॥
इक इक के संकल्प से, होय विश्व को नाश । कृपाचार्य किमु एक ही, पूरें नहिं अभिलाष ॥१०६॥
इत विकर्ण अतिवीर उत, अश्वत्थाम निहारि । जग प्रमाथ ते कालहू, सकृत भीति मन धारि ॥१०७॥
समितिजयी भूरिश्रवा, इमि औरहु बहु वीर । ब्रह्माजू हू करत नहिं, मापु जासु बल धीर ॥१०८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अर्थ—जीवन मम हित तजि रहे, शूर अन्य नहिं गण्य ।
सब नाना शस्त्रास्त्र धर, युद्धविशारद धन्य ॥९॥

जिन अति अगम अपार, अस्त्रजात प्रचलित किये । मन्त्रन के अवतार शास्त्र सुविद्या पूर्ण सब ॥१०९॥
जिहिं प्रतिद्वन्द्वी जग नहीं, सुत प्रताप प्रति अंग । गुरु, सब भाँतिहिं अनुसरत, ते सब मोर प्रसंग ॥११०॥
जिमि निज पति तजि पतिव्रता छुअत न काहू अंग । तिमि सब सुभटन के हृदय, रहत सदा मम संग ॥१११॥
जे निज प्राणहिं अल्प गनि, साधहिं कार्य हमार । गुरुवर, ते अतिशय कुशल, स्वामि भक्ति आगार ॥११२॥
युद्ध कला निष्णात अति, कीर्ति कुशल तहिं पाय । क्षत्रिय नीति विनीत सब, कहँहुँ कहाँ लगि गाय ॥११३॥
इहि विधि आपुन सैन्य महँ, परम पराक्रमशील । गनहुँ कहाँ लगि पार नहिं, को मापे नभ नील ॥११४॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अर्थ—अपर्याप्त मम बल अहै, भीष्म-सुरक्षित देखु ।
बल इनकी पर्याप्त पुनि, भीम-सुरक्षित लेखु ॥१०॥

क्षत्रिय भूषण सुभट मणि, जग में भीष्म विराज । तिनहिं दिये अधिकार सब, सेनापति के आज ॥११५॥
सैन्य बन्यो जिमि दुर्ग दृढ़, या के बल को पाय । जासु प्रताप समक्ष ये, त्रिभुवन तुच्छ दिखाय ॥११६॥
सागर देखत प्रथम ही, लगै न दुस्तर काहि । वाडव हु सहकार पुनि, करैं भयङ्कर ताहि ॥११७॥
जेहि विधि प्रलय कृशानु, महावात संयोग लहि । गंगासुत तिमि जानु, सेनापति मम सैन्य को ॥११८॥
इमि तुलना की दृष्टि सों, मम सेना अति घोर । कौन भिड़े या सैन्य ते, पाण्डव बल पुनि थोर ॥११९॥
पाण्डव बल पुनि थोर पर, लगैं अपार उदण्ड । सेना नायक भीम के, बल सों प्रबल प्रचण्ड ॥१२०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अर्थ—निज निज थल महँ थिर रहैं, यथायोग्य सब आप ।

रक्षण लायक भीष्म हैं, सब विधि विदित प्रताप ॥११॥

अब पुनि दुर्योधन कहत, सब सैनकहिं सुनाय । निज निज दल बल साजिये, नियमित चारु बनाय ॥१२१॥
जिन कहँ अक्षौहिणि जितीं, दई गई सविभाग । तिन कर रक्षा हेतु ते, महारथी बड़ भाग ॥१२२॥
करहु व्यवस्था सैन्य की, निश्चय के अनुसार । भीष्म पितामह के सकल आदेशन सिरधार ॥१२३॥
गुरुवर, मम इव भीष्म की सकल करहु सत्कार । सकल सैन्य की शक्ति के आज वही आधार ॥१२४॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

अर्थ—कुरुकुल वृद्ध, प्रतापयुत, तासु हर्ष उपजात ।

भीष्म पितामह सिंह सम, गरजि शङ्ख फुंकात ॥१२॥

सुनत सुयोधन के वचन, भीष्म पाइ सन्तोष । हृदय हर्ष उपजायतो, कीन्ह प्रबल रणघोष ॥१२५॥
इहि विधि अद्भुत गर्जना, कीन्ही भीष्म सुजान । प्रतिध्वनि पूरित सैन्य दुहुँ, नाहिं समात महान ॥१२६॥
दुहुँ दल मांझ उदार, भीष्मदेव गर्जित भरयो । महावीर बलसार, दिव्य शङ्ख धुनि प्रतिध्वनित ॥१२७॥

उथल-पुथल सागर मची, घड़घड़ात आकाश । कँपत चराचर क्षुभित ह्वै, व्यापि रह्यो अति त्रास ॥१२९॥

कन्दर गिरि प्रतिनादित भे, महानाद ते पूर । गाजन रण बाजे भये, शूरे दलन के शूर ॥१३०॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

अर्थ—विपुल घोष उत्थित भयो, बाज उठे इक संग ।

शङ्ख, नगारे ढोल अरु, रणसिंहे, मिरदंग ॥१३॥

अगणित कर्कश भय जनक, बाजे बजे उदण्ड । जनु बल है कर लगत जिमि, आयौ प्रलय प्रचण्ड ॥१३१॥

कायर तहँ जनि पूछिये, उड़े धूलि कण तुल्य । कालहु जहँ साहस तज्यौ, पाइ भीति वैपुल्य ॥१३२॥

शङ्ख, नगारे, नौबतें, तुरही, झांझ मृदंग । बजे, उठ्यो गम्भीर रव, वीर गर्जना संग ॥१३३॥

सब भुज दंडन ताल दै, ललकारें कछु वीर । उन्मद गज के ग्राम कछु, गिरें गगनागु शरीर ॥१३४॥

शूरों के हृद-रव हिले, मिले न मुख आवाज । शिथिल भये जब प्राण ही, तब प्रण की कह लाज ॥१३५॥

सुनि विधि व्याकुल पूरि, ऐसी अद्भुत वाद्य धुन । 'प्रलय काल नहिं दूरि' कहहिं देवगण हू सभय ॥१३६॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अर्थ—तदनु धवलतर चतुर हय-युक्त महारथ माहिं ।

शोभित हरि अरु पार्थ निज, अद्भुत शङ्ख बजाहिं ॥१४॥

पाञ्चजनहिं फूक्यौ हरी, देवदत्त पुनि पार्थ।
भीम-कर्मकर, भीम निज, पौण्ड्र बजायो पार्थ ॥१५॥
फूंक्यो शङ्ख अनन्तजय, तहाँ युधिष्ठिर भूप।
अरु सुघोष मणिपुष्प कहँ, माद्रीसुत अनुरूप ॥१६॥

कोलाहल रण सुनि भई, उत चर्चा इमि स्वर्ग। तेहि क्षण का करयो सुनहु, इत पाण्डव-बल-वर्ग ॥१३७॥
सार सकल रणविजय को, महातेज भंडार। गरुड सहोदर इव चपल, जुरे अश्व जहँ चार ॥१३८॥
जनु सपक्ष गिरि मेरु, रथ, भासित करत दिगन्त। सारथि जहँ वैकुण्ठपति, तिहिं जन किमि वर्णन्त ॥१३९॥
मूर्त महेश्वर जान, ध्वजारूढ़ हनुमन्त जहँ। शारँगधर भगवान, जहाँ पार्थ के सारथी ॥१४०॥
अद्भुत प्रभु को प्रेम नव, भक्त-वत्सलता देखु। सारथिपन निज भक्त को, करत भुवनपति लेखु ॥१४१॥
धरै पाछे निज सेवकहिं, आपुहिं आगे नाथ। पाँचजनहिं फूक्यो सहज, लीलारस के साथ ॥१४२॥
जासु गभीर उदार रव, करी सकल धुनि लीन। सूर्य उदय ते होत जिमि, तारागण द्युतिहीन ॥१४३॥
कौरव दल की गर्जना, वाद्यनाद केहि ठाम। लीन भये कहुँ मिलत नहिं, रह्यो कहुँ नहिं नाम ॥१४४॥
बहुरि देवदत्तक महा-शङ्ख नाद गम्भीर। फूंकत धनुधर पार्थ जेहिं, सुनि मन रहत न धीर ॥१४५॥
अद्भुत नाद दुहन को, मिलि जब लागत एक। विधि डरपत, ब्रह्माण्ड कहुँ, होय न खण्ड अनेक ॥१४६॥
आवेशित तब काल इव, भीमसेन खौलाय। महाशंख निज पौण्ड्र तिन, फूंक्यो शक्ति लगाय ॥१४७॥
जलधर प्रलय प्रचण्ड जिमि, गड़गड़ात गंभीर। तिमि अनन्त जय शङ्ख निज, ध्वनित युधिष्ठिर वीर ॥१४८॥
फूकत नकुल सुघोष, मणिपुष्पक सहदेव निज। यम कहँ रह्यो न होश, महानाद सुनि तासु तहँ ॥१४९॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अर्थ — धनुधर काशी के नृपति, सुमहारथी शिखंडि ।
धृष्टद्युम्न विराट नृप, सात्यकि रिपुदलदंडि ॥१७॥
द्रुपद, द्रौपदी-सुतन सब, सुनहु, सुनहु कुरुनाथ ।
महाबाहु अभिमन्यु पुनि, शङ्ख बजाये साथ ॥१८॥
गाजा पृथ्वी महँ तुमुल, भरि के निज निज तान ।
कौरव हिय सहसा किये, विदलित शङ्खतान ॥१९॥

तेहि छिन तहँ नाना हुते, नृपति विदित गुण नाम । द्रुपद द्रौपदीसुत सकल, काशीपति बलधाम ॥१५०॥
अर्जुन-सुत अभिमन्यु अरु, सात्यकि विजयी वीर । धृष्टद्युम्न शिखण्डि पुनि, नृपवर, बहु रणधीर ॥१५१॥
अरु विराट आदिक नृपति, सैनिक मुख्य सुवीर । कीन्ह निरन्तर जोर सों, शङ्ख महाध्वनि भीर ॥१५२॥
तासु महाध्वनि-घात सों, शेष कूर्म, अकुलाय । अवनि भार तजि एक दम, खसन लगे घबराय ॥१५३॥
कम्पित त्रिजग, सुमेरु अरु मंदर डोल अधीर । श्री कैलाश गिरीन्द्र लौं, उछरत सागर-नीर ॥१५४॥
बहुरि धरणि उलटी परै, टूटि परै आकाश । जनु नक्षत्र नीचे झरैं, फीको परयो प्रकाश ॥१५५॥
मच्यौ घोर कल-कल गगन, 'बूडी-बूडी सृष्टि । देव भुवन आश्रय गयो, प्रलय होन बिन वृष्टि ॥१५६॥
दिवस रहत सूर्यास्त भो, प्रगट प्रलय को काल । त्रिभुवन माहिं मच्यो भयद, हाहाकार कराल ॥१५७॥
मनहु होत जग अन्त, कृष्णचन्द्र विस्मित निरखि । घोषावेश अनन्त, कियो शान्त इहि हेतु तब ॥१५८॥
अहह ! विश्व यह बचि गयो, नतरु होत युग अन्त । यदि न शङ्ख ध्वनि संहरत, कृष्णादिक बलवन्त ॥१५९॥
यदपि घोष तो शान्त भो, पै प्रतिध्वनि गुंजात । कौरव दल-बल माहिं जो, बहु खल-भल उपजात ॥१६०॥
केहरि जिमि मदमत्त-गजघटा विदारत खेलि । कौरवदल के हृदय तिमि सकल न प्रतिध्वनि झेलि ॥१६१॥
प्रतिधुनि सुनत अनेक भट, ठाढ़े ही गिर जाहिं । संभल-संभल-कहि कहि इतर, एकहिं एक जगाहिं ॥१६२॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

अर्थ—तब कपिकेतन पाण्डुसुत, सुस्थिर कौरव देखि ।
शस्त्रपतन समकाल निज, धनु गहि, हरपि विशेखि ॥२०॥

वीर पराक्रम निपुन अति, महारथी तिन माँहि । जिमि तिमि निज सैनक दलहिं, धीरज धीर बँधाहिं ॥
सब भट मिलि आगे बढ़े, भरे दुगुन उत्साह । तिनहिं देखि त्रिभुवन लह्यो, विषम त्रास परिवाह ॥
बर्षत धनुधर वीर इमि, तहाँ निरन्तर बान । जिमि जलधर प्रलयान्त के, धारासार महान ॥
अर्जुन मन सन्तोष लहि, रिपुदल तत्पर लेखि । तुरतहिं दृष्टि पसारि के, चाहत सैनहिं देखि ।
सज्जित सकल विलोकि, कौरव सेना समरहित । पाण्डुकुमार अरोकि, लीलहिं लीन्हो कर धनुष ॥

हृषीकेशं तदावाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अर्थ—राजन, तब श्रीकृष्ण तें, अर्जुन बोले बैन ।
अच्युत, राखहु बीच रथ, दुहूं सैनन के ऐन ॥२१॥
देखौं मैं तहँ कौन हैं, रण के हित धृतकाम ।
मैं काके संग खेत महँ लरिहौं इहिं संग्राम ॥२२॥

जे दुर्योधन कुमति के, आति प्रगल्भता हेतु ।
मैं देखौं तिनको तनिक, जे आये इहि खेतु ॥२३॥

तिहि छिन इमि श्रीकृष्ण तें, अर्जुन कहत सुजान । 'उभय सैन्य के मध्य रथ, ले चलिए भगवान ॥१६८॥
जातें मैं क्षणभर निरखि, सैनिक वीर अशेष । आये युद्ध निमित्त जे, जानौं तिनहिं विशेष ॥१६९॥
आये जे इत वीरगण, तिन में काके संग । जानि सकौं, रणक्षेत्र महँ, करौं प्रबल रणरंग ॥१७०॥
हैं बहुधा आतुर परम, कौरव दुष्ट-स्वभाव । तिनहिं पराक्रम समर कौ, राखत हैं मन चाव ॥१७१॥
जैसे ते उत्सुक अधिक, वैसे नहिं रणधीर ।' इमि कहि पुनि धृतराष्ट्र तें, बोले संजय वीर ॥१७२॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

अर्थ—गुडाकेश के वचन तें, हृषीकेश हर्षाय ।
उभय सैन्य के मध्य सो, उत्तम रथ ले आय ॥२४॥

भीष्म-द्रोण नृपतिगण, के सम्मुख भगवान ।
बोले—अर्जुन देखु यह, संगत कुरु बलवान' ॥२५॥

अर्थ —देखे अर्जुन तहँ अटल, पिता पितामह भ्रात।
मातुल, गुरु, सुत, पौत्र, प्रिय, सखा, सहोदर जात ॥२६॥
श्वसुर, सुहृद् लखि उभय दल, निज नैनन तें पार्थ।
जान्यो सुस्थित हैं यहां, बान्धव सभी यथार्थ ॥२७॥

अर्जुन जब इतनो कह्यो, तब केशव हर्षाय। उभय सैन्य के मध्य महँ, ठाढ़ कियो रथ लाय ॥१७३
जहां भीष्म द्रोणादि अरु, सन्मुख नातेदार। अरु बहुतेरे नृपतिगण, सुभट तथा धनुधार ॥१७४
अर्जुन देखन लाग, थिर करि रथ दुहुँ सैन्य महँ। सैनिक-वृन्द-विभाग, अति सम्भ्रम अरु चाव सौं ॥१७५
निरखि पार्थ कह –'देव, लखु, गुरु, गोत्रज हितपात्र।' सुनत भये आश्चर्य मन, केशव भी क्षणमात्र ॥१७६
कहि मन में भगवान पुनि, जानै कौन कि काय। जो मन में अर्जुन धर्‌यौ, अति आचरज जनाय ॥१७७
जानि भविष्यहिं सहज ही, अरु पहिचानि विचार। तेहि छिन बोले नाहिं हरि, मन की जाननहार ॥१७८
अर्जुन इत सम्मुख लखे, पिता पितामहँ आदि। गुरुवर, मातुल, बन्धुजन, युद्धहेतु संवादि ॥१७९
इष्ट सुहृद अपने सकल, अरु कुमार जन देखि। श्यालक आदिक पुनि लिये, रण-उत्साह विशेखि ॥१८०
सुहृद सखा औ' श्वशुर पुनि, पुत्र, पौत्र धनु धारि। अपर-अपर बहु बन्धुजन, लखे स्वजन परिवार ॥१८
उपकृत उपकारी, बहुरि, रक्षक अरु बहु रक्ष्य। लघु, गुरु, सम सब भांति के, भये नयन के लक्ष्य ॥१८
गोत्रज अपने ही सकल, सजे युद्ध के साज। इहि विधि दुहुँ दल मांहि लखि, विस्मित अर्जुन आज ॥१८

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्थ – निज जन के प्रति मोहवश, ह्वै करुणा आधीन।
शोक कलुष पे अति विकल, बोल्यो एहि विधि दीन ॥

करुणा उत्पन्न, अर्जुन मन गड़बड़ मची। होय गई उत्सन्न, अनु अपमानित वीरता ॥१८
उत्तम कुल की अङ्गना, गुण-लावण्यनिधान। निज गृह में सहि सकत किमि, अपर नारि सन्मान ॥१८
कामी ज्यों निज तिय तजै, नव तिय लहि सन्तोष। अरु भ्रमवश अनुचित करन, बिनु समुझे गुणदोष ॥१८

तापस जिमि तपयोग तें, लहि बहु ऋद्धि समृद्धि । नसत बुद्धि कें लहत नहिं, पुनि विराग की सिद्धि ॥१८७॥

अर्जुन निज अन्तःकरण, दै करुणाहिं तिमि ठौर । खोय पराक्रम, धैर्य तजि, भयो और तें और ॥१८८॥

मांत्रिक मंत्रोच्चार महँ, चूकि भूतवश होय । अर्जुन तिमि व्याकुल भयो, महा मोहवश सोय ॥१८९॥

सो स्वाभाविक वीर वह, द्रवित हृदय तजि धीर । स्रवत चन्द्रमणि चन्द्रकर, परसि यथा बहु-नीर ॥१९०॥

तेहि छिन अतिशय नेहवश, करुणा-मोह-अधीन । कृष्णहिं इमि अर्जुन कहत, मृदुल वचन अतिदीन ॥१९१॥

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

अर्थ केशव, लखि एहि स्वजनगन, जुरे सकल रण काज ।
देवैं को वैराग्नि महँ, निज निज आहुति आज ॥
शिथिल अंग सब ह्वै गये, सूखत मम मुख पेखु ।
उपजत कंप शरीर महँ, भै रोमांच विशेषु ॥२९॥
धरि न सकत गांडीवहू, दहियत जनु सब अंग ।
सकत न इत ठाढ़ो रहौं, मनहु भ्रमत बहु भंग ॥३०॥

सुनहु देव, सब देखियत, जुरयो वीर समुदाय । तिन महँ कौन न गोत्रजन, बान्धव मोहि दिखाय ॥१९२॥

आये यद्यपि सत्य, ये सब ही संग्राम हित । सो कहँ किमि औचित्य, आपुन सँग ठानौं समर ॥१९३॥

समर नाम तें भ्रमत मन, रहत न आपुन भान । बुद्धि न थिर, मन थिर नहीं, निकट विकट फल जान ॥१९४॥

देखहु तन कंपत सकल, मुख सूखत पुनि मोर । सब तन व्याकुल ह्वै उठत, भासत ओर न छोर ॥१९५॥

अरु करहु ढीलो भयो, तजत आपु गांडीव । कंटक भनि अवयव उयो, तन संताप अतीव ॥१९६॥

धरि न सकत, खसि खसि परत धनुष गिरत अनजान। एहि विधि अर्जुन के हृदय, तन्यो मोहको तान ॥१९७

वज्रहु ते दुःसह, कठिन, अधिक भयङ्कर चित्त। भयहु नेहवश ताहू तें, नेह कठिन निश्चित्त ॥१९८

जिन शिव जीति, परास्त किय ते निवात कवचादि। ताहू के मन मोहवश, व्याप्यो मोह अगाधि ॥१९९

काष्ठहिं भेदै सहज ही, जिमि लघु भ्रमर स्वभाव। पै अति कोमल कमलपुट, तामधि चलत न दाव ॥२००

प्राण तजे, तऊ कमल-पुट, दलि निकसै नहिं भृङ्ग। प्रणय शक्ति जलभर मृदुल, अरु कठोर गिर शृङ्ग ॥२०१

संजय कहत प्रवीन, सुनु नृप, भूल्यो पार्थ इमि। ब्रह्महु नहि स्वाधीन, आदिपुरुष माया प्रबल ॥२०२

सुनहु नृपति अर्जुन जबहिं, निरखे स्वजन सुजान। तबहिं तासु झरिगौ तहाँ, सकल समर अभिमान ॥२०३

मन महँ उमगत अति दया, कहत कृष्ण सों 'पाहि'। 'प्रभु, मम मन ऐसहिं लगै, यहां रहौं अब नाहिं ॥२०४

'रण महँ इन सबको हनौं', अस आनत मन मांहि। मन अति आतुर होत है, मुख महँ वचन बिलाहिं ॥२०५

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

अर्थ—केशव मोंहि निमित्त सब, अति विपरीत जनाय।
स्वजन-हनन करि श्रेय कछु, दीसत नहिं यदुराय ॥३१॥

कारन कवन सु कौरवन, हनौं पाण्डवन नाहिं। ते दोऊ समभाव तें, हमरे गोत्रज नाहिं ॥२०६

किंचित हू यह युद्ध मोहिं, केशव, नाहिं सुहात। महापाप बिन और नहिं, इह फल मोहिं दिखात ॥२०७

केशव, कीन्ह विचार बहु, खोटो रण-परिणाम। रोकि सकत जो रण कहूँ, तो हू लाभ तमाम ॥२०८

न कांक्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द, किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

येषामर्थे कांक्षितं नो, राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे, प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

अर्थ—आकांक्षा नहिं विजय की, नहीं राज्य सुख चाह ।
राज्य सुखहिं हौं का करौं, नहिं तन की परवाह ॥३२॥
जिन लगि चहियत राज्यसुख, अरु विधविध के भोग ।
ते तजि तन धन मोह सब, इत रणहित थित लोग ॥३३॥
गुरुजन, पितृजन, पुत्रजन, और पितामह पौत्र ।
मातुल, श्यालक अरु श्वशुर, सकल बन्धु समगोत्र ॥३४॥

केशव, मोकहँ है नहीं, कछु विजय सों काज । राज्य लहे उपयोग का, कहहु आप यदुराज ॥२०९॥
बध करि सब को भोगिबो, भोग महा दुखदाय । अस जय यश सुख राज्य अस, क्यों न सबै जरि जाय ॥२१०॥
अस सुख तजि जो आय, संकट सहौं सहर्ष सब । करहुं निछावर धाय, स्वजनन हित निज प्राणधन ॥२११॥
ऐसोइ करि घात पुनि, लहौं राज्य सुख भोग । केशव, ऐसो स्वप्नहू, मोहि न हो उद्योग ॥२१२॥
गुरुजन की सोचौं अहित, करहुं अहित मन लाय । जन्म वृथा, जीवन वृथा, पौरुष वृथा नसाय ॥२१३॥
कुलजन निज विस्तार हित, करैं पुत्र की चाह । औ सुत कुल के नाशहित, पौरुष करैं अथाह ॥२१४॥
आपुन ह्वै पुनि वज्र मन, करियै किमि इमि धार । सो प्रभु जहँ लगि ह्वै सकै, कीजै भलो विचार ॥२१५॥
करहुँ उपार्जन तो इन्हैं, देवैं को सुख-भोग । जीवनहू जो इनहिं लगि, अर्पौं सो उपयोग ॥२१६॥
जीति दिगन्तनि के नृपनि, जहँ लगि सब संसार । विजय, कीर्ति, धन, राज्य लहि, सन्तोषै परिवार ॥२१७॥
केशव, लखहु दशा विषम, भयो कर्म विपरीत । ते सब उद्यत समरहित, गुरु गोत्रज अरु मीत ॥२१८॥
नारि तनय धन मोह तजि, सबै शस्त्र की धार । जीवन धरि, संग्राम हित, आये बिना विचार ॥२१९॥
हौं धारौं हथियार, कैसे मारौं सबनि को । हौं डारौं अविचार, मथि निज कर सौं निज हृदय ॥२२०॥
हितकर उपकारी परम, जोइ भीष्म अरु द्रोन । आपु न देखत का प्रभो, ते आये रण-भौन ॥२२१॥
मातुल, श्यालक, श्वशुर पुनि, पुत्र पौत्र अरु मित्र । सुहृद बन्धु आदिक सकल, जहँ लगि स्नेह पवित्र ॥२२२॥

सकल निकट सम्बन्ध ते, बन्धु सहोदर जान । जो सुख लगि मारौं इन्हें, तौ प्रभु, दोष महान ॥२२३

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ॥३५॥

अर्थ—इनहिं न हनिबे को चहौं, बरु हो मम संहार ।
अवनि-राज्य तो वस्तु का, त्रिभुवन राज्य असार ॥३५॥

ये चाहैं जैसो करैं, मारैं मोहि इतैहिं । पै जनि मैं इन-घात की, चिन्ता करहुँ चितैहिं ॥२२४

जो लहियत हो सहज ही, तीन लोक को राज । तोउ न इनके हनन को, करिहौं अनुचित काज ॥२२५

सुजन न लैहैं नाम मम, करिहौं जो यह काज । आपुहिं को किमि निजवदन, दिखरैहौं ब्रजराज ॥२२६

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

अर्थ—कौरवगण बधि, मोंहि प्रभु, कहहु कहा सुख होय ।
निश्चय पापाश्रय बनौं, आततायि बधि सोय ॥३६॥

गोत्रज को जो बध करौं, तौ बनिहौं अघधाम । जो मैं जीत्यो तो तुमहिं, खोइ रहौंगो श्याम ॥२२७

घातक कुल, पातक अमित, पावत कलुषित-अंग । तैसे को तुम किमि मिलत, कहहु मोहि श्रीरंग ॥२२८

दुर्विधिवश उद्यान, अनल प्रबल लागै जहाँ । दै तजि, करैं पयान, कोकिल तहँ ठहरैं नहीं ॥२२९

निरखि सरोवर पंकयुत, रमत न चित्त चकोर । करत निरादर तजि चलत, तिमि थिति मम अरु तोर ॥२३०

तिमि प्रभु तुम मम पुण्य-सर, सख्यो जानि नितान्त । मो तन छिनहु न देखिहौ, होइहौं माया-भ्रान्त ॥२३१

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

अर्थ—यातें हौं कौरव दलहिं, हनिहौं नहिं भगवान ।
स्वजन-हनन करि किमि कहहु, लहिहौं प्रभु, कल्यान ॥३७॥

शस्त्र न धारौं इहि समर, करौं न मैं रणरंग । निन्दित अति यह कर्म मोहिं, देखि परत श्रीरंग ॥२३२॥

यदि तुम छूटे कहहु प्रभु, होय कौन गति मोर । फाटैगो हिय दुःख तें, छाय तिमिर चहुं ओर ॥२३३॥

अर्जुन कहि वधि कौरवहिं, जो भोगौं सुखभोग । तौ अति अपवित्र होय यह, भोग नहीं कछु रोग ॥२३४॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

अर्थ—अहह ! लोभवश राज्य के, कौरव लखहिं न दोष ।
जो उपजै कुलक्षय किये, अरु मित्रन प्रतिरोध ॥३८॥
कुलक्षय कौ जब दोष यह, हमें समस्त दिखात ।
क्यों तब पाप-निवृत्ति कौ, भाव उठै नहिं तात ! ॥३९॥

यदपि भूलि अभिमान-वश, आये यह संग्राम । तदपि मोंहि निजहित उचित, आनब ललित-ललाम ॥२३५॥

हौं किमि ऐसो करि सकौं, हनौं बन्धुजन आप । क्यों हालाहल सेवियत, आनि बूझि फल ताप ॥२३६॥

सिंह अचानक जेहि मग, आवै सन्मुख आप । तेहि तजि लहिबो लाभ हित, नतरु मिटै नहिं ताप ॥२३७॥

जे तजि विमल प्रकास, अन्धकूप आश्रय गहै । कहहु न,* जगत-निवास, कौन लाभ मानुष लहै ॥२३८॥

देखि परत सन्मुख अनल, तऊ न हटत मतिमन्द । ते तो निश्चय ही जरत, परिकै ज्वाला-फन्द ॥२३९॥

मोंहि लगत प्रत्यक्ष तिमि, दोष महा-बलवान । किमि प्रवृत्ति रण मैं करौं, जानतहु भगवान ॥२४०॥

एहि विधि तेहि अवसर प्रभुहिं अर्जुन वचन सुनाय । बहुरि कह्यौ 'हरि सुनहु फल या अघकौ मन लाय' ॥२४१॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

अर्थ—कुल कर छय ते नसत हैं, कुल के सब ध्रुव धर्म।
धर्म-नाश ते सकल कुलहिं, व्यापत घोर अधर्म ॥४०॥

मथैं काष्ठ सों काष्ठ तों, अगिन प्रगट जिमि होय। पुनि तिन काष्ठहिं जारिबे, धरे ज्वाल महँ सोय ॥२४२॥
मत्सर-वश तिमि गोत्रजहिं, हनैं परस्पर दुष्ट। व्यर्थ करैं कुलनाश ते, लहैं दोष अतिपुष्ट ॥२४३॥
एहि अघ ते पुनि वंशगत, लोप होंहि सब धर्म। घेरत कुल कों घोर अति, बहुविध बहुरि अधर्म ॥२४४॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

अर्थ—जे कुल घिरत अधर्म तें, तहँ बिगड़ें कुलनारि।
नारिन के इ दोषतें, संकर-दोष प्रचारि ॥४१॥

सारासार विचार अरु, यथायोग्य आचार। तहां नष्ट हो जात सब, विधि निषेध व्यवहार ॥२४६॥
दीप-प्रभा को खोय जिमि, तिमिर मध्य भटकाय। समतलहू पर ठिठकि नर, पुनि पुनि गिरतो जाय ॥२४७॥
जे कुल के ध्रुव धर्म, कुलछय तें ते छीन हों। केवल रहत अधर्म, घेरि आन रह पाय किमि ॥२४८॥
कुल तिय तजि सब यम नियम इन्द्रियवश स्वच्छंद। बहुरि चरहिं व्यभिचारपथ तजि लज्जादिक फंद ॥२४९॥
उत्तम, मध्यम, अरु अधम, वर्णा-अवर्णा मिलाप। मूल सहित कुलधर्म सब, नासहिं आपुन आप ॥२५०॥
चौराहे पर देखि बलि, चहुँधा झपटैं काग। महापाप संचार तें, तिमि कुल लागैं दाग ॥२५१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

अर्थ—संकर दुहुं कुल नरकप्रद, कुलघातक, कुलनष्ट।
रहित पिण्ड-तर्पण-क्रिया, सकल पितर गतिभ्रष्ट ॥४२॥

इमि कुल रह्यो न शेष जो, अरु कुलघातक जोय। जाहिं नरक संशय नहीं, केशव ते कुल दोय ॥२५२॥
देखहु केशव, वंश सब, पतित होंहि इहि भाँति। पतन लहैं पुनि स्वर्ग तें, पुरखानहु की पाँति ॥२५४॥

जब निमित्त अरु नित्य की, सकल क्रिया नसि जायँ । फेरहुँ, तहाँ तिलाञ्जलि, अरपन कौन कराय ॥२५४॥
ताहि पितरगण उत करें, किमि ते स्वर्ग रहाहिं । तेहि समय ते स्वर्ग से, गिरें आय कुल माहिं ॥२५५॥
इमि नसत ते शिखलौं तुरत होय ज्यालविष व्याप्त । मूलपुरुष पर्यन्त तिमि, पतन करें ते प्राप्त ॥२५६॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अर्थ—घातक कुल, तिन दोषनैं, उत्पादन सांकर्य ।
सकल धर्म कुल जाति के, विनशावत, शाश्वत ॥४३॥
प्रभु, जिनके कुलधर्म ध्रुव, नसिहैं ते अतिमन्द ।
नरक वास पावैं सुचिर, इमि भाषत गुरुवृन्द ॥४४॥
अहह, स्वयम् उद्यत भयो, करिबै को अति पाप ।
अरे, राज्य सुख लोभ में, हनिहौ निज-जन आप ॥४५॥

देख, वचन गुनु मोर, कुलघातक को लगत पुनि । पातक यह अति घोर, तेहि संग दूषित अन्य हों ॥२५७॥
जिमि विधिवश लागी अनल, एक गेह मधि घोर । सो प्रतिवेशी अन्य गृह, दहन पाइ अति जोर ॥२५८॥
तिमि इस संकर वंश के, संग किये व्यवहार । अपर वंश भी पतित हों, ऐसो शास्त्र विचार ॥२५९॥
अर्जुन कहि बहु दोष हों, तिहि कुल के संयोग । संसर्गीजनहू लहैं, नाना नरक-कुभोग ॥२६०॥
नरकवास कल्पान्त लगि, छुटकारो नहिं तासु । इमि कुल क्षयतें हो पतन, यह मेरो विश्वासु ॥२६१॥

केशव, विषम विषाद मम लखि तुव-हृदय न ग्लानि। हृदय वज्र किमि निज कियौ हरत न मोरी म्लानि ॥२६२॥
चाहत राज्य न भोगसुख, छनिक शरीर विचारि। ऐसो जानत दोष पुनि, त्यागौं किमि न मुरारि ॥२६३॥
निरखि सकल निज-बन्धु इत, आगत हित संग्राम। किमि न गनौं रणदोष यह, कहहु कृपा करि श्याम ॥२६४॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

अर्थ—रक्षाहित निज एकहू, शस्त्र न धरिहौं हस्त।
कौरव रण महँ मुहिं हनैं, तो मम क्षेम समस्त ॥४६॥

कौरव-गण हनि मैं जियौं, याते भल यह होय। विषम बाण तिनकै महौं, तजौं शस्त्र गति खोय ॥२६५॥
हौं यह जानौं नीक, ऐसो करि पावहुँ मरण। मानौं घोर अलीक, बिना प्रयोजन बन्धु-वध ॥२६६॥
इमि लखि निज कुलबन्धु पुनि, अर्जुन बोल्यो आप। केवल प्रभु यह राज्य-सुख भोग नरक-सन्ताप ॥२६७॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

अर्थ—इमि कहिकै धनु बाण तजि, शोकाकुल मन पार्थ।
बैठि गयो रण खेत महँ, रथ-उपरथ के सार्थ ॥४७॥

संजय राजा तें कहत, सुनहुँ नृपति चित धारि। एहि विधि कहि श्रीकृष्ण तें अर्जुन समर मँझारि ॥२६७॥
अति उदास अति विकल मन, इमि लहि शोक अनन्त। रथपर तें ले भूमि पर, उतर्‌यो तहाँ तुरन्त ॥२६८॥
जिमि निज पद तें च्युत भयो, निष्प्रभ राजकुमार। अरु जिमि रवि, राहु-ग्रसित, होत छीन-द्युति-सार ॥२६६॥
किंवा तापस भ्रान्तिवश, महासिद्धि के लोभ। विषय वासना महँ पड़ै, लहै अन्त प्रभु क्षोभ ॥२७०॥
तिमि तहँ तजि धनुबाण निज, अर्जुन जर्जर भाय। उतरत रथ तें भूमि पर, संजय कहै सुभाय ॥२७१॥

संजय भाषत नृपति सों, अर्जुन दशा विचार । धनुष बाण त्याग्यो सबन, नयन अश्रुजलधार ॥२७२॥

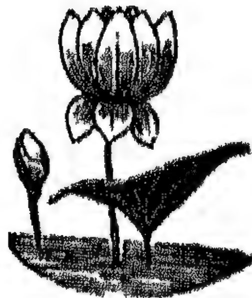
'अग्रहिं' अब वैकुण्ठपति, देखि खेदयुत पार्थ । करहिं निरूपण कौन विधि, अर्जुन प्रति परमार्थ ॥२७३॥

यथारीति विस्तार, अति कौतुक युत सुनु कथा । 'श्री ज्ञानेश्वर' चारु, श्रीनिवृत्ति को दास कह ॥२७४॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमत् ज्ञाननाथ-विरचित
भावार्थदीपिकोपरि श्री अग्र वैश्य वंशोद्भव मण्डला
(माहिष्मती पुरी) निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि)
भद्देलालात्मज श्रीमत् ज्ञाननाथस्य शिष्या-
नुशिष्यस्य किंकर । श्री गणेश प्रसाद
कृतायां दोहा ज्ञानेश्वर्यां
प्रथमोऽध्यायः

शुभमस्तु

ॐ तत्सत् ।१



ॐ

द्वितीय अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

अर्थ—संजय कहि—अँसुवानते विकल-नेत्र, सविषाद ।
अतिकृपालु अर्जुनहिं इमि, कृष्ण कहे मृदुवाद ॥१॥

संजय कहि धृतराष्ट्र सें, सुनु नृप ताहि ठिकान । अर्जुन व्याकुल शोकयुत, रोदन करत महान ॥१॥
सब निजजन लखि पार्थ की, उमगी अद्भुत प्रीति । द्रवित चित्त तासें भयौ, बरनौं तेहि केहि रीति ॥२॥
जिमि जल महँ पिघलै लवन, डुलै पवन तें अभ्र । तैसहि पिघल्यो पार्थ को, हृदय सुधीर अदभ्र ॥३॥
कृपायुक्त ह्वै तेजहत, पांडव-कुल-अवतंस । जम्बालहिं जिमि देखिकै, मलिनचित्त कलहंस ॥४॥
जर्जर अति तिमि पाण्डुसुत, महामोहवश जान । कहे पार्थ को ये वचन, सारंगधर भगवान ॥५॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

अर्थ—आरजयोग्य न, अयशकर, बाधक स्वर्ग यथार्थ ।
कवन हेतु रणभूमि महँ, यह विषाद मिलु पार्थ ॥२॥

अर्जुन, सोचहु प्रथम यह, उचित कि अस इहिं ठाम । करहु कहा तुम कार्य अस, को तुम, का तुव नाम ॥६॥
कहहु भयो तुम, कहँ कहा, निज कर्तव्य विचार । कहा न्यूनता रह गयी, कहा खेद संचार ॥७॥
अनुचित चित्त न तुम दियो, कबहूँ न छांड्यो धीर । अपयश भगै दिगन्त तुव, नामहिं होय अधीर ॥८॥

शूरवृत्ति के ठाँव, क्षत्रिन के तुम मुकुट-मणि। त्रिभुवन माँहि प्रभाव, डंका बाजै शौर्य को ॥६॥
जीति हरहिं संग्राम महँ, कवच निपात समूल। औ नास्यो गन्धर्व-गण, गावहिं यश बहुमूल ॥१०॥
अर्जुन, परम पराक्रमी, तुम सम त्रिभुवन नाहिं। देखि परत लघु तुमहिं ते, अवलोके सब पाहिं ॥११॥
आज किन्तु तुम छांडि सब, वीरवृत्ति बलवान। मुख करि के नीचे करत, रोदन करुणा ठान ॥१२॥
अर्जुन करहु विचार तुम, करुणायुत ह्वै दीन। अन्धेरा किमि भानु कहँ, कहिं ग्रसि सकत प्रवीन ॥१३॥
अभ्र उडावै पवन कहँ, अमृत मृत्यु कहँ पाय। इन्धन पावक कहँ दहै, अर्जुन कहुँ न लखाय ॥१४॥
अपर सग लहि विष मरै, लवण गलावै तोय। अर्जुन दादुर किमि भखै, महानाग कहँ जोय ॥१५॥
सिंहहु ते लरि स्यार कहुँ, ऐसी अघटित बात। पै दरसाई सत्य करि, ताहि आज तुम तात ॥१६॥
तातें अर्जुन चित्त महँ, करहु न हीन विचार। आतुर मन धरि धीर रहु, सोधम पाण्डुकुमार ॥१७॥
धनुष बाण भुज माँहि, धरहु, मूर्खता तजि उठहु। या करुणा तुम पाहिं, समरांगन महँ काम कह ॥१८॥
अर्जुन हीन विचार नहिं, करु अब चित्त मँझार। कहहु युद्ध महँ सदयता, उचित कि मल-व्यवहार ॥१६॥
ये नाशै तुव विमल यश, परलोकहु कर ह्रास, अर्जुन ते इमि कहत पुनि, श्रीपति जगत-निवास ॥२०॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

अर्थ—सोह नपुंसकपन न तुहि, अर्जुन तेहि न धारि।
दुर्बलता हिय क्षुद्र तजि, उठ रिपुदमन विचारि ॥३॥

अर्जुन शोक न करहु तुम, धीर हिये महँ धार। खेद हृदय को दूर करि, उठ अब पाण्डु कुमार ॥२१॥
सो नासै हित जेहि ते, जो सम्पादन कीन। उचित नहीं अस तुमहिं कछु, करहु विचार प्रवीन ॥२२॥
दया-भाव सोहे नहीं, इहि अवसर संग्राम। कौरव शठ कब तें भये, बन्धु प्रीति के धाम ॥२३॥
आज लगै जानन तिनहिं, भई गोत्रज पहिचान। अब उमगी ममता हृदय, काहे व्यर्थ सुजान ॥२४॥
नाहिन तुम योद्धा नवल, नाहिन समर नवीन। भूलत चिरपरिचय कहहु, कवन हेतु प्राचीन ॥२५॥
काह भयौ अब ही तुमहिं, उपज्यो नेह विशाल। समुझि परै नहिं पार्थ, तुम, कौन भये इहि काल ॥२६॥

विमल कीर्ति को नास, धरे मोह इमि होइहै। इहहिं पाइहै हास, परलोकहु नसिहै सकल ॥२७॥
दुर्बलता हियकी बहुरि, कबहुँ न हितकर होय। समर-समय पुनि क्षत्र के, अधोगमन हित सोय ॥२८॥
नाना-विध उपदेश इमि, जो दीन्हो भगवन्त। तेहि सुनत अर्जुन कहत, हिय अति करुणावन्त ॥२९॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्थ—किमि मधुसूदन, भीष्म अरु, द्रोणहिं मारौं बान।
जिनहिं पूज्य मोंते अधिक, रिपुसूदन, तुम जान ॥४॥

भगवन, प्रथम विचारिये, होय कि यह संग्राम। करे शिष्य गुरुद्रोह जहँ, पौत्र पितामह-भाम ॥३०॥
देव, न समर प्रमाद यह, तहँ प्रवृत्ति अतिदोष। पूज्य जनन के घात तें, उपजि सकत किमि तोष ॥३१॥
जासु लहौं संवावसर, परम पुण्य-परिणाम। तिन कर वध करि निज करहिं, ठौर लहौं किहि धाम ॥३२॥
बहुरि, सन्तजन सर्वदा, वन्दन-अर्चन-योग्य। करि तिनकी निन्दा बहुरि, को लहि है सुखभोग्य ॥३३॥
कुल गुरु मेरे पूज्य अति, प्रकट देह में देव। दुर्जन भीष्म अरु द्रोण की, किमि न करौं नित सेव ॥३४॥
स्वप्नेहु प्रभु नहिं करि सकत, वैरभाव जिन पाहिं। मैं तिनकौ प्रत्यक्ष किमि, हनन करौ रणमाँहि ॥३५॥
विद्या करि अभ्यास, गुरुजन प्रति करु द्रोह जो। नाशै जीवन आस, यहाँ प्रतिष्ठा हनि इनहिं ॥३६॥
शिष्य अहौं मैं, द्रोण गुरु, धनुर्वेद मुहि दीन्ह। उपकृत गुरु-उपकारतें, तिनहिं हनौं किमि चीन्ह ॥३७॥
जासु कृपा मैं वर लह्यो, अर्जुन कहत उचार। भस्मासुर बनि किमि करौं, ते गुरु कर संहार ॥३८॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

अर्थ—निष्कंटक भू-राज्य अरु, ऋद्ध राज्य-सुरलोक ।
लहि, नहि दीसत जो हरे, इन्द्रिय शोषक-शोक ॥८॥

लखि सकल कुल, शोक जो, उपज्यो मम मन मांहि । सो तव वचनामृत विना, आन यतन नहि जाहि ॥६४॥
सकल भूमितल राज्य लहि, अरु महेन्द्र पद पाय । मम मन को व्यामोह यह, नसै न आन उपाय ॥६५॥
जो कहुँ भूजे बीज को, लाय सुखेत बुवाँय । जितनहु सींचौं ताहि पर, ते न उगैं, नसि जाय ॥६६॥
आयु अन्त हो जाय जब, तब औषध न जनाय । केवल परमामृत तहाँ, सदुपयोग महँ आय ॥६७॥
केशव, चहै न चित्त मम, राज्य समृद्धि सुभोग । केवल तव करुणा-सुधा, कृपासिन्धु उपयोग ॥६८॥
अर्जुन ऐसे वचन कहि, इक छन छांड़ी भ्रान्ति । पर पुनरपि उमगी लहरि, प्रगटी हृदय अशान्ति ॥६९॥
काल-व्याल ग्रस्यो सकल, महामोह को रोग । श्री ज्ञानेश्वर कहि नहीं, लहरि, दूसरो जोग ॥७०॥
हृदय कमल महँ पार्थ के, करुणा भरी निहार । है मर्मस्थल दंश यह, लहरि न मिटै अपार ॥७१॥
दृष्टिहिं सब विष टारि, कठिन प्रसङ्ग विलोकि अस । रक्षा हेतु विचारि, आये श्रीहरि गारुड़ी ॥७२॥
अर्जुन कहँ व्याकुल निरखि, पहुँचि पास भगवान । कृपाधीन सहजहिं करी, रक्षा तासु सुजान ॥७३॥
महा-मोहमय सर्प तें, अर्जुन मन लखि ग्रस्त । मैं बरन्यो इमि वृत्त यह, कारण जानि समस्त ॥७४॥
तेहि छिन तहँ व्यापी हुती, मोह-भ्रान्ति विशाल । जिमि रवि वारिद ते ढँकगो, तिमि अर्जुन तेहि काल ॥७५॥
अरु निदाघ महँ जिमि लगै, गिरिवर माँहि दवारि । अर्जुन तिमि जर्जर दुखित, मोह अग्नि की झारि ॥७६॥
जिमि जल बरसि नवीन घन, दावानलहिं बुझाय । तिमि बरसत करुणा-अमृत घनश्याम तहँ आय ॥७७॥
दशन झलक द्युति विज्जु, तन,-नीरद श्याम गँभीर । वारिद गर्जन वचन जनु, लखि सुनि होय अधीर ॥७८॥
केशव वारिद पार्थ गिरि, वृष्टि कृपामय वारि । फूटि नवलद्रुम ज्ञान के, बिलसत शान्ति अपारि ॥७९॥
करत कथा मनकी परम, समाधान उल्लास । भाषत ज्ञानेश्वर निरखि, श्रीनिवृत्ति को दास ॥८०॥



अरु निदाघ मह जिमि लगे, गिरिधर मांहि दवारि ।
अर्जुन तिमि जर्जर दुखित मोह अग्नि की झारि ॥
जिमि जल बरसि नवीन घन, दावानलहिं बुझाय ।
तिमि बरसत करुणा अमृत, घनश्याम तहं आय ॥

गीता ज्ञानेश्वरी अ० २, दोहा ७६,७७

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

अर्थ—'मैं लड़िहौं गोबिन्द नहिं' इमि कहि हरि तें आप।
संजय कहि हे अरि तपन, पार्थ भयो चुपचाप ॥९॥

कहि पुनि बोले बैन, इहि विधि संजय नृपति तें। बोले बैन अचैन, शोकाकुल ह्वै पार्थ इमि ॥८१॥
पुनु सखेद कहि पार्थ तब, मोहिं युद्ध के हेतु। नाना भाँति न कहहु वच, निश्चय लरौं न खेतु ॥८२॥
निश्चित मत कहि ते इतो, हटि मौन-व्रत धार। केशवहु विस्मित भये, लखि अर्जुन व्यवहार ॥८३॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

अर्थ—उभय सैन्य के मध्य लखि, राजन्, खेदित पार्थ।
वचन मन्द मुसकानि सह, बोले कृष्ण यथार्थ ॥१०॥

कृष्ण कहत निज चित्त महँ, इह आरंभ्यो काय। समुझि परत नहिं पार्थ हित, कीजै कहा उपाय ॥८४॥
केहि विधि समुझावौं इसे, यह किमि धारे धीर। मान्त्रिक जिमि अनुमान करि, हरै ग्रहन की पीर ॥८५॥
किंवा व्याधि असाध्य लखि, वैद्य विचार निदान। ते दिव्यौषधि योजना, करत अमोघ सुजान ॥८६॥
दोनों सेना मध्य तब, करत विचार अनन्त। जातें अर्जुन भ्रान्ति लहि, तासु होय किमि अन्त ॥८७॥
कारण मन महँ धारिके, वचन सटोपारंभ। जिमि जननी के कोप महँ, वसत सनेह सुथंभ ॥८८॥
औषध महँ करुयोपनो, गुणप्रद सुधा समान। ऊपर तें न दिखात प्रिय, परिणामहिं सुख खान ॥८९॥
अन्तर ममतायुक्त, उदासीन ऊपर लखत। वचन परम उपयुक्त, आरंभे भगवान इमि ॥९०॥

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अर्थ—सोचत सोचन जोग नहिं, पण्डित इव बतरात ।
जीवित मृत के शोक तें, पण्डित नहिं अकुलात ॥११॥

कहत कृष्ण—हे पार्थ, तैं, का आरंभ्यो आज । मोकहं लगत नवीन यह, अर्जुन, तेरो काज ॥९१॥
ज्ञानी आपुहिं मानि तू, किमि न तजत अज्ञान । देइ सिखावन, मोहमय, नीति कहसि बहु आन ॥९२॥
जनम अन्ध उनमत्त ह्वै, इत उत धावै जाय । तैसो ही 'चातुर्य' तुव, मोकौं परत जनाय ॥९३॥
आपुहिं जानत आपु नहिं, कौरव सोच पसारि । विस्मय अति मन होत है, तेरी दशा निहारि ॥९४॥
अर्जुन, कहु त्रयलोक को, धारण तुम तें होय । प्रिय अनादि रचना जगत, आनहु झूठी सोय ॥९५॥
प्रभु समर्थ जिहिं ते सकल, प्राणिमात्र उपजायँ । ऐसो भाषत जगत जो, सो का झूठ कहायँ ॥९६॥
यह प्रतीति जनि होय तुम, जन्म मृत्यु करतार । नतरु तुम्हीं पालन करो, तुम ही नाशनहार ॥९७॥
अहंभाव भ्रमवश धरे, बात न धारहिं नेक । कहहु कि 'कौरव नित अमर, रहिहैं' करहु विवेक ॥९८॥
जातें पायो शोक, ऐसी भ्रान्ति न चाहिये । मरणाहार सब लोक, नहिं तुम अधिक कि मध्य हो ॥९९॥
यह सब सिद्ध अनादि तें, होवत आपुहिं आप । ताको सोचत तुम कहा, करत कहा अनुताप ॥१००॥
समुझसि नहिं अज्ञानवश, इमि असोच के सोच । कहसि नीति की बात जो, सो अनीति अरु पोच ॥१०१॥
लेखहिं विज्ञ विवेक तें, जन्म मृत्यु को भ्रान्ति । तातें ताके विषय ते, तजहिं सोच लहि शान्ति ॥१०२॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अर्थ—हम, तुम अरु ये नृप सकल, हुते पूर्व के माहिं ।
अरु भविष्य महँ होयंगे, या में संशय नाहिं ॥१२॥

अर्जुन, हौं तुमतें कहत, सुनहु हमारे बैन । हम तुम अरु नृप ये सकल, जुरे यहाँ सह सैन ॥१०३॥

ऐसहि सब रहिहैं सदा, अथवा पावैं नाश। निश्चय नहि दुहुँ बात में, तजहु भ्रान्ति सहत्रास ॥१०४॥
उद्भव-नाश दिखात जे, ते माया के योग। आत्मा सत्यरुनित्य तिहिं, कबहुँ न योग वियोग ॥१०५॥
जल समीर के योग हिलि, होय तरङ्गाकार। जल सिवाय उद्भव कहा, अर्जुन कहहु विचार ॥१०६॥
जिमि समीर के थिर भये, नीरहु थिर ह्वै जाय। तहाँ नाश काको भयो, नहिं कछु नीर सिवाय ॥१०७॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अर्थ—देहहु महँ जिमि बाल अरु, तरुण वृद्ध वय होय।
त्यों देहान्तर प्राप्ति तहँ, धीर न मोहत कोय ॥१३॥

देखत भेद अनेक, सुनु इक तन महँ वयसके। जीव रहे तहँ एक, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥१०८॥
देखत देह कुमारपन, तरुणाई, वार्धक्य। वयस नास ते होत नहिं, पार्थ देह-पार्थक्य ॥१०९॥
देह वयस इव जीव इक, देह देह महँ जात। जे इमि जानत दुःख ते, लहत न भ्रमवश तात ॥११०॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

अर्थ—इन्द्रियविषय सुशीत कहुं उष्ण, सुखद, दुखदाय।
आवत जात अनित्य तिहिं, सहन करहु नरराय ॥१४॥

इन्द्रिय-विषय-अधीनता, को कारण अज्ञान। ताते आकर्षित हृदय, नरहिं मोहवश जान ॥१११॥
इन्द्रियगण सेवहिं विषय, हर्ष शोक उपजायँ। तस संगति ते दुःख सुख, भ्रम महँ मनहिं डुबायँ ॥११२॥
जे शब्दादिक विषय हैं, एकस्थिति तहँ नाहिं। इमि कहुँ सुख अरु दुःख कहुं, देखि परत तिन माहिं ॥११३॥
देखु वचन महँ व्याप्त हैं, निन्दा अरु स्तुति दोय। द्वेषरुराग जमा वहीं, श्रवणद्वार तें सोय ॥११४॥
कोमल कठिनहिं परसिके, दोनों गुण समझायँ। देह विषय ते तोष अरु, खेद उभय प्रगटायँ ॥११५॥
सुन्दर, भीषण भेद है, जानहु रूप मंझार। ते उपजावैं दुःखसुख, प्रविशि नयन के द्वार ॥११६॥

परिमल हू ते जान, इष्ट सुगन्ध, कुगन्ध पुनि । तोप अतोपहिं मान, लहत नासिका द्वार तें ॥११७॥
द्वै विधि के रस तें उपजि, पार्थ प्रीति अरु ग्लानि । विषय संग कारण पतन, लेहु सु निश्चय मानि ॥११८॥
पुरुष इन्द्रियाधीन ह्वै, शीत उष्ण कहँ पाय । सुख अरु दुःख अधीनता, पावै आप सुभाय ॥११९॥
चहहिं न इन्द्रिय सर्वथा, रम्यविषय तजि आन । एहि विध सहज स्वभाव लखु, इन्द्रिय को मतिमान ॥१२०॥
मृग जल दीसत रम्य जिमि, विषयहु ताहि समान । किंवा होवहि स्वप्न महँ, जैसे गज को भान ॥१२१॥
ऐसहि विषय असत्य लखि, पार्थ करो तुम त्याग । संग कदापि न धरहु तुम, धनुधारी तिहिं लाग ॥१२२॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

अर्थ—सुख अरु दुःख समान जिहिं, पार्थ, पुरुष ते धीर ।
विषय व्यथा नहिं देत तिहिं, तिन लहि मुक्ति अपीर ॥१५॥

जो नर विषयाधीन नहिं, सुख दुख तिनको नाहिं । गर्भ वगति को समय पुनि, प्राप्त होत नहिं ताहिं ॥१२३॥
नहीं सर्वथा होत जे, इन्द्रिय के आधीन । तेहिं अविनाशी जानिये, निश्चय पार्थ प्रवीन ॥१२४॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अर्थ—असत न सत्ता कहुँ लहै, सत् न असत्ता पाय ।
असत व सत जानत उभय, तत्त्वदर्शि समुदाय ॥१६॥

केशव भाषत पार्थ सुनु, तुमहिं कहौं इक बात । जे नर जगत विचार-युत तिन्हतें जान्यो जात ॥१२५॥
अलखरूप चैतन्य, जगमहँ व्यापक जो सदा । ते तत्त्वार्थी धन्य, तिहिं स्वीकारत पार्थ जे ॥१२६॥
सलिल माहिं जिमि पय मिले, उभय एक ह्वै जायँ । चतुर हंस निज चञ्चु तें, जल पय विलग करायँ॥१२७॥
जैसे खोटे स्वर्ण को, अग्नि आँच तें ताय । चतुर शुद्ध करि देत है, खोटोपन बिलगाय ॥१२८॥
किंबहु जिमि चातुर्य तें, दधि को मथन कराय । विलग होत नवनीत तहँ, अर्जुन परत लखाय ॥१२९॥

कृषक इकत्रित बीज भुस, करि उड़ावनी लान । घनीभूत जिमि धान्य रहि, उड़ै भूस जग जान ॥१३०॥
ज्ञानी तत्त्व विचारि तिमि, लहैं यहै परिणाम । तजि सब सहज प्रपंच को, रखैं तत्त्व उरधाम ॥१३१॥
तहँ नहिं आस्तिक मति रखें जासु अनित्य ठिकान । असत सदैव अनित्य है अरु 'सत' नित्यहिं जान ॥१३२॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अर्थ—जातें व्याप्त जगत् सकल, तिहिं अविनाशी जान ।
नाश-रहित अविकार को, नाशै को बलवान ॥१७॥

सारासार विचार करि, भ्रान्तिहि जानि असार । अरु अविनाशी विकार विन, जानहु अर्जुन सार ॥१३३॥
उपजत जातें लोकत्रय, अरु अपार विस्तार । जाको नाहीं नाम अरु, वर्ण, चिन्ह आकार ॥१३४॥
काहू ते कहुँ नाहिं, ताको नाश कदापि हू । व्यापक सकल सदाहिं, जन्म मरण ते रहित ते ॥१३५॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अर्थ—देह पतनयुत जानिये, आत्महिं नित पहिचान ।
नहिं प्रमेय अविनाशि लखि, अर्जुन युद्धहि ठान ॥१८॥

अरु स्वभाव ते देह सब, नाशवन्त ही होय । उठो पांडुसुत करहु तुम, युद्ध कार्य अब सोय ॥१३६॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अर्थ—जो जानै आत्मा हनै, अथवा मार्यो जाय ।
सो अज्ञानी दोउ 'चित्', हनै न मार्यो जाय ॥१९॥

धरि शरीर अभिमान तुम, राखत दृष्टिहिं देह । मैं मारौं कौरव मरैं, अर्जुन जानसि एह ॥१३७॥
वस्तुहिं तुम जानी नहीं, करु मन तत्त्वविचार । मरणहार कौरव नहीं, तुम नहिं मारनहार ॥१३८॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

अर्थ—जनमत, मरत कदापि नहिं, भयो, न है, नहि होय।
ध्रुव, अज, नित्य, अनादि यह, मारे मरे न सोय ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

अर्थ—जो अविनाशी, नित्य अज, अरु अव्यय अस जान।
मारे, मार्यो जाय नहि, ते इमि निश्चय मान ॥२१॥

स्वपन मांहि जोई लखै, सोई सत्य जनाय। जागे तें पुनि पेखियत, तो कहुँ कछु न रहाय ॥१३९॥
जानहु माया याहि को, लोक भ्रमत इहि ठांव। छाया जो हनि शस्त्र तें, अंग न लागै घाव ॥१४०॥
लखि उलटे जलपूर्ण घट, बिम्बाकार नसाय। पै तिहिं कारण पार्थ सुनु, भानु न नाशहि पाय ॥१४१॥
गगन मठाकृति होत है, जब लौं मठ को रूप। भंग भये मठ के तुरत, गगनहु आप स्वरूप ॥१४२॥
काया ही विनशात सदा, नहिं आत्मा को घात। करसि नहीं आरोप यह, आत्मा महँ भ्रम तात ॥१४३॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

अर्थ—जीर्ण वसन जिमि त्यागि नर, धारण करैं नवीन।
नूतन तन तिमि जीव लहि, त्यागि देत प्राचीन ॥२२॥

धारैं वस्त्र नवीन, जैसे जूने वस्त्र तजि। चेतन पार्थ प्रवीन, तिमि स्वीकारत नवल तन ॥१४४॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अर्थ—शस्त्र न छेदन करि सकें, अग्नि न सकहिं जराय।
जल न भिजावहिं आत्म को, पवन न सकहिं सुखाय ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अर्थ—छेदन, क्लेदन अरु दहन, नहिं शोषण के जोग।
आत्म सनातन नित्य ध्रुव, व्यापक, अचल, अरोग ॥२४॥

यह अनादि अरु नित्य है, रहित उपाधि विशुद्ध। तातें अस्त्र सुशास्त्र तें, छिदत न निष्कल बुद्ध ॥१४५॥
बूडत नहि जल प्रलय महँ, जारि सकै न कृशानु। शोषक मारुत पुनि प्रथित, सकै न शोषि सुजान ॥१४६॥
शाश्वत, व्यापक, अचल यह, सदा नित्य सर्वत्र। उदित सदा परिपूर्ण लखि, अवसर शोक न तत्र ॥१४७॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अर्थ—निराकार चिन्तन रहित अविकारी इहिं जान।
अरु तिहिं ऐसो जानि के, करहु न शोक सुजान ॥२५॥

गोचर होय न पार्थ यह, तर्क शास्त्र तें जोय। योगी को मन ध्यान हित, उत्कंठित नित होय ॥१४८॥
दुर्लभ जनमन को सदा, छुवे न साधन शक्ति। है पुरुषोत्तम अमित तहँ चलत न अर्जुन युक्ति ॥१४९॥

सत्, रज, तम गुण तें परे, यह अनादि अविकार। सकल रूप उद्भवरहित, निराकार नहिं पार ॥१५०॥
अर्जुन, ऐसो जानि इहिं, सर्वात्मक लखि लेहु। पुनि सहजहिं सब शोक तजि, दूर करहु सन्देहु ॥१५१॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो, नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अर्थ—आत्मा जन्मत यदि सदा, पुनि पुनि पावत नास।
पार्थ तथापि न शोक कर, जो अस तुव मन भास ॥२६॥

किं वा ऐसो जानि नहिं, नाशवन्त तिहिं मान। शोक तथापि न करहु मन, पाण्डु-कुमार सुजान ॥१५२॥
आदिरु मध्यरु अन्त, सदा निरन्तर सत्य जो। आत्म अखण्ड अनन्त, जिमि प्रवाह जल गंग को ॥१५३॥
उद्गम माँहि अखण्ड जो, मध्यहु चलत प्रवाह। अन्तहु मिलहि समुद्र महँ, सदा अखण्ड दिखाह ॥१५४॥
सरिस अवस्था तीन महँ, आत्मा को अवधार। प्राणि सकल नित लहत जिन, सर्वदेश सबकाल ॥१५५॥
तातें सोचहु जगविषय, तुम जनि पांडुकुमार। ऐसो ही जु स्वभाव ते, थित अनादि संसार ॥१५६॥
किंवा अर्जुन जग सकल, जन्म मृत्यु आधीन। लखि मन माने नाहिं तुव, जो उपरोक्त प्रवीन ॥१५७॥
तदपि न अर्जुन शोक को, कारण कछू तुम्हार। जन्म मरण को जगत महँ, हो न सकै परिहार ॥१५८॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अर्थ—जो जनमे निश्चय मरै, मरि ध्रुव जन्महिं पाय।
तातें शोक न करहु मन, चलिहै नाहिं उपाय ॥२७॥

जनम लेइ नाशै बहुरि, पुनरपि जन्मत लोक। रहँट सदृश जग परिभ्रमत, करहु न पाण्डव शोक ॥१५९॥
उदय होय या अस्त, सदा अखंड सुभाय। जन्म मरण अनिवार जग, व्यापहिं आय सदाय ॥१६०॥
नाशै गो त्रय-लोक पुनि, महा-प्रलय के काल। आदि व अन्त निवार किमि, सम्भव, बाहुविशाल ॥१६१॥
खेद करहु जनि वीर, यदि तुम मानत पेलहीं। किमि मन होत अधीर, जानबूझ अज्ञानवश ॥१६२॥

करि विचार बहु भांति ते, देखहु अर्जुन वीर। शोक करन के योग्य नहि, कथमपि तुम रणधीर ॥१६३॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अर्थ—भूत प्रथम रह अप्रकट, प्रकटे मध्य सुवीर।
अन्तहु अप्रकट होइ हैं, तिन की पुनि का पीर ॥२८॥

नराकार निज जन्म ते, प्रथम हुते सब जीव। धारण करिके जन्म जे, प्रकटे मध्य अजीव ॥१६४॥
अन्त समय पुनि पूर्ववत्, होइहैं नहि सन्देह। देखहु तनिक विवेक करि सब कीहु थिति एह ॥१६५॥
ज्यों निद्रामहँ स्वप्न तिमि, जन्म-मरण को भाग। मायाधीन स्वरूप सब, सत्स्वरूप प्रतिभास ॥१६६॥
जिमि लहि परस समीर को, नीर तरंगाकार। बनत परेच्छा सों जथा, नव स्वर्णालङ्कार ॥१६७॥
अभ्र पटल जिमि गगन महँ, घिरि आवत मतिमान। सकल भूत मायावशहिं, पार्थ परत तिमि जान ॥१६८॥
जो न हुतो, रहिहै न जो, तिहिं रोवहु किहिं लाग। चेतन अव्ययब्रह्म महँ, लच्य देहु तजि राग ॥१६९॥
विषय भोग तजि तप करत, जाके हित सब सन्त। होइ विरक्त सुरक्त अति, बन महँ वास करन्त ॥१७०॥
धरहिं सदा मन मारि, दृष्टि राखि तिहिं पर रहैं। संयम-नियम सुधारि, दृढ तप मुनिजन आचरत ॥१७१॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

अर्थ—कोउ लखत आश्चर्यवत्, कोउ कहत आश्चर्य।
कोउ सुनत आश्चर्यवत्, सुनि न जान तात्पर्य ॥२९॥

निश्चल हो एकाग्र हिय, हेरत केवल एक। अर्जुन सब बिसरै जगत, होय अशेष अनेक ॥१७२॥
गुण गण गावैं एक अरु, लहि चित विषय-निवृत्ति। अन्तररहित असीम-सी, करि तल्लीन स्ववृत्ति ॥१७३॥

एक श्रवण करि शान्ति लहि, त्यागि देंहि तनभाव। इक अनुभव ते लहत हैं, तद्रूपत्व स्वभाव ॥१७४॥
सरित प्रवाह समस्त जिमि, मिलें अम्बुनिधि मांहि। किन्तु न अम्बुधि तें बहुरि, पाछें लौटत जाहिं ॥१७५॥
त्यों योगीश्वर की सुमति, सब मिलि एकाकार। पावत पुनरावृत्ति नहिं, करिके तासु विचार ॥१७६॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अर्थ—तन महँ सब के आत्म जो, सो वध पावत नाहिं।
ताते अर्जुन जीव जग, शोक योग्य तुव नाहिं ॥३०॥

देहन महँ है व्याप्त जो, हनन जोग ते नाहिं। सकल जगत चैतन्य इक लखय देहु तिहिं पाहिं ॥१७७॥
अर्जुन होत स्वभाव तें, सब याही तें भार। नहिं तुम कहँ सोचब उचित, करु याको निरधार ॥१७८॥
कारण केहि आवत नहीं, तुव मन महँ ये बात। शोचत तुम यह अति घृणित, मोकों लागहि तात ॥१७९॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अर्थ—अरु स्वधर्म की दृष्टि तें, शोच जोग नहिं तोहिं।
धर्मसमर तें श्रेष्ठ कछु, क्षत्रिय कहँ नहिं होहिं ॥३१॥

कहा चिन्तवत पार्थ सूझत तोहिं विचार नहिं। बिसरयो तोहिं यथार्थ, जिहिं स्वधर्म ते तरत नर ॥१८०॥
कौरव बरु आपद लहैं, तुम्हहिं दुःख बरु होइ। होय भले कल्पान्त हू, पर स्वधर्म रहै सोइ ॥१८१॥
एक यही निज धर्म है, त्यागन जोग न जोय। ते त्याग्यो, उपजी दया, कैसे तरिहौ सोय ॥१८२॥
अर्जुन तुम्हरो चित्त यदि भयो दयावश वीर। तो इहिं अनुचित जानिये समर समय रणधीर ॥१८३॥
उत्तम यदि गोक्षीर अति, समुझत वैद्य अपथ्य। नव ज्वर महँ तिहिं देत नहिं, दीन्हे विषवत् तथ्य ॥१८४॥
अपर कर्म करि आन को, होय स्वहित को नाश। सँभल-सँभल अर्जुन रहो, धरु स्वधर्म की आश ॥१८५॥
कैसे व्याकुल हो वृथा, प्रिय स्वधर्म अवलोकु। बँधत न धर्माचरण ते, कोपि कदापि त्रिलोकु ॥१८६॥

जिमि सुमार्ग पै जात जे, तिनहिं न बाधा होय। अरु प्रकाश महँ रहि मनुज, कहुँ ठिठकै नहिं कोय ॥१८७॥
तिमि स्वधर्म जे आचरत, मन धरि निश्चय पार्थ। सकल कामना सिद्धि ते, पावत सहज यथार्थ ॥१८८॥
देखहु, मिले न न्याय, जब सब शान्त उपाय किय। क्षत्रिन्ह समर सिवाय, उचित नहीं कछु और तब ॥१८९॥
कपट रहित क्षत्रिय जहां, सन्मुख करैं प्रहार। तस सुधर्ममय युद्ध कहँ, बरनौं कौन प्रकार ॥१९०॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

अर्थ—सहजहिं मिल्यो सुयुद्ध यह, खुलो स्वर्ग को द्वार।
महाभाग क्षत्रिय लहैं, ऐसो रण व्यवहार ॥३२॥

अर्जुन, जानु न युद्ध यह प्रगट भयो शुभ दैव। मानहु धर्मनिधान पुनि, अक्षय जोय सदैव ॥१९१॥
याहि कहैं किमि युद्ध हम, अहै स्वर्ग साकार। तुव प्रताप कौ उदित रवि, मूर्तिमन्त रण-सार ॥१९२॥
तुव गुण गण को आदरत, आज स्वयंवर हेतु। कीरति दयिता प्रेमवश, आपहुँची कपिकेतु ॥१९३॥
जे क्षत्रिय बहुपुण्य हैं, ते पावत संग्राम। मार्ग चलत जिमि प्राप्त हो, चिन्तामणि सुखधाम ॥१९४॥
ज्यों जंभाइ ते मुख खुले, और सुधा बरसाय। त्यों अर्जुन यह समर तुम, पायो सहज सुभाय ॥१९५॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अर्थ—जूझहि जो नहिं इह सहज, धर्मयुद्ध महँ पार्थ।
तब स्वधर्म अरु कीर्ति हनि, पावसि पाप अपार्थ ॥३३॥

जो ऐसो रण छांडि अब, करसि वृथा अनुताप। आतमवध इव लहसि अति, हानि आप ही आप ॥१९६॥
जो तुम तें संग्राम महँ, आयुध आज तजाय। पूर्वज जन की कीर्तिहू, आपुहिं देसु नसाय ॥१९७॥
निंदैगो संसार, चिर-संचित यश जाय तुव। आइ लगहिं नहिं बार, महादोष ढूंढत तुमहिं ॥१९८॥
जिमि निज पति तें हीन तिय, सदा लहै उपहास। तिमि स्वधर्म ते हीन तुव, दीन-दशा जग भास ॥१९९॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अर्थ—अपयश कहिहैं सबहि तुव, सुचिर काल लगि, गोच ।
है सम्भावित पुरुष कहँ, अयश मरण तें पोच ॥३४॥

छांडसि जो निज धर्म को, पावसि बहुविध पाप । अरु अकीर्ति तें छुटसि नहिं, कल्प अन्त लगि आप ॥२०१॥
तब लगि जीवत ज्ञानि जन, जब लगि लगि न कलङ्क । तुमहि कहहु कहँ पाइहौ, रण तजि सुयश-पर्यङ्क ॥२०२॥
निश्चय तुम मत्सर-रहित, भये दया आधीन । पर इन सबके मन तुमहिं, लखिहैं कातर, दीन ॥२०३॥
कौरव चहुँ दिशि घेरिहैं, घालि बान पै बान । तब छुटकारा होय नहि, तुव कृपालुपन, जान ॥२०४॥
इहि पर अति संकटहु ते, यदपि प्राण बचि जाय । अर्जुन तो अस जियन ते, मरणहु भल समभाय ॥२०५॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अर्थ—नासि गयो डरि समरतें, कहिहैं सब जन योंहि ।
जिन्ह ढिग पायो मान बहु, ते लघु गनिहैं तोहिं ॥३५॥

पुनि न विचारी नेकहू, पार्थ एक यह बात । आये तत्पर समरहित, फिरसि दयावश तात ॥२०६॥
यह प्रतीति किमि होय, अर्जुन, दुर्जन शत्रुदल । धीरज धरि जिय जोय कबहु बिचारि, जु कहत मैं ॥२०७॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अर्थ—अति कुवाक्य कहिहैं बहुरि, रहिहैं शत्रु न मौन ।
निन्दहिं तुव सामर्थ्य जब, कहु तातें दुख कौन ॥३६॥

ते कहिहैं हमरे भयहिं, 'भागि गयो रे पार्थ !' कहहु कि प्रिय लगिहैं तुम्हें, तिनके वचन अपार्थ ॥२०८॥

अधिक कष्ट सहि के सुजन, त्याग करहिं निज प्रान। सम्पादन हित कीर्ति के, केहि कारण मतिमान ॥२०९॥
अनायास प्रतिबन्ध बिन, मिल्यो कीर्ति को संग। नभ इव अनुपम कीर्ति तुव, करिहै युद्ध प्रसङ्ग ॥२१०॥
उत्तम गुण प्रख्यात तुव, अर्जुन, त्रिभुवन धाम। विजय सदा दक्षिण बसे, अरु जय तुम्हरे वाम ॥२११॥
कीर्ति बखानत भाट सम, दिग्दिगन्त के भूप। अन्तक हू चित चकित सुनि, तुम्हरी कीर्ति अनूप ॥२१२॥
अमर्याद महिमा बहुरि, तुव जिमि निर्मल गंग। जाहि निरखि जग के सुभट, ठिठकें समर प्रसंग ॥२१३॥
अद्भुत महिमा शौर्य की, सुनि कुरु सैन्य समस्त। जीवन महँ ते ह्वै गये, संशय-ग्रसित उदस्त ॥२१४॥
केसरि गर्जन तें प्रलय, जिमि वारण-दल माँहि। तिमि तुव शौर्य प्रताप तें, कौरव-दल घबराहिं ॥२१५॥
वज्रहिं जिमि गिरि जान, वैनतेय कहँ नाग जिमि। कौरवगण तिमि मान, भयकारण सन्तत तुमहिं ॥२१६॥
नासैगी गंभीरता, लहै हीनता अङ्ग। अर्जुन, जो इततें फिरे, तजि के युद्ध-प्रसंङ्ग ॥२१७॥
चाहसि जो नसि जाइहौं, तो ते जान न देहिं। पकरि करैंगे भर्त्सना, अगनित गारी देहिं ॥२१८॥
तेहि छिन हिय फटिहै न तुव, उठहु दिखावहु शौर्य। पृथ्वीतल के राज्यहित, मेटहु कुरुकुल क्रौर्य ॥२१९॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अर्थ—स्वर्ग पाइहौ प्राणि तजि, जीति भूमि सुखभोग।
या तें उठि कौन्तेय, करु, निश्चय युद्ध-प्रयोग ॥३७॥

किंवा जीवन हानि जो, होइहै तुव रण माँहि। तो अति निर्मल स्वर्ग सुख, पावसि संशय नाहिं ॥२२०॥
अर्जुन, अब इह बात को, करहु न बहुरि विचार। उठहु वेगि संग्रामहित, धनुष-बाण कर धार ॥२२१॥
जो आचरत स्वधर्म को, दोष मिटै सब तासु। कवन भ्रान्ति तुव चित्तमहँ, जो पातक की त्रासु ॥२२२॥
नाव सहारे बूपि किमि, किमि सुमार्ग ठिठकाय। जब लगि चलै सुमार्ग नहिं तब लगि मन विकलाय ॥१२३॥
सेवत गरल मिलाइ जो, तो पय मारक होय। करि फल आशा धर्म तें, तिमि जगबन्धन सोय ॥२२४॥
क्षत्रिय-धर्म विचार, फल आशा तजि पार्थ उठ। होय न अघ संचार, अभय होइ संग्राम कर ॥२२५॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अर्थ—सुख-दुख लाभ अलाभ अरु, जीत अजीत समान ।
तू करि, तत्पर युद्ध रचु, पाप न लागहि, मान ॥३८॥

सुख लहि जनि सन्तोष गनि, दुख न विषादहिं मान । लाभ-अलाभ न भेद कछु अर्जुन समझ समान ॥२२६॥
समरभूमि महँ हो विजय, वा सर्वस्व-विनास । कहा 'होइहै भाग्य महँ', देहु न चिन्तहिं वास ॥२२७॥
अरु स्वधर्म महँ उचित जे, कीजै ते व्यवहार । जो कछु तिन तें फल मिलै, ताहि करौ स्वीकार ॥२२८॥
इहि विचार तें दृढ हृदय, रहै न दोष स्वभाव । तातें सब भ्रम त्यागि के, करहु युद्ध सबभाव ॥२२९॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अर्थ—कही सांख्य की बुद्धि यह, योगबुद्धि सुनि लेहु ।
जेहि सुबुद्धि तें युक्त को, कर्म न बाँधै येहु ॥३९॥

सांख्य सरनि संक्षेप तें, तुम ते बरनी पार्थ । कर्म सरनि अब कहत हौं, सुनियो ताहि यथार्थ ॥२३०॥
निर्मल कर्म योगीन के, बुद्धियोग तें वीर । युक्त मनुज को कर्म के, बन्ध न करै अधीर ॥२३१॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अर्थ—न्यूनाधिक इह दोष नहिं, किये कर्म निष्काम ।
यत्किञ्चित् आरम्भ तें, मिटै भीति को नाम ॥४०॥

घटै नाहिं सुख लोक के, मिले मोक्ष पुनि पार्थ । पूर्व उपक्रम ही सफल, फल दिखलात यथार्थ ॥२३३॥
करहिं कर्म सन्तत, धरहिं, मन न कर्मफल आस । मान्त्रिक जिमि नहिं लहत कहुँ, भूतव्याधि की त्रास ॥२३४॥

अर्जुन, जिनको प्राप्त है, पूर्ण सुबुद्धि सुभाय । तिहिं उपाधि अरु जनि-मरण, सकैं न वशमहँ लाय ॥२३५॥
अचल सूक्ष्म जिहिं बुद्धि महँ, नहिं अघ-सुकृत-प्रवेश । सत्त्व, रज, तम ते न जो, दूषित होय प्रदेश ॥२३६॥
पावै जो हिय सुकृतवश, स्वल्पहु तासु प्रकाश । अर्जुन तो निश्चय मिटै, तासु बन्ध को त्रास ॥२३७॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अर्थ—अर्जुन निश्चय बुद्धि है, कर्मयोग महँ एक ।
और अनिश्चय जन धरैं, बुद्धि अनन्त अनेक ॥४१॥

दीप शिखा जिमि लघु दिखै, अधिक तेज प्रगटाय । स्वल्पहु तिमि सद्बुद्धि की महिमा विशद दिखाय ॥२३८॥
अर्जुन ज्ञानीजन करैं, याहि बुद्धि की चाह । दुर्लभ चर अरु अचर जग यह सद्भाव उमाह ॥२३९॥
जुरहिं न पारस मणि बहुत, पार्थ पुपाण समान । दैवकृपा ते मिलत कहुँ, लेश विपुल सुजान ॥२४०॥
दुर्लभ एहि सद्बुद्धि की, अवधि ईश लगि जान । जिमि निर-अन्तर गंग की, अवधि उदधि मधिमान ॥२४१॥
ईशमिलन बिनु जाहि कछु, प्राप्त ठिकान न आन । ऐसी इह संसार महँ, याहि सुबुद्धिहिं ठान ॥२४२॥
जे अविवेक मँझार, मनुज निरन्तर रम रहे । ते बहुधा सविकार, एहि कदापि न पावहीं ॥२४३॥
अर्जुन, ते जन पावहीं, स्वर्ग, नरक, संसार । पर अति दुर्लभ आत्म-सुख, किमि पावें श्रुतिसार ॥२४४॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

अर्थ अर्जुन रोचक वचन कहि, वेद वादरत लोक ।
मख बिन अन्य न कर्म कहैं स्वर्ग भिन्न नहिं ओक ॥४२॥

करहिं प्रतिष्ठा कर्म की, फलासक्ति-रत होय । बोलत वेदाधार लहि, अविवेकी कह सोय ॥२४५॥
कहहिं 'जन्म हम जग लहैं, करैं मखादिक कर्म । भोगैं सुन्दर स्वर्गसुख, यह सुख सीमा चर्म ॥२४६॥
इहि सिवाय कहुँ विश्व महँ, सुख न होय कछु और । बोलत इमि ते पार्थ नित, दुर्मति और न ठौर ॥२४७॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

अर्थ—इच्छा के वश स्वर्गरत, जन्म कर्म फल भागि ।
विविधक्रिया संकुल कहे, वचन भोग सुख लागि ॥४३॥

निरखु कामनाधीन ते, करत विविध श्रुति कर्म । केवल भोगहिं चित्त धरि, तनिक न समुझत मर्म ॥२४८॥
करत चतुरता तें क्रिया, होय न जिमि विधिभङ्ग । औ, धर्मानुष्ठान महँ, रहत स्वर्ग-आसङ्ग ॥२४६॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अर्थ—भोग विभव आसक्ति थी, आकर्षित मन माहिं ।
समाधान-विषयक-सुमति, निश्चयरूप न पाहिं ॥४४॥

एक यही अर्जुन बुरी, चाहत जो ते स्वर्ग । विसरि यज्ञभुज ईश्वरहिं, पावत नहिं अपवर्ग ॥२५०॥
करि जिमि राशि कपूर की, दीजे आग लगाय । अरु रसयुत मिष्टान्न महँ, जिमि विष देय मिलाय ॥२५१॥
तिमि फल आश नसाय, सकल हस्तगत धर्मफल । धरन मारि लुढ़काय, सुधाकुम्भ लहि दैववश ॥२५२॥
श्रम करि अर्जित पुण्यफल, लगि जग के लघुकाम । व्यर्थ नसावत मूढजन, आनत नहि परिणाम ॥२५३॥
मधुर पाक, रचि बेंचि दे, राँधनहारी सोइ । गति अविवेकी जन लहें, अर्जुन धर्महिं खोइ ॥२५४॥
इमि फलकामी सर्वथा, दुर्मति अति अज्ञान । करहिं वेदविधि रत-भये, अर्थवाद मन सान ॥२५५॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

अर्थ—त्रिगुण कहे श्रुति, पार्थ तू, गुण तजि हर्ष कि शोक ।
चिन्तायोग क्षेम तज, सात्त्विक भनि मन रोक ॥४५॥

निश्चय जानहु त्रिगुण तें, वेद अहहि आबद्ध । तहां पार्थ उपनिषद कहँ, जानु सत्त्व सों बद्ध ॥२५६॥
रजोबद्ध उप-आसना, तमोबद्ध श्रुतिकर्म । ते सब सूचक स्वर्ग के, समझहु वैदिकधर्म ॥२५७॥
तातें सुख अरु दुःख को, कारण तिनको जान । भूलिहु अन्तःकरण महँ देहु न इनहिं ठिकान ॥२५८॥
गुण त्रय तजि अन्तःकरण, धरहु न 'मैं' मम' पार्थ । अन्तर्यामी आत्मसुख, एक न भूल यथार्थ ॥२५९॥

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

अर्थ—जो फल लहियत कूप महं, सागरहू महँ सोय ।
ब्रह्मज्ञानी पाय सो, सकल वेद महँ जोय ॥४६॥

कहे वेद महँ भेद बहु, विविध भांति दरसाय । पै जा महँ हित होय निज, तिहिं स्वीकारु सुभाय ॥२६०॥
सकल मार्ग दरसायँ, जिमि प्रगटे दिननाथ के । सकत कौन जग जाय, तिन मार्गन पै एकदा ॥२६१॥
यदि पृथिवीतल उदकमय, सकल होय धनुधारि । तदपि अपेक्षा जोग ही, लोग गहेंगे वारि ॥२६२॥
ज्ञानीहु तिमि वेद को, अर्थ यथार्थ विचारि । वाञ्छित निज नित सत्त्व को, तहाँ लेहिं स्वीकारि ॥२६३॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अर्थ—कर्महि महँ अधिकार तुव नहि कदापि फल माहिं ।
बनहु कर्मफलहेतु नहिं, रमु न अकर्मन माहिं ॥४७॥

अर्जुन इमि गुनि वचन मम, मन महँ करहु विचार । तुम कहँ उचित स्वकर्म किन ताहि करहु स्वीकार ॥२६४॥
करि विचार बहुभांति सों, मन महँ यह ही आय । विहित कर्म कबहूं न तुम, तजहू पार्थ पतियाय ॥२६५॥
आश न कीजै तासु फल, मन कुकर्म जनि धारु । करहु कामना-रहित ह्वै, शुभ आचरण उदारु ॥२६६॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अर्थ—अहंभाव फल आश तजि, योगयुक्त करु कर्म ।
सिद्धि-असिद्धि समान रहि, समता योगज मर्म ॥४८॥

योग निरत तुम होइ नित, त्यागहु फल को संग । अर्जुन पुनि निजधर्म लखि, करहु कर्म रंग-रंग ॥२६७॥
कर्म करहु आरम्भ पुनि, होय दैववश सिद्ध । तो जनि चित्त न तोष लहि, होवहु हर्ष-समृद्ध ॥२६८॥
कौनहु कारण पाय जो, सिद्धि न आवै पास । तो जनि अर्जुन मन धरहु, असन्तोष अरु त्रास ॥२६९॥
जो मिलिहै फलयोग, अर्जुन कर्माचरण किय । अस मन मानु सुयोग, जो न मिलै तोहु सफल ॥२७०॥
निपजत जो जो कर्म ते, ईश्वर कौं अर्पाय । अवशि सकल ते ते सफल, होइहैं इति मन ध्याय ॥२७१॥
सुनहु होयँ सत के असत, जैसेहु निजकर्म । तिनहिं करे सम-शान्त-मन, यह योगस्थिति मर्म ॥२७२॥
अर्जुन राखहु चित्त सम, यही योग को सार । या समता महँ बुद्धि मन, दोऊ एकाकार ॥२७३॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अर्थ—कर्म सकाम निकृष्ट है, श्रेष्ठ कर्म निष्काम ।
बुद्धि सरनि की गहु शरण, अर्जुन, कृपण सकाम ॥४९॥
बुद्धि निरत तजि देत है, सुकृत कुकृत को द्वन्द्व ।
कौशल ही बस योग है, भजहु योग स्वच्छन्द ॥५०॥

अर्जुन, विविध प्रकारतें, कीन्हो बहुरि विचार । बुद्धि सरनितें हीन ही, लग्यो कर्म व्यवहार ॥२७४॥
सकल कर्म व्यवहार ही, बुद्धियोग को द्वार । कर्म किये फल तजि मिले योगस्थिति-उपहार ॥२७५॥
बुद्धि सरनि अति सबल है, तामहँ थिर ह्वै जाव । भूलिहु फल इच्छा न मन, लावहु, यह न भुलाव ॥२७६॥
बुद्धि सरनि महँ जे टिके, ते आवहिं भवपार । छूटहिं बन्धन उभयहु, पाप-पुण्य परिवार ॥२७७॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अर्थ—कर्म जनित फल त्यागि बुध, बुद्धियोगयुत होय ।
जन्म मरन तें मुक्त ह्वै, लहहिं मोक्षपद सोय ॥५१॥

करहिं कर्मव्यवहार पै, छुवैं न फल की छाँह । अर्जुन, आवागमन पुनि, गहैं न तिनकी बाँह ॥२७८॥

बुद्धि सरनि की सिद्धि तें, हे धनुधारी पार्थ । पावत ते सुख-दुख रहित, शाश्वत धाम यथार्थ ॥२७९॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अर्थ—जबै बुद्धि उल्लंघि है, तुव कर्दम-सम मोह ।
पावसि तब निर्वेद तू, श्रुत अरु अश्रुत जोह ॥५२॥

जब तरि जैहो मोह, पै हैं क्षय सब वासना । अर्जुन तब मन सोह, संचरि है वैराग्य तब ॥२८०॥

गत कलङ्क जहँ अति गहन, आत्मज्ञान उपजाय । मिलत सहज अतितृप्त जहँ, आपुहिं आप सुभाय ॥२८१॥

'जानत हौं कछु और नव, सुमिरत अधिगत बोध ।' जब उपजत है आत्ममति, तब न रहति यह शोध ॥२८२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्थ—सुनि-सुनि श्रुतिफल वाक्य बहु, भ्रान्त बुद्धि तुव पार्थ ।
जबहि समाहित होइ है, तब लहि योग यथार्थ ॥५३॥

इन्द्रिय संगति पाइकैं, जो मति चञ्चल होय । अर्जुन आत्मविवेक ते, सो मति निश्चल होय ॥२८३॥

इमि जब आत्मविवेक तें, पावसि निश्चल बुद्धि । तबहि लहसि अर्जुन, सकल योग अवस्था शुद्धि ॥२८४॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्थ—स्थितप्रज्ञ किस को कहत, हो समाधियुत कौन ।
ते किमि बोलत, किमि रहत, चलत, कि धारत मौन ॥५४॥

अर्जुन कहि तब, देव कहु, याको पुनि विस्तार । मैं पूछौं प्रभु, करु कृपा, तुम करुणा-आगार ॥२८५॥
कृष्ण किरीटी तें कहैं, कहहु न तजि संकोच । संशय जो तुव चित महँ, करहु न ताको सोच ॥२८६॥
अस सुनि अर्जुन कृष्ण तें, पूछत—थिरमति कोय ? तिहिं पहिचानैं केहि विधि, कहहु कृपा करि मोय ॥२८७॥
जो थिरबुद्धि समाधि-सुख, भोगैं सदा अखण्ड । लक्षण कवनहिं जानिये, कहु रक्षक-ब्रह्माण्ड ॥२८८॥
कहहु तासु निरूपण, श्रीलक्ष्मीपति, मोहिं अब । लखियत कैसे रूप, कैसी थिति तिनकी रहत ॥२८९॥
श्रीनारायण कृष्ण जो षड्गुण के आधार । अर्जुन के प्रति तब कहैं, परब्रह्म अवतार ॥२९०॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अर्थ—अर्जुन, जब मन तें तजे, विविध वासना भाव ।
हो निज में निज से निरत, तब थिरमति बोलाय ॥५५॥

अर्जुन सुनु रहती प्रबल, अभिलाषा मन माँहि । ते नित आत्मविवेक सुखहि मन को बिलगाहिं ॥२९१॥
सतत तृप्त अरु निश्चयी, अरु अन्तर भरपूर । तिन अभिलाषन संग तें, पुनि उतरें अति दूर ॥२९२॥
ते अभिलाषा सर्वथा, जाकी हों निर्मूल । सो थिरबुद्धि पिछानिये, आत्मतोष-अनुकूल ॥२९३॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

अर्थ—खिन्न नहीं मन दुःख महँ, सुख महँ सस्पृह नाहिं ।
काम-क्रोध विहीन-ते, मुनि थिरबुद्धि कहाहिं ॥५६॥

नाना भाँतिक दुःख हों, होय न जाको त्रास । कबहुँ न बाधा करि सकैं, पुनि नाना सुख आस ॥२९४॥
काम-क्रोध न लहि सकैं, सहजहिं कोई ठाँव । निर्भय जो जग महँ कहूँ, लहै न भय को नाँव ॥२९५॥
ऐसो पार्थ, असीम जो, भेदरहित निरुपाधि । जानहु सुस्थिर बुद्धि तिहिं, विगत-आधि गत-व्याधि ॥२९६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अर्थ—नेह रहित सर्वत्र जो, पाय शुभाशुभ भाव ।
हर्ष कि शोक न जो लहै, ते स्थिरबुद्धि कहाव ॥५७॥

सतत सरिस सर्वत्र जो, पूर्णचन्द्र जिमि जान । उत्तम अधम कि मध्यमहिं, देत प्रकाश समान ॥२९७॥
दयापात्र सब जीव, जाके नित्य समान हों । मर्यादा की सींव, चित्त न पलटै कबहुँ जस ॥२९८॥
जासु हृदय आवै नहीं, श्रेय पाइ सन्तोष । औ अश्रेयहिं पाइ जो, करै नाहिं मन रोष ॥२९९॥
रहित हर्ष अरु शोक तें, आत्मबोध भर पूर । जानहु सुस्थिर बुद्धि तिहिं, पार्थ जगत-रण-शूर ॥३००॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अर्थ—कच्छप जिमि सब ओर तें, संकोचत निज अङ्ग ।
इन्द्रियगण तिमि विषय तें, थिरमति करत असङ्ग ॥५८॥

कच्छप जिमि आनंदवश, अङ्गहिं लेत पसार । पुनि निज इच्छातें तिनहिं, संकोचै बिनवार ॥३०१॥
त्यों जाकी सब इन्द्रियाँ, ह्वै हैं निज-आधीन । आज्ञापालन जस करैं, सो थिरबुद्धि प्रवीन ॥३०२॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अर्थ—निराहार के वासना बिन सब विषय नसाहिं।

परब्रह्म लहि वासना, हे अर्जुन नसि जाहिं ॥५६॥

कौतुक एक कहौं अपर सुनु अर्जुन मन लाय। साधक नियमाधार तें, तजै विषय समुदाय ॥२०३॥
श्रोत्रादिक नियमन करे, जीभ न नियम रहाय। पुनि सहस्त्रविधितें विषय, लपटैं ता कहँ आय ॥२०४॥
ऊपर तोरे डार दल, मूल माँहि जल देय। नाश विटप कर होय किमि, तैसहि इत कौन्तेय ॥२०५॥
जिमि जल कों बल पाइके, तरु पावत विस्तार। तिमि मनके मारे विषय, बाढ़ें रसनाद्वार ॥२०६॥
इहि विधि त्यागे जाहिं, अपर इन्द्रियन के विषय। हठ करि तजियत नाहिं, रस बिन जीवन पार्थ नहिं॥२०७॥
अर्जुन, पै साधक जबै, होय ब्रह्म-रसलीन। सहजहिं नियमित होय तब, रसना विषय प्रवीन ॥२०८॥
सोऽहं भाव प्रतीति जब, पार्थ हिये प्रगटाय। नाशैं दैहिक-भाव सब, इन्द्रिय को विसराय ॥२०९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

अर्थ—यद्यपि नर विद्वान् बहु, यतन करत हैं पार्थ।

पै मन हठ करि हरत हैं, प्रबल इन्द्रियन सार्थ ॥६०॥

साधन सन्तत करत बुध, इन्द्रिय जीतन हेतु। पर अधीन तिनके न हों, कबहुँ विषय कपिकेतु ॥२१०॥
चलत रहँट अभ्यास यम, नियम बंध दृढ़ तान। मन कहँ राखें जे सदा, दृढ़ निज मुष्टिक मान ॥२११॥
व्याकुल तिनहू को करत, इन्द्रिय प्रबल प्रताप। भूल्यो मान्त्रिक जिमि लहै, विवश भूत-सन्ताप ॥२१२॥
योगी पावत विषय कहँ, ऋद्धि सिद्धि के रूप। तासु हृदय ते परसि पुनि, इन्द्रिय हरें स्वरूप ॥२१३॥
निर्बल होय प्रयत्न, मन, जाय विषय समुदाय। प्रबल प्रताप प्रभाव लखु, इन्द्रिय को नरराय ॥२१४॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अर्थ—वश करि तिन सब इन्द्रियन, योगी मयि मन लाय।
इन्द्रिय जाके वश भई, सो थिर-बुद्धि कहाय ॥६१॥

तातें अर्जुन सर्वथा, विषयन करि संहार। सकल विषय इच्छा तजै, योगनिष्ठ अविकार ॥३१५॥
कारण येही जान, अर्जुन निष्ठा योग की। लहहि विषय सुख भान, भूलि न अन्तःकरण जस ॥३१६॥
संयुत आत्मविवेक तें, रहे निरन्तर जौन। तासु न अन्तःकरण हो, कबहूं भव-भ्रम-भौन ॥३१७॥
छाँडै जो बाहर विषय, पै मन विषय मिलाय। आदिहु अन्तहु ताहि को, सदा रहे जगताप ॥३१८॥
जिमि जग विष लवलेशहू, खाये लहि विस्तार। सकल देह महँ फैलिके, करै प्राण संहार ॥३१९॥
जो विषयन की शंकहू, रही, वही प्रत्यूह। करत नष्ट सब भाँति ते, सकल विवेक समूह ॥३२०॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अर्थ—विषयन को चिन्तन करत, मनुज लहत तहँ संग।
उपजत इच्छा संगते, तातें क्रोध प्रसंग ॥६२॥
मोह प्रगट हो क्रोधतें, मोह करे स्मृतिनाश।
बुद्धि नसै स्मृतिनाशतें, तातें महाविनाश ॥६३॥

यदि असंगहू चिन्तवत, विषयन उपजै संग। मूर्तिमहित पुनि संग ते, हो अभिलाष प्रसंग ॥३२१॥
जहँ उपजै अभिलाष तहँ, पावत क्रोध प्रसार। जहाँ क्रोध तहँ जानिये, स्थान लहै अविचार ॥३२२॥
जिमि प्रचण्ड मारुत बहै, दीप ज्योति बुझि जाय। तिमि प्रगटे अविचार के, स्मृति नासै, न रहाय ॥३२३॥
जिमि रवि अथमत ही निशा, रवि प्रभाहिं ग्रसि लेय। तिमि विगत-स्मृति जीव की, दशा होय अतिहेय ॥३२४॥
अज्ञानान्धविकार, केवल जब रहि जाय। व्याकुल हिये मँझार, तब प्रज्ञा हूँ जात असि ॥३२५॥

दीन बनै जन्मान्ध जिमि, इत उत जावत धाय। तिमि विगत-स्मृति जीव की, बुद्धि न कहुँ ठहराय ॥३२६॥
सुस्मृति के इमि भ्रंशतें, बुद्धि विकट गति पाय। नाहिं ठिकाने रहत अरु, ज्ञान समूल नसाय ॥३२७॥
ज्यों चैतन्य अभावतें, दशा देह की होय। तैसहिं बुद्धिविनाशतें, पुरुषहिं पेखिय सोय ॥३२८॥
अर्जुन पुनि सुनु इंधनहिं, जिमि चिनगारी लागि। जारि सकै त्रिभुवन सकल, पाइ प्रौढ़ता आगि ॥३२९॥
अर्जुन तिमि मन विषय को, तनिकहु करै जु ध्यान। तो ताको ढूंढत पतन, पकरि दबावत आन ॥३३०॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

अर्थ—राग-द्वेष-विहीन मन, करिके जो स्वाधीन।
विषयन सेवत संयमी, सो सुख लहत प्रवीन ॥६४॥

छाँडहिं मनतें सर्वथा, विषय संयमी वीर। सहजहिं तिनके राग अरु, द्वेष नसैं रणधीर ॥३३१॥
सुनहु पार्थ यह राग अरु, द्वेष दुवौ यदि नासु। इन्द्रिय तब विषयन रमत, होत न बाधक तासु ॥३३२॥
परसत जग निज करन तें, जिमि रवि रहि आकास। तिमि न लहत सँगदोष नर, लहि स्वरूप आभास ॥३३३॥
आतम बोध निलीन, उदासीन सब विषयतें। अर्जुन परम प्रवीन, काम क्रोध तें रहित नर ॥३३४॥
निज स्वरूप विन जो न कछु, देखत कबहुँ सुजान। ता कहँ अर्जुन विषय किमि, बाँधि सकत तृण-मान ॥३३५॥
अनल अनल तें किमि जरै, जल डूबै जल बाह। विषय संग किमि डूबि पुनि, जो परिपूर्ण अथाह ॥३३६॥
इहि विधि आत्मविवेकतें, सर्वरूप जो होय। अर्जुन, जानहु भ्रान्ति बिन, निश्चलबुद्धी सोय ॥३३७॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अर्थ—इहि सुख चित्त-प्रसाद ते, सर्व दुःख को नाशु।
कारण चित्त प्रसन्न नर, पाय बुद्धि थिर आशु ॥६५॥

देखु अखण्ड प्रसन्नता, जहँ चित महँ ठहराय। तहँ समस्त दुख जगत के, नहिं प्रवेश करि पायँ ॥३३८॥

जासु जठर महँ झर वहै, अर्जुन अमृत केर । भूख पिपासा आदि भय, तहां कदापि न हेर ॥३३६॥
नित प्रसन्न हिय होय जो, तहँ दुख कैसे होय । जासु रहे मति आपुहीं, परमात्मा वपु सोय ॥३४०॥
कंप न पावै लेशहू, शान्त वायु महँ दीप । योगनिरत निजरूप महँ, तिमि थिरबुद्धि महीप ॥३४१॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अर्थ—नहिं, अयुक्त को बुद्धि है, नहिं अयुक्त को भाव ।
भाव विना नहिं शम कहूं, शम विन सुख किमि आव ॥६६॥

योग जुगति सुविचार जिहिं, अन्तःकरणहिं नाहिं । तिन कहँ शब्दादिक विषय, बाँधत पाशन माहिं ॥३४२॥
रहत सर्वथा नाहिं, अर्जुन तिनकी बुद्धि थिर ॥ उपजि न तिन हिय माहिं, इच्छाहु थिरबुद्धि की ॥३४३॥
निश्चलता की भावना, यदि मन निरखै नाहिं । ताहि मिलै पुनि शान्ति किमि, कहु अर्जुन मम पाहिं ॥३४४॥
ज्यों पापी ढिग मोक्ष कहँ, झांकि न देखै जाय । तनिक शान्ति नहिं जहँ तहाँ, सुख न भूलि नियराय ॥३४५॥
बीज अनल भू ज्यों कबहूँ, भले उगे अँकुराय । पर अशान्ति महँ मिल सकै, सुख नहिं लाख उपाय ॥३४६॥
तातें अर्जुन दुःख को, है अयुक्ति ही हेतु । योग जुगति कहँ जानिये, उत्तम गति कपिकेतु ॥३४७॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

अर्थ—इन्द्रिय स्वेच्छाचार लखि, जो मनहू खिंच आय ।
बुद्धि हरै सो वायु जिमि, जल महँ नाव बहाय ॥६७॥

इन्द्रिय आयसु वश करहिं, जे नर सब व्यवहार । सम्मुभत तरे, न तरत पै, विषय समुद्र अपार ॥३४८॥
नाव तटहि महँ लागि जिमि, पुनि दुर्वात प्रभाव । पड़ि मझधार लहै विपम तिमि नर विषय फँसाव ॥३४९॥
सिद्ध पुरुषहु कौतुकहिं, जो इन्द्रिय दुलराय । तो सांसारिक दुःख तिहिं, अवशहिं घेरैं आय ॥३५०॥

तस्माद्यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अर्थ—जिन विषयन तें इन्द्रियन, खैंचि करी स्वाधीन ।
महाबाहु, ते पावहीं, निश्चल बुद्धि प्रवीन ॥६८॥

तातें इन्द्रिय आपुनी, जासु भयीं स्वाधीन । अर्जुन, तासु भयो सफल, जीवन सोइ प्रवीन ॥३५१॥
स्वेच्छा के अनुसार, अर्जुन देखहु कच्छपहिं । कै संकोच प्रसार, जिमि निज अङ्गन करि सकै ॥३५२॥
जाकी इन्द्रिय तिमि चलैं, तस आयसु अनुसार । पावै ताकी मति कबहुँ, निश्चय भाव सुचार ॥३५३॥
ते योगिन को चिन्ह सुनु, सकल गहन अब एक । भाषत हौं अर्जुन करहु, तापर मनन विवेक ॥३५४॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अर्थ—सकल जीव की जो निशा, तहां संयमी जाग ।
सकल जीव जागत जहाँ, सो मुनि कहँ निशि लाग ॥६९॥

सोवत प्राणी सकल जहँ, तहँ जागत मुनि धीर । जागत जहँ प्राणी सकल, तहँ सोवत सो वीर । ॥३५५॥
अर्जुन जासु उपाधि बिनु, थिर बुधि परम गँभीर । तेहिं मुनीश्वर सत्पुरुष, समुझहु हे रणधीर ॥३५६॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

अर्थ—अचल पूर्ण जल-सिन्धु महँ, जिमि सब उदक समाहिं ।
तिमि थिरबुधि महँ काम सब, कामी शान्ति न पाहिं ॥७०॥

अर्जुन, जान्यो जात सो, औरहु एक प्रकार। निश्चल सिन्धु समान रहि, पावै नहीं विकार ॥३५७॥
सरित समूह समस्त जिमि, पूर्ण समुद्र समाय। तजत तऊ मर्याद नहिं, तनिकहु नहिं अधिकाय ॥३५८॥
किं वा ग्रीषम-ऋतु सरित, जिमि हों शुष्क समस्त। किंचित् न्यून न होत पुनि, अर्जुन सिन्धु प्रशस्त ॥३५९॥
क्षोभ न पावत बुद्धि तिमि, ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति। असन्तोष पुनि लहत नहिं, अर्जुन लखि अनवाप्ति ॥३६०॥
कहहु कि हो उजियार, कबहुँ सूर्यगृह दीप तें। किं वा हो अँधियार, जो धरिये नहिं दीप तहँ ॥३६१॥
ऋधि-सिधि आवन जान को, करत न अनुभव जौन। परम सुखहिं अन्तःकरण, रहे मग्न पुनि मौन ॥३६२॥
जो निजगृह सौन्दर्य तें, गनत इन्द्रगृह हीन। भिल्लकुटी महँ किमु लहै, सो मन मोद प्रवीन ॥३६३॥
दोष लखै जो अमृत को, सो किमि कांजी सेय। निज सुख अनुभव करि न सो, भोगै ऋधि कौन्तेय ॥३६४॥
चमत्कार की बात पुनि, स्वर्ग न लेखे माहिं। साधारण तब सिद्धि तस, किहिं गिनती महँ आहिं ॥३६५॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अर्थ—सकल कामना त्यागि जो, करि निरीह व्यवहार।
पावत सोई शान्ति सुख, तजि 'मैं, मोर' विकार ॥७१॥

निज परिचय तें तोषयुत, परमानन्द-निमग्न। जानहु सुस्थिर बुद्धि नर, जस 'मैं, ममता' भग्न ॥३६६॥
अहंकार को ध्वस्त करि, सकल मनोरथ मारि। विश्वहिं विश्वाकार ह्वै, निरखे करि संचारि ॥३६७॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ, नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

अर्थ—इहिं थिति कहँ कह ब्रह्मथिति, इहिं लहि लहत न मोह।
इहिं थिति रहि तन तजि लहै, ब्रह्मानँद सन्दोह ॥७२॥

अनुभव युत निष्काम जन, ब्रह्मस्थिति निःसीव। अनायास अन्तिम समय, पावत पार्थ अतीव ॥३६८॥
करि न सकै थिर बुद्धि-चित, क्लेशहु अन्त चलन्त। जबहि लहै चिद्रूपता, सुनहु सुभद्राकन्त! ॥३६९॥

अर्जुन तें श्रीकन्त, संजय नृप धृतराष्ट्र तें । कहत अनादि अनन्त, निज मुख तें अस अक्षायिलि । ३७०॥
कृष्ण वचन अर्जुन सुनत, मन महँ करत विचार । मेरी यह हितकर परन उत्तम युक्ति सुधारु ॥३७१॥
सकल कर्म को करत हैं, मुनि संन्यास मुरारि । तब किमि मैं मन्मुख लरौं, कहि के दीन्हो टारि ॥३७२॥
इमि मन महँ निर्धारि के, पार्थ हर्ष महँ मग्न । शङ्का जे अनुकूल वह, करिहै उत्तम प्रश्न ॥३७३॥
सकल धर्म उत्पत्ति कर, सो उत्तम संवाद । अग विवेकमय अमृत को, सिन्धु रहित मर्याद ॥३७४॥
जाहि निरूपण कर रहे, कृष्ण स्वयं सर्वेश । सोई दास निवृत्ति को, कहिहैं अब ज्ञानेश ॥३७५॥

तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित
भावार्थदीपिकोपरि श्री अग्र वैश्यवंशोद्भव मंडला
(माहिष्मती पुरी) निवासि श्री श्रेठ (श्रेष्ठि)
भद्रलालात्मज श्रीमद् ज्ञाननाथस्य शिष्या-
नुशिष्यस्य किंकरः श्री गणेश प्रसाद-
कृतायां गीता ज्ञानेश्वर्यां
द्वितीयोऽध्यायः

शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ३



ॐ

तृतीय अध्याय



अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्थ—उत्तम कर्म-सुयोग तें, बुद्धियोग प्रभु होय ।
तो किमि प्रेरहु मोहिं हरि, घोर कर्म महँ सोय ॥१॥

अर्जुन कहि अति विनय सों, प्रभु जे भाषे बैन । सकल सुने ते प्रीति सों, पूछहुं करुणा-ऐन ॥१॥
कर्ता कर्म न पृथक तहँ, मोतें कह्यो अनन्त । कहु तिनके प्रति आपनो, मत निश्चित भगवन्त ॥२॥
श्रीहरि किमि मोतें कह्यो, पार्थ, करहु संग्राम । प्रेरत बिन संकोच मोहिं, घोर कर्म महँ श्याम ॥३॥
करि अमान्य सब कर्म को, तुम भाष्यो मति सार । पुनि 'यह हिंसक कर्म करु', इमि किमि कहहु उदार ॥४॥
कर्महिं जबै न देत प्रभु, लेशमात्रहु मान । दारुण हिंसा करन तब, यह किमि कहत सुजान ॥५॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अर्थ—संदेहात्मक वाक्य तें, उपजावत मति मोह ।
तातें भाषहु एक पथ, निश्चित-सुख-सन्दोह ॥२॥

देव करहुँ इमि विनय मैं, का गति ह्वैहै मोरि । सब विवेक को अन्त मम, भयो न रहि मति थोरि ॥६॥

याहि कहौं उपदेश यदि, ते केहि कहिये भ्रंस। आत्मविवेचन आस मम, भ्रम पूरहु हत-कंस ॥७॥

कहै वैद्य गहु पथ्य बस, अरु आपुहिं विष देय। तो रोगी कैसे जिये, कहु प्रभु काहि कौंतेय ॥८॥

कपि कहँ मद्य पियाय, आड़े पथ करि अन्ध कहँ। हमहिं दियो है आय, तिमि प्यारो उपदेश यह ॥९॥

जानत कछू न मैं प्रथम, पुनि हौं मोह-ग्रस्त। तातें प्रभु, पूछहुँ तुमहिं, कहहु विवेक प्रशस्त ॥१०॥

चमत्कार करि एक इक, उपदेशहु उरझाय। शरण पड़े की इमि दशा, किमि कीजै यदुराय ॥११॥

हौं मन काया वचन करि, पालहुँ तुव उपदेश। अरु प्रभु तुम अस छल करत, तो रहि है किमु शेष ॥१२॥

किमु इहि विधि उपदेश तें, होय भलाई मोरि। पूरै आशा ज्ञान की, किमु छलना हरि तोरि ॥१३॥

नहीं ज्ञान की बात रहि, उलटी भई कुबात। मम थिर मन क्षोभित भयो, निश्चय को अकुलात ॥१४॥

यदि परखत मम चित्त हरि, मिस उपदेश बनाय। तो प्रभुचरित न जानिहौं, मैं तुम्हरो यदुराय ॥१५॥

कृष्ण छलत हो मोहिं किमि, भाषि तत्त्व गूढार्थ। काहुँ खरो अनुमान कछु, समझो नाहिं यथार्थ ॥१६॥

तातें कहिये देव जनि, मोहिं कठिन भावार्थ। कहहु ज्ञान सुस्पष्ट अति, प्राकृत अरु सरलार्थ ॥१७॥

निश्चय एक सुनाय, जिमि समुझौं ता विधि कहहु। भली भांति समुझाय, मैं हूँ अतिशय मन्दमति ॥१८॥

औषधि रोगनिवारिणी, दीजै मोहिं सुजान। पै न अरुचिकर होय सो, अथवा कटु, भगवान ॥१९॥

उचित वस्तु कहु कृष्ण प्रभु, सकल अर्थ भरपूर। जातें पावै बोध चित, संशय जावै दूर ॥२०॥

गुरुवर प्रभु तुमको लह्यो, इच्छा किमि न पुराउं। तुम मम माता तृप्तिप्रद, पुनि केहि तें सकुचाउं ॥२१॥

देव सुरभि को दैववश, कबहुँ कि गोरस पाय। मानव किमि फलकामना, न्यून करै हिय मॉंय २२॥

दुर्गम किमि फलकामना, जो चिन्तामणि हाथ। तो किमि जो सुख चाहिये, सो माँगौं यदुनाथ ॥२३॥

सुधासिन्धु तट जायके, जो न मिटावै प्यास। ताकी त्योंलौं गति वृथा, काह कियौ आयास ॥२४॥

करत उपासन जन्म बहु, तो लक्ष्मीपति पाय। दैव कृपा तें आज मोहि, आप मिले यदुराय ॥२५॥

तो निज इच्छापूर्ति अब, किमि न करौं प्रभु पास। उदयकाल मन सुदिन यह, जानिय रमानिवास ॥२६॥

भये पूर्ण सब काज, मिली मनोरथ पर विजय। लह्यो पुण्य यश आज, सफल भई सब कामना ॥२७॥

सकल सुमंगल धाम प्रभु, उत्तम देवन देव। भये आज आधीन मम, तुम त्रिभुवन के सेव ॥२८॥

जिमि जननी ढिग बालकहिं, अनअवसर नहिं होय। कुच लगि करि पय पान सुख वांछित पावै सोय ॥२९॥
परम दयानिधि, तुमहिं तिमि, मैं पूछत मन चाह। निज इच्छा अनुराग लहि, प्रभु मन माँहि उछाह ॥३०॥
ताते हित परलोक महँ, उचित लोक आचार। निश्चित निज मत एक मुहिं, केशव कहहु उदार ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अर्थ---पार्थ कही निष्ठा द्विविध, जानत जेहिं जग लोग।
ज्ञानिन ज्ञान सुयोग अरु, योगिन कर्म सुयोग ॥३॥

अच्युत प्रभु आश्चर्य सों, पुनि बोले समुझाय। अर्जुन, मैं जो कछु कह्यो, तासु अहै अभिप्राय ॥३२॥
बुद्धि सरणि-उपदेश महँ, निज प्रसङ्ग को पाय। सांख्य सरणि प्रकटित भयो, तहँ स्वभाव सों आय ॥३३॥
नहि समुझयौ उपदेश मम, वृथा क्षोभ मन लाय। कर्मरु ज्ञान सुयोग द्वै, कहे पार्थ, समुझाय ॥३४॥
शूर-शिरोमणि, चित धरहु, द्वै निष्ठा संसार। प्रगट भई मोतें सहज-सिद्ध अनादि उदार ॥३५॥
प्रथम ज्ञान को योग, ज्ञानी जेहिं आचरत जग। तद्रूपता सुयोग, लहत ज्ञान लहि ब्रह्म को ॥३६॥
अपर कर्म को योग सुनु, जहाँ मुमुक्षु सुजान। समुचित अवसर पाइ कै, लहत परम निर्वान ॥३७॥
यदपि मार्ग ये द्वै तदपि, इक परिणाम निदान। पक्क अपक्क कि अन्न लहि, अन्तहु तृप्ति समान ॥३८॥
पूर्व कि पश्चिम वाहिनी, नदी सिन्धु महँ आय। भिन्न लखें सम प्रथम पुनि, मिलैं एक ह्वै जायं ॥३९॥
सूचक एकहिं हेतु के, दोनों मार्ग प्रवीण। किन्तु उपासन-योग्यता, साधक के आधीन ॥४०॥
इक उड़ान तें जिमि लहत, खग फल तरु पर जाय। तहँ पुनि नर निजवेग तें, कैसे पहुँचै जाय ॥४१॥
धीरे-धीरे शाख प्रति, शाख मार्ग क्रम जाय। कबहुँ न कबहुँ यथेष्ट फल, निश्चय पहुँचै जाय ॥४२॥
सांख्य विहंगम मार्ग तें, लहि के आश्रय ज्ञान। मोक्ष लहत है तुरत ही, नहिं सन्देह सुजान ॥४३॥
कर्म सरणि-आधार महँ, करैं विहित स्वाचार। तो लहि समुचित कालते, पावत मोक्ष उदार ॥४४॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अर्थ—नित्य निमित्तज कर्म तजि, नर निष्कर्म न होय ।
मात्र कर्म संन्यास तें, सिद्धि न पावत कोय ॥४॥

करै सिद्धि की चाह, उचित कर्म आचरण तजि । कबहुँ तासु नरनाह,– निष्कर्मता बनै नहीं ॥४५॥
विहित कर्म कहँ त्यागि जे, होन चहैं कृतकृत्य । तिन कर सो अति मूर्खता, जानि लेहु यह सत्य ॥४६॥
अगम प्रवाहहिं लांघि के, जान चहै वा पार । तो तजि नावहिं जाय किमि, अर्जुन करहु विचार ॥४७॥
जो जन भोजन तृप्ति चहै, करै न पाक उपाय । कि वा पकवहु खाय नहिं, ते किमि तृप्त कहाय ॥४८॥
जब लगि इच्छा नसत नहिं, तब लौं चलि व्यापार । लहत आत्म-संतोष के घटपट मिटत न बार ॥४९॥
तातें जेहि मन मोक्ष की, इच्छा होय अपार । विहित कर्म कहँ सर्वथा, तजै न कबहुँ उदार ॥५०॥
बनहिं कर्म तब, करहिं जब, निज इच्छा अनुसार । त्यागैं कर्म न बनहिं इमि, कहत लोक अविचार ॥५१॥
ते इमि बोलत व्यर्थ ही, पै अनुभव करि देखु । छोड़े कर्म छुड़ाहिं नहि, यह निश्चय मनि लेखु ॥५२॥

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

अर्थ—कबहुँ जीव जग कर्म बिन, रहि न सकै छिन एक ।
प्रकृतिज गुण आधीन करि, कर्म करावहिं छेक ॥५॥

जब लगि आश्रय प्रकृति को, तब लगि रहि अज्ञान । गुणाधीन चेष्टा करत, आपहि आप सुजान ॥५३॥
जो पुनि त्यागे जायँ, कर्म विहित जेते सकल । कैसे के बिनसायँ, इन्द्रिय-जन्य स्वभाव सब ॥५४॥
कबहुँ कि कर्ण तजैं श्रवण, तेज कि नेत्र तजाहिं । नासारन्ध्र सुगन्ध को, कहु किमि त्याग सकाहिं ॥५५॥
तजहिं कि प्राणापान गति, मन संकल्प विकल्प । भूख तृषा इच्छा सकल, नासैं कबहुँ कि स्वल्प ॥५६॥
निद्रा जागृति किमि छुटै, चलिबो तजहिं कि पायँ । बहुत कहौं का जन्म अरु, मरण कि कबहुँ चुकायँ ॥५७॥

जो ये सब तजि सकत नहिं, तो किमि कर्म तजायँ। जब लगि आश्रय प्रकृति को, तब लगि कर्म न जायँ ॥५८॥
उपजत कर्म जु प्रकृति-गुण—पराधीनता-योग। 'कर्म तजौं कि करौं' वृथा, हृदय विचारत लोग ॥५९॥
निश्चल ह्वै रथ बैठिये, पै वा रथ के योग। चालत रथ के चलत ही, यह परतन्त्र प्रयोग ॥६०॥
नीरस पर्ण समीरवश, उड़ि आकाशहिं जाय। भ्रमत फिरत इत उत तहाँ, यद्यपि अचल स्वभाय ॥६१॥
तैसेहि प्रकृति अधार तें, इन्द्रिय कर्म विकार। ज्ञानी पुरुषहु जग करैं, निर-अन्तर व्यापार ॥६२॥
जब लगि माया सग, घटत न तब लगि त्याग यह। 'त्याग्यो कर्म-प्रसंग', पुरुष दुराग्रहवश कहत ॥६३॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अर्थ—कर्मेन्द्रिय सयमन करि, मन महँ विषय विचार।
करत मूढ़मति, पार्थ, ते, कहियत मिथ्याचार ॥६॥

विहित कर्म तजि होन चह, कर्मातीत उदार। कर्मेन्द्रिय-गण की क्रिया, करैं निरोध निहार ॥६४॥
कर्म तजब नहि घटि सकै, रहै कर्म की चाह। त्याग दिखावत, जिमि अधन, ठाट-बाट उत्साह ॥६५॥
अर्जुन, निश्चय जानु यह, विषयी पुरुष यथार्थ। विहित कर्म तजि होन चह, कर्मातीत कृतार्थ ॥६६॥
चिन्ह निरीह सुजान के, उचित प्रसंगहि पाय। अर्जुन, तुम तें कहत हौं, सुनियो ध्यान लगाय ॥६७॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अर्थ—इन्द्रिय नियमन करि मनहिं, अनासक्त ह्वै धीर।
कर्म-सरनि अनुसरत जो, ते विशिष्ट मतिधीर ॥७॥

जे दृढ़ अन्तःकरण तें, आत्मरूप महँ लीन। बाह्यजगत सम आचरण, राखत पार्थ प्रवीन ॥६८॥
आयसु करैं न इन्द्रियन, मन न विषय की भीति। विहित कर्म जे जे मिलें, तिनहि करत सहनीति ॥६९॥
पार्थ, नियन्त्रित करत नहि, कर्मेन्द्रिय व्यापार। पै बश तासु विकार के, होत न पाण्डुकुमार ॥७०॥

सकल कामना हीन ह्वै, छुवै न मल सम मोह। कमलपत्र जलतें पृथक्, रहि जिमि जल महँ मोह ॥७१॥
सब कर संग समान, सो दिखात संसार महँ। बिम्बाभास सुजान, जिमि जल के संग भानु को ॥७२॥
सहज दृष्टि तें जे परत, साधारण नर जान। पर परमार्थ विचार तें, लखि न परत जस मान ॥७३॥
ऐसेहि चिन्हन सों विदित, जग निरीह नर होय। अर्जुन, निश्चय जानियो, मुक्त पुरुष है सोय ॥७४॥
सो योगीजन में परम, नुति को पात्र यथार्थ। होवहु तुमहु पार्थ इमि, कहियत तुम सों पार्थ ॥७५॥
अर्जुन मन को नियम करु, अन्तर् निश्चल भाव। कर्मेन्द्रिय व्यापार महँ, वर्तहु सहज सुभाव ॥७६॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

अर्थ—उत्तम कर्म अकर्म तें, विहित कर्म करु पार्थ।
कर्म त्यजन तें देह किमि, रक्षित होय यथार्थ ॥८॥

सम्भव नहिं निष्कर्मता, जब लगि यह संसार। अरु निषिद्ध को आचरण, किमि करि आप विचार ॥७७॥
उचित कर्म जे जे जबहिं, मिलें सु अवसर पाय। तिनहिं कामनाहीन ह्वै, पार्थ करो सद्भाय ॥७८॥
अर्जुन इक कौतुक अहै, तुम नहिं जानत मर्म। कर्म मुकति के आप ही, कारण होवहिं कर्म ॥७९॥
करि स्वधर्म को आचरण, वर्णाश्रम आधार। निश्चय पावत मोक्ष नर, अर्जुन इह संसार ॥८०॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय, मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

अर्थ—इह जग यज्ञ बिना सकल, कर्म बन्धप्रद जान।
अर्जुन, तातें यज्ञहित, करहु कर्म तजि मान ॥९॥

नित्य यजन तिहिं जान, जो स्वधर्म है पार्थ जस। पाप न होय सुजान, तातें तिहिं आचरण तें ॥८१॥
छूटहिं जबहिं स्वधर्म अरु, लागहिं कुकर्म न माहिं। जन्म-मरण बन्धन परैं, तब ही संशय नाहिं ॥८२॥
जे निज धर्माचरण-मय, यज्ञ अखण्ड करेय। कर्म न बन्धन करि सकैं, कबहुँ तिहिं कौन्तेय ॥८३॥

अर्जुन ह्वै, माया विवश, बँधें कर्म के पाश। नित्य यजन ते चूकि जन, पावें सर्व विनाश ॥८४॥
अर्जुन, इह सम्बन्ध की, कथा कहौं तुम पाहि। श्री ब्रह्मा विरच्यो जगत, जब युगादि समयांहि ॥८५॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

अर्थ—सरजि प्रथम सहयज्ञ प्रजा, कह्यो विरंचि उचार।
फूलहु फलहु सुयज्ञ ते, लहहु मनोरथ-सार ॥१०॥

प्रथम यज्ञ सह विधि सृजे, अर्जुन प्राणि समस्त। पर न यज्ञ को तत्त्व ते, समुझे सूक्ष्म प्रशस्त ॥८६॥
तिहि अवसर विनवत प्रजा, 'आश्रय कौन हमार'। श्री ब्रह्मा तब करि कृपा, बोले वचन उदार ॥८७॥
'धर्म नियत प्रथमहि कियो, वर्णाश्रम अनुसार। सहजहि तिहिं आचरण ते लहहु मनोरथ सार ॥८८॥
करेहु न व्रत अरु नियम नहिं, पीड़ा देहु शरीर। तीर्थ प्रभृति महँ दूर कहुँ, जाहु न होहु अधीर ॥८९॥
आराधौ न सकाम, योगादिक साधन न करु। करहु न दक्षिण वाम, मन्त्र-यन्त्र आरम्भ कछु ॥९०॥
अपर देव आराधना, आदिक कछु न कराय। केवल यज्ञ स्वधर्म करु, अनायास सुख पाय ॥९१॥
जिमि पतिव्रता अकाम ह्वै, सेवत निज पतिदेव। तिमि स्वधर्म आचरण कहँ, रहित कामना सेव ॥९२॥
सेवहु नित्य स्वधर्म मख, अर्जुन तुमहु एक। सकल लोकपति कृष्ण प्रभु, बोले वचन विवेक ॥९३॥
सेवत जे निजधर्म तिन्ह, कामधेनु, बनि सोय। कबहुँ न त्यागै' इमि वचन, सुनै प्रजा दुख खोय ॥९४॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

अर्थ—देवहि पूजि स्वधर्म मख, लहु प्रसन्नता तासु।
करि प्रसन्न अन्योन्यहिं, श्रेय लहहु अनियासु ॥११॥

कृत स्वधर्म आचरण सें, देव पाय परितोष। इच्छित फल सब तुमहि ते, देय करहि सन्तोष ॥९५॥
इहिं विधि धर्माचरण सें, पूजित देव समस्त। निश्चय योग-क्षेम तुमहिं, दैहहिं पार्थ प्रशस्त ॥९६॥

देवन तुम पूजन करहुँ, तुम कहँ तोषैं देव। प्रीति परस्पर होय इमि, पार्थ स्वधर्महिं सेव ॥९७॥
जो हम भाष्यो करन हित, सहज सिद्धि कर सोय। सकल कामना चित्त की, या तें पूरन होय ॥९८॥
आज्ञाकर्ता होहि, सिद्धि वचन महँ होय तुव। महाऋद्धि सुख जोहि, तुम तें आयसु माँगिहैं ॥९९॥
जिमि वन शोभा पुष्प फल, भार सहित लावण्य। सेवत द्वार वसन्त को, अर्जुन लहि तारुण्य ॥१००॥

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

अर्थ—सकल देव मख तुष्टि लहि, दैहहिं वाञ्छित भोग।
तिनहिं समर्पे बिन तिन्हे, भोगैं तस्कर लोग ॥१२॥

तिमि सदैव सुख आपही, आँवहिं तुम्हरे पास। मूर्ति सहित ह्वै शोध करि, अर्जुन पूरहिं आस ॥१०१॥
रहि निरीह निज धर्मरत, करि आचरण उदार। जन सुभोग परिपूर्ण ह्वै, पैहहिं सौख्य अपार ॥१०२॥
संपति सब लहि पार्थ जो, करि इन्द्रिय महँ प्रीति। विषय स्वाद लोलुप परम, चलैं रीति विपरीति ॥१०३॥
जे निजधर्मनिरंत सुर,-कल्पित सुख सम्पत्ति। पाइ न पुनि निजधर्म को, आराधत खलवृत्ति ॥१०४॥
देत न आहुति अग्नि महँ, देवहिं पूजत नाहिं। यथाकाल सत्कार हू, करत न ब्राह्मण काहिं ॥१०५॥
सतत विमुख गुरुभक्ति तें, अतिथि न आदर देय। नहिं तोषत पुनि जाति कहँ, स्वार्थीजन कौन्तेय ॥१०६॥
केवल भोगासक्त, अर्जुन, जे ह्वै जात हैं। ह्वै सम्पत्ति प्रमत्त, करत स्वधर्माचरण नहिं ॥१०७॥
संकट तिनपै अति परत, सब धन गाँठि गवायँ। मिले भोग उपभोग को, लाभ कछू नहिं पायँ ॥१०८॥
जैसे आयु विहीन तन, चेतन नहीं बसाय। भाग्य रहित के सदन जिमि, लक्ष्मी नहीं रहाय ॥१०९॥
जिमि स्वधर्म के लोपतें, सुख आश्रय को नास। दीपक जिमि निर्वाण तें, आपुहिं नसत प्रकास ॥११०॥
सुनहु प्रजागण विधि कह्यो, जब निज धर्म तजाय। तब स्वतन्त्रता सत्यहु, नाशै आप सुभाय ॥१११॥
पुनि स्वधर्म को त्याग कै, दंड देत तिहिं काल। चोर समझि सर्वस्व हरि, करत भयंकर हाल ॥११२॥
सकल दोष चहुँ ओर तिहिं, घेरत मिलत न चैन। घेरत भूमि मसान जिमि, सकल भूतगण रैन ॥११३॥



कर्मयोग— धीरे-धीरे शाख प्रति शाख मार्ग क्रम जाय ।
कबहुनकबहु यथेष्ट फल, निश्चय पहुचै जाय ॥

सांख्ययोगः— सांख्य विहगम मार्ग ते, लहि कै आश्रय ज्ञान ।
मोक्ष लहत है तुरत ही, नाहि सन्देह सुजान ॥

—गीता ज्ञानेश्वरी अ० ३, दोहा ४२, ४३

जे दुख त्रिभुवन के सकल, अरु नानाविध पाप। सकल भाँति की दीनता, वसत पार्थ तहँ आप ॥११४॥
अहह, प्रजागण इमि दशा, पावत सो उन्मत्त। रुदन, विलाप प्रलाप तस, छुटै न कल्प समस्त ॥११५॥
नहिं स्वधर्म को त्याग, चतुरानन सिखवत प्रजहिं। होन न देहु अभाग, इन्द्रियगण स्वच्छन्द पुनि ॥११६॥
जिमि जलचर जल त्यागि कैं, तत्क्षण लहै विनास। तिमि स्वधर्म को त्यागि जन, पावत तत्क्षण नाश ॥११७॥
कहत प्रजागण तेहिते, तुमको बारंबार। उचित कर्म सब अवसि करु, सब स्वधर्म अनुसार ॥११८॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अर्थ—यजन शेष को अशन करि, पाप मुक्त हों सन्त।
पापी खावत पाप ते, जे निज हेतु पचन्त ॥१३॥

देखहु जे निष्काम हैं, विहित कर्म की बुद्धि। हृदय धारि आचरत हैं, त्याग आदि कृतशुद्धि ॥११९॥
गोत्र, गुरू अरु अग्नि पुनि, अवसर पाय द्विजात। याजन नैमित्तिक करैं, पितरोद्देशहिं तात ॥१२०॥
इहिं विधि विहिताचरण करि, पंच महा जे यज्ञ। यजन शेष स्वाभाविकहिं, प्राप्त करत ते सुज्ञ ॥१२१॥
ते सुख सह परिवार सह, भोजन करैं अघायँ। तिन सबके तत्काल ही, पातक सकल नशायँ ॥१२२॥
जिमि पियूष सेवन किये, महारोग को नाश। यजन शेष के भोगतें, तिमि अघवृन्द विनाश ॥१२३॥
आत्म विबुध कहँ पार्थ जिमि, भ्रान्ति न बाधा देय। यजन-शेष भोगिहिं तथा, दोष न हो कौन्तेय ॥१२४॥
सन्तोषैं उपभोग, यज्ञ शेष को तेहिं नित। व्ययहिं स्वधर्म नियोग, द्रव्य कमाय स्वधर्मतें ॥१२५॥
कहत कृष्ण अर्जुन सुनहु, आदि कथा अस जान। या अतिरिक्त मनुष्य कहँ, मार्ग न अपर सुजान ॥१२६॥
आत्मा जानत देह कहँ, विषय भोग सर्वस्व। तेहि बिन जानत नाहिं ते पार्थ सार अरु तत्त्व ॥१२७॥
यह जग साधन यज्ञ को, भ्रमवश लखि न सकाय। अहं बुद्धि वश एक बस, विषय भोग ही भाय ॥१२८॥
करैं पाक निज स्वादहित, इन्द्रिय रुचि अनुरूप। सो पापी पातक भखै, निश्चय ही नरभूप ॥१२९॥
अर्जुन सब सम्पत्तियाँ, देवद्रव्य ही जान। करि स्वधर्ममख तोषिये, आदिपुरुष भगवान ॥१३०॥

सबहिं त्यागि के मूर्खजन, निजनिमित्त बहु भाँति। करत रसोई पाक नित, स्वाद-मगन दिन राति ॥१३१॥
अन्नविहित मखसिद्धि तें, तोष लहैं परमेश। साधारण जनि तिहिं गनौ, कहि पार्थहिं सर्वेश ॥१३२॥
साधारण इहिं जनि कहौ, अन्न ब्रह्म वपु एक। जीवन कारण विश्व को, यह सामान्य विवेक ॥१३३॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अर्थ—उपजि जीव सब अन्न तें, अन्न वृष्टि ते होइ।
वृष्टि यजन ते होय पुनि, यजन कर्म तें सोइ ॥१४॥
कर्महिं जानत वेद तें, वेद ब्रह्म तें जान।
व्यापक ब्रह्म स्वधर्मवपु, नित्य यज्ञ वसि मान ॥१५॥

उपजहिं अर्जुन जान, जीव मात्र सब अन्न तें। सब जग माहिं सुजान, उपज अन्न की वृष्टि तें ॥१३४॥
उपजत वृष्टि सुयज्ञ तें, यज्ञ कर्म तें भूप। आदि ब्रह्म तें कर्म सब, जो है वेद स्वरूप ॥१३५॥
उपजहिं वेद जु ब्रह्म तें, सर्वश्रेष्ठ अविनाशि। सकल चराचर, ब्रह्म के, हैं आधीन विनाशि ॥१३६॥
अर्जुन सुन सो कर्म की, मूर्ति मनोहर यज्ञ। निगम ब्रह्म को वास नित, इमि भाषत ब्रह्मज्ञ ॥१३७॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

अर्थ—जे न चलहिं इहि विधि चलित, चारु-चक्र अनुसार।
ते पापी इन्द्रिय-भगत, वृथा जियत संसार ॥१६॥

ऐसी आदि परम्परा, यज्ञ-विषय संक्षेप। तुम प्रति बरनी पार्थ मैं, हरण समामाक्षेप ॥१३८॥
तातें उचित समूल है, पार्थ स्वधर्माचार। करत न जे इहि लोक महँ, मत्त मनुज अनुदार ॥१३९॥

ते अघगण की राशि अरु, जानु भूमि को भार। इन्द्रिय के उपभोग हित, करत कर्म व्यवहार ॥१४०॥

जनम कर्म सब तासु अति निष्फल अर्जुन जानु। अभ्र-पटल जिमि गगन महँ बिन अवसर अनुमानु ॥१४१॥

ज्यों छेरी के गलथना, नहीं दूध की आस। तिमि स्वधर्म आचरन बिन, व्यर्थहि जीवन तास ॥१४२॥

नाहिं स्वधर्म तजाहिं, तातें सज्जन पाण्डुसुत। एक स्वधर्म सदाहिं, सर्वभाव सेवन करत ॥१४३॥

यदि मनुष्य-तन पार्थ लहि पूर्वकर्म अनुसार। तो नहि तजिबो उचित है, कबहुँ स्वधर्माचार ॥१४४॥

उचित कर्म तें विरत हैं, जे मनुष्य-तन पाय। गनहु सव्यसाचिन तिनहिं, मूर्खपनो अधिकाय ॥१४५॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

अर्थ—आत्मा में जो रत सदा, आत्मतृप्त जो नित्य।

आत्मा में संतुष्ट पुनि, तासु रहे नहिं कृत्य ॥१७॥

रहत कर्म महँ देह तउ, कर्म लेप नहिं होय। रम्यो आतम-स्वरूप महँ, सन्त निरन्तर जोय ॥१४६॥

लहत तुष्टि निजबोध तें, जो होवहिं कृतकार्य। सहजहिं कर्मासंग ते, मुक्त होत ते आर्य ॥१४७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

अर्थ—कर्म किये कछु लाभ नहिं, नहीं किये नहिं हानि।

तासु प्रयोजन नाहिं कछु, प्राणिमात्र तें जानि ॥१८॥

साधन आपहिं पूर्ण सब, तृप्त भये ते पार्थ। आतम तृपति ते शेष तस, रहत न कर्म यथार्थ ॥१४८॥

आतम विवेचन पार्थ, मन, जब लौं भेंटत नाहिं। साधन तबलौं आचरण, कीन्हें बिन न तराहिं ॥१४९॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अर्थ—तातें इच्छा त्यागि तुम, करो विहित आचार।
लहत परमपद कर्म करि, इच्छाहीन उदार ॥१६॥

तातें इच्छा त्यागि सब, तुम सर्वत्र उदार। महाबाहु आचरहु नित, उचित स्वधर्माचार ॥१५०॥
कीन्हेउ जिन निष्काम मन, पार्थ स्वधर्माचार। तिन जग पायो वास्तविक, पद कैवल्य उदार ॥१५१॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

अर्थ—जनक आदि ज्ञानी सकल, मुक्त भये करि कर्म।
लोक सुसंग्रह हेतु करहु, पार्थ आचरण धर्म ॥२०॥

निश्चित कर्म अशेष, देखहु जनकादिक किये। त्यागे नहि वीरेश, अरु पायो तिन मोक्ष पद ॥१५२॥
ताते राखब है उचित, आस्था कर्म सुजान। ता आस्था को लाभ लखु, अर्जुन अति परधान ॥१५३॥
तुमहिं कर्म महँ निरत लखि, अनुसरिहैं संसार। अनायास पुनि दुःख तें, ते जन जैहहिं पार ॥१५४॥
कछु न रहत कर्तव्य जस, इह कृतार्थता पाय। लोक उदय के हेतु तस, है कर्तव्य सुभाय ॥१५५॥
अन्धहिं पन्थ दिखाय जो, सो चलि अन्ध समान। ज्ञानी करै स्वधर्म नित, अज्ञानिन हितजान ॥१५६॥
ऐसहि यदि कीजै नहीं, तो कहु किमि अज्ञान। मानव जानहिं कर्मपथ, पुनि किमि पावहिं ज्ञान ॥१५७॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो आचरत, सोइ आचरत समस्त।
ते निर्धारत पन्थ जो, तिहिं अनुसरत प्रशस्त ॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष आचरहिं जो, तासु नाम है धर्म। साधारण जन जानियत ताको ही शुभ-कर्म ॥१५८॥
यों स्वाभाविक नियमवश, कर्म न त्याग कराय। सन्त समाज विशेष कर, करै स्वकर्म सदाय ॥१५९॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

अर्थ—अर्जुन, मोहिं त्रिलोक महँ, कछु कर्तव्य न शेष ।
नहिं अलब्ध लब्धव्य कछु, करहुँ कर्म सविशेष ॥२२॥

पार्थ अपर की बात तजि, कहौं सुनो मम बात । कर्म सरणि महँ मैं स्वयं, चलत लखहु तुम तात ॥१६०॥
मैं इच्छावश होय, या संकट निस्तार हित । ऐसो भाषै कोय, नित अनुसरत स्वधर्म मैं ॥१६१॥
किन्तु परम आश्चर्य-मय, गुण राजत मम अङ्ग । अर्जन दूजे माहिं इमि, मिलत नहीं गुण सङ्ग ॥१६२॥
मृत गुरु-सुत को आनि दिय, लख्यो पराक्रम मोर । सोऊ मैं अति शान्त ह्वै, वर्तत कर्म अथोर ॥१६३॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

अर्थ—मैं यदि आलस त्यागि कै, चरहुँ न धर्माचार ।
तो सब जगत स्वधर्म तजि, चलिहै मम अनुसार ॥२३॥

फलासंगि जिमि करत तिमि, करहु स्वधर्माचार । सुनहु तासु उद्देश इक, यह ही पाण्डुकुमार ॥१६४॥
भूतल प्राणीमात्र सब, केवल मम आधीन । तो वे सब जनि होंहि निज-कर्म भ्रष्ट ह्वै दीन ॥१६५॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अर्थ—कर्म न यदि मैं करहुँ तो, होय प्रजा संहार ।
कारण संकर को बनहुँ, अरु नाशक संसार ॥२४॥

आत्मस्थिति महँ जो रहौं, पूर्णकाम मैं होय । तो कैसे वर्तैं प्रजा, कैसे निबहै सोय ॥१६६॥
निरखि मोर आचरण मग, प्रजा चलै तिहिं रीत । यों लोकस्थिति सकल तब, नसै होय विपरीत ॥१६७॥
हैं जो पार्थ, समर्थ नर, सकल ज्ञान सम्पन्न । ते बहुधा जग कर्मको, करें नहीं अवसन्न ॥१६८॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अर्थ—अज्ञानी फल-सङ्ग ते, कर्म करहिं जिमि पार्थ ।
ज्ञानी तिमि आसक्ति विन, जगहित करहिं यथार्थ ॥२५॥

कामी जिमि आचरण करि, लखि के फल की आश । तिमि बुध परिहरि वासना, कर्म करैं सहुलास ॥१६९॥
उपजहिं बारम्बार, अर्जुन ते जग थिति सकल । रक्षण हेतु उदार, जानहु सन्त अवश्य ही ॥१७०॥
कर्म मगहिं ते अनुसरें, जन इव निजपथ ओर । कबहुँ अलौकिक बनहिं नहि जग प्रति नर-सिर-मौर ॥१७१॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

अर्थ—कर्मसङ्गि अबोधिजन, पावै नहि मतिभेद ।
इमि बुध कर्म करे सकल, जगहित नित्य अखेद ॥२६॥

जे शिशु कर आयास सों, मातुस्तन पय पान । जेवहिं ते पकवान्न किमि, सोचत इमि मतिमान ॥१७२॥
जासु अकाम सुकर्म महँ, पार्थ नहीं अधिकार । सहजहिं प्रगटि न तिनहिं महँ, निष्कर्मता उदार ॥१७३॥
कहि पुनर्तें सत्कर्म गुण, कर्म प्रशंसैं नित्य । अरु दिखाय सत्कर्म करि, ज्ञानवान् कृतकृत्य ॥१७४॥
करैं आचरण कर्म कौ, वर्णाश्रम-थिति हेतु । तिनहि कर्मबँध होत नहिं, कहत धर्म-श्रुति-सेतु ॥१७५॥
जिमि नट, रानी नृप बनै मन नहिं नर तिय भाव । तिमि जगसंग्रह हेतु बुध, करत कर्म धरि चाव ॥१७६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

अर्थ—सकल कर्म क्रियमाण हैं, प्रकृति गुणों के ताप ।
अहंकारवश मूढमति, कर्ता मानत आप ॥२७॥

दूजे को जो भार निज, माथे ऊपर लेय। तो का भारी नहिं लगै, कहु मोतें कौन्तेय ॥१७७॥
कर्म शुभाशुभ उपजि तिमि, प्रकृति धर्म अनुसार। पै कर्ता मानत अबुध, आपुहिं मोह-अपार ॥१७८॥
स्थूलदशा अतिमूढ, अहंकार परिपूर्ण जो। तेहिं परमार्थ सुगूढ, कहु न कबहुँ निष्काम कृति ॥१७६॥
अर्जुन, अब तुम तें कहौं, हितकारी इक बात। ताहि श्रवण करु ध्यान दे, कुन्तीसुत अवदात ॥१८०॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अर्थ—अर्जुन, जे जानत सकल, पुनि गुणकर्म विभाग।
'गुण कहँ गुण वर्तत' समझि, ते तजि देत कुराग ॥२८॥

सकल कर्म उत्पन्न हों, पार्थ प्रकृति के भाव। सो ज्ञानी के निकट पुनि, लहति न आविर्भाव ॥१८१॥
छांडहिं जे अभिमान को, ह्वै गुण कर्मातीत। वर्तत साक्षीरूप ते, अर्जुन परम पुनीत ॥१८२॥
लहहिं कर्मबँध नाहिं ते, यद्यपि धरे शरीर। जिमि प्रकाश जग करत रवि, लिप्त न हो रणधीर ॥१८३॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२६॥

अर्थ—मोहित ह्वै गुण प्रकृतिवश, लहि गुण-कर्मासक्ति।
जे विचरत तिन मन्दमतिन को न कराय विरक्ति ॥२६॥

कर्मन महँ जे लिप्त हैं, गुण भ्रमवश संसार। अर्जुन प्रकृति अधीन ह्वै, ते वर्तत व्यवहार ॥१८४॥
इन्द्रिय गुण आधार तें, जे करि निज व्यापार। ते परकर्महिं-कर करत, बल तें अङ्गीकार ॥१८५॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अर्थ—अर्पण करि सब कर्म मोहिं, धरि अध्यात्म-विचार।
आशा ममता तजि करहु, युद्ध निरस्तविकार ॥३०॥

अर्पण कीजै मोहिं सब, विहित कर्म आचार । अरु चितवृति राखहु सदा, आत्मरूप अविकार ॥१८६॥
कर्ता मैं या कर्म को, अमुक हेतु के हेतु । अस अभिमानहिं चित्त महँ, जनि लावहु कपिकेतु ॥१८७॥
देहाधीन न जाव, सकल कामना त्याग करु । भोगहु पार्थ स्वभाव, यथाकाल सब भोग को ॥१८८॥
धारण करि के धनुष को, बैठहु इहि रथ आय । स्वीकारहु मन वीरवृति, समाधान सद्भाय ॥१८९॥
अर्जुन मानि स्वधर्म निज, कीर्ति विश्व विस्तार । इन असुरन के भार तें, करहु धरणि उद्धार ॥१९०॥
उठहु पार्थ निःशङ्क ह्वै, चित्त देहु संग्राम । याहि विना तुव अन्य की, चर्चा सौं नहि काम ॥१९१॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

अर्थ—जे नर मम मत को करहिं, नित्याचरण प्रमाण ।
श्रद्धायुक्त अनिन्द तिन, मुक्त कर्म तें जान ॥३१॥

जे मेरे निश्चय मतहिं, परमादर स्वीकार । श्रद्धा सयुत आचरण, करैं सदा अनुसार ॥१९२॥
कर्मरहित जानहु तिनहिं, करत कर्म आचार । यह मम निश्चय मत अहै, करण योग्य हिय धार ॥१९३॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अर्थ—निन्दहिं जे मम मतहिं अरु, करहिं न अस आचार ।
ज्ञान विना ते नसत सब, मूढचित्त अविचार ॥३२॥

जे माया के होय वश, इन्द्रिय लाड़ लड़ाय । मम मत की अवहेलना, करहिं स्वकर्म तजाय ॥१९४॥
जे समुझहिं सामान्य अरु, करहिं अवज्ञा तासु । किंवा नुति के वाक्य कहि, वृथा करहिं मकवासु ॥१९५॥
अर्जुन धरि विष विषय, डुबि, कदर्म घन अज्ञान । मोह मद भ्रम भ्रमित हैं, ते इमि निश्चय जान ॥१९६॥
नहिं प्रमाण कछु सोय, जन्म अन्ध कहि मैं लख्यौ । रत्न वृथा जिमि होय, देखहु शव के हाथ महँ ॥१९७॥
चन्द्र उदय तें काग को, कछु न होत उपयोग । तिमि विवेक चाहत नहीं, पार्थ मूर्ख जे लोग ॥१९८॥

अर्जुन या परमार्थ तें, विमुख पुरुष जो होय । सम्भाषण तिन्ह तें कबहुँ, करहु न जो हित होय ॥१९९॥
निन्दा ही लागैं करन, मानत नहीं अजान । कहहु प्रकाश पतंग को, किमि सहि जाय सुजान ॥२००॥
दीपासंग पतंग कर, मरण अचूक प्रमान । तैसे विषयासंगतें, आत्मनाश ध्रुव जान ॥२०१॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

अर्थ—ज्ञानी हू चेष्टा करत, निज स्वभाव अनुसार ।
प्राणि सकल हैं प्रकृतिवश, निग्रह कहा विचार ॥३३॥

ज्ञानी जो इन्द्रियन को, कबहुँ न लाड़ लड़ाय । कौतुकहू ते भूलि ते, विषयन चित्त लगाय ॥२०२॥
अहिन संग कहु खेल करि, व्याघ्र संग करि युद्ध । पी हालाहल विष मनुज, जियै कि कबहुँ अबुद्ध ॥२०३॥
खेलत-खेलत अनल कहुँ, अर्जुन जो लगि जाय । भड़कि न सँभरै, तिमि अहै, इन्द्रिय लाड़ लड़ाय ॥२०४॥
देखु यथार्थ शरीर जब, पराधीन ही होय । क्यों तब ताके हित विविध, भोग सँवारे कोय ॥२०५॥
को सम्पद भरपूर, अधिक परिश्रम करि करे । धारि सकै नहिं शूर,-हू चिर लौं या देह को ॥२०६॥
विविध परिश्रम करि वृथा, संपति अमित जुड़ाय । अरु स्वधर्म तजि, देह किमि, पोषण करै सदाय ॥२०७॥
जब लहिहै पञ्चत्व यह, पंचतत्त्वयुत देह । तब जन किमि बहु कष्ट करि, तिहिं साधत कहि येह ॥२०८॥
तातें मात्र शरीर कौ, पोषण है अतिहानि । यातें अन्तःकरण को, देहु न या महँ जानि ॥२०९॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अर्थ—इन्द्रिय अर्थ जु विषय हैं, तहाँ प्रीति अप्रीति ।
नहिं तिन के वश आइयो, जानि शत्रु तिहिं जीति ॥३४॥

जो साधारण विषय को, इन्द्रिय सेवत जात । तातें जन के चित्त को, समाधान ह्वै जात ॥२१०॥
'जिमि मग महँ ठग वेषहू, साथी को जन पाय । जब लगि वंचित होत नहिं, तब लगि सुख सों जाय ॥२११॥

स्वाद मधुर विष को भलो, प्रथम लगै मन माहिं। तो किमि ते परिणाम महँ, प्राणघात कर नाहिं ॥२१२॥
कामी के तिमि इन्द्रियन, लागत विषयास्वाद। आमिष मिष धँसि शूल इव, मीनहिं देय विषाद ॥२१३॥
आमिष भीतर प्राणहर, कंटक इव विषयान्त। कष्ट रहत जिहिं मीन इव, कामी लखै न भ्रान्त ॥२१४॥
कीजिय यदि अभिलास, भूलि विषय की चित्तमहँ। सेवक इन आधीन ह्वै, तो अवश्य क्रोधाग्नि के ॥२१५॥
जिमि बहेलिया मृग वधत चारिहुँ दिशि तिहिं घेरि। साधत सन्मुख लक्ष्य पुनि, मारत मुदित न बेरि ॥२१६॥
अर्जुन, तैसहि विषय लखि, घातक कामरु क्रोध। संगति तिनकी करहु जनि, मानहु मोर प्रबोध ॥२१७॥
इन कर आश्रय धरहु जनि, मनहिं न देहु ठिकान। भाव निजात्म सुवृत्तिको नसन न देहु महान ॥२१८॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्थ—परम सुकर परधर्म तें, विगुणहु श्रेष्ठ स्वधर्म।
मरणहु श्रेष्ठ स्वधर्म महँ, भयदायक परधर्म ॥३५॥

अहह, सुधर्म जु आपनो, यदि कहुँ कठिन जनाय। तोऊ ताको आचरण, उत्तम जानु सुभाय ॥२१९॥
साँचहु पर धर्माचरण, उत्तम लागै देखि। पर स्वधर्म ही आचरै, मानव आप सुपेखि ॥२२०॥
शूद्र सदन पक्वान्न यदि, सब विधि उत्तम होय। पै दुर्बलहु द्विज कहुँ? करै कि सेवन सोय ॥२२१॥
इच्छा कैसे कीजिये, जो न ग्रहण के जोग। किंवा अन-इच्छित मिले, तो करिये किमि भोग ॥२२२॥
उत्तम महल निहारि पर, मन में मोहित होय। किमि निज लघु गृह तोरियत, कहहु पार्थ तुम मोय ॥२२३॥
यदपि होय धनुधारि, निज नारी गुण रूप बिन। तदपि नहीं पर नारि, सुन्दरि हु कल्याणप्रद ॥२२४॥
दुर्घट अति आचरण महँ, यद्यपि होय स्वधर्म। तदपि सखा स्वधर्म ही, परलोकहिं यह मर्म ॥२२५॥
खांड पयहु दोनों मधुर, निज गुण मांहि प्रसिद्ध। पर कृमि दूषित किमि पियो, जाप सदैव विरुद्ध ॥२२६॥
ऐसहि जे सेवन करैं, ताहि दुराग्रह ठानि। पथ्य नहीं परिणाम महँ, अर्जुन ताकी हानि ॥२२७॥
जो दूजे को उचित अरु, आपुहिं उचित न होय। ताको जनि आचरहु तुम, पार्थ आप हित जोय ॥२२८॥
यदि स्वधर्म आचरण महँ, जीवन की ही हान। तो निश्चय दुहुँ लोक महँ, प्राप्त होय सम्मान ॥२२९॥

इमि जब देव-शिरोमणी, बोले शारंग-पानि। तब सविनय विनती करी, पार्थ जोरि जुग पानि ॥२३०॥
प्रभु, तुम जो भाष्यौ सबै, सुन्यो भली विधि ताहि। अब पुनि विनवौं आप प्रति, जो मम पृच्छा मांहि ॥२३१॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्थ—कातें प्रेरित जीव यह, करत पाप आचार।
केशव ! वरवश चलत है, बिन इच्छा अविचार ॥३६॥

ज्ञानीहू की थिति नसै, छांडि देत सन्मार्ग। प्रभु किमि ऐसो होत है, ते चालत मनमार्ग ॥२३२॥
जे सर्वज्ञ उपाय सब, जानत कृपानिधान। तेहू पर को धर्म को, किमि आचरत सुजान ॥२३३॥
अन्ध नबेरि न सकत जिमि, बीज भूसको वीर। नेत्र सहित नर चूकि किमि, तिमि करि देत सुधीर ॥२३४॥
बन्यो सग शुभ छाँडि पुनि, संग अशुभ न अघायँ। बनि बनवासी किमि फँसैं, बहुरि नगर महँ आय ॥२३५॥
सब अघ को टारत रहत, जे जन छिपि के आप। बल करिके घेरे बहुरि, भगवन्, तिनहीं पाप ॥२३६॥
जीव घृणा करि जेहि ते, सो जीवहिं लगि जाय। टारत जेहि प्रयत्न करि, ते खोजत मिलि आय ॥२३७॥
ऐसी देखहु प्रबलता, आग्रह कर्ता कौन। हृषीकेश मोतें कहहु, तुम सर्वज्ञ त्रिभौन ॥२३८॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

अर्थ—अर्जुन कामरु क्रोध ये, जन्मैं रजगुण पाहिं।
सकल भक्ष पापी महा, बैरी इन सम नाहिं ॥३७॥

रमत योगिजन हृदय महँ, जे परिपूरण काम। ते पुरुषोत्तम कहत भे, सुनु अर्जुन मतिधाम ॥२३९॥
रह नहिं काम क्रोध महँ, पार्थ कृपा लवलेश। जासु कठोर कृतान्त सम, अरु का कहौं विशेष ॥२४०॥
यह भुजंग निधि ज्ञान के, विषय गुहा के बाघ। भजन मार्ग के डोम जिमि, मारक तीव्र निदाघ ॥२४१॥

इन्द्रिय पुर के कोट, देह किले की ये शिला। करहिं जगत महँ चोट, अज्ञानादि उपद्रवनि ॥२४२॥
उपजहिं मन के रजगुणहिं, दनु सम्पत्ति समूल। पुष्टि करत अज्ञान इहिं, पार्थ आत्म-प्रतिकूल ॥२४३॥
जन्महिं रजगुण ते सही, प्रियतम तमगुण केर। तातें तम सब निज दिये, मोह प्रमाद अँधेर ॥२४४॥
अर्जुन, ये ही मृत्यु पुर, के शिरमौर सुजान। परम शत्रु जीवित दशा, के जानहु बलवान ॥२४५॥
जाकी भूख कि प्यास जग, पुरत न अगणित कौर। 'आशा' सब व्यापार को, चालन करत न और ॥२४६॥
सहजहिं चौदह भुवन जिहिं, मूठी महँ कम होय। ताकी प्यारी बहिन पुनि, 'भ्रान्ति' कहावत सोय ॥२४७॥
खेलत खेल रसोइया, तीनों लोकहिं खाय। ताके दासीपन बलहि, 'तृष्णा' जियत अघाय ॥२४८॥
अरु कह मानत मोह इहिं, अहंकार लिपटाय। जगत नचावत जाहि तें, जिमि याके मन भाय ॥२४९॥
सार निकारै सत्य को, तहँ असत्य भुस डार। विस्तार्यो है इन सकल, 'दम्भ' रचित संसार ॥२५०॥
करहि भ्रष्ट सब भार, साधु-वृन्द को ताहि तें। माया को शृङ्गार, साध्वी शान्तिहिं लूटि कै ॥२५१॥
चर्महि खींचि विराग कौ, अरु विवेक सिर फोरि। इन्द्रियनिग्रह कौ जियत, डारहि गरो मरोरि ॥२५२॥
खोदिय इन सन्तोष वन किला धैर्य को ढाह। आनँद वृक्ष उपारि के, फूंक्यो हृदय उछाह ॥२५३॥
अंकुर ज्ञानहिं नोंचि के, सुख को नाम मिटाय। प्राणि उरहिं त्रय ताप की, अगिन असह्य जलाय ॥२५४॥
धारिय इन जब तें तनहिं, लगे हिये तें आय। ब्रह्मादिक पावैं नहीं, इनको शोध उपाय ॥२५५॥
निवसत ये चैतन्य ढिग, ज्ञान पंक्ति महँ आइ। प्रबल प्रलय आरम्भ करि, रोके नहीं रुकाहिं ॥२५६॥
ये डोबैं बिन नीर के, आगी बिना जरायँ। बोले बिन ग्रासि लेत हैं, प्राणिमात्र कुराय ॥२५७॥
शस्त्र बिना मारैं सबहिं, अरु बाँधैं बिन डोर। ज्ञानीहु को वश करैं, पैंज बाँधि कर घोर ॥२५८॥
कर्दम बिन ये गाड़हीं, बाँधि लेत बिन पाश। इन सम बल नहिं काहु को, अति प्रचंड बलराश ॥२५९॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अर्थ—आच्छादै धूआँ अगिन, जिमि दर्पण को धूल।
जिमि जरायु गर्भहिं सु तिमि, ज्ञानहिं काम समूल ॥३८॥

जैसे चन्दन मूल महँ, लिपटाने रहि व्याल। किंवा थैली तें ढंक्यौ, रहत गर्भ सब काल ॥२६०॥
अनल न धुआँ विहीन, भानु प्रकाश विहीन नहिं। रहत न कतहुँ प्रवीन, जिमि दर्पण विन धूर के ॥२६१॥
इन सिवाय तिमि विलग करि, ज्ञानहिं लख्यौ न नैन। विन भुस बीज न उपजि कहुँ भाषत करुणा ऐन ॥२६२॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

अर्थ—ज्ञानहिं ढांकत नित्य अरि, ज्ञानीजन कौ, काम।
अनलँ समान न तृप्ति लहि, अर्जुन यह दुखधाम ॥३९॥

ज्ञान यदपि अति शुद्ध पै, कामाच्छादित होय। वैछ्यो अधिक अगाध है, तातें अर्जुन सोय ॥२६३॥
जीतैं प्रथमहिं काम को, तब ही पावैं ज्ञान। त्यौंलौं रागरु द्वेष को, जितब न सम्भव जान ॥२६४॥
कामहिं मारन हेतु बल, जो भरिये निज अंग। तो सहकारी होत जिमि, ईंधन अनल प्रसंग ॥२६५॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

अर्थ—इन्द्रिय, मन अरु बुद्धि ये, काम निवास ठिकान।
जीव सुमति ढंकि एहि बल, मोहित करै निदान ॥४०॥

काम निवारण यत्न महँ, जो जो करिय उपाय। तातें अति दृढ योगिहू, यातें जीते जायँ ॥२६६॥
ऐसो उत्तम यत्न इक, तुम तें कहौं बुझाय। याको साधन यदि करो, संकट सकल नसाय ॥२६७॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अर्थ—इन्द्रिय जीतहु प्रथम तुम, कामहिं तजहु निवारि।
रिपु यह ज्ञान विज्ञान कौ, याहि अघी कहँ मारि ॥४१॥

इन्द्रिय ताको मूल घर, कर्म प्रवृत्ति ठिकान। तातें प्रथमहिं इन्द्रियन, जीतहु सर्व-विधान ॥२६८॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

अर्थ—इन्द्रिय सूक्ष्म शरीर ते, तातें मनहिं विचार।

तातें बुधि अरु बुद्धि तें, परमात्मा निरधार ॥४२॥

नसहिं ठिकान अटूट, अरु तहँ पापी काम की। जब मन बुद्धिहु छूट, दौड़ रुकै तब मनहिं की ॥२६९॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

अर्थ—ऐसहि बुधि सों जो परे, सो परमात्महि जान।

अति अजेय जो काम रिपु, ताहि जीत बलवान ॥४३॥

उरहिं काम क्रोधहु कढ़ैं, अरु दुहुँ नसैं अशङ्क। किरण विना मृग जलहु को, कतहुँ न दीखत अङ्क ॥२७०॥

नाशहिं रोगरु द्वेष यदि, ब्रह्मानन्द स्वराज्य। आपै भोगैं आपुही, आपुन सुख साम्राज्य ॥२७१॥

गुप्त वचन गुरु शिष्य को, ऐक्य ब्रह्म अरु जीव। ह्वै के थिर तहँ रहु सदा, परमलाभ सुख सींव ॥२७२॥

सकल सिद्धि के स्वामि श्री, लक्ष्मीजी के नाह। देवों के पति कृष्ण प्रभु, इमि भाष्यो स उछाह ॥२७३॥

कथित अनन्त पुरातनी, कथा ताहि सुनि वीर। प्रश्न करत पुनि कृष्ण तें, पार्थ महामति धीर ॥२७४॥

सो संवाद सुयोग्यतहिं, रस परिपूर्ण प्रभाव। श्रोतागण कहँ श्रवण सुख, दैहै सदा सुभाव ॥२७५॥

कहै दास श्री निवृत्ति को, ज्ञानदेव अवधार। लहहु ज्ञान संवाद वर, सुनि प्रभु पार्थ उदार ॥२७६॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थदीपिकोपरि श्री अग्र वैश्य-वशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी) निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद् ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर श्री गणेशप्रसादकृतायां गीता ज्ञानेश्वर्यां तृतीयोऽध्यायः। शुभमस्तु ॐ तत्सत् ३।

ॐ

चतुर्थ अध्याय



अर्थ—आज श्रवन को दिन उयो, गीता निधिहिं निहार।
भयो स्वप्नवत् भास अब, सत्य समान उदार ॥१॥

प्रथम कथा अध्यात्म की, पुनि वक्ता जगदीश। तापर श्रोता भक्तवर, अर्जुन अवनत शीष ॥२॥
पञ्चम स्वर आलाप अरु, मृदु सुस्वाद, सुगन्ध। जिमि यह योग प्रमोद कर, तिमि यह कथा प्रबन्ध ॥३॥
किमि बरनौं भाग्योदयहिं, मिली अमृत की गंग। जप तप फल श्रोता लह्यो, गीता कथा प्रसंग ॥४॥
इन्द्रियगण निज कर्म तजि, बसै कान के ठाम। कृष्णार्जुन संवाद कौ, लहिहैं सुख अविराम ॥५॥
अब अतिशय विस्तृत कथन, छांडि सु कथा-प्रसङ्ग। कृष्णार्जुन संवाद को, भाषौं सहित उमङ्ग ॥६॥
संजय नृप ते ता समय, कहत देखि नत पार्थ। तापर अतिशय प्रीति करि, श्रीहरि कहत कथार्थ ॥७॥
जो न पिता वसुदेव प्रति, जो न देवकी मात। जो नहि प्रिय बलभद्र को, कह्यो, कहौं सो तात ॥८॥
यह न लख्यो सुख प्रेम, देवी लक्ष्मी के निकट। सोई अद्भुत क्षेम, श्रीहरि सों अर्जुन लह्यो ॥९॥
सनक आदि ऋषिवरन की, बढ़ी अधिक अभिलाष। पै न सफलता तिन लही, पुरी पार्थ की आश ॥१०॥
इमि जगदीश्वर प्रेम इत, निरुपम पर्‌यो दिखाय। अर्जुन सर्वोत्तम कवन, पुण्य कियो कुरुराय ॥११॥
देखहु जाकी प्रीतिवश, निराकार साकार। दोउन की थिति लखि परत, मोकौं एकाकार ॥१२॥
योगी के कर लगत नहिं, वैदिक बुधि न समाय। अरु न ध्यान की दृष्टि महँ, जो नहिं प्रकट दिखाय ॥१३॥
जो पुनि आत्म-स्वरूप हैं, आदि अन्त सों हीन। सो निज अर्जुन प्रति भयो, स्नेह दया आधीन ॥१४॥
जो त्रिभुवन पट के घटक, पुनि आकार विहीन। अर्जुन के दृढ़ प्रेम महँ, सो जब भये अधीन ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

अर्थ—भानुहिं मैं कह्यो प्रथम, यह अविनाशी योग ।
भानु मनुहिं, मनु पुनि कह्यो, इक्ष्वाकुहिं अनुयोग ॥१॥

कहैं कृष्ण तब पार्थ सों, यही योग धीमानु । । बहुत काल बीत्यो सुन्यो, जप मोह तें भानु ॥१६॥
भानु विवस्वत ने बहुरि, ते योगस्थिति वीर । आदि नृपति मनु सों करी, सकल निरूपण धीर ॥१७॥
इक्ष्वाकुहिं उपदेशि, अनुष्ठान करि आप मनु । ऐसी यह सविशेषि, चली पुराण परम्परा ॥१८॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

अर्थ—इमि परम्परा प्राप्त यह, योग राज-ऋषि लोग ।
जानत भये सु कालवश, अर्जुन नास्यो योग ॥२॥

अरु अनेक राजर्षि पुनि, जानत भे यह योग । किन्तु न अब दीखत कहूँ, इहिं जानें जे लोग ॥१९॥
हैं प्राणी कामी सकल, आदरियहिं स्वशरीर । तातें आत्मविवेक को, बिसरि गये मतिधीर ! ॥२०॥
आस्तिक मति ते हीन नर, गनैं विषय सुखमूल । प्राण समानहि प्रिय लगैं, परिवर्तन अनुकूल ॥२१॥
क्षपणक जन के गाम महँ, कहा वस्त्र सम्बन्ध । तस उपकारी रवि कहा, जे जन जन्महिं अन्ध ॥२२॥
कहहु बधिर जन की सभा, कहा गान को मान । चोरहु चाँदनि रात की, कहा करैं सम्मान ॥२३॥
चन्द्र उदय तें पूर्व ही, जाके फूटैं नैन । बायस सो किमि चन्द्र को, पहिचानैं लहि चैन ॥२४॥
सीम न जिन वैराग्य लखि, सुन्यो न नाम विचार । लहैं मूढ़ मतिमन्द ते, किमि ईश्वर निरधार ॥२५॥
जाने नहिं यह मोह किमि, बढ्यो गयो बहुकाल । लुप्त भयो जग योग यह, जातें कुन्तीलाल ॥२६॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अर्थ—सोइ पुरातन आज मैं, तोहिं बतायो योग ।
तू मम भक्त सखा परम, या रहस्य के जोग ॥३॥

शङ्का करहु न पार्थ, सकल चित्त दैके सुनहु । तुम सन कहत यथार्थ, अब रहस्य ता योग को ॥२७॥
यह रहस्य मम हृदय को, पै किमि राखहुं गोय । मेरे तुम अति प्रेम के, पात्र मित्र हो सोय ॥२८॥
हो तुम प्रतिमा प्रेम की, और भक्ति के प्रान । मैत्री की जीवनकला, तुम सर्वस्व निधान ॥२९॥
श्रद्धा के ही धाम तुम, तुम सों कहा दुराव । यद्यपि हम इस काल हैं, महासमर के ठाँव ॥३०॥
क्षण भर अब थिरमति रहो, तजि अन्यान्य विचार । प्रथम सकल अज्ञान तुव, हरिहौं मैं धनुधार । ॥३१॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्थ—अर्जुन कहि—रवि पूर्वतर, परतर जन्मे आप ।
किमि यह मानौं आदि महँ, उभय मध्य संलाप ॥४॥

अर्जुन तब कहि—कृष्ण प्रभु, शिशु पर मातु सनेह । कृपासिन्धु है सहज ही, तहां न कछु सन्देह ॥३२॥
या जग में प्रभु आप ही, थकित जीव हित छाँह । अशरण के माता पिता, गहत पतित की बाँह ॥३३॥
पाण्डु नृपतिकुल जन्म मम, कृपा तुम्हारी नाथ । पंगुतनय की जननिवत्, सदा रहत हो साथ ॥३४॥
जो कछु अब पूछन चहौं, सुनिय भली विधि ताह । हृदय कोप जनि लाव प्रभु, तुम त्रिभुवन के नाह ॥३५॥
रवि सन कही अनन्त, आप योग की बात यह । मेरो मन भगवन्त, तिहिं कैसहुँ समझत नहीं ॥३६॥
अहह, विवस्वत कौन जिहिं, वृद्धहु जानत नाहिं । तिहिं उपदेश्यो आप कब, कैसे परै जनाहिं ॥३७॥
सूर्य सुनत बहु काल के, पर प्रभु तो इहि काल । तातें प्रभु की बात महँ, लखौं विरोध विशाल ॥३८॥

जानहुँ नाहिं तथापि कछु, चरित आपको देव। तातें एकाएक किमि, मिथ्या भाषहुँ एव ॥३९॥
प्रभु उपदेश्यो सूर्य को, आप जनायो मोहिं। सो सुस्पष्ट करहु प्रभु, जेहि ते समुझौं तोहिं ॥४०॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

अर्थ—जन्म हमारे आपके, बहुत भये हैं पार्थ।
तिन सबको सुस्मरण मोहि, रह्यो न तुमहिं यथार्थ ॥५॥

कृष्ण कहत सुनु पाण्डुसुत, भये समय जिहिं भानु। तब हम न हुते भ्रान्ति यह, तुव मन माहिं सुजानु ॥४१॥
जानत नहिं तुम बहु भये, जन्म मोर अरु तोर। तिनको स्मरण न तुमहिं कछु, रह्यो धनंजय थोर ॥४२॥
जिहिं जिहिं अवसर होय जो, मैं लीन्हों अवतार। तिन सबको है सुस्मरण, मोकों है धनुधार ॥४३॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय, सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अर्थ—जनम नाश सों रहित ध्रुव, सब जीवों का नाथ।
मैं अवतरत स्वभाव गहि, निज माया के साथ ॥६॥

जन्मरहित अविनाशि हौं, भूतेश्वर हे पार्थ। पै निज माया योग तें, सम्भव जन्म यथार्थ ॥४४॥
जन्म-मरण दरसाय, नसत न मेरी नित्यता। भासत है मम ठाँय, मायावश प्रतिबिम्ब सों ॥४५॥
नष्ट न होत स्वतन्त्रता, कर्माधीन दिखाय। भ्रमित बुद्धि तें घटित यह, पै न सत्य समुझाय ॥४६॥
एकहिं अपर दिखात है, दर्पण के आधार। दूजो कौन दिखात है, कीजै तासु विचार ॥४७॥
निराकार हौं पार्थ पै, करि माया स्वीकार। कारज हित सों नट सरिस, धरत रूप साकार ॥४८॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

अर्थ—जब जब क्षय हो धर्म को, अरु अधर्म बढ़ि जाय ।
तब तब मैं अवतार धरि, प्रगटत पार्थ स्वभाय ॥७॥

युग युग महँ रक्षा करौं, पार्थ धर्म की आय । सृजन आदि तें आज लौं, यह मम विदित स्वभाय ॥४९॥
जब अधर्मकृत धर्मक्षय, लखौं होउ साकार । निराकार अरु अजपनो, अर्जुन सबहिं बिसार ॥५०॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

अर्थ—दुष्टन के संहार हित, सन्तन रक्षण हेतु ।
संस्थापन हित धर्म मैं, युग युग जन्महिं लेतु ॥८॥

धरम हेतु साकार ह्वै, धारण करि अवतार । करहुँ लीन अर्जुन, सकल, मोहरूप अँधियार ॥५१॥
सीमा तोरि अधर्म की, दोष लेखहु भार । सन्त सुमत सुख की ध्वजा, फहरावहुँ संसार ॥५२॥
नाश दनुज कुल को करौं, सन्त करहुँ स्वाधीन । धर्म सुनय को दृढ़ करत, गँठ-बन्धन प्राचीन ॥५३॥
तम अविवेक निवारि, ज्ञान दीप उद्योत करि । योगी-हृदय मँझारि, दीपमालिका करुँ प्रकट ॥५४॥
सत सुख तें सब जग भरौं, थापहुँ धर्माचार । सत्त्वगुणी निज जनन सों, पूर्ण करौं संसार ॥५५॥
अर्जुन प्रगटत मूर्ति मम, फूटैं पाप पहार । पुण्योदय सब विश्व महँ, होवत पाण्डुकुमार ॥५६॥
ऐसहि कार्य निमित्त मैं, युग युग धरि अवतार । जे जन एहि विधि जानहीं, ते ज्ञानी संसार ॥५७॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

अर्थ—जन्म कर्म मम दिव्य इमि, जे जन जान यथार्थ ।
देहिं त्यागि जनमहिं न ते, प्राप्त होयँ मुहिं पार्थ ॥९॥

जन्मरहित को जन्म अरु, कर्मरहित को कर्म । परममुक्त तिन जानिही, जे जानत यह मर्म ॥५८॥
करम लेप तिनको नहीं, देहभाव को बन्ध । देह विसर्जन करि मिलैं, मेरे रूप अबन्ध ॥५९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

अर्थ—क्रोध भयादि द्वन्द्व तजि, मम आश्रित मद्रूप ।
पावन हो, ते ज्ञान तप, लहि ज्ञानी मम रूप ॥१०॥

आगत गत सोचत नहीं, सकल कामना हीन । कौनहुँ कारण क्रोध के, निकट न जात प्रवीन ॥६०॥
सतत युक्त मोसों रहत, जीवत मोकों सेय । प्रमुदित आतम-बोध तें, निर्विकार कौन्तेय ॥६१॥
ते जन, निधि तप तेज के, धाम ज्ञान के एक । पावनता ते तीर्थ की, मो सों मिलैं अनेक ॥६२॥
ते होवैं मद्रूप, सहज लहैं मद्भाव जे । उभय वीचि जल रूप, भिन्न भाव कछु रहत नहीं ॥६३॥
पीतल को जब दोष अरु, नसै कलंक अशेष । पीतल और सुवर्ण महँ, सकै भेद को देख ॥६४॥
यम नियमादि विशुद्ध ह्वै, ज्ञान और तप सेय । ते होवैं मद्रूप इहि, नहि संशय कौन्तेय ॥६५॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

अर्थ—जो जैसे मोकों भजैं, भजौं तिनहिं तेहि भाँत ।
सकल पुरुष मम मार्ग तें, चलत सुभग्राकाँत ॥११॥

देखहु इमि जिहिं भाव सों, भजन करैं जे मीर । तैसे मैं तिनको भजौं, इहाँ न संशय थोर ॥६६॥
मनुजमात्र देखहु तनिक, निज स्वभाव सों पार्थ । प्रायः मेरे भजन महँ, लहैं प्रवृत्ति यथार्थ ॥६७॥
पै विपरीत ज्ञान सों, भेद बुद्धि उपजाय । कल्पित करैं अनेकता, एक मांहि कुरु राय ॥६८॥
देखत भेद अभेद महँ, धरैं अनामहिं नाम । जो चर्चा को विषय नहीं, देवी देव तमाम ॥६९॥
सतत समान ठिकान सब, ताको करत विभाग । उत्तम, मध्यम, अधम तथा, मानहिं भ्रम के राग ॥७०॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अर्थ—करम सिद्धि की आस तें, देव भजैं हर कोय।
कारण के नर लोक महँ, कर्मसिद्धि झट होय ॥१२॥

विविध मनोरथ धारि मन, यथा उचित उपचार। सेवत देव अनेक जन, कर्मसिद्धि मन धार ॥७१॥
ते सब तेहिं तेहिं पाय, जासु जासु अभिलाष जस। जानहु तुम नरराय, ते तस निश्चित कर्मफल ॥७२॥
सत्यहु देवें लेय जो, ते न कर्म बिन आन। संशय बिन नरलोक महँ, फलप्रद कर्महिं जान ॥७३॥
बोवत जो नर खेत महँ, सो उपजत नहिं आन। दर्पण महँ जो कछु लखै, दीसै सोइ प्रमान ॥७४॥
किंवा पर्वत के निकट, जो जस बोलत पार्थ। कन्दर में ह्वै प्रतिध्वनित, सोई होत यथार्थ ॥७५॥
अर्जुन भजन समस्त को, मैं ही एक अधार। तातें अपनी भावना, को फल लहत उदार ॥७६॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

अर्थ—करि विभाग गुण कर्म को, चार वर्ण उपजाय।
कर्ता अविनाशी नहीं, पर 'कर्ता' कहलाय ॥१३॥

अब इहि विधि चहुँ वर्ण को, उपजायो मैं जान। करि विभाग गुण कर्म को, अर्जुन परम सुजान ॥७७॥
जे सब प्रकृति अधार तें, तारतम्य गुण केर। कीन्ह व्यवस्था धर्म की, तिहिं अनुसार नबेर ॥७८॥
अर्जुन, सब जग एक ही, वर्ण भये हैं चार। ऐसहि गुण अरु कर्म तें, सहजहिं किये विचार ॥७९॥
तातें देखत पार्थ तुम, वर्णव्यवस्था चार। मैं यद्यपि कर्ता नहीं, तदपि मोहिं निरधार ॥८०॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

अर्थ—कर्म न लेपत मोंहि मैं, करौं न फल की चाहि।
ऐसो जो जानत मोहिं, कर्म न बांधत ताहि ॥१४॥

यदपि भेद मम पास तें, पै कर्ता मैं नाहिं। ऐसो जे जानत मोंहि, ते छूटें भव पाहिं ॥८१॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

अर्थ—ऐसहि जानि मुमुक्षु जन, कर्म पूर्वमहँ कीन ।
अर्जुन, तुम हू तिमि करो, जिमि करि गये प्राचीन ॥१५॥

अर्जुन पूर्व मुमुक्षुजन, मो कहँ ऐसोहु जानि । कीन्हे कर्म समस्त तिन्ह, मोहिं अकर्ता मानि ॥८२॥
जैसे बीज जलाय कै, बोये जमे न खेत । कर्म सकल निष्काम के, तिमि भवबन्ध न देत ॥८३॥
अर्जुन, पुनि इक बात सुनु, कर्म अकर्म विचार । ज्ञानी तो नहि कर्म कर, निज इच्छा अनुसार ॥८४॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

अर्थ—कह अकर्म कह कर्म पुनि, या महँ मूढ़ सुजान ।
कहौं कर्म तुम तें सोइ, होसि मुक्त जिहिं जान ॥१६॥

कौन अकर्म रु कर्म कह, लक्षण तासु विचार । ते तहँ संशय में परत, जे अति बुद्धि उदार ॥८५॥
जैसे खोटी वस्तु हू, सत्य समान जनाय । नयनहु लखि संशय रहत, जानत सकल सुभाय ॥८६॥
केवल जो संकल्प तें, दूजी सृष्टि बनाय । 'मैं कर्ता हूँ' अस भ्रमहिं, ते हू कर्म बँधाय ॥८७॥
कहा मूर्ख की बात पुनि, ज्ञानी हू भ्रम पाय । तातें तोसों सोइ मैं, कहत सुनहु मन लाय ॥८८॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

अर्थ—कर्म विकर्म अकर्म पुनि, जानन योग्य यथार्थ ।
कारण ताको तत्त्व अति, कठिन जानियो पार्थ ॥१७॥

कर्महि तें जग की सहज, सृष्टि होत है पार्थ । तातें जानब उचित है, ताको तत्त्व यथार्थ ॥८९॥

बहुरि समुझिबो योग्य हैं, शास्त्र-विहित सब कर्म । वर्ण तथा आश्रम कथित, कर्मन को पुनि मर्म ॥६०॥
जे पुनि कर्म निषिद्ध हैं, जानहु तासु स्वरूप । जानत तिहिं चित परत नहिं, सहजहिं पातक-रूप ॥६१॥
व्यापकता इमि कर्म की, सकल लोक महँ जान । जानहु कर्म रहस्य तस, लक्षण करहुँ बखान ॥६२॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

अर्थ—यदि अकर्म लखि कर्म महँ, कर्म अकर्मन माँहि ।
सकल कर्म कर तिन सदृश, अन्य बुद्धियुत नाहिं ॥१८॥

निजहिं लखै निष्कर्म, जो वर्तत सब कर्म महँ । अर्जुन जानहु मर्म, कर्म संग फल आश बिन ॥६३॥
जिहिं त्रिलोक कर्तव्यसम, दूजो नहीं दिखाय । उत्तम ते निष्कर्मता, निश्चय तें समुझाय ॥६४॥
सकल क्रिया समुदाय की, उत्तम विधि आचार । ज्ञानी के ते चिन्ह हैं, जानहु बुद्धि उदार ॥६५॥
जिमि मनुष्य जल के निकट, रहि प्रतिबिम्बहिं देख । जानत है जल तें पृथक्, निश्चय निजहिं विशेख ॥६६॥
चलत नाँव महँ बैठि सो, कूल विटप चल पेख । भली भाँति लखि अचल ही, जानै विटप अशेख ॥६७॥
सकल कर्म सहजहिं सदा, अर्जुन खोटे जान । पै 'मैं तो कर्ता नहीं'—निश्चय तें अस मान ॥६८॥
उदय अस्त के हेतु जिमि, सूर्य न चल, चल भास । कर्म करै कर्ता नहीं, पार्थ समझ सुखरास ॥६९॥
सुनु मनुजहिं सम लखि परै, ब्रह्मरूप नर सोय । जिमि प्रतिबिम्ब न भानु को डूबत कबहूँ तोय ॥१००॥
जगत देख, देखै न तिहि, सब कर कर्ता नाहिं । सकल भोग्य को भोग करि, तोउ न भोगै ताहिं ॥१०१॥
एक न तजि निज ठौर, सकल जगत महँ जाय पै । अधिक कहौं किमि और, सकल जगत तस रूप है ॥१०२॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

अर्थ—सकल कर्म आरम्भ जस, फल संकल्प विहीन ।
ज्ञान-अनल-ज्वल कर्म तिहिं, पण्डित कहहिं प्रवीन ॥१९॥

जा को कर्माचरण महँ, खेद होय कछु नाहिं। अरु फल इच्छा कर्म की, नेक नाहिं मन माहिं ॥१०३॥
करिहहुँ मैं या कर्म को, करिकै करिहौं पूर। संकल्पहु यह जासु मन, दूषित करै न शूर ॥१०४॥
ज्ञान अनल मुख महँ बहुरि, जारै कर्म अशेष। परब्रह्म तिहिं जानिये, अर्जुन नर के वेष ॥१०५॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

अर्थ—तजि फल अरु आसक्ति कहँ, नित्यतृप्त निष्काम।
करत नाहिं कछु कर्म सो, करिके कर्म तमाम ॥२०॥

उदासीन तन विषय तें, अरु फल माहिं निरास। अर्जुन जो अनुभवत नित, आत्मानन्द हुलास ॥१०६॥
सदन मध्य सन्तोष के, ज्ञान परोस अनूप। जो जेंवत, सो कहहु किमि, तृप्त न हो नरभूप ॥१०७॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अर्थ—आश परिग्रह सब तजै, करि मन बुधि स्वाधीन।
केवल तनहित कर्म करि, दोष न लहै प्रवीन ॥२१॥
सहज लाभ सन्तुष्ट, सहि सुख-दुख, वैर विहीन ॥
सिद्धि असिद्धि समान रह, बँधत न कर्म प्रवीन ॥२२॥

अहंभाव अरु कर्मफल–आशा समूलहिं काढ़। अधिक-अधिक लहि प्रेम सौं, ब्रह्मानन्दी बाढ़ ॥१०८॥
जो जिहिं अवसर जहँ मिले, सुख पावत तिहिं पाहिं। अपन पराये के विषय, भेद न दोनों माहिं ॥१०९॥
जो कछु देखे नयन सौं, अथवा सुनै जु कान। सोई सोई आपुही, ह्वै जावै मतिमान ॥११०॥

औ मुख बोलब बैन, चलिबो जो है पाँय सों। आपुहिं होत सुखैन, ऐसी चेष्टा मात्र सब ॥१११॥
ऐसो देखहु विश्व महँ, अपन सिवाय न और। कवन कर्म बाँधै तिहिं, कहु कैसे कहिं ठौर ॥११२॥
जहँ इमि दूजोपन नहीं, तहँ उपजै किमि बैर। सहजहिं तेहिं ते, ते लहैं, पद निर्द्वन्द्व अवैर ॥११३॥
सब प्रकार तें मुक्त ते, कर्म रहित करि कर्म। सगुण होय निर्गुण रहत, यह निश्चित मति मर्म ॥११४॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

अर्थ—संग विवर्जित, मुक्त, थिर, ज्ञान ठिकान प्रवीन।
कर्म करत मख हेतु नित, तम फल कर्म विलीन ॥२३॥

देहहु धरि ते लखि परत, बस चैतन्य समान। कसत कसौटी ब्रह्मवपु, लागत शुद्ध महान ॥११५॥
ऐसहु पै कौतुक वशहिं, करि यज्ञादिक कर्म। तिहिं ठिकान सब कर्मलय, पावहिं पार्थ सुमर्म ॥११६॥
जैसे अभ्र अकाल के, बरसे बिन आकाश। उपजत आपुहिं आप पुनि, अरु पावत हैं नास ॥११७॥
सो यदि वेद, विधान सब, विहित कर्म आचार। तो तिहिं ऐक्य प्रभाव तें, पावत ऐक्य उदार ॥११८॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्थ—ब्रह्म समर्पित ब्रह्म हवि, ब्रह्म अग्नि महँ ब्रह्म।
ब्रह्म समाहित कर्म सों, होमि लहत है ब्रह्म ॥२४॥

कर्म, क्रिया, कर्ता, करण, सम्प्रदान इमि भिन्न। ब्रह्म विवध की दृष्टि महँ, अर्जुन रहत अभिन्न ॥११९॥
द्रव्य हवन अरु मन्त्र, इष्ट यज्ञ जो जो करैं। आत्म विचार स्वतन्त्र, ब्रह्मरूप जानै सबहिं ॥१२०॥
कर्मरु ब्रह्म न भिन्न हैं, बोध होय अस जासु। कर्म करै तद्यपि मिटै, निष्कर्मत्व न तासु ॥१२१॥
तजि अबोध सुकुमारता, गहि विरक्ति को हाथ। जे योगाग्नि उपासना, आरम्भत नरनाथ ॥१२२॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अर्थ—कितनहुँ योगीजन करत, दैवयज्ञ बहु भाँत ।
अपर ब्रह्मवपु अग्नि महँ, आत्म हवन करि शान्त ॥२५॥

करत यजन दिन रैन जे, मन सह निज अज्ञान । गुरु उपदेश हुताश महँ, हवन करत मतिमान ॥१२३॥
योग अनल महँ यजन अस, दैवयज्ञ उच्चार । चतुर योग तें आत्म सुख, पावत पाण्डुकुमार ॥१२४॥
देह पलत प्रारब्ध तें, इमि निश्चय भरपूर । दैव निरत योगी महा, तन चिन्ता तजि शूर ॥१२५॥
अब सुनु औरहु कहत जे, ब्रह्म अग्नि के माहिं । करि उपासना ब्रह्ममख, याज्ञिक यजन कराहिं ॥१२६॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अर्थ—इक श्रवणादिक इन्द्रियन्हि, होमत संयम अग्नि ।
या शब्दादिक विषय को, होमत इन्द्रिय अग्नि ॥२६॥

सयम अनल करैं हवन, तन मन वच त्रय तंत्र । यजन करत हैं पार्थ करि, इन्द्रिय द्रव्य स्वतन्त्र ॥१२७॥
उदय भये वैराग्य रवि, संयमकुण्ड बनाय । इन्द्रियरूपी अग्नि को, ज्वलित करन्त अघाय ॥१२८॥
ईंधन दोष जराय, ज्वाला उठे विराग की । आशा धूम तजाय, तहँ ज्ञानेन्द्रिय पाँचतें ॥१२९॥
आहुति विषय समग्र की, इन्द्रिय कुण्ड कृशानु । वेद वचन कौशल्यतें, हवन करैं मतिमानु ॥१३०॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अर्थ—ज्ञान ज्वलित योगाग्नि जो, मन संयम वपु सोइ ।
इन्द्रिय सब अरु प्राण के कर्म हवन करि कोइ ॥२७॥

करैं सर्वथा शुद्धि अघ, इहि विधि अर्जुन एक। एक हृदय वपु अरणि पै, करि मंथानि विवेक ॥१३१॥
दाबि धृती के भार तिहिं, शान्ति रूप कसि रज्जु। गुरु उपदेश सुमन्त्र तें, मन्थन करत सुसज्जु ॥१३२॥
इहि विधि ऐक्य सुवृत्ति सों, मन्थन तें तत्काल। ज्ञान अनल प्रज्वलित ह्वै, सधैं सुकाज विसाल ॥१३३॥
सम्भ्रम ऋधि-सिधि को प्रथम, अर्जुन धूम नसाय। अरु चिनगारी सूक्ष्म तहँ, प्रगटै आप सुभाय ॥१३४॥
सहज पार्थ निर्दोष मन, यम संयम तें होय। पुनि तिहिं अग्निहिं धारि मन, लघु ईंधन सम जोय ॥१३५॥
समिध बनें जहँ वासना, अरु घृत काम अपार। ज्वाल विशाल सहाय तिहिं, ज्वलित करै सुविचार ॥१३६॥
दीक्षित सोऽहं मन्त्र तें, आहुति इन्द्रिय कर्म। दैकर ते ज्ञानाग्नि महँ, अर्जुन समुझहिं मर्म ॥१३७॥
सु शा कर्म ते प्रान, दै पूर्णाहुति अग्नि महँ। करि अवभृथ सुस्नान, सहज ऐक्य के बोध जल ॥१३८॥
संयमरूपी अग्नि तें, इन्द्रियादिहुत शेष। सुख चरु आत्मविवेक को, ग्रहण करत सविशेष ॥१३९॥
इहिं विधि मख करि मुक्ति लहि, त्रिभुवन तें इक तात। करत क्रिया मखभांति बहु, पै फल मोक्ष सुहात ॥१४०॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अर्थ—करहिं द्रव्य, तप, योग सों, इक स्वाध्यायरु ज्ञान।
यतिजन निश्चयभाव सों, मख बहु विविध सुजान ॥२८॥

द्रव्य यजन इक करत अरु, एक करत तप यज्ञ। लहत योग अष्टांग इक, करत योग को यज्ञ ॥१४१॥
नियम सहित स्वाध्याय करि, करत यज्ञ इक कोय। ब्रह्म मिलैं जहँ इक करत, ज्ञान यज्ञ इह सोय ॥१४२॥
अर्जुन सब मख विकट ये, अति दुर्घट आचार। इन्द्रियजित सब करि सकैं, निज संयम अनुसार ॥१४३॥
योग समृद्धिहिं प्राप्त करि, इन करि सकत प्रवीन। आपुनपन जो आत्म तें, हवन करैं ह्वै लीन ॥१४४॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अर्थ—इक व्रत प्राण अपान मैं, प्राणहिं माँहि अपान ।
रोकै प्राण अपान करि, प्राणायाम सुजान ॥२९॥

अरु अपान जो अग्निमुख, प्राण द्रव्य के हेतु । एकहु योगाभ्यास तें, होमत तहँ कपिकेतु ॥१४५॥
अपर अपानहिं प्राण महँ, इक रोकैं दुहुं वात । प्राणायामी जन करत, प्राण यज्ञ इमि तात ॥१४६॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अर्थ—अपर प्राण महँ प्राण को, होमत नियताहार ।
नाश करत अघ सकल ते, सब मख जाननहार ॥३०॥

जीति सकल आहार, इक योगी हठयोग क्रम । होमत शीघ्र उदार, प्राण पवन कहँ प्राण महँ ॥१४७॥
सकल कार्य इमि मोक्ष हित, कर्ता यज्ञ समस्त । मख करि कै धोवैं मलहिं, मनके पुरुष प्रशस्त ॥१४८॥
आशु अविद्या मात्र जरि, निज स्वभाव रहि जाय । अनल यज्ञ कर्ता महँ, भेद भाव न रहाय ॥१४९॥
याज्ञिक की इच्छा पुरै, मख की क्रिया समाप्त । अरु सब कर्म समूह तब, होत नहीं से प्राप्त ॥१५०॥
जहँ न प्रवेश विचार को, जहाँ न परसै काम । द्वैत-द्वेष प्रसंग तें, लिपै नहीं परिणाम ॥१५१॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

अर्थ—यजन शेष पीयूष भखि, लहत सनातन तत्त्व ।
यजन हीन को लोक नहिं, कहँ परलोक-परत्व ॥३१॥

सत्य अनादि ज्ञान है यज्ञ शेष कौन्तेय । 'अहं ब्रह्म अस्मीति' अस ब्रह्मनिष्ठ सो सेय ॥१५२॥
यजन शेष पीयूष तें, नमि अमरता पाय । अर्जुन, सो ब्रह्मत्व को, सहजहिं पाय सुभाय ॥१५३॥
करत न यज्ञाचरण नहँ, विरति न डारत दृष्टि । सेय न संयम अग्नि मख,-योग न पावत सृष्टि ॥१५४॥
अर्जुन, ऐहिक लोक महँ, जासु ठिकानो नाहिं । बहुरि पार्थ परलोक की, कहा कहौं तिहिं पाहिं ॥१५५॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

अर्थ—ऐसहि बहुविध यज्ञ जो, कहे वेद महँ गाय ।
ते सब उपजत कर्म तें, जानि मोक्ष को पाय ॥३२॥

ऐसहि विविध प्रकार, वर्णन जानहु यज्ञ को । कह्यो वेद विस्तार, भली भाँति तिन सबन को ॥१५६॥
कहा काम विस्तार तें, कर्मसिद्धि तू जान । पावै नाहिं स्वभाव सों, बन्धन कर्म सुजान ॥१५७॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अर्थ—द्रव्य यजन तें श्रेष्ठ है, ज्ञान यजन रिपुताप ।
अन्तर्भाव जु ज्ञान महँ, अखिल कर्म लहि आप ॥३३॥

अहहि वेद मखमूल जिहिं, बाहिर क्रिया प्रधान । फल अपूर्व सों स्वर्गसुख, तिनको प्रकट सुजान ॥१५८॥
द्रव्य यजन संपूर्ण ह्, ज्ञान यजन सम नाहिं । सूर्य निकट जिमि पार्थ सब, तारा तेज विलाहिं ॥१५९॥
योगी जो परमात्म वपु, सुखनिधि देखन हेतु । सँभल-सँभल जागत रहत ज्ञानांजन दृग देतु ॥१६०॥
खानि परम निष्कर्म की, कर्मसिद्धि को ठाम । आत्माश्रय की भूखमहँ, तृप्ति प्रदायक धाम ॥१६१॥
कर्मेच्छा पंगुल जहाँ, तर्क दृष्टि सब जाय । इन्द्रिय बिसरैं विषय-संग, अर्जुन सहज सुभाय ॥१६२॥
जहँ मनस्त्व मन को नसै, बोल बोलपन जाय । जाके अन्तःकरण महँ, ब्रह्म प्राप्ति ह्वै जाय ॥१६३॥
नसि विराग की हीनता, अरु लालसा विचार । ढूँढै बिन अति सहज ही, लहि ब्रह्मत्व उदार ॥१६४॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

अर्थ—ज्ञानी दर्शी तत्त्व के, करि प्रणाम तिहिं सेय ।
प्रश्न करैं तो ज्ञान को, उपदेशहिं कौन्तेय ॥३४॥

जो अति उत्तम ज्ञान, यदि तुम जानन चहत हौ। सदा सन्त भगवान, सब प्रकार सेवा करौ ॥१६५॥
ज्ञान-भवन हैं सन्त, तस सेवा देहरि वीर। सेवा सों स्वाधीन कर, तिनहिं सदा रणधीर ॥१६६॥
अर्पित तन मन प्राण करि लगै चरन महँ जाय। गर्वरहित ह्वैके सकल, दास्यभाव मन लाय ॥१६७॥
जासु अपेक्षा आपु कौ, सोई कहत बुझाय। बोध लहै अन्तःकरण, सब संकल्प नसाय ॥१६८॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अर्थ—इहि विधि मोह न होय पुनि, पार्थ प्राप्त जब ज्ञान।
तातें भूत समस्त लखि, मम अरु आतम ठिकान ॥३५॥

निर्भय होवै चित्त तब, संत वाक्य उजियार। पावै ब्रह्म सुयोग्यता, निःसंशय नहिं बार ॥१६९॥
आप सहित संसार सब, ताही समय अशेष। लखहु स्वरूप अखंड तुम, मेरो पार्थ विशेष ॥१७०॥
ऐसे ज्ञान प्रकाश तें, नसै मोह अँधियार। श्री गुरु कृपा प्रसाद तें, होवै सिद्धि अपार ॥१७१॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अर्थ—यदि सब पापिन तें अधिक, तुम पातकी अपार।
तोहू सब अघसिन्धु तें, ज्ञान नाव करि पार ॥३६॥

यदि अघ के आगार तुम, भ्रान्ति समुद्र अपार। जो पर्वत व्यामोह के हौवसि पाण्डु कुमार ॥१७२॥
ज्ञान पराक्रम के निकट, सकल तुच्छ ह्वै जाहिं। उत्तम है सामर्थ्य इमि, ज्ञान अंग के माहिं ॥१७३॥
सम्भ्रम जग इमि भास, जो छाया नाकार की। जाके ज्ञान प्रकाश, अर्जुन टिकत न रंचहू ॥१७४॥
कहि मन को अज्ञान तिहिं, निन्दत बैन सुनाय। ज्ञान समान न शक्तियुत, जग महँ आन दिखाय ॥१७५

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अर्थ—अर्जुन, वर्धित अग्नि जिमि, ईंधन भस्म करन्त ।
भस्म करै ज्ञानाग्नि तिमि, कर्म-समूह अनन्त ॥३७॥

कहहु भुवनत्रय को धुवां, यदि आकाश उड़ाय । प्रलय बवंडर सामुहैं, कहा मेघ ठहराय ॥१७६॥
अर्जुन पाय समीर बल, प्रलय अग्नि बलवान । नीरहुँ देय जलाय तिहिं, कहा काष्ठ तृण मान ॥१७७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

अर्थ—ज्ञान समान पवित्र जग, आन न जानो जाय ।
योग सुफल लहि योगयुत, ताहि समय तें पाय ॥३८॥

बहुत कहौं का घटित नहिं, व्यर्थ असग विचार । ज्ञान समान पवित्र कछु, लखौं न या संसार ॥१७८॥
ज्ञानहि उत्तम वस्तु है, अपर न इह संसार । चेतन जैसी अपर नहिं, तैसहि ज्ञान विचार ॥१७९॥
यदि रविसम प्रतिबिंब की, उज्ज्वलता दर्शाय । जो आकाश चपेट महँ, पार्थ लपेटो जाय ॥१८०॥
किंवा पृथ्वी सम अपर, भारी वस्तु जनाय । तब कहुँ उपमा ज्ञान की, घटित होय नरराय ॥१८१॥
तातें बहु विधि देखिये, वारंवार विचार । ज्ञान समान पवित्रता, ज्ञानहु माहिं उदार ॥१८२॥
जैसहि बरनी जाय, अमृत की रुचि अमृत सम । ज्ञानहि है नरराय, तैसे उपमा ज्ञान की ॥१८३॥
बहुरि ज्ञान के विषय महँ, बहुत बोलिबो वाद । सुनि अस अर्जुन कहत प्रभु, सत्य सहित मर्याद ॥१८४॥
अर्जुन अस पूछन चहै, कैसे जानै ज्ञान । अन्तर्यामी कृष्ण सो, कारण लीन्हों जान ॥१८५॥
श्री अर्जुन तें कहत अब, चित्त देहु इहि बात । ज्ञान लहन को यतन मैं, तुमतें भाषौं तात ॥१८६॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

अर्थ—इन्द्रियजित श्रद्धासहित, तत्पर पावै ज्ञान ।
ज्ञान लहै शीघ्रहिं गहै, उत्तम शान्ति महान ॥३९॥

आतमसुख जिहिं स्वाद ते, घृणित विषय अवभास। इन्द्रिय को सन्मान नहिं, किञ्चित जाके पास ॥१८७॥
जो मन तें इच्छा न करि, प्रकृति न निजकृति जान। सो श्रद्धा संभोग तें, लहि संतोष महान ॥१८८॥
खोजत खोजत ताहि को, निश्चय पावै ज्ञान। शान्ति विराजत जाहि महँ, ओत प्रोत अस जान ॥१८९॥
ज्ञान रहै थिर हृदय सों, अंकुर शान्ति प्रसाद। औ विस्तृत अत्यन्त ही, आत्मबोध आल्हाद ॥१९०॥
अरु जहँ देखै तिहिं तहाँ, शान्तिरूप दर्शाय। तहाँ आप अरु अपर को, भाव कुभाव नशाय ॥१९१॥
ऐसहि विधि विस्तार, ज्ञान बीज वर्णन करौं। वर्णन तासु अपार, पै वर्णन अब अधिक किमि ॥१९२॥

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अर्थ—अज्ञानी, श्रद्धारहित, संशययुत विनशाय।
उभय लोक अरु मोक्ष सुख, संशययुत नहिं पाय ॥४०॥

सुनि जिहिं प्राणी को हृदय, चहत न ऐसो ज्ञान। जीवन है तिन को कहा, मरण हि उत्तम जान ॥१९३॥
जैसे शून्यागार अरु, चेतन बिन जिमि देह। जीवन है तिमि मोह युत, ज्ञान रहित न सँदेह ॥१९४॥
किंवा ज्ञान न पूर्ण जिहिं, पै ताकी तिहिं चाह। तौ संभव तिहिं ज्ञान की, प्राप्ति होय नरनाह ॥१९५॥
ज्ञान सिवाय न बात कहि, पै न धरे मन चाह। संशयरूपी अग्नि महँ, पड़ो जानिये ताह ॥१९६॥
सह, जहिं ऐसी अरुचि जिहिं, अम्मृत हू न सुहाय। निश्चय ताको मरण ढिग, आयो जान्यो जाय ॥१९७॥
ज्ञानहि लघु गनि मत्त ह्वै, सुखी विषय सुख माहिं। संशययुत तिहिं जानिये, निश्चय शंका नाहिं ॥१९८॥
संशय महँ पड़ जाय यदि, तो निश्चय विनसाय। सब सुख दोनों लोकतें, सो वंचित ह्वै जाय ॥१९९॥
कालज्वर जिहिं अङ्ग सो, शीत उष्ण नहिं जान। ताहि अनल औ चाँदनी, दोनों एक समान ॥२००॥
अरु अनुकूल सुजान, साँच झूठ प्रतिकूल तिमि। हित अनहित अनुमान, संशययुत नहिं लखि सकै ॥२०१॥
जनम अन्ध नहिं लखि सकै, जैसे दिन अरु रात। तैसे संशय युक्त को, कछु लख परत न तात ॥२०२॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

अर्थ—कर्म तजै जिहिं योग करि, ज्ञान-विगत-सन्देह ।
कर्म न बाँधै पार्थ तिहि, आत्मवन्त कहँ एह ॥४१॥

तातें अघ कहि घोर जे, संशय तें सब थोर । ते प्राणी को नाश करि, जाल बड़ो बलजोर ॥२०३॥
यातें तुम तिहि संग तजि, प्रथमहिं याको जीतु, । लोप करत है ज्ञान को, अर्जुन यह विपरीतु ॥२०४॥
कालिख जो अज्ञान की, सशय मनहिं बढ़ाय । तो किमि पथ विश्वास को, निकट सर्वथा आय ॥२०५॥
नहिं समान अन्तःकरण, बृद्धि खोजि ग्रसि लेय । संशययुत तिहिं लोकभय, होय सदा कौन्तेय ॥२०६॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

अर्थ—शंक उपजि अज्ञान तें, अन्तर गहि असि ज्ञान ।
तिहिं हनि योगाश्रित उठहु, रणहित पार्थ सुजान ॥४२॥

यदपि अधिक संशय बढ़ो, तदपि हेतु स्वाधीन । विषम ज्ञान असि हाथ धरि, एक उपाय प्रवीन ॥२०७॥
अति खर ज्ञानहि शस्त्र तें, नाश समूलहि पाय । अरु पुनि मन के दुख सबै, मिटजावैं नरराय ॥२०८॥
याही कारण निज उरहिं, संशय को करि नास । अर्जुन तुम शीघ्रहि उठो, त्यागु सकल भयत्रास ॥२०६॥
श्रीहरि ज्ञान प्रदीप, ज्ञानीजन के जनक जो । सुनहु सु वचन महीप, कृपा सहित भाषत भए ॥२१०॥
अर्जुन पूर्वापर सकल, समयोचितहिं विचार । प्रश्न करत ऐसो तहाँ, अति उत्तम निर्धार ॥२११॥
कथहु सुसंगति भाव की, संपति निधि भाँडार । वर्णन रस की पुष्टि को, आगे होय उदार ॥२१२॥
उत्तमता जिहिं पै करै, आठों रस संचार । सज्जन बुधि संसार को, है विश्राम उदार ॥२१३॥
सुनि अब प्राकृत बोल जो, शान्त रसहिं प्रगटाय । अर्थ भरित गम्भीर अति, सागर तें अधिकाय ॥२१४॥
लघु रविबिम्ब प्रकाश जिमि, त्रिभुवन में न समाय । व्यापकता शब्दार्थ तिमि, देखहु अनुभव लाय ॥२१५॥
इच्छित की जिमि कामना, करत कल्पतरु पूर । तैसहि व्यापक बोल है, लच्य देहु इत शूर ॥२१६॥
कहहुँ अधिक का जानहु, तुम सर्वज्ञ सुभाय । भली भाँति चित दीजिये, विनती करौं सुनाय ॥२१७॥

सुन्दरता-गुणयुक्त जिमि, पतिव्रता कुल नारि। अलङ्कार रस शान्तयुत, यहि जानौं धनुधारि ॥२१८॥
यदि मृदु खाँडहि लाय, औषधि हित रुचिकर परम। अर्जुन कौन न खाय, तो पुनि बारंबार तिहिं ॥२१९॥
स्वाद सुधा के पाय जिमि, चन्दन मन्द सुगन्ध। दैव कृपा लहि नाद यदि, पञ्चम स्वर सम्बन्ध ॥२२०॥
जिमि समीर सुस्पर्श तें, शीतल सब तन जान। जीभ नचै जिमि स्वाद तें, कान धन्य सुनि गान ॥२२१॥
कथहु पार्थ तिमि जानिये, पारण श्रवण सुजान। विन विकार सब जगत कौ, दुःख विनाशक जान ॥२२२॥
शत्रु मरै यदि मन्त्र तें, तो किमि बाँधि कटार। शक्कर पय तैं रुज नसै, तो किमि निम्ब बिचार ॥२२३॥
इन्द्रिय दुःख न देय तिमि, मन कौ मारे नाहिं। केवल गीता श्रवण तें, मिले मोक्ष सुख चाहि ॥२२४॥
उत्कण्ठा करि पूर्ण सुनु, गीता अर्थ सुभास। श्री ज्ञानेश्वर कहत अब, श्रीनिवृत्ति को दास ॥२२५॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित
भावार्थदीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला
(माहिष्मती पुरी) निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि)
भद्दलालात्मज श्रीमद् ज्ञाननाथस्य शिष्या-
नुशिष्यस्य किंकर श्री गणेश प्रसाद-
कृतायां गीता ज्ञानेश्वर्यां
चतुर्थोऽध्यायः
शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ३

ॐ

पञ्चम अध्याय



अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्थ—कहत पार्थ-संन्यास अरु, कर्मयोग बतरात ।
जौन उभय महँ श्रेष्ठ है, सो कहु निश्चय तात ॥१॥

पुनि कह अर्जुन कृष्ण सों, कैसे बोलत बोल । मन विचार मैं करि सकत, जो कहियत कछु खोल ॥१॥
सकल कर्म सन्यास तुम, कह्यो अनेक प्रकार । कर्मयोग पुनि कहत अब, करि महिमा-विस्तार ॥२॥
ऐसे नाना अर्थयुत, बोलत आप अनन्त । बोध न होत यथार्थ मम, अज्ञ चित्त भगवन्त ॥३॥
इक पदार्थ के बोध हित, इक निष्ठा कहि जात । कहै दूसरो आप से, कहु ऐसी ही बात ॥४॥
प्रथमहिं कीन्ही मैं विनय, यह तुमसों भगवान । गूढ़ शब्द सों जनि कहौ, यह परमार्थ सुजान ॥५॥
अब प्रभु पाछिल बात तजि, प्रस्तुत को निरधार । उभय मार्गमहँ श्रेष्ठ जो, ताको कहौ विचार ॥६॥
संग निबाहै अन्त लों, फलदायक भरपूर । सहज सुलभ आचार महँ, संत संजीवन मूर ॥७॥
जहँ निद्रा, सुख, भंग बिनु, सुख तें मार्ग चलाय । प्रभु कहु साधन पालकी-जैसो अति सुखदाय ॥८॥
सुख लहि प्रभु मन माहिं, अर्जुन के इमि बैन सुनि । पुनि सन्तोष सराहिं, बोले सुनु जैसो चहत ॥९॥
महाभाग जा बत्स की, कामधेनु हो मात । सो खेलन के हेतु किमि, चन्द्रहिं गहै न तात ॥१०॥

देखहु शम्भु प्रसाद सों, उपमन्युहिं अतुलाभ । भयो दूध की चाह में, छीर सिन्धु को लाभ ॥११॥
तिमि जब केशव प्रभु मिले, अति उदार भंडार । तब पावैं नहि पार्थ किमि, सब सुख को आधार ॥१२॥
जासु धनी श्रीपति सरिस, चमत्कार-आधार । निज इच्छा अनुरूप ते, मांगि सकैं सब सार ॥१३॥
तातें अर्जुन जो कहत, सो प्रसन्न ह्वै देत । कहा दयौ श्रीकृष्ण प्रभु, सो भाषौं करि हेत ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

अर्थ—श्रीहरि बोले—यदपि हैं, ते श्रेयस्कर दोउ ।
तदपि कर्म संन्यास ते, कर्मयोग वर जोउ ॥२॥

अर्जुन के प्रति हरि कहत, कर्मयोग संन्यास । दोनों ही हैं मोक्षप्रद, हरनहार भवत्रास ॥१५॥
नीर तरन हित नाव जिमि, बाल वृद्ध नर नारि । कर्मयोग सब कहँ सुलभ, तिमि धारहु धनुधारि ॥१६॥
सहजहिं पावैं कर्म सों, सारासार विवेक । अनायास संन्यासफल, आवैं तहाँ अनेक ॥१७॥
प्रथम कहौं संन्यास, तो सों लच्छनसहित अब । लखहु अभिन्नाभास, कर्मयोग संन्यास को ॥१८॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी, यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो, सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

अर्थ—द्वेष करत नहिं काहु सों, धरत नाहिं अभिलाष ।
संन्यासी निर्द्वन्द्व ह्वै, सहज छुटै भवपाश ॥३॥

गई वस्तु को शोक नहिं, नहि अनाम की चाह । थिर हिय जासु सदैव है, जिमि सुमेरु गिरिनाह ॥१९॥
'मैं, मम' को पुनि भाव यह, हियतें बिसरै जाहि । संन्यासी निर अन्तरहिं, अर्जुन जानौ ताहि ॥२०॥
जो ऐसो मन होय तो, विषय तजै तिहिं संग । होवै प्राप्त अखण्ड सुख, अरु आनन्द प्रसंग ॥२१॥
ओढ़न को कारन नहीं, गृह आदिक संसार । ताको सदा निसंग चित, निज स्वभाव अनुसार ॥२२॥

देखौ अग्नि बुझाय तौ, केवल राख रहाय। तिहिं आच्छादन करि सकै, पुनि कपास निज भाय ॥२३॥
जाके मन संकल्प नहिं, बहुरि न अहं-विकार। कर्मबन्ध सों बँधत किमि, ते नर परम उदार ॥२४॥
तातें तजियत कल्पना, लहियत है संन्यास। यातें दोनों एक सम, जानि धरहु विश्वास ॥२५॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

अर्थ—कर्मयोग सन्यास को, विज्ञ न कहि बिलगाय।
उचित रीति इक आचरत, दोउन को फल पाय ॥४॥

तिन को कैसे भास, जे अज्ञानी सर्वथा। कर्मयोग संन्यास, उभय व्यवस्था किमि करैं ॥२६॥
जे अज्ञान स्वभाव सों, कहत उभय ते भिन्न। द्वै दीपों के तेज को, को करि सकै विभिन्न ॥२७॥
जासु ब्रह्म के तत्त्व को, अनुभव भयौ सुरीति। एक भाव की तासु हो, दोउन माँहि प्रतीति ॥२८॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

अर्थ—जो फल पावै सांख्य सों, कर्मयोग सों सोय।
सांख्ययोग दुहुँ जो लखै, एक, लखै जग सोय ॥५॥

अरु पावै जो सांख्य सों, कर्मयोग सों सोय। इहि विधि दोनों एक हैं, तिनमें भेद न होय ॥२९॥
जैसे भेद दिखाय नहिं, गगन और अवकास। तैसे जानौ भेद नहिं, कर्मयोग संन्यास ॥३०॥
सांख्य योग को भेद बिन, जग जानत है जोय। हिय में ज्ञान प्रकाश लहि, देखै आतमहिं सोय ॥३१॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

अर्थ—योगहिं बिनु है अति कठिन, लहिबौ जग संन्यास।
कर्मयोगयुत मुनि तुरत, लहै ब्रह्म को भास ॥६॥

कर्म सुपथ सों मोक्षमय-गिरि पै जो चढ़ि जाय। ब्रह्म सरूपी शिखर पर, तुरतहि पहुँचै धाय ॥३२॥
अपर योग थिति जे तजैं, खटपट वृथा कराहिं। पै कबहूँ संन्यास ते, सांचो पावत नाहिं ॥३३॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

अर्थ—योगनिरत जो शुद्धहिय, आत्मेन्द्रिय-स्वाधीन।
सब भूतात्मक-आत्म ते, करत न लिपत प्रवीन ॥७॥

जो निज मन भ्रम तें परे, करै योग की शोध। शुद्ध होय गुरु वाक्य ते, पावै आत्मनिरोध ॥३४॥
किंचित भिन्न दिखाय, जब लौं लवण न सिन्धु परि। तब एकहि ह्वै जाय, जब मिलि जाय समुद्र महँ ॥३५॥
जाको मन संकल्प तजि, ब्रह्मरूप मिलि जाय। यदपि एकदेशीय मन, व्यापक त्रिजग सुभाय ॥३६॥
कर्ता कर्मरु क्रियहिं ते, लहत न सहज सुभाय। अरु यदि सब ही कर्म करि, तदपि अकर्म कहाय ॥३७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

अर्थ—योगनिरत लखि, सुनि, परसि, सूंघि, खाइ, चलि, सोइ।
श्वसत, भणत, छोड़त, गहत, दृग मूंदत अरु जोइ ॥८॥
इन्द्रिय निजनिज विषय में, आपहिं होय प्रवृत्त।
इमि निश्चय मम कृत न कछु, अहं-भाव बिनु चित्त ॥९॥

कहहु पार्थ, मैं देह हौं, जिहिं अस सुमिरन नाहिं। कहु कैसे कर्तव्य कछु, शेष रहैं तिहि माहिं ॥३८॥
इहि विधि तन के त्याग बिन, योगयुक्त नर माहिं। लक्षण सकल स्वभाव तें, ब्रह्म समान लखाहिं ॥३९॥

जदपि इतर मानव सरिस, ते नर हैं धनुधार। अरु वरतत लखि परत हैं, करत विविध व्यवहार ॥४०॥
नयन लखत, कानन सुनत, पै आश्चर्य लखाय। जो इन्द्रिन महँ तनिक हू, नहिं आसक्ति जनाय ॥४१॥
करत त्वचा सों स्पर्श ते, लहत नासिकहिं वास। समयोचित भाषण करैं, देत शत्रुदल त्रास ॥४२॥
आहारहिं स्वीकार करि, तजत त्याग के योग। अरु निद्रा के काल महँ, सोवत सुख-संयोग ॥४३॥
निज इच्छा अनुसार, देखि परत पन्थहिं चलत। करत सकल व्यवहार, ऐसे ही सब भान्ति के ॥४४॥
कहौं कहा इक एक करि, श्वासोच्छ्वासहिं देख। पलक खोलिबो मूंदिबो, आदिक कार्यहि लेख ॥४५॥
अर्जुन, तासु शरीर महँ, सकल कर्म दरसाय। आत्मानुभव अखण्ड बल, कर्ता नहीं कहाय ॥४६॥
जो सेवै भ्रम सेज, सो, भूले स्वप्न मँझार। पै ज्ञानोदय तें जगै, रहत न स्वप्न विकार ॥४७॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

अर्थ—करत क्रिया सब ब्रह्मधी, फल इच्छा तजि सोय।
लिप्त होत नहिं पाप सों, पद्मपत्र जिमि तोय ॥१०॥

इन्द्रिय-वृत्ति अशेष ही, जब आतमा के संग। वर्तत हैं तब आप ही, अपने अर्थ प्रसंग ॥४८॥
दीपक केर प्रकाश जिमि, घरके सब व्यौहार। ज्ञानी के तिमि कर्म सब, तनसों पाण्डु कुमार ॥४९॥
करत कर्म सब पै नहीं, बँधै कर्म के फाँस। पद्मपत्र भींजत नहीं, जल में करत निवास ॥५०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

अर्थ—योगि क्रिया करैं संग तजि, आत्म शुद्धि के हेतु।
केवल इन्द्रिय, काय अरु, मन अथवा मति से तु ॥११॥

जहाँ बुद्धि-की बात नहिं, मनकी गोचर नाहिं। लखि ऐसे व्यापार जो, सो कायिक कहि जाहिं ॥५१॥
शिशु जिमि सब चेष्टा करत, सुनहुँ सुलभ इहि भाँत। तैसे योगी कर्म करैं, केवल तन सों तात ॥५२॥

यौगिक निद्रा पाय, जहँ सोवत भौतिक वपुष। सब व्यापार कराय, तहँ केवल मन स्वप्नवत् ॥५३॥
धनुधर सुनु पुनि आचरज, यह वासना प्रसार। तन कौ जानि न परत पर, मन सुख दुःख मँझार ॥५४॥
इन्द्रिय के अनजान जो, अस उपजै व्यापार। केवल, ताको कहत हैं, मानस को आचार ॥५५॥
योगी ताहि न परिहरैं, परैं न बन्धन माँहि। अहंभाव को लेशहू, जासु चित्त महँ नाँहि ॥५६॥
जब भ्रमयुत ह्वै जात जन, जिमि पिशाच को चित्त। इन्द्रिन तें चेष्टा करत, दीसत विकल विचित्त ॥५७॥
वस्तुरूप लखि लेत है, बोलत अरु सुनि लेत। पै लखियत जिमि ज्ञान को, नाँहि लेश संकेत ॥५८॥
इहि विधि कारण बिनु तहाँ, जे जे कर्म करायँ। ते केवल इन्द्रियन के, कर्म जानु नरराय ॥५९॥
जानत बूझत जे करत, बुद्धि कर्म ते भ्रात। अर्जुन सों श्रीकृष्ण प्रभु, कहत तत्त्व की बात ॥६०॥
योगी बुद्धिहिं मुख्य करि, मन दै कर्मन माँहि। रहत सदा ही मुक्त मुनि, लहत बन्ध कछु नाँहि ॥६१॥
अहंकार को लेश, नाँहि बुद्धि सौं देह लौं। रहत शुद्ध अवलेश, करत कर्महू सर्वविध ॥६२॥
कर्ता के अभिमान बिन, कर्म होय निष्कर्म। योगी जानत गुरु कृपा, जानन योग्य सुवर्म ॥६३॥
बढ़ै शान्तरस बाढ़ अति, नाहिन पात्र समाय। जो वाणी सों दूर है, सो किमि बोल्यो जाय ॥६४॥
जिन कर इन्द्रिय-दीनता, भली भाँति नसि जाँहि। तिन ही को अधिकार यह, वचन श्रवण के माँहि ॥६५॥
अति प्रसंग पूरो करौं, तजि न कथा सम्बध। जाते भंग न होय यह, गीता-छन्द-प्रबन्ध ॥६६॥
गहन करब मन तें कठिन, बुद्धिहु शोध न पाय। भयो दैव अनुकूल जो, तुम तें कह्यौ सुनाय ॥६७॥
शब्दातीत स्वभाव सों, यदि बोलत बनि जाय। तो न शेष कछु रहत सुनु, मूल कथा मन लाय ॥६८॥
श्रोतागन की आर्ति लखि, दास निवृत्ति विचार। कृष्णार्जुन संवाद को, बहुरि करत बिस्तार ॥६९॥
केशव भाषत पार्थ सौं, सुनु योगिन के चिन्ह। जिन अनियास लही परम, सिद्धि सु अनवच्छिन्न ॥७०॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अर्थ—कर्मफलहिं तजि ब्रह्मविद, प्राप्त करैं ध्रुव शान्ति।
अरु अयुक्त आसक्तिवश, बँधत सकाम अशान्ति ॥१२॥

आतम योग सम्पन्न मुनि, तजत कर्मफल आस। आगे बढ़ि, जयमाल गहि, सरत शान्ति तिहि पास ॥७१॥
योग हीन तो कर्म-गुण, बँधत वासना ग्रन्थि। स्पृहा सों फलभोग की, लहत आस परिपन्थि ॥७२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

अर्थ—सर्व कर्म मन से तजै, वशी रहे सुख माँहि।
नौद्वारी पुर देह महँ, करै करावै नाँहि ॥१३॥

कर्म करत सब, जिमि करैं, जन धरि फल की आश। अहंकार तजि योगि जन, फल सों रहत उदास ॥७३॥
ते देखत जेहि ओर, तहँ, बरसत सुख अनियास। आत्म बोध तहँ रहत नित, जहँ ते करत निवास ॥७४॥
तजि फलकी इच्छा रहत, तन में तो न रहाय। और कर्म सब करत हू, ते जन कछु न कराय ॥७५॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

अर्थ—प्रभु न सृजत जग जीव को, कर्ता कर्म प्रयोग।
नतरु कर्मफल योग पुनि, सब स्वभाव को भोग ॥१४॥

जैसे ईश्वर देखियत, अर्जुन निर्व्यापार। पै तेहि बिन को रचत है, त्रिभुवन को विस्तार ॥७६॥
कर्ता हू ऐसे लहत, दोष न कौनहुँ कर्म। कर पग लिप्त न तासु, जस, उदासीनता धर्म ॥७७॥
टूटै निद्रा-योग नहिं, नहिं कर्तापन-दोष। महाभूत-समुदाय पै, रचि रचि रोपै पोष ॥७८॥
ते जग को जीवन अहै, पै ते कह्यो न जाय। जग उपजत, विनसत सतत, पै ताकों न जनाय ॥७९॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अर्थ—कौनहुँ को अघ पुण्य कछु, लेत न प्रभु निज ओर।
अज्ञानावृत ज्ञान तें, मोहित जीव अथोर ॥१५॥

नेकहुं देखै नाहिं, पाप पुण्य निकट हुँ रहे। अपर वस्तु का आहिं, ते साक्षी हु होत नहिं ॥८०॥

ते संगति सों देह की, देही धरि अवतार। लीला करत, रहै तदपि, निगु ण, निर् आकार ॥८१॥

जो जन कहत कि चर-अचर, सृजि पालत संसार। पुनि संहारत तेहि प्रभु, अर्जुन, ते अविचार ॥८२॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।

तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

अर्थ—आत्मबोधतें जासु पुनि, भयो अबोध-निरास।

तासु सूर्य के सरिस सो, उपजत ज्ञान प्रकाश ॥१६॥

मिटै भ्रान्ति अँधियार अरु, कटै मूल अज्ञान। तब 'मैं कर्ता नाहिं' अरु, 'मैं ईश्वर,' यह भान ॥८३॥

एक अकर्ता ईश मैं, यदि यह मानें चित्त। तो स्वभावतः सिद्ध है, अहौं अकर्ता नित्त ॥८४॥

ऐसहि आत्म-विवेक तें, त्रिजग भेद बिललाय। निज अनुभव ते हृदय महँ, मुक्त स्वरूप लखाय ॥८५॥

कहहु कि पूर्व दिशा विषे, होय सूर्य उद्दोत। तो अन्यान्य दिशान महँ, कबहुँ अँधेरो होत ॥८६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

अर्थ—आत्म बुद्धि, नित आत्म पर, आत्मनिष्ठ तद्रूप।

मुक्ति लहैं निज बोधतें, विनिवारित अघरूप ॥१७॥

थिरमति सों लहि बोध गहि, ब्रह्मरूप निज भान। सतत ब्रह्मनिष्ठा रखे, ताहि आत्मपर जान ॥८७॥

ऐसे व्यापक ज्ञान सों, जाको पूरण हीय। ते कहियत समदृष्टि-जन, ज्ञान शुभ्रदीप ॥८८॥

नहिं अचरज को वार, जो इमि कहिये तासु थिति। देखत सब संसार, केवल आत्म स्वरूप ते ॥८९॥

जिमि सुभाग्य महँ दैन्य को, कौतुक हु न दिखाय। अरु विवेक महँ भ्रान्ति को, नाम न कबहुं सुनाय ॥९०॥

नतरु कबहुं रवि को लख्यो, जग अँधियारो रूप। अमृत सुनै नहि कानतैं, मृत्यु-कथा नरभूप ॥९१॥

अधिक कहा सन्ताप कहँ, जिमि सुसिरै नहि चन्द्र। प्राणिमात्र महँ भेद तिमि, मानत ते न अमन्द्र ॥९२॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

अर्थ—बुधजन, विद्या-विनययुत, द्विज, गो अरु मातङ्ग ।
कुक्कुर अरु चांडाल महँ, देखत ब्रह्म अभङ्ग ॥१८॥

यह गज है यह मशक है, यह अन्त्यज द्विजराज । यह आतमज यह अन्य है, यह न भेद तहँ साज ॥६३॥
किंवा यह गो, श्वान यह, यह विशाल, यह हीन । जागृत इव देखत नहीं, भेद-स्वप्न प्रवीण ॥६४॥
देखत भेदहिं तबहि जब, अहंभाव मन होय । अहंभाव नास्यो जबै, तबै विषमता खोय ॥६५॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१६॥

अर्थ—जिन को मन थिर साम्य महँ, तिन जग माया जीति ।
है अदोष सम ब्रह्म, ते, तामें थित एहि रीति ॥१६॥

तातें जानहु मर्म यह, साम्यदृष्टि को चित्त । मैं सर्वत्र सदैव सम, अद्वय ब्रह्म सु नित्त ॥६६॥
इन्द्रिय-संयम नहि करै, तजै न विषय प्रसंग । ह्वै अकाम भोगै विषय, अर्जुन जो निःसंग ॥६७॥
करै लोक व्यापार, जो जग के आधार ते । पार्थ मोह को जाल, तजत पदार्थन संग पुनि ॥६८॥
जिमि जग माँहि शरीरगत, दीसत नाहिं पिशाच । तैसे ताहि न लखत जग, यह जिय जानहु साँच ॥६६॥
जाकर मन सर्वत्र ही, समता महँ रहि जाय । तेतो सत्यहि ब्रह्म है, नाम रूप हू पाय ॥१००॥
जो ऐसो समदृष्टि है, ताकी सब पहिचान । अर्जुन तें श्रीहरि कहें, सुनहु चित्त धरि ध्यान ॥१०१॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

अर्थ—सुखित न प्रिय लहि ब्रह्मविद्, दुखित न अप्रिय पाय ।
निश्चलमति अज्ञान बिन, ब्रह्मस्थिति महँ आय ॥२०॥

गिरिवर कहुँ डूबे नहीं, जिमि मृग जल के पूर । तिमि ज्ञानी नित रहत, शुभ-अशुभ विकृति सें दूर ॥१०२॥
जो समदृष्टि यथार्थ है, सोइ ब्रह्म अविकार । सोइ सत्य श्रीहरि कहैं, सुनिये पाण्डुकुमार ॥१०३॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

अर्थ—जो बहिरङ्गासक्त नहि, अन्तरङ्ग सुख मग्न ।
ब्रह्मयोगयुत सो लहत, अक्षय सुक्ख अनुलग्न ॥२१॥

आत्मसरूपहिं तजि कबहूँ, नहि इन्द्रिय आधीन । विषय न सेवत कबहुँ मन, सो आश्चर्य प्रवीन ॥१०४॥
निज सुख सहज अपार जस, अन्तर लियो निरधारि । सो कबहूँ पग बाहिरे, नहिं घालत तनु धारि ॥१०५॥
कुमुद दलनि के थाल, जेंवै उत्तम शशिकिरण । इतनेहिं होय निहाल, नहिं चकोर चख बालुकण ॥१०६॥
आपहिं आप स्वरूप ह्वै, आत्मसुखहिं जन पाय । सहज तजै जग विषय सुख, किमि आश्चर्य कहाय ॥१०७॥
कौतुक वश जो तनिकहू, देखहु भले विचार । कौन फँसत है विषय कें, सुख महँ पाण्डुकुमार ॥१०८॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

अर्थ—इन्द्रिन के सब विषय सुख, दुख उपजावन जान ।
आदि अन्तयुत पार्थ ते, तहँ न रमत मतिमान ॥२२॥

आत्मसरूप न लखत जे, ते इन्द्रिय सुख मान । जिमि दरिद्र आतुर छुधा, तुप सेवत सुख सान ॥१०९॥
तृष्णा सों पीड़ित हरिण, भ्रमवश पावै पीर । भटकि भटकि मरि जात है, जानि भूमि कहँ नीर ॥११०॥
आत्मसरूप न देखि तिमि, करत स्वसुख की हानि । जानत विषय सुहावने, परम-सुखद धनुपानि ॥१११॥
जेते हैं जग विषय सुख, ते न कहन के जोग । दामिनि चमक प्रकाश तें, कछु लखि सकत न लोग ॥११२॥
उष्ण पवन अरु वृष्टि जो, वारिद ते चलि जाय । तो तिनखंडा महल को, अर्जुन कौन रचाय ॥११३॥
कहत मधुर बछनाग विष, जैसे ही अज्ञान । तैसहि जानहु विषय-सुख, करत अनर्थ महान ॥११४॥

जिमि मृग जल कहँ नीर, कहियौ मंगल भौम को। तैसहि है रणधीर, वृथा कहब सुख विषय कहँ ॥११५॥

मूषक को कहुँ नागफण, छाया सुखकर होय। कहँ लगि कहौं विषय सुखहिं, अर्जुन तुमसों सोय ॥११६॥

जिमि तब लौं भल जबहि लौं, आमिषकौर न सेय। निश्चय जानें विषय सँग, तिमि न सेय कौन्तेय ॥११७॥

अर्जुन इनहिं निहारिये, जो विरक्त की दृष्टि। पाण्डुरोगि सम दिसत हैं, अबल किन्तु धृतपुष्टि ॥११८॥

तातें भोगब विषय-सुख, आदि अंत दुख जान। पै सेये बिन भोग कें, रहि न सकैं अज्ञान ॥११९॥

जानत नाहिं रहस्य अस, सेवन विषय करायँ। पीप-पंक के कीट को, कहु कहँ हीक जनाय ॥१२०॥

दर्दुर कर्दम विषय के, भोगनीर के मीन। कैसे त्यागें दुख दुखी, आतमरूपसुख हीन ॥१२१॥

धरि विरक्तता विषय सों, जो जीवैं सब जीव। तो सब होयँ निरर्थ ये, दुख योनियाँ अतीव ॥१२२॥

सकल दुःख गर्भादि के, जन्म मरण के क्लेश। जीव तजें जो विषय पथ, तो न शेष रहें लेश ॥१२३॥

दोष महा कहँ जाय, यदि विषयी त्यागें विषय। जग महँ कहँ रह पाय, यह 'संसार' स्वरूप पद ॥१२४॥

असत अविद्या जात को, सत करि दियो दिखाय। विषय रूप दुख माँहि जिन, सुख मान्यौ मनभाँय ॥१२५॥

तातें अर्जुन विषय सुख, दूषित, दुःख विचारि। बिसरि न जावहु तेहि मग, मन निजहित निरधारि ॥१२६॥

तजि विरक्तजन विषय सुख, विष सम विषम जनायँ। आश रहित जन तिनहिं नहिं, चाहत सहज सुभायँ ॥१२७॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

अर्थ—कामज क्रोधज वेग जो, सहन करि सके वीर।
देह पतन सों पूर्व ही, सो योगी सुखशील ॥२३॥

जे करि लेत अधीन इमि, देह रहत तन भाव। तिनके निकट न विषय सुख-रूप दुःख को ठाँव ॥१२८॥

बाह्य विषय को नामहू, जे जानत नहिं शूर। तासु हृदय मधि आत्मसुख, भयौ अहै भरपूर ॥१२९॥

बिसरि जाय त्रिपुटी सकल, आत्मप्राप्ति सुख योग। जैसे पक्षी खात फल, तिमि न करत ते भोग ॥१३०॥

भोगतहू सुख भोक्तृता, को न रहे कछु भान। तन्मयता की वृत्ति महँ, अहंभाव को हान ॥१३१॥

दृढ़ आलिंगन प्राप्त करि, तन्मयता को जीव । ईश्वर सँग एकात्मता, लहै वारि वारीव ॥१३२॥
जबहिं विलय नभ में पवन, भेद न गगन समीर । ऐक्यभाव कहँ पाय तिमि, सुख स्वरूप रहि धीर ॥१३३॥
अरु इकही ह्वै जाय, द्वैतभाव जब जाय इमि । कौन तहाँ कहि जाय, ताको जाननहार तब ॥१३४॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

अर्थ—अन्तर-सुख, अन्तर-रमण, अन्तर-ज्योति महान ।
योगी ह्वै कै ब्रह्मसम, लहै ब्रह्मनिर्वान ॥२४॥
क्षीण कलुष ऋषि शान्त मन, लहैं ब्रह्मनिर्वान ।
द्वैतपनो तजि आत्मजित, सर्वभूतहित ठान ॥२५॥

अधिक कहा कैसे कहौं, अकथनीय जो बात । आत्माराम स्वभाव सों, परखि लेत तिहिं तात ॥१३५॥
ऐसहि सुख परिपूर्ण जे, मग्न रहैं निजरूप । केवल ब्रह्मानन्द वपु, तिहिं जानहु नरभूप ॥१३६॥
सुखकर अंकुर होत ते, अरु आनन्द सरूप । वा विहारथल होत है, आत्म प्रबोध अनूप ॥१३७॥
यह स्वभाव परब्रह्म के, के विवेक के गाँव । अलंकार श्रुति ज्ञान के, अवयव सोह स्वभाव ॥१३८॥
किंवा गति चैतन्य की, अथवा सात्त्विक सत्त्व । अधिक कहा वर्णन करौं, करि करि विलग महत्त्व ॥१३९॥
आप रमत सन्त-स्तवन, विसरत कथा प्रबन्ध । प्रेम सहित वर्णन करत, निराकार सम्बन्ध ॥१४०॥
अतिशय रस पूरो करहु, ज्ञानदीप उजियार । सन्त हृदय मन्दिरन महँ, मंगल प्रात पसार ॥१४१॥
श्री ज्ञानेश्वरनाथ, इमि श्रीगुरु तात्पर्य लहि । सो सुनिये नरनाथ, इति कहि बोलत कृष्ण जो ॥१४२॥
ड्बत इक सर पैठि तस, आत्मानन्द दहार । अर्जुन थिर ह्वै तहँ रहै, आत्मस्वरूप उदार ॥१४३॥
निर्मल आत्म प्रकाश तें, आपुन महँ जग देखि । देह सहित परब्रह्म हैं, सुख तें मान अशेखि ॥१४४॥

साँचहु जो सब से परे, जो असीम अविनास। सो निरीह अधिकार सों, एहि पुर करत निवास ॥१४५॥
उन्नतिशील महर्षि जो, जो विरक्त के दाय। सुख अशंक जन अंकुरित, निरअन्तर नरराय ॥१४६॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

अर्थ—काम क्रोध तें रहित जे, योगी सयत चित्त।
आत्म स्वरूपहिं जानि ते, लहैं ब्रह्मपद वित्त ॥२६॥

आपहिं आपुन जीति मन, जो ढिग विषय न जाय। सो निश्चय तहँ सोयकै, जागै नहीं स्वभाय ॥१४७॥
आतमबोध निदान सों, अहैं श्रेष्ठ जन पार्थ। परब्रह्म कैवल्य महँ, निश्चय जान यथार्थ ॥१४८॥
ऐसे कैसे होंय ते, ब्रह्मरूप सह देह। यदि पूछहु तो मैं कहौं, संक्षेपाहि सुगेह ॥१४९॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

अर्थ—दृष्टि भृकुटि मधि धार करि, बाहहिं बाह्य निकार।
प्राणापान समान करि, नासान्तर संचार ॥२७॥
इन्द्रिय मन बुद्धि वश करै, मोक्षपरायण जोय।
तजि इच्छा भय क्रोध मुनि, मुक्त सदा सो होय ॥२८॥

जो वैराग्याधार तें, बाहर विषय निकार। करि एकत्र शरीर महँ, मन को पाण्डु कुमार ॥१५०॥
द्वै भ्रुव की सम्बन्ध, सहज मिलैं त्रय संधि जहँ। थिर कर लेय प्रबन्ध, दृष्टिहिं उलटि लगाइ तहँ ॥१५१॥
दक्षिण वामहिं रोक करि, प्राणायाम समान। चित्तहिं चित्त अकाश महँ, थिर कर लेय सुजान ॥१५२॥

जैसहि सब जल मार्ग को, मिले सिंधु लहि गंग। अरु इक इक कीजै पृथक्, निबरै नहीं प्रसंग ॥१५३॥
अर्जुन आपहिं नसत तब, हिय वासना विचार। जब नभ महँ मन लय करै, प्राणापान सँवार ॥१५४॥
जहँ प्रगटै जगचित्र यह, सो मन वपु पट नास। जिमि सरवर के अजलतल, नहिं प्रतिबिम्बाभास ॥१५५॥
अहंभाव पुनि कहँ रहै, जब मन नसै प्रधान। अतः देहयुत ब्रह्म हो, जो अनुभवै सुजान ॥१५६॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

अर्थ—सब मख तप भोक्ता अहै, महाईश सबलोक।
सुहृद जानि सब भूत को, लहै शान्ति गतशोक ॥२९॥

अर्जुन हम पहिले कहे, लहि अब्रह्म शरीर। सोई जो इहिं मार्ग तें, चलत भये रणधीर ॥१५७॥
सागर जो अभ्यास के, अरु यम नियम पहार। इहिं क्रमतें पावत भये, पहुँच गये वा पार ॥१५८॥
आपहिं करि निर्लेप ते, करि प्रपंच की माप। साँचहु ते होके रहैं, ब्रह्मस्वरूपी आप ॥१५९॥
जब बरनो नँदनन्द, योगयुक्त उद्देश करि। अति आश्चर्यानन्द, तब मार्मिक अर्जुन लख्यो ॥१६०॥
यह लखि जान्यो भाव प्रभु, अरु हँसि बोले बैन। कहु मम वचनन तें मिल्यो, अर्जुन तुव चित चैन ॥१६१॥
अर्जुन कहि तब हे प्रभो, पर मन लक्षण जान। मेरे मन के भाव को, नीके लख्यो सुजान ॥१६२॥
जो कछु मैं पूछन चहौं, सो प्रथमहिं प्रभु जान। जो बरणौं ताको कहौं, विवरण सहित सुजान ॥१६३॥
आप दिखायो मार्ग जो, तैसहिं तिहिं अवधार। गहरे पानी तें सुगम, जैसे पाँव उतार ॥१६४॥
निर्बल मो सम को सुगम, योग ज्ञान तें जान। साध्य होत पै काल बहु, लागत कृपा निधान ॥१६५॥
सरिस योग की और हू, कहिये प्रभु इक बार। करहु आदि तें अन्त लौं, यदपि होय बिस्तार ॥१६६॥
कहैं कृष्ण तब का भयो, जो, तुहि योग सुहाय। मैं यथार्थ वर्णन करौं, सुनु अर्जुन मन लाय ॥१६७॥
जो करिहो आचार, अर्जुन तुम करि के श्रवण। किमि करि न्यून विचार, तो हम वर्णन करत हैं ॥१६८॥
त्रिज जननि को प्रथम अरु, मिप बालकहिं सुहाय। फिर अद्भुतपन नेह को, कैसे जानो जाय ॥१६९॥
करुणारस की वृष्टि वा, नेहाद्भुत की सृष्टि। सृजी कहौं बहु किमि कथा, हरि की दाया दृष्टि ॥१७०॥

दृष्टि मनो सिरजी सुधा, पियो प्रेममय वारि । मोही अर्जुन प्रेम ते, नेक न सकी निकारि ॥१७१॥
जिमि जिमि बोलहु अधिक तिमि, होय कथा विस्तार । पै कृष्णार्जुन नेह को, बोलि न पावहिं पार ॥१७२॥
ईश्वर जो करि सकत नहिं, अपनो आप प्रमान । ताको करहु विचार का, अपर सकै को जान ॥१७३॥
अभिप्राय प्रश्नोत्तरहिं, समझ परत यह बात । सहज मोहिं प्रभु प्रेमवश, साग्रह कहि सुन तात ॥१७४॥
अर्जुन जिमि जिमि भेद तें, तुम्हरे चित हो बोध । तिमि तिमि कहौं विनोद ते, योग मार्ग को शोध ॥१७५॥
कहा नाम तिहि योग कर, कौन तासु उपयोग । अधिकारी हैं कौन जे, करैं आचरण लोग ॥१७६॥
योगायोग सुबन्ध, ऐसे ही जो जो कछू । वर्णन करौं निबन्ध, सो सब मैं तुम तें अबहिं ॥१७७॥
सो मन देकर तुम सुनो, इमि हरि कह्यो सुनाय । कथा निरूपण होत है, अब आगे अध्याय ॥१७८॥
श्रीहरि अर्जुन तें कहत, योग द्वैत के संग । श्रीज्ञानेश्वर व्यक्त करि, भाषैं तासु प्रसंग ॥१७९॥

ॐ तत्सदिति श्री सत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित
भावार्थदीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला
(माहिष्मती पुरी) निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि)
भद्देलालात्मज श्रीमद् ज्ञाननाथस्य शिष्या-
नुशिष्यस्य किंकर श्री गणेश प्रसाद-
कृतायां गीता ज्ञानेश्वर्यां
पंचमोऽध्यायः
शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ३

ॐ

षष्ठ अध्याय



संजय कह धृतराष्ट्र तें, सुनहु सोइ मन लाय।
योग रूप जो पार्थ तें, कृष्ण कह्यो समझाय ॥१॥

नारायण दै पार्थ को, सहज ब्रह्म रस भोज। तिहिं अवसर बन पाहुनो, मैं पहुँच्यों करि खोज ॥२॥
दैव बढ़ाई किमि कथै, तृषित पियै जिमि तोय। स्वाद लगै जिमि जलचरहिं, ते पुनि जीवन होय ॥३॥
ज्ञान तत्त्व मम हाथ लगि, तिमि मैं अरु तुम तात। तब बोले धृतराष्ट्र नहिं, पूछौ तुम यह बात ॥४॥
संजय ऐसे बचन सुनि, करि नृपहिय पहिचान। निजपुत्रन की इहिं समय, चाहैं कुशल बखान ॥५॥
जानि हंस्यो मन माँहि कहि, पायो मोह विषाद। नातर तौ इहिं समय लौं, भलो भयो संवाद ॥६॥
ऐसे कैसे हो सकै, जन्म अन्ध किमि देखु। तातें कहौं न व्यक्त कर, करिहैं रोष विशेषु ॥७॥
श्री केशव अरु पार्थ को, प्राप्त भयो संवाद। तातें निज चित आप ही, कर उत्तम आह्लाद ॥८॥
निज हिय को सब भाव, तृप्त होय आनन्द तें। संजय धरि सद्भाव, प्रगट करयो कुरुराय—हित ॥९॥
क्षीर सिन्धु ते जिमि सुधा, पावै मंथन माँहि। तिमि गीता महँ षष्ठ ये, योग प्रसङ्ग जनाहिं ॥१०॥
सार जान गीतार्थ तिमि, ज्ञान सिन्धु के पार। योग विभव भण्डार बहु, मानहुँ खुले किवार ॥११॥
वेद धरे जहँ मौन जो, प्रकृति को विश्राम। जहँ गीतावपु बेलि को, अंकुर उगै उदाम ॥१२॥
सो छठवों अध्याय वर, वरणौं सालङ्कार। तातें ध्यान लगाय सुनहु, याको पांडु कुमार ॥१३॥
कौतुक प्राकृत कथन मम, परिप्रण अमृत जीत। ऐसे अक्षर मधुर धर, मिश्रण कियो अजीत ॥१४॥
जो मृदुता तुलना करै, न्यून नाद आनन्द। मोरत शक्ति सुगंध की, जाके उत्तम छन्द ॥१५॥

सुनु रसालपन लोभ तें, पावत रसना कान । कलह करैं सब इन्द्रियां, आपुस में बलवान ।।१६।।
शब्द विषय सहजहिं श्रवण, रसना कह रस मोर । घ्राण भाव सौरभ सुभग, तामें होय न थोर ।।१७।।
नेत्र तृप्तिमय जानि, कविता की पद्धति निरखि । प्रगट रूप की खानि, अरु ऐसो अनुभवत जनु ।।१८।।
उभरैं जन सम्पूर्ण जहँ, तहँ मन बाहर होय । आलिंगन को वाक्य के, बाहु पसारे सोय ।।१६।।
इन्द्रिय गण अनुभव करैं, निज स्वभाव अनुसार । परि करि बोध समान इक, जिमि रवि जग उजियार ।।२०।।
देखि अलौकिक शक्ति तिमि, व्यापकपनो विचारि । चिन्तामनि के गुन लहत, अर्थभाव निरधारि ।।२१।।
शब्द थार भर अधिक किमि, परसि मोच्छ रसराज । ग्रन्थ-पाक वपु मैं रच्यो, निष्कामी जन काज ।।२२।।
आत्मज्योति जो नित नवी, ताके दीप प्रकास । इन्द्रिन के अनजान में, जेंवै लहै हुलास ।।२३।।
इन श्रोतागण रहित हौं, श्रवणेन्द्रिय सम्बन्ध । भोगैं मानस अंग तें, सुन्दर कथा प्रबन्ध ।।२४।।
छाल शब्द की दूर करि, ब्रह्मरूप प्रगटाय । अरु भोगैं सुख माँहि सुख, सुख स्वरूप को पाय ।।२५।।
ऐसो यदि सुख्महिं पने, तोको करि उपभोग । न तरु बात इमि होय जिमि, गूंगे बहरे जोग ।।२६।।
नहिं सावध को काम, अधिक कहा श्रोतागणहिं । जो स्वभाव निष्काम, या ठिकान अधिकारतें ।।२७।।
आत्मज्ञान की चाह जिहिं, स्वर्ग जगत को त्याग । तिहिसिवाय नहिं इतर को, शब्द मधुरता लाग ।।२८।।
इतर न जानै ग्रन्थ जिमि, काग न शशि पहिचान । जेंवैं चन्द्र चकोर जिमि, आपुन भोजन जान ।।२६।।
ज्ञानी जन को धाम यह, अबुधन को पर ग्राम । तातें या बाबत अधिक, बोलन को नहिं काम ।।३०।।
छमियैं सज्जन मोहिं मैं, भाष्यौ पाय प्रसंग । अब भावौं सोई कथा, जो भाषी श्री रंग ।।३१।।
कठिन निरूपन बुद्धि तें, कठिन शब्द प्रगटाय । कृपा निवृत्ति प्रकाश तें, देखि कहत मैं भाव ।।३२।।
ज्ञान लाभ इन्द्रिय परैं, दृष्टि न पावहिं जाहि । सो देखे बिन दृष्टि के, श्री गुरुनाथ कृपाहि ।।३३।।
किमियागरहुँ न जुरत जो, लोहो सोनो होय । दैव योग लहि पारसहिं, लागैं हाथहिं सोय ।।३४।।
यदि सद्गुरु की तिमि कृपा, कर न लहै किमि आप । ज्ञान देव कहि मोहिं पर, तिमि गुरु कृपा अमाप ।।३५।।
इन्द्रिय केर अनूप, इन्द्रिय तें उपभोग करि । प्रगट रूप बिन रूप, या कारण मम बोलतें ।।३६।।
यश औ' श्री औदार्य पुनि, ज्ञानेश्वर विराग । ये सब षड् गुण बसत जहँ, सुनिये करि अनुराग ।।३७।।

तातें तेहि भगवन्त कहि, जो असंग को संग। पार्थ चित्त दै सुनहु अब, सो भाषत श्री रंग ॥३८॥

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अर्थ—चाहत नहिं जो कर्मफल, करत विहित ही कर्म।
संन्यासी योगी वही, नहि अनग्नि न अकर्म ॥१॥

योगी संन्यासी दुवौ, सुनि एकहि संसार। एकहि माने पृथक् नहिं, जानैं किये विचार ॥३६॥
दूजेपन को नाम तजि, योग और संन्यास। ब्रह्मदृष्टि तें देखिये, उभय न भेदाभास ॥४०॥
एक पुरुष के नाम जिमि, द्वै कहि करैं पुकार। अथवा एक ठिकान के, मारग द्वै निरधार ॥४१॥
किंवा एकहि घट भरैं, सहजहिं एकहि वारि। विलग योग संन्यास तिमि, जिमि घट पृथक् विचारि ॥४२॥
अर्जुन योगी लखि परत, सुन सब जग गति माहिं। कर्म करैं सब विहित अरु, फल इच्छा धर नाहिं ॥४३॥
अहंभाव बिन अवनि सहज, जिमि जन्मै तरु आदि। पै तिहिं बीजादिकन की, सकल अपेक्षा नादि ॥४४॥
और जाति अनुसार, आत्मबोध आधार तिमि। जाको पाण्डु कुमार, जिहिं अवसर कर्तव्य जो ॥४५॥
सो तैसहि करि उचित परि, अहंकार न शरीर। अरु फल इच्छा करत नहिं, जासु बुद्धि अतिधीर ॥४६॥
सुनु अर्जुन ऐसो पुरुष, सन्यासी कहलाय। अरु ताइ को योगिवर, कहिये निर्मल भाय ॥४७॥
नैमित्तिक अरु नित्य को, बंधन कहि करि त्याग। अपर अन्यथा कर्म तिहिं, शीघ्र करैं अनुराग ॥४८॥
एक लेप जिमि धोय के, दूजे सबहिं लगाय। तिमि आग्रह को दास बनि, वृथा करैं बकवाय ॥४६॥
भार गृहस्थाश्रमिन को, सिरसों देत उतारि। पुनि संन्यासी होय के, अधिक भार शिर धारि ॥५०॥
स्मार्त श्रौत हौमादि नहिं, तजि न मार्ग मर्याद। सो स्वभाव सों आपुहीं, अहै योग अह्लाद ॥५१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

अर्थ—कहत जेहिं संन्यास बुध, जान योग तू सोय ।
त्यागे बिन संकल्प जग, योगी होत न कोय ॥२॥

सुनु सन्यासी योगि को, एक चिन्ह ससार । ऐसहि ध्वज फहरात है, शास्त्र अनेक मँझार ॥५२॥
अस अनुभव तें होत थिर, तजि संकल्प अनन्त । लहत योग को सार जो, ब्रह्म तेइ पावन्त ॥५३॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

अर्थ—चढ़न चहत जो योग तस, कारण कर्म बखान ।
जो पुनि ते पथ चढ़ि गयो, तस शम कारण जान ॥३॥

चढ़ो चहत जो पार्थ, योग शिखरि के शृङ्ग पर । चूके नहीं यथार्थ, विहित कर्म निश्रेणि पर ॥५४॥
आसन को पग पन्थे चलि, इहिं यम नियमाधार । प्राणायाम चढ़ारतें, चढ़ियत पांडुकुमार ॥५५॥
जहँ खिसकैं पग बुद्धि के, प्रत्याहार सँभार । पराकाष्ठ प्रण तहँ तजै, हठयोगी भय भार ॥५६॥
अभ्यासहिं बल पाय के, प्रत्याहार स्वरूप । निराकार नभ महँ प्रविशि, धारि विराग अनूप ॥५७॥
अनिल सवारी पाय इमि, मार्ग धारणा पाय । क्रमसों मस्तक ध्यान के, अर्जुन पहुँचै जाय ॥५८॥
तब चलिबौ ताको रुकै, मन इच्छा भरि जाय । साध्यरु' साधन मिलि तहाँ, ऐक्यभाव ह्वै जाय ॥५९॥
आगे चलिबौ जहँ रुकै, पिछली सुधि बिसराय । ऐसी ही समभूमि महँ,लग समाधि सुख दाय ॥६०॥
योगारूढ़ उपाय इहिं, जो अपार भरपूर । निर्णय के हित चिन्ह तस, सुनु भाषौं सुखमूर ॥६१॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

अर्थ—जब योगी सब विषय अरु कर्मन माँहि न मूढ ।
सब संकल्पन परिहरै, तब कहि योगारूढ ॥४॥

आवागमन न विषय को, जाके इन्द्रिय गेह । आत्मज्ञान निज पाक गृह, सोवत सहित सनेह ॥६२॥

जागृत मन नहिं होय, जस सुख दुःख संघर्ष महँ। पै सुस्मृति नहि सोय, कहौ कहा ये विषय ढिग ॥६३॥
इन्द्रिय करहिं प्रवृत्ति यदि, कबहूं कर्म ठिकान। पै फल हेतु न चित्त में, इच्छा करहिं सुजान ॥६४॥
ऐसे तन के रहत जग, निद्रित सम दरशाय। उत्तम योगारूढ़ तिहिं, तुम जानौं नरराय ॥६५॥
केशव सों पार्थ तब, बहु आचरज जनाय। जिमि भाषेउ तिमि योग्यता, कौन देत यदुराय ॥६६॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

अर्थ—आप आपको उद्धरै, करै न अपनो घात।
आप आपनो शत्रु है, आप आप आपनो भ्रात ॥५॥

कृष्ण कहत हँसि के तबै, कथन नवीन तुम्हार। कौन कहाँ तिहिं देत है, इह अद्वैत मँझार ॥६७॥
सोवे जब भ्रम सेज महँ, जो बलयुत अज्ञान। जन्म मृत्यु दुःस्वप्न सम, तब भोगै दुखखान ॥६८॥
सहसा जागै जबहिं जन, तब सब स्वप्न नसाँय। अस उपजै सद्भाव नित, सबही आप सुभाय ॥६९॥
तातें अपनो आप ही, पार्थ करत जन घात। मिथ्या तन अभिमान महँ, चित दे सत समझात ॥७०॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अर्थ—जीति आप सों आप को, बन्धु आपनो होय।
अरु अजीति रिपु आपनो वर्तत रिपुसम सोय ॥६॥

अस विचारि अभिमान तजि, ब्रह्मरूप ध्रुव होय। तो सहजहिं कल्याण निज, करत आपही सोय ॥७१॥
आत्मबुद्धि जो लाय, शोभित इव लखि देह में। कोश कीट बनि जाय, आपुन बैरी आपु ही ॥७२॥
अन्धपनो हतभागि दृग-प्राप्ति समय किमि होय। दृग उघरत ही मन्दमति, मूंद लेत है सोय ॥७३॥
अथवा कोई भ्रान्ति वश, 'मैं खोयो' चिल्लाय। मिथ्या ऐसो भाव निज, अन्तर महँ यदि लाय ॥७४॥
यदपि यथारथ सोइ है, पै तस बुद्धि न भास। लखि के स्वप्नहिं त्रास अस, पावहिं सत्यहिं नास ॥७५॥

जिमि शुक के अँग भार तें, नली उलटि फिरि जाय। यदि चाहै तो जाय उड़ि, पै मन शंक बँधाय ॥७६॥
कंठ व्यर्थ ऐंठे, हृदय चौड़ो कर फैलाय। बल करि पकरै चोंचतें, धरि के नली दबाय ॥७७॥
सत्यहि मैं बांध्यो गयो, खड्गहिं पड़ि अस भाव। जो पग पंजा हैं खुलैं, तिहिं कर अधिक फँसाव ॥७८॥
ऐसहि व्यर्थहि फँसत जो, कहु को दूजो बांधि। पुनि सो नली न तजत है, यदि तेहि काटै आधि ॥७९॥
तातें अपनो आप रिपु, जो संकल्प बढ़ाय। आत्मज्ञान है सोइ जो, मिथ्या भाव न लाय ॥८०॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

अर्थ—शीत उष्ण, सुख दुःख तिमि, मान और अपमान।
जीते मनहिं प्रशान्त जो, सो ब्रह्महिं पहिचान ॥७॥
निर्विकार जित-इन्द्रियहिं, तृप्त ज्ञान विज्ञान।
ढेलामाटी स्वर्ण सम, योगिहिं युक्त बखान ॥८॥

अन्तःकरणहिं जीति, सकल कामना शान्त करि। इतर जनन जिमि रीति, परमात्मा तस दूर नहिं ॥८१॥
स्वर्ण हीनता के नशे, उत्तम होत सुवर्ण। तिमि संकल्प विलात ही, जीव ब्रह्म इक वर्ण ॥८२॥
घटाकार के नशत ही, मिलै महा आकाश। तासु मिलन हित अन्यथल, करत न यान प्रयास ॥८३॥
असत देह अभिमान नसि, जासु समूल अशेष। सो परमात्मा सकल थल, प्रथमहिं पूर्ण विशेष ॥८४॥
अब शीतोष्ण विचार अरु, सुख दुख केर विचार। शब्द माने अपमान यह, सहन न होत उदार ॥८५॥
सूर्य जाय जिहि मार्ग तें, तहँ जग सूर्य प्रकाश। तिमि तिहिं जो जो वस्तु मिलि, स्वात्मरूप ही भास ॥८६॥
जिमि लघु जल गिर मेघतें, रुकत न सिन्धु सिवाय। कर्म शुभाशुभ भिन्न नहिं, योगीश्वर महँ आय ॥८७॥
जो संसारी भाव यह, मिथ्या गनै विचारि। पुनि करि ज्ञान विचार जब, स्वयं ज्ञान वपु धारि ॥८८॥

अव्यापक व्यापक अहौं, करि इमि तर्क वितर्क। रहे आप अद्वैत सौं, विना द्वैत सम्पर्क ॥८६॥
जाको रहे शरीर, इहिं विधि इन्द्रिय जीति के। योग्य होय रणधीर, कौतुक ही परब्रह्म के ॥६०॥
सो इन्द्रियजित सहज ही, योगयुक्त कहि जाय। जिन्ह महँ भेद न छोट बड़, कौनहु काल रहाय ॥६१॥
जो सुवर्ण को मेरु गिरि, वा माटी को ढेर। मानत दुओ समान करि, तामहँ कछु न फेर ॥६२॥
धरिणी तें बहुमूल्य जो, उत्तम रत्न अमोल। समझत तिहिं पाषाणसम, इच्छा रहित अडोल ॥६३॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६॥

अर्थ—सुहृद, द्वेष्य, मध्यस्थ, अरि, उदासीन अरु मित्र।
साधु, पातकी सकल सम,-बुद्धि विशेष पवित्र ॥६॥

उदासीन अरु मित्र, तहाँ शत्रु अरु आप्त पुनि। कैसे होय विचित्र, भेद-भाव की कल्पना ॥६४॥
कौन बन्धु अरु द्वेषि को, कैसी ताकी शोध। विश्वरूप मैं ही अहौं, जाको ऐसो बोध ॥६५॥
किमि अर्जुन तिहिं दृष्टि महँ, अधमोत्तम को भाव। कैसे अन्तर कीजिये, पारस फेर कसाव ॥६६॥
जैसे पारस तें उपज, निश्चय शुद्ध सुवर्ण। सचराचर महँ बुद्धि तिमि, जाकी एकहि वर्ण ॥६७॥
यदि विश्वालंकार के, साँचा बहु आकार। तदपि गढ़े इक स्वर्ण वपु, परब्रह्म निरधार ॥६८॥
ऐसो ज्ञान पवित्र, समझ परै परिपूर्ण तिहिं। जग जो चित्र विचित्र, फँसे न रचना भाव जो ॥६६॥
दृष्टिपात करि वस्त्र में, तन्तुरूप दरसात। ब्रह्म बिना तिमि जगत महँ, तिहिं दूजो न दिखात ॥१००॥
अस प्रतीति जिहिं जगत महँ, ऐसो अनुभव ज्ञान। सो निश्चय समबुद्धि है, मिथ्या नहीं सुजान ॥१०१॥
समाधान हिय दर्शतें, तीर्थराज तिहिं नाम। भ्रान्त पुरुष जस संग तें, लहै ब्रह्म परिणाम ॥१०२॥
धर्म प्राण है बोल जिहिं, महा सिद्धि-प्रद दृष्टि। कौतुक जाको देखिये, स्वर्ग सुखादिक सृष्टि ॥१०३॥
यदि अभिलाषा चित्त निज, दे योग्यता सुजान। तासु प्रशंसा अधिक किमि, पावै लाभ महान ॥१०४॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अर्थ—योगी मन स्वाधीन करि, एकाकी स्थित होय।
आत्मज्ञान्-रत नियत नहिं, आस परिग्रह कोय ॥१०॥

जिहिं अस उदयो ज्ञानरवि, पुनः अस्त नहिं होय। और निरन्तर आप महँ, आप मग्न रह सोय ॥१०५॥
अर्जुन ऐसी दृष्टि करि, जो अद्वैत विवेक। अपरिग्रही त्रिलोक जो, तिहिं वरएयौं सविवेक ॥१०६॥
चिन्ह असाधारण कह्यो, सिद्ध पुरुष के जोय। निज तें गौरवयुत सकल, श्री केशव इव सोय ॥१०७॥
सामर्थ्यहिं रचि सृष्टि, जो केवल संकल्प के। परम प्रकाशक दृष्टि, सो ज्ञानी महँ श्रेष्ठ अति ॥१०८॥
शब्द ब्रह्म वर वस्त्र रचि, प्रणव हाट महँ जोय। जाके यश वर्णन विषय, वेद समर्थक होय ॥१०९॥
जासु अंग के तेज से, रवि शशि पर व्यापार। अतः विश्व किमि रहि सकै, ताके बिन आधार ॥११०॥
जाके केवल नाम तें, गगन तुच्छ दरसात। गुण इक इक किमि तासु के जानि सकहु तुम तात ॥१११॥
तातें बहु किमि तासु की, कीजै कीर्ति बखान। यशमिष जिहिं वर्णन करत, केशव श्रीभगवान ॥११२॥
ब्रह्मज्ञान जो द्वैतहर, यदि कीजै प्रगटाय। पार्थ प्रीति को पात्र अति, यह माधुर्य नसाय ॥११३॥
तातें तैसो कथन तजि, किंचित आड़ लगाय। अर्जुन मन निज प्रेम के, भोग हेतु बिलगाय ॥११४॥
अहं ब्रह्म में अटक जिहिं, मोक्ष सुखहिं में रंक। लगै कदाचित प्रेम तुव, ताकी दृष्टि कलंक ॥११५॥
अहंभाव यदि जाय तिहिं, 'तुम, ही 'मैं' समभाय। तब यह कथा प्रसंग को, कीजै कहा सुनाय ॥११६॥
ऐसो को लहि चैन, वा दृढ़ आलिंगन करै। सुख भर बोले बैन, दर्शन मैं दृग शान्त हों ॥११७॥
यदि मम अर्जुन एकता, जो मन में न समाय। ऐसी उत्तम बात को, कहौं काहि समभाय ॥११८॥
इहिं अडचन मिष साधु के, लक्षण कहे मुरारि। सहजालिंगन मनहि मन, वर्णत भयो विचारि ॥११९॥
यदि तुम श्रोतागणन को, सुनत और अवढेर। पर अर्जुन को जानि सच, रूप कृष्ण सुख केर ॥१२०॥
अधिक कहा वयके ढरे, बांझ एक सुत पाय। अरु पुतली तिहिं मोह की, धनि नाचै न अघाय ॥१२१॥
श्री अनन्त तैसहि भये, अतिशय प्रेम प्रवाह। ऐसो मैं कहतो नहीं, यदि लखतो नहिं ताह ॥१२२॥
कौन चाह उपदेश किमि, अचरज युक्त प्रसंग। प्रीति चित्र जो पार्थ पै, लखि नाचत श्रीरंग ॥१२३॥
चाह लाज उत्पन्न करि, व्यसन मोह उपजाय। अरु पिशाच भूलै नहीं, कह उपयोग कराय ॥१२४॥

घर मैत्री को पार्थ यह, दर्पण सुख शृङ्गार । तातें जो कछु मैं कह्यो, ताको यह सब सार ॥१२५॥
इहिं विधि इह संसार,-क्षेत्र भक्ति के बीज को । पुण्य पवित्र उदार, कृपापात्र श्रीकृष्ण को ॥१२६॥
आत्म-निवेदन के तरे, सख्य भूमिका जान । सोइ भक्ति महँ पार्थ को, जान्यो देव प्रधान ॥१२७॥
यश वर्णत नहिं स्वामि को, सेवक को गुण गान । सहजहिं ऐसो पार्थ पर, प्रेम करत भगवान ॥१२८॥
सेवै प्रियपति पतिव्रता, पतिकर अति सत्कार । पतिहू तें अति पतिव्रता, वरणौं किमि न उदार ॥१२९॥
अर्जुन को वर्णन करै, अति मम मन करि चाह । भाग्य पात्र किय तासु को, जे त्रिभुवन के नाह ॥१३०॥
जासु प्रेम सम्बन्ध तें, निराकार साकार । जाकी इच्छा पूर्ण करि, अति उत्कंठा धार ॥१३१॥
श्रोता कहि तब देव बहु, शोभा भाषण केर । अरु स्वर को सौन्दर्य अति, विजयी त्रिभुवन केर ॥१३२॥
उत्तम कौतुक किमि न अस, वर्णत प्राकृत बोल । उमड़त नव रस हृदय में, ठसा सचित्र अमोल ॥१३३॥
चमक चाँदनी ज्ञानशशि, मनानन्द भावार्थ । सहज प्रफुल्लित कुमुदिनी, यह गीता श्लोकार्थ ॥१३४॥
सकल मनोरथ पूर्ण इमि, इच्छा ही निष्कामि । चकित चलित प्रमुदित सुनत, दीपत अन्तर्यामि ॥१३५॥
ज्ञानेश्वर तिहिं जानि कहि, श्रोता दीजै ध्यान । कौतुक पांडव कुल लख्यो, कृष्ण दिवस सुख खान ॥१३६॥
यशुदा सश्रम पाल, उदर धरे श्री देवकी । अर्जुन को गोपाल, अन्त माँहि फलप्रद भयो ॥१३७॥
तातें दिन बहु सेय ना, बिनवै लखि शुभकाल । भाग्यशालि जो पार्थ तिहिं, भयो न कष्ट विशाल ॥१३८॥
कथा वेगि कहु अधिक किमि, अर्जुन कहिं ललिकाय । सन्त चिन्ह जो प्रभु कहे सो मम अँग न बसाय ॥१३९॥
यदि लक्षण तात्पर्य मैं, जानौं नहीं अधूर । अरु अयोग्य पै कथन बल, जानि सकौं भरपूर ॥१४०॥
जो प्रभु चित्त दयालु तुम, होवहु ब्रह्म स्वरूप । जो भाष्यो अभ्यास यहिं, किमि अशक्य सुरभूप ॥१४१॥
जो वर्णन समझौं नहीं, सुनि हिय करौं सराह । उत्तमता बस अंग अस, प्रभु त्रिभुवन के नाह ॥१४२॥
ऐसी मम अँग योग्यता, कृपापात्र की काहि । तब हँसि बोले कृष्ण तुहिं, करौं ब्रह्म रूपाहि ॥१४३॥
इक सन्तोष न पाय लखि, सुख संकट चहुँ फेर । प्राप्त भये सन्तोष के, सुख न न्यून कहुँ हेर ॥१४४॥
इह सेवक सर्वेश को, सहज ब्रह्म ही होय । पै सुदैव पिक भार कस, पार्थ दयौ लखि सोय ॥१४५॥
जाकी मँदत नाहिं, सहस जन्म महँ इन्द्रहु । बोल न खाली जाहिं, सो अर्जुन आधीन रहि ॥१४६॥

अरु सुनिये जो कछु कह्यो, अर्जुन पाण्डुकुमार । पूर्ण ब्रह्म मैं होऊँ तिहिं, सकल सुनो असुरार ॥१४७॥
अस सुनि देव विचार मन, ब्रह्म होन चह पार्थ । तासु बुद्धि के उदर गुनि, उपजि विराग यथार्थ ॥१४८॥
अथवा पार्थ नवीन तरु, पाय विराग वसन्त । अहं ब्रह्म वपु पुष्प तें, शोभित परम लसन्त ॥१४६॥
तातें याको मोक्षफल, लगत न लागै वार । भयो भरोसो कृष्ण मन, ताहि विरक्त विचार ॥१५०॥
जो भावैं तस आचरत, आरम्भहि फलभास । तातें यातें जो कह्यौ, व्यर्थ नहीं अभ्यास ॥१५१॥
अस विचारि श्रीहरि कह्यौ, तिहिं अवसर सुख पाय । राज मार्ग अर्जुन कहौं, सो सुनु चित्त लगाय ॥१५२॥
जिहिं आचरण प्रभाव तें, पावैं मोक्ष सुसन्त । जिहिं मार्गहि यात्रा करे, शम्भु आज पर्यन्त ॥१५३॥
आड़ मार्ग चलि योगिजन, प्रथम हृदय आकास । पुनि अनुभव आधार तें, लहैं ब्रह्म आभास ॥१५४॥
धावैं ईश्वर सोइ, आत्मबोध के सरल पथ । सब तजि योगी जोइ, इतर मार्ग अज्ञान मय ॥१५५॥
साधक के बनि सिद्ध जो, सो इहिं मार्गहिं आय । इहि सुपन्थ महँ आत्मविद, परम श्रेष्ठता पाय ॥१५६॥
यही मार्ग जो लखत हैं, प्यास भूख बिसराय । रात्रि दिवस जाने नहीं, यही मार्ग जे जाँय ॥१५७॥
चलत मार्ग जहँ पग पड़े, प्रगटि मोक्ष की खानि । आड़ मार्गहू यदि चले, तदपि स्वर्ग-सुख जानि ॥१५८॥
छाँडि पूर्व पथ प्रगति जो, पश्चिम निवृति चलाय । निश्चल पुनि धनुधार सो, चलब कि बसब कहाय ॥१५६॥
जिहि पथ जाय ठिकान जो, अपने हों तें ग्राम । इमि जानहुगे सहज तुम, कहौ कहा बुधिधाम ॥१६०॥
कहि अर्जुन-प्रभु मोहिं किमि, योग न कह्यो सुनाय । बूड़त आर्त समुद्र महँ, काढहु पार लगाय ॥१६१॥
किमि उतावले कहत इमि, तब प्रभु कह्यो सुनाय । जो पूछहु सो आपही, तुमहिं कहौं समुझाय ॥१६२॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

अर्थ—अति ऊँचो नीचो नहीं, स्थिर प्रिय आसन डारि ।
शुद्ध भूमि, कुश, चर्म मृग, तापर वसन सँवारि ॥११॥

कहौं विशेष जनाय अब, पै अनुभव उपयोग । तातें इक थल शोधि तिमि, करि अभ्यास सुयोग ॥१६३॥

बैठे उठन न चाहई, जहँ इन्द्रिय मन हौंस पुरि । दुगुन विराग उछाह, जिहिं देखे अर्जुन चढ़ै ॥१६४॥
जिहिं थल बैठे सन्त तहँ, मिलि सन्तोष सहाय । मनहिं धैर्य उत्साह को, पार्थ होय अधिकाय ॥१६५॥
उत्तेजन अभ्यास महँ, अनुभव हिय में धारि । ऐसी बहु रमणीयता, सदा तहाँ धनु धारि ॥१६६॥
अर्जुन जाकर ठौर तिहिं, पाखंडिहु तप हेतु । करै मनोरथ चित्त महँ, उपजै रुचि कपिकेतु ॥१६७॥
सहज मार्ग चलि जात यदि, पहुँचि अचानक जाय । कामेच्छुक ह्वै जात गृह, तदपि जाय बिसराय ॥१६८॥
ऐसहि कहनि रहानि रहि फिरनहार बसि जाय । अरु सो थल उत्पन्न करि, विरतिभाव सुखदाय ॥१६९॥
देखत पुरुष विलास हिय, ऐसे ही उपजाय । उत्तम राज्यहिं त्यागि निज, बसौं यही थल आय ॥१७०॥
इहिं विधि उत्तम शुद्ध थल, तिहिं ठिकान नरभूप । नयनन तें प्रत्यक्ष ही, देखत ब्रह्मस्वरूप ॥१७१॥
औरहु एक लखा तजौ, साधक बसै सुजान । अरु जनता की भीड़ तहँ, लगै नहीं मतिमान ॥१७२॥
सदा मधुर फल लाग, अमृत सदृश मूल फल । पार्थ परम सुख भाग, ऐसे सुतरु समूह तहँ ॥१७३॥
उत्तम वर्षा काल बिन, अति निर्मल नरनाह । सुलभ तहाँ सब कहँ उदक, पग-पग वारि प्रवाह ॥१७४॥
सौम्य सूर्य आतप रहै, तिहिं थल अर्जुन धीर । जानहु शीतल मन्द अति, निश्चल बहै समीर ॥१७५॥
बहुतक शब्द न होय तहँ, श्वापद बहु न चलाहिं । भृङ्ग पुंज शुक पक्षि के, कछु के बोल सुहाहिं ॥१७६॥
जहाँ बदक अरु हंस पुनि, सारसहू दो चार । कबहूँ कोयलहूँ करै, कुहू कुहू कुहुकार ॥१७७॥
आवत जावत रहत तहँ, बसत निरन्तर नाहिं । रहि मयूर तहँ मैं कहत, नहीं कहत तिहिं नाहिं ॥१७८॥
आवश्यक पै पार्थ यह, लखि के विधि इहि ठाँव । तहाँ शिवालय या गुफा, रचिये जो मन भाव ॥१७९॥
गुफा शिवालय दोउ मधि, चित्त जाहि मुदमान । बसिये वहां एकान्त महँ, अर्जुन ताहि ठिकान ॥१८०॥
बहुरि जानि सुविधा सकल, मन लागत की नाहिं । चित्त लगत लखि इमि रचै, आसन तहाँ सुचाहि ॥१८१॥
साग्र दर्भ पर श्रेष्ठ मृग, कृष्ण चर्म तहँ धारि । धौत वस्त्र की करि घड़ी, ऊपर धरै सँवारि ॥१८२॥
कोमल सम कुश रीति नर, आसन लेय बनाय । आपहिं रहे सुबद्ध जिमि, बिलग नहीं ह्वै जाय ॥१८३॥
आसन ऊँचा होय यदि, डोलहिं, अंग परन्तु । यदि नीचा हो जाय तो, भूमि दोष अत्यन्तु ॥१८४॥
तातें समथल माँहि धरु, करहु न तेहि विपरीति । आसन की करु योजना, अर्जुन ऐसी रीति ॥१८५॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अर्थ—आसन बसि एकाग्र मन, चित्तेन्द्रिय को जीत ।
आत्मशुद्धि हित तहँ करहु, योगाभ्यास पुनीत ॥१२॥

आपुन अन्तःकरण करि, तहँ एकाग्र सुजान । अरु सद्गुरु को सुमिरि के, अनुभव करु मतिमान ॥१८६॥
सादर सुमिरि सबाह्य भरि, सात्त्विक तव पर्यन्त । अहंभाव की कठिनता, जबलौं होय न अन्त ॥१८७॥
इन्द्रिय की कसमस मुरैं, विषय पड़ैं बिसराँय । हृदय माँहि मन की घरी, पार्थ धरैं घरियाय ॥१८८॥
ऐक्य सहज ऐसे मिलै, तब लगि तहाँ रहाय । अरु पावै मन बोध जब, आसन माँहि बसाय ॥१८९॥
नतरु अंग तें अंग धरि, प्राणायाम धराय । ऐसी विधि तें प्राप्त हो, अनुभव को प्रगटाय ॥१९०॥
कर्म-प्रगति लौटे तहां, उतरि समाधि समीप । पूर्ण होय अभ्यास सब, बैठत मात्र महीप ॥१९१॥
अब मुद्रा की प्रौढ़ता, बरनौं तिहिं सुन लेहु । अर्जुन जंघामूल महँ, ऐंडी को धरि देहु ॥१९२॥
एक चरण तल इक चरण, डिवढ़ करैं धनुधार । सुस्थिर दृढ़ सरकाय के, अर्जुन गुद के द्वार ॥१९३॥
दाहिन पग नीचौ करैं, सींवन मध्य दबाय । वा सीधो पग सहज ही, धरैं ताहि पर लाय ॥१९४॥
गुदा शिश्न के मध्यथल, चतुरांगुल जो होय । आदि अन्त समभाग तजि, मध्य दाबिये सोय ॥१९५॥
इक अंगुल थल मध्य तहँ, ऐंडी उत्तरभाग । दाबि अंग निज तोलिये, भलीभांति बड़ भाग ॥१९६॥
देह उठै जानै न अस, तिमि पृष्ठान्त उठान । घुटना द्वौ धरनी धरैं, तुलै ताहि के मान ॥१९७॥
अरु शरीर अर्जुन सकल, निश्चय सदा अशेष । पार्ष्णी के ही अग्र पर, स्वतः सिद्ध वीरेश ॥१९८॥
अर्जुन आसन को समझ, मूलबंध यह नाम । गौण नाम वज्रासनहु, याको पूरण-काम ॥१९९॥
अधोमार्ग रुकि जाय, इहि विधि आसन के किये । आँत आँत ते जाय, रहि अपान ह्वै संकुचित ॥२००॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

अर्थ—साधक सम शिर ग्रीव थिर, करि धरि अचल शरीर।
नासिकाग्र केवल लखै, दिशा लखै न सुधीर ॥१३॥

संपुट कर करि सहज तब, दाहिन पग पर लाय। तब ऊँचेपन में दिखत, बाहूमूल नरराय ॥२०१॥
दंड मध्य थिर ऊँच रहि, गड़ो सदृश शिर होय। परसन लागै पलक जो, नयन कपाटहु सोय ॥२०२॥
नीचे की पलकें पसरि, ऊपर की झुकि जायँ। नेत्रों की थिति अधखुली, ताकी तहँ उपजायँ ॥२०३॥
दृष्टि भीतरी ओर रहि, बाहर किंचित आय। मात्र पड़ै नासाग्र पर, इत उत कछु न दिखाय ॥२०४॥
ऐसे भीतर भीतरहि, रहै न बाहर आय। तातें दृष्टिहु अधखुली, सो नासाग्र रहाय ॥२०५॥
अब देखहु कौनहु दशा, अथवा लखौ स्वरूप। नासै आपहि आपहीं, यह इच्छा नरभूप ॥२०६॥
अरु झुकाय गल की नली, चिबुकहिं बहुरि झुकाय। दृढ़ता करिके दाबिये, वक्षःस्थल महँ लाय ॥२०७॥
दिखत न जबही कंठमणि, इहि विधि मुद्रा रोपि। जालंधर ताको कहैं, अर्जुन मुनिवर सोऽपि ॥२०८॥
उदर सपाट बनाय, नाभिकुण्ड फूलत उपरि। ऐसी विधि सुखदाय, हृदयकोश भीतर पसरि ॥२०९॥
गुदा द्वार के ऊपरी, नाभीतल सम्बन्ध। बन्ध होय तिहिं पार्थ कहि, मुनि उडियान सुबन्ध ॥२१०॥
देह बाहिरी ओर इमि, पसर पड़ै अभ्यास। मनोधर्म को बल मुड़ै, अन्तरंग सब तासु ॥२११॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अर्थ—योगी अभय प्रसन्नचित, ब्रह्मचारि-व्रत धारि।
मन संयम करि चिन्तवत, मुहिं मत्पर, धनुधारि ॥१४॥

सकल कामना नाश लहि, शमन प्रवृत्ती होय। सहज आपही आप लहि, मन विरामता सोय ॥२१२॥
कहा भूख कों ह्वै गयो, नींद गई किहिं कोर। बिसरत ताकी सकल सुधि, दिखत न काहू ओर ॥२१३॥
कीजे बंद अपान को, मूलबंध को तान। तो लौटे संकुचित ह्वै, फूले तुरत सुजान ॥२१४॥
क्षुभित होय अति तीव्र गति, जो थल अहै प्रशस्त। लिंग चक्र में जाय के, रहि रहि भ्रमरै व्यस्त ॥२१५॥

अरु इमि चलि गुद वायु सब, खोजत उदर मंझार। बाहर काढ़त बालपन, को सब मैल विकार ॥२१६॥
कोठहु करि संचार, केवल ऐंठन उदर धरि। नाशत सकल विकार, अरु ठिकान कफ पित्त के ॥२१७॥
धातु समुद्र उलंघि करि, फोरत मेद पहार। अन्तर मज्जा अस्थिगत, काढ़त लगत न वार ॥२१८॥
सो नाड़ी को देत तजि, करत शिथिल सब गात। साधक को डर देत परि, डरै न तासों तात ॥२१९॥
उपजावत है व्याधि परि, तिहिं नाशै पुनि साथ। पृथ्वी अरु जलतत्त्व को, मेल करत इक साथ ॥२२०॥
अरु इत आसन उष्णता, कहा करत धनुधारि। जगै शक्ति कुण्डलिनि की, बरनौं सुनो विचारि ॥२२१॥
कुंकुम से अन्हवाय जिमि, नागिन सुत सुकुमार। गुड़ीमार सोवत रहै, जैसे सेज मँझार ॥२२२॥
कुँडलिनी छोटी तहाँ, सार्ध तीन वल होय। सर्पिणि सम सोवत अहै, नीचे मुख कर सोय ॥२२३॥
दामिनि लता समान अरु, ज्वालापुँज कृशानु। शुद्ध स्वर्ण पिघलाय जिमि, चमचमात तिमि जानु ॥२२४॥
जो सुबन्ध को कसि रही, नाभीकुण्ड डटाय। वज्रासन तें चिमिटि के, सो जागृत ह्वै जाय ॥२२५॥
सूर्यासन विचलाय, जो हत तेज नक्षत्र इव। ऊगि प्रकाश कराय, तेज बीज अंकुरन ते ॥२२६॥
गुड़ी सहज तिमि त्यागि अँग, आलस दूर कराय। नाभिकुण्ड महँ कुंडलिनि, उठी भई दरशाय ॥२२७॥
सहज बहुत दिन की क्षुधित, जागृति हेतु विचारि। अरु ठाढ़ी आवेश करि, ऊपर वदन पसारि ॥२२८॥
हृदय कमल तल पवन जो, भरी तहाँ धनुधार। सो सब को भक्षण करै, तनिक न लावै वार ॥२२९॥
निजमुख ज्वाला ते तहाँ, हृदय कमल तल ठौर। भखन लगै तब मांस के, अर्जुन करि के कौर ॥२३०॥
जो ठिकान में मांस तिहिं, सहजहिं कौर मिलाय। अरु तब हियहू को भखै, इक दो कौर भराय ॥२३१॥
शोधै पगतल हाथतल, भेदि ऊपरी खण्ड। अरु संधिस्थल अंग प्रति, भेदे रीति अखण्ड ॥२३२॥
अधोभाग हू नहिं तजत, नख को सत्व निकारि। त्वचा धोय जड़ि देत है, पांजर तें धनुधारि ॥२३३॥
अस्थि-नली को काढ़ि रस, शिरा भीतरे धोइ। रोम बीज की वृद्धि को, बाहर रोके सोइ ॥२३४॥
अर्जुन शुष्क कराय, अरु सब तन रस सोखि के। पीके प्यास बुझाय, सप्त धातु के सिन्धु को ॥२३५॥
नासापुट में श्वास जो, बारह अंगुल जात। तिहिं चिंचिया के भीतरे, ठेलि देत है तात ॥२३६॥
ऊपर चढ़ै अपान अरु, नीचे उतरे प्रान। उभयालिंगन मधि रहे, चक्र ठांव अनुमान ॥२३७॥

जब द्वौ प्राणापान मिलि, क्षणिक शक्ति घबराय। सो तिन्ह तें जनु कहत तुव, कहा काम इत आय ॥२३८॥
इहिं विधि पार्थिव भाग सब, खाय न राखै शेष। नीरभाग सब शोषि के, पूछत वचन विशेष ॥२३९॥
ऐसे दोनहु तत्त्व भखि, तबहिं पूर्ण ह्वै तृप्त। नाड़ि सुषुम्ना पास बसि, सौम्य रूप धरि व्यस्त ॥२४०॥
गरल वमन करि निज मुखहिं, तृप्ति पाय तिहिं ठाँव। रक्षा पावैं प्राण तब, तिहिं विष सुधा प्रभाव ॥२४१॥
अन्तर तें विष अग्नि कढ़ि, बाह्य शमन करि दाह। तब बीती सामर्थ्य अँग, मुनि पावै नरनाह ॥२४२॥
नवविधि की जे वायु अरु, नाड़ी मार्ग रुकायँ। तातें तनुके धर्म सब, नाहीं-से ह्वै जायँ ॥२४३॥
सबही तें फट जायँ, षट चक्रों के पुर तजे। तीनों गांठ छुटायँ, इडा पिङ्गला एक ह्वै ॥२४४॥
इडा पिंगला नाम जो, चन्द्र सूर्य अनुमान। दीपक लै ढूंढहु दुहुन, तदपि न मिलैं सुजान ॥२४५॥
ज्ञानकला रुकि बुद्धि की, जो नासिका सुवास। कुंडलिनी तें जात सब, नाड़ि सुषुम्ना पास ॥२४६॥
ऊपरि लगि धीरोध का, चन्द्रामृत तल माँहि। स्रवत अमृत एकांग ह्वै, कुण्डलिनी मुख जाहिं ॥२४७॥
नलिका रसभरि करि तबै, सब अँग मधि संचार। जहँ को तहँ रहि प्रविशि के, प्राणपवन आधार ॥२४८॥
साँचा माँहि तपाय जिमि, रस डारै पिघलाय। मोम जरे रस जाय रहि, कांतिवरन ह्वै जाय ॥२४९॥
कान्ति केर अवतार जिमि, तिमि शरीर आकार। ओढ़ि ओढ़िनी सम त्वचा, ऊपर तें धनुधार ॥२५०॥
जैसे जलधर आड़ करि, सूर्य ढंक्यो रहि जाय। पुनि धाराधर दूरि धरि, तेजवन्त दरशाय ॥२५१॥
ऊपर ते तन की त्वचा, पपड़ी सम ह्वै जोय। कौंडा सम झरि जात सो, काया निर्मल होय ॥२५२॥
देखि परत नरभूप, तासु देह की कांति इमि। बीजांकुर मणिरूप, केशर सम रँग लखिय रस ॥२५३॥
संध्याकालिक गगन रँग, काढ़ि बनायो अंग। किधौं बनायो देह को, अन्तर्ज्योति सुरंग ॥२५४॥
कुंकुम ते भरवाय के, अमृत रस तें ढार। मोको ऐसो लखि परत, शान्ति स्वरूप उदार ॥२५५॥
आनँद चित्र सुरंग वा, परब्रह्म सुखरूप। रोप विटप सन्तोष को, यूंहि भासत नरभूप ॥२५६॥
कलिका चम्पक स्वर्ण की, पुतली अमृत स्वरूप। मुहिं भासत बहु मृदुलता, की बहार बहुरूप ॥२५७॥
शरद पूर्णिमा चन्द्र की, शोभा पसरि अपार। की आसन पर तेज बसि, मूर्तिमन्त तनुधार ॥२५८॥
कुंडलिनी शशिरस पियैं, तब तिमि होय शरीर। अरु कालहु लखि खाय भय तन आकृति तिमि धीर ॥२५९॥

गांठ खुलै तरुनाइ की, लौटि बुढ़ापौ जाय । लुप्त भई जो शिशुदशा, सो पुनि प्रगटे आय ॥२६०॥

देखत में वय लघु तदपि, अधिक पराक्रम होय । बाल अर्थ बल अधिक अति, धैर्य अनूपम सोय ॥२६१॥

नित नवरत्न-समान, स्वर्ण विटप पल्लव कली । लखत सतेज प्रमान, नख तिमि उत्तम निकरि नव ॥२६२॥

दंतहु पंक्ति अपूर्व ही, छोटे से दुहुँ ओर । जनु हीरा की पंक्तियां, चमचमात चहुँ ओर ॥२६३॥

सर्व अंग को रोम प्रति, मणि कणिका सम पार्थ । रोम अग्र उपजैं सहज, अणुकण तेज यथार्थ ॥२६४॥

अरुण कमल सम कर चरण, के तलुवे दरशात । बहुत कहौं का नयन दुहुँ, स्वच्छ शुभ्र ह्वै जात ॥२६५॥

सीपी संपुट जाय खुलि, मोती पक्व दशाहिं । सीपी पल्लव की सियनि, जिमि सहसा उघराहिं ॥२६६॥

नहिं समाति है दृष्टि तिमि, पलक पल्लवन माहिं । व्यापक बनि बाहर कढ़ै, अर्द्ध खुली नभ जाँहि ॥२६७॥

अर्जुन सुनिये देह की, कांति स्वर्ण सम जोइ । पै हलकोपन पवन को, अंश न छिति अप होय ॥२६८॥

अरु समुद्र उहिं पार लखि, स्वर्ग सलाह सुनाय । चींटी के मन भाव की, बात ताहि समझाय ॥२६९॥

सो समीर के बाज चढ़ि, जल चल लगै न पायँ । औरहु सिद्धि अनेक बहु, मिलैं प्रसंगहि पाय ॥२७०॥

करैं पाँयरी काय, सुनहु प्राण को हाथ गहि । हृदयाकाशहिं जाय, जीना मध्या नाड़ि तें ॥२७१॥

सुन्दरता जीवात्म की, कुंडलिनी जगदम्ब । जगद् बीज ओंकार पर, छाया करि अविलम्ब ॥२७२॥

सम्पुट शिव परमात्म की, निराकार साकार । जन्मभूमि तिहिं जानिये, जो केवल ओंकार ॥२७३॥

कुंडलिनी कोमल परम, जब हिय में प्रविशाय । तब अखंड अर्जुन करैं, प्रणव-ध्वनि हरषाय ॥२७४॥

कुंडलिनी अँग संग ते, बुधि चेतनता पाय । धीरे धीरे बुद्धि को, किंचित् शब्द सुनाय ॥२७५॥

कुण्ड शब्द के नाद वपु, प्रणव केर आकार । मानहु तहँ प्रगटत भये, जिमि सचित्र ओंकार ॥२७६॥

यह जानो करि कल्पना, करै कल्पना कौन । पै हिय में ध्वनि गर्जना, होत न जानत तौन ॥२७७॥

अर्जुन बिसरी बात इक, सो भाषत हौं वीर । जो लौं नाश न पवन हिय, तो लौं नाद गँभीर ॥२७८॥

जब ध्वनिरूपी मेघ को, गर्जन हिय आकाश । ब्रह्मरन्ध्र की तब खुलै, खिरकी बिन आयास ॥२७९॥

दूजो महदाकास, कमल गर्भ आकार हिय । आपन अधर निवास, सुनहुँ करै चैतन्य तहँ ॥२८०॥

कुण्डलिनी परमेश्वरी, हिय गुप्तस्थल माँह । तेजस्वरूपी सुहनि को, अर्पण करि नरनाह ॥२८१॥

देखि परत नहिं द्वैत तहँ, तैसो करत बनाय। शाक राँधि के बुद्धि की, भल नैवेद्य लगाय ॥२८२॥
कुंडलिनी निज कांत तजि, केवल पवन रहाय। कैसी लागै ता समय, सो मैं कहौं सुनाय ॥२८३॥
जिमि पुतली रहि पवनकी कंचन वसन सँवारि। पुनि तिहिं तजि तहँ जिमि रहै तिमि लखिपरत निहारि ॥२८४॥
अथवा वायु झकोर तें, दीपक ज्योति नशाय। किंवा दामिनि दमकि नभ, पुनि नभ माँहि समाय ॥२८५॥
हृदय कमल पर्यन्त जिमि, स्वर्ण सलाक दिखात। वा प्रकाशयुत जल झरन, अर्जुन बहत लखात ॥२८६॥
अरु हिय की मृदु भूमि में, एक बेर प्रविशाय। शक्तिरूप तिमि शक्ति में, तैसे जाय समाय ॥२८७॥
कहिये ताको शक्ति वा, जानिय केवल प्रान। नाद बिन्द ज्योती कला, तहाँ न रहत सुजान ॥२८८॥
कछु न रहत विचार, सादर धरौं ध्यान यह। मैं समीर आधार, अथवा मन जीते रहौं ॥२८९॥
करौं कल्पना वा तजौं, यह नहि रहत सुजान। महाभूत की सत्यहू, निर्मलता पहिचान ॥२९०॥
ग्रसन पिंड को पिंड तें, यहै नाथ सिद्धान्त। महाविष्णु वर्णन कियो, सोई आद्योपान्त ॥२९१॥
ध्वनि की गठरी छोरि लई, धरी झराय यथार्थ। ग्राहक श्रोता जानि के, मैं विस्तार्यो सार्थ ॥२९२॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अर्थ—सदा आत्मरत जीति मन, योगी इहिं विधि होय।
परम शान्ति निर्वाणमय, प्राप्त होत तिहिं सोय ॥१५॥

सुनहु शक्ति को तेज जब, लोपै तन न दिखाय। चर्म चक्षु तें जगत के, योगी लख्यो न जाय ॥२९३॥
यद्यपि तन अवयव सहित, यथापूर्व अनुरूप। पै तन केवल पवनमय, पावत परम अनूप ॥२९४॥
अथवा कदली खाम जिमि, छाल त्यागि रह जाय। किंवा अवयव गगन को, उदय भयो भरराय ॥२९५॥
ऐसो होय शरीर सो, नभगामी कहि जाय। चमत्कार तिहिं रूप को, लखै जगत समुदाय ॥२९६॥
योगी चलि जावै जहां, पगरेखा बनि जाय। अणिमादिक जे सिद्धि बहु, ठाँव-ठाँव प्रगटाय ॥२९७॥
देहहि भाँति मिलाँहि, चिति अप तेज त्रिभूततन। तिन सिद्धिन्ह के माहि, अर्जुन ग्रुम निजकाज का ॥२९८॥

नीरतत्त्व में छिति गलत, अग्नि सुखावत वारि। वायु बुझावति अग्नि को, योगी-हिये मँझारि ॥२९९॥
केवल रहे समीर को, तत्त्व देह आकार। अरु कालान्तर तें मिलै, सो नभ माँहि उदार ॥३००॥
कुंडलिनी अस नाम तजि, होय वायु मय नाम। जब लौं मिलै न ब्रह्म में, तबलौं रहि परिनाम ॥३०१॥
जालन्धर बँध त्यागि के, फोरे कंठ स्थान। ब्रह्मरन्ध्र जो गगनगिरि, पैठै तहाँ निदान ॥३०२॥
ओंकार की पीठ पर, देय वेग ही पाँय। अरु पश्यन्ती नाम की, सीढ़ी पर चढ़ि जाय ॥३०३॥
अर्धचन्द्र मात्रा बहुरि, तजि आकाश मँझार। जावै सरिता उदधि जिमि, तैसे जाय उदार ॥३०४॥
अरु थिर ह्वै मस्तक विवर, सोऽहं बाहु पसार। परब्रह्म के चिन्ह में, होवै एकाकार ॥३०५॥
ऐक्य होय शिव शक्ति, नशि परदा भूत महान। अरु आकाश समेत सो, लीन होत मतिमान ॥३०६॥
जा करि पुनि बरसाय, जिमि समुद्र जल मेघमुख। अर्जुन जाय समाय, पुनि सरिता ह्वै सिन्धु में ॥३०७॥
अर्जुन देह निमित्त तें, ब्रह्म ब्रह्मपद पाय। जिमि जल जल तें जाय मिलि, तिमि सतत्त्व ह्वै जाय ॥३०८॥
अब मैं अरु आत्मा पृथक्, किंवा दोनहुँ एक। ऐसी तहाँ विकल्पना, रहत न एक अनेक ॥३०९॥
गगन गगन में होय लय, ऐसी जो इक बात। ताको जो अनुभव लहै, सिद्ध होत सो तात ॥३१०॥
तातें कैसहु शब्द के, हाथ न अनुभव बात। संवादहि के गाम में, जातें प्रविशिय तात ॥३११॥
अर्जुन सत्यहिं गर्व धरि, कहन हेतु अभिप्राय। सो भी वाणी वैखरी, कहि न सकै दुरि जाय ॥३१२॥
अन्तर बाजू भ्रुकुटि के, नहिं तुर्या प्रविशात। संकट पावत प्राणहू, नभहिं अकेले जात ॥३१३॥
अन्तर भ्रू प्रविशै पवन, तदाकार ह्वै जाय। शब्द दिवस को अस्त ह्वै, गगन नाश को पाय ॥३१४॥
अब खोजत अव्यक्त थिति, गगन न पावत थाह। तहां शब्द की शक्ति कहँ, थाह लहै नरनाह ॥३१५॥
सत्य विचार सुनाय, सो अयोग्य अर्जुन कहौं। वा श्रुति तें सुनि जाय, बहुरि अक्षरों ते कहै ॥३१६॥
दैवयोग तें प्राप्त करि, अनुभव लह्यो सुजान। तबहिं पाय तद्रूपता, सो ह्वै रहहु प्रमान ॥३१७॥
अंतर जानन जोग नहिं, बहुत कहौं किमि ताह। अधिक बोलबो है वृथा, सुन धनुधर नरनाह ॥३१८॥
शब्द मात्र पीछे रहैं, सब संकल्प नसाँय। अरु विचार की बात तहँ, अर्जुन कहुँ न रहाय ॥३१९॥
उन्मनि की लावण्यता, जो तुर्या तारुण्य। ब्रह्म स्वरूप अनादि जो, माप न जाय अगण्य ॥३२०॥

सकल विश्व को मूल जो, योग विटप फल जान । जो केवल आनन्द को, जीवन रूप महान ॥३२१॥
जो सीमा आकाश की, और मोक्ष एकान्त । लय को पावत है तहाँ, अर्जुन आदिहु सान्त ॥३२२॥
सो मेरो निज रूप जो, महाभूत को हेतु । महातेज को तेज है, इमि वरनत श्रुतिसेतु ॥३२३॥
जब देखौं भक्तन छलत, नास्तिक मूढ अजान । चतुर्भुजा साकार ह्वै, प्रगटौं शोभाखान ॥३२४॥
सुख स्वरूप निज जान, अनिर्वाच्य सुख को महा । लहि नर यत्न महान, प्राप्ति हौन पर्यन्त करि ॥३२५॥
जो साधन हम कहत तिहिं, करै देह ते जोय । योग पूर्णता ते बनें, मम समान ही सोय ॥३२६॥
देहाकृति साँचा मनहु, परब्रह्म रसपूर । देखि परत हैं अंग तिहिं, ऐसे अर्जुन शूर ॥३२७॥
यदि अस अनुभवहोय हिय विश्व असत लखिजाय । सुनि अस अर्जुन कहत प्रभु यह सब सत्यहिं आय ।३२८।
देव अबहि आपहि कह्यो, मोतें जौन उपाय । ब्रह्म प्राप्ति को ठाँव है, तासौं ब्रह्महि पाय ॥३२९॥
निश्चय पावत ब्रह्म पद, करि के दृढ़ अभ्यास । बरनौ याकी रीति मैं, समझि करौं विश्वास ॥३३०॥
देव कथन तुव सुनत ही, चित उपजावत ज्ञान । अरु अनुभव तल्लीनता, तेन होय किमि जान ॥३३१॥
तातें आपुन कथन में, मिथ्या कछू न बात । पर क्षणभर प्रभु चित्त दैं, सुनहु कहौं मैं तात ॥३३२॥
कियो निरूपण योग जो, सो उत्तम मन आय । हीन योग्यता पाय निज, करि न सकौं यदुराय ॥३३३॥
यदि सिध होवे काम, सहज यत्न तें शक्तिभर । अभ्यासहु घनश्याम, सुख उपाय के मार्ग तिहिं ॥३३४॥
किंवा प्रभु जिमि कहत तिमि, यदि मोसों ना होय । तो जो हो विन योग्यता, मोकों कहिये सोय ॥३३५॥
अस इच्छा मनमें भई, तातें कहहु विचार । योग्य जानिके मोहि प्रभु, दीजै उचित अधार ॥३३६॥
साधन सब प्रभु सों कथित, मैं सुनि लिये सराहि । जो चाहै अभ्यास करि, सकै प्राप्त कर ताहि ॥३३७॥
किंवा प्राप्त न हो सकै, सो योग्यता सिवाय । अर्जुन तें सब कहत प्रभु, ऐसे बोलत काय ॥३३८॥
यह अभ्यास सुमोक्षप्रद, सत्य जानिये आर्य । विन योग्यता न ह्वै सकै, साधारणहु कार्य ॥३३९॥
जाको भाषैं योग्यता, जानि प्राप्ति आधीन । आरम्भत ही फल मिलै, करु बनि योग्य प्रवीन ॥३४०॥
निश्चय कछु अड़चन नहीं, तिहिं अभ्यास ठिकान । अरु न होत है योग्यता, की अर्जुन कहिं खान ॥३४१॥
कर्म विहित में नियत अरु, क्षणिक विरक्त विचारि । और व्यवस्थित पुरुषहु, किमि न होय अधिकारि ॥३४२॥

इत योग्यता सुजान, युक्तिमध्य इच्छा तुमहिं । दूर कियो भगवान, अर्जुन कष्ट प्रसंग इमि ॥३४३॥
अहै व्यवस्था इमि कही, अर्जुन तें भगवान । रहित व्यवस्था मनुज को, सदा अयोग्यहिं जान ॥३४४॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

अर्थ—अति खावै, खावै नहीं, अर्जुन साधक कोइ ।
अति सोवै अथवा जगै, तासों योग न होइ ॥१६॥

जो जिह्वा के वश भयो, वा निद्रा आधीन । अधिकारी सो योग को, कह्यो न जात प्रवीन ॥३४५॥
आग्रह के आवेश तें, क्षुधा तृषा को मार । अथवा मारै तोरि के, अर्जुन निज आहार ॥३४६॥
जात न निद्रापंथ ते, दृढ करि के अभिमान । तन तासु आधीन किमि, साधै योग महान ॥३४७॥
अधिक विषय सेवन करै, अतिशय करै निरोध । सेवन त्यागन दुहुँन को, अतिशय कठिन विरोध ॥३४८॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अर्थ—योग सधै तब दुःखहर युक्ताहार-विहार ।
युक्त नींद अरु जगब जब, युक्त कर्म, आचार ॥१७॥

युक्ति सहित तिहिं माप करि, सेवन करै आहार । क्रियामात्र आचरहु तिमि, युक्ति सहित धनुधार ॥३४९॥
नियमित ही व्यायाम करि, वचन बोलिये नाप । उचित समय निद्राहु को, मान दीजिये आप ॥३५०॥
अरु कीजै जागरनहू, नियमित ह्वै धनुधार । सप्त धातु रक्तादि जे, साम्य करहिं संचार ॥३५१॥
दीजै युक्ति विचार, इन्द्रियगन को खाद्य इमि । वृद्धि होय धनुधार, तन मन में, सन्तोष की ॥३५२॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अर्थ—नियत चित्त एकाग्र थिर, जाको आत्म ठिकान।
अरु निरीह सब काम सों, युक्त कहत तिहिं जान ॥१८॥

इन्द्रिय थिति बाहर नियत, अन्तर सुख उपजाय। विना किये अभ्यास तिहिं, योग सहज बनि जाय ॥३५३॥
जिमि भाग्योदय के भये, उद्यम को मिष पाय। अरु समृद्धि कुल आपही, घर आवै सुखदाय ॥३५४॥
युक्तिवन्त तिमि कौतुकहिं, चलै पन्थ अभ्यास। आत्मसिद्ध अनुभव लहै, अर्जुन बिन आयास ॥३५५॥
अतः पार्थ यह युक्ति लहि, भाग्यवान नर जोइ। मोक्षराज्य महँ वास करि, परम सुशोभित होइ ॥३५६॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतोयोगमात्मनः ॥१९॥

अर्थ—जैसे दीप निवातथल, हलत न उपमा जोइ।
आत्मविषय के योग महँ, दिसत योगि में सोइ ॥१९॥

योगयुक्त को मेल इमि, श्रेष्ठ प्रयाग बनाय। तिहिं थल जबलौं देह है, अर्जुन रहै थिराय ॥३५७॥
योगयुक्त तिहिं कहहु तुम, यह अनुरोध प्रसंग। जो निवात थल में कही, उपमा दीप अभंग ॥३५८॥
अब तुम्हरो मन भाव लखि, कहौं कछुक इक बात। सो नीके चित देय करि, सुनहु ताहि को तात ॥३५९॥
दच्छ न पर अभ्यास, चाह ब्रह्म के प्राप्त की। मन महँ करत उदास, कठिनपने की भीति तुम ॥३६०॥
अर्जुन डरहु कदापि नहिं, मन में गनि आयास। दुर्जन इन्द्रिय व्यर्थ इहिं, कहतीं हौआ भास ॥३६१॥
देखु आय जो थिर करत, जीवन राखत पूरि। रिपु सम देखत जीभ जो, औषध जीवनमूरि ॥३६२॥
इमि अति हित जो जो भले, नित इन्द्रिय दुखदाय। यौं अनुकूल सुयोग के, सुलभ न कोउ उपाय ॥३६३॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

अर्थ—योग सेय संयमितचित, जहाँ विरति को पाय।

आपहि आप ठिकान जहँ, तुष्ट स्वरूप लखाय ॥२०॥

जो अनन्त, मतिभोग्य सम, सुख इन्द्रियन लहाय।

अनुभव ते जहँ थिर भयो, चलि न तत्त्वसों जाय ॥२१॥

अतः प्रबल अभ्यास वर, मैं आसन समुझाय। तिहिं प्रभाव इन्द्रियन को, सहज रोध ह्वै जाय ॥३६४॥
इन्द्रिय-निग्रह योग तें, जब योंही ह्वै जाय। त्योंही आपुहिं आप चित, आत्मसंग लग जाय ॥३६५॥
अरु आपहिं निज ओर लखि, पलटा करि ठहराय। देखत ही पहिचान कहि, तत्त्व मोर इक पाय ॥३६६॥
जानत तिहिं साम्राज्य बसि, सुख सों परम अघाय। अरु आपुन ही एकता, महँ विलीन ह्वै जाय ॥३६७॥
जाके परे न और कछु, जिहिं इन्द्रिय नहिं जान। आपहि आप ठिकान में, आपहि रहै सुजान ॥३६८॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

अर्थ—जिहिं लहि औरहु लाभ कछु, मानत नहिं अधिकाय।

जहँ थित चित विचलित नहीं, दुख महानहु पाय ॥२२॥

अधिक भार पड़ जाय, देह दुख पुनि मेरु ते। चित्त न दबत दृढ़ाय, तदपि तासु दबाव ते ॥३६९॥
अथवा तोरे शस्त्र तन, वा कृशानु लगि जाय। चित्त महा सुख शयन करि, जागै नहीं स्वभाय ॥३७०॥
आत्मरूप महँ प्रविशि निज, देह आस न लखाय। अनिर्वाच्य सुख रूप ह्वै, सहज बिसरि सब जाय ॥३७१॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

अर्थ—दुख संयोग वियोग जो, योग नाम तिहिं जान।

करब मुदितमन ताहि को, साधक निश्चय मान ॥२३॥

इच्छा चिन्तन मनहि की, जो गुंथी संसार। जिहिं सुखके माधुर्य तें, त्याग सकल पसार ॥३७२॥

जो सुन्दरता योग की, अरु सन्तोष सुसाज। जानकारि जिहिं हेतु है, ज्ञानकेर नरराज ॥३७३॥
सो अभ्यास प्रभाव तें, देखि परत साकार। देखन हारो देख लहि, तद्रूपता उदार ॥३७४॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अर्थ—संकल्पज सब कामना, त्यागि देय निःशेष।
सब इन्द्रिय सब ओर तें, मन तें जीति नरेश ॥२४॥

योग सुलभ इक विधि अहै, अर्जुन जासु प्रभाव। पुत्रशोक संकल्प लखि, कामादिकहिं नसाव ॥३७५॥
सुनि लय पाये विषय सब, इन्द्रिय नियमित रूप। हृदय विदरि संकल्प को, जीवन तजै अरूप ॥३७६॥
इहि विधि लहि वैराग्य दृढ़, अरु संकल्प नसाइ। सुखसों धीरज महल महँ, नाँदै बुद्धि अघाइ ॥३७७॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

अर्थ—शनैः शनैः मति धीर धरि, आतम माँहि थिर होय।
मनतें किंचित करहु जनि, चिन्तन अर्जुन सोय ॥२५॥
अस्थिर चञ्चल मन बहुरि, जहँ जहँ जाय सुजान।
तहँ तहँ निग्रह करि वशहिं, लावै आतम ठिकान ॥२६॥

आतम भुवन बड़ भाग, शनैः शनैः करि थापना। मन अनुभव पथ लाग, धैर्याश्रय लहि बुद्धि तब ॥३७८॥
याही एकहिं मार्ग ते, ब्रह्म प्राप्ति हो जाय। होय न यदि, तासों सुलभ, अपर सुनहु चित लाय ॥३७९॥
अब साधक यह नियम इक, आपहि करै विचारि। जैसे होय न अन्यथा, निश्चय करै सँवारि ॥३८०॥
अनायास बनि काम यदि, अस चित थिर निजतंत्र। थिर न होय चित सो तजै, चित को करै स्वतंत्र ॥३८१॥

जहँ स्वतन्त्र बनि जाय पुनि, तहां नियम धरि लेय। तत्कालहिं थिर होय चित, ऐसी विधिसों तेय ॥३८२॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

अर्थ—जो योगी ह्वै शान्तमन, रजोगुणहिं विनसाय।
ब्रह्म स्वरूप अपाप ह्वै, ब्रह्मसुखहिं सो पाय ॥२७॥

नंतर बार अनेक जब, अर्जुन चित थिर जाय। सहजहिं आत्मस्वरूप के, निकट पहुँचि तब जाय ॥३८३॥
ह्वबि द्वैत अद्वैत में, देख ताहि तद्रूप। अरु एकत्व प्रकाश करि, तीन लोक में भूप ॥३८४॥
अभ्र उपजि आकाश में, जब ही अभ्र नसाय। तब जैसे लखि विश्वभरि, शुद्धाकाश दिखाय ॥३८५॥
चित्त विलय ह्वै जात तिमि, सब ह्वै ब्रह्मस्वरूप। ऐसे सुलभ उपाय ते, सुख पावै नरभूप ॥३८६॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

अर्थ—सदा आत्म अभ्यास करि, योगी पातक हीन।
ब्रह्म परसि अत्यन्त सुख, सुख तें लहै प्रवीन ॥२८॥

सुलभ योगथिति धारि, जे संपति सकल्प तजि। पहु देखैं धनुधारि, आत्मप्राप्ति के ते सुसुख ॥३८७॥
जे सुख सगति के भये, परब्रह्म पद आय। जैसे जल में लवण मिलि, छाँडै नहीं स्वभाय ॥३८८॥
जीव ब्रह्म के मिलत ही, मन्दिर ब्रह्मानन्द। दीपमालिका सुख महा, की लखि जग सानन्द ॥३८९॥
ऐसे आपनि पाय तें, योगी उलटि चलाय। अर्जुन यदि यह ना सधै, तो सुनु आन उपाय ॥३९०॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

अर्थ—सर्वभूत मधि आपुहीं, निज में भूत अशेष।
योगयुक्त सर्वत्र सम,-दर्शी सहजहिं पेख ॥२९॥
जो मोमहँ सब भूत लखि, मुहिं देखत सब माँहि।
तासु दृष्टि मैं नसत नहीं, सो न नसत मम माँहि ॥३०॥

सब शरीर में मैं अहो, यामें शंका नाँहि। अरु तिमि मोरे माँहि ये, सकल देह लखि जाहिं ॥३९१॥
ऐसहि भरिकर मिल रहे, ईश्वर अरु संसार। ऐसहि निश्चय करि ग्रहण, बुधि तें ताहि विचार ॥३९२॥
एकनिष्ठ यह भावना, जो अर्जुन थिर होय। तो अभिन्न सब भूत तें, मोहिं भजै जन सोय ॥३९३॥
देखि अनेकी भाव जग, गनै न हिये अनेक। जो केवल सर्वत्र मुहिं, एकहिं जान विवेक ॥३९४॥
अर्जुन वह अरु एक मैं, बोलब वृथा दिखात। जो कछुहूँ नहिं बोलिये, तो मैं ही हूँ तात ॥३९५॥
एक योग्यता जान, जैसे दीप प्रकाश में। रहत योग्यता मान, तिमि वह मो में मैं वहाँ ॥३९६॥
जैसे जल अस्तित्व रस, गगन केर अवकास। तैसे मेरे रूप तें, योगी को वपु भास ॥३९७॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

अर्थ—एकनिष्ठ सब भूत में, रहौं भजै अस जान।
वर्तमान योगी स्ववश, रहै मम रूप ठिकान ॥३१॥

ऐक्य-दृष्टि सर्वत्र जिहिं, सब में मैं लखि जात। जैसे पट में तन्तु इक, पटमय पार्थ दिखात ॥३९८॥
अलङ्कार बहु विधि बनैं, पै सुवर्ण जिमि एक। ऐक्य अचल थिति होय तिमि, योगी करत विवेक ॥३९९॥
जितने तरु के पत्र हैं, तितने तरु न लगाय। रात्रि अज्ञता बीति कै, दिन अद्वैत लखाय ॥४००॥
यदि पंचात्मक तन लह्यो, पुनि कछु केहि प्रतिबन्ध। लहि प्रतीति की योग्यता, मोर ऐक्य सम्बन्ध ॥४०१॥
सब ठिकान जिहिं अनुभवहिं, मम व्यापकपन जान। सो स्वभावतः व्याप्त है, मैं किमि करौं बखान ॥४०२॥
अब शरीर धारण कियो, पै शरीर नहिं होय। तब कैसे वर्णन करौं, याको ऐसे सोय ॥४०३॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्थ—आत्म सरिस सर्वत्र जो, सुख दुख लखै समान ।
अर्जुन सो योगी परम, मान्य लीजिये जान ॥३२॥

अतः अधिक तिहिं किमि कहौं, अथवा आप समान। सदा अखंडित चर अचर, देखै जो मतिमान ॥४०४॥
सकल शुभाशुभ-कर्म, सुखदुःखादि-विकार पुनि । ऐसे जो मनधर्म, दोनों को जानें नहीं ॥४०५॥
अपर सकल वैचित्र्य जो, और विषम समभाव । अवयव ज्यों निजदेह के, मानत आप स्वभाव ॥४०६॥
एक एक करि किमि कहौं, तीन लोक सब जाहि । सब स्वभाव तें मैं अहौं, ऐसे समझत ताहि ॥४०७॥
देहधारि सो सुनु सही, जग कहि सुख दुख भास । परब्रह्म को रूप पै, मुहि ऐसो विश्वास ॥४०८॥
जिहिं समदृष्टि प्रभाव लखि, आपुहिं में जगरूप । अरु आपहिं ह्वै विश्व सब, करि उपासना भूप ॥४०९॥
अति प्रसंग तुम ते कह्यो, या कारण तें पार्थ । साम्य-दृष्टि-सम जगत में, अधिक न कछू यथार्थ ॥४१०॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्थ—साम्ययोग केशव कह्यो, तुम यह मुँहि समुझाय ।
याकी थिति थिर ना दिसै, मन चञ्चलता पाय ॥३३॥
अति चञ्चल बलवान मन, अति अभेद्य भगवान ।
ताको निग्रह वायु सम, अति दुष्कर मैं मान ॥३४॥

अर्जुन कहि अब करि दया, प्रभु कहु समता भाव । पै पूरो नहिं पढ़ि सकैं, मनको चपल स्वभाव ॥४११॥

कैसो मन कितनो बड़ो, देखि न कछु समुझाय। पै मन के व्यवहार को, लघु त्रैलोक्य जनाय ॥४१२॥
कपि की लगै समाधि छिन, इमि किमि सम्भव तात। मोंसे रोके बात कहि, महावात जो जात ॥४१३॥
निश्चय तें मुरझाय, जो मन छल करि बुद्धि तें। देय चुनौती जाय, धैर्य हाथ पर हाथ दै ॥४१४॥
जो विवेक को चकित करि, लाय सँतोषहि पास। बैठे को दशहूँ दिशा, देत भ्रमाय उदास ॥४१५॥
जो निरोध तो उछलि करि, संयम तासु सहाय। सो मन कैसे छाडिहै, भगवन, आप स्वभाय ॥४१६॥
अतः एक मन अचल रहि, पुनि मुहिं साम्य मिलाय। पै विशेष कहि अगम है, मन चंचल अधिकाय ॥४१७॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अर्थ—चल मन निग्रह अस कठिन, अर्जुन शंका नाँह।
अभ्यासरु वैराग्य तें, गहिय सुभद्रानाह ॥३५॥

कृष्ण कहत तब, पार्थ तुम, जो बोलत सो साँच। यह मन चपल स्वभाव अति, सबहि नचावत नाच ॥४१८॥
बाहि विरागाधार तें, पंथ लाय अभ्यास। ते बीते कछु काल के, थिरै पाय अवकास ॥४१९॥
यह इक गुन मन रीझि जहँ, जावै तासु ठिकान। तातें सहजहिं आत्मसुख, मैं लगाय मतिमान ॥४२०॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्थ—करै न मन निग्रह कठिन, अनियत मन जन जान।
यतचेता तो यतन तें, पावै योग महान ॥३६॥

यों तो जिहिं वैराग्य नहिं, चलत न पथ अभ्यास। वश न होत मन ताहि को, किमि न करौं विश्वास ॥४२१॥
चलै न पथ यम-नियम के, चिन्तै नाँहि विराग। विषयनीर में जाय के, डूबि सहित अनुराग ॥४२२॥
युक्ति नियमन मन नाँहि, अरु जो लंपट विषय को। कैसे वरनौं ताहि, तिहिं मन निश्चल होय किमि ॥४२३॥

मन निग्रह हो जाय जिमि, अस उपाय जो आहि। ताको तू आरम्भ पुनि, लखौं न किमि ह्वै जाहि ॥४२४॥
बहुरि योग साधन जिते, तितने सब किमि हेय। पै आपनि अभ्यासहीं, नहीं कहौं कौन्तेय ॥४२५॥
कैसहु मन चञ्चल तदपि, योगशक्ति जो अंगु। महातत्त्वहू सकल जे, रहि स्वाधीन अपंगु ॥४२६॥
अर्जुन तब कहि ठीक यह, देव कहत न चुकाय। सत्य योगबल सामुहें, मन बल रहै न ठाय ॥४२७॥
कैसे जानौं योग कस, अबलौ जान्यौं नाहिं। बहुरि अजित मन को समुझि, भ्रमवश रहौं सदाहि ॥४२८॥
यह अब इतनी आयु में, नाथ तुम्हार प्रसाद। परिचय पायौ योग को, आजहिं मिट्यो विषाद ॥४२९॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अर्थ—श्रद्धायुत प्रभु योग ते, होय भ्रष्ट मन जासु।
योगसिद्धि नहिं पा सकै, होय कौन गति तासु ॥३७॥
उभय मार्ग तें भ्रष्ट ह्वै, थिर न ब्रह्म के पन्थ।
सो जिमि वारिद नसत है, किम न नसै भगवन्त ॥३८॥
यह मम संशय कृष्ण प्रभु, छेदन करहु अशेष।
तुम समान संशय हरण, कोऊ नाँहि विशेष ॥३९॥

संशय ऐसो एक मन, उपज्यो सहज स्वभाय। तासु निवारक आप बिनु, कोउ न ईश दिखाय ॥४३०॥
तातें प्रभु कहु कोउ इक, मोक्ष हेतु पथ लाग। श्रद्धा सहित उपाय बिन, चाहत अति अनुराग ॥४३१॥

चलि श्रद्धा के पन्थ, इन्द्रियपुर तें निकर कर। जान चाहे श्रीकन्त, आत्मसिद्धि पुर साम्हुहै ॥४३२॥
आत्मसिद्धि में पहुँचि नहिं, अरु नहिं लौटि सकायु। अरु बीचहिं यदि अस्त ह्वै, सूर्य रूप तस आयु ॥४३३॥
जिमि अकाल के अभ्रगण, किंचित पातक होय। आवैं केवल सहज ही, रहैं न बर्षें सोय ॥४३४॥
दूरि रह्यो तिमि मोक्षपद, और तज्यो संसार। दोनहुँ सों वंचित भयो, श्रद्धा को अवधार ॥४३५॥
जो वंचित इमि दुहुन तें, श्रद्धा केर समाज। 'डूब्यो' ताकी कौन गति, ह्वै है श्रीयदुराज ॥४३६॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

अर्थ—अस योगेच्छुक पुरुष के, नसत न दोनों लोक।
करत कर्म कल्याण को, लहत न दुर्गति शोक ॥४०॥

कृष्ण कहत तब-पार्थ जिहिं, श्रद्धा मोक्ष पदार्थ। तासु मोक्षतें अन्यथा, कहा अपर गति पार्थ ॥४३७॥
ऐसहि पै इक बात यह, बीचहिं लहि विश्राम। पै सुख तब जिहिं देव नहिं, तिमि सुख लहत ललाम ॥४३८॥
इमि अभ्यासारम्भ सों इतिलौं चलिय सुधार। प्रथम आयु दिन अस्त के, सोऽहं सिद्धि उदार ॥४३९॥
इतना वेग न होय जो, तबहिं नीक विश्राम। तदपि मोक्ष की प्राप्ति पुनि, धरी अहै सुखधाम ॥४४०॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अर्थ—लोक पुण्यकृत प्राप्त करि, बहुत समय बसि जाय।
पुनि पवित्र श्रीमन्त गृह, योग भ्रष्ट उपजाय ॥४१॥

कौतुक सुन मिलि लोक जे, शतमख करि सायास। पावैं तिनहिं मुमुक्षु-जन, अर्जुन विना प्रयास ॥४४१॥
अरु पुनि तहाँ अमोघ सुख, सकल अलौकिक भोग। तस होय उकतात मन, चाहत पुनि करु योग ॥४४२॥
दिव्य भोग भोगत रहै, पै नित मन पछितात। अहह विघन भगवन्त यह, मोक्ष मार्ग में आत ॥४४३॥

सकल धर्म विश्रांति थल, नंतर जग जन पाय। धान्य पुष्ट तरु बाल कढ़ि, तिमि ऐश्वर्यहिं पाय ॥४४४॥
जो सुनीति पथ ते चलै, बोलै सत्य पुनीत। शास्त्र दृष्टि सों देखि के, अर्जुन चलै सुरीत ॥४४५॥
आदिदेव है वेद जिहिं, निजाचार व्यवसाय। सारासार विचार जो, मन्त्री जासु सुहाय ॥४४६॥
चिन्ता जिहिं कुल पतिव्रता, ईशाराधन हेतु। आदि ऋद्धि गृह-देवता, जो कुल के कपिकेतु ॥४४७॥
सुख बढ़ि सर्व समृद्धि, ऐसो कुल निज पुन्य भरि। योग भ्रष्ट लहि वृद्धि, तहँ जन्मै बहुसुख-सहित ॥४४८॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

अर्थ—अथवा धीयुत योगिकुल, तहँ सो जन्महिं पाय।
अति दुर्लभ जग जन्म अस, जानि लेहु कुरुराय ॥४२॥
कुरुनन्दन संसिद्धिहित, पुनि तहँ करत उपाय।
पूर्वदेह संयोग बुधि, जन्मत लहै सुभाय ॥४३॥

ज्ञान अग्नि होता बहुरि, श्रोत्रिय ब्राह्मण रूप। परब्रह्म वपु क्षेत्र को, आदि निवासि अनूप ॥४४९॥
आत्मप्राप्ति-सिंहासनहिं, जो त्रिभुवन करै राज। जो कूजत सतोष वन, कोकिल बैन नृराज ॥४५०॥
जो विवेक तरुमूल बसि, सरस नित्य फलपूर। ऐसी योगी के कुलहिं, जन्म लेय मतिशूर ॥४५१॥
देह रूप लघु लगत अरु, प्रगटि स्वज्ञान प्रभात। जैसे प्रगटि प्रकाश है, सूर्य पास तें तात ॥४५२॥
देखत पंथ न प्रौढ़ता, वय के गाँव न जात। पाणि ग्रहण करि बालपन, इव सर्वज्ञ सुहात ॥४५३॥
सिद्धि बुद्धि के योग लहि, मन विद्या फलदाय। पुनि मुखतें कढ़ि शास्त्र सब, अर्जुन आप सुभाय ॥४५४॥
ऐसे कुल महँ जन्महित, देवहु रहत सकाम। निदरि स्वर्गजप-होम-कृत, चाहैं जन्म ललाम ॥४५५॥
यश वर्णक सुर होय करि, मृत्युलोक यशगान। योगभ्रष्ट अर्जुन लहै, ऐसो जन्म महान ॥४५६॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अर्थ—जन्मै अवशि मुमुक्षु पै, शक्ति पूर्व अभ्यासु ।
योगविषय वेदाचरण, अर्जुन होवै तासु ॥४४॥

सब आयुष्य पुराय, अरु सद्बुद्धि जु पूर्ण तम । नित नूतन अधिकाय, पुनि तिहि सब विधि प्राप्ति ह्वै ॥४५७॥
अरु पावै तिहिं भाग्यवर, जिमि दिव्यांजन नैन । पुनि देखै दिव्यांजनी, बहुनिधि भूमि सुचैन ॥४५८॥
अरु अगम्य अभिप्राय जो, बिनु गुरुमुख नहिं जानु । अनायास सद्बुद्धि तिहिं, पहुँचै ताहि ठिकानु ॥४५९॥
इन्द्रिय बल युत मन वशहिं, मनहुँ प्राण इक होय । प्राण वायु मिलि सहज ही, चिदाकाश नभ सोय ॥४६०॥
और बात की कौन कहि, पै तिहिं योगाभ्यास । मन कर बूझि समाधिहु, सहज मिलत है पास ॥४६१॥
जानि योगबल शंभुवा, गौरव श्रेष्ठारम्भ । की अनुभव वैराग्य बल, आयो रूप स्वयम्भु ॥४६२॥
यह जग नायक नायिका, द्वीप वस्तु अष्टांग । जिमि सुगंध को रूप धरि, चन्दन निज सर्वांग ॥४६३॥
की स्वरूप सन्तोष को, वा सुसिद्धि आगार । देखि परम साधक दशा, उन्नतिशील उदार ॥४६४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अर्थ—करि प्रयत्न जो नियम तें, योगी सब अघ खोय ।
सिद्धि अनेकहु जन्म महँ, लहै परमगति सोय ॥४५॥

जो संवत्सर कोटिशत, जन्म सहस प्रतिबन्ध । लांघि किनारे पर लगै, आत्मसिद्धि सम्बन्ध ॥४६५॥
सहजहिं बैठे आय, पुनि विवेक सिंहासनहि । पावत आप सुभाय, बहुरि सर्वसाधन जिते ॥४६६॥
जो विचार करि मध्य तिहिं, सन्मुख प्रबल विवेक । अरु विचार ते जा परे, स्वयं ब्रह्म ह्वै एक ॥४६७॥
अभ्र नसै मनको तहाँ, प्राणपवन रुकि जाय । आपहि आप ठिकान में, चिदाकाश लय पाय ॥४६८॥
डूबै माया प्रणव इसि, अनिर्वाच्य सुख जाम । अतः बोलवो हू रुकै, प्रथमहु तासु ठिकान ॥४६९॥

जो गति है गति सकल की, ब्रह्म स्थिति धनुधार। निराकार साकार ह्वै, ताहि तहाँ निरधार ॥४७०॥
जगाभास मल आत्म को, बहु जन्मनि जल धोय। अतः लग्न घटिका डुबै, जन्मत ही तिहिं तोय ॥४७१॥
अरु तद्रूप सुलग्न लगि, रहि अभिन्नता पाय। जैसे बारिद लोपतें, शुद्ध गगन रहि जाय ॥४७२॥
जो उपजावे विश्व तिमि, पुनि लय ताहि ठिकान। विद्यमान हू देह के, सो बनि रहत सुजान ॥४७३॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

अर्थ—कर्मी ज्ञानी तपिहुँ ते, योगी श्रेष्ठ महान।
तातें तुम योगी बनौ, अर्जुन सत्य सुजान ॥४६॥

धरि भरोस निज बाहु बल, जासु लाभ करि आश। कर्मनिष्ठ षट् कर्म के, धँसे प्रवाह हुलास ॥४७४॥
ज्ञान कवच दृढ़ धार, ऐक्य वस्तु के लाभ हित। समरांगणहि मँझार, ज्ञानी लरत प्रपंचतें ॥४७५॥
आत्म चाह करि दुर्ग गिरि, कटे किनार निवास। निकरि निराश्रित योगिजन, तहँ पै रहैं उदास ॥४७६॥
अधिष्ठान भाजनिक अरु याज्ञिक को जिमि होय। पूजनीय सर्वत्र जो, सदा सबहिं को सोय ॥४७७॥
सिद्ध तत्त्व साधकन को, परब्रह्म निर्वाण। सोई आपहिं होत है, स्वयं पार्थ मतिमान ॥४७८॥
कर्मनिष्ठ को बन्ध जो, अरु ज्ञानी को ज्ञेय। मूल तपस्वी को अहै, तपोनाथ कौन्तेय ॥४७९॥
संगम जीवरु आत्म ह्वै, मनोधर्म जिहिं एक। देहहु धरि महिमा लहै, इमि करु तासु विवेक ॥४८०॥
अतः याहि कारण कहौं, मैं तोहिं वारंवार। योगी बनु अन्तःकरण, सों तुम पाण्डुकुमार ॥४८१॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो माँ स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

अर्थ—सकल योगि-गण मध्य जस, ऐक्य बोध की चाह।
भजै मोहिं जो, मोहिं सो, परम मान्य नर नाह ॥४७॥

जो योगी कहि जाय सो, देव देव को जान। अरु मेरो सर्वस्व सुख, मेरो जीवन प्रान ॥४८२॥

जाहि भजत जो भजत अरु, भजनहु त्रिपुटी जोइ। ताहि अखण्डित अनुभवै, मिलै मद्रूपहिं सोइ ॥४८३॥
ऐसो है निज रूप, योगी औ मम प्रीति को। वर्नन ताको भूप, शब्दों ते नहिं ह्वै सकै ॥४८४॥
ऐक्य प्रेम मम तासु को, तुलना कीजै जोय। तो मैं तन वह आतमा, यह ही उपमा होय ॥४८५॥
गुण समुद्र श्रीकृष्ण प्रभु, त्रिभुवन एक नरेन्द्र। संजय कहि ऐसे कहत, भक्त चकोरक चन्द्र ॥४८६॥
योग निरूपन सुनन की, श्रद्धा रही जु पार्थ। सो अब दुगुनी बढ़ गई, जान्यो कृष्ण यथार्थ ॥४८७॥
सहज मनहिं सन्तोष लखि, दर्पन कथन प्रसंग। मग्न होय आनन्द तिहिं, कहन लगे श्रीरंग ॥४८८॥
जो प्रसंग आगे तहाँ, शान्त प्रगट दरसाय। ज्ञान बीज की गाँठड़ी, अर्जुन तहँ खुलि जाय ॥४८९॥
सात्त्विक वृष्टि प्रभाव नसि, आध्यात्मिक कठिनाइ। चतुर चित्तथल क्यारियाँ, सहजहिं पार्थ बनाइ ॥४९०॥
समाधान वपु स्वर्न सम, श्रेष्ठ बीज लहि हाथ। बीजारोपण चाह करि, अतः निवृत्तीनाथ ॥४९१॥
ज्ञानदेव कहि चाह मुहिं, कौतुक कर गुरुनाथ। बीजारोपन करत जनु, वरद हस्त धरि माथ ॥४९२॥
सन्तहृदय सत जान, अतः कढ़त मम वदन तें। कहहिं कहौं मतिमान, अधिक कहा श्रीरंग जो ॥४९३॥
सुनै मनहिं के कान तें, लखै बुद्धि के नैन। उत्कंठित चित ध्यान धरि, तबहि पार्थ लहि चैन ॥४९४॥
समाधान करि हृदय के, भीतर में ले जाय। तब सज्जन की बुद्धि यह, वाणी लेय रिझाय ॥४९५॥
आत्मप्राप्ति नित करत यह, करि सजीव परिणाम। हेतु प्राप्ति सुख जीव सब, सुख स्वरूप गुणधाम ॥४९६॥
कृष्ण पार्थ तें कह कुतुक, सर्वोत्तम जो ज्ञान। ताको कविता प्राकृतहिं, मैं बरनौं मतिमान ॥४९७॥

—०:॰:०—

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर श्री गणेश-
प्रसाद कृतायां गीता ज्ञानेश्वर्यां षष्ठोऽध्यायः

शुभमस्तु ॐ तत्सत् ३

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अर्थ—आश्रित मम, आसक्त मुहिं, योगहिं मन महँ धार ।
शंक न जानि समग्र मुहिं, अर्जुन सुनु सु प्रकार ॥१॥
ज्ञान सहित विज्ञान मैं, तुम तें कहौं अशेष ।
जिहिं जाने इत उत कहूँ, जानब रहै न शेष ॥२॥

अर्जुन सें पुनि कहत प्रभु, कृष्ण अनादि अनन्त । योगप्रयुक्त अब तुम भये, सुनहु सुभद्राकन्त ॥१॥
ऐसहि तुम सब जानि हौ, जिमि निजकर लखि रत्न । ज्ञान सहित विज्ञान सब, तुम तें कहौं सुयत्न ॥२॥
यदि व्यवहारिक ज्ञान किमि, करौ जु अस मन भाव । तो प्रथमहि तिहिं जानिबो, लगैं यथार्थ स्वभाव ॥३॥
ज्ञानी पूरणता समय, बुधि के नयन झँपाय । जैसे तीरहि नाव लगि, हालै नहीं स्वभाय ॥४॥
चलहि न गति ज्ञातृत्व जहँ, सन्मुख रहै विचार । नहिं प्रवेश तहँ तर्क को, जाके अँग उदार ॥५॥
अहै ज्ञान जिहिं नाम तिहिं, अरु प्रपंच विज्ञान । रहि सत बुद्धि प्रपंच महँ, ताहि जान अज्ञान ॥६॥

अब सब नसि अज्ञान अरु, करि विज्ञान अशेष । अरु आपहि ह्वै जात है, ज्ञान स्वरूपी शेष ॥७॥
जाके वर्णन बोल रुकि, एक होन की आश । अरु यह लघु यह दीर्घ इमि, रहत न भेदाभास ॥८॥
गुप्त मरम इमि जोय, सोई मैं वर्नन करौं । किंचित आगे होय, पूर्ण मनोरथ बहुत जे ॥९॥

मनुष्याणां सहस्र नरेन्द्र । संजय कहि द्धये ।
पार्थ । ... अब द्व
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

अर्थ—नर सहस्र महँ हेतु मम, यत्न कोउ करि एक ।
तिनमें मोकों तत्त्वतः, जानत कोइ विवेक ॥३॥

नर सहस्र महँ कोउ इक, इच्छा करि हित ज्ञान । ऐसे बहु महँ क्वचित ही, अर्जुन मो कहँ जान ॥१०॥
जिमि त्रिभुवन नर राशि तें, उत्तम शूर जबेर । लक्षावधि सेना जुरत, अर्जुन लगत न बेर ॥११॥
शस्त्र चलैं जब समर में, घाव होयँ तन आय । विजयश्री पद माँहि तब, एकहि बैठे जाय ॥१२॥
श्रद्धा के परिवाह महँ, कोटि कोटि पैरॉंय । तिन महँ पैले पार लगि, विरलो कोऊ जाय ॥१३॥
अतः नाहि सामान्य है, बहुत श्रेष्ठ यह बात । पै तिहिं मैं वर्नन करौं, अब सुनु प्रस्तुत तात ॥१४॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अर्थ—क्षिति जल अनल समीर नभ, मन मति व अहंकार ।
पृथक प्रकृति मम जानिये, एहि विधि आठ प्रकार ॥४॥

अर्जुन सुन महदादि जे, मेरी माया जान । जैसे अपने अंग की, छाया केर प्रमान ॥१५॥
यों याकौं भाषैं प्रकृति, जाके आठ विभाग । अरु यातें त्रयलोक को, होवे जन्म सराग ॥१६॥
शंका जो मन धार, कैसे आठहु भिन्न इमि । सुनु तुम सकल विचार, सो अब मैं वर्णन करौं ॥१७॥
नीर अनल नभ महि पवन, मन प्रज्ञाऽहंकार । आठोहूँ सब पृथक हैं, बरनौं तासु विचार ॥१८॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

अर्थ— यह अपरा मम प्रकृति है, परा प्रकृति मम अन्य।
नाम जीवभूता प्रकृति, धरत जगत जे धन्य ॥५॥

आठहु को एकीकरण, अपर प्रकृति मम पार्थ। जगधारक मम प्रकृति को, नाम सु जीव यथार्थ ॥१६॥
जो जड़ को चेतन करे, चेतन चेतन देय। शोक मोह मानै मनहु, जाके बल कौन्तेय ॥२०॥
कुशलपना जो बुद्धि में, सो एहि सों उपजाय। अहंकार पाटव बहुरि, जासों विश्व धराय ॥२१॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

अर्थ—दोउ प्रकृति सब भूत की, कारण इमि पहिचान।
मैं सब जग की जन्म अरु, नाश करौं इमि जान ॥६॥

कौतुक तें महदादि को, सूक्ष्म प्रकृति संयोग। अर्जुन तब टकसार बनि, प्राणि सृष्टि योग ॥२२॥
आपहिं सो प्रगटात हैं, साँचा चार प्रकार। पै योग्यता समानता, जातिहिं पृथक् विचार ॥२३॥
चौरासी लख जाति अरु, अगणित अहैं अहार। जिनही ते सब भर रह्यो, निराकार भांडार ॥२४॥
एक सरिस पंचभूत को, साँचा बहु परि जाय। माया ही तिहि बुद्धि की, गणना सकै कराय ॥२५॥
अंकहिं धरि विस्तारि, दीजै ताहि गलाय पुनि। कर्म अकर्माचारि, करि प्रवृत्ति दरसाय मधि ॥२६॥
समुझ हेतु तुव प्रगट करि, यह उदाहरण देय। नाम रूप प्राणी प्रकृति, को विस्तार करेय ॥२७॥
निश्चय ही भापत प्रकृति, अर्जुन मोर ठिकान। जग उतपति थिति लयहु में, कारण मो कहँ जान ॥२८॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

अर्थ—अर्जुन मोहि तें अन्य पर,-तत्त्व विश्व में नाँहि।
मोमें गुंथे सकल जिमि, मणिगण डोरक माँहि ॥७॥

जल मृग तृष्णा को निरखि, कारण ताको जानु। सूर्य किरण नहिं होत है, परतर कारण भानु ॥२६॥
जगत प्रकृति को वाद करि, अर्जुन मोहिं विचार। जैसे अरु जिहि हेतु तें, सकल विश्व विस्तार ॥३०॥
इहि विधि मों ते जन्म ले, दिखत नहीं सो होत। सो सब इमि मम मध्य जिमि सूत्र माँहि मणि गोत ॥३१॥
कंचन की मणियां करैं, गुँथि कंचन के तार। बाह्याभ्यन्तर जगत धरि, तिमि मोमाँहि उदार ॥३२॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

अर्थ—रवि अरु शशि महँ मैं प्रभा, जल रस पाण्डुकुमार।
नर में पौरुष, शब्द नभ, सर्व वेद ओंकार ॥८॥
अनल मध्य पुनि तेज मैं, धरणि सुगन्ध सुजान।
तपहु तपस्विन मध्य मैं, सकल प्राणि में प्राण ॥९॥

बहुरि नीर महँ रस अहौं, अरु सुस्पर्श समीर। पुनि प्रकाश शशि सूर्य महँ, मोंहि जानिये वीर ॥३३॥
तिमि स्वाभाविक गन्ध मोहि, तू धरणी में जान। शब्द गगन में, वेद में, मैं ओंकार सुजान ॥३४॥
अहंभाव को सत्त्व, जो मनुष्य में मनुजपन। मैं तुहिं भाषत तथ्य, सो पौरुष मुहि जानिये ॥३५॥
नाम अनल को तेज जो, सो आवरण दुराय। निज-स्वरूप रहि अग्नि जो, सो मैं ही कुरुराय ॥३६॥
अरु अनेक विधि योनि तें, जनमि जीव त्रैलोक। अपने हित उपजीविका, वर्तत अहैं अरोक ॥३७॥
एक पवन पीके रहहिं, एकै तृण को खाय। रहैं अन्न आधार इक, एक नीर को पाय ॥३८॥
ऐसे प्राणीमात्र प्रति, तासु प्रकृति अनुसार। सकल ठिकान अभिन्नता, मैं इक पार्थ उदार ॥३९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं, कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

अर्थ—सकल भूत को बीज मैं, पार्थ सनातन जान ।
तेजस्वी को तेज मैं, बुधिमत की बुधिमान ॥१०॥
अर्जुन बल बलवन्त को, रहित काम अरु राग ।
प्राणि धर्म अनुकूल जो, काम अहौं बड़ भाग ॥११॥

आदि समय उत्पत्ति लहि, नभ अंकुर विस्तार । प्राण तजन के समय लय, जे अक्षर ओंकार ॥४०॥
जगत सरिस दरसात जो, जबहिं रहत संसार । महाप्रलय की जय दशा, रहत न कछु आकार ॥४१॥
ऐसहि सहज अनादि जो, विश्व बीज मुहि जान । देत हस्तगत तुमहि मैं, इहि विधि पार्थ सुजान ॥४२॥
अर्जुन पुनि तिहिं समझकर, यदि करु तासु विचार । तो उत्तम उपयोग तिहिं, देखहु पांडुकुमार ॥४३॥
अधिक न बिना प्रसंग, अब बरनौं संक्षेप यह । मोहिं कहत श्रीरंग, जान तपस्विन मांहि तप ॥४४॥
निश्चय मोको जानिये, जो बल ढिग बलवन्त । अरु अर्जुन में ही अहौं, बुद्धि निकट बुधिवन्त ॥४५॥
धरम अरथ पुरुपार्थ सधि, पार्थ जासु आचार । कृष्ण कहत सो काम मैं, प्राणिमात्र मैं भार ॥४६॥
यों विस्तरहिं उपजि सब, इन्द्रिय केर विकार । धर्म विरुद्ध न जान दे, यदपि करै आचार ॥४७॥
अरु निषिद्ध दुर्मार्ग तजि, पार्थ चलै विधि पंथ । नियम प्रकाशहिं संग लै, चलै सुभद्राकंत ॥४८॥
ऐसी रीति प्रवृत्ति चलि, धर्मपूर्णता होय । मोक्ष तीर्थ में मुक्तता, लहि संसारी सोय ॥४९॥
जो जग मंडप कीर्ति श्रुति, काम बेलि विस्तार । जब लौं अंकुर कर्मफल, कढ़ै न मोक्षागार ॥५०॥
नियमित इमि जो काम वपु, बीज प्राणि समुदाय । योगी पितु वर्नन करैं, सो मैं हौं नरराय ॥५१॥
कहहुँ कहाँ तक एक इक, अब सब वस्तु विचार । मम पासहिं ते जानिये, इमि पावहिं विस्तार ॥५२॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अर्थ—सात्त्विक राजस तामसहु, ये जो तीनहु भाव ।
मोतें उपजैं मोहि में रहैं, न मैं तिन ठाँव ॥१२॥

जानहु पांडकुमार, उपजैं सब मम रूप तें । अरु तामसहु विकार, सात्विक अथवा राजसहु ॥५३॥
यद्यपि वे सब मोहि में, तदपि न मैं तिन माँहि । जैसे स्वप्न प्रपञ्च में, जाग्रत नाँहि डुबाहिं ॥५४॥
जैसे दाना बीज को, दृढ़ सुन्दर रस पूर । पै अंकुर तें काष्ठ को, उपजावैं रणशूर ॥५५॥
काष्ठहिं तब जब देखि पुनि, कहहु बीजपन काहि । तिमि विकारयुत मैं नहीं, यदपि विकार दिखाहिं ॥५६॥
नभ महँ उपजत मेघ हैं, वारिद में नभ नाँहि । अथवा घनतें उपज जल, घन न नीर के माँहि ॥५७॥
उदक वर्षणहिं तडित में, चमक प्रकट दरसात । पै दामिनि में सलिल कहुँ, देखि परत है तात ॥५८॥
धूम्र उपज है अग्नि तें, धूम अग्नि किमि होय । तिमि विकारयुत मैं नहीं, दिखत विकारी मोय ॥५९॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अर्थ—सब जग त्रिगुण विकार तें, मोहित भयो अजान ।
नित्य परे मैं गुणन तें, तुम नहिं लखत सुजान ॥१३॥

नीरहिं उपजि सिवार परि, सोही जलहिं ढँकाय । तैसे ही गगनहिं वृथा, वारिद लेत छिपाय ॥६०॥
निद्रहिं वश सत भास, यदपि स्वप्न देखहु मृषा । तब निज निजहिं प्रकास करन देत का चिंतवन ॥६१॥
अधिक कहा जो नैन में, जाला कहुँ परिजाय । तो नैनन की दृष्टि सो, तासौं नहीं नसाय ॥६२॥
छाया मम प्रतिबिम्ब तें, त्रिगुणात्मक तिमि होय । परदा के सम बिंब की, ओट करत जिमि होय ॥६३॥
अतः न जानत प्राणि मुँहि, मोर न हो मद्रूप । जल मोती जिमि जलहिं में, गलत न दिखत सरूप ॥६४॥
जिमि घट माटी तें बनत, माटी में मिल जाय । पै जब आगी में तपै, भिन्नपना दरसाय ॥६५॥

सब मेरे अवयव अहैं, प्राणिमात्र नरभूप। पै माया के योग तें, जीव दशा अनुरूप ॥६६॥
अतः मोर मद्रूप नहिं, मोर न मोहिं लखाय। मैं अरु मेरो भ्रान्ति तें, विषय अन्ध ह्वै जाँय ॥६७॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

अर्थ—ये दैवी दुस्तर त्रिगुण, मम माया जो आहि।
मम शरणागत होय जो, माया ते तर जाहि ॥१४॥

जे माया महदादि मम, तिहि तें उतरैं पार। अनुभव तें मद्रूप ह्वै, कैसे पांडुकुमार ॥६८॥
जो गिरि ब्रह्म कगार तें, माया नदि सकल्प। महाभूत के बुलबुला, प्रथम सोत चलि स्वल्प ॥६९॥
जग प्रवार विस्तार चलि, वेगहि काल सुभाय। प्रवृति निवृति के उच्च तट, पै ही चलै बहाय ॥७०॥
अहह बहाय न छोह, यम नियमन वपु नगर को। महापूर वपु मोह, जो गुणवारिद वरसि बहु ॥७१॥
जहाँ द्वेष वपु भँवर भरि, मत्सर यहाँ मरोर। उनमतपन आदिक महा, चमकत मीन करोर ॥७२॥
जह प्रपञ्च वपु वक्रगति, कर्माकर्मी पूर। सुख दुख वपु से वट जहाँ, बहति तरंगित शूर ॥७३॥
जबहि विषय के द्वीप पर, काम लहर टकराय। जीव फेन के संघ बहु, चहूँ ओर दरसाँय ॥७४॥
अहंकार की धार में, त्रय मद जब उबलाँय। विषय स्वरूप तरंग की, ऊँची लहर उठाँय ॥७५॥
उदय अस्त के पूर पड़ि, जन्म मरण पापान। पंच भौतिक बुद् बुद उठहिं, पुनि लय होहिं सुजान ॥७६॥
धीरज आमिष खाय करि, भष विभ्रम संमोह। प्रबल भँवर अज्ञानवपु, परत तहाँ तिहिं डोह ॥७७॥
गंदो पानी भ्रान्ति वपु, आस्था कर्दम जान। रजोगुणी खुरुंट धुनि, जात स्वर्ग अनुमान ॥७८॥
कठिन प्रवाह जु तमगुणी, थिरपन सत्य दहार। अधिक कहा दुस्तर महा, माया नदी उतार ॥७९॥
सत्त्व किले बहि जायँ, जन्म मरण की बाट में। शिलारूप गिर जायँ, गोलक जो ब्रह्मांड वपु ॥८०॥
जल प्रवाह अति वेग युत, धरत न थामैं पाय। ऐसे माया पूरतें, कौन शूर तर जाँय ॥८१॥
इत इक कौतुक यह बड़ो, जो जो तरन उपाय। ज्यों ज्यों कीजै त्यों बहत, होवत सबै अपाय ॥८२॥

स्वयं बुद्धि बल एक चलि, तिन्ह निज सुधि न रहाय। कोई ज्ञान दहार में, गर्व करें डुबि जाय ॥८३॥
एक तरणि वपु वेदत्रय, अहं शिलहिं टकराय। मदरूपी जो मीन के, मुख में सकल समाय ॥८४॥
एक वयसबल बाँधि के, मन्मथ को पछियाय। विषय मगर के जाय मुख, चिगलो फेंको जाय ॥८५॥
इकहि अंश बुधिजाल में, अतिवय रूप तरंग। बँधत जात चहुँ ओर तें, मिलै न छुटन प्रसंग ॥८६॥
औरहु शोक कगार परि, जा करिके गिरि जाँय। क्रोध भँवर में दबि उठें, आपद गीध दुचाँय ॥८७॥
दुख स्वरूप कर्दम भरै, मरण रेत फँसि जाँय। पछियावैं इमि काम कहँ, सोइ वृथा ह्वै जाय ॥८८॥
यजन पेटि चिपटाय, एक आपने हृदय तें। तहँ पर रह अटकाय, ते कपाट जो स्वर्गसुख ॥८९॥
करैं आसरो कर्मबल, एक मोक्ष की आसु। विधि निषेध के भँवर पड़ि, होवै अड़चन तासु ॥९०॥
चलहि न नाव विराग जहँ, टेका नहीं विवेक। तरत योग के योग तें, क्वचितहिं कोई एक ॥९१॥
जीव अंग बल ते जु इमि, माया नदि तरि जाय। तरि कैसे उपमा कहा, ताकी कहौं सुझाय ॥९२॥
यदि कुपथ्य रोगहिं जितै, दुष्ट साधु बुधि पाय। विषयीजन लहि सिद्धि को, पुनि तिहिं देय तजाय ॥९३॥
यदपि सभा भरि चोर की, बंसी निगलै मीन। अरु लौटाय पिशाच को, अति भयभीता दीन ॥९४॥
चरन हिरन तें जालि नसि, चींटी नांघै मेरु। तो माया के पार को, जीव विलोके खेरु ॥९५॥
जैसे विषयी पुरुष तें, नारि न जीती जाय। मायामय इहिं सरित तें, जीव तरन नहिं पाय ॥९६॥
सोइ सहज ही तरि सकै, जो अनन्य भज मोहिं। माया जल इहिं पारही, नसै सहज तिहिं जोहि ॥९७॥
अनुभव लगि दृढ़ताइ, सद्गुरु तारनहार जिहिं। नाव मिलै तरि जाइ, आत्म-निवेदन रूप धर ॥९८॥
अहंभाव वपु बोझ तजि, लहर विकल्प चुकाय। प्रिया पुत्र जग प्रेम वपु, नीरधार परकाय ॥९९॥
ऐक्य उतारा जाहि मिलि, बोध अखड अथोर। पहुँचे जाय निवृत्ति वपु, परतीरहिं कर जोर ॥१००॥
उपरति भुजसों तैरि बल, सोऽहं भाव दृढ़ाय। अनायास ही मोक्ष के, तट पर पहुँचै जाय ॥१०१॥
इहि उपाय तें मोहिं भज, माया नदि तरि जाय। ऐसे भक्तन बहुत हैं, विरलो कोउ दिखाय ॥१०२॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

अर्थ—अंधी मूर्ख नर अधम अरु माया नाशित ज्ञान ।
आश्रित आसुर प्रकृति मम, शरण न आवत जान ॥१५॥
सुकृति पुरुष जो मोहि भजैं, ते हैं चार प्रकार ।
आर्त, मुमुक्षु, धनादि चह, ज्ञानी, पार्थ उदार ॥१६॥

इन सिवायहू बहुत जे, अहंभाव वश होय । कबहुँ न तिनको हो स्मरण, आत्मबोध को सोय ॥१०३॥
नियम वस्त्र को भान नहिं, लाज न गुह्य उघार । और करत निर्लज्ज हो, वेद विरुद्धाचार ॥१०४॥
आये गाँव शरीर में, लखि अर्जुन जिहिं काम । कार्य अर्थ को सर्वथा, त्यागि बने बेकाम ॥१०५॥
इन्द्रिय ग्रामजु राजपथ, अहं और ममभाव । बड़बड़ करि समुदाय जुरि, विविध विकार जमाव ॥१०६॥
जानहु अर्जुन सोय, माया तें ग्रास्यो गयो । ताहि न चिन्तन होय, दुःख शोक के घाव लगि ॥१०७॥
कबहुँ न भूलत मोहिं जे, निज कल्याणहिं चाह । चार भाँति ते भजत सो, सुनु अर्जुन नरनाह ॥१०८॥
प्रथम आर्त, जिज्ञासु पुनि, अर्थार्थी, धृतज्ञान । क्रमशः पहलो, दूसरो, तीजो चौथो जान ॥१०९॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

अर्थ—ज्ञानी मत्पर नित्य करि, मोर भक्ति इकनिष्ठ ।
ज्ञानिहिं प्रिय मैं, ज्ञानि मुहिं, प्रयतम भक्त वरिष्ठ ॥१७॥

आर्त भजैं निज दुःख सों,, जानन को जिज्ञासु । अर्थी मोकों भजत हैं, अर्थसिद्धि की आसु ॥११०॥
चौथो ज्ञानी मुहिं भजै, कछु कारण है नाँहि । केवल ज्ञानी भक्त मम, जासु पार्थ मन माँहि ॥१११॥
ज्ञानी ज्ञान प्रकास नसि भेदाभेद अँधार । ऐक्यभाव मद्रूप ह्वै, अरु मम भक्त उदार ॥११२॥
ज्ञानी को लखि इतर जिमि, उदक फटकि आभास । कौतुक तिमि ज्ञानी नहीं, भाषत रमा निवास ॥११३॥

जिमि नभ शान्त समीर मिलि, वेग न तासु जनाय । भक्ति पैज ज्ञानी न तजि, यदपि एकता आय ॥११४॥
यदपि पवन चलि तो लखै, गगन पृथक् दरसाय । पै सहजहिं नभवायु दुहुँ, एकहि सहज जनाय ॥११५॥
ऐसहिं पृथक् दिखाय, देह कर्म करि भक्ति तिमि । मद्रूपी बनि जाय, अन्तर् अनुभव धर्म परि ॥११६॥
ज्ञानहिं के उजियार सों, निज आत्मा मुहिं जान । अतः हर्ष लहि मैं कहौं, तिहिं निज आत्म सुजान ॥११७॥
जीव स्वरूपहिं प्रथम जो, आत्म स्वरूपी आहि । देह धारि किमि मोहि तें, पार्थ पृथक ह्वै जाहि ॥११८॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

अर्थ—आश्रित मम, मच्चित्त थित, सर्वोत्तम गति जान ।
ज्ञानी सबहिं उदार मम, आत्मा सो मतिमान ॥१८॥

इतर आपुने स्वार्थहित, करत भक्ति नर मोर । पै मेरी जो प्रीति सो, इक ज्ञानी की ओर ॥११९॥
गौ कहँ बाँधत डोरि तें, जिमि सब जन पय आश । पै देखहु तिहिं वत्स को, दूध मिलत बिन पाश ॥१२०॥
कारण तन मन प्रेम तें, गौ बिन कछुक न जान । देखत तिहिं यह कहत सो, यह मम मातु सुजान ॥१२१॥
प्रीति धेनु की वत्स पर, तेहिं अनन्यहिं मानि । तिमि ज्ञानी पर प्रीति कर, कमलापति भगवान ॥१२२॥
बहुरि कृष्ण प्रभु कहत हम, जिन कौ वर्नन कीन । श्रेष्ठ भक्त सोई अहैं, प्यारे मोहिं प्रवीन ॥१२३॥
ज्ञान मिलत मम जाहिं कौ, लौटब बिसरै ताहि । जैसे सरिता सिन्धु मिलि, लौटे नहीं प्रवाह ॥१२४॥
जो अनुभव वपु गंग, जन्मै अन्तस्तल गुहा । कहौं न अधिक प्रसंग, सिन्धुरूप मो महँ प्रविश ॥१२५॥
जाको ज्ञानी कहत सो, केवल मेरो जीव । यह न चाहियै कथन पै, कह्यो सुभद्रापीव ॥१२६॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अर्थ—और जन्मान्तर बहु गये, ज्ञानी मो कहँ पाव ।
महा आत्म दुर्लभ परम, वासुदेव सब ठाँव ॥१९॥

जो बचि छन भाड़ी विषय; संकट क्रोधरु काम । सद्वासना पहार पै, पहुँच जाय परिणाम ॥१२७॥
साधु सुसंगहिं पार्थ चलि, सरल पंथ सत्कर्म । अरु कुपंथ को देय तजि, जो संबन्ध कुकर्म ॥१२८॥
चलि न कुपथ शत जन्म अरु, धरि न फलाशहिं पाँव । कहहु कहा फलहेतु को, कीजै कौन चलाव ॥१२९॥
इमि चलि रैन उपाधि बिन, तन सँयोग वपु तात । सहज कर्मक्षय होय कै, पुनि मिलि जात प्रभात ॥१३०॥
गुरु प्रसाद ऊष्मा प्रगटि, ज्ञानरूप मृदु घाम । लागत ताहि समत्व को, मिलि ऐश्वर्य ललाम ॥१३१॥
निरखि मार्ग में जहँ तहाँ, तब मैं ही दरसाउँ । स्वस्थ बैठिके हू लखै, तो मैं ही लखि जाऊँ ॥१३२॥
अधिक कहा सर्वत्र तिहिं, मुहिं तजि कछु न जनाय । जिमि घट डूबि दहार जल, अन्तर बहिर रहाय ॥१३३॥
अर्जुन अहै न बात, सो शब्दन तें कहन की । भीतर बाहिर तात, जिमि सो मम तिमि तासु में ॥१३४॥
अधिक कहा इमि सो लखै, ज्ञान केर आगार । सकल विश्व आपहिं लखत करि जहँ तहँ संचार ॥१३५॥
इमि अनुभव सम्पूर्ण जग, वासुदेवमय जान । भक्तन महँ सो श्रेष्ठ है, ता कहँ ज्ञानी मान ॥१३६॥
जिहिं अनुभव आगार में, सब चर-अचर पसार । सो ज्ञानी दुर्लभ महा, विश्व माहि धनुधार ॥१३७॥
ऐसे अर्जुन बहुत जे, भजत मोंहि हित भोग । आश तिमिरयुत दृष्टि तें, विषय अन्ध ते लोग ॥१३८॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अर्थ—नाना कामहिं ज्ञान हत, निजहिं प्रकृति आधीन ।

अपर देव के नियम तें, तिनहिं भजत मतिहीन ॥२०॥

अरु इच्छा फलहेतु तें, करि हिय काम प्रवेश । तिहि संगति तें ज्ञान को, दीपक बुझत नरेश ॥१३९॥
अरु तिमिरहिं अंतर बहिर, भूलि मोहि जो पास । अरु सब भावहिं इतर सुर, आराधत करि आस ॥१४०॥
कौतुक तें लम्पटपनहिं, अर्जुन प्रकृति अधीन । कैसे भजत विचार कर, भोग लागि ह्वै दीन ॥१४१॥
नियम कहा तिहिं देव के, कौन द्रव्य उपचार । यथारीति अर्पन करत, तिहिं विधि तें अनुदार ॥१४२॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

अर्थ—श्रद्धायुत अर्चन करत, जो जो जन जिहिं देव ।
तिनकी श्रद्धा ताहि में, अचल करत मैं एव ॥२१॥

करत भजन करि आश, जो जो जिहिं जिहिं देव की । तिनकी सो अभिलाष, अर्जुन मैं पूरी करत ॥१४३॥
अर्जुन देवी देव मैं, पै तिहिं यह न लखाउं । भाव भिन्नता धरि तहाँ, इतर देव के ठाउं ॥१४४॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

अर्थ—आराधै तिहिं देव को, तिहिं श्रद्धा संयुक्त ।
पूर्ण कामना होत तिहिं, मम निर्मित तहँ युक्त ॥२२॥

जामें श्रद्धा जाहि करि, उचिताराधन तासु । कार्यसिद्धि पर्यन्त लगि, वर्तत पार्थ हुलासु ॥१४५॥
ऐसो जाको भाव जस, तस फल पावत सोइ । पैं सब ते मम पास तें, अर्जुन उपजै जोइ ॥१४६॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अर्थ—अल्पमतिहि जन फल लहत, नाशवंत ह्वै जाहिं ।
ते पावत तिहिं देव को, मम जन मोरे माँहि ॥२३॥

कल्पित सीम न तजत ते, भक्त मोहिं नहिं जानि । कल्पित ही फल लहत ते, नाशवन्त अनुपानि ॥१४७॥
अधिक कहा ऐसो भजन, साधन गनि संसार । तासु भोगफल जानक जिमि, पार्थ स्वप्न आधार ॥१४८॥
सुनहु बहुरि जो देव जिहिं, प्यारे होहिं यथार्थ । अर्चन करि पावत अहैं, सो देवत्वहिं पार्थ ॥१४९॥
जो तन मन अरु प्रान तें, मम अनुसरण करायँ । देह त्यागि करिके अवश, मद्रूपी ही जायँ ॥१५०॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अर्थ—उत्तम अति अविनाशि मम, परम-भाव नहिं जान ।
मुहिं अव्यक्तहिं पार्थ ते, तनधारी ही मान ॥२४॥

करि न प्राणि तिमि पै वृथा, निजहित की करि हानि । पैरन चाहत मूर्ख ते, जो चुल्लू भर पानि ॥१५१॥
डाबर जल धनुधार, अरु मन में किमि चिन्तना । मुखहिं दतोरी धारि, सुधासिंधु में डूबिचो ॥१५२॥
किमि करि ऐसो अमृत में, करि प्रवेश मरि जाहिं । सुखतें अंमृत होय करि, रहें जु अंमृत माँहि ॥१५३॥
आशहि फल वपु पींजरा, तिहिं तजि कै धनुधारि । चिदाकाश व्यापक सकल, प्रभु कहँ किमि न संभारि ॥१५४॥
अमित उँचाइ तासु की, करि सुख तें विस्तार । निज इच्छा अनुसार ही, उड़िये पांडुकुमार ॥१५५॥
किमि अमाप की माप करि, निराकार साकार । अरु साधन करिहै कहा, स्वयंसिद्ध धनुधार ॥१५६॥
अर्जुन यदि या कथन को, करु विचार मन मांहि । पै विशेष कर जीव को, यह रुचिकर है नाँहि ॥१५७॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अर्थ—जानत मूढ न मोहिं, मैं, जन्म-रहित अविनाश ।
मायायोगहिं आवरित, मैं न सबहिं प्रतिभास ॥२५॥

योग माया के आवरण, दृग न लखै बनि अंध । पार्थ, देह बुधिबलहिं मुँहि, लखि न प्रकाश प्रबन्ध ॥१५८॥
कहिये ऐसी वस्तु कहँ, जामें मैं नहिं पार्थ । कहहु कौन जल होत कहँ, रस तें रहित यथार्थ ॥१५९॥
करत समीर न परस कहँ, कहाँ न गगन समाय । अधिक कहा सब जगत में, मैं ही रह्यो भराय ॥१६०॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अर्थ—अर्जुन मैं सब प्राणि को, भये अहैं जो होयँ।
जानत हौं पर मोहिं तो, कबहु न जानत कोय ॥२६॥

सकल भये मद्रूप, जो प्राणी पहिले भये। सोऊ मैं हौं भूप, वर्तमान में जो अहैं ॥१६१॥
अरु भविष्य में होंहि जे, मोते बिलग न पार्थ। आँवन जाँवन कहुँ नहीं, केवल कथनहि मार्थ ॥१६२॥
उरगरज्जु किहि जाति की, गणना करत न कोय। तिमि प्रानी मिथ्यापनहि, सोचत कोउ न सोय ॥१६३॥
ऐसे मोहिं अखण्ड तुम, जानहु पांडुकुमार। अरु ते बोलत आनहीं, प्रानी इह संसार ॥१६४॥
अरु अब थोरी सुनहु इक तुमतें भाषत बात। जब शरीर अभिमान तें, प्रीति जुरति है तात ॥१६५॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि समोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

अर्थ—उपजहिं इच्छा द्वेष ते, मोह जु सुख-दुख-रूप।
सर्व प्रानि तिहि मोह को, प्राप्त होत नरभूप ॥२७॥

उपजहि इच्छा-कुँवरि तब, पाय तरुणता काम। पुनि जोरत सम्बन्ध सग, द्वेष पुरुष के ठाम ॥१६६॥
दोउन ते ये उपजि सुत, सुख-दुख मोह कुमार। पुनि पालन तिनको करत, पिता महाऽहंकार ॥१६७॥
सदा धैर्य प्रतिकूल सो, नियम नाम लहि शूल। आशारूपी दूध तें, लहै पुष्टि अनुकूल ॥१६८॥
असंतोष वपु मद्य तें, मत्त होय धनुधार। विषयभोग में मग्न ह्वै, विकृतिभाव अनुदार ॥१६९॥
कंटक शंक पसार, शुद्ध भक्ति के पंथ में। चले न लावत बार, पुनि कुपथ की बाढ़ तें ॥१७०॥
अतः प्राणि ते भ्रमित पड़ि जे वन वपु संसार। अरु वेगहिं लहि दुख महा, टरत न टारे भार ॥१७१॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

अर्थ—सकल पाप नसि जासु के, पुन्य कर्म के योग।
द्वन्द्व मोह तें मुक्त भजि, दृढ निश्चयी सु लोग ॥२८॥

ऐसे व्यर्थ विकल्प के, काँटे देखि कठोर। आवन देत न नेकहू, जे मति भ्रम की ओर ॥१७२॥

एक निष्ठ वपु पग चलै, काँट विकल्प धिमाय। महापाप वपु विपिन तजि, सरल मार्ग मधि आय ॥१७३॥

दौड़ लगाकर पुण्यवपु, पहुँचि जाय मम पास। अधिक कहा पथ वधिकतें, बचिकें लहहि हुलास ॥१७४॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

अर्थ—आश्रित मम करि यत्न हित, जरामरण ते मुक्ति।

सकल कर्म अध्यात्म अरु, जानै ब्रह्म सयुक्ति ॥२९॥

अर्जुन और प्रयत्न अस, मम आश्रित अपनायँ। जन्म मरण की जो व्यथा तासों जाय छुटायँ ॥१७५॥

एकहि बेर प्रयत्न तें, सब परब्रह्म फलाय। तिहिं फल के परिपाक सों, रसपूर्णता बहाय ॥१७६॥

जग भरि तब कृतकृत्यता, अनुभव पुरि अध्यात्म। कार्यपूर्णता कर्म की, मन विराम लहि आत्म ॥१७७॥

अर्जुन अस व्यापार महँ, पुंजी मोहि को जान। लहै लाभ अध्यात्म इमि, अति उत्तम मतिमान ॥१७८॥

ऐक्यसिद्धि संपत्ति, साम्यरूपता व्याज मिलि। नसै न रहि आपत्ति, भेदरूपिणी दीनता ॥१७९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अर्थ—जानहिं मुहिं अधिभूत सह, अधिदेवरु अधियज्ञ।

स्वस्थचित्त नर मरण के, समयहु होयँ न अज्ञ ॥३०॥

जो मायावश जीव अरु, पंचभूत के संग। निज प्रतीति के हाथ तें, परसत मोहिं अभंग ॥१८०॥

ज्ञान शक्ति के वेग जिहिं, मैं दिखात अधियज्ञ। सो तन केर वियोग तें, पावत दुःख न सुज्ञ ॥१८१॥

आयुष छत्र नसाय जब, प्रानि क्षुभित अकुलात। मरणहार वा देश किन चित्त न प्रलय जनात ॥१८२॥

जिनहिं मिली मद्रूपता, फँसे कछु न जनात। देह त्याग के समयहू, मोहिं न छोड़त तात ॥१८३॥

निश्चय इमि करि जानहू, ऐसे पुरुष सुजान। तिनको अन्तःकरण है, युक्त योगि मतिमान ॥१८४॥

गंगाजल इहिं शब्दतल, अंजलि लह्यो न पार्थ । क्षणभर अर्जुन चित कितहुँ, पुनि नहिं मथ्यो यथार्थ ॥१८५॥
जो प्रतिपादक ब्रह्मफल, रस रसाल नानार्थ । महकत भाव सुगन्ध तें, वाक्य जहाँ पर पार्थ ॥१८६॥
केशव तरुवर वचनफल, सहज कृपा मृदु वाय । पार्थ श्रवण के माँहि तो, सहजहिं जात समाय ॥१८७॥
छुलि कर परमानन्द, डूबि ब्रह्म-रससिन्धु तिमि । वर्णित श्री नँदनन्द, बनी मनों सिद्धान्त की ।१८८॥
निर्मल सुन्दर इमि निरखि, पार्थ ज्ञान के नैन । विस्मित अमृत घूट को, पान करत लहि चैन ॥१८९॥
सुख अरु सम्पति पाय इमि, स्वर्ग विदूरत पार्थ । गुदगुदि हिय के हृदय में, माँचन लगी यथार्थ ॥१९०॥
उत्तमता इमि बाह्य लखि, बढ़ आनंद विस्तार । तब इच्छा रसस्वाद की, लैन चहै अनुभार ॥१९१॥
बहुरि वेगि अनुमान वपु, करहिं वाक्य फल धारि । अरु अनुभव मुख माँहि तब, चाहत लेवहुँ डारि ॥१९२॥
दबहि न जीह विचार वपु, चबि न हेतु वपु दन्त । ऐसो जानि न दीनमुख, भयो सुभद्राकन्त ॥१९३॥
कौतुक तें कहि इहिं जलहिं, तारागण कहँ देखि । सुन्दरता अक्षरन की, लखि किमि फंस्यो विशेखि ॥१९४॥
ये घड़ियां आकाश की, शब्द यथार्थ न होय । यदि मम मति डूबे यहां, थाह न पावै सोय ॥१९५॥
अर्जुन करि मन कल्पना, इहिं तजि जानौं काय । अरु तब चितवत कृष्णतन, इकटक दृष्टि लगाय ॥१९६॥
ये इकत्र पद सात, अर्जुन विनवत हे प्रभो । लहि न इतर कहुँ सात, अचरज तिन्हें न स्वाद यह ॥१९७॥
सुनहि न ध्यान लगाय यदि, केवल श्रवणाधार । बहु अनुभव सिद्धान्त थिर, रहि किमि करहु विचार ॥१९८॥
ऐसहि यहाँ न देव लखि, अक्षर केर मिलाप । विस्मय के हू हृदय महँ, विस्मय पायो आप ॥१९९॥
श्रवणरन्ध्र तें बोल की, हिय में किरण प्रकाश । भयो न कौतुक तें रुक्यो, मम अवधान विकाश ॥२००॥
शब्द अरथ जान्यो चहौं, प्रभु मुहिं अति अभिलाप । अतः निरूपण में विलँब, सहन नहीं सुखराश ॥२०१॥
समालोचना करि प्रथम, आगे के अभिप्राय । दृष्टि देय पुनि मध्य में, निज इच्छा दरसाय ॥२०२॥
कैसी शैली प्रश्न की, सीम न लंघत पार्थ । चाहत हिय श्रीकृष्ण को, आलिंगनहिं यथार्थ ॥२०३॥
अहह प्रश्न गुरुराज तें, करि इमि सावध होय । तिहिं जानत सम्पूर्णतः, एकहि अर्जुन सोय ॥२०४॥
अर्जुन को अब प्रश्न अरु, उत्तर हरि को भव्य । संजय कैसे प्रेम तें, वर्णत ताको नव्य ॥२०५॥
श्रवी लाभ सुखराशि, प्रथम कान के नयन लहि । भाषा लोक प्रकाशिं, सुनहुँ ध्यान दे कथन सो ॥२०६॥

जीभ सुमति के बोल को, चाखि न पावत सार। अक्षर शोभा प्रथम ही, मोहत इन्द्रिय भार ॥२०७॥

कली मालती पूर्ण लखि, घ्राणहिं, मिलत सुवासु। सुख नैनन किमि होय नहिं, उत्तम शोभा तासु ॥२०८॥

देशी भाषा की छटा, जनु इन्द्रिय करि राज। पुनि सिद्धान्ती नगर को, पावैं तुरत स्वराज ॥२०६॥

अरचनीय सुन्दर कथन, इमि सुनिये चित लाय। श्रीनिवृत्ति के दास कहि, ज्ञानेश्वर समुझाय ॥२१०॥

—०:❀:०—

ॐ तत्सदिति श्री सत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-

दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)

निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्

ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर

श्री गणेश प्रसाद कृतायां गीता-

ज्ञानेश्वर्यां सप्तमोऽध्यायः

शुभमस्तु

ॐ तत्सत् ३



ॐ

अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्थ—कहा ब्रह्म अध्यात्म कह, कहा कर्म अधिभूत ।
अधिदैवहु काको कहत, कहहु कृष्ण अनुभूत ॥१॥

अर्जुन कहि हे देव मम, विनय सुनिय चितलाय । जो मैं पूछत ताहि को, करु निरूप समुझाय ॥१॥
कहहु ब्रह्म सो कौन है, कर्म कौन को नाम । अथवा किहिं अध्यात्म कह, बरणहु श्री घनश्याम ॥२॥
केहि कहत अधिभूत अरु, अधिदैवत है कौन । इनको इमि सुस्पष्ट कहु, समझौं करुणाभौन ॥३॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

देहमध्य अधियज्ञ कहु, कहँ मधुसूदन होहिं ।
मरणकाल जित-इन्द्रियहु, कैसे जाने तोहिं ॥२॥

देव कहा अधियज्ञ सो, इहि तन में जो आहि । जान्यो चहि अनुमान तें, लच्य न कछू जनाहि ॥४॥
जिन कर चित स्वाधीन तुहिं, देहत्याग के काल । किमि जानैं समुझाउ मुहिं, शारंगपाणि दयाल ॥५॥
देखु भवन चिन्तामणिहिं, दैवयोग यदि सोय । तो परौंटी तासु की, वृथा न कबहू होय ॥६॥

जो कछु कहि तिमि प्रश्न हित, श्री केशव तें पार्थ। देव कह्यो भल प्रश्न तुव, उत्तर सुनहु यथार्थ ॥७॥
कामदुघासुत पार्थवर, सुरतरु-मंडपबन्ध। अचरज नहिं सब सिद्ध हों, सुमनोरथ सम्बन्ध ॥८॥
सदा पार्थ सुखरूप, अब उपदेशन करि कृपा। पावत ब्रह्मस्वरूप, जो कोपहु मरे, कृष्ण के ॥९॥
केशव के निज भक्त हैं, कृष्णरूप हिय होय। पुनि जो जो संकल्प मन, पूर्णसिद्ध सब सोय ॥१०॥
अर्जुन में निःसीम है, अति उत्तम इमि प्रेम। अतः तासु के काम सब, सदा सफल करि नेम ॥११॥
श्री अनन्त इहि कारणहि, पूछत मनगत सार। जानि थार भरि परसि धरि, उत्तर हेतु उदार ॥१२॥
कुच पिवाय शिशु दूर चलि, तासु भूख लगि मात। इमि तोका कहि शब्द सो, पुनि पय दै कहि तात ॥१३॥
अहहि कृपा अस ठाँर गुरु, कछु अचरज नहिं जान। अधिक कहा कहि देव जो, सादर सुनहु सुजान ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

अर्थ—कहि अविनाशिहिं ब्रह्म पर, अरु अध्यात्म स्वभाय।
उत्पति कारण प्राणि को, कर्म विसर्ग कहाय ॥३॥

यों सर्वेश्वर कहि भन्यो, यह सछिद्र आकार। कौनहु काल विनाश को, पावत नहिं धनुधार ॥१५॥
सूक्ष्मपनो इमि तासु लखि, पैनहिं शून्य स्वभाव। जिमि अंचल आकाश महँ, लखि शून्यता लखाव ॥१६॥
जो ऐसे रहि सूक्ष्मपन, ज्ञान प्रपञ्ची खोल। गिरत न रंच हिलोर तें, परब्रह्म तिहिं बोल ॥१७॥
जो उपजै आकार, जन्म धर्म नहिं जान पै। नसै न कबहुँ उदार, जो शरीर के नाश तें ॥१८॥
नित्य ब्रह्म की सहज थिति, इहि विधि अपने ठाँव। भाषत हैं अध्यात्म कहि, अर्जुन ताको नाँव ॥१९॥
जिमि निमल नभ माँहि उठि, अभ्रपटल इक बार। अर्जुन नाना भाँति किमि, जानो नहीं उदार ॥२०॥
निर्मल ब्रह्माकार बिनु, भूतभेद हंकार। होन लगत है आपही, तिमि ब्रह्माण्डाकार ॥२१॥
निर्विकल्प वपु भुविहिं फुटि, मैं बहु हौं अस चाह। और चिन्ह ब्रह्माण्ड के, उपजैं तहँ नरनाह ॥२२॥

देखहु भीतर एक इक, बीजहि भरो देखात । जीव उपज चय की तबहिं, गणना लखी न जात ॥२३॥
अंशहि अति ब्रह्माण्ड पुनि, उपजि अनंत अपार । अधिक कहा इमि सृष्टि बढ़ि, आदि मनो व्यापार ॥२४॥
दूजे के बिन भरि रह्यो, परब्रह्म ही एक । पै लागत जिमि पूर बहु, आयो पार्थ अनेक ॥२५॥
किमि रचि वृथा चराचरहिं, विषम और समभाय । योनि लखि लखि परत लखि, उपजत जानि न जाय ॥२६॥
जीवपनहिं विस्तार, इतर अमर्यादित बढ़े । मूलहिं शून्य निहार, उपजत ये सब कौन तें ॥२७॥
अतः मुख्य कर्ता न दिखि, नहिं कारण औ अन्त । मध्य कार्य की आपहीं, वृद्धि सुभद्रा कन्त ॥२८॥
कर्तहिं तजि प्रत्यच्छ लखि, इमि अव्यक्ताधार । कर्म करत हैं ताहि को, जो व्यापाराकार ॥२९॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अर्थ—नाशवंत अधिभूत अरु, व्यष्टि समष्टअधि देव ।
इहि तन में अधियज्ञ मैं, पार्थ जानि मुहिं एव ॥४॥

जाहि कहत अधिभूत तिहिं, कहि संक्षेप बताय । जिमि नभ माहीं अभ्र ह्वै, पुनि तहँ जात नसाय ॥३०॥
जिमि असत्य अस्तित्व तिहिं, सत्य न होवे तासु । पंचीकृत पँचभूत मिलि, रूप बनावत जासु ॥३१॥
आश्रय करि पंचभूत रहि, तिहि सयोग दिखाय । जो नसि समय वियोग के, नामरूप नरराय ॥३२॥
कहत जाहि अधिभूत पुनि, जीव जानि अधिदेव । प्रकृति जन्य जो भोग तिहिं, उपभोगत ते एव ॥३३॥
चेतन को जो चक्षु अरु, इन्द्रिय जगअध्यक्ष । जे तनु अन्ते संकलप, विहँग निवासी वृक्ष ॥३४॥
जो दूजो परमातम पै, शयन नींद हंकार । अतः स्वप्न के खटपटहिं, दुख सन्तोष अपार ॥३५॥
कहिय जीव ही नाम जिहिं, टेरत पार्थ पुकार । जानहु पंचायतन को, तिहिं अधिदैव उदार ॥३६॥
अब इहिं ग्राम शरीर, विलय करत तन भाव जो । मैं अधियज्ञ सुधीर, पांडुकुँवर तिहिं जानि इमि ॥३७॥
मैं ही हूँ अधिदैव अधिभूत सुनिश्चय जान । पै वर स्वर्णहिं खोट मिलि, तासु मूल्य कम मान ॥३८॥
उत्तम अंश मलीन नहिं, हीन अंश नहिं सोम । पै जब लगि तहँ मिलि रह्यो, तब लगि उत्तम सोन ॥३९॥

सब अधिभूतादिक ढँके, अंचल जो अज्ञान । तब लगि तिन तें भिन्नता, अर्जुन लीजै मान ।।४०।।
अंचल फटि, अज्ञान टुटि, भेदभाव मर्याद । अतः होय पुनि एक यदि, तब किमि भिन्न विवाद ।।४१।।
यदि ऊपर कचराशि के, फटक शिला धरि लाय । तिहिं देखत तामहँ प्रगट, तब दरार दरसाय ।।४२।।
केश अलग करि भेद कहँ, गयो न जान्यो जाय । डॉक देय करि जोरि को, फटकशिला को आय ।।४३।।
अरु अखंड है आदि तें, भेदयुक्त कच संग । केश दूर करि देखिये, ज्यों को त्योंहि अभंग ।।४४।।
अहंभाव के नसि गये, ऐक्यमूल ही आह । ऐक्य यथारथ है जहां, मैं अधियज्ञ नृनाह ।।४५।।
उपजत हैं सब यज्ञ, कर्मन तें तुम सन कह्यो । मन में धरि कर्मज्ञ, वर्णन लीन्हों होय सब ।।४६।।
सकल जीव विश्राम यह, सुख निष्कर्मागार । पै करिके सुस्पष्टता, तुमतें कहत उदार ।।४७।।
ईंधन प्रथम विराग दे, इन्द्रिय अग्नि उजेर । विषय द्रव्य की आहुती, देत न लागत देर ।।४८।।
औ' वज्रासन छिति पुनहिं, शोधि समुद्राधार । रचै वेदिका वर सुभग, तनमंडप निरधार ।।४९।।
संयम अनलहिं कुण्ड महँ, द्रव्यजु इन्द्रिय रूप । योग मन्त्र तें यजन करि, जे महान नरभूप ।।५०।।
विग्रह मन अरु प्राण पुनि, यहहि हवन-सम्भार । ज्ञान अग्नि निर्धूम करि, धरि सन्तोष उदार ।।५१।।
सामग्री सब ज्ञान महँ, इमि अर्पैं नरभूप । ज्ञान ज्ञेय में लीन पुनि, पूर्णज्ञेय स्वरूप ।।५२।।
इमि अधियज्ञ सुनाम तिहिं, जब बोले सर्वज्ञ । ताहि समय समुझत भये, तिहिं अर्जुन मर्मज्ञ ।।५३।।
समुझहु अर्जुन जानि अस, सुन्यो पार्थ वररीत । कृष्ण वचन सुनि सुख लह्यो, जब ही पार्थ पुनीत ।।५४।।
कृतकृत्यता सुजान, देखि बाल की तृप्ति कृत । जानत तिहिं मतिमान, जननी वा सद्गुरु दुवौ ।।५५।।
अतः पार्थ के प्रथम बहु, प्रभु हिय सात्त्विक भाय । नहिं समात पै देव तिहिं, निग्रह कीन सुभाय ।।५६।।
सुख सुगन्ध परिपक्व वा, अमृत शान्ति तरंग । कोमल अरु रसयुत वचन, पुनि भाषत श्रीरंग ।।५७।।
सुनु अर्जुन एहि भांति जब, सब माया जरि जाय । माया जारनहार तब, ज्ञानहु जरत स्वभाय ।।५८।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।५।।

अर्थ—सुमिरन करि मन जो तजै, देह अन्त ही काल।

मम स्वरूप महँ मिलत सो, संशय नाहिं भुवाल ॥५॥

अवहि जासु वर्णन कियो, इह अधियज्ञ बखान। कारण आदि जु मैं अहौं, अन्त समय परियान ॥५९॥
ऐसहि मिथ्या मानि तन, आपुहिं आप स्वरूप। मठाकाश आकाश महँ, रहि तिमि आत्मस्वरूप ॥६०॥
अनुभवरूपी मध्य गृह, खोली निश्चय रूप। बसि तहँ चिन्तन बाह्य को, करत नहीं नरभूप ॥६१॥
अन्तर बाहिर ऐक्य इमि, ह्वै मद्रूप रहाय। कवच भूत पँच बाह्य पड़ि, पैं नहिं जानी जाय ॥६२॥
जिहिं जीवत तन चित न कछु, पतन भये दुख काहि। तातें अनुभव उदर को, जल हालत है नाँहि ॥६३॥
ऐक्य-मनन तें रचित जो, हिय अविनाशहिं ढारि। नसी मलिनता घुलि रह्यो, समरस सिंधु मँझारि ॥६४॥
जो घट बीच दहारि, घट जल भरि चहुँ ओर रह्यो। तो किमि फूटै वारि, दैवयोग घट जाय फाटि ॥६५॥
उरग काँचली त्यागि वा, फैंके वसन उतारि। तो कहु कैसे देह को, मग्न होय धनुधारि ॥६६॥
निश्चय नसै शरीर तिमि, ब्रह्म भयो सर्वत्र। बुद्धि जानि करि ताहि किमि, लहै विकलता अत्र ॥६७॥
अन्त समय के माँहि जो, अर्जुन मो कहँ जान। देह त्याग जो करत हैं, ह्वै मद्रूपहि मान ॥६८॥
साधारण हू नियम इमि, मरण समय जिहिं चिन्त। अपने अन्तःकरण महँ, सोई होय तुरन्त ॥६९॥
जैसे कोऊ भयवशात्, चलै पवन गति पंथ। गिरै अचानक कूप में, तबहि सुभद्राकन्त ॥७०॥
कूप परन के प्रथम जब, गिर्यो चहै नर जोय। कछु आधार न पाय के, परै कूप महँ सोय ॥७१॥
समय मरण के जीव के, सन्मुख जो दरसाय। अवशि होय तद्रूप ही, कैसहु नाहिं चुकाय ॥७२॥
जस उपजै मन माहिं अरु जागत में भाव जो। सोइ भाव दरसाहिं, स्वप्न समय में नयन महँ ॥७३॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अर्थ—जो जिहिं भाव मनुष्य मन, धरि कै तजै शरीर।

सदायुक्त ह्वै भाव तिहिं, अपर जन्म लहि वीर ॥६॥

जीवत अन्तःकरण में, जाको जैसी चाह। अन्तकाल तिहिं चाह की, वृद्धि होय नर नाह ॥७४॥
समय मरण जिहिं चिन्त जो, ताही गति सो पाय। अतः मोहिं सुमिरहु सदा, तुम निशदिन चितलाय ॥७५॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

अर्थ—सदा ताहितें मुहि सुमिर, करहु युद्ध पुनि वीर।
मुहिं अर्पित मन बुद्धि करि, मिलि मुहिं शक न धीर ॥७॥

सुने कानतें जो कछू, जो देखै निज नैन। जो मन में करि चिन्तवन, मुख तें बोले बैन ॥७६॥
अन्तर बाहर में अहौं, मुहिं सर्वत्र विचार। अरु सब काल स्वभाव तें, मुहिं जानहु धनुधार ॥७७॥
अर्जुन इमि मद्रूप अरु, मरै न नसै शरीर। तो पुनि करि संग्राम जो, तुमहिं कहा भय वीर ॥७८॥
यदि तुम तन मन सत्यहू, अर्चहु मोर स्वरूप। तो पावसि मद्रूपता, प्रण करि भाषों भूप ॥७९॥
यह कैसे इमि हो सकै, यह संशय जो तोहि। तो वर्तहु अरु अनुभवहु,, कोपहु यदि नहिं होहि ॥८०॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अर्थ—योग उचित अभ्यास करि, अन्य न चिन्तत पार्थ।
परम पुरुष ते पावहीं, मम चिन्तनहिं यथार्थ ॥८॥

उत्तम रीति मिलाय, इमि अभ्यासरु योग चित। गिरिवर पर चढ़ि जाय, जिमि उपाय ते पंगुनर ॥८१॥
सतत किये अभ्यास ते, ब्रह्म छाप चित पाय। तब पुनि रहे शरीर वा, जाय न भय उपजाय ॥८२॥
गति अनेक चित लहत यदि, आत्म माहिं थिर जाय। पुनि कह चिन्तन देह की, रहै पार्थ या जाय ॥८३॥
सरितहिं केर प्रवाह करि, घोघो सिन्धु मिलाय। तब वह देखत लौटकर, पीछे होत कि काय ? ॥८४॥
सरित होत तब सिन्धु तिमि, चित चेतन को रूप। जन्म-मरण नसि जात बनि, परमानन्द स्वरूप ॥८५॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

अर्थ—सब अनादि सर्वज्ञ जो, पालक सकल नियन्त।
तेजस्वी रवि सम अतम, सूक्ष्म-सूक्ष्म अविचिन्त ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

अर्थ—अन्त समय मन अचल युत, भक्तियोग-बल तात।
सम्यग्भ्रुव मधि प्राण करि, दिव्य पुरुष मिलि जात ॥१०॥

निराकार अस्तित्व जस, जन्म मरण नहिं होय। सब व्यापकपन तें सबहिं, देखत अर्जुन सोय ॥८६॥
जो नभ में प्राचीन अति, अणु ते अणु सुमहन्त। जिहि सन्निधि में जगत के, सब व्यापार चलन्त ॥८७॥
जातें जन्मै सकल जग, तेहिं जगजीवन जान। कारण जासु न लखि परै, पार्थ अचिन्त्य महान् ॥८८॥
देखु न दीमक अग्नि चरि, तिमिर न प्रविशि प्रकाश। अज्ञ चक्षु को दिवस मधिहिं अंधकार-आभास ॥८९॥
जानिहिं नित उजियार, निर्मल रविकण राशि जो। सदा प्रकाश उदार, अस्त कबहुँ नहिं जासु को ॥९०॥
तें परिपूरण ब्रह्म को, अन्तकाल महँ पाय। सुस्थिरचित जे जानि कर, सुमिरन करैं सुभाय ॥९१॥
अर्जुन पद्मासन करहिं, उत्तर मुख बसि जाय। कर्मयोग तें प्राप्तसुख, अन्तःकरणहिं लाय ॥९२॥
अन्तरचित एकाग्र हित, प्रेम प्राप्त निजरूप। आपुहिं आप तुरन्त मिलि, पूर्ण ब्रह्म महँ भूप ॥९३॥
चले चक्र आधार तें, ब्रह्मरन्ध्र लगि राट्। योगाभ्यासहिं मध्यमा, नाड़ी के मधि बाट ॥९४॥

चित्तप्राण सँयोग तिहि, बाहर तें समभ्रात । पै आकाशहिं प्राण तस, लय पावत है तात ॥९५॥
धीरजयुत मन थिरपनहि, भक्तिभाव भरपूर । व्याप्त होय निज योगबल, सज्जित ह्वै रणशूर ॥९६॥
जो चित अचित विलीन करि, भ्रुकुटि मध्य सचार । जिमि घंटा के नाद लय, घंटा माँहि उदार ॥९७॥
इहिं विधि थिति तिहिं देह की, जानहु पार्थ सुजान । किंवा दीपक घट ढंक्यो, कब कहँ जात न जान ॥९८॥
सो ह्वै रहत ललाम, अरु सोही निज धाम मम । परम पुरुष है नाम, जो केवल परब्रह्म है ॥९९॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

अर्थ—अक्षर वर्णत वेदविद, रागरहित ह्वै जाँय ।
ब्रह्मचर्य करि चहत जिहिं, सो संक्षेप बताँय ॥११॥

सकल ज्ञान की सीम जो, आत्मज्ञान की खानि । ज्ञानीजन की बुद्धि जिहिं, अक्षर कहत सुजानि ॥१००॥
यह यथार्थ इक गगन जो, मुरत न पवन प्रचण्ड । जो यदि हो तो मेघ तो, कैसे रहत अखंड ॥१०१॥
जान्यो जाय जु ज्ञान तें, तो सीमित ह्वै जाय । अरु न जानिबे जोग तिहिं, अक्षर कहत सुभाय ॥१०२॥
अतः वेदविद पुरुष जिहिं, अक्षर भाषैं भूप । जानि प्रकृति ते हैं परे, श्रीपरमात्म स्वरूप ॥१०३॥
जिमि विष त्यागे विषय करि, सब इन्द्रिय स्वाधीन । उदासीन वृति देह वपु, तरु तर रहि आसीन ॥१०४॥
जासु निरन्तर पथ लखत, नर विरक्त जिहिं हेतु । निष्कामी जन सर्वदा, चाहत जिहिं कपिकेतु ॥१०५॥
कष्ट ब्रह्मचर्यादि के, गनत न जाके प्रेम । निष्ठुर हो निग्रह करत, इन्द्रिय को करि नेम ॥१०६॥
ऐसो जो दुर्लभ महा, अरु अथाह मति धीर । वेदहु गोता खात हैं, अर्जुन जाके तीर ॥१०७॥
इमि तन तजैं उदार, सोई पद लहि पुरुष तें । पुनि बरनौं इक बार, तातें अर्जुन ताहि को ॥१०८॥
अर्जुन तब कहि स्वामि हे, कहन चहत हौ याहि । सहज कृपा आपहिं करी, सो प्रभु कहिये ताहि ॥१०९॥
सुलभ शब्द अति पै कहहु, तब कहि त्रिभुवनदीप । जानो तुव अधिकार कहि, सुनु संक्षेप महीप ॥११०॥
सहजहि मन बाहर रहे, फेरहु तासु स्वभाव । हिय दरार में जाय धँसि, यत्न करहु नरराव ॥१११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्धन्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

अर्थ—सकल द्वार संयमन करि, हिय मधि मन थिर लाय ।
मस्तक चित धरि योगविधि, प्राण अचल ठहराय ॥१२॥

इन्द्रिय सकल अखण्ड लगि, संयम रूप किवांर । यह तब ही हो सकै, एसहि पाण्डुकुमार ॥११२॥
इमि सहजहि मन रुकि रहै हिय मधि थिर ह्वै जाय । जिमि पंगुल बिनु कर चरण घर रह चलि न सकाय ।११३।
अर्जुन तिमि चित थिर करै, प्राणहिं प्रणवाकार । ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पुनि, क्रमशः प्राणहिं धार ॥११४॥
अर्धमात्र महँ मात्र त्रय जब लगि लीन न होय । नभ महँ नभ मिलि या नहीं धरि धारणा बल जोय ॥११५॥
करहिं निराली थिर पवन तब लगि पार्थ सुजान । जब लगि प्रणव समीर द्वौ ब्रह्ममाँहि रममान ॥११६॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

अर्थ—सुमिरन करि मम ब्रह्म इक, अक्षर प्रणव उचार ।
देह त्याग करि जात जन, उत्तम गतिहिं उदार ॥१३॥

देह तजहिं तिहिंकाल जब, सुमिरन रुकि ओंकार । पावत ब्रह्मानन्द वपु, पुनि प्रणवहु ते पार ॥११७॥
जो एकाक्षर ब्रह्म है, अतः प्रणव इक नाम । परम स्वरूप हमार जो, सुमिरन करत ललाम ॥११८॥
जो इमि तजै शरीर को, सो निश्चय मुहिं पाय । अर्जुन जाकी प्राप्ति तें, अन्य न कछु रहि जाय ॥११९॥
यदि तुव मनमहँ शंक कछु उठत होय इह पार्थ । मरण समय सुस्मरण मम किमि ह्वै सकहि यथार्थ ॥१२०।
जीवन को सुख जाय नसि, इन्द्रिय संकट पूरि । भीतर बाहर मृत्यु के, लक्षण प्रगटत भूरि ॥१२१॥
आसन को करि सकै तब, मननिरोध करि कौन । कौन करे प्रणवस्मरण, व्याकुल अन्तर्-भौन ॥१२२॥
संशय तुम इमि जनि करहु, आपुन मन महँ पार्थ । नित सेवहिं जे मोहि तिन, सेवहुँ अन्त यथार्थ ॥१२३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः, संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

अर्थ—जो योगी एकाग्रचित, सुमिर सदा मन मोहिं ।
समाधानयुत सुलभ मैं, प्राप्त होत हौं ओहिं ॥१४॥
सिद्धि परम लहि सन्त ते, पाय मोहिं सुखधाम ।
नाशवन्त जन्मरु मरण, पुनि न लहैं दुखधाम ॥१५॥

देय तिलांजलि विषय भरि, बेडि प्रवृति के पाँय । हृदय मोहिं धारण करैं, अर्जुन भोग सुखाय ॥१२४॥
समाधान वपु भोग में, भेंटि न क्षुधा पियास । तब नयनादिक रंक की, किमि पूरैं अभिलाष ॥१२५॥
निर् अन्तर मम ऐक्य इमि, जो हिय महँ तल्लीन । व्याप्त होय मम भक्ति करि, ह्वै मद्रूप प्रवीन ॥१२६॥
अर्जुन अन्तिम समय मे, मम सुमिरन करि जोय । ते यदि मुहिं पावैं नहीं, भक्ति वृथा तब होय ॥१२७॥
दीनहिं इक निरुपाय कहि, व्याकुल धाय बचाय । तौ किमि संकट नास हित, धावौं नहीं तुराय ॥१२८॥
जो ऐसी थिति भक्त की, कहा भक्ति को भाव । संशय धुनि इहिं भांति की, पार्थ न मोहिं सुनाव ॥१२९॥
जब सुमिरैं मोहिं भक्तजन, सुमिरत पहुँचों पास । पै सुमिरन आभार तिहिं, सहि न सकों रिपुत्रास ॥१३०॥
निरखि अंग निज इमि ऋणी, करन हेतु उद्धार । देहत्याग के समय में, सेवौं भक्त उदार ॥१३१॥
आकुलता सम्बन्ध तन, लगि न भक्त सुकुमार । आतमबोध के कवच तिहिं, झटिति धरौं धनुधार ॥१३२॥
निज सुमिरन की ताहि पर, छाया शीतल लाय । नित्य बुद्धि संचार करि, मैं तिहिं इमि कुरुराय ॥१३३॥
अतः दुःख तन त्याग को, परत भक्त पर नाहिं । अरु निज भक्तहिं लाय मैं, सुखसौं अपने पाहिं ॥१३४॥
आत्म त्वचा तन कादि रज, झारि वृथा अभिमान । शुद्ध वासना शेष करि, मिलि मद्रूप सुजान ॥१३५॥
अहहिं न प्रीति विशेष, कबहुँ भक्त को देह महँ । व्यापत नहीं कलेश, अतः ताहि तन त्याग को ॥१३६॥

अन्त समय महँ आय मैं, पुनि लाऊँ निज रूप। भक्त न समझि स्वभावतः प्रथम होय मद्रूप ॥१३७॥
लखहु चन्द्र प्रतिबिम्ब जिमि पै न चन्द्र तजि भूप। तिमि तन जल महँ रहतहू प्रतिभा आत्मस्वरूप ॥१३८॥
सततयुक्त मम भक्त जो, सदा सुलभ मैं ताहिं। अतः देह तजि निश्चितहि, होवहि मद्रूपाहि ॥१३९॥
क्लेश विटप वन देह जे, तपि तापत्रय भार। मृत्यु काक-बलिरूप जिमि, तजी गई धनुधार ॥१४०॥
जो उपजाय दरिद्रता, मरनभीति बढ़ि जाय। पूर्णपात्र सब दुःख को, तिहिं जानहु नरराय ॥१४१॥
दुर्मति को जो मूल है, अरु कुकर्म फलरूप। अर्जुन केवल भ्रान्ति को, जा कहँ जानि स्वरूप ॥१४२॥
बैठक जो संसार की, जो विकार उद्यान। सब रुज जेंवन थाल जो, धरी परोसी जान ॥१४३॥
काल जुठारी खीचड़ी, आशा ढाँच शरीर। जन्म-मरण को पन्थ है, यह स्वभाव सों वीर ॥१४४॥
जिहि विकल्प के ढार, जो भ्रमतें भरि करि रह्यो। ढेरि लग्यो धनुधार, अधिक कहा वृश्चिकन को ॥१४५॥
क्षेत्र अहै जो व्याघ्र को, गणिका मित्र समान। यंत्र विषय विज्ञान को, उत्तम पार्थ सुजान ॥१४६॥
डाकिनि दाया धाम जो, शीतल जल विष घूँट। साहु चोर जो अंगबल, जो विश्वास अटूट ॥१४७॥
जो आलिंगन कुष्ठि को कृष्ण सर्प मृदु मान। गायन मधुर बहेलिया, पुनि स्वभाव सों जान ॥१४८॥
जो रिपु को आतिथ्य अरु, दुर्जन को सत्कार। अधिक कहा सागर अहै, जो अनर्थ को भार ॥१४९॥
स्वप्नहिं देखें स्वप्न सा, मृगजल वन-विस्तार। धूम धूलि आकाश जनु, सोचहु लीन्हों ढार ॥१५०॥
इमि तन पुनि पावत नहीं, ते नर पाण्डुकुमार। एक होय करिके रहहिं, जो मद्रूपाकार ॥१५१॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अर्थ—सकल लोक नाशहिं लहत, ब्रह्मलोक पर्यन्त।
पै केवल मुहि पाय करि, जन्म न कबहुँ न अन्त ॥१६॥

चुकि न जन्म-मृतचक्र जो, अहंकार ब्रह्मत्व। दुखि न उदर जिमि मृत्यु तिमि, बचि लहि मद्रूपत्व ॥१५२॥
जैतर जागृति डूबि नहीं, महापूर जो स्वप्न। मोहिं पाय तिमि जगत महँ, लिप्त नहीं शत्रुघ्न ॥१५३॥

शिखर जगत आकार, चिर जीवन महँ मुख्य जो। शीर्ष त्रिलोक विचार, ब्रह्मभुवन जो श्रेष्ठ अति ॥१५४॥

एक पहर जिहिं ग्राम के, इन्द्रायुष्य न पूर। इन्द्र चतुर्दश दिवस महँ, विलय एक सर शूर ॥१५५॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

अर्थ—सहस बार यो युग बितै, ब्रह्मा को दिन एक।

इतने ही की रात्रि है, जानत जन सविवेक ॥१७॥

चौगुन जॉय सहस्र जब, इक दिन होय यथार्थ। अरु तिति बार सहस्र युग, ब्रह्मरात्रि हो पार्थ ॥१५६॥

ऐसहि जहँ दिन रैन तहँ, मरत न जे सौभाग्य। चिरंजीव स्वर्गस्थ जे, देख सकहिं बड़ भाग्य ॥१५७॥

इन्द्र आदि लखि तिहिं दशा, चौदह इक दिन माँहि। इतर सुरन के कौतुकहिं, कैसे बरनै जाहिं ॥१५८॥

आठ पहर निज नैन तें, ब्रह्मदेव के देख। अहोरात्रविद इमि कहत, जानहु पार्थ विशेख ॥१५९॥

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

रात्र्याऽगमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

अर्थ—आवत दिन अव्यक्त तें, जन्म लहहिं सब व्यक्त।

आवत रजनी व्यक्त लय, होहिं मध्य अव्यक्त ॥१८॥

सब चर अचर वही वही, पुनि जन्मत पुनि लीन।

दिवसागम महँ जन्म लहि, निशि आगमन विलीन ॥१९॥

दिवसागम जब ब्रह्म तब, गणना कहुँ न समाय। निराकार साकार इमि, होय विश्व समुदाय ॥१६०॥

अरु यह निधि आकार नसि, चार प्रहर दिन अन्त। दिवसागम पूर्वोक्त विधि भरहिं सुभद्राकन्त ॥१६१॥

शरत्काल प्रारम्भ जिमि, मेघ गगन महँ लीन। ग्रीष्मकाल के अन्त पुनि, ते प्रगटात नवीन ॥१६२॥

जगत भूत समुदाय, आदि ब्रह्म दिन प्रकट तिमि । विलय निमित्त पराय, चौ-जुग चार सहस्र जब ॥१६३॥
समय रात्रि लखि जग सकल, निराकार महँ लीन । जुग सहस्र बीते पुनः, विरचहिं विश्व नवीन ॥१६४॥
कहहुँ कहा उद्देश जग, विलय होय उपजाय । इमि भुवनत्रय माँहि है अहोरात्र किमि आय ॥१६५॥
किमि महत्त्व की निपुणता, सृष्टि बीज आगार । जन्म मरण के माप की, सीम मध्य धनुधार ॥१६६॥
धनुधर इमि त्रैलोक्य है, ब्रह्मलोक प्रस्तार । ब्रह्मदिवस के उदयतें, इक सर विरचि अपार ॥१६७॥
समय रात्रि कर पाइ पुनि, अरु आपुहीं विलीन । ब्रह्मायसु से उचित थल, समनिज-भाव प्रवीन ॥१६८॥
जिमि नभ माहीं मेघलय, बीज माँहि तरु जान । जहाँ अनेक विलीनता, कहँ तिहिं साम्य सुजान ॥१६९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अर्थ—इतर भाव पर व्यक्त ते, अविनाशी अव्यक्त ।
सचराचर के नाश तें, नाश न होय सशक्त ॥२०॥

दिखत न सम अरु विषम कहुँ, अतः भूत नहिं भास । दही होय जिमि दूध तें, नाम रूप करि नास ॥१७०॥
जबहिं लुपै आकार तब, जग को जगपन नास । पै जहँ लय पावहि तहाँ, ज्यों के त्यों ही भास ॥१७१॥
कहत व्यक्त आकार, नाम सहज अव्यक्त तिहिं । सत्य न दुवौ विचार, ये सूचक इक एक के ॥१७२॥
जबहिं रजत गलि जाय कहि, लगरी तिहिं आकार । अलंकार के बनत ही, लगरी नसत विचार ॥१७३॥
दोऊ रूपान्तर बनत, जिमि सुवर्ण के माँहि । व्यक्ताव्यक्त विचार तिमि, एक ब्रह्म के माँहि ॥१७४॥
नहिं अव्यक्त न व्यक्त सों, अविनाशी अरु नित्य । जन्म मरण तें रहित है, जो अनादि नित सत्य ॥१७५॥
जगाकार है ब्रह्म पै, ब्रह्म न नसि जग नास । अक्षर पोंछे मिटत नहिं, जैसे अर्थ प्रकास ॥१७६॥
उठत लहर अरु नसत पै, होत न जल को नाश । भूतभाव नसि जात पै, ब्रह्म न नसि अविनाश ॥१७७॥
अलंकार के नाश जिमि, स्वर्ण न नसत सुजान । जीवाकार नसात हूँ, ब्रह्म अमर धीमान ॥१७८॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

अर्थ—अक्षर जो अव्यक्त सो, कहत परम गति ताहि ।
जाहि पाय लौटत नहीं, परम धाम मम आहि ॥२१॥
जा मधि निवसत भूत सब, सब महँ व्यापक जोय ।
परम पुरुष सो प्राप्त इह, भक्ति अनन्यहि होय ॥२२॥

कौतुक जिहिं अव्यक्त कहि, इमि नुति होय न जासु । जो मन बुद्धि न आ सकहि, किमि बरनन करि तासु ॥१७९॥
निराकारपन जाय नहिं, जो आवै आकार । अरु लोपै आकार जो, तहँ नहिं रहत विकार ॥१८०॥
कहतहिं उपजत बोध, अतः जाहि अक्षर कहत । नाम परम गति शोध, जासु परे कछु दिखत नहिं ॥१८१॥
सब शरीर पुर माँहि इहि, निद्रित पुरुष समान । करत करावत कछु नहीं, जो व्यापार सुजान ॥१८२॥
यों व्यापार शरीर के, रुकत न एकहु कोउ । मार्ग दशहु इन्द्रियन के, चलत रहत हैं सोउ ॥१८३॥
उघरि विषय की पैठ पुनि, लगि मन की चौहाट । अन्तर्यामी ही लहत, सुख दुख रूपी बाट ॥१८४॥
जिमि नृप सोवै सुख सहित, रुकत न कछु व्यापार । प्रजा करति व्यापार सब, निज इच्छा अनुसार ॥१८५॥
यों संकल्प विकल्प मन, तैसहिं बुद्धिहिं जान । इन्द्रियगण करते क्रियहिं, पवन स्फुरण सुजानि ॥१८६॥
देह क्रिया सब करत नहिं, होय जु आप स्वभाय । जिमि न चलावत सूर्य अरु, लोक चलत नरराय ॥१८७॥
निद्रित जो सम बसि रह्यो, अर्जुन माँहि शरीर । ताहि पुरुष इमि कहत हैं, अस समझहु रणधीर ॥१८८॥
और प्रकृति जु पतिव्रता, इकपत्नी-व्रत धारि । या कारण तिहिं को पुरुष नाम पर्‌यौ धनुधारि ॥१८९॥
दिव्य दृगहिं लखि तासु, गगनाच्छादन करत जो । निरखि न आँगन जासु, बृहद् विवेकी वेद बहु ॥१९०॥
यों योगीश्वर जानि कहि, परे प्रकृति अरु जीव । एकनिष्ठता भक्त की, ढूँढ़त आवै सीव ॥१९१॥

चित्त, वचन अरु कर्मतें, जानत और न लीक। दायक उत्तम क्षेत्र जो, एक निष्ठता पीक ॥१६२॥
सत्यहि जिहिं मन धर्म इमि, आत्मरूप त्रय लोक। आश्रय तिन्ह आस्तिकन को, पाण्डव होहु अशोक ॥१६३॥
गौरव जो कैवल्य को, जो निर्गुण को ज्ञान। जो निस्पृह के सौख्य को, राज्य महासुखदान ॥१६४॥
जननि अनाथ अचिन्त की, संतोषी की थार। सरल मार्ग जो भक्ति मिलि, मोक्ष ग्राम पैसार ॥१६५॥
इमि इक इक करिके वृथा, किमि वरनौं बहु पार्थ। पै तिहि ठावहि जातहीं, लहि तद्रूप यथार्थ ॥१६६॥
उष्ण उदक शीतल बने, शीतल हिमहिं झकोर। अन्धकार रवि के उये, नासि जाय चहुँ ओर ॥१६७॥
जगहु जाय तिहि ग्राम जिमि, तहाँ गये ते पार्थ। आपहुँ पावहिं पूर्णतः, मोक्ष स्वरूप यथार्थ ॥१६८॥
जिमि अनलहिं ह्वै जाय, अनल माँहि ईंधन परै। काठ कोष्ठ कुरुराय, जरे काठपन रहत नहिं ॥१६९॥
किंवा खाँड बनाय पुनि, बुद्धिमन्त विज्ञान। ताको ऊख न कर सकहिं, कौनहुँ भाँति सुजान ॥२००॥
कंचन जब बनि लोह तें, इक पारसहिं प्रभाव। अपर कौन पारस अहै, जो तिहिं लोह बनाव ॥२०१॥
बहुरि होय घृत तब पुनः, दूध स्वरूप न होय। तिमि लहि के मद्रूपता, पुनि आवृत्ति न सोय ॥२०२॥
सोइ परम मम वस्तुतः अर्जुन है निजधाम। गुह्य मर्म तुम सन कह्यो, यह अर्जुन सुखधाम ॥२०३॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

अर्थ—जेहि समय मरि योगिजन, पुनर्जन्म नहिं लेंय।
अरु जब मरि ते जन्म लहहिं, सोय कहहुँ कौन्तेय ॥२३॥

अरु इकविधि तिमि जानिबो याको सहज सुजान। तन तजि जेहि अवसर मिलहि योगी जाहि ठिकान ॥२०४॥
अकस्मात यदि होय इमि, अनअवसर देहान्त। तो तनधारण अवशहीं, होय सुभद्राकान्त ॥२०५॥
शुद्ध समय यदि तन तजै, होय तुरंत मद्रूप। यदि अकाल में देह तजि, पुनर्जन्म लहि भूप ॥२०६॥
जिमि लहि जन सायुज्यपद, वा आवृति संसार। दुहुँ अवसर स्वाधीन कहि, सो प्रसंग अनुसार ॥२०७॥
आवहिं काल समीप, सुनहु सुभट जब मरण को। आपहिं जात महीप, पञ्चभूत निजमार्ग तें ॥२०८॥

अन्तसमय इमि मिलहि जो भ्रम न बुद्धिकहँ भास । सुस्मृति अन्ध न होय अरु मन न नष्ट ह्वै तास ॥२०९॥
सकल प्राणि समुदाय यह अन्तहि अरुज दिखाय । ब्रह्मभाव अनुभवत जो तिहिं उपयोगहिं लाय ॥२१०॥
अरु सतर्कता सहित इमि, अन्तकाल पर्यन्त । जठरानलहु सहाय करे, ऐक्य-प्राप्ति अनन्त ॥२११॥
यदि समीर वा नीर तें, दीप प्रकाश नशाय । विद्यमानहू दृष्टि निज, पै तब कहाँ दिखाय ॥२१२॥
अन्त समय तिमि वात बढ़ि, अन्तर बाह्य शरीर । व्याप्त होय कफ बुझत है, तेज दीपवत् वीर ॥२१३॥
नहीं प्राण के प्राण तब, तहँ बुधि करि सकि काय । अतः अग्नि विन देह महँ नहिं चैतन्य थिराय ॥२१४॥
अनल जाय यदि देह तें, देह न गीलो कीच । वृथा आयु को समय निज, खोजि अँधेरे बीच ॥२१५॥
चिन्तनहू सब बात को, मरण समय महँ होय । पुनि तन त्यागि स्वरूप को, कैसे पावहि सोय ॥२१६॥
सोऊ जात नसाय, पिछली अगली चिन्तना । तब चेतन्त डुबाय, कफ कर्दम तिहिं देह महँ ॥२१७॥
अतः पूर्व अभ्यास कृत, मरणपूर्व नसि जाय । धरी वस्तु जिमि मिलन के प्रथमहिं बीज बुझाय ॥२१८॥
अधिक कला बहु जानि यह, ज्ञानमूल है अग्नि । अन्त समय सम्पूर्ण बलहिं दायक केवल बन्हि ॥२१९॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अर्थ—अनल ज्योति दिन पक्षसित, उतरायन षट मास ।
देह त्यागि तब ब्रह्मविद, ब्रह्म लहै अनियास ॥२४॥

बाह्य हिय, ज्योति कृशानु प्रकाश । उतरायन षट् मास महँ, होवै कौनहु मास ॥२२०॥
होय इमि, समययोग सब बात । तब ज्ञानी पावत अवशि, ब्रह्म स्वरूपहिं तात ॥२२१॥
यह अवसर सामर्थ्ययुत, ताहि सुनहु धनुधार । यह स्वरूप की प्राप्ति महँ, सुगम मार्ग उर धार ॥२२२॥
अहहि अग्नि सीढ़ी प्रथम, दूजी ज्योति प्रकाश । दिवस जानिये तीसरी, चौथी पक्ष सिताश ॥२२३॥
अरु उतरायन मास छः, उत्तम है सोपान । सिद्धिधाम सायुज्यता, योगी लहत महान ॥२२४॥
कह्यो अर्चिरादिक पथहिं, उत्तम काल बखान । अब अकाल जाको कहहिं, भाषहुँ सुनहु सुजान ॥२२५॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

अर्थ—दक्षिण अयने मास छः, धूम रात्रि तम पाख ।
चन्द्रलोक लहि योगि पुनि, लौटत सह अभिलाष ॥२५॥

कफ पित वातहु पूरि, देह अन्त के समय भरि । तहँ उपजत हैं भूरि, अन्धकार अन्तःकरन ॥२२६॥
इन्द्रियगन बनि काष्ठवत्, सुस्मृति भ्रमहिं डुबाय । मन बावलो विलोकियत, प्राण छुटत दुखदाय ॥२२७॥
जाय अनल को अग्निपन, चहुँ दिशि धूमहि होय । तासु देह की चेतना, रहति न अर्जुन सोय ॥२२८॥
चन्द्र छिपाकर जल सहित, जैसे मेघ घिराय । नहि प्रकाश अँधियार नहिं, झाँवर रूप जनाय ॥२२९॥
जीवतहू पड़ि जड़ सरिस, मरहि न चेतन शेष । मर्यादा आयुष्य लगि, मरण समय कह देख ॥२३०॥
इमि मन बुधि इन्द्रियन महँ, धूम समूह भराय । लाभ जन्म संचित सकल, तिहिं तब पार्थ नसाय ॥२३१॥
जबहि लाभ नसि हाथतें, तब किमि लाभ बखान । अतः मरण के समय तब, ऐसी दशा सुजान ॥२३२॥
यों अन्तर थिति, तन बहिर, कृष्णपक्ष अरु रात । दक्षिण अयने मास षट्, तिन मधि तन नसि तात ॥२३३॥
जन्म मरण के योग ये, सब इकत्र जिहिं काल । मोक्ष कहानी काम तिहि, कैसे सुनैं भुवाल ॥२३४॥
योगिहु शशिपथ धारि, इमि जो तन त्यागहि सदुख । जनम मरन संसार, परिहैं ते बहुरै बहुरि ॥२३५॥
अर्जुन कह्यो अकाल जो, सो याही को जान । जन्म मरण वपु ग्राम को, धूम्र मार्ग बलवान ॥२३६॥
अर्चिर् आदिक मार्ग सो, श्रेष्ठ नगर को पन्थ । मोक्षधाम लगि सर्वथा, सुलभ सुभद्राकन्त ॥२३७॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यथाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

अर्थ—सितरु कृष्णगति जगत महँ, सम्मत नित्य प्रमाम ।
इक गति पाय निवृत्ति पद, अपर प्रवृत्ति प्रधान ॥२६॥

दोऊ पंथ अनादि इमि, एक सरल इक बंक । अतः बुद्धियुत सुभट तुहिं, दरशाये निःशंक ॥२३८॥

कारण मार्ग अमार्ग लखि, सांच झूठ पहिचान। अपने हित की दृष्टि तें, हित अनहित कहँ जान ॥२३९॥
निरखत उत्तम तरनि किमि, कूदे नीर अथाह। जानि राजपथ किमि चलै, कोऊ कानन मांह ॥२४०॥
जो विष अरु अमृत लखै, सकै न अमृत त्यागि। राजमार्ग कहँ जानि सो, चलै न कानन लागि ॥२४१॥
खरे खोट को परख कर, जब पारख पा जाय। अतः कौन पड़ि संकटहिं, मोतें कहु नरराय ॥२४२॥
इमि तन त्यागे कष्ट बहु, सभ्रम बहु इहि पंथ। अभ्यासहु इहिं जन्म को, वृथा सुभद्राकंत ॥२४३॥
धूम्रपथ महँ जाय, अर्चि पंथ यदि चूकि पड़ि। भ्रमत फिरहि दुखदाय, जुतै तबहि संसार पथ ॥२४४॥
ऐसहि बहु सकट निरखि, किमि छूटै इक बार। अतः योगपथ भांति द्वै, कहि सुस्पष्ट विचार ॥२४५॥
इकहि पंथ ते मोक्ष लहि, अरु इकतें संसार। पै तन त्यागत दैवगति, जो जिहिं मिलै उदार ॥२४६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

अर्थ—योगी मोह कदापि नहिं, सो इहि पंथन जान।
योगयुक्त हो सर्वदा, तातें पार्थ महान ॥२७॥

अकस्मात कब होय यह, यह कछु कह्यो न जाय। कहहुँ मार्ग याको कवन, तन तजि ब्रह्महिं पाय ॥२४७॥
अब तन रह वा जाय मैं, केवल ब्रह्मस्वरूप। रजु महँ सर्पाभास नसि, केवल रजु नरभूप ॥२४८॥
इमि जल महँ कहुँ भास जो, है तरंग वा नाहिं। जल ज्यों को त्यों ही अहै, करु विचार मन माहिं ॥२४९॥
उदक न जन्मै तरंग ह्वै, नसै न नसे तरग। जिमि देही रहि देह महँ, ब्रह्म स्वरूप अभंग ॥२५०॥
नामहि मात्रहु रटत नहिं, सो तनको तिहिं माँहि। मरन तासु किमि हो सकै, कैसे कवन जनांहि ॥२५१॥
देश समय आदिक सकल, यदि रहि निज आधीन। तो पुनि ढूँढन हेतु किमि, को कहँ जाय प्रवीन ॥२५२॥
सरल मार्ग नभ जाय, अरु अब घट फूटै तबहिं। यो तो नहीं चुकाय, लगी मार्ग तें गगन मिलि ॥२५३॥
निरखि वास्तविक बात यह, घटाकार ही नाश। घटाकार के प्रथम रहि, नभवपु घट आकाश ॥२५४॥
सो ही मैं हौं योगि इमि, अनुभव लहि सुख ज्ञान। संकट मार्ग अमार्ग को, होत न ताहि सुजान ॥२५५॥

कारण यह अर्जुन तुमहु, योगयुक्त ह्वै जाव। ब्रह्मरूपता सब समय, आपुहिं होय स्वभाव ॥२५६॥

चहहि जहाँ जिहिं काल पुनि, देह रहै वा जाय। पै नित्यहिं बंधन रहित, नसि न ब्रह्म को भाय ॥२५७॥

जन्महि आदिहिं कल्प नहिं, कल्प अन्त मृत नाँहि। स्वर्ग और संसार के, फँसत न मोहहिं माँहि ॥२५८॥

जो योगी यह ज्ञान लहि, सो फल पावत ज्ञान। भोगहि ठेलत लात सों, निज-स्वरूप रममान ॥२५९॥

अति प्रसिद्ध सुख स्वर्गपुर, इन्द्रादिक को राज। ताहि त्याज्य गनि दूर करि, अर्जुन योगीराज ॥२६०॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

अर्थ—दान मखहु तप वेद महँ, कहहिं पुण्यफल जोइ।
सबतें पर अति आद्यथल, योगी पावत सोइ ॥२८॥

कीजिय यदि वेदाध्ययन, वा पीके मख खेतु। वा तप दानहिं जोरिये, सबहि पुण्य कपिकेतु ॥२६१॥

सब फलरूप-बहार, भरहिं पुण्यवपु-वाटिका। होय न पाण्डुकुमार, परब्रह्म निर्मल सरिस ॥२६२॥

नित्यानन्द प्रमान तें, उपमा सम न दिखाय। साधन वेद मखादि कहि, जिहिं सुख हित नरराय ॥२६३॥

नहिं समास कबहूँ अहै, कबहुँ न होय बिगार। पूरक इच्छा भोग की अति सुख को आगार ॥२६४॥

इमि सुखकारी दृष्टि तें, दैवयोग जहँ वास। शतमखहू ते सधत नहिं, जो अर्जुन बलरास ॥२६५॥

दिव्य-दृगहिं अटकलहिं अरु, कौतुक तें अनुमान। योगीश्वर तुच्छहि गनत, तिहिं अर्जुन मतिमान ॥२६६॥

करहिं दव्यसुख-स्वर्ग की, ते पायँरी सुजान। परब्रह्म-पद पर चढैं, ब्रह्मस्वरूप महान ॥२६७॥

इमि सचराचर भाग्य इक, आरापित ब्रह्माहु । योगिन को उपयोग अरु, भोग द्रव्य नरनाहु ॥२६८॥

सकल कला की जो कला, परमानन्द स्वरूप । जीवन को जीवन अहै, सकल विश्व को भूप ॥२६९॥

जीरन जो सर्वज्ञता, यादव कुल कुलदीप । श्री केशव सो पार्थ प्रति, बोलत बचन महीप ॥२७०॥

संजय कहि नरनाह, कुरुक्षेत्र वृत्तान्त इमि । अब सुनु सहित उछाह, ज्ञानदेव कहि सो कथा ॥२७१॥



ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-

दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)

निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्

ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर

श्री गणेश प्रसाद कृतायां गीता-

ज्ञानेश्वर्य्यां अष्टमोऽध्यायः

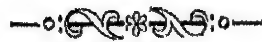
शुभमस्तु

ॐ तत्सत् ३



ॐ

नवम अध्याय



सकल सुखन की पात्रता, पैहहु सुनु धरि ध्यान।
करहुँ प्रतिज्ञा पुनि कहौं, अति सुस्पष्ट सुजान ॥१॥

कहत न मैं कछु गर्व तें, तुम सर्वज्ञ समाज। दया राखि सुनिये सकल, यह मम विनती आज ॥२॥
जिमि तिय को सम्पन्न अति, मातृ गेह सुख धाम। तिमि तुम सब मो कहँ मिले, पुरे प्रीति अरु काम ॥३॥
मम मुद-उपवन हेतु तुव, कृपा-दृष्टि की वृष्टि। जस छाया विश्राम करि, मिली शान्ति की सृष्टि ॥४॥
तुम सुख-सुधा दहार सब, जहँ मैं मन अनुसार। विहरत, दुलरावत डरौं, तो किमि लहौं सुसार ॥५॥
पुनि शिशु की तोतरि बयन, तिरछी डगमग चाल। कौतुक लहि के मातु अति, रीझत कहि प्रिय लाल ॥६॥
तिमि तुम सन्त समाज सब, करिहौ मो पर प्रीति। एहि अभिलाष कहौं वचन, गहि दुलार की रीति ॥७॥
किमि वरणौं नहिं योग्यता, तुम श्रोता सर्वज्ञ। चहत शारदा-सुतन कहँ, अहो, पढ़ावन अज्ञ ॥८॥
जो जुगनू बड़ होय, नाहिं प्रकाशत रवि निकट। कौन रसोई होय, सुधा-थाल के सदृश कछु ॥९॥
नादहिं गान सुनाइबो, शशि कहँ विजन बयारि। भूषण कहँ भूषण कवन, पहिराहिय सुविचारि ॥१०॥
कहु सुगन्ध सूँघै कहा, सागर कहाँ नहाय। ऐसो कहँ विस्तार जहँ, जावै गगन समाय ॥११॥
आपहि कहिये होय किमि, तस आप को ध्यान। ऐसो भाषण कवन जहँ, रीझहिं सन्त सुजान ॥१२॥
करत आरती दीपतें, रविकर जग उजियारि। देत कि नहिं जन सिन्धु कहँ, अर्घ्य जलांजलि ढारि ॥१३॥
अर्चक अवल सभक्ति मैं, प्रभु तुम शम्भु स्वरूप। यदपि कथन नैतुछि, तदपि, स्वीकारहु न अनूप ॥१४॥

यदि शिशु पितु के थार लगि, भोजन पितुहिं कराय। किमि अतिमुदित भये पिता, वेग न निज मुख बाय ॥१५॥
यद्यपि हौं मैं बालमति, कौतुक करत सुजान। तदपि लहहु सन्तोष मन, प्रेम गुणहिं पहिचान ॥१६॥
अरु निजपन को मोह तुम, सन्त करत स्वीकार। तातें मोर ढिठाइ कहँ, नाहिं गनत तुम भार ॥१७॥
जननि जबहि पय देय, शिशु मुख के झटका लगें। द्विगुणित प्रेम पसेय, अतिप्रेमी के रोष तें ॥१८॥
अहह, दया की नींद तुव, खुलि सुनि शिशु के बोल। ऐसहि कारण जान करि, मैं बोल्यो हिय खोल ॥१९॥
कबहुँ कि कहुँ धरि चाँदनी, जगत पकाई जात। गति अपात कै पवन को, नभ किहिं खोल समात ॥२०॥
जल न करत पतला, धरत, माखन नाहिं मँथान। लज्जित ह्वै वाणी फिरत, लखि गीता को ज्ञान ॥२१॥
अधिक कहा जहँ वेद वच, सहजहिं सेज समाय। प्राकृत महँ गीतार्थ सो, कहु किमि बरन्यो जाय ॥२२॥
यह मम इच्छा इमि भई, धरि आगे इक आस। बस संतन की प्रीति हित, करि साहस सहुलास ॥२३॥
जीवन दायक अमिय तें, चन्द्रहु तें अतिशीत। दे अपनो अवधान करु, मम अभिलाष परीत ॥२४॥
बरसत कृपा कटाक्ष तुव, मम मति होहि कृतार्थ। उदासीन यदि आप तो, अंकुर सुख यथार्थ ॥२५॥
चारा है वक्तव को, श्रोता को अवधान। अक्षर प्रति सिद्धान्त की, पुष्टि होत मतिमान ॥२६॥
अर्थहिं अर्थ प्रकास, अर्थ शब्द को पंथ लखि। प्रगटैं भाव विकास, तब नानाविध बुद्धि महँ ॥२७॥
यदि सुवायु सवाद बहि, हिय नभ बरसै ज्ञान। अरु यदि श्रोता अनवहित, बिगरे सुरस महान ॥२८॥
यद्यपि शशिमणि द्रवति पै, शक्ति चन्द्र के पास। श्रोता बिनु वक्ता नहीं, नहिं वक्तृत्व विकास ॥२९॥
चाँवल किमि बिनवै कि मुहिं, कीजै अंगीकार। कठपुतली किमि नाच हित, बिनवै सूत्राधार ॥३०॥
कौतुक कलहिं दिखात नट, नहिं पुतलीहित नाच। ताते मैं खटपट सकल, तजि अब कहिहौं साँच ॥३१॥
श्रीगुरु तब कहि का भयो, तुव सुस्तुति स्वीकार। कहहु सकल अब जो कह्यो, कृष्णदेव निरधार ॥३२॥
हमपि कहत संतोप लहि, श्री निवृत्ति को दास। श्रीकेशव इमि कहत हैं, सुनिये हृदय हुलास ॥३३॥

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अर्थ—बरणत हौं विज्ञान सह, यह जु गुह्यतम ज्ञान।
जानत एहिं विमुक्त हो, लहसि अशुभ की हान ॥१॥

अर्जुन, अब यह ज्ञान को, बीज कहत हौं तोहिं। जो मम अन्तःकरण महँ, अहै गुप्त अति सोहि ॥३४॥
इमि किमि खोलत निज हृदय, किमि अतिगुप्त सुनात। यह स्वभावतः कल्पना उपजे तुव हिय तात ॥३५॥
केवल श्रद्धा-रूप, सुनु अर्जुन मतिमान तुम। करि न अवज्ञा भूप, जो कछु भाखौं ताहि की ॥३६॥
सुनहु गुप्त तें गुप्त अति, कहन अजोग कहाय। बात हमारे हृदय की, तुव हिय बसे स्वभाय ॥३७॥
अहो दूध थन माँहि रह, पै थन लहत न स्वाद। जो अनन्यगति सेय तहँ, तासु करै आह्लाद ॥३८॥
घर सन बीज निकारि पुनि, भूमि तयार बुवाय। तो कोई कैसे कहै, वृथा दयो बिखराय ॥३९॥
सुमन अनिन्दक शुद्धमति, गति अनन्य है जाहि। निज अन्तर की गुप्त हू, बात बखानै ताहि ॥४०॥
नहिं सब गुण सम्पन्न इह, कोऊ तुमहिं सिवाय। अतः गुप्त अति बात किमि, कहहु छिपाई जाय ॥४१॥
कह्यो गुप्त अतिगुप्त बहु, पुनि पुनि नाहिं सुहाय। ज्ञान सहित विज्ञान यह, सहज कहौं समुझाय ॥४२॥
जैसे खोटे औ खरे, परखि तिन्हें बिलगाय। पृथक् ज्ञान विज्ञान को, करिके देउँ दिखाय ॥४३॥
जल पय को निज चोंच जिमि, राजहंस बिलगाय। तिमि ज्ञानरु विज्ञान को, पृथक कहौं समुझाय ॥४४॥
अर्जुन पवन झकोर, जैसे कौंडा जाय उड़ि। राशि लखात सुठौर, अरु सहजहिं तहँ धान्य की ॥४५॥
जे जानैं, ते करि सकैं, जग कहँ निज आधीन। मोक्षश्री सिंहासनहिं, लाय बसाय प्रवीन ॥४६॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

अर्थ—गुह्य राजविद्या परम, अनुभव-गम्य पुनीत।
धार्मिक, सुकर, विकार बिनु, उत्तम ज्ञान सुमीत ॥२॥

ज्ञानहिं मिल आचार्यपद, श्रेष्ठ सुविद्या ग्राम। सकल गोप्य को स्वामि अरु, पावन राजललाम ॥४७॥
ज्ञान धर्म की जन्म-भू, अति उत्तम है जोय। जेहिं पाइ पुनि जीव को, जन्म-मरण नहिं होय ॥४८॥

गुरुमुख तें जे निकसतहि, शिष्य हृदय महँ आय । ब्रह्मज्ञान आपहि मिले, प्रत्यक्षहिं कुरुराय ॥४६॥
चढ़तहिं सुख की पाँयरी, जा कहँ भेटे जाय । अरु भेंटत ही पूर्णतः, सुख लय होय स्वभाय ॥५०॥
जासु मिलन सुखतीर इहिं, चित्त रहे सानन्द । सुलभ सहज परब्रह्म इमि, अर्जुन आनँदकन्द ॥५१॥
अपर एक गुण ज्ञान महँ, भये न पावत नास । अरु अनुभव तें बढ़त नित, कबहुँ न होत उदास ॥५२॥
अर्जुन यदि इमि तर्क करु, तुम शंकहु मन माँहि । ऐसी उत्तम वस्तु सो, जगतें किमि रहि जाहि ॥५३॥
जो प्रतिशत इक व्याजहित, कूदहिं आगि मंझार । अनायास माधुर्य सुख, ते किमि तजहिं उदार ॥५४॥
सहज सुगम सुखकार, अरु पवित्र जो रम्य पुनि । आपहि माँहि विचार, परमधर्म अनुकूल लहि ॥५५॥
अर्जुन इमि अनुकूल सब, किमि जन हाथ रहाय । यह शङ्का थल अहहि पै, शंक न करु सद्भाय ॥५६॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

अर्थ—करत न श्रद्धा धर्म पर, ते नर लहहिं न मोहिं ।
मृत्युयुक्त संसारपथ, भ्रमहिं निरन्तर मोहि ॥३॥

दूध, मधुर, पावन, परम, त्वचामात्र की ओट । तदपि किलनी त्यागि तिहिं, सेवहि रक्त खसोट ॥५७॥
कमल कंद दादुर दुओ, एकहिं थल रहि पास । भ्रमर सेवि मकरन्द पै, दादुर कर्दम वास ॥५८॥
सहस पात्र भरि द्रव्य धरि, गड़े अभागी गेह । बीतत दिवस दरिद्रतन, बसि उपवासन देह ॥५६॥
सब सुख को विश्राम है, हृदय मध्य में राम । पै अज्ञानीजन मगन, विषय वासना काम ॥६०॥
नैननि मृगजल निरखि गिलि, अमृत घूंट थुकाय । बँध्यो कंठ पारस तदपि, सीपी हेतु तुराय ॥६१॥
अहंकार ममता वशहिं, मोहिं न पावत हीन । अतः जन्म-मरणाब्धि महँ, गोते खावत दीन ॥६२॥
जिमि रवि सम्र सन्मुख लखहि, तैसहिं मो कहँ जान । कहुँ दरसन कहुँ दरस नहिं, इमि मम दोष न मान ॥६३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

अर्थ—यह सब जग व्यापक अहौं, मैं अव्यक्त स्वरूप।
सर्वभूत मम माँहि पै, मैं तिन्ह माँहि न भूप ॥४॥

कौन कहै विस्तार मम, यह सब जग किमि नाहि। जैसे दूध स्वभावतः, जमैं मोह दधि आहि ॥६४॥
ज्यों स्वर्णालंकार, किं वा बीजहिं होय तरु। तिमि यह जग विस्तार, एक मोहिं ते होय सब ॥६५॥
ये जामें अव्यक्त पुनि, पिघलि विश्व आकार। निराकार तिमि मैं भयो, विस्तृत जग साकार ॥६६॥
जे महदादिक देह लगि, ये सब भूत अशेष। प्रगटत जल महँ फेन जिमि, मम महँ प्रगटत शेष ॥६७॥
निरखि फेन जब दिखत नहिं, तहँ जल पांडुकुमार। जागे तें जिमि रहत नहिं, स्वप्न अनेक प्रकार ॥६८॥
सकल भूत मम माँहि तिमि, मैं न अहौं तिन्ह माँहि। यह रहस्य वर्णन कियो, मैं प्रथमहिं तुम पाँहि ॥६९॥
कही बात जो अतः तिहिं, अधिक कहौं अब नाहिं। पर प्रवेश करि दृष्टि निज, मम स्वरूप के माँहि ॥७०॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

अर्थ—पुनि लख ऐश्वर्य-नहिं, सकल भूत मो माँहि।
उत्पादक सब भूत को, धारक, नहिं तिन माँहि ॥५॥

यदि कल्पना सिवाय लखि, प्रकृति परे मम रूप। कह्यो भूत सब ठाँव मम, सो मिथ्या पुनि भूप ॥७१॥
संध्यावपु संकल्प तें, बुद्धि नयन अँधियार। वस्तु अखण्डितहू लखै, भूत भिन्न सविकार ॥७२॥
साँझ सदृश संकल्प नसि, अहहि अखंड स्वरूप। जैसे शङ्का सर्प नसि, रहि माला गुणरूप ॥७३॥
कढ़हिं घटादि अपार, इमि का भुवि तें आपुहीं। ते सब होत तयार, इक कुँभार की बुद्धि तें ॥७४॥
कि मधु अहै समुद्र महँ, कहु तरंग की खान। यह तो करनी पवन की, इतर न कछु मतिमान ॥७५॥
की पेटी लखि वसन की, उदर कपास मँझार। दृष्टि बनावनहार तें, कपड़ा बनत अपार ॥७६॥
यदि बनि भूषन स्वर्न के, किमि सोनोपम जाय। रचनहार के भाव तें अलंकार कहि जाय ॥७७॥
कहु ध्वनि तें जो प्रतिध्वनि, वा दर्पण तें रूप। शब्दरूप निज तें प्रथम, किमि सत् जानहु भूप ॥७८॥

निर्मल इमि मम रूप जो, कल्पित भूतावास। तिहिं कल्पना प्रभाव तें, मोमहँ भूताभास ॥७९॥
नसहि कल्पना प्रकृति तब, भूताभास बिलाय। पुनि स्वरूप मम शुद्ध तब, ऐक्यभाव दरसाय ॥८०॥
देखहिं भ्रमत जु शैलगृह, आपहिं आप भ्रमाय। ब्रह्म माहिं निज कल्पनहिं, भूताभास जनाय ॥८१॥
सकल भूतगण माहिं मैं, सकल भूत मम माँहि। स्वप्नहु कल्पन योग्य नहिं, तजि कल्पना दिखाँहि ॥८२॥
किं बहु तिन के माँहि, इक मैं ही भूतहिं धरौं। बड बड़ बोल वृथाहिं, सन्निपातवश कहत यह ॥८३॥
जगत आत्म मैं जगत वा, मिथ्या जग आधार। तातें जानहु पार्थ यह, सदहिं कल्पनाधार ॥८४॥
सूर्य किरण आधार जिमि, मृग जल को आरोपि। भूत माँहि मैं, मोहि महँ, ते, तिमि कल्पित सोपि ॥८५॥
आश्रय इमि मैं भूत को, सब तें रहत अभिन्न। सूर्य प्रभा दुहुँ एक जिमि, रहत सदा अविछिन्न ॥८६॥
यह मम अद्भुत शक्ति तुम, लखी भले की नाँहि। भूत भेद सम्बन्ध इत, अब बोलहु है काँहि ॥८७॥
सकल भूत मम पास तें, निश्चय बिलग न तांत। और बिलग मैं भूत तें, कबहुँ न मानौ बात ॥८८॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अर्थ—जिमि नित रहि सर्वत्रगत, महावायु आकाश।
अर्जुन तिमि मम माँहि सब, भूत करत हैं वास ॥६॥

जितनहि है विस्तार तहँ, वायु भरयौ आकाश। गगन पवन दुहुँ एक इमि, हलत बिलग आभास ॥८९॥
सकल भूत मम माँहि तिमि, किये कल्पनाभास। नसै कल्पना तो सकल, मैं ही मैं सुखरास ॥९०॥
सकल भूत नहि या अहैं, सकल कल्पनाधार। नसै कल्पना तो नसैं, प्रगटै प्रगट विचार ॥९१॥
नसि कलपना सहेतु, तिहि किमि जानैं हैं नहीं। अब आगे कपिकेतु, लखहु योग-ऐश्वर्य को ॥९२॥
अनुभव सागर माँहि इमि, स्वयं लहरि बनि जाव। पुनि जब लखु सचराचरहिं, तब तुम ही दरसाव ॥९३॥
देव कहैं इहि ज्ञान तें, आयो तुमहिं प्रकाश। कहहु द्वैतवपु स्वप्न अब, अहै कि पायो नाश ॥९४॥
नींद कदाचित बुद्धि महँ, लगै कल्पना रूप। ऐक्य बोध नसि जात है, स्वप्न पड़ै यदि भूप ॥९५॥

बहुरि नींदपथ छोड़ि यह, ब्रह्मज्ञान लहि आप। सत्य तत्त्व इमि जो अहैं, देखिहहु निष्पाप ॥६६॥
या हित धनुधर धीर धरि, सुनि नीके दे ध्यान। उत्पति लय सब भूत की, कारण माया जान ॥६७॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

अर्थ—सकल भूत कल्पान्त महँ, मम माया महँ लीन।
पुनः कल्प के आदि मैं, करि उत्पन्न प्रवीन ॥७॥

जाकर नामहिं प्रकृति मैं, द्विविध बतायो भूप। भेद आठ इक माँहि अरु, दूजो जीव स्वरूप ॥६८॥
यह सब तुम प्राकृत विषय, प्रथम सुन्यो धनुधार। बहुरि अधिक अब का कहौं, ता कहँ बारंबार ॥६९॥
अर्जुन यह मम प्रकृतिवश, महाकल्प के अन्त। सकल भूत लहि एकता, मधि अव्यक्त अनन्त ॥१००॥
ग्रीषम के जिमि अन्त, सब सबीज तृण भूमिगत। तिमि जानहु बलवन्त, सकलभूत कल्पान्त मैं ॥१०१॥
अंकुर देखत शरद के, वर्षा साज बिलाहिं। तब समूह घन गगन के, गगनहिं माँहि समाँहि ॥१०२॥
किंवा नभ अवकाश जिमि, शान्त समीर लुपाय। वा तरंगता नीर महँ, अर्जुन जिमि नसि जाय ॥१०३॥
किंवा जागन के समय, स्वप्न मनहि मन माय। महा प्रलय तिमि प्राकृतिक, प्रकृति माँहि मिलि जाय ॥१०४॥
कहहिं कल्प के आदि महँ, उपजावत संसार। तो इहिं विषय रहस्य जो, सत्य सुनहु धनुधार ॥१०५॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अर्थ—करि अवलम्बन निज प्रकृति, मैं ही बारंबार।
यह उपजावत अति अवश, सहज सकल संसार ॥८॥

सहज स्वइच्छा प्रकृति कहँ, मैं करि अंगीकार। तन्तु पुंज संयोग इव, बुनवत बसन अपार ॥१०६॥
चौकड़िया लघु भेद पट, जिमि बुनाव आधार। माया के आधार तिमि, पंचात्मक आकार ॥१०७॥
अर्जुन जामत दूध है, जैसे जामन संग। तैसे ही संसार है, बनै प्रकृति के अंग ॥१०८॥

उदक बीज सांनिध्य लहि, अंकुर पल्लव डार। तिमि अर्जुन मोतें अहै, सकल जगत विस्तार ॥१०९॥

सत्य सकल नृप केर, अहो नगर बसि यह कहब। कष्ट कहाँ कहि हेर, पै सत्यहि नृप-भुज-बलहिं ॥११०॥

औ' स्वीकारत मैं प्रकृति, किमि जिमि स्वप्न मझाहिं। मोही करत प्रवेश जनु, पुनि जागृति के माँहि ॥१११॥

स्वप्न तजे जागृति लहै, किमि पग दुखहिं उदार। जो कछु होय प्रवास तिहिं, जब रहि स्वप्न मँझार ॥११२॥

यह सबको तात्पर्य कह, जो यह जग उपजाय। मैं एकहुँ कछु करत नहिं, ऐसहि अर्थ स्वभाय ॥११३॥

जिमि नृप आज्ञा तें प्रजा, निजहित करि व्यापार। प्रकृति संग तिमि मोरि यह, सब कृति होत उदार ॥११४॥

निरखि पूर्णिमा चन्द्रमा, सिन्धु भराव अपार। परत परिश्रम चन्द्र कहँ, कहा किरीटि उचार ॥११५॥

जब समीप जड़ लौह चलि, जो चुम्बक आधार। कौन परिश्रम चुम्बकहिं, सन्निधि तें धनुधार ॥११६॥

अधिक कहा मैं निज प्रकृति, करतहि अंगीकार। अरु इक सर उपजन लगै, सकल भूत संसार ॥११७॥

जो यह सब संसार सो, सकल प्रकृति आधीन। जिमि बीजांकुर बेलि हित, भूमि समर्थ प्रवीन ॥११८॥

जिमि तनु संग प्रधान, अथवा बालादिक वयस। वर्षा कारण जान, घनगन उपजें गगन वा ॥११९॥

निद्रा कारण स्वप्न की, तैसहि प्रकृति नरेन्द्र। भूत समुद्र समग्र की, स्वामिनि है भूपेन्द्र ॥१२०॥

जंगम जड सस्थूल अरु, सूक्ष्म सकल संसार। कारण जानहु प्रकृति कहँ, अर्जुन हृदय विचार ॥१२१॥

अतः भूत उपजाय वर, उपजे को प्रतिपाल। यह सब करनी मोर कहँ, जानहु कुन्तीलाल ॥१२२॥

चन्द्रबेलि परसत चलहिं, चन्द्र न करि विस्तार। तैसे हो मम पास तें, दूरहिं कर्म विचार ॥१२३॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

अर्थ—उदासीन जो कर्म महँ, अरु आसक्ति विहीन।
मोहिं न बांधत कर्म तिमि, जानहु पार्थ प्रवीन ॥९॥

छूटहि लहर समुद्र नहिं, रुकि सकि सैंधव बंध। कर्म विलय मम माहिं किमि, करि सकि मम प्रतिबंध ॥१२४॥

धुआँपुंज चल वायु कहँ, रोकहि यदि ललकार। अथवा भानु-प्रकाश महँ, करि प्रवेश अँधियार ॥१२५॥

अधिक कहा जिमि गिरि हृदय वर्षा जल न चुभाय। कर्म जात तिमि प्रकृति के मोहि न लगत सुभाय ॥१२६॥
जिमि यह प्रकृति विकार को, इक मैं ही आधार। मैं न करावत करत जिमि, उदासीन धनुधार ॥१२७॥
गृह मधि दीपक काहि, कहत न करहु कि करहु तुम। समुझ परत नहिं ताहि, करत कौन व्यापार को ॥१२८॥
साची हौं जिमि दीपगृह, कार्य प्रवृत्ति के हेतु। उदासीन मैं भूत महँ, भूतकर्म कपिकेतु ॥१२९॥
यही एक आशय किमपि, कहि पुनि पुनि विस्तार। कंत सुभद्रा जानिये, यह अस एकहि सार ॥१३०॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अर्थ—अर्जुन मम अध्यक्षतहिं, प्रकृति चराचर भार।
उपजावत एहि हेतु तें, परिवर्ती संसार ॥१०॥

सकल विश्व व्यापार महँ, जिमि निमित्त है भानु। पार्थ जगत उत्पत्ति महँ, तिमि मैं कारण जानु ॥१३१॥
स्वीकारौं जब प्रकृति मैं, सचराचर जग होय। तभी हेतु उत्पत्ति को, लोक कहहिं बुधि सोय ॥१३२॥
यह मम अद्भुत शक्ति लखि, सत्य ज्ञान उजियार। भूत मोहि महँ मैं नहीं, भूत माँहि धनुधार ॥१३३॥
किंवा भूत न ठाउँ मम, मैं न भूत के माँहि। यह रहस्य को पार्थ तुम, कबहुँ चूको नाँहिं ॥१३४॥
यह मम गुप्त रहस्य सब, प्रगटि दिखायो तोहिं। जब इन्द्रियहिं कपाट दे, मोहि हृदय महँ जोहिं ॥१३५॥
यह रहस्य जबलौं न लहि, सत्य स्वरूप हमार। तब लगि मिलत न सर्वथा, जिमि कण तुषन मँझार ॥१३६॥
किमि भुवि भींजै भूप, परि मृगजल के ओस तें। है अस सत्य स्वरूप, इमि अनुमान सहाय लगि ॥१३७॥
जाल पसारी जाय जल, चंद्रबिम्ब तहँ देखि। मिले किनारे काढ़ि तब, बिंब कहाँ कहु पेखि ॥१३८॥
शब्दाडम्बर महँ वृथा, अनुभव आँख ठगाय। ज्ञान सत्यता के समय, अहँ बोध न जनाय ॥१३९॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अर्थ—नर तन में धारण कियो, अज्ञानी नहिं जान।
महाभूत पति-भाव ते, मम न लखत अज्ञान ॥११॥

अधिक कहा संसार भय, अरु यदि मेरी चाह। यदि साँचहु तो यत्न करु, इहिं रहस्य नरनाह ॥१४०॥
यों ग्रासै दृग पांडु रुज, लखत चाँदनी पीत। निर्मल मोर स्वरूप तिमि, देखत दोष प्रतीत ॥१४१॥
किं बहु ज्वरतें बिगरि मुख, कहि पय करू महान। तिमि अमानुषी भाव मुहिं, मानत मनुज अजान ॥१४२॥
तातें आशय पार्थ यह, बिसरि न बारंबार। बाह्य दृष्टि तें निरखिबो, वृथा अहै धनुधार ॥१४३॥
सत्य न जानत मोहिं लखि, देखत बाहर नैन। जैसे अमृत स्वप्न भखि, अर्जुन अमर बनै न ॥१४४॥
जानहिं भले प्रकार, बाह्य दृगनि इमि मूढ जन। ज्ञान ओट पैसार, अर्जुन पै अस जानियो ॥१४५॥
जिमि नछत्र प्रतिबिंब जल, लखि मोती की आश। हंस गिरत आकाश तें, पावत अपनो नाश ॥१४६॥
कहु मृगजल महँ गंग बुधि, किये कौन फल होय। अहो जानि के कल्पतरु, सेय बबूरहिं सोय ॥१४७॥
तुलर हार यह नीलमणि, जानि सर्प कर धार। रत्न जानि विक्रय करैं, अथवा अर्जुन गार ॥१४८॥
निधि प्रगाठी यह समझ धरि, अंचल खदिर अँगार। छाया जानि न सिंह जिमि, कूदत कुआँ मँझार ॥१४९॥
निश्चय अहौं प्रपंच महँ, डूबत जो यह जान। चंद्रबिंब जल महँ गहत, सत्य चंद्र अनुमान ॥१५०॥
निश्चय इमि होवे वृथा, प्याला एक ललाम। जिमि कोऊ कांजी पिये, चहै सुधा परिणाम ॥१५१॥
चित्त भरोसा बाधि तिमि, नाशवंत ससार। मम दर्शन किमि होय जो, अविनाशी अविकार ॥१५२॥
कहहु पश्चिमहु सिन्धुहित, जाय पूर्व के पंथ। धान्य हुतु कौंडा बुवै, कौन सुभद्राकंथ ॥१५३॥
केरल मोहिं किमि जानि, यह जग जानि विकार तिमि। पिये फेन अज्ञानि, किमि फल पावै नीर को ॥१५४॥
तातें मोहि मन धर्म जग, संभ्रम मो कहँ मान। जन्म-मरण जो होय पुनि, मो महँ कहत अजान ॥१५५॥
क्रियाहीन में सब क्रिया, अरु अनाम मं नाम। देह धर्म बिन देह में, आरोपत बेकाम ॥१५६॥
निराकार आकार अरु, निरुपाधिक उपचार। अकर्तव्य में कहत तिहिं, व्यवहारी आचार ॥१५७॥
कहि बिन् वर्णहिं वर्णयुत, गुणातीत गुणखानि। अचरण कहूँ कहि चरणयुत, भुजारहित सहपानि ॥१५८॥
अरु अमाप में माप तिहिं, व्यापक सर्व ठिकान। जिमि शैया महँ सोय लखि, स्वप्न अरण्य अजान ॥१५९॥

नयनहीन कहँ नयन तिमि, श्रवणहीन कहँ कान । गोत्रहीन कहँ गोत्रयुत, अरु अरूप वपुमान ॥१६०॥

करत कल्पना व्यक्त मम, अव्यक्तहिं के माँहि । इच्छुक करत निरिच्छ कहँ, तृप्त स्वयं तृप्ताहि ॥१६१॥

अनाच्छादितहिं सावरण, भूषण परे विभूषि । सबको कारण मैं अहौं, कारण मम अन्वेषि ॥१६२॥

सहजरु स्वय स्वरूप, मूर्ति प्रतिष्ठा मोरि करि । सदा निरन्तर भूप, करि आह्वान विसर्जनहु ॥१६३॥

स्वतःसिद्ध इकरूप मैं, बाल तरुण अरु वृद्ध । ताहि अवस्थात्रय कहत, ऐसहि जानहिं मद्ध ॥१६४॥

कर्तहि कहत अकर्त को, अरु अभोक्त कहँ मुक्त । द्वैत कहत अद्वैत कहँ, अर्जुन परम अयुक्त ॥१६५॥

अहहुँ अकुल कुलवान कहि, अविनाशिहि मृत सोच । सबको अन्तर्यामि मैं, शत्रु मित्र कहि पोच ॥१६६॥

इच्छुक कहत अनेक सुख, स्वानन्दहिं अभिराम । इक देशी मुहिं कहत मैं, सब समदृष्टि ललाम ॥१६७॥

एक चराचर आत्म मैं, कहत एक की ओर । अरु इक मारत कोप करि करत प्रसिद्ध अघोर ॥१६८॥

अधिक कहा इमि जो सकल, प्राकृत मानुष धर्म । नाम ज्ञान विपरीत तिहिं, अर्जुन है इमि मर्म ॥१६९॥

जब लखि सन्मुख मूर्ति इक, तब भजि यह सुरभाव । भंग होय पुनि त्यागि तिहिं, कहत न रह्यो प्रभाव ॥१७०॥

इहिं इहिं विधि मो कों कहत, जानि मनुज आकार । बहुरि ज्ञान निज कहहिं ते, ज्ञानहि के अँधियार ॥१७१॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

अर्थ—सकल निरर्थक होयँ ते, आश कर्म अरु ज्ञान ।

प्रकृति राक्षसी आसुरी, आश्रित मोहित मान ॥१२॥

जन्म व्यर्थ सारांश, जिमि घन वर्षा काल बिन । वा रोहिणी जलांश, दूरहिं ते ह्वै देखिये ॥१७२॥

अलंकार जादूगरी, सूदचित्रहिं असवार । कोटि नगर गन्धर्व के, जिमि भासत धनुधार ॥१७३॥

सेमर तरु सीधो बनै, फल नहिं भीतर पोल । या छेरीगल गलथना, जैसे व्यर्थहिं डोल ॥१७४॥

सेमर फल उपयोग बिन, लेय न देय उदार । तिमि जीवन है अज्ञ को, उपजि कर्म धिक्कार ॥१७५॥

जिमि कपि तोरे नारियल, मोती अंधहिं हात । तिमि अध्ययनहु अज्ञ को, विफल जानिये तात ॥१७६॥

अधिक कहा तिहिं शास्त्र जिमि, शस्त्र कुमारी हाथ। जिमि अशौच को दीजिये, बीज मन्त्र नरनाथ ॥१७७॥

जाकर चित स्वाधीन नहिं, तासु ज्ञान आचार। व्यर्थ जात हैं सकल गुण, ताके पांडुकुमार ॥१७८॥

अरु सुबुद्धि को ग्रास कै, नासि समूलहिं ज्ञानि। प्रकृति रूपिणी राक्षसी, अतितम गुणी प्रधानि ॥१७९॥

ग्रस्त रहत जो प्रकृति तें, चिन्ता गुफा समाय। बहुरि तामसी दानवी, के मुख महँ प्रविसाय ॥१८०॥

खंड अखंड चबाय, असंतोष वपु मास को। हिंसा जीभ लपाय, जो आशा की लार तें ॥१८१॥

जो अनर्थ के कान लगि, ओंठ चाटि बहिराय। जो प्रमाद वपु गिरि गुहा, मानौं सदा बनाय ॥१८२॥

खम खम चाबहिं चूर करि, द्वेष डाढ़ ते ज्ञान। अस्थि चर्म वपु अज्ञ-मति, करि आवरन महान ॥१८३॥

ऐसी माया राक्षसी, के मुख जो बलि होय। भ्रान्ति कुण्ड में जाय के, डूबै अर्जुन, सोय ॥१८४॥

इमि तम गड़हा में पड़े, लगत न हाथ विचार। अधिक कहावे जात कहँ, खोज नहीं धनुधार ॥१८५॥

कहहुँ अधिक किमि व्यर्थ यह, अज्ञ-कथा विस्तार। जो बरनन कीजै अधिक, छीजै वचन विचार ॥१८६॥

ऐसहि जब भगवान कहि, अर्जुन कह्यो यथार्थ। जहँ वाणी विश्रान्ति लहि, कह्यो कृष्ण सुनु पार्थ ॥१८७॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

अर्थ—आश्रित दैवी प्रकृति के, पार्थ महा-अनुभाव।

अविनाशी अरु आदि मुहिं, जानि भजत इक भाव ॥१३॥

निर्मल मन जहँ बसत मैं, करत क्षेत्र-संन्यास। सोवत महँ वैराग्य जिहिं, सेवत परम हुलास ॥१८८॥

धर्म करत है राज्य को, जिहिं श्रद्धा सद्भाव। जाको मन निशिदिन रहै, इक विवेक के भाव ॥१८९॥

उत्तम गंगा ज्ञान, अर्जुन जे मज्जन करहिं। नव पल्लव मतिमान, लहैं पूर्णता शान्ति के ॥१९०॥

खंभहि मण्डप धैर्य के, अंकुर कढ़ि परिणाम। डूबे आनन्द सिन्धु के, अर्जुन भरे ललाम ॥१९१॥

जा कहं भक्तिहिं प्राप्ति इमि, मुक्तिहिं दूर भगाय। जाकी लीलामध्यहू, जागृति नीति दिखाय ॥१९२॥

आभूषण लहि शांति वपु, मम इन्द्रिय के माँहि। मैं व्यापक को घनि रह्यो, आच्छादन चित जाहि ॥१९३॥

दैव जु दैवी प्रकृति को, अर्जुन महानुभाव। ते जानत सम्पूर्ण मम, शुद्ध स्वरूप स्वभाव ॥१९४॥

जो आत्यन्तिक प्रेम ते, भजत महात्मा मोहिं। द्वैतभाव मन धर्म पै, सकत न छुइ अरु जोहिं ॥१९५॥

अर्जुन इमि मद्रूप ह्वै, सेवा करत हमारि। पै अब और अपूर्व मैं, बरनौं सुनु चित धारि ॥१९६॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

अर्थ—सतत युक्त मम भक्त जे, सदा कीर्ति मम धारि।

मोहिं उपासत दृढ व्रतहिं, नमस्कार सत्कारि ॥१४॥

नाचत कीर्तन प्रेम तें, नाम न पाप रहाय। इमि प्रायश्चित को कियो, नाश सकल व्यवसाय ॥१९७॥

दीन दशा यम नियम की, तीर्थ ठाँव उठि झार। रुकत भये यमलोक के, पार्थ सकल व्यवहार ॥१९८॥

दमकहि निग्रह आप, यम कहि किहिं नियमित करे। लेशहु शेष न पाप, तीर्थ कहैं हम खायँ किहिं ॥१९९॥

इमि मम नामहि घोष तें, नसत दुःख संसार। ओत प्रोत भरि सुख महा, सब जग महँ धनुधार ॥२००॥

अमृत विना जीवन करत, करि प्रकाश बिनु प्रात। विना योग कैवल्य को, लखत नयन तें तात ॥२०१॥

अल्प अधिक कछु गनत नहिं, भेद न राजा रंक। इक सम आनँदप्रद जगहिं, आनँदधाम अशंक ॥२०२॥

इमि सब नाम प्रभाव जग, रचि वैकुण्ठ प्रकाश। क्वचित जासु वैकुण्ठ महँ, कोउ एक सुखराश ॥२०३॥

निर्मल सूर्य प्रकाश परि, दोष अस्त को भास। चन्द्र कबहुँ परिपूर्ण यह, सन्तत पूर्ण प्रकाश ॥२०४॥

अनुपमेय जो घन गहन, बरसत सदा उदार। यह निशंकपन पंखयुत, पंचातन धनुधार ॥२०५॥

कौतुक जाके वचन महँ, नृत्य करत मम नाम। जन्म सहस जो सेय लहि, एक बार परिनाम ॥२०६॥

अरु न मिलौं वैकुण्ठ महँ, रवि-बिंबहुँ न दिखाउँ। या मैं उल्लंघन करहूँ, योगिहुँ को हिय ठाउँ ॥२०७॥

अर्जुन सन्त उदार, करत घोषणा नाम मम। अवशि अवशि धनुधार, पै इनहीं खोजत मिलौं ॥२०८॥

कैसे संतोषित गुणहिं, देशकाल बिसराय। कीर्तन सुखतें मगन ह्वै, आपहिं आप स्वभाय ॥२०९॥

कृष्ण कृष्ण गोविन्द हरि, नाम समग्र प्रबन्ध। आत्मानात्म विचार मम, सदा शुभ्र सम्बन्ध ॥२१०॥

अधिक कहा वर्णन करौं, मम कीर्तन अवधार । विचरत सब चर अचर महँ, कौउक पांडुकुमार ॥२११॥
अपर पार्थ पुनि सर्वथा, पंच प्रान मन जीत । प्राप्त करत जयपत्र ते, विपुल यत्न तें मीत ॥२१२॥
मॉकर बाहर यम नियम, वज्रासन भितराय । रचैं कोट चलयन्त्र धरि, प्राणायाम इढ़ाय ॥२१३॥
कुंडलिनी उजियार तें मन मर्माग अनुकूल । चन्द्रामृत तल महँ करै, तिहि स्वाधीन समूल ॥२१४॥
नामि कुटुम्ब विकार सब, पौरुष प्रत्याहार । सब इन्द्रिय कहँ बाँधि धरि, अन्तर हृदय मँझार ॥२१५॥
ध्यान सुधृगण रूप हय, चढ़ करि तब ललकार । महासैन्य संकल्प नसि, महाभूत इकतार ॥२१६॥
चमचमात मतिमान, तन्मयता वपु छत्र इक । बाजे नौबद ध्यान, नंतर जयजयकार ध्वनि ॥२१७॥
नंतर पूर्ण समाधि श्री, आत्म प्रतीत्यानन्द । देखु राज्य अभिषेक हो, ऐक्यभाव निर्द्वन्द्व ॥२१८॥
अर्जुन ऐसो गहन है, मेरो भजन महान । अब सुन भाषों जे करत, औरहु एक सुजान ॥२१९॥
दोनों पल्लव अंबरहिं, जिमि इक तंतु प्रधान । मो सिवाय सचराचरहि, और न कोई जान ॥२२०॥
आदि विधाता तें करहु, और मशक धरु अन्त । मध्यहु मॉहि समग्र मम, जानु स्वरूप अनन्त ॥२२१॥
छोट बड़े ना कहत पुनि, नहिं सजीव निर्जीव । सरलभाव तें वस्तु महँ, मुहिं लखि नमत अतीव ॥२२२॥
आप न उत्तमता विसरि, योग्यायोग्य न जान । वस्तुमात्र लखि एक सम, नमन करत मुहिं मान ॥२२३॥
ज्यों ऊंचे ते उदक परि, नीचे सदा बहाय । भूतमात्र तिमि देखि इमि, विनवत ताहि स्वभाय ॥२२४॥
कि बहु तरुशाखा फली, सहज भुविहिं निपराय । जीवमात्र तिमि पूर्णतः, लखि सिर देय झुकाय ॥२२५॥
अर्जुन मोर ठिकान, जय जय मन्त्रहिं अर्पि जे । तिहिं धन विनय महान, सदा गर्वतें रहित ह्वै ॥२२६॥
समन मान अपमान नसि, औचक ह्वै मद्रूप । इमि अखण्ड मद्रूपता, सन्त उपासत भूप ॥२२७॥
उत्तम भक्तिहिं तुहिं कह्यों, अब यह सुनिये पार्थ । ज्ञान यज्ञ तें यजन करि, ते मम भक्त यथार्थ ॥२२८॥
अर्जुन तुम जानत अहो, भजन करन की युक्ति । हम प्रथमहिं वर्णन कियो, याहि समस्त सयुक्ति ॥२२९॥
यह प्रसाद प्रभु सत्य है, अर्जुन कहि प्रभु पाहिं । सुधा परोसन के समय, पूर्ण कहैं किमि ताहि ॥२३०॥
अर्जुन के इमि बैन सुनि, कार्य साधु लखि तासु । डोलन लगे सप्रेम तब, श्री अनन्त सहुलासु ॥२३१॥
धन्य धन्य कहि पार्थ को, कहि पुनि बरनहुँ ताहि । अप्रसंग अति परि कहब, तुव उत्कंठा पाहिं ॥२३२॥

अर्जुन कहि यह किमि नहीं, चाँदिनि विना चकोर। निज स्वभाव तें करत है, शान्ति जगत की ओर ॥२३३॥
जिमि चकोर निज चाह हित चौंच करै शशि ओर। कृपासिन्धु तिमि विनय लघु अहै स्वामि यह मोर ॥२३४॥
दुख विनसत संसार, जिमि घन सहज स्वभाव सों। चातक तृषा विचार, किंचित ही वर्षा अधिक ॥२३५॥
जल इक अंजलि चाह परि, गंग निकट ही जाय। श्रवणेच्छा तिमि लघु अधिक, कहहुँ देव समभाय ॥२३६॥
कहत कृष्ण तब पार्थ अब, कहु न अधिक करि तोष। बढ़हि न तव सुस्तवन तें, मोहि भयो संतोष ॥२३७॥
सुनत अहौ पै लच्य दै, करि वक्तृता सहाय। इमि सत्कारयो पार्थ कहँ, पुनि हरिकथन सुनाय ॥२३८॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अर्थ—अपर ज्ञान मख सों भजें, एक अनेक स्वरूप।
और सर्वतोमुख करहिं, बहु उपासना भूप ॥१५॥

अहं ब्रह्म अस्मीति मति, ज्ञानयज्ञ वपु यूप। महाभूत के मंडपहिं, पशु तहँ द्वैत स्वरूप ॥२३९॥
किं वा इन्द्रिय प्रान, वा विशेष गुण भूत के। मख सामग्री जान, पुनि अज्ञानहिं जानि घृत ॥२४०॥
कुण्ड सदृश मन बुद्धि तहँ, ज्ञान प्रदीप्त कृशानु। समता सुन्दर वेदिका, जान पार्थ मतिमानु ॥२४१॥
गौरव विद्यामन्त्र जहँ, आत्मानात्म विचार। मखकर्ता वपु जीव स्रुक, स्रुवा शान्ति अनुहार ॥२४२॥
अनुभव रूपी पात्र अरु, महामंत्र वपु ज्ञान। ज्ञान अग्नि प्रज्वलित ह्वै, नशै भेद मतिमान ॥२४३॥
याज्ञिक औ मख ठाँव रहि, तब नसि सब अज्ञान। आत्म ऐक्य आनन्दरस, जहँ अवभृथ सुस्नान ॥२४४॥
इन्द्रिय तिन्ह के विषय सब, महाभूत के पाँच। आत्म ऐक्य के भाव सब, एकहि पृथक न साँच ॥२४५॥
अर्जुन जिमि जागृत भये, मनुज स्वप्न कहि जान। निद्रहिं भयउँ विचित्र मैं, सेना स्वप्न महान ॥२४६॥
जो सेना सो सैन नहिं, मैं ही इक सब सैन। ऐक्यभाव इमि विश्व कहँ, मानि लेय तब चैन ॥२४७॥
बिसरि जीव को भाव पुनि, आत्मबोध आ ब्रह्म। ज्ञान यज्ञ इमि मोहिं भजि, ऐक्यभाव होइ ब्रह्म ॥२४८॥
आत्मा अनादि नहिं एक, एक सरिस इक भिन्न लखि। अरु बहुनाम अनेक, विषमभाव दरसात है ॥२४९॥

अहो विश्व की भिन्नता परि न भेद तिहिं जान। जिमि अवयव महँ भिन्नता, परि शरीर इक जान ॥२५०॥
किंवा शाखा दीर्घ लघु, परि तरु एकहिं आँहि। यद्यपि रवि एकहि अहै, परि बहु किरण जनाहिं ॥२५१॥
जिमि अनेक विधि व्यक्ति में, नाना नाम स्वभाव। परि भूतहिं मम ऐक्यता, इमि जानहिं सद्भाव ॥२५२॥
ज्ञानमखहिं वर इमि करहिं, भेदभाव अनुसार। तभी ज्ञान में भिन्नता, जानि न पांडुकुमार ॥२५३॥
किंवा जब जिहिं ठौर जहँ, जो जो कछु दरसाय। निश्चय ऐसो बोध तिहिं, अन्य न मोर सिवाय ॥२५४॥
देखहु जल महँ बुद्बुदा, जहां जाय तहँ नीर। पुनि नासै अथवा रहे पर केवल जल क्षीर ॥२५५॥
किंवा जिमि परमाणुगण, पवन प्रसंग उड़ाहिं। अरु पुनि यदि गिर भूमि पर, पुनि पृथिवी ही आँहि ॥२५६॥
चाहहिं जिमि उपजैं नसैं, चाहै जैसे भाय। पै मैं ही हौं वृत्ति यह, पूर्णरूप ह्वै जाय ॥२५७॥
अनुभव तितो प्रसार, जतनी मम व्यापति अहै। इमि वर्तत धनुधार, ह्वै मद्रूप मनुष्य बहु ॥२५८॥
निरखि बिंब रवि जो चहै, तिहिं सन्मुख दरसाय। तैसे ते संसार के, सन्मुख सदा सुभाय ॥२५९॥
अन्तर बाहर तासु के, भेद न अर्जुन ज्ञान। पवन भरत है गगन महँ, जिमि सर्वत्र सुजान ॥२६०॥
जितनहिं मैं सम्पूर्ण हौं, तितनो तिहिं सद्भाव। भजन करत अर्जुन नहीं, होवहि भजन स्वभाव ॥२६१॥
ऐसो तो मैं ही सकल, को न उपासत मोहिं। पै सिवाय इक ज्ञान के, अज्ञानी नहिं जोहि ॥२६२॥
ज्ञान यजन ते यजन करि, उचित उपासत मोहिं। यह वरनन तिनको भयो, अधिक कहौं का तोहि ॥२६३॥
विहित निरन्तर कर्म सब, सहज पहुँच मम पाहिं। अज्ञ न जानत तत्त्व यह, तातें मोहिं न पाहिं ॥२६४॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

अर्थ—स्वधा वैश्वदेवादि मख, मन्त्र रु अन्न कृशानु।
हवन कर्म अरु घृतहु मैं, सब ही मो कहँ जानु ॥१६॥

ज्ञान-उदय यदि होय, मैं ही यज्ञ प्रधान तो। कह्यो विधानहिं सोय, यज्ञ कर्महू मैं अहौं ॥२६५॥
उत्तम सांगोपांग सब, कर्मपास तें पार्थ। पुनि उपजै जो कछु तहाँ, सो मैं अहौं यथार्थ ॥२६६॥

सोम त्रिविध स्वाहा स्वधा, घृत समिधा मुहिं जान । मन्त्र हवन के द्रव्य सब, पार्थ मोहिं पहिचान ॥२६७॥
ऋत्विज अरु कीजै हवन, सो कृसानु मम रूप । और वस्तु जो जो हवन, तेहू मोर स्वरूप ॥२६८॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

अर्थ—धारक पितु माता जगत, मोहिं पितामह जान ।
प्रणव साम ऋगवेद यजु, पावन वेद्य महान ॥१७॥

जग उपजावत अग सँग, प्रकृति अष्टधा जासु । जगत पिता सो मैं अहौं, पार्थ जानु सहुलासु ॥२६९॥
जो नारी सोई पुरुष, अर्धनारि नर ईश । तिमि सचराचर मातु हू, मैं ही अहौं महीश ॥२७०॥
अरु जग रहि जहँ उपजि के, बढ़ि रक्षित जिहिं जोग । मम सिवाय नहिं अन्य है, पार्थ कछू संयोग ॥२७१॥
उभय प्रकृति अरु पुरुष ये, उपजत निर्गुण रूप । विश्व पितामह त्रिजग महँ, सो मैं पार्थ अनूप ॥२७२॥
आय मिलैं जिहिं ग्राम महँ, सकल पंथ जे ज्ञान । और वेद के चौहटहिं, जानन जोग बखान ॥२७३॥
शास्त्र सुमत यह एक, जहँ ऐक्यता अनेक मति । बहत पवित्र विवेक, चूकहि पुनि मिलि ज्ञान जहँ ॥२७४॥
धवल धाम जो प्रणव है, चौविधि नादाकार । ब्रह्म बीज अंकुरित है, सो मैं ही धनुधार ॥२७५॥
उदर अकार, उकार है, अरु मकार हू जासु । प्रणव जाहिं तें वेदत्रय, ऋग-यजु-साम विकासु ॥२७६॥
अहौं तीनहु वेद में, अर्जुन आतमाराम । शब्द ब्रह्मकुल क्रम सकल, इमि मुहिं जान ललाम ॥२७७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

अर्थ—गति भर्ता प्रभु मित्र अरु, साक्षी शरण निवास ।
उत्पति थिति लय निधि सकल, नित्य बीज सुखरास ॥१८॥

सकल चराचर जगत यह, भरचो प्रकृति जहँ भूप । थकित प्रकृति विश्रान्त लहि, परमधाम मम रूप ॥२७८॥
जातें जीवन प्रकृति जिहिं, आश्रित जग उपजाय । जो आकरि के प्रकृति में, भोगैं गुण समुदाय ॥२७९॥

स्वामि सकल त्रैलोक्य को, भर्ता श्री संसार। निश्चय मो कहँ जानिये, ऐसहि पांडुकुमार ॥२८०॥
सब ठिकान आकाश बसि, छनहुँ न पवन रुकाय। अग्नि जरावत और घृत, अर्जुन जल बरसाय ॥२८१॥
गिरि छोड़त नहिं ठाउँ निज, सिन्धु न त्यागत सींव। पृथिवी धारत भार सब, मम आज्ञाबल नींव ॥२८२॥
जग चालक जिहिं जानु, मम हिलाव प्रानहुँ हलै। मम चलाव चलि भानु, मम बुलाव वेदहु वदत ॥२८३॥
ग्रसत काल सब भूत कहँ, मम अनुशासन पाय। मम अनुशासन इमि सकल, काज होत नरराय ॥२८४॥
जो समर्थ इमि मैं अहौं, सकल जगत कौ नाथ। साक्षिभूत अरु गगन इमि, मोहिं जान नरनाथ ॥२८५॥
नाम रूप सम्पूर्ण इमि, अर्जुन भरयो दिखाय। अरु जीवन है नाम वपु, को आपुहीं स्वभाय ॥२८६॥
जिमि तरंग जलतें उपजि, अरु तरंगजल आह। ऐसहिं निवसत सकल सो, मैं निवासु नरनाह ॥२८७॥
जो अनन्य मम शरण तिहिं, आवागमन निवार। शरणागत कहँ एक मैं, शरणाश्रय धनुधार ॥२८८॥
जीवित जग के प्राण के, रूप पार्थ व्यवहार। पृथक प्रकृति गुणहेतु मैं, इक अनेकता धार ॥२८९॥
डाबर सिन्धु न भेद जिमि, भानु प्रकाश समान। ब्रह्मादिक सब भूत को, तिमि मैं सुहृद सुजान ॥२९०॥
अर्जुन जीवन त्रिजग को, अरु उत्पति थिति नास। सकल अवस्था मूल जो, सो मैं ही सुखरास ॥२९१॥
सुतरु शाख उपजाय, बीजहिं ते पुनि बीज मधि। पुनि संकल्प मिलाय, संकल्पहिं ते होय तिमि ॥२९२॥
जगत बीज संकल्प इमि, इच्छा वपु अव्यक्त। अर्जुन मैं ही ठौर जहँ, मिलि कल्पक्षय न्यस्त ॥२९३॥
नामहु रूपहु होय लय, वर्ण व्यक्ति विनशाय। जातिभेद कछु रहत नहिं, निराकार ह्वै जाय ॥२९४॥
जहां चाह संकल्प रहि, अमर होय संस्कार। बहुरि चराचर उपजि सो, मैं निधान धनुधार ॥२९५॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

अर्थ—अर्जुन मैं ही तापकर, बरसौं गहौं तजाउँ।
अमृत मृत्यु सत अरु असत, इक मैं ही सब ठाउँ ॥१९॥

दिनकर वपु ह्वै के तपौं, मैं ही रस करि शोष। इन्द्र होय वर्षा करौं, पुनि पुनि भरि संतोष ॥२९६॥

अनल काष्ठ कहँ खाय सो, काष्ठ अग्नि ही होय। तैसे मारै अरु मरै, मम स्वरूप ही सोय ॥२९७॥
जे जे पावत मृत्यु कों, पै ते सब मम रूप। और न पावत मृत्यु सब, सहज अहौं मैं भूप ॥२९८॥
अधिक कहा तुम सन कहौं, एक बार सब बात। अहैं सकल सत असत तें, मम स्वरूप ही तात ॥२९९॥
कौनहु थल अस होहिं, ताते अर्जुन मैं न हौं। ते देखत नहिं मोहिं, सकल प्राणि किमि देव यह ॥३००॥
लखहि जल बिनु लहर जिमि, किरण न लखि बिनु दीप। तिमि ते मै ही आचरज, मोहिं न लखत महीप ॥३०१॥
अंतर बाहर मैं भरयो, सकल जगत मद्रूप। तासु कर्म किमि आड़ करि, कहत न मोर स्वरूप ॥३०२॥
सुधा कूप महँ जाय कहि, आपहि काढ़हु मोहिं। भाग्यहीन इमि किमि करिय, ऐसो ही इत जोहि ॥३०३॥
अधा अन्नहिं ग्रास लगि, अर्जुन फिरत उफात। दृष्टि नसे चिन्तामणिहिं, पाँय न खूंदत जात ॥३०४॥
सो तैसे ही यह दशा, ज्ञान विहीन महान। अहो ज्ञान बिन जो कियो, सो बिनु किये समान ॥३०५॥
गरुड पंख मिलि अंध कहँ, कह उपयोग कराय। वृथा सकल सत्कर्मश्रम, तैसे ज्ञान सिवाय ॥३०६॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

अर्थ—सोमप ज्ञाता वेदत्रय, अनघ यजी स्वर् चाहि।
इन्द्रलोक लहि पुण्य तें, दिव्य देव भोगाहिं ॥२०॥

आश्रम धर्माचरण करि, वर्णविहित लखि पार्थ। बनत कसौटी आपुहीं, जे विधि मार्ग यथार्थ ॥३०७॥
यजन करत कौतुकहिं त्रय, वेद डुलावहिं माथ। सकल क्रिया ठाढ़ी रहैं, जिहिं सन्मुख नरनाथ ॥३०८॥
आपहिं यज्ञ स्वरूप, दीक्षित सो मम इमि अहैं। संचित कर नरभूप, पुण्यनाम ते पापहीं ॥३०९॥
जानि वेदत्रय यज्ञशत, करहिं स्वर्ग के हेतु। यज्ञपुरुष मैं, छांडि मुहिं, चहत स्वर्ग कपिकेतु ॥३१०॥
कल्पतरु-तर बैठि जिमि, गांठ झोलि में देतु। पुनि हतभागी भीख हित, चलन चहत कपिकेतु ॥३११॥

यजन करत मम यज्ञ सो, तिमि स्वर्ग हिं सुख चाह। पुण्य अहै किमि पाप नहिं, सत्य कहौं नरनाह ॥३१२॥
अतः स्वर्ग मम विन लहे, पुण्य मार्ग अज्ञान। जन्म मरण तिमि हानि कहि, ज्ञानी जन मतिमान ॥३१३॥
इमि समता करि नरक दुख, लहहिं स्वर्ग सुखनाम। ता सिवाय निर्दोष मम, रूप नित्य सुखधाम ॥३१४॥
सुभट प्राप्ति मम तें अहहिं, स्वर्ग नरक द्वै पंथ। ये हैं दोऊ चोर-पथ, समुझु सुभद्राकंथ ॥३१५॥
निर्मल पुण्यहिं प्राप्ति मम, पुण्यात्मक अघ स्वर्ग। पापात्मक अघ पुनि नरक, महा दुखद उपसर्ग ॥३१६॥
औ' मेरी ही मोहि तें, भेदविधायक होइ। ताहि पुण्य इमि कहत किमि, जीभ न टूटहि सोइ ॥३१७॥
सुनु समुझहु कपिकेतु, अधिक कहा वर्णन करौं। स्वर्गरूप सुख-हेतु, जे दीक्षित मम यज्ञ करि ॥३१८॥
अरु जिहिं ते मैं मिलत नहिं, पुण्य ज्ञान अघरूप। ताहि प्राप्त करि आश पुरि, स्वर्ग जात ते भूप ॥३१९॥
जो सिंहासन अमरता, ऐरावत-सम यान। भुवन राजधानी जहाँ, अमरावती महान ॥३२०॥
अमृत को कोठार जहँ, महासिद्धि भांडार। कामधेनु अरु कल्पतरु, जासु नगर धनुधार ॥३२१॥
जहँ सुरगण पायक धरणि, चिन्तामणि सर्वत्र। अरु विनोद उपवन जहाँ, सुरतरु यत्रहु तत्र ॥३२२॥
गायक जहँ गन्धर्वगण, रम्भा नाचनहारि। जहँ विलासिनी मुख्य तिय, है उर्वशी निहारि ॥३२३॥
सेवक मन्मथ शयन गृह, शशि आँगन सिंचनार। आज्ञा कारक पवन से, धायक जहँ धनुधार ॥३२४॥
आप बृहस्पति स्वस्ति श्री, दायक विप्र प्रधान। औरहु सुरगण बहुत जहँ, अहहिं पार्थ मतिमान ॥३२५॥
नामी सन्मानित जयी, लोकपाल-सम जान। उच्चैःश्रवा समान जहँ, मुख्य श्रेष्ठ हय जान ॥३२६॥
अधिक कहा जब लगि अहै, पुण्य लेश नरनाथ। तब लगि भोगैं इन्द्रसुख, सरिस भोग सब साथ ॥३२७॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

अर्थ—स्वर्ग महासुख भोगि वे, छीन पुण्य इत आय ।
इमि सकाम त्रयवेद-कृत, आवागमनहिं पाय ॥२१॥

उतरि इन्द्र अभिमान, पुनि पूंजी नसि पुण्य की । आवत लौटि सुजान, मृत्युलोक महँ सहज ते ॥३२८॥
गनिकहिं रमि सब द्रव्य नसि, सकि न देहरी जाय । तिमि दीक्षित गति लाजयुत, किमि बरनौं नरराय ॥३२६॥
नितहि मोहिं को बिसरि करि, चहत स्वर्ग सुखमूर । मृत्युलोक आवै अवशि, वृथा अमरता शूर ॥३३०॥
उदर मातु के कुहर मधि, पचि विष्ठाथल माहिं । उबलि माँस नव मास भरि, पुनि जनमहिं मरिजाहिं ॥३३१॥
निधिहिं पाय जो स्वप्न मधि, जागे सब नसि जाय । मखकर्ता को स्वर्गसुख, तैमहिं पार्थ जनाय ॥३३२॥
अर्जुन यह वेदज्ञ है, पै मो कहँ नहिं जान । जन्म व्यर्थ कण त्यागि जिमि, फौंड़ा लहै अजान ॥३३३॥
इहिं विधि इक मेरे बिना, व्यर्थ धर्मत्रय जान । मोहि जानु, कछु जानु नहिं, तुम सुख लहहु महान ॥३३४॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अर्थ—जे जन ह्वै इकनिष्ठ मम, करहिं उपासन सन्त ।
नित्ययुक्त तिन्ह योग अरु, क्षेम देहुँ बलवन्त ॥२२॥

जो जन करि निज चित्त को, मम में ही समभाव । जैसे गोला गर्भ को, उद्यम रहित स्वभाव ॥३३५॥
जाको मुहिं तजि और कछु, नीको लागत नाहिं । केवल मेरे नाम हित, जीवन राखत आहिं ॥३३६॥
चिन्तन मम मुहिं सेय, इमि अनन्य अन्तःकरण । निश्चय यह कौन्तेय, तिन्ह की सेवा मैं करत ॥३३७॥
जिहि छिन ते एकाग्र ह्वै, मोर भजन अनुसार । तब ही ताकी चिन्तना, होय मोहिं धनुधार ॥३३८॥
जो जिहिं कछु कर्तव्य तिहिं, सो मैं करत समस्त । जिमि अपंख शिशु जीव हित, रखि पक्षिणी व्यस्त ॥३३६॥
आप न भूख न प्यास गनि शिशुको सुख पहिचान । मातु करत तिमि अनुसरत मैं तिन्ह प्रति मतिमान ॥३४०॥
चाहहि मम सायुज्य तिहिं, मैं कौतुकहि पुराय । सेवा कहि मम भक्त मधि, प्रेम हृदय उपजाय ॥३४१॥
अर्जुन जो निज मन धरत, ऐसे जो जो भाव । बार बार पूरो करौं, दै करि रखहुँ चाव ॥३४२॥

अर्जुन जाको रहत है, मोरे महँ सब भाव। तासु योग अरु क्षेम को, मैं ही करत स्वभाव ॥३४३॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अर्थ—अन्य सुरहिं को यजन जो, करत सश्रद्धा पार्थ।
यजन करत सो मोहिं को, पै जानो अयथार्थ ॥२३॥

अपर संप्रदायहु सकल, व्यापक मोहि न जान। अग्नि इन्द्र रवि सोम को, यजन करत मुहिं मान ॥३४४॥
सत्यहु याजन मोर सब, में व्यापक सब माहिं। पै यह पद्धति विषम है, अर्जुन उत्तम नाहिं ॥३४५॥
जिमि न बीज इक पाहिं, लखि तरु शाखा पत्र बहु। पै इक मूलहि मॉहि, नीर देत पैयत सकल ॥३४६॥
किंवा इन्द्रिय दशहु हैं, यद्यपि एक शरीर। अरु इनते सेवित विषय, इक थल पहुँचत धीर ॥३४७॥
करहि रसोई श्रेष्ठ जो, कैसे भरिये कान। अरु किमि फूलहिं लाय कर, सूंघे दृगनि सुजान ॥३४८॥
सेवन रस को मुखहिं तें, नाकहिं लेत सुगन्ध। भजन मोर कहि ताहि जो, कीजै मम सम्बन्ध ॥३४९॥
जानि न मो कहँ भजन करि, वृथा आन की आन। बहुरि चहिय निर्दोष सो, कर्मनेत्र जो ज्ञान ॥३५०॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अर्थ—स्वामिहु अरु भोक्ता अहहुँ, में सब मख को पार्थ।
अन्य भक्त मुहिं तत्व सों, जानि न चूकि यथार्थ ॥२४॥

अर्जुन इमि लखि यज्ञ के, जे समस्त उपहार। मो सिवाय भोक्ता कवन, कहिये पांडुकुमार ॥३५१॥
सकल यज्ञ को आदि मैं, अरु मख अवधि सुजान। अज्ञानी जन मोहिं तजि, करत भजन जे आन ॥३५२॥
गंग जलहिं जिमि गंग कहँ, अर्पि पितृ सुर हेतु। मोरि वस्तु तिमि देत मोहिं, भाव अन्य कपिकेतु ॥३५३॥
बहुरि पार्थ ते मोहिं को, लहत सर्वथा नाहिं। श्रद्धा जो मन धरहिं ते, पावत हैं जग ताहिं ॥३५४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

अर्थ—देवव्रती सुरलोक लहैं, पितृभक्त पितृलोक ।
भूत-उपासक भूत लहैं, मुहिं भजि मोहिं अशोक ॥२५॥

सुर निमित्त व्रत जासु, कायिक, वाचिक, मानसिक । पावहिं सुरतन तासु, तन त्यागत ही मनुज ते ॥३५५॥
पुनि जग जाके चित्त महँ, होय पितृव्रत चाह । तिहि प्राणी को पितृगण,-लोक मिलै नरनाह ॥३५६॥
क्षुद्र सुरादिक भूतगण, परम देवता जासु । जारन, मारन कर्म तें, करि उपासना तासु ॥३५७॥
देहहिं वपु परदा नसत, अरु भूतत्वहिं पाय । इमि ताको संकल्प तरु, कर्म फलै नरराय ॥३५८॥
जो निज दृष्टिहिं लखत मुहिं, नाम सुनत मम कान । मेरो मन में ध्यान धरि, वर्णन वचन सुजान ॥३५९॥
सबहिं ओर सर्वांग ते, मो कहँ करहिं प्रनाम । दान पुण्य आदिक करहिं, मम उद्देश ललाम ॥३६०॥
अंतर बाहिर तृप्ति मम, मम अध्ययन कराय । जो निजजीवन व्यय करत, मम निमित्त नरराय ॥३६१॥
जन्महु हरि यशवृद्धि हित, जिहिं अँग इमि अभिमान । लोभहु केवल एक जग, मोर प्राप्ति मतिमान ॥३६२॥
अरु सप्रेम मम प्रेमतें, जो सकाम मम काम । जो मम हित उन्मत्त है, गनत न जग परिणाम ॥३६३॥
ऐसहिं पांडुकुमार, क्रिया सकल मम भजनहित । मम हित मंत्र उचार, शास्त्र जानि मम हेतु जो ॥३६४॥
देह तजन के प्रथम तें, मो महँ मिलत सुजान । पुनि मरणान्तर आन कहुँ, किमि जावैं मतिमान ॥३६५॥
और करत जो यजन मम, मम सायुज्यहिं, पाय । सेवा मिष अर्पण करहिं, निज कर मुहिं नरराय ॥३६६॥
आत्म-समर्पण के विना, प्रेम नहीं उपजाय । अरु कौनहु उपचार ते, मैं वश नाहिं स्वभाय ॥३६७॥
जो कहि 'मैं ज्ञानी अहौं' अथवा 'अहौं कृतार्थ' । 'मुक्त भयो मैं' यह कहै, जानहु सब अयथार्थ ॥३६८॥
किं बहु मख दानादि तप, को करि जो अनुमान । तो तृणसमहु योग्यता, ताकी नहीं सुजान ॥३६९॥
निरखि वेद तेहु अधिक, होय ज्ञानबल काह । कौनहु वक्ता शेष से, अधिक होय नरनाह ॥३७०॥
नेति नेति कहि वेद सो, शय्यातल दबि शेष । सनकादिक इत बावरे, नग्न बाल-वय-वेष ॥३७१॥

कौन तपस्वी जगत महँ, महादेव सम आन । मम पादोदक गंग धरि, निजशिर तजि अभिमान ॥३७२॥

को लक्ष्मी सम आन, सुख सम्पत्ति विचार करु । जाके धाम सुजान, श्री-सम दासी जानियत ॥३७३॥

जो घर धूला खेल सम, नाम अमरपुर जान । तो किमि इन्द्रादिन्ह महँ, गुडिया सम नहिं मान ॥३७४॥

कोपित ह्वै घरधूल नसि, इन्द्रहिं रंक बनाय । कृपा-दृष्टि के रुख लखि, कल्प वृक्ष ह्वै जाय ॥३७५॥

ऐसहि जेहि गृह दासिका, की सामर्थ्य अनूप । श्रीलक्ष्मी-पटरानिहु, लहि न प्रतिष्ठा भूप ॥३७६॥

सकल भाव सेवा करे, तजि के सब अभिमान । पग धोवन अधिकार की, पात्र भरे मतिमान ॥३७७॥

सकल प्रतिष्ठा दूर करि, विद्वत्ता बिसराय । जब लौं नम्र न जगत महँ, तब लगि मोहँ न पाय ॥३७८॥

सन्मुख रवि के तेज के, जिमि शशि लोपहिं पाय । निज प्रकाश खद्योत सम, किमि अभिमान कराय ॥३७९॥

जहँ पर श्री शोभित नहीं, शिवको तप न पुराय । तहँ प्राकृत खिलवार कहँ, कैसे जान्यो जाय ॥३८०॥

सब गुन राई नोन करि, तजि शरीर अभिमान । सब संपति अभिमान की, करहु निछावर जान ॥३८१॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

अर्थ—सहित भक्ति फल फूल जल, पत्र मोहिं अर्पाय ।

तासु भक्ति उपहार मैं, स्वीकारहुँ हरषाय ॥२६॥

कैसोहू कपिकेतु, चाहै जैसो होय फल । मम अर्पन के हेतु, भाव असीम हुलास सह ॥३८२॥

अरु सभक्ति मुहिं देय जो, मैं दुहु भुजा पसार । सेवहुँ डठुवा सहित तिहिं, करि सादर स्वीकार ॥३८३॥

इमि सभक्ति इक फूलहू, अर्जुन मो कहँ देय । चहिय सूंघियो नाक में, पै मम मुख ले लेय ॥३८४॥

अधिक कहा कहि फूल की, जो सप्रेम इक पान । सूखो गीलो कैसहू, कौनहु तरु को आन ॥३८५॥

क्षुधित सुधातें तृप्ति जिमि, तिमि पत्रहिं सुख मान । खान लगौं अति प्रेम सों, लखि के भाव महान ॥३८६॥

किंवा ऐसो हो सकै, की पत्रहु न जुराय । पै कठिनाई नीर की, होय नहीं नरराय ॥३८७॥

नीर मिले बिन मोल अरु, बिन श्रम ही मिलि जाय । जो कोऊ अति प्रेम तें, अर्पन मोहि कराय ॥३८८॥

सोइ मनहुँ वैकुंठ तें, ऊँचे धाम बनाय। औ' उत्तम कौस्तुभहिं तें, रत्न मोहिं अर्पाय ॥३८६॥
सुन्दर जिमि क्षीराब्धि अरु, शय्या इन्दु समान। मम हित रची अपार तिन्ह,इमि मानहु मतिमान ॥३६०॥
चंदन अगर कपूर, गनौं सुगंध सुमेरु इमि। दीपमाल रवि शूर, बाती उजियारै मनहुँ ॥३६१॥
गरुड सरिस वाहन दियौ, सुरतरु सम उद्यान। कामधेनु सम गोधनहुँ, जनु अर्प्यो मतिमान ॥३६२॥
अमृत हू ते सुरस अति, जनु परस्यो पकवान। उदक मात्र मम भक्त को, इमि परितोषत मान ॥३६३॥
अर्जुन तुम नयननि लखी, किमि बोलौं अधिकाय। वस्त्र सुदामा गाँठ को, तंदुल हेतु छुराय ॥३६४॥
जानत मैं इक भक्ति को, गनत न छोट महान। अहौं भाव को पाहुनौ, कोऊ हो मतिमान ॥३६५॥
इमि फल पुष्पहु पत्र जल, केवल भक्ति निमित्त। किन्तु भक्ति को तत्त्व इक, मम लगि वस्तु समस्त ॥३६६॥
सुनहु पार्थ तुम ध्यान दै निज मति करि स्वाधीन। सहजहि निज मन मन्दिरहिं मोहि न बिसरि प्रवीन ॥३६७॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

अर्थ—जो करु जो भोजन करहु, हवन करहु जो पार्थ।
दान और तप करहु जो, सब मुहिं अर्पु यथार्थ ॥२७॥

करहु जासु उपभोग अरु, जो जो करु व्यापार। किंवा कीजै यज्ञ जो, नानाविधि आचार ॥३६८॥
किंवा दान सुपात्र कहँ, वेतन दासहिं देय। तप व्रतादि साधन सकल, जो कछु करु कौन्तेय ॥३६६॥
जो जब उपजि स्वभाव, क्रियामात्र सम्पूर्ण जे। मम उद्देश कराव, भक्तिभाव संयुक्त सब ॥४००॥
आपुन जिय महँ सर्वथा, पै न चिन्तये कर्म। इमि निष्कामहि कर्म सब, मुहि अर्पहु यह मर्म ॥४०१॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

अर्थ—कर्म शुभाशुभ फल अरपि, कर्मबन्ध तें मुक्त।
त्यागयोग तें मुक्ति लहि, मिलु मोहिं होय विमुक्त ॥२८॥

अनलकुंड में बीज भुंजि, अंकुर दशा नशाय । कर्म शुभाशुभ अर्पि मुहिं, फल बंधन न रहाय ॥४०२॥
कर्म बचै रहि ताहि तें, सुख-दुख फल उपजाय । अरु तिहि भोगन हेतु ही, देह धरै नर आय ॥४०३॥
कर्म सकल जब अर्पि मुहिं, जन्म-मरन न रहायँ । और जन्म के संग सब, कष्ट भविष्य नशायँ ॥४०४॥
सुनहु पार्थ इहि लागि अब, नहि विलम्ब करु साज । युक्ति सहज संन्यास की, तोहि बतावौं आज ॥४०५॥
सुख दुख सागर डूबि नहिं, तन बन्धन परि नाँहिं । अनायास सुखरूप जो, मिलि मम अंगहि माँहि ॥४०६॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अर्थ—सकल भूत मम एक सम, शत्रु मित्र मम नाँहि ।
भक्त मोर तिहिं ठाउँ मैं, और भक्त मम माँहि ॥२९॥

अर्जुन सदा समान, सर्वभूत में मैं अहौं । यदि बूझो मतिमान, आप और पर भेद नहिं ॥४०७॥
अहंकार को मेटि थल, ऐसो मोको जान । तन मन वच अरु कर्म करि, मोहिं भजै मतिमान ॥४०८॥
यदि वर्तत तनभाव लखि, पै चित तनमें नांहि । तासु चित्त मम में सकल, अरु मैं तिहि चित माँहि ॥४०९॥
जैसे अपने बीज में, वटतरु को विस्तार । अरु कणिका सम बीज है, अर्जुन ताहि निहार ॥४१०॥
अंतर नामहिं मात्र को, उनके हमरे माँहि । हृदय विचारहु वस्तु जो, तो मद्रूपहि आँहि ॥४११॥
औ' आभूषण मांगि कै, पहिरब व्यर्थ स्व-अंग । तन धारन किमि तासु को, जानि उदास प्रसंग ॥४१२॥
जैसे परिमल पुष्प को, संग समीर उड़ाय । पुष्प रहे बिनु सुरभि तिमि, आयु मुठी तन आय ॥४१३॥
जो आरूढहिं भाव मम, ताके सब अभिमान । मम स्वरूप महँ लीनता, पावहिं पार्थ सुजान ॥४१४॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अर्थ—एकहि निष्ठहिं मोहि भजि, यद्यपि पापाचार ।
ताहि साधु ही जानिये, उत्तम तासु विचार ॥३०॥

जातिहु कौनहु होय, प्रेमभाव इमि जो भजै। बहुरि न पावत सोय, पुनर्जन्म अर्जुन कबहुँ ॥४१५॥
अर्जुन जनि आचरण लखु, यदि कुकर्म सिरमौर। पै निज जीवन शेष करि, भक्ति चौहटा दौर ॥४१६॥
अंत समय मति जिमि रहै, सत्यहिं तिमि गति पाय। तातें जीवन शेष करि, भक्ति माँहि सुखदाय ॥४१७॥
दुराचाररत यदि प्रथम, तउ उत्तम तिहिं जान। महापूर में डूबि जिमि जियत बचै मतिमान ॥४१८॥
जीवित आवै पार इहिं, तो डूबतो नसाय। प्रथम किये सब अघ नसैं, भक्तिमार्ग में आय ॥४१९॥
यद्यपि सो दुष्कृति रह्यो, तीर्थ न्हाय अनुताप। अरु नहाय सब भावतें, मम में प्रविशत आप ॥४२०॥
निर्मल लहै कुलीनपन, कुल पवित्र तिहिं होय। जन्म केर फल भक्ति जो, ताकहँ पावत सोय ॥४२१॥
अर्जुन सो सब पढ़ चुक्यो, सब तप तपि तपरास। और योग अष्टांगहू, करि लीन्हो अभ्यास ॥४२२॥
अधिक कहा पारहिं लग्यो, कर्म सर्वथा सोइ। मम महँ जासु अखंडतः, श्रद्धा अर्जुन होइ ॥४२३॥
एकहि निष्ठ पिटार, भर मन बुधि व्यापार सब। धरि मम मध्य उदार, अर्जुन होय अशोक अति ॥४२४॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

अर्थ—सतत शान्ति लहि शीघ्र ह्वै, धर्मात्मा नरराय।
निश्चय ऐसो जानि मम, भक्त नाश नहिं पाय ॥३१॥

यदि अस समुझौ के कबहुँ, होवहु मोहि समान। तो लखि अमृत माँहि मसि, कैसे मरन सुजान ॥४२५॥
सूर्य उदय जिहि समय नहिं, रात्रि न कहिये काँहि। तिमि मम भक्ति न होय जब महापाप किमि नाँहि ॥४२६॥
किन्तु तासु को चित्त जब, मो महँ होय उदार। तब यथार्थ ही होत है, मम स्वरूप अनुसार ॥४२७॥
दीपहिं दीप लगाय जिमि, कौन आदि को जान। तिमि सर्वस्वहि मोहि भजि, है मद्रूप सुजान ॥४२८॥
नित्य शांति मम कांति सों, दशा तासु तिमि जान। अधिक कहा मम जीवनहिं, ताको जियत सुजान ॥४२९॥
अर्जुन अब यह विषय किमि, बरनौं बारंबार। यदि इच्छा मम प्रेम की, तो जनि भक्ति बिसार ॥४३०॥
कुल महँ उत्तमत्ता न लगि, श्रेष्ठ जाति न विचार। हाव न विद्वत्ता धरहु, केवल भक्ति सँभार ॥४३१॥

औरहु वय, वपु, द्रव्य की, सकल प्रतिष्ठा साज । एक भाव मम भक्ति विनु, सकल वृथा नरराज ॥४३२॥
अन्न विना यदि होय, कहा करै क्षुद्रा घने । ओस पर्यो बहु सोय, अथवा सुन्दर नगर में ॥४३३॥
जो सरवर सूखै, वनहिं, द्वै दुखिया मिलि जायँ । अथवा जैसे वृक्ष कहुँ, बाँझ न फलहिं फलाय ॥४३४॥
किंवा वैभव जाति कुल, गौरव सकल वृथाहि । जिमि शरीर सब अंगयुत, पै इक जीवहि नाँहि ॥४३५॥
जीवन ताको व्यर्थ सब, मेरी भक्ति सिवाय । अथवा धरनी पर रहहिं, जिमि पाहन नरराय ॥४३६॥
घनी छाँह कंटक विविध, सज्जन ताहि तजाहिं । तिमि अभक्त के पुण्य सब, ता कहँ छाँड़ि पराहिं ॥४३७॥
जिमि निंबौर भरि निंबतरु, कागहिं होय सुकाल । भक्तिहीन की वृद्धि तिमि, सञ्चय पाप भुवाल ॥४३८॥
किंवा षड्रस परसि धरि, खर्पर महँ चौपंथ । उपयोगी तहँ श्वान को, जानु सुभद्राकंथ ॥४३९॥
स्वप्नहु जो जानै नहीं, पुण्य पंथ आचार । भक्तिहीन को जियब तिमि, जग दुख परसी थार ॥४४०॥
तातें उत्तम होय वा, अन्त्यज जातिहु होय । तन पशुहू को लाभ प्रद, भक्ति प्राप्ति जिहिं सोय ॥४४१॥
सुमिर्यो मुँहि ह्वै दीन, गज को जबही ग्राह धरि । पायो मोहिं प्रवीन, पशुपन सब तन को वृथा ॥४४२॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

अर्थ—अघज योनि महँ जन्म लहि, शूद्र वैश्य वा नारि ।
सोऊ पावहिं परम गति, मम आश्रित धनुधारि ॥३२॥

नामहु अस लेवो बुरो, अधमाधम सब माँहि । अर्जुन तस अघयोनि महँ, जाकरि जो जनमाँहि ॥४४३॥
पाहन सदृशहु मूर्ख अरु, पापयोनि अघरूप । सर्वभाव तें दृढ़ रहै, मम ठिकान नरभूप ॥४४४॥
नाम उच्चारन मम वचन, नयन निरखि ममरूप । जाके मन संकल्प नहिं, अन्य मोहिं तजि भूप ॥४४५॥
जाके कानहु रति नहीं, मम कीर्तन विन पार्थ । सर्वांगहि भूषन धरत, सेवा मोर यथार्थ ॥४४६॥
अर्जुन चिन्तन विषय को, होत न जाके ज्ञान । जानि मोहिं इकलाभ यह, मरन अन्यथा मान ॥४४७॥
सब प्रकार तें भाव सब, जो आपुहिं धनुधार । मम महँ धारन कर करत, वालक्षेप उदार ॥४४८॥

जो होवै अघयोनि वा, वेदहु पढ़े न होय। पै मोतें तुलना करहु, तो न न्यूनता सोय ॥४४६॥
निरखि भक्ति महिमा लही, देव दनुज गति हीन। जिहिं महिमा अवतार मम, रूप नृसिंह नवीन ॥४५०॥
उत्तम तिहिं बहु मान, जो तुलना प्रह्लाद मम। तासु पास मतिमान, दैन चहौं मैं तेहि जो ॥४५१॥
यद्यपि दनुकुल जन्म पै, इन्द्र न तासु समान। तातें उत्तम भक्ति इत, जाति प्रमान न मान ॥४५२॥
जो नृप आज्ञा अक्षरहिं, चर्मखण्ड महँ जोय। सकल वस्तु तातें मिलैं, कछु सन्देह न होय ॥४५३॥
चाँदी स्वर्न प्रमान नहिं, राजा देश प्रशस्त। चर्म खंड इक तें मिलत, चांदी स्वर्न समस्त ॥४५४॥
युक्त रहत मन बुद्धि जहँ, हमरे प्रेमहिं पार्थ। उत्तमता सर्वज्ञता, शोभित ताहि यथार्थ ॥४५५॥
इमि सुजाति कुल वर्ण सब, इहाँ अकारण जान। केवल करि मम भक्ति इक, अर्जुन सार्थक मान ॥४५६॥
चहै भाव जो होय पै, मन प्रविशै मम माँहि। पूर्व दोष कौनहु रहै, सकल व्यर्थ ह्वै जाँहि ॥४५७॥
नाला नाला तबहि लगि, जब लगि मिलहि न गंग। गंग मिले ते होत इक, केवल गंग उमंग ॥४५८॥
चंदन काष्ठ रु खदिर को तब लगि भेद विचारु। जब लगि जरत न अग्नि महँ, जरे समान अँगारु ॥४५९॥
अंत्यज आदिक जान, क्षत्रिय वैश्यरु शूद्र तिय। मोहिं न मिलैं सुजान, वर्ण भेद है जबहिं लगि ॥४६०॥
जिमि समुद्र महँ नोन कन, डारे तें गलि जाय। तिमि मोमें मिलि जाति अरु व्यक्ति भेद नसि जाय ॥४६१॥
सरितहु नद बहि पूर्व अरु, पश्चिम तब लगि नाम। जब लगि मिलत न सिंधु महँ मिलि अभेद सुखधाम ॥४६२॥
कौनहु एकहु मिसहु ते, चित्त प्रविशि मम माँहि। तब पुनि अर्जुन स्वयं मिलि, मद्रूपता सुहाँहि ॥४६३॥
ज्यों पारस के खंड तें, कहुँ लोहो छू जाय। छुवतहिं सो कंचन बने, पारस संग गवाय ॥४६४॥
गोपीगन व्रज प्रीति मिस, मो महँ चित्त लगाय। तो का मोर स्वरूप तिन, लह्यो नहीं नरराय ॥४६५॥
किंवा भय के मिसहिं का, कंस न पायो मोहिं। अरु अखंड दृढ़ वैरवश, शिशुपालादिक जोहि ॥४६६॥
यादव पांडव सब मिले, मुहिं संबन्धहि नात। माता यशुदा देवकी, नँद वसुदेवहु तात ॥४६७॥
नारद ध्रुव प्रह्लाद शुक, अरु अक्रूर कुमार। इन जिमि पायो भक्ति तें, मो कहँ पांडुकुमार ॥४६८॥
कामाकांक्षहि गोपि, कंसादिक भय के वसहिं। शिशुपालादिक सोपि, वैरभाव मन धर्म तें ॥४६९॥
कौनहु पंथहुँ मोहिं मिलि, मैं ठिकाम निर्वान। भक्ति विषय रिपु विरति वा, कोनहु भांति सुजान ॥४७०॥

सकल पार्थ संसार महँ, मोमहँ करहिं प्रवेश। ऐसे साधन न्यून नहिं, अधिक अहैं वीरेश ॥४७१॥

कोऊ कवन निमित्त यदि, मम शरणहिं में आय। तो निश्चय मद्रूपता, तासु हाथ नरराय ॥४७२॥

जनमैं काहू जाति अरु, भक्ति वैर मम माँहि। पै रिपुता वा भक्तता, मेरी ही दरसाँहि ॥४७३॥

बहुरि पार्थ अघयोनि वा, वैश्य, शूद्र अरु नारि। मोहि भजैं मम-धामहीं, पहुँचत हैं धनुधारि ॥४७४॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

अर्थ—किमि पुनि ब्राह्मण पुण्ययुत, भक्त तथा राजर्षि।

अनित असुख इहि लोक महँ, मुहिं भजि लहि उत्कर्ष ॥३३॥

सकल वर्ण में श्रेष्ठ जे, स्वर्ग जासु उपहार। नैहर विद्यामन्त्र के, ब्राह्मण पांडुकुमार ॥४७५॥

जो धरनी-सुर तपहु के, मूर्तिमान अवतार। भाग्यरूप सब तीर्थ के, उदय भये संसार ॥४७६॥

अरु अखंड नागरिक मख, वेद कवच बलवान। जासु दृष्टि सम्बन्ध ते, मंगल मोद महान ॥४७७॥

जो श्रद्धा की आर्द्रतहि, सत्कर्महिं विस्तार। जासु सत्य संकल्प तें, सत्यहु जीवन धार ॥४७८॥

स्वस्ति वचन जिहिं हेतु, अतः अनल आयुष्य लहि। जासु प्रीति कपिकेतु, अनलहिं धरि निज जल उदधि।४७९।

अरु ढकेलि श्री दूर करि, गल तजि मणि कर धारि। उरः स्थल आगे करेहु, पदरजहित धनुधारि ॥४८०॥

निज व्यवहारिक शान्तिपन, के राखन के हेतु। चरन चिन्ह निज हृदय महँ, अजहुँ धरौं कपिकेतु ॥४८१॥

काल अमल अरु रुद्र बसि, जिनके कोप ठिकान। जासु प्रसादहि सहजहिं, पावत सिद्धि महान ॥४८२॥

अति प्रवीन मम ठाउँ अरु, पुण्य पूज्य द्विजराज। ते पावहिं मुहिं निश्चयहिं, कहा कथन यह आज ॥४८३॥

चंदन अँग परसहिं पवन, अधम निम्बतरु लाग। लखि सुरमस्तक पर चढ़हिं, चंदन ह्वै बड़ भाग ॥४८४॥

चंदन होय न निंब पुनि, यह कैसे प्रन धारि। सत्य वास्तविक कथन को, कहा प्रमान विचारि ॥४८५॥

अर्ध चन्द्रमा मस्तकहि, नित धारत त्रिपुरारि। इमि आज्ञा करि दाहविष, शमन होय धनुधारि ॥४८६॥

दाह शमनकरि पूर्ण अरु, शशितें अधिक सुगंध। सो चंदन किमि सहज नहिं, बसि सब अँग सम्बन्ध ॥४८७॥

कि बहु पथ जल माँहि मिलि सहजहिं सिन्धु मिलाव। गंगहिं सिन्धु सिवाय किमि दूसरि गति नरराय ॥४८८॥
गति मति रक्षक में हि, अतः विप्र राजर्षि जिहिं। सत्य सत्य सत्येहि, मुक्ति मुक्ति मैं ही अहौं ॥४८९॥
नावहिं बसि शतछिद्र युत, किमि निश्चय न डुबाँय। फिरहि उघारे अंग किमि, जहाँ शस्त्र बरसाँय ॥४९०॥
अंग परहिं पाषान किमि, ढाल न सन्मुख लाय। अरु उदासपन औषधहिं, जब रुज घेरहिं आय ॥४९१॥
जब चहुँ ओरहि आगि लगि बाहर किमि न भगाय। सोपद्रव जगमहँ जनमि किमि नहिं मोहिं भजाय ॥४९२॥
मनुज अंग सामर्थ्य कह, भजि न मोहिं चिल्लाय। किंवा भोग समृद्धि घर, किमि निश्चिन्त कराय ॥४९३॥
किंवा विद्या वयस तें, प्राणी गण सुख पाय। ऐसो कौन भरोस जो, मुहिं न भजे नरराय ॥४९४॥
एकहि तन सुखहेतु सब, भोगमात्र उपजायँ। और काल के मुखहिं में, लखि सब जग पड़िजाय ॥४९५॥
अहह छुटै किमि मरणदुख, भरयो हाट संसार। माप मरण वपु हाट जग, अंत समय पैसार ॥४९६॥
जीवहिं अब सुख होय किमि, मोल लेय कहँ जाय। आग बुझे पर राख किमि, फूंके दीप हिलाय ॥४९७॥
अमरपनो नरराय, सुधा नाम धरि चाह करि। ताको लेय पियाय, जो बाँटे विषकन्द-रस ॥४९८॥
अर्जुन तिमि सुख विषय को, केवल दुःखः महान। सेवन बिनु रह सकत नहिं, कीजे कहा अजान ॥४९९॥
शिरहिं खण्ड करि आपुनो, बाँधे व्रण जो पाँय। सुखद कहा जग माँहि तिमि, सकल विषय समुदाय ॥५००॥
तातें जग सुख को कथन, सुनहिं कौन के कान। सोवत सुखनिद्रा कहाँ, अग्नि सेज उपधान ॥५०१॥
जिमि जग चन्द्रहिं क्षय लग्यो, उदय अस्त के हेतु। दुख लहि सुख के नामतें, छलत जगहिं कपिकेतु ॥५०२॥
अङ्कुर मंगल कढ़त जहँ, लपटि अमंगल जाय। ढूंढत उदरहि गर्भ तें, मृत्यु महादुख दाय ॥५०३॥
जाको चिन्तन करत नहिं, तिहिं तब लै यमदूत। गये कौनधौं गाँव में, शोध न कुन्तीपूत ॥५०४॥
अरे खोज सब पंथ पै, मिलत न चिन्हहु पाँय। जगत बात लहि मृत्यु की, जहँ जूनी नरराय ॥५०५॥
जग अनित्य ब्रह्मा रचन, तासु आयु पर्यन्त। वर्णन कीजे यदि तदपि, होय न ताको अन्त ॥५०६॥
औ' निश्चिन्त दिखायँ, कौतुक अर्जुन यह अहै। तामें जन्महि पायँ, ऐसी थिति जहँ लोक की ॥५०७॥
उभय लोक में लाभप्रद, ता हित देत न दाम। हानि जहाँ सर्वस्व तहँ, कोटि न व्यय बलधाम ॥५०८॥
जो फँसि विषय विलास अति, तिहिं कहि थिति सुखमाँहि। ज्ञानवान कहि जग सबै अर्जुन लोभी काँहि ॥५०९॥

जाकी थोड़ी आयु अरु, बुद्धि बलहिं कम जान। ताहि बड़े कहि पग धरैं, अर्जुन जे अज्ञान ॥५१०॥
जिमि जिमि बालक बढ़त तिमि, संतोषित मन माँहि। आयु घटन की ग्लानि कछु, अर्जुन मनमें नाँहि ॥५११॥
जनम भये ते दिनहि दिन, होत काल आधीन। वर्ष गाँठ सानन्द करि, ध्वज फहराय प्रवीन ॥५१२॥
सहि न सकत मर शब्द यह, मरणहि रुदन कराहिं। चली जात है आयु तिहिं, गनत नहीं मन माँहि ॥५१३॥
उरग लीन्ह जिमि दादुरहिं, सो गहि माखी खाय। तिमि प्राणी अति लोभ तें, तृष्णा लेत बढ़ाय ॥५१४॥
अहह बात कितनी बुरी, मृत्युलोक के माँह। जन्म कदाचित यदि लह्यो, तुमहुँ इतै नरनाँह ॥५१५॥
जो अविनाशि स्वधाम, मोहिं मिलहिं जातें सुभग। भक्ति सुपंथ ललाम, चलि वेगहिं बिलगाय कढ़ि ॥५१६॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

अर्थ—नमस्कार मुहिं यजन मम, मन मों महँ मम भक्त।
थिरमति मो महँ एक गति, करि मिलि मोहिं असक्त ॥३४॥

आपुन मन मद्रूप करि, भजन प्रेम मम धारु। एक मोहिं सर्वत्र ही, प्रणवहु पांडुकुमारु ॥५१७॥
अरु अशेष संकल्प तजि, करि मम अनुमन्धाम। मखकर्ता अतिश्रेष्ठ तिहिं, कहहि विज्ञ मतिमान ॥५१८॥
यों मोते सपन्न ह्वै, पावहिं मोर स्वरूप। यह मम अन्तःकरण की, गुप्त बात कहि भूप ॥५१९॥
अहो पार्थ सबतें छिपी, मम सर्वस्वहिं आप। प्राप्त कियो सुखरूप ह्वै, रहौ मेटि सब ताप ॥५२०॥
श्यामबरन पर ब्रह्म इमि, भक्त कल्पतरु काम। आतमराम कहि पार्थ तें, संजय कुरुपति ठाम ॥५२१॥
अहह सुनहु धृतराष्ट्र नृप, सुनि नहिं करत विचार। जैसे भैंसा उठत नहिं, सरिता पूर मँझार ॥५२२॥
अमृत इत बरस्यो कहहिं, संजय माथ डुलाय। इतै बसतहू जनु गयो, अन्य गाँव कुरुराय ॥५२३॥
यह दाता मम याहि इमि, कहौं दोष कहँ पाय। इमि स्वभाव याको अहै, कीजै कहा उपाय ॥५२४॥
कृष्णार्जुन संवाद, श्रेष्ठ व्यास ऋषि मोहिं कहि। मम सुभाग्य आह्लाद, कहु धृतराष्ट्रहिं किमि अहैं ॥५२५॥
अति श्रम दृढ़ मनतें कहत, उदये सात्त्विक भाय। ऐसे आपहिं संजयहिं, सके न हियहिं समाय ॥५२६॥

तिस गहो संवाद महँ, थिर ह्वै वाणी जाग । जागेहू सुस्तब्ध रहि, रोमांचित सब लाग ॥५२७॥
आनँद अँसुवा बहत अध,-खुली आँख दरसाय । सुख तरंग अन्तःकरण, बाहिर कंपित काय ॥५२८॥
निर्मल निकसे स्वेदकन, रोममूल सब काँहि । जनु मोती लरियां लगीं, सोहति सब तन माँहि ॥५२९॥
इमि अति प्रेमहि सुख महा, जीव दशा बिसराय । व्यास नियोजित काज तब, संजय सकि न कराय ॥५३०॥
यों श्री केशव वचन ध्वनि, जब परि संजय कान । देहस्मृति बहुरी बहुरि, व्यास काज हित जान ॥५३१॥
अश्रु नयन के पोंछ पुनि, स्वेद सकल सर्वांग । अरु पुनि कहि धृतराष्ट्र तें, सुनिये सांगोपांग ॥५३२॥
केशव उत्तम बीज वच, संजय सात्त्विक खेतु । ज्ञान पीक श्रोता लहहिं, अबहि सुकाल सुहेतु ॥५३३॥
अहो रंच दै ध्यान बसि, आनँद राशि विशाल । श्रवणेन्द्रिय के गर परयौ, दैवयोग जयमाल ॥५३४॥
अर्जुन को ऐश्वर्य थल, दरसावत सिधराज । ज्ञानदेव कहि निवृत्ति के, सो सुनु श्रोता आज ॥५३५॥



ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर
श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-
ज्ञानेश्वर्य्यां नवमोऽध्यायः
शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ॐ

ॐ

दशम अध्याय

—०:—:०—

नमो बोध निर्मल चतुर, विद्या कमल विकास ।
परा वाणि के अर्थ वपु, रमणीकरण विलास ॥१॥

नमो विश्वतम सूर्य जो, अति सामर्थ्य अपार । तरुणी तुर्या रमणि के, लीलहिं लालन-हार ॥२॥
नमो विश्व-पालक सकल, मंगल-रत्न-निधान । सज्जन-वन-चंदन सुभग, रूपाराध्य सुजान ॥३॥
नमो चित्त सुचकोर शशि, अनुभव आत्म नृपाल । श्रुति-समुद्र के सार प्रभु, मर्दन मदन कृपाल ॥४॥
नमो भाव भजन भजन, जग-गज-कुम्भ-विदार । जग उपजावत भजन जो, श्री गुरुराज उदार ॥५॥
आप अनुग्रह रूप जो, देहिं प्रसाद गणेश । तो शिशुहू की बुद्धि महँ, वाणी प्रविशि विशेष ॥६॥
अभय दान उद्देश जो, मिलि गुरु वचन उदार । तब रस सुधा-समुद्र की, पावै थाह अपार ॥७॥
आप प्रणय वपु भारती, यदि गूंगहि स्वीकार । तो सुर-गुरु तें होड़ करि, रचै प्रबन्ध उदार ॥८॥
कमल हस्त थिर माथ, दया दृष्टि की झलक जिहिं । पावत है नरनाथ, जीवहु समता ईश की ॥९॥
जाकर महिमा काम इमि, वाचा बल तें ताहि । कैसे वर्णन हो सकै, रवि तन उबटन काहि ॥१०॥
क्षीर उदधि आतिथ्य कहँ, कल्पवृक्ष कहँ फूल । अरु सुगंध कपूर कहँ, कौन देय सुखमूल ॥११॥
चन्दन चर्चें काहि तें, अमिय रसोई काहि । आकाशहि ऊंचो करै, कैसे करिके ताहि ॥१२॥
श्री गुरु-महिमा जानि जिमि, साधन कहाँ मिलाहिं । यह समुझत चुप ह्वै कियो, नमस्कार गुरु पाहिं ॥१३॥
यदि बुधिबल तें कहि करौं, गुरु सामर्थ्य बखान । तो मोती में देय जनु, अभ्रक तेज प्रमान ॥१४॥
किंवा उत्तम स्वर्न जिमि, चांदी सरिस बखान । व्यर्थहि गुरुमहिमा कथन, भल गुरुपद सिर जान ॥१५॥

ज्ञानेश्वर कहि मोहिं प्रभु, भलि ममतहिं लखि आप। कृष्णार्जुन संगम अतः, ह्वै प्रयाग वट थाप ।।१६।।
शम्भुहिं ते उपमन्यु जब, माँगिउ दूध भुखाय। तब सब क्षीर समुद्र को, पिंड दियो शिव लाय ।।१७।।
ध्रुव पद भोजन देय, किंवा मचले ध्रुवहिं कहँ। श्री वैकुण्ठप ज्ञेय, कौतुकहीं समझाय तब ।।१८।।
उत्तम विद्या ब्रह्म सब, जो थल शास्त्र ललाम। भगवद्गीतहिं प्राकृतिहिं, इमि गावौं सुखधाम ।।१९।।
शब्द बनहिं फिर नहिं सुन्यो, सफल अक्षरहु एक। कल्पलता परि सोइ किय वाचारूप विवेक ।।२०।।
गति मम इक तन बुद्धि तिहिं, किय आनँद भंडार। गीता अर्थ समुद्र महँ, मन जल शयन विहार ।।२१।।
इक इक कृत गुरुराज किमि, वरनौं जाति अपार। तिहिं अनुवादत ढीठपन, क्षमिये सकल उदार ।।२२।।
अब लगि पहलो खंड मैं, कहि तुव कृपा प्रसाद। भगवद्गीतहिं प्राकृतहिं, सुप्रबन्ध अह्लाद ।।२३।।
आदि विषाद जु पार्थ शुचि, साँख्य विशद समुझाय। ज्ञान कर्म के भेद कहि, प्रभु दूजे अध्याय ।।२४।।
केवल कर्महिं तीसरे, चौथ ज्ञान सह कर्म। कर्मयोग संन्यास को, पंचम में सब मर्म ।।२५।।
आसन विधि सुस्पष्ट कहि, प्रगट छठें अध्याय। ऐक्यभाव जीवात्म को, जिहिं जानै ह्वै जाय ।।२६।।
योगभ्रष्ट गति होय, योगस्थिति कहि और जो। षष्ठ-मध्य मुद मोय, कह्यो सकल सिद्धान्त निज ।।२७।।
नंतर सप्तम प्रकृति कहि, जन्म और संहार। करि पुरुषोत्तम को भजन, चौविधि भक्त उदार ।।२८।।
उत्तर सातों प्रश्न कहि, अन्त समय चित शुद्ध। इमि अष्टम अध्याय महँ, निर्णय सकल प्रबुद्ध ।।२९।।
निनद ब्रह्म जितना कह्यो, पुनि असंख्य अभिप्राय। लक्ष महाभारतहिं इक, तितनो सब दरसाय ।।३०।।
सो गीताशत सप्त वपु, कृष्णार्जुन संवाद। वर्णित सब इक नवम महँ, सुनत होत अह्लाद ।।३१।।
और नवम में सहज की, दृढ़ मुद्राभिप्राय। कह्यो न समझ्यो बहुरि तो, व्यर्थ गर्व मम आय ।।३२।।
अहो खाँड गुड़ एक हीं, रसतें लेय बनाय। पै मीठोपन स्वाद जिमि, आनहिं आन जनाय ।।३३।।
इकहि जानि वर्णन करैं, इक ठिकानं कहँ जान। इक जानन हित जाय निज, सगुण ब्रह्म वपु मान ।।३४।।
यों गीता अध्याय पै, नवम न वरणन जोग। प्रभु अनुवादौं आपकी, सामर्थ्यहिं संजोग ।।३५।।
इक प्रति सृष्टि रचाय, इक प्रकाश रवि सम यतन। कटक पार करि जाय, सिंधु बाँधि पाषाण इक ।।३६।।
सिंधु पिये इक अंजुलिहिं, इक रवि धरि आकास। अनिर्वाच्य तुम मूक मैं, तिमि बोलत सहुलास ।।३७।।

अधिक कहा ऐसहि यहाँ, रण रावण श्रीराम । जिमि रावण अरु राम तिमि, रण अनुपम बलधाम ॥३८॥
कथन कृष्ण तिमि नवम महँ, नवम समानहिं जान । जिहिं कर गीता अर्थ सो, तत्त्वज्ञहिं यह ज्ञान ॥३९॥
इमि प्रथमहिं अध्याय नव, निज मति सरिस बखान । मैं अब उत्तर खंड इत, बरनत सुनु धरि ध्यान ॥४०॥
जहँ विभूति कहि मुख्य अरु, गौण, कृष्ण प्रति पार्थ । कथा सरस सुन्दर तुम्हहिं, मैं सब कहौं यथार्थ ॥४१॥
देशी भाषा रुचिरतहिं, शान्त शृंङ्गार-परीत । अलङ्कार साहित्य के, सोहत पद्य पुनीत ॥४२॥
ग्रन्थहि संस्कृत मूलतें, भाषा तौल सुजान । उचित मान अभिप्राय मन, मूल कौन नहिं जान ॥४३॥
सुन्दरता जिमि अंग की, अँग आभूषण धार । शोभा किहिं ते कौन की, कही न जाय उचार ॥४४॥
श्री गीता भाषार्थ, देशी अरु संस्कृतहिं इक । सुनु वरबुद्धि यथार्थ, वर्णन सोह सुखासनहि ॥४५॥
जब बरसहि रमवृत्ति बहु, उठतहि भाव स्वरूप । तब कहि है चातुर्यंयुत, मम श्रेष्ठता अनूप ॥४६॥
यों भाषा लावण्य लहि, रस तारुण्यहिं पाय । गीता-तत्त्वहिं अगम जो, पुनि तिहिं योग रचाय ॥४७॥
चमत्कार चित चतुर गुरु, परम बराबर जोइ । करत निरूपन सुनु सकल, यादवेन्द्र प्रभु सोइ ॥४८॥
यों ज्ञानेश्वर निवृति के, कहि बोले जगदीश । अर्जुन सब मम कथन तुव, हृदय लक्ष्य अवनीश ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

अर्थ—सुनहु वचन मम परम पुनि, महाबाहु कपिकेतु ।
तुम मुद पावत मम कथन, मैं भाषत तुव हेतु ॥१॥

कीन्ह निरूपन प्रथम हम, परख्यो तुव अवधान । ताहि न्यून पायो नहीं, पायो पूर्ण सुजान ॥५०॥
घट महँ रंचक जल भरै, गलै न लखि भरि भूरि । अल्प निरूपन कहि तुमहिं, अब बरनौं भरपूरि ॥५१॥
नये चाकरहिं परखि के, सौंपे पुनि भांडार । तिमि अर्जुन तुम मम बने, अब तो ज्ञानागार ॥५२॥
अर्जुन इमि लखि सादरहि, कहि सर्वेश्वर बात । जिमि पर्वत को निरखि के, नीरद भरै सुहात ॥५३॥

कहि सुनिये नृपराय, कृपासिंधु श्रीकृष्ण तब। बहुरि कहौं समुझाय, पूर्व कथित आशय सकल ॥५४॥
खेत बवै प्रतिवर्ष यदि, लखै पीक बढ़ि जात। तौ कृषिकारज में कबहुँ, कृषक नहीं उकतात ॥५५॥
दीन्हें पुट पुनि पुनि यथा, शोधन किये सुहाय। अरु कांचन को पाण्डुसुत, सहज रंग अधिकाय ॥५६॥
तिमि अर्जुन मैं तुमहिं पर, करत न कछु उपकार। प्रत्युत अपने स्वार्थ-हित, बोलत बारंबार ॥५७॥
अलंकार पहिराइये, शिशु शृङ्गार न जान। पै ताको सुख भोग करि, मातु दृष्टि मतिमान ॥५८॥
अर्जुन, तुम्हरो सुख सबै, जैसे जैसे होय। तैसे तैसे सुख दुगुण, मोकों सहजहि होय ॥५९॥
अर्जुन अब किमि अधिक मम, प्रगट प्रेम तुम माँहि। तातैं तृप्ति न होत है, जो न कहौं तुम पाँहि ॥६०॥
कारण यह वर्णन करौं, तुम तें वारंवार। अधिक कहा अन्तः करण, ध्यान देहु धनुधार ॥६१॥
सब अति मार्मिक एक इक, परम वचन मम जान। अक्षर वपु परब्रह्म तुव, आलिंगन कर आन ॥६२॥
निश्चय सत्य स्वरूप, अर्जुन मोंहि न जान तुम। सो ही विश्व अनूप, तुमको जो मैं दिखत हौं ॥६३॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

अर्थ—सुरगण और महर्षि सब, मम उत्पत्ति न जान।

मैं सब देव महर्षि तें, निश्चय आदि महान ॥२॥

कुँठित गति इत वेद की, पंगु पवन मन जान। बिन दिन निशि शशि रवि अथय, मम ठिकान मतिमान ॥६४॥
अहह उदर को गर्भ जिमि, मातु वयस लखि नाहिं। सुर समस्त तैं पार्थ तिमि, मम वपु लखे न जाहिं ॥६५॥
गगन लांघि नहिं मशक जिमि, जलचर सागर माप। देख सकत मोकहँ नहीं तिमि महर्षि को ज्ञान ॥६६॥
शासन कब उपज्यो अहौं, कौन कितो विस्तार। याके निश्चय हेतु बहु, बीते कल्प अपार ॥६७॥
सुर महर्षि सब प्राणि को, कारण आदि सुजान। केवल मैं हौं जानिबो, मेरो कठिन महान ॥६८॥
जल गिरितें गिरि चढ़ि गिरिहिं, तरु बढ़ि मूलहि लाग। तो मोहीं ते उपजि जग, मोहिं जान बड़भाग ॥६९॥
अंकुर बटहिं लपेटि सकि, लहरहिं सिन्धु समाय। यदि भूगोल समाय कहुँ, परमाणुहिं मधि आय ॥७०॥

तो महर्षि सुरजीव सब, जो मोतें उपजाय । ताहि अवकाशहिं मोहिं तब, जानि सकै नरराय ॥७१॥
आदि प्रवृत्तिहिं पंथ, यदि इमि जानव कठिन मम । सब इन्द्रियहिं निरंत, पीठ फेरि करि पार्थ-तब ॥७२॥
किंवा होय प्रवृत्ति तो, तुरतहिं पलटे आय । महाभूत के शिखर पर, तन तजि के चढ़ि जाय ॥७३॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अर्थ—सब अनादि जो लोकपति, मोहिं अजन्मा जान ।
सो ज्ञानी नरवृन्द महँ, सब अघमुक्त सुजान ॥३॥

इमि ठिकान थिरचित्त रहि, निर्मल आत्म-प्रकाश । निज नैनन तें निरखि जो, मम अजत्व सुखराश ॥७४॥
सकल आदि को आदि मैं, सब लोकन को ईश । इहि प्रकार जो मोहिं को, जानत अहै महीश ॥७५॥
ज्यों पाषाणहिं परिसमणि, अमृत जिमि रस माँहि । तिमि मनुष्य मधि अंश मम, अर्जुन जानें ताँहि ॥७६॥
चलित मूर्ति सो ज्ञान की, सुख अंकुर तिहिं अंग । अरु मनुष्यपन समझ भ्रम, जो लौकिकहिं प्रसंग ॥७७॥
जो कपूरहिं मध्य में, श्रीफल हीरा जाय । ऊपर तें जल जो परे, तो पहिचान न पाय ॥७८॥
यद्यपि ज्ञानी जगत तिमि, परै मनुज समजान । तदपि प्रकृति के दोष तें, बाधित नहीं सुजान ॥७९॥
आपहिं अघ तिहिं त्यागि जिमि, जलत चंदनहिं साप । जो जानत हैं मोहिं तिहिं, तजि संकल्पहु आप ॥८०॥
कैसे जानें मोहिं, यदि तुव चित इमि कल्पना । जो मैं भाषौं तोहिं, मैं ऐसो मम भाव यह ॥८१॥
अलग अलग सब भूत में, होकर प्रकृति समान । बिखरत अहै त्रिलोक में, पार्थ समस्त महान ॥८२॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अर्थ—असंमोह, दम, शम, क्षमा, सत्य, बुद्धि अरु ज्ञान ।
सुख, दुख, उत्पति, नाश पुनि, भय अरु अभय सुजान ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

दान, अहिंसा, तुष्टि, तप, यश, अपयश, समताहु ।
भूत-भाव मम पास तें, पृथक् होहिं नरनाहु ॥५॥

जानत बुधि तहँ प्रथम पुनि, अमर्याद जो ज्ञान । अभ्रम सुख दुख सहनता, क्षमा सत्य मतिमान ॥८३॥
इन्द्रिय मम दुहुँ निग्रहन, सुख दुख जग व्यापार । जन्म नाश जो हो रहे, संसारहिं धनुधार ॥८४॥
अर्जुन समता भय अभय, और अहिंसा जान । संतोषहु तप देखिये, पांडुपुत्र मतिमान ॥८५॥
अहो दान यश अयश यह, लखि सर्वत्रहिं भाय । होत सकल मम पास तें, प्राणि ठाउं नरराय ॥८६॥
जैसे प्राणी पृथक हैं, तैसहिं पृथक विकार । उपजत एकहिं ज्ञान मम, एकहिं नहिं धनुधार ॥८७॥
उपजत हैं रवि पास तें, जिमि प्रकाश अँधियार । रवि के उदय प्रकाश लखि, अथये तम धनुधार ॥८८॥
ज्ञानहु अरु अज्ञान मम, भूत-भाव फल जान । तातें भावहिं भूत के, विषय पड़े मतिमान ॥८९॥
जीव जगत सब भार, इमि मेरे ही भाव तें । ऐसहि पांडुकुमार, भरो भयो जानहु मनहिं ॥९०॥
अब इहिं जग-पालक सु जिहिं, आधीनहिं संसार । वर्तत ग्यारह भाव सो, बरनत पांडुकुमार ॥९१॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

अर्थ—आदिम सप्त महर्षि जे, अरु जानहु मनु चार ।
मम भावहिं मन तें उपजि, इन तें सब संसार ॥६॥

ज्ञानी सर्व महर्षि महँ, अरु समस्त गुण वृद्ध । सप्त ऋषीश्वर जानिये, कश्यप आदि प्रसिद्ध ॥९२॥
उत्तम चौदह मनुहि ते, बड़े स्वयंभु प्रधान । तिनहिं आदि ले चार को, वर्णन करौं सुजान ॥९३॥
ऐसे ये ग्यारह उपजि, मम मनतें धनुधार । इनहीं तें लागे अहैं, सकल सृष्टि व्यापार ॥९४॥
जब न व्यवस्था लोक की, त्रिभुवन रचना नाँहि । रहे सकल सुस्तब्ध तब, महाभूत समुदाहिं ॥९५॥
सप्त ऋषीश्वर ये सकल, अरु उपजे मनु चार । इन्ह उपजायो लोक पुनि, मुख्य मनुष्य उदार ॥९६॥
अहैं ग्यारहौं नृप यही, जग इन प्रजा बखान । इमि मेरो विस्तार यह, अर्जुन ऐसहि जान ॥९७॥

देखिय बीजारम्भ इक, पुनि यदि अंकुर होय। अकुर तें तरु ताहि तें, शाखा पावत सोय ।।६८।।
अर्जुन शाख अनेक, तिन तें उपशाखा विपुल। प्रति उपशाख विवेक, होवें पल्लव पत्र भव ।।६६।।
तिनहूँ ते पुनि कुसुम फल, इमि तरु को विस्तार। केवल कारण सकल को, बीजहिं जानि उदार ।।१००।।
एकहि में इमि प्रथम पुनि, मोतें मन उपजाय। मन तें उपजे सप्त ऋषि, चारहु मनु नरराय ।।१०१।।
इन्ह सन उपजे लोकपति, ते बहु लोक स्रजाय। लोक पास तें उपजि सब, प्रजामात्र समुदाय ।।१०२।।
इमि यह सब जग सत्य ही, मेरो है विस्तार। पै मानैं जो युक्ति यह, जानैं सोइ उदार ।।१०३।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।७।।

अर्थ—मेरे योग विभूति को, जो जन जानें तत्त्व।

वें हों निश्चल योग से, युक्त यहै सत्यतत्व ।।७।।

इहिं विधि अर्जुन भाव मम, मम विभूति कहँ जान। इन सब ही की व्याप्ति तें व्यापक विश्व सुजान ।।१०४।।
आदिम विधि तें चींटि लगि, कछुक न मोर सिवाय। दूजी बात न ह्वै कहूँ, जानि लेहु नरराय ।।१०५।।
ऐसहि जानि यथार्थ जो, ज्ञान सुजागृत होय। उत्तम मध्यम भेद को, लखि दुःस्वप्न न सोय ।।१०६।।
आश्रित व्यक्ति विभूति जो, मैं अरु मोरि विभूति। यह सब समुझत एक हीं, ज्ञानयोग अनुभूति ।।१०७।।
शंका हीन यथार्थ, ज्ञान योग तें जानि जो। मो महँ होय कृतार्थ, अंग माँहि मन तिमि मिलै ।।१०८।।
किंवा यों मो कहँ भजे, जो अभेदतः पार्थ। तासु भजन के मिषहिं बँधि, जैहौं पाश यथार्थ ।।१०६।।
करहि अभेदहिं भक्ति जो, शंक न न्यून रहाय। न्यून रहेहु श्रेष्ठता, कहि छहवें अध्याय ।।११०।।
कैसी भक्ति अभेद यह, यदि मम जानन चाह। तो हम वरनन करत हैं, ताहि सुनहु नरनाह ।।१११।।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।८।।

अर्थ—सब उत्पादक मैं अहौं, करि सब मनहिं प्रवृत्ति ।
भजहिं मोहिं यह जानि बुध, लै निज भाव-सुवृत्ति ॥८॥

एकहि सब मैं ही अहौं, यह जग जन्म उदार । अरु मम पासहिं ते लहत, सब निवाह धनुधार ॥११२॥
सलिलहिं तें ते जनमतीं, अर्जुन लहरि अनेक । तिन कहँ आश्रय सलिल अरु, जीवन सलिल विवेक ॥११३॥
ऐसे सर्व ठिकान में, जैसे जल दरसाहिं । तैसे ही या विश्व में, मम सिवाय कछु नाहिं ॥११४॥
ऐसे व्यापक मान जे, जहँ तहँ भजन कराँहिं । परि उत्कंठा सत्य अरु, प्रेम भाव मन माँहि ॥११५॥
देश समय जग सबहि तें, मोहिं अभिन्न विचार । गगनरूप जिमि पवन ह्वै, करै गगन-सन्चार ॥११६॥
खेलत त्रिभुवन माँहि, इमि निज ज्ञानी जे सुखहि । जगद्रूप मम पाँहि, निज मन कहँ धारण करहि ॥११७॥
जो जो प्राणी मिलत तिहिं, तिहिं मानत भगवन्त । भक्तियोग यह पार्थ मम, निश्चय ते मतिमन्त ॥११८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

अर्थ—मन रु प्राण मद्रूप करि, बोध परस्पर ठान ।
करि कीर्तन सब काल मम, संतोषित रममान ॥९॥

चित्तहु होत मद्रूप अरु, प्राण तोष मम संग । बिसरैं जीवन मरनहू, भूलत ज्ञान उमंग ॥११९॥
अरु तिहिं ज्ञान उमंग नचि, कौतुक सुख संवाद । लेन देन इक एक तें, करि ज्ञानहिं तजि वाद ॥१२०॥
सर समीप जिमि उछलि जल, उभय मिलहिं इकमेक । पुनि तरंग ही तरंग के, आश्रय भूत विवेक ॥१२१॥
एकहिं इक मिलि बैनि बनि, जिमि आनंद तरंग । ज्ञान ज्ञान वपु होय धरि, ज्ञान विभूषन अंग ॥१२२॥
करैं आरती रवि रविहिं, शशि शशि अंक लगाय । अथवा मिलैं प्रवाह दुहुँ, एक सरिस नरराय ॥१२३॥
जहँ प्रयाग बहि एकतहिं, सेवत सात्विक भाय । जनु चौपथ संवाद वपु, गणपति थापैं आय ॥१२४॥
ब्रह्मानंद उमंग भरि, तन वपु बाहर ग्राम । धाय तोष लहि गर्जना, करि लहि मोहिं ललाम ॥१२५॥
एकाक्षर कहि जाय, गुरु शिष्य एकान्त महँ । घन गर्जन नरराय, चहूँ ओर तें त्रिजग जनु ॥१२६॥

कमल कलीं विकसित भईं, सकि न सुगन्ध छिपाय। राय रंक आतिथ्य को, करि आमोद अघाय ॥१२७॥
जगतहिं मम जस कहहिं अरु, लहि सतोष भुलाय। बिसरि जीव तन भाव दुहुँ, मम महँ रमहिं स्वभाय ॥१२८॥
जानै रैन न दिवस इमि, प्रेमभाव अधिकाय। आत्मभाव संपूर्णतः, मम सुख लह्यो अघाय ॥१२९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

अर्थ—इमि सदैव अतिप्रीतियुत, मोहिं भजत जे पार्थ।
बुद्धियोग मैं देत तिन, पावहिं मोहिं यथार्थ ॥१०॥

अर्जुन तिनके देन हित, जो मम मन में चाह। श्रेष्ठ भाग तो प्रथमहीं, ते पावहिं नरनाह ॥१३०॥
कारण वे जिहिं मार्ग तें, निकरहिं सुभट सुजान। स्वर्ग-मोक्षपथ विषमही, देखत ते मतिमान ॥१३१॥
अतः प्रेम जे करत ते, सो मम दैनी जान। पै मम दैनी है सकल, तिन आधीन सुजान ॥१३२॥
अब इतनो निश्चित अहै वह सुख बढ़ि अधिकाय। अरु न दृष्टि पड़ि काल की यह मम कूरन स्वभाय ॥१३३॥
जो कछु अर्जुन लाड़ तें, बालक खेल कराय। नेह दृष्टि तें मातु गुँधि, पाछै धावत जाय ॥१३४॥
सन्मुख स्वर्न रचाय, जो जो खेलत खेल तिहिं। मैं पोषण सुख पाय, करत उपासन भक्त तिमि ॥१३५॥
सुख सन पावत मोहिं जन, पोषक पंथ विचार। ताको पोषण रुचत है, मोहिं विशेष प्रकार ॥१३६॥
अतिशय प्रेम सुभक्त करि, मैं अनन्यगति चाहि। कारण प्रेमी भक्त की, मम गृह कमी जनाँहि ॥१३७॥
दियौ मोक्ष उपजाय दुहुँ, करि पथ तासु अधीन। शेष सग श्री सहित मैं, ताहि समर्पि प्रवीन ॥१३८॥
अहंभाव बिनु एकु सुख, प्रेमल जन के हेतु। जतन सहित राखत सदा, नितनूतन कपिकेतु ॥१३९॥
अर्जुन हम निज त्याग करि, भक्तिहिं अंगीकार। कथन न बोलन जोग यह, अनुभव तें निरधार ॥१४०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्थ—औ' अनुकंपा हेतु तिहिं, करत बुद्धि में वास।
दीपक ज्ञान प्रकाश तें, करि अज्ञानहिं नास ॥११॥

अतः भाव मम आत्मको, जीवन जासु ललाम। एक मोहिं को तजि सकल, मानत मिथ्या धाम ॥१४१॥
निर्मल ज्ञान कपूर जनु, तासु मसाल बनाय। पुनि मैं होय मसाल धर, आगे चलौं स्वभाय ॥१४२॥
अरु मिलि तम अज्ञान, रैन रूप छिरि जाय घन। सूर्योदय वपु ज्ञान करौं सदा तमराशि हति ॥१४३॥
जब पुरुषोत्तम इमि कह्यो, प्रेमी के प्रिय प्रान। शान्त मनोरथ मम सकल, कहि अर्जुन मतिमान ॥१४४॥
सुनिय प्रभो तुम भल कियो, मल नास्यो संसार। जन्म मरन तें मुक्त भौ, प्रभु तुव कृपा अपार ॥१४५॥
जनम आपुनो आज लखि, निज नैनन तें नाथ। अरु जीवन निज हाथ लहि, इमि लागत यदुनाथ ॥१४६॥
करुण वचन सुनि प्रभु मुखहिं, जीवन सार्थक आज। उभय दशा मम भाग की, प्राप्त भई महराज ॥१४७॥
अब इहि वचन प्रकाश नसि, अन्तर बहि अँधियार। अतः यथार्थ स्वरूप तुव, लखौं जगत आधार ॥१४८॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

अर्थ—स्वयं ब्रह्म परधाम पर, परम पवित्र महान।
आदि-देव अज दिव्य अरु, व्यापक नित्य प्रधान ॥१२॥

आपहि हो परब्रह्म गृह, महाभूत विश्राम। सकल विश्व पालन करन, परम पवित्र ललाम ॥१४९॥
दैव परम त्रय देव के, पुरुष तत्त्व बिस पांच। अरु माया तें तुम परे, दिव्य स्वरूपी सांच ॥१५०॥
स्वामी सिद्ध अनादि तुम, रहित जन्म मृत धर्म। ऐसे हौ प्रभु आप जो, मैं अब समुझ्यौ मर्म ॥१५१॥
निश्चय यह हम जान, धारक ब्रह्म कटाह प्रभु। जीवकला अधिष्ठान, सूत्रधार त्रयकाल तुम ॥१५२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्थ—सकल देव ऋषि नारदहु, देवल असितहु व्यास।
कह्यो आपको रूप इमि, आपहु कियो प्रकास ॥१३॥

यह अनुभव की सत्यता, सिद्ध और इक भाँति। ऐसो ही भाष्यो प्रथम, सकल ऋषिन की पाँति ॥१५३॥
अब यथार्थता कथन की, मम हिय महँ जमि जात। अतः देव कीन्हीं कृपा, 'आपहु मृदु मुसकात ॥१५४॥
आवत जब नारद-जु इत, गावत गीत निरंत। पै न अर्थ समुझत रह्यौ, गानहिं सुनत सुखंत ॥१५५॥
अंध नगर महँ सूर्य यदि, प्रभु आपुहिं प्रगटाय। तो ते लहैं इक उष्णता, पै न तेज लखि जाय ॥१५६॥
सुनहुँ राग माधुर्य पै, सुर ऋषि गावहिं ज्ञान। लागत चित्त सुहावनी, कछु अध्यात्म न जान ॥१५७॥
असित और देवल मुखहिं, सुन तुव गुन गन गान। पै मम बुधि तब विषय वपु, विष सानी भगवान ॥१५८॥'
इमि महिमा विष विषय कटु, लागहि मधुर यथार्थ। पै कटु लगि अन्तः करण, परम मधुर परमार्थ ॥१५६॥
अरु यह औरहु किमि कहौं, आप स्वयं वरव्यास। आप स्वरूप समस्त हीं, कहि सर्वदा हुलास ॥१६०॥
जिमि अँधियारे माँहि चिंतामणि लखि कहि नहीं। तजि पुनि रवि उदयाँहि लखि कहि चिंतामणि यही।१६१।
ज्ञान स्वरूपी खान मनि, श्रीव्यासादिक बैन। मिलीं उपेक्षा पै कियो, तुम बिन करुणा ऐन ॥१६२॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

अर्थ—केशव जो तुम कहत यह, मैं सब सत्यहि मान।
देव दैत्य समुझत नहीं, तुम स्वरूप भगवान ॥१४॥

सूर्य किरण तुव वचन करि, मम हिय माँहि प्रकाश। सुर ऋषि वर्णित मार्ग यह, प्रगट, अज्ञता नाश ॥१६३॥
ज्ञान सुबीजहिं ऋषि वचन, मम हिय भूमि बुवाय। तुव दाया वच ओल मिलि, यह संवाद फलाय ॥१६४॥
नारद आदिक सन्त तिहिं, उक्ति रूप सरिताँय। आज अनंत समुद्र सम, प्रभु संवादहिं आँय ॥१६५॥
जन्म समस्तहिं जे किये, प्रभु हम उत्तम पुण्य। सद्गुरु तुहिं लहि सफलते, भये, न रहे नगण्य ॥१६६॥
इमि सत पुरुषन मुख सदा, मैं सुनि तुव गुन कान। 'पै न कृपा इक आपु करि, तब लगि कछुक न जान ॥१६७॥

अहो भाग्य अनुकूल जब, उद्यम सफल सदाँहि। श्रवन पठन श्रुति सकल मत, तिमि गुरु कृपा गुहाँहि ॥१६८॥
ज्यों माली निज जनम भरि, सींचत उपवन काँहि। पै फल तो पावत कबहुँ, ऋतु बसंत के माँहि ॥१६९॥
जब विषम ज्वर जाय, मधुर वस्तु मधुराय तब। तन आरोग्य कराय, पै औषधि तब ही मधुर ॥१७०॥
इन्द्रिय वाचा प्राण में, सार्थकता तब जान। जब आकर चैतन्यता, करि संचार सुजान ॥१७१॥
किं बहु वेदन शास्त्र जे, योगादिक अभ्यास। सानुकूल श्रीगुरु जबहिं, तब अपने सुखरास ॥१७२॥
अर्जुन इमि अनुभव उमंगि निश्चय तोषहिं नाच। तब कहि देवहिं तुव वचन, मम मन मानत साँच ॥१७३॥
सत्यहु हे कैवल्यपति, निश्चय मोहिं प्रतीत। देव दैत्य की बुद्धि तुव, जानन जोग न मीत ॥१७४॥
करहिं न अनुभव वचन तुव, जह निज ज्ञानहि जान। मो कहँ दृढ़ अनुभव अहै, लहैं न तुम्हरो ज्ञान ॥१७५॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

अर्थ—देव प्रकाशक, भूतपति, जगपति, भावन भूत।
पुरुषोत्तम तुम ही स्वयं, जानत तुमहिं अभूत ॥१५॥

ज्यों जानत आकाश ही, आपुन जो विस्तार। किंवा जाने धरनि ही, की मम कितनो भार ॥१७६॥
श्रीकमलापति आपुनी, सर्व शक्ति तुम जान। वेदादिक की बुद्धि इत, वृथा करत अभिमान ॥१७७॥
किमि मनको पीछे तजै, पवन वेग किमि धारि। माया को कैसे तरै, भुजनि वैरि असुरारि ॥१७८॥
तातें कोउ न जान, जानब तुम्हरो तिमि अहै। तुम्हरे जोग सुजान, ज्ञान तुम्हारो जोग तुव ॥१७९॥
आनहु आपुहिं तुम स्वयं, औरहु सकहु जनाय। एक बेर अब ताहि तें, मेरी हौंस पुराय ॥१८०॥
जग उतपादक सुनहु किन, सिंह-द्विरदत्रय-लोक। देव देव सब पूज्य प्रभु, जग नायक हर शोक ॥१८१॥
यदि तुव महिमा लखत परि, नहिं योग्यता समान। दैन्यभाव विनयौं प्रभो, जानि उपाय न आन ॥१८२॥
चहुँधहि सरिता सिंधु भरि, चातक हेतु निकाम। मेघ बुंद जब मुख परै, तिहिं पानी सें काम ॥१८३॥
श्रीगुरु जग सर्वत्र तिमि, पै मम गति भगवान। एक कृष्ण ही मोहिं तें, कहहु विभूति बखान ॥१८४॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अर्थ—जिहिं विभूति तें तुम सकल, व्याप रहे त्रयलोक ।
आपनि दिव्य विभूति सब, कहि करि मोहिं अशोक ॥१६॥

सब विभूति तुव पै प्रभो, व्यापक शक्ति महान । दिव्य होय जे तिन्हहिं को, मोहिं दिखाव सुजान ॥१८५॥
जिन्ह विभूति तें आप सब, व्याप्त कियो संसार । तिन्ह प्रधान नामांकिता, प्रगटि अनन्त विचार ॥१८६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

अर्थ—सदा चिंतवन तुव करौं, योगिराज, किमि जान ।
कौन कौन से भाव महँ, ध्यान करौं भगवान ॥१७॥

कैसे मैं जानौं तुमहिं, किमि चिंतवौं निरंत । यदि तुम कहि सर्वज्ञ तो, चिन्त न सकौं अनंत ॥१८७॥
कहउ प्रथम जिमि भाव, संक्षेपहिं तुम आपुनो । एकहिं बार सुनाव, अब तैसहिं विस्तार करि ॥१८८॥
जिहिं जिहिं भावहिं आपके, चिन्तन में श्रम नाहिं । करि सुस्पष्ट बताव प्रभु, सोइ युक्ति मो पाहिं ॥१८९॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

अर्थ—आपुनि योग-विभूति प्रभु, कहिये पुनि विस्तार ।
श्रीमुख-वचनामृत सुनत, मोहि न तृप्ति उदार ॥१८॥

अरु जिहिं बूझत भूतपति, जो विभूति विस्तार । आप कहहु यदि किमि करहुँ, वरणन वारंवार ॥१९०॥
सुनहु जनार्दन भाव यह, मनहि न आवन देहु । सुधापान प्राकृतहु कहँ, कहत न पूरो केहु ॥१९१॥
अमृत विषको भ्रात जो, मरण भीति सुर खाँय । ब्रह्मदेव के दिवस महँ, चौदह इन्द्र बिलाय ॥१९२॥

इक पयनिधि रस कौन इमि, वृथा सुधा आभास। पूर्यो कोऊ कहत नहि, जाकी पाय मिठास ॥१९३॥
नसनहार अमृतहु की, इमि महिमा अधिकार। पुनि यह तुम्हरो वचन सत, परमामृत निरधार ॥१९४॥
नाहि हलै मन्दर अचल, पयनिधि मथ्यो न जाय। अहै अनादिक कालतें, केशव नित्य स्वभाय ॥१९५॥
जान परत रस गंध नहि, वहत न द्रवत न बद्ध। सुमिरन तें पावत सकल, केशव जो नित सिद्ध ॥१९६॥
जाके ऐश्यहिं तात, वृथा होय संसार सब। दृढ़ नित्यता लहात, आपहिं आप स्वभावतः ॥१९७॥
जनम मृत्यु की बात सब, पावहिं नास समूल। अंतर बाहर सुख महा, बाढ़हि मंगल मूल ॥१९८॥
दैव सुयोगहिं सेय पुनि, आपहिं आप स्वरूप। तुव ज्ञानामृत चित्त मम, पुरि कहि सकि न अनूप ॥१९९॥
नाम प्रथम तुव भाव मुहिं, अरु मिलि करि सत्संग। नंतर सुख की बात करि, बढ़ि आनंद उमंग ॥२००॥
यह सुख काहि समान प्रभु, नहीं यथार्थ कहाहि। परि इतनो चाहौं कि पुनि, प्रभु मुखतें कहि जाहि ॥२०१॥
नित प्रकाश रवि किमि शिला अनलहिं कहि अपुनीत। नित्य बहत गंगा जलहु किमि बासो मम भीत ॥२०२॥
आप स्वमुख जे वचन कहि, मैं लखि नाद स्वरूप। अगम फूल चंदन सुरभि, सूंघौं आज अनूप ॥२०३॥
अर्जुन के इमि बोल सुनि, पुलकित कृष्ण उदार। कह्यो-भक्ति अरु ज्ञान को, भवन भयहु धनुधार ॥२०४॥
इमि अनुभव सन्तोष भरि, प्रेम हिलोर प्रवाह। सँभरि कोउ विधि कहत हरि, सुनहु सुनहु नरनाह ॥२०५॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

अर्थ—अर्जुन कहौं विभूति निज, जे जे दिव्य प्रधान।
संक्षेपहिं, विस्तार को, अन्त नहीं मतिमान ॥१९॥

सुमिरत चित बिसराय, अहौं पितामह के पिता। कीन्हों नीक सुहाय, सक्षेपहिं विस्तार नहिं ॥२०६॥
अर्जुन तें इमि कहि पिता, नहिं अाचरज जनाय। नंदराय के पुत्र नहिं, तो पुनि किमि यदुराय ॥२०७॥
अधिक कहा प्रस्तुत विषय, अधिक प्रेम कर हेतु। पुनि कहि वर्णन करत मैं, सुनु सप्रेम कपिकेतु ॥२०८॥

सुनहु सुभद्राकंत तुव, प्रश्न विचाराधीन । मोरि विभूति अपार तस, गणना नहीं प्रवीन ॥२०९॥
जिमि निज अँग के रोम सब, गणना करि न सकाय । तैसहि मोर विभूति हैं, सहज असंख्य स्वभाय ॥२१०॥
इमि कितनो किमि मैं अहौं, निजहिं न जानि यथार्थ । यातें कहौं प्रधान ही, निज विभूति सुनु पार्थ ॥२११॥
अर्जुन जिनके जानतहिं, जानि विभूति समस्त । जिमि बीजा आवै मुठी, तरुवर अपने हस्त ॥२१२॥
किंवा उद्यानहिं लहै, आपहिं मिलि फल फूल । तिमि लखि मुख्य विभूतिगण, लखहु विश्व सहमूल ॥२१३॥
अर्जुन इमि सत्यहि नहीं, मम विभूति को अंत । गगन समान अपार इमि, मो महँ बसहिं अनंत ॥२१४॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

अर्थ—गुड़ाकेश सब भूत हिय, थित मुहिं आत्मा मान ।
आदि मध्य अरु अन्तहू, मैंहि अहौं चहुँ आन ॥२०॥

धनुर्वेद शिवरूप, घुंघरारे धरि केश शिर । इक आत्मा मैं भूप, भूतमात्र के ठाउँ महँ ॥२१५॥
अन्तर में अन्तःकरण, बहिराच्छादन मोर । आदि मध्य अरु अन्त हू, मैं हि अहौं चहुँ ओर ॥२१६॥
जिमि घन नीचे ऊपरे, अन्तर बाह्याकास । सुनु उपजत आकाश मैं, करि आकाशहिं वास ॥२१७॥
जब लय पावत मेघ तब, गगन होय रहि जात । आदि मध्य अरु अंत गति, तिमि भूतहिं मम तात ॥२१८॥
इमि लखि योग विभूति मम, व्यापकपन विस्तार । सुनहुँ जीव के श्रवन करि, अर्जुन बारंबार ॥२१९॥
कीन्ह प्रतिज्ञा कथन की, जो अर्जुन तुव पाँहि । बरनत मुख्य विभूति ते, सुनलीजे चित चाहि ॥२२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

अर्थ—ज्योतिन्ह महँ रवि किरनधर, आदित्यहिं असुरारि ।
मरुतन माहिं मरीचि मैं, शशि नक्षत्र मँझारि ॥२१॥

आदित्यन्ह महँ विष्णु मैं, कहि कृपालु भगवान । तेजवन्त सब वस्तु महँ, सूर्य किरनधर मान ॥२२१॥

गगनहिं तारागणन महँ, मोहिं चन्द्रमा जानि। मारुत माहिं मरीचि मैं, बोलत शारंगपानि ॥२२२॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि, भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

अर्थ—अहौं वेद महँ साम मैं, सुरन मॉहि सुरराज।

इन्द्रिय के मधि मन अहौं, चेतन प्राणि समाज ॥२२॥

सामवेद हौं वेदगण, मध्यहिं कहत व्रजेन्द्र। अरु सब देवन माँहि मैं, मारुत बन्धु महेन्द्र ॥२२३॥

ग्यारहवों मन जानि दश इन्द्रिय मधि मोहिं मन। प्राणिन महँ पुनि मानि मोहिं स्वभावहिं चेतना ॥२२४॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि, वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

अर्थ—शंकर मैं हौं रुद्र मधि, यक्षरक्षहिं धनेश।

वसुगण महँ पावक अहौं, शैलहिं मेरु नगेश ॥२३॥

सकल रुद्रगण मध्य मैं, शङ्कर जो मदनारि। मैं हौं शंक न याहि महँ, मन धारहु धनुधारि ॥२२५॥

यक्ष रजनिचर मध्य मैं, शम्भुसखा धनवन्त। भाषत जाहि कुबेर हैं, सो मैं अहौं अनन्त ॥२२६॥

औ' आठों वसु माँहि जो, पावक मैं अवधारि। सर्वोपरि गिरि शिखरयुत, मैं सुमेरु धनुधारि ॥२२७॥

पुरोधसां मुख्यं च मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

अर्थ—अर्जुन, मुख्य पुरोहितहिं, मध्य बृहस्पति जान।

सेनप माहिं स्कन्द, जल-राशिहिं सागर मान ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अर्थ—सप्त ऋषिन्ह मधि भृगु अहौं, वाणिन महँ ओंकार।
यज्ञन मधि जपयज्ञ मैं, हिमगिरि गिरि परिवार ॥२५॥

इन्द्र सचिव जो पार्थ है, आदि पीठ सब ज्ञान। श्रेष्ठ पुरोहित वृन्द महँ, अहौं बृहस्पति जान ॥२२८॥
सेनप त्रिभुवन महँ अहौं, स्कन्द महा मतिमानु। शम्भु बीज कृतिका उदर, उपज्यो संग कृशानु ॥२२९॥
सकल सरोवर माँहि मैं, सिन्धु अहौं जलराशि। अरु महर्षिगण माँहि हौं, मैं भृगु जो तपराशि ॥२३०॥
अर्जुन, वचन अशेष महँ, अहै सत्य व्यवहार। कहि वैकुण्ठ विलासि मै, अक्षर एक उदार ॥२३१॥
सो मैं हौं संसार, सब यज्ञन महँ यज्ञ जप। उपजत जो धनुधार, कर्म त्यागि प्रणवादि तें ॥२३२॥
नाम जपन मख श्रेष्ठ जिहिं, स्नानादिक नहिं बद्ध। परब्रह्म वेदार्थ कहि, धर्माधर्म विशुद्ध ॥२३३॥
स्थावर गिरि के मध्य जो, पुण्य पुंज हिमवन्त। अर्जुन सो मैं ही अहौं, कहि इमि कमलाकन्त ॥२३४॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

अर्थ—सब तरु महँ पीपल अहौं, नारद अधिदेवर्षि।
गन्धर्वन महँ चित्ररथ, सिद्धन कपिल महर्षि ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अर्थ—अश्वन महँ उच्चैःश्रवा, क्षीर सिन्धु उत्पन्न।
ऐरावत गज श्रेष्ठ महँ, नर महँ नृप सम्पन्न ॥२७॥

निजगुण ते विख्यात जो, तरु वा सुरतरु जात। तिन सब महँ अश्वत्थ को, मोहिं जानिये तात ॥२३५॥
सकल देव ऋषि माँहि मं, हौं नारद मतिमान। अरु समस्त गंधर्व महँ, पार्थ चित्ररथ जान ॥२३६॥
सुज्ञ कपिल आचार्य मैं, मधि समस्त जे सिद्ध। अश्व जाति महँ मैं अहौं, उच्चैःश्रवा प्रसिद्ध ॥२३७॥
जो गज नृप भूषण अहहिं, तिन महँ जानहु पार्थ। ऐरावत मैं क्षीर निधि,—मन्थन जनित यथार्थ ॥२३८॥

सब नर महँ मैं नृपति जहँ, मोर विभूति विशेष। सकल लोक ह्वै करि प्रजा, सेवहिं जाहि नरेश ॥२३६॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अर्थ—कामदुघा मैं धेनु महँ, वज्र आयुधन मान।
जग जनकन महँ मदन मैं, सर्पन वासुकि जान ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागन माँहि अनन्त मैं, वरुन अहौं अधिनीर।
पितृ गणन महँ अर्यमा, संयमि महँ यम धीर ॥२९॥

सब हथियारन माहि मैं, वज्र अहौं धनुधार। इन्द्र हाथ में रहत जो, शतमख करि कृतकार ॥२४०॥
कामदुघा मतिमान, कहत कृष्ण सब धेनु महँ। अर्जुन मोकहँ जान, जग जनकन महँ मदन मैं ॥२४१॥
अर्जुन हौं पुनि वासुकी, पन्नग वृन्द प्रधान। सकल नाग के मध्य मैं, अहौं अनन्त सुजान ॥२४२॥
उदक देवता सकल महँ, पश्चिम दिश तियकंत। वरुण अहौं मैं कहत इमि, अर्जुन पाँहि अनन्त ॥२४३॥
सब पितरन महँ अर्यमा, पितृदेव मैं पार्थ। इमि अर्जुन ते कृष्ण प्रभु, बोलत बचन यथार्थ ॥२४४॥
जगत शुभाशुभ कर्म लखि शोधि प्राणि मन काँहि। बहुरि कर्म अनुसार फल देत नियम जो आँहि ॥२४५॥
साचो धर्म-अधर्म को, यम मैं शासक माँहि। श्रीपति आत्माराम इमि, बरनत अर्जुन पाँहि ॥२४६॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

अर्थ—दैत्यन महँ प्रह्लाद मैं, हरनहार महँ काल।
सिंह अहौं पशुवृन्द महँ, खग महँ गरुड़ भुवाल ॥३०॥

अहौं दैत्य कुल माँहि मैं, श्री प्रह्लाद सुजान। दैत्य भाव समुदाय महँ, जे न लिप्यो मतिमान ॥२४७॥

श्वपद माँहि शार्दूल मैं, जान कहहिं गोपाल। हरनहार के माँहि मैं, महाकाल विकराल ॥२४८॥
सब खग जात मँझार मैं, गरुड अहौं धनुधार। जो मुहिं धारण करि सकै, पीठ माँहि धनुधार ॥२४९॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

अर्थ—शस्त्र-धरन-वर राम मैं, द्रुत गति मांझ समीर।
मकर अहौं जलचरन महँ, सरितन सुरसरि धीर ॥३१॥

सब धरनी विस्तार, सातहुँ सागर सहित जो। घटिका लगत न वार, जिहिं प्रदच्छिणा इक करत ॥२५०॥
सोइ पवन मैं पांडुसुत, वेगवन्त सिरनाम। सकल शस्त्रधर माँहि हौं, अद्वितीय श्रीराम ॥२५१॥
संकट धर्महिं पच्छ जिहिं गहि त्रेतायुग राम। करि स्वरूप धनु विजयश्री, इक निज ओर ललाम ॥२५२॥
नंतर अचल सुवेल थित, दशमस्तक लंकेश। कहि गगनहिं जयघोष दिय, बलिभुज भूत महेश ॥२५३॥
जिन थिर किय सन्मान सुर, जीर्ण धर्म उद्धार। सूर्यवंश महँ उदय भो, सूर्य प्रकाश अपार ॥२५४॥
शस्त्र धरन महँ श्रेष्ठ सो, रामचन्द्र सियकन्त। पुच्छवन्त जल चरन महँ, मकर सुभद्राकन्त ॥२५५॥
सरित प्रवाह समस्त महँ, आनि भगीरथ गंग। जन्हु पियो पुनि जांघ को, फारि निकारि उमंग ॥२५६॥
सोइ जान्हवी पार्थ मैं, सरिता व्याप्त त्रिलोक। सलिल प्रवाह समस्त महँ, मोहिं जानि तजि शोक ॥२५७॥
कहि इमि नाम विभूति के पृथक् पृथक ससार। जन्म सहस्र मँझार नहिं, बरनि विभूति अपार ॥२५८॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अर्थ—अर्जुन मैं हौं जगत को, आदि मध्य अरु अन्त।
विद्या महँ अध्यात्म मैं, वाद सुतत्त्व भणन्त ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

द्वन्द्व समासन माँहि मैं, अक्षर मध्य अकार।
अक्षय जो सो काल मैं, सब जग फल दातार ॥३३॥

ऐसहि जिहिं उपजाय, चाह सकल नक्षत्र चुनि। गठरी लेय बँधाय, अर्जुन जैसे गगन की ॥२५६॥
जो चह भुवि परमाणु गनि, भूगोलहिं हथियाय। तैसहि लखि विस्तार मम, मोंहि जानि नरराय ॥२६०॥
जो शाखा सह फूल फल, करि इकत्र चह नास। तो उखारि तरु मूल सह गहि करि कर महँवास ॥२६१॥
जानन चहै अशेष मम, पार्थ विभूति विशेष। तो स्वरूप निर्दोप इक, जानहु मोर नरेश ॥२६२॥
इमि विभूति मम पृथक कहि, कितनी एक सुनाय। तातें अर्जुन एक मुहिं, सकल जानि सद्भाय ॥२६३॥
सकल सृष्टि को पार्थ मैं, आदि मध्य अवसान। ओत प्रोत भरि वसन महँ, जैसे तंतु सुजान ॥२६४॥
ऐसे व्यापक जानि मुहि, किमि करि भेद विभूति। पै नहिं तुव महँ योग्यता, अतः कही अनुभूति ॥२६५॥
किंवा बूझि विभूति तुम, कहि तिहिं सुनहु यथार्थ। मैं विद्या अध्यात्म हौं, सब विद्या महँ पार्थ ॥२६६॥
संमत जो सब शास्त्र में, कबहुँ न रुकत स्वभाय। बोलन हारहिं वाद जो, सो मैं हौं नरराय ॥२६७॥
सुनत तर्कबल पाय, निश्चय तें सीमा बढ़ति। वचन मधुरता आय, जातें वक्ता के कथन ॥२६८॥
गोविंद कहि इमि वाद मैं, प्रतिपादन के माँहि। अक्षर माँहि अकार मैं, जो अतिविशद कहाँहि ॥२६९॥
द्वन्द्व समास समास महँ, पार्थ मोहिं अवधार। मशक पास तें ब्रह्म लगि, ग्रासक काल विचार ॥२७०॥
गिरिहिं मेरु मंदर सकल, भूमि सहित कर नास। सागरमय जल प्रलय में, तिहिं डुबात नहिं त्रास ॥२७१॥
प्रलय अनल को बद्ध करि, निगलै सकल समीर। करि समाव आकाश को, अपने उदर शरीर ॥२७२॥
सो मैं कहि लक्ष्मीरमण, इमि अपार जो काल। पुनि मैं उपजावत अहौं, सब संसार विशाल ॥२७३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

अर्थ—सर्व हरण कर मृत्यु मैं, भाग्य भविष्य प्रशस्त।
कीर्ति स्मृति श्री वाणि बुधि, धृति शम तीय समस्त ॥३४॥

धारहु उपजे प्राणि गण, मैं जीवन आधार । मृत्यु अहौं मैं तहँ सकल, शेष सबहिं संसार ।।२७४।।
नारिहु गण के मध्य हैं, अरु विभूति मम सात । कौतुकतें वरनन करौं, अब तिहिं सुनिये तात ।।२७५।।
नित्य नई जो कीर्ति सो, मम मूरत ही जान । अरु सम्पत्ति उदारता, मोहिं जान मतिमान ।।२७६।।
जो सिहासन न्याय, बसि विवेक के पंथ चलि । सो वाणी नरराय, मैं ही हौं निश्चय धरहु ।।२७७।।
अर्जुन सुमिरन होय मम, जिहिं पदार्थ अवलोक । सो सुस्मृति मैं ही अहौं, कहौं त्रिशुद्धि अशोक ।।२७८।।
जग महँ स्वहित जगावनी बुद्धि अहौं मैं पार्थ । धृति अरु क्षमा त्रिलोक महँ जानहु मोहिं यथार्थ ।।२७९।।
अहहुँ शक्ति सातहुँ सकल, इमि तिय जाति मँझार । कहि कुंजर जग केसरी, बोधत पाण्डुकुमार ।।२८०।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

अर्थ—गायत्री हौं छन्द महँ, बृहत्साम मधि साम ।
मासन अगहन मैं अहौं, ऋतुन वसंत ललाम ।।३५।।

साम बृहत् हौं मित्र मैं, सामवेद समुदाय । रमारमण भाषण करत, सुनिये चित्त लगाय ।।२८१।।
सकल छंद समुदाय महँ, गायत्री जो छंद । मम स्वरूप यह जानियो, अर्जुन अतिनिर्द्वन्द्व ।।२८२।।
मासन महँ अगहन अहौं, इमि बोले श्रीकंत । अरु ऋतुअन मधि मैं अहौं, कुसुम निधान वसंत ।।२८३।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।३६।।

अर्थ—अहौं तेज तेजस्वि मधि, जूआ छल समुदाय ।
सत्त्ववन्त में सत्त्व मैं, जय हौं अरु व्यवसाय ।।३६।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।३७।।

अर्थ—अर्जुन मैं पाण्डवन महँ, वासुदेव यदु माँहि।

व्यासदेव मुनि माँहि मैं, कवि महँ शुक्र सुहाँहि ॥३७॥

जूआ मो कहँ जानिये, छल मधि सकल प्रकार। यामें है चोरी प्रगट, पै कोऊ न निवार ॥२८४॥
अहौं तेज तेजस्वि महँ, अर्जुन सकल अशेष। सकल काज आरम्भ के, माँहि विजय मुहिं लेख ॥२८५॥
सुनहु अहौं नरराय, सकल देव के देव कहि। व्यवसायहिं व्यवसाय, उत्तम न्याय दिखात जहँ ॥२८६॥
सत्त्वधरन महँ सत्त्व मैं, यादव महँ श्रीकंत। सो मैं ही हौं' पार्थ ते, वरनन करत अनंत ॥२८७॥
श्री देवकि वसुदेव सुत, शिशुपन गोकुल जाय। प्राणसहित पय पूतना, को पीलियो अघाय ॥२८८॥
कलिहुँ खुलीं नहिं बालपन, दनुविहीन मति कीन्ह। महिमा मेटि सुरेन्द्र की, कर गोवर्धन लीन्ह ॥२८९॥
कालिन्दी हिय शूल हरि, गोकुल जरत बचाय। बछरन हरन विरंचि कहँ, दिय बावरो बनाय ॥२९०॥
अर्जुन प्रथम कुमारपन, कंसादिक बड़वीर। लीलहिं सहजहिं अवचटहिं, नाश किये मति धीर ॥२९१॥
कहियत कितनी बात यह, सब सुनि देख्यो आप। यादव माहिं स्वरूप मम, यह जानहु अरिताप ॥२९२॥
सोम सुवंशहि जानिये, मो कहँ अर्जुन आप। अतः परस्पर भाव जो, बिगरि न प्रेम प्रताप ॥२९३॥
संन्यासी हुँ दृष्टि जग, हरि मम भागिनि अनूप। तदपि न उपजि विकल्पमन, मम तुम एक स्वरूप ॥२९४॥
इमि कहिं यादवराय, अहौं व्यास मुनिश्रेष्ठ महँ। मैं धीरज के ठाँय, शुक्राचार्य कवीश्वरहि ॥२९५॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

अर्थ—दंड अहौं शासकन महँ, विजय-इच्छु महँ नीति।

गुप्त बात महँ मौन मैं, ज्ञानिन माँहि प्रतीति ॥३८॥

शासक गण के मध्य मैं, दंड अहौं अनिवार। चीटिहिं अजपर्यन्त लगि, एक सरिस धनुधार ॥२९६॥
धर्म ज्ञान को पक्ष धरि, निर्णय सार असार। सकल शास्त्र मधि मैं अहौं, नीतिशास्त्र धनुधार ॥२९७॥
सकल गोप्य के माँहिं मैं, मौन अहौं मतिवान। अगत मौन के सामुहैं, अजहुँ बनत अनजान ॥२९८॥

ज्ञानिन महँ है ज्ञान जो, अर्जुन मों कहँ जान । अब विभूति विस्तार तजि, पार न लखौं सुजान ॥२९९॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

अर्थ—सकल भूत के बीज जो, सो मैं अहो यथार्थ ।
मम सिवाय ह्वै सकत नहिं, भूत चराचर पार्थ ॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

अर्जुन दिव्य विभूति मम, तिनको अहै न पार ।
तातें तुहिं संक्षेप कहि, मम विभूति विस्तार ॥४०॥

अर्जुन वर्षा बूँद को, लेखो कैसे होय । वा तृण अंकुर भूमि की, गणना करि सकि कोय ॥३००॥
किधौं सिंधु तरंग की, गणना करी न जाय । तैसहिं मोर विभूति की, मिति नाहीं नरराय ॥३०१॥
ऐसहि पचहत्तर कही, मोर विभूति प्रधान । वृथा लगत उद्देश यह, मम मन महँ मतिमान ॥३०२॥
क्षिति विभूति विस्तार यह, लेख सर्वथा नाँहि । तातें तुम कितने सुनौ, मोतें किति कहि जाँहि ॥३०३॥
कहत मर्म समुझाय, यातें तुहि इक बार निज । सो मैं ही कुरुराय, सब भूतांकुर बीज जो ॥३०४॥
तातें मित न अमित कहहुँ, ऊंच नीच तजि भेद । ऐसे एकहि मानिये, मोहिं वस्तु अच्छेद ॥३०५॥
औ' साधारण चिन्ह इक, तुमहिं कहौं समुझाय । जातें और विभूति सब, तुम जानहु नरराय ॥३०६॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

अर्थ—जो जहँ लखि ऐश्वर्ययुत, शोभित युक्त प्रभाव ।
ते ते मम तेजोंश तें, प्रकटी मनहिं जनाव ॥४१॥

जहँ जहँ संपति अरु दया, दोऊ बसति यथार्थ । तहँ तहँ जान विभूति मम, निश्चय करिके पार्थ ॥३०७॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितं जगत् ॥४२॥

अर्थ—किं बहु इतनो ही बहुत, तुमहिं जानवउं पार्थ ।
सब जग मम इक अंश ते, व्यापित भयो यथार्थ ॥४२॥

इकहि बिंब रवि गगन तिहिं, त्रिभुवन प्रभा प्रसारि । तिहिं मैं एकहिं सकल जन, मम आज्ञा शिर धारि ॥३०८॥
इमि जनि जानि अकेल तिहिं, निर्धन भापहुँ नाँहि । सब सामग्री इतर हित, कामधेनु ले जाँहि ॥३०९॥
ज्यों कोई कछु मांगही, सो सब देहि तुरंत । सम विभूति अंग तिमि भरयो, सम ऐश्वर्य अनंत ॥३१०॥
जग विनवै आयसु धरै, इमि विभूति पहिचान । तिहिं विभूति को जान इमि, मम अवतार सुजान ॥३११॥
जानि कहै यह दोष बड़, यह सामान्य विशेष । अतः विश्व महँ भरि रह्यो, मैं ही एक अशेष ॥३१२॥
अब साधारण श्रेष्ठ यह, इमि किमि कल्प विभाग । कथा भेद कहि निज मतिहिं, लगि कलंक को दाग ॥३१३॥
यों घृत किमि मथि किमि सुधा, राँधि अर्ध करि देय । अरु कहुँ होय समीर को, दहिन बाम कौंतेय ॥३१४॥
उदर पीठ रवि बिंब को, नास नयन नहि देख । मम स्वरूप की बात तिमि, नहिं सामान्य विशेष ॥३१५॥
अरु विभूति इहिं पृथक मम, कितनी गुनहु अपार । अतः अधिक किमि जान सकि, चाह पुरहु धनुधार ॥३१६॥
अब मम एकहि अंशतें, व्यापि रह्यो संसार । या लगि भेदहिं त्यागि भजु, सरिस ऐक्य धनुधार ॥३१७॥
इमि कुसुमाकर ज्ञानि घन, अरु विरक्त एकान्त । इहिं प्रकार बोलत भये, श्रीयुत कमलाकान्त ॥३१८॥
अर्जुन कहि प्रभु उचित नहिं, यह भाषण विस्तार । भेद एक अरु एक मैं, तजौं पृथक निरधार ॥३१९॥
सूर्य कहत का जगत तें, तुम भगाव अंधियार । अधिक बोल यह होय मम, प्रभु भाषणहिं विचार ॥३२०॥
नाम सुनै इक बेर जो, वा करि मुख उच्चार । साँचहु ताके मनहिं तें, भेद नसै सब भ्कार ॥३२१॥
आप स्वयं परब्रह्म मम, दैवयोग लगि हाँत । तो अब कैसो भेद कहँ, लखै कौन किहिं भाँत ॥३२२॥
करि प्रवेश शशि बिंब मधि, कहँ उष्णता रहाय । पै शारंगधर तुम बड़े, कहहु जु तुमहिं सुहाय ॥३२३॥

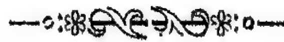
चित लहि तोष तुरंत, अर्जुन कह आलिंगि प्रभु । करहु सुभद्राकंत, पुनि कहि कोय न कथन मम ॥३२४॥
कवि विभूति जो भेदयुत, परंपरा मतिमान । मो अभेद वपु तुव मनहुँ, मान्यो की न सुजान ॥३२५॥
यह निरखन मिप इक छिनहिं, कथन कियो बहिरंग । बोध भयो उत्तम तुमहिं, पार्थ विभूति प्रसंग ॥३२६॥
अर्जुन तब कहि कृष्ण प्रभु, आपहिं निज कहँ जान । पै मैं देखत विश्व सब, तुमतें भयो सुजान ॥३२७॥
इमि अनुभव की योग्यता, लहि अर्जुन नृपराज । सुनि संजय के बैन रहि, नृपति मौन को साज ॥३२८॥
संजय दुःखित हृदय कहि, नहिं अचरज तजि सार । देखे ऊपर अध लखि, पै हिय हू अधियार ॥३२९॥
अधिक कहा इमि पार्थ किय, निज हित वृद्धि सुजान । पै उत्कंठा और इक, हृदय उठी बलवान ॥३३०॥
कहि यह अनुभव हृदय जो, दृग बाहर प्रगटाय । इहिं इच्छा के पॉव तें, चली बुद्धि उठि धाय ॥३३१॥
इन दुहुँ नैननि सब लखौं, विश्वरूप प्रगटाय । अतः करत यह चाह मन, दैव भाग्य बड़ पाय ॥३३२॥
कुसुम न बॉझ लखाय, आज कल्पतरु शाख बनि । सत्य करहिं यदुराय, जो जो आवै पार्थ मुख ॥३३३॥
जो प्रहलादहु के कहे, विषहु बने भगवान । सो सद्गुरु बनि प्राप्त भे, अर्जुन भाग्य महान ॥३३४॥
सो ज्ञानेश्वर निवृति के, कहि पुनि कथा प्रसंग । पार्थ प्रश्न किहिं भांति करि, विश्वरूप श्रीरंग ॥३३५॥



ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर
श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-
ज्ञानेश्वर्यां दशमोऽध्यायः
शुभमस्तु ॐ तत्सत् २

ॐ

एकादश अध्याय



अब यह एकादशहिं महँ, कथा उभय रस भास।
जहाँ पार्थ भेंटत भये, विश्वरूप सुखरास ॥१॥

जहां शान्त घर पाहुनो, अद्भुत आयो पेख। औरहु रस तिहिं सम लहे, पांति लाभ सविशेख ॥२॥
जिमि वरयात वस्त्राभरण, लखि घर वधू विवाहि। देशी भाषा पालकी, पैं सब रस छबि चाहि ॥३॥
अद्भुत शांतहु रस उभय, नैननि प्रगट दिखाँहि। जिमि हरिहर दुहुँ प्रेम तें, आलिंगहिं हरखाहि ॥४॥
दिवस अमावस माँहि जिमि, रवि शशि बिंब मिलाहिं। तिमि इत रस करि एकता, ग्यारहवे के माँहि ॥५॥
गंग रु यमुन प्रवाह मिलि, तिमि रस भये प्रयाग। जग पवित्र ह्वै जात सब, इत अतएव सुभाग ॥६॥
गीता गुप्त सरस्वती, अरु रस उभय प्रवाह। उचित त्रिवेणी याहि तें, सोहहिं तात सराह ॥७॥
सुगम कियो तीरथ-गमन, इतहिं श्रवन के द्वार। ज्ञानदेव कहि मम गुरू, करिके कृपा उदार ॥८॥
यों भाषा सोपान संस्कृत तट जे गहन तरि। विरच्यो धर्म निधान, श्रीनिवृत्ति गुरुराज मम ॥९॥
अतः कोउ सद्भाय तें, इतहिं प्रयाग नहाय। विश्वरूप माधव निरखि, तिलजल जगहिं दिवाय ॥१०॥
अधिक कहा एकादशहिं, सब रस मूरति धार। श्रवन सुखहु को राज्य जनु, प्राप्त कियो संसार ॥११॥
सन्मुख शान्ताद्भुतहिं लखि, उपमा इतर रसाल। यद्यपि उपमा अल्प पै, प्रगटत मोद सुचाल ॥१२॥
अर्जुन अतिशय भाग्यवर, जो इत पहुँच्यो आय। प्रभु को जो विश्राम थल, ग्यारहवें अध्याय ॥१३॥
किमि कहि इत अर्जुनहिं बसि, सुभ अवसर सब काँहि। अब गीता को अर्थ भे, प्राकृत भाषा माँहि ॥१४॥
या हरि अब मम विनय सुनु, सज्जन देकरि ध्यान। आप दयालु स्वभाव सों, मो कहँ शिशु अनुमान ॥१५॥

संत सभा तुम माँहि मैं, जोग ढिठाई नाँहि । पै मानत आपहिं प्रभो, तुम मुहिं शिशु सम पाँहि ॥१६॥
आप पढ़ायो जो सुवा, पुनि चढ़ि माथ डुलाय । की बालक के कौतुकहिं, लखि रीझत है माय ॥१७॥
जो जो मैं बोलत अहौं, सब सीख्यो तुम पाँहि । अतः आपही ध्यान धरि, आपुनि सुनिय सराहि ॥१८॥
ये विद्यावपु मधुर तरु, आपहि दियो लगाय । सींचि सुधा अवधान वपु, कीजे वृद्धि अघाय ॥१६।
यह तरु नवरस फूल फलि, विविध अर्थ फल भार । फल करि तुव कृति तें लहै, सुख कहँ सब संसार ॥२०॥
संत मुदित यह वचन कहि, धन्य तोष कहँ पाय । अब बरनहुँ जो कछु कह्यो, अर्जुन प्रभुहिं सुनाय ॥२१॥
कहि निवृत्ति को दास तब, कृष्णार्जुन संवाद । प्राकृत जन मैं किमि कहौं, पै कहि आप प्रसाद ॥२२॥
अहो खाय बन फलहिं करि, रावन को संहार । ग्यारह छोहिन किमि न जिति, इक अर्जुन धनुधार ॥२३॥
करहिं अतः जो जो सबल, सो न चराचर होय । तुमहि संत तिमि मोहि तें, गीता बरनी सोय ॥२४॥
यह अब बोलत मैं सुनहु, भल गीता को भाव । जो भाष्यो वैकुण्ठपति, निज मुखतें करि चाव ॥२५॥
जो प्रतिपादित वेद तें, वक्ता श्रीभगवान । धन्य धन्य यह ग्रन्थवर, श्री गीता मतिमान ॥२६॥
शिव मति नहिं अनुभूति, गौरव किमि वर्णन करौं । यहै भली करतूति, प्रणवौं जब हिय भाव तें ॥२७॥
अर्जुन धरि यह हेतु पुनि, विश्वरूप दरसाय । प्रथमहिं किमि बातें कियो, सो सुनिये चित लाय ॥२८॥
यह सब जग ईश्वर अहै, अस अनुभव निरधार । सो बाहर प्रत्यक्ष करि, नैननिं लखौं उदार ॥२६॥
यह हिय भीतर चाह पै, प्रभुतें कहब सँकोच । विश्वरूप जो गुप्त तिहिं, किमि चूकौं मैं सोच ॥३०॥
कहत मनहिं कौनहु प्रथम, कबहुँ बूझ्यो नाँहि । मोतें एकाएक कहु, कैसे बूझ्यो जाँहि ॥३१॥
यद्यपि नेह विशेष पै, किमि यशुदहिं अधिकाय । यह प्रसंग बूझ्यो नहीं, कबहुँ यशोदा माय ॥३२॥
सेयों मैं तिमि उचित जिमि, किमि खगपति सम होय । पै तिनहु कीन्ह्यो नहीं, ऐसो भाषण गोय ॥३३॥
किमि समीप सनकादि ते, तिनहुँ न बात चलाय । गोकुल गोपी गोप ते, किमि मम प्रेम सिवाय ॥३४॥
गर्भहिं बसि सहि एक के, शिशुपन तिनहिं भ्रँकाय । विश्वरूप पै गुप्त रहि, काहू को न दिखाय ॥३५॥
गुप्त अहै निज बात, इनके अन्तःकरन की । किमि बूझौं कहु तात, एकाइक प्रश्न कृष्ण तें ॥३६॥
अरु यदि कहुँ बूझौं नहीं, लखौं न विश्व-स्वरूप । सुख न लहौं शंका गहौं, जियों न होहुँ अरूप ॥३७॥

तातें अब कछु बूझिहौं, पुनि प्रभु चित जिमि चाह । धीरज धरि पूछन भयो, पारथ जो नरनाह ॥३८॥
ऐसे भावहिं पार्थ तब, प्रश्नोत्तर इक दोय । विश्वरूप सम्पूर्ण को, दरसन दीन्हों सोय ॥३९॥
अहो वत्स लखि धेनु जिमि, आतुर प्रेमहिं धाय । मुख तें थन मिलतहिं कहो, कैसे नहीं पन्हाय ॥४०॥
निरखि पांडवनि नाम सुनि, संरक्षण हित धाय । सो अर्जुन के प्रश्न सुनि, किमि न कहहिं यदुराय ॥४१॥
सहज नेह अवतार जो, साथ नेह को पाय । इमि मिलि करके भिन्नता, यह आचरज जनाय ॥४२॥
अतः पार्थ के बोलतहिं, देव विश्व वपु धारि । ऐसो प्रथम प्रसंग जो, अब ताकहँ अवधारि ॥४३॥

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्थ—कहउ कृपा करि मोहि अति,-गुह्याध्यात्म सुनाम ।
तुव ज्ञानहिं उपदेश मम, विगत मोह-परिनाम ॥१॥

कह्यो पार्थ पुनि देव तें, मम कारण कहँ पाय । कह्यो न चाहिय सो कह्यो, कृपासिन्धु यदुराय ॥४४॥
जीव प्रकृति लय पाय, जब ब्रह्महिं महभूत सह । जिहिं वपुदेव रहाय, सो अंतिम विश्राम थल ॥४५॥
कृपण समानहिं निज हृदय, गुप्त कियो जिहिं काँहि । जाहि छुपाये वेद महँ, प्रगटहिं वरण्यो नाँहि ॥४६॥
आजहिं अपनो हृदय तुम, मम सन्मुख धरि दीन्ह । जासु हेतु ऐश्वर्य निज, शंभु निछावर कीन्ह ॥४७॥
आपुन ज्ञानहिं मोहिं प्रभु, तुम दे दियो तुरंत । यदि ऐसो कहि जाय तो, किमि तुव प्राप्ति अनंत ॥४८॥
डूबत लखि सिर लागि सत, महामोह वपु पूर । श्री हरि आपहि कूदि तुम, मोहिं निकार्यो भूर ॥४९॥
अपर न भासत जगत कछु, एकै प्रभु बिन आप । कहत मोर मैं प्रगट जो, लखि मम कर्म प्रलाप ॥५०॥
अर्जुन इक मैं जगत में, अस शरीर अभिमान । अरु कौरव को स्वजन मुहिं, आपहिं कहत सुजान ॥५१॥
ऐसे जो मारौं इनहिं, अरु तिहिं अघ महँ जाय । इमि देखतहु स्वप्न मैं, प्रभु तुम दियो जगाय ॥५२॥
श्रीपति प्रभु, गन्धर्व की, नगरी बसति तजाय । उदक प्यास महँ पियत तो, मैं मृगनीर अघाय ॥५३॥

सत्य लहर आवत हुती, डँसे वसन के साँप । वृथा मरत इमि जीव को, राखि श्रेय लहि आप ॥५४॥
निज प्रतिबिंब न जानि लखि, सिंह कूप गिर जाय । गिरतहिं ताहि धराय तिमि, प्रभु लिय मोंहि बचाय ॥५५॥
नातर मम निश्चय हुतो, ऐसो प्रभु अवधार । जो अब सात समुद्र हू, मिलि इक होय उदार ॥५६॥
यह सब जग डुबि जाय वा, गगन टूटि गिरजाय । पर गोत्रज तें मैं कबहुँ, करहुँ न समर जुझाय ॥५७॥
अहंकार के योग इमि, आग्रह जलहिं डुबाय । आप निकट रहि यह भलो, कौन निकारत आय ॥५८॥
कोउ न होत यथार्थ मैं, नाम गोत्र निज भान । इमि लगि विकट पिशाच मुहिं, तुम राख्यो भगवान ॥५९॥
देह विनसि भय जहँ प्रथम, राखि लाख गृह पाँहि । सुनु बाहर यह लाख गृह, जहँ चैतन्य नसाँहि ॥६०॥
दाबिय कांखहि बुधि धरनि, दुराग्रही दनुनाथ । मोह समुद्र झरोख महँ, बहुरि जाय यदुनाथ ॥६१॥
आप पराक्रम धरनि वपु, बुधि चित लहि इकबार । तुमहिं परयो होनो अपर, यह वराह अवतार ॥६२॥
किमि कहि सकि इक बात, इमि तुव कृत्य अपार मैं । दीन्ह दयावश तात, पांचहुँ प्राणहिं मोहिं कहँ ॥६३॥
सुयश पाय अत्यन्त प्रभु, वृथा न कबहूँ जाय । आदि अन्त लगि यह नसी, मम माया सुरराय ॥६४॥
आनँद सरवर के कमल, ये प्रभु के वर नैन । जिहिं लगि निजहिं प्रसाद रचि, मंदिर करुना ऐन ॥६५॥
कहिय मोह की भेंट तिहिं, यह अति अहै नगण्य । किमि वडवानल ऊपरहिं, मृग जल वृष्टि जघन्य ॥६६॥
कृपा मंदिरहिं तुव प्रविशि, अरु तहँ बसि दातार । लेत अहौं अनुभव रसहिं, ब्रह्म स्वरूप उदार ॥६७॥
सकल मोह मम नास भौ, इत अचरज कहु काँहि । चरन परस करि तुव कहत, मैं उद्धरउं सराहि ॥६८॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

अर्थ—सुन्यों आप ते जग उपज, अरु विनाश विस्तार ।
अविनाशी माहात्म्य तुव, कमलनैन सुखसार ॥२॥

कोटिन रवि सम तेजयुत, कमलपत्र सम नैन । देव देव तुव पास तें, मैं सुनि पायों चैन ॥६९॥
जासन उपजैं भूत सम, वा जिमि होय विलीन । देव प्रकृति निज मोंहि तें, वरनन कियो प्रवीन ॥७०॥

किय वरनन माया सकल, मूल पुरुष दरसाय। जिहिं महिमा कहि ह्वै गये, वेद सवस्व सुहाय ॥७१॥
धर्म रतन उपजाय, शब्द राशि उपजाय जिहिं। करि आश्रय प्रभु पाँय, जोते जो मम प्रभु अहैं ॥७२॥
इमि अगाध माहात्म्य तुव, सब पथ एक जनाय। आत्मानुभव प्रपूर्ण जो, सो इत दियो दिखाय ॥७३॥
जिमि छन नसि आकाश महँ, रवि मंडल लखि जाय। किंवा टारि सिवार कर, निर्मल जल दरसाय ॥७४॥
जिमि अहिं लिपटे उकलिकर, चंदन भेंट कराय। वा पिशाच भगि जाय पुनि, द्रव्य हाथ लगि जाय ॥७५॥
आड़ करत इमि तिमि प्रकृति, तिहिं प्रभु दूरि कराय। ब्रह्म तत्त्व तें अतः मिलि, मेरी मति यदुराय ॥७६॥
अतः देव इहिं विषय मम, चित्त भरोस भरपूर। पै औरहु इक चाह मन, उपजी है यदुशूर ॥७७॥
अपर कौन तें बूझि हौं, यदि न कहौं संकोच। तुम सिवाय किहिं ठाँव को, जानत अहौं असोच ॥७८॥
शिशु थनपान सँकोच करि, जलचर जल आभारि। आन उपाय कि ताहि को, जीवन को असुरारि ॥७९॥
करि न अतः संकोच मैं, कहत चित्त की बात। देव कहहिं निज चाह कछु, तजहु इतर सब बात ॥८०॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

अर्थ—जगपति तुम निज विषय महँ, कह्यो सत्य सब आहि।
पै प्रभु व्यापक रूप तुव, देखन हित मम चाहि ॥३॥

जो वरनी सब बात, अर्जुन कहि पुनि देव प्रति। तिहिं अनुभव तें तात, शांत भई अब दृष्टि मम ॥८१॥
अब जिहिं के संकल्प तें, लोक यथावत होय। जासु ठिकानहिं आप हैं, कह्यो स्वयं मैं सोय ॥८२॥
आप प्रधान स्वरूप जहँ, कष्ट निवारण हेतु। द्विभुज, चतुर्भुजरूप सुर,-हित धरि खगपति केतु ॥८३॥
औ' आरम्भहिं जल शयन, मत्स्य कूर्म अवतार। बहुरूपिया समान तुम, धारत रूप अपार ॥८४॥
जिहिं गावहिं उपनिषद हिय, योगी करहिं प्रवेश। जिहिं आलिंगन देत हैं, सनकादिकहु विशेष ॥८५॥
इमि अगाध जगरूप तुव, कानहिं परयो सुनाय। सो देखन हित चित्त मम, करि शीघ्रता सुभाय ॥८६॥
दूरहिं किय संकोच मम, यदि बूझ्यो चित चाह। तो प्रभु मो कहँ चाह इक, है अतिशय सुरनाह ॥८७॥

सकल विश्वमय रूप तुव, मम दृग सन्मुख होय। इमि अभिलाषा चित्त मम, बाँधि रह्यो प्रभु सोय ॥८८॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अर्थ—यदि तुव मन लगि लखि सकौं, योगेश्वर तुव रूप।
कृपासिन्धु दरशाव तो, निज अविनाशि स्वरूप ॥४॥

शारँगधर, पै एक इत, तुव जगरूप प्रसंग। अहै योग्यता लखन की, वा न अहै मम अंग ॥८६॥
यदि प्रभु कहि नहिं जान, यह मन मैं समझौं नहीं। रोगी रोग-निदान, की जानत कह आपनो ॥६०॥
आसक्तिहिं अभिलाष बढ़ि, निज योग्यता भुलाय। जिमि प्यासो, कहि सिंधु मथि, मोहित नीर पुराय ॥६१॥
इमि वश-आशा बिसरि निज, सँभरि समस्या नाँहि। जैसे शिशु की योग्यता, जानि सकै माताहि ॥६२॥
यातें जन दुख हरन मम, करि विचार अधिकार। पुनि आरंभहि कीजिये, विश्वरूप विस्तार ॥६३॥
करिय कृपा अधिकार जिमि, नातर कहिये नाँहि। वृथा पंचमालाप सुख, किमि बहरे के पाँहि ॥६४॥
यों तो चातक तृपित कह, जगहिं न किमि बरसाय। पै पाहन पर बरसि जो, सो जल व्यर्थहिं जाय ॥६५॥
जिमि चकोर लहि शशि सुधा, आनहिं वरजि कि कोय। बिन प्रकाश पै दृष्टि के, वृथा होत है सोय ॥६६॥
अतः विश्ववपु तुरत तुव, लखिहौं आश पुराय। भयद सुंदरहु नित्य नव, मोपर कृपा स्वभाय ॥६७॥
देत न पात्रापात्र कहि, जान स्वतन्त्र उदार। तुव कैवल्य पुनीत इमि, रिपुहूँ दियो अपार ॥६८॥
सेय तदपि प्रभु पाँय, सत्य मोक्ष दुर्लभ यदपि। तहँ सेवक इव धाय, अतः जहाँ आयसु करहु ॥६६॥
दियउ पूतनहिं मोक्ष जिमि, सनकादिक के मान। विष लगाय थन माँहि जो, तुव मारन हित आन ॥१००॥
निरखि सभासद त्रिजग महँ राज मखहिं तुव मान। किमि शतधा दुर्वाक्य कहि कीन्हो तुव अपमान ॥१०१॥
जो द्वेषी शिशुपाल इमि, तिहिं दिय आप स्वरूप। अरु ध्रुवपद की चाह किमि, ध्रुव कहँ रही अनूप ॥१०२॥
'गोद पिता की मैं बसौं', आयो वन इहिं लाग। पै जग में रवि चन्द्र तें, आप कियो बड़भाग ॥१०३॥
ऐसहिं वनवासिहिं सकल, दाता एक उदार। मुक्ति अजामिल कहँ दियो, सुत के नाम उचार ॥१०४॥

जो भृगु हनि पग हृदय तुव, तासु चिन्ह उरधार । शंखासुर रिपुतन अजहुँ, कर धारयो करतार ॥१०५॥
आप उदार अपात्रहू, अपकारहिं उपकार । अतः दानि बलिराज के, करत द्वार परिचार ॥१०६॥
किय तुव आराधन नहीं, सुन्यो नहीं गुणगान । दिय गण कहि वैकुण्ठ सुख, सुवा पढ़ावत जान ॥१०७॥
निज स्वरूप दातार, ऐसे व्यर्थहिं के मिषहिं । दूजी बात उदार, तो तुम करि मम हेतु किमि ॥१०८॥
जो निज पय अधिकाव तें, सब जग दुःख हराय । कामधेनु को सुवन किमि, छुधित रहै यदुराय ॥१०९॥
अतः कीन्ह जो विनय मैं, शक्य न प्रभु न दिखाय । यदि प्रभु दीजे योग्यता, विश्वरूप लखि जाय ॥११०॥
यदि प्रभु मम दृग लखि सकैं, विश्वरूप, तुम जान । तो मम इच्छा नैन की, पूर्ण करहु भगवान ॥१११॥
उचित विनय इमि जब कियो, सरल सुभद्राकंत । चक्रवर्ति षड्गुण तबहिं, सहि न सके भगवंत ॥११२॥
अर्जुन वर्षाकाल अरु, कृष्ण कृपामृत मेह । अर्जुन अहै वसन्त तो, कोकिल करुणागेह ॥११३॥
शशधर बिंबहिं पूर्ण लखि, छीरसिंधु उछलाय । तिमि द्विगुणित तें अधिक प्रभु, प्रेम बलहिं उमगाय ॥११४॥
कहत सकृप करि घोषणा, प्रभु प्रसन्नतावेश । लखि लखि अर्जुन अमित मम, विश्व स्वरूप विशेष ॥११५॥
अर्जुन करि इमि चाह इक, विश्वरूप दरसाय । पै केशव करि विश्व सब, विश्वरूप हरषाय ॥११६॥
अहैं उदार अपार, याचक इच्छा देख पुनि । देत सहस गुन सार, निज सर्वस्व विशेष असि ॥११७॥
शेष न देख्यो निज नयन, वेद जाहिं अँकियाय । श्री लक्ष्मीहू के निकट, प्रकट भयो न स्वभाय ॥११८॥
अब प्रगटाय अनेक विधि, विश्वरूप दरसाय । अमित भाग्यधर पार्थ को, काज कियो जदुराय ॥११९॥
जागत जो पुनि स्वप्न लहि, सकल स्वप्न सो होय । तिमि अनन्त ब्रह्माण्ड तजि, आप बने प्रभु सोय ॥१२०॥
कृष्ण स्वरूपहिं तुरत तजि, परदा दृष्टि हटाय । अधिक कहा निजयोग की, शक्ति दियो उघराय ॥१२१॥
अर्जुन पै यह लखि सको, किंवा नहीं लखाय । कहन लगे नेहातुरहिं, मम स्वरूप लखि आय ॥१२२॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

अर्थ—अर्जुन निरखहु भांति बहु, शत-सहस्र आकार ।
नानावर्ण विधान बहु, दिव्य समग्र अपार ।।५।।

अर्जुन तुम कहि इक लखहुँ, पै दरसाउँ विशेष । अब मम रूपहिं देखिये, सब जग भरयो अशेष ।।१२३।।
इक दुबले अरु थूल इक, इक लघु एक विशाल । इक भारी इक सरल अति, इक असींव नरपाल ।।१२४।।
उद्योगी इक धीर, कपटरहित इक अवश इक । एक तीव्र बुधि वीर, उदासीन इक प्रेमयुत ।।१२५।।
इक अनसुध इक सुधिसहित, इक सुन्दर गंभीर । इक उदार इक कृपण अरु, एक क्रोधवश वीर ।।१२६।।
इक वर मदयुत शांत इक, एक कठिन सानंद । इक गर्जत, निःशब्द इक, एक सौम्य जिमि चंद ।।१२७।।
निद्रित इक इक जागते, एक सचाह विरक्त । इक प्रसन्न अरु इक दुखी, एक अहैं परितृप्त ।।१२८।।
इक अशस्त्र इक शस्त्रयुत, एक उग्र इक मित्र । एक भयद इक लय सहित, देखहु एक विचित्र ।।१२९।।
इक नर लीला में निरत, पालत प्रीतिहिं एक । इक सहारक रूप इक, साक्षीभूत विवेक ।।१३०।।
इमि अनेक विधि अरु अधिक, दिव्य सतेज प्रकास । तिमि एसे इक इक पृथक, मिलत न वर्ण विभास ।।१३१।।
एक तपाये स्वर्न सम, रक्त पीत नहिं पार । इक सर्वांग सिंदूर जिमि, अथवत गगन मँझार ।।१३२।।
एक सुहाय स्वभाय जिमि, मणि जड़ि ब्रह्म कटाह । इक अरुणोदय के सरिस, कुंकुम वर्ण उमाह ।।१३३।।
नीलम मणि सम एक, इकहि स्वच्छ शुचि फटिक सम । रक्तहु वर्ण अनेक, इक काले अंजन सरिस ।।१३४।।
इकहि पीत लखि स्वर्ण सम, इक नवनीरद स्याम । एक स्वर्ण चंपा सरिस, हरितहु वर्ण ललाम । १३५।।
एक तपाये ताम्र सम, सितवर चन्द्र समान । देखिय नानावर्ण के, इमि मम रूप सुजान ।।१३६।।
अहहिं रंग जिमि बहु विविध, तिमि आकृतिहु विचार । गहै शरण लज्जित मदन, सुन्दर एक निहार ।।१३७।।
इक मनहर वपु नेहयुत, इक लावण्याकार । अति उघरयो शृंगार श्री, को जैसे भांडार ।।१३८।।
इक अति मांसल पुष्ट तन, एक शुष्क विकराल । एक भयानक दीर्घ गल, एकहि शीश विशाल ।।१३९।।
इमि बहुविधि आकृति लखत, यहां न पावत पार । इक इक अंग प्रदेश लखि, भरयो सकल संसार ।।१४०।।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।६।।

अर्थ—देखिय रवि वसु रुद्र मरु, अरु अश्विनीकुमार ।
पूर्व लख्यौ नहिं बहु लखौ, अति अचरज धनुधार ॥६॥

नयन खुले तें जहँ उपजि, सूर्यादिक संसार । पुनि तिहिं दृग मूंदे विलय, सकल चराचर भार ॥१४१॥
ज्वालामय हो जात सब, मम मुख बाफ विकार । जातें पावक आदि वसु, जनमि समूह उदार ॥१४२॥
जबहिं मिलत इक बार, मम कोपै तें भ्रूलता । तहाँ रुद्र अवतार, पावत गण समुदाय सब ॥१४३॥
उपजि पार्थ मम कान तें, वायु अनेक प्रकार । सौम्यभाव तें उपजि पुनि, ते अश्विनीकुमार ॥१४४॥
इमि इक इक लीलहिं जनमि देव सिद्ध कुल जान । इमि विशाल अरु अगम वपु देखहु याहि ठिकान ॥१४५॥
जिहिं कहि वेद चुकाय लखि, काल न आयु पुराय । ब्रह्माहू नहिं पार लहि, जिहिं थल को नरराय ॥१४६॥
जिहिं त्रय वेद न सुनि कबहुँ तिहिं इत सम्मुख देखि । अचरज कौतुक सिध महा,-भोग अनेक विशेखि ॥१४७॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

अर्थ—सचर-अचर सब जगत अरु, जो अवलोकन चाह ।
अर्जुन सब इक ठौर लखु, मम तन महँ नरनाह ॥७॥

अर्जुन लखि इहिं मूर्ति के, रोममूल संसार । सुरतरु के जिमि मूल तें, तृण अंकुरहि निहार ॥१४८॥
सूर्य प्रभहिं लखि रन्ध्र तें, जिमि परमाणु उड़ाह । तिमि मम अवयव सिन्धु महँ, भ्रामहिं ब्रह्म कटाह ॥१४९॥
इक इक अंग प्रदेश महँ, निरखि विश्व विस्तार । यदि देखन चाहौं मनहिं, अरु जगके वा पार ॥१५०॥
अर्जुन सुनु इहि विषय महँ, कष्ट सर्वथा नाँहि । चाहहु जो सुखसे लखहु, सो तुम मम तन माँहि ॥१५१॥
जबहिं विश्व अवतार, ऐसे करुणापूर्ण कहि । तब ही रह्यो निहार, मुखतें हाँ ना नहिं कही ॥१५२॥
अतः देखि प्रभु पार्थ कहँ, रह्यो मूक सम होय । विश्वरूप के दरस की आस लिये तिमि सोय ॥१५३॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

अर्थ—अर्जुन तुम निज नयन तें, सकहु न यह सब देखि।
दिव्य चक्षु मैं देत लखु, योगैश्वर्य विशेषि ॥८॥

कहि पुनि कमी न चाह की, अबहू सुख नहिं पाय। मैं दरसायो विश्ववपु, पै इहिं लख्यो न जाय ॥१५४॥
यह मन कहि प्रभु विहँसि तब, प्रियवर अर्जुन पाँहि। मैं दरसायो विश्ववपु, पै तुम देख्यो नाँहि ॥१५५॥
यह सुनि बुधवर पार्थ कहि, केहि न्यून श्रुतिसेतु। चन्द्रामृत चाखन कहहु, बक तें खगपति केतु ॥१५६॥
स्वामी दर्पण स्वच्छ करि, देत अन्ध के हाथ। अरु बहिरे के सामुहें, गायन करि यदुनाथ ॥१५७॥
दादुर मुख महँ देत हो, पुष्प परागहिं जान। वृथा कवन पै कोप करि, शारँगधर भगवान ॥१५८॥
अहहिं अगोचर इन्द्रियहिं, कह्यो शास्त्र के माँहि। केवल लखि दृग ज्ञान तुम, कहि नैननि न लखाँहि ॥१५९॥
न्यून कहब प्रभुसन न भल, वह सहि मैं रहि मूक। कह्यो देव यह तात तुव, मानौ वचन अचूक ॥१६०॥
आदिहिं शक्ति दिवाय, यदि लखाउँ तुहि विश्ववपु। विसरि गयउँ नृपराय, प्रेमभाव भाषण करत ॥१६१॥
किमि न वृथा विन ज्योत भुवि, बोये बेलि नसाय। दृष्टि देउं मैं तुमहिं अब, तब मम रूप दिखाय ॥१६२॥
अर्जुन पुनि तिहिं दृष्टि तें, मम सब योगैश्वर्य। आप निरखि अनुभव करहु, त्यागहु सब कातर्य ॥१६३॥
ज्ञेय अहैं वेदान्त जो, आप सकल संसार। परमपूज्य सब विश्व के, बोले कृष्ण उदार ॥१६४॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय, परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

अर्थ—इमि कहि राजन प्रभु महा, योगेश्वर भगवान।
दरसायो अर्जुनहिं सो, वपु ऐश्वर्य महान ॥९॥

संजय कहि धृतराष्ट्र तें, मैं विस्मित बहुबार। लक्ष्मी तें अति भाग्यवर, कौन त्रिलोक मंझार ॥१६५॥
को संकेतहिं बरनि सक, श्रुति बिनु इह संसार। सेवकपन बिनु शेष अँग, लखहुँ न जगहिं उदार ॥१६६॥
जासु मिलन के हेतु जिमि, योगी आठों याम। कौन अहै खगपति सरिस, सेवक परम ललाम ॥१६७॥

सब रहि ते इहिं ओर पै, कृष्ण सुखहि इक ठौर। सांप्रत पायो जन्म तहिं, यह पांडव सिरमौर ॥१६८॥
उन पाँचहु पांडवन महँ, कृष्ण पार्थ आधीन। जिमि सहजहिं कामी पुरुष, होय नारि स्वाधीन ॥१६९॥
क्रीड़ा मृगहु न मान, शिक्षित आन सु बोलि इमि। कैसहु परत न जान, पार्थ भाग्य अनुकूल इत ॥१७०॥
आज अखिल परब्रह्म के भोग हेतु इग पार्थ। भाग्यवान को लाड पुरि, किहिं विधि कथन यथार्थ ॥१७१॥
ये कोपैं तब सहन करि, रूठे लेत मनाय। बने अनोखे बाउरे, पार्थ लागि यदुराय ॥१७२॥
जीति विषय पुनि जनम लै, जे शुक आदि महान। ते विषयहिं वरनन करत, जाको भाट समान ॥१७३॥
यह समाधि धन योगि को, होय पार्थ आधीन। यह अचरज मेरे मनहिं, लागत नृपति प्रवीन ॥१७४॥
संजय कहि तब नृपतिवर, यामें अचरज काहि। भाग्योदय इमि होय जिहिं, प्रभु स्वीकारि सराहि ॥१७५॥
अतः कृष्ण प्रभु कहि तुमहिं, दृष्टि देत हौं पार्थ। जासु योग तें तुम लखहु, विश्व स्वरूप यथार्थ ॥१७६॥
श्रीमुख तें इमि अक्षरहु, पूरे निकरि न पाय। तबहिं नस्यो अज्ञान को, अंधियारो नृपराय ॥१७७॥
अक्षर ते नहि जानिये, ब्रह्मैश्वर्य प्रकाश। अर्जुन हित उजियार किय, ज्ञानदीप सुखराश ॥१७८॥
ज्ञान दृष्टि चहुँ ओर, दिव्य दृष्टि उजियार तें। पार्थहिं नंदकिशोर, इमि ऐश्वर्य दिखाय निज ॥१७९॥
जिमि समुद्र की लहर यह, जे समस्त अवतार। जासु किरण के जोग लखि, मृगजल यह संसार ॥१८०॥
जिहिं अनादि शुचि शुद्ध वपु, प्रगटि चराचर चित्र। सो दरसायो पार्थ कहँ, आप स्वरूप पवित्र ॥१८१॥
शिशुपन महँ माटी चखी, जब श्रीपति इकबार। तबहिं यशोदा कोपकरि, निजकर तें कर धार ॥१८२॥
खायी मैं नहिं मृत्तिका, भयमिस मुख दिखराय। सातकाश चौदह भुवन, लखे यशोदा माय ॥१८३॥
किय ध्रुव कहँ मधुवनहिं जिमि, शंख कपोल छुवाय। अरु मति कुंठित वेद जहँ, तहाँ निरूप सुहाय ॥१८४॥
श्रीहरि जब उपदेश किय, अर्जुन को नरराय। कौन ओर माया गई, पता न लगत सुभाय ॥१८५॥
चमत्कार मय सिन्धु हो, तेज विभूतिहिं देखि। एकाइक चित मगन तिहिं, विस्मय पाय विशेखि ॥१८६॥
जिमि जलमय आब्रह्म लखि, एक मारकंडेय। विश्वरूप कौतुकहि महँ, ह्वै निमग्न कौन्तेय ॥१८७॥
कहहिं गयो लै कौन, अति विशाल इत नभ रह्यो। कहाँ गये तजि भौन, महाभूत सचराचरहु ॥१८८॥
कोउ दिशा को चिन्ह नहिं, कहँ पाताल अकाश। गये लोक आकार तिमि, जगे स्वप्न आभास ॥१८९॥

जिमि रवि तेज प्रताप बहु शशि तारागण लीन। तिमि प्रपंच रचनहिं कियो, विश्व स्वरूप विलीन ॥१६०॥

नहिं मनको मनपन फुरै, बुधि थकि निज न थँभाय। इन्द्रिय वृतियां उलटि सब, भरी हृदय बिच आय ॥१६१॥

मोहनास्त्र जैसे लगें, सकल ज्ञान मर्मस्थ। एकाग्रै एकाग्रता, ताटस्थहिं ताटस्थ ॥१६२॥

सन्मुख जो वपु चतुर्भुज, विविधरूप चहुँ ओर। देखि परत तिहिं कौतुकहि, लखन लग्यो सब ओर ॥१६३॥

जिमि बरसा घन औ' महा-प्रलयहिं तेज बढ़ाय। तिमि कहुँ अपर दिखात नहिं, प्रभु के रूप सिवाय ॥१६४॥

समाधान पार्थहिं भयो, लखि के प्रथम स्वरूप। नैन खुले तब लखि परचो, विश्वस्वरूप अनूप ॥१६५॥

सकल विश्व वपु लखि सकों, इन दोऊ दृग माँहि। यह इच्छा श्रीकृष्ण प्रभु, ऐसी पूर्ण करॉहि ॥१६६॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अर्थ—नयन अनेक, अनेक मुख, अद्भुत दृश्य अनेक।
भूषण दिव्य अनेक धरि, आयुध दिव्य हरेक ॥१०॥

अरु बहु प्रगटि निधान, जैसे श्रीलावण्य के। राज भवन भगवान, देखे बहु मुख पुनि तहाँ ॥१६७॥

किं बहु भरि आनंदवन, जुरि सुन्दरता राज। तिमि देखी मनहरणता, हरिमुख माँहि विराज ॥१६८॥

एक एक मुख माँहि तिहिं, सहज भयानक रूप। काल रात्रि को कटक जनु, आवत चल्यो अनूप ॥१६९॥

किं बहु मृत्युहिं मुख उपजि, भय के दुर्ग उभार। महाकुँड वा अग्नि के, उघरे प्रलय मँझार ॥२००॥

अद्भुत भयप्रद मुख तहाँ, तिमि देख्यो धनुधारि। और असाधारण विविध, सौम्य शुभालंकारि ॥२०१॥

ज्ञान नयन तें निरखि परि, लग्यो न मुख को अंत। पुनि लोचन कहँ कौतुकहिं, देखन लग्यो तुरंत ॥२०२॥

नाना रंगत कमलवन, विकसित भये यथार्थ। सूर्य पाँति समुदाय सम, नैनहिं निरख्यो पार्थ ॥२०३॥

कृष्ण जलदगण माँहि जिमि विज्जु चमकि कलपांत। पीत दृष्टि तिमि भ्रुकुटि तल मनहुँ कृशानु कृतांत ॥२०४॥

इमि इक इक आश्चर्य लखि, पार्थ एक तिहिं रूप। दरसन् तें अनुभव लह्यो, निरखि अनेक स्वरूप ॥२०५॥

कितहुँ मुकुट कित बाहु, अर्जुन मन कहि चरण कहँ। देखन के हित चाहु, ऐसी बाढ़त कौतुकहिं ॥२०६॥

अर्जुन विफल मनोरथहिं, भाग्यवान किमि होय । कहु शिव के तूणीर में, वृथा बाण कत जोय ॥२०७॥
असत अन्तरन के अहहिं, किमि सांचा विधि बैन । अतः अगम साधंत सब, लख्यो पार्थ निज नैन ॥२०८॥
जाकर अंत न वेद लहि, तिहिं सब अवयव भोग । अर्जुन लहि दुहुँ नयन तें, एकहिं बेर सुयोग ॥२०९॥
चरण पास तें मुकुट लगि, विश्व स्वरूप निहारि । जो अतिशय शोभा सहित, बहु रत्नालंकारि ॥२१०॥
स्वतः रूप परब्रह्म निज, अलंकार हित धार । अलंकार तिहिं मैं कहौं, कैसे किहिं अनुहार ॥२११॥
जाकर प्रभा प्रकाश तें, रवि शशि बिंब प्रकास । महातेज को प्राण जो, प्रगटहि विश्व विकास ॥२१२॥
कौन मतिहिं करि जानिसक, दिव्य तेज शृंगार । पार्थ लख्यो यह ब्रह्म निज, ब्रह्महि भूषण धार ॥२१३॥
ज्ञान नयन ते पुनित हों, कर पल्लव लखि पार्थ । ज्वाल तोरि कल्पांत तिमि, झलकत शस्त्र यथार्थ ॥२१४॥
आपहि प्रभु हथियार, आप अंग भूषण भुजहु । भरि चर अचर निहार, आप जीव तन आप महँ ॥२१५॥
जाके तेजहिं तीव्रतहिं, उडुगन फुटे भुँजाय । जासु तेज तपि अग्नि चह, धाय सिंधु प्रविशाय ॥२१६॥
गरल महा की लहर उठि महा विज्जु घन रूप । प्रगटि अगम तिमि कर निरखि, आयुध उदित अनूप ॥२१७॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अर्थ—दिव्य वसन अरु माल्य धरि, दिव्य गंध लिपमान ।
प्रभु अनंत सब ओर मुख, सब अचरजमय जान ॥११॥

नयन फेरि तहँ भयहिं पुनि, कंठ मुकुट लखि पार्थ । तब कहि सुरतरु की उपजि, इतसें भई यथार्थ ॥२१८॥
उत्तम निर्मल कमल लखि, थकि लहि श्री विश्राम । महासिद्धि को जानिये, अधिष्ठान मतिमान ॥२१९॥
जहँ तहँ मुकुटहिं सुमन के, गुच्छा बँधे विशेखि । कंठ असाधारण जुरैं, माला दंडहिं देखि ॥२२०॥
सूर्य प्रभा में स्वर्ण भरि, मेरु सुवर्ण मढ़ाय । तिमि पीताम्बर की झलकि, सुभग नितंब सुहाय ॥२२१॥
उबटन शिवहिं कपूर करि, पारद लिपि कैलास । अथवा क्षीर समुद्र जिमि, किय क्षीरोदक वास ॥२२२॥
उकलि घुड़ी जिमि चंद्र की, नभ करि वसन सुहाय । सर्वांगहि चंदन लिप्यो तिमि देख्यो नरराय ॥२२३॥

द्युति चढ़ि निजहिं प्रकाश, ब्रह्मानंदहि ह्व पुरि । जातें पाय सुवासु, गन्धमयी श्रुवि जीव लहि ॥२२४॥

जो लेपे निर्लेपता, निराकार साकार । तिहि सुगन्ध की श्रेष्ठता, को करि पावै पार ॥२२५॥

निरखि पार्थ चित छोभ इमि, इक इक छवि शृंगार । प्रभु सोये बैठे खड़े, जानि न सक अनुधार ॥२२६॥

सबहिं बाह्य लखि मूर्तिमय जब लखि नयन उघार । अतः न देखत पुनि तहां अन्तर तिमि लखि भार ॥२२७॥

सन्मुख अगणित मुख निरखि, भयवश पीछे देखि । तब तहँहू श्रीमुख भुजा, चरनहु तैसहिं पेखि ॥२२८॥

अहो लखे सब लखि परत, यह अचरज किमि होय । पै न लखे तें देखि सब, यह अचरज अति जोय ॥२२९॥

अर्जुन देखे या न लखि, प्रभु किमि कृपा कराय । व्यापकता प्रभु की सकल, अर्जुन को दरसाय ॥२३०॥

सुनहु अतः आश्चर्य वपु, पूरहिं पड़ि तट जाय । महासिन्धु पडि और तब, चमत्कार के आय ॥२३१॥

निज दरसन की कुशलतहिं, ऐसे पार्थ विशेखि । कृष्ण अनंत स्वरूपता, व्यापकतावश लेखि ॥२३२॥

देखन हित श्रुति सेतु, सो स्वभावतः विश्वमुख । विश्वरूप कपिकेतु, विनय किये आपहिं भयो ॥२३३॥

दीपक अथवा रवि प्रकट, वा मूँदे न दिखाय । दिव्य दृष्टि तैसी नहीं, जो दीन्हीं यदुराय ॥२३४॥

अतः पार्थ लखि दृग खुले, मूँदे वा अँधियार । कहि संजय यह नृपति तें, हस्तिनपुर मंझार ॥२३५॥

अधिक कहों किमि सुनहुँ नृप, पार्थ विश्ववपु देखि । सब ओरहिं मुख नयन भरि, बहु आभरन विशेखि ॥२३६॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

अर्थ—गगनहिं यदि रवि सहस जुरि, करि इक बार प्रकास ।
विश्वरूप जैसी प्रभा, होइ कदापि कि भास ॥१२॥

अंग प्रभा तिहिं देव की, किहिं समान कहि जाय । द्वादश रवि एकत्र मिलि, कल्प अन्त महँ जाय ॥२३७॥

दिव्य सहस रवि यदि उदय, एकहिं अवसर पाय । तो थोरहिं तिहिं तेज की, उपमा नहीं जुराय ॥२३८॥

सकल वस्तु प्रलयाग्नि अरु, सब दामिनी मिलाय । महातेज को दस गुनो, तहँ एकत्र कराय ॥२३९॥

किंचित समता कहुँ लहै, तेज विश्व वपु अंग । अरु तिमि इमि सब श्रेष्ठता, अहै न सत्य प्रसंग ॥२४०॥

इमि महिमा प्रभु की सहज, विकसि तेज सब अंग । सो मैं सब निरख्यो मुदित, श्रीमुनि कृपा प्रसङ्ग ॥२४१॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

अर्थ—देवहिं देवहिं देह मधि, सब जग लखि एकत्र ।
बहुरि अनेक विभाग को, अर्जुन देख्यो तत्र ॥१३॥

सब जग इक थल देखि, अरु तिहिं विश्व स्वरूप महँ । जिमि बुदबुदा विशेखि, महा उदधि महँ पेखिये ॥२४२॥

घरहिं बाँधि चीटीं धरा, पुर गंधर्व अकास । अथवा कण अति सूक्ष्म जे, पर्वत ऊपर भास ॥२४३॥

अर्जुन तिहिं अवसर लख्यो, इहिं विधि सब संसार । चक्रवर्ति प्रभु देह जो, विश्व स्वरूप मँझार ॥२४४॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्थ—अचरज तें जहँ चकित ह्वै, युत रोमांच शरीर ।
माथ नाइ कर जोरि करि, कहत देवसन वीर ॥१४॥

आपहु औ जग पृथक्तः, इमि जो द्वैत जनाय । अर्जुन मन तें सहजही, तबहिं गयो बिनसाय ॥२४५॥

अन्तर ब्रह्मानंद भरि, बाहर तन शिथिलाय । चरन शीश पर्यन्त लगि, रोमांचित कुरुराय ॥२४६॥

जिमि बरसा प्रारंभ सब, गिरि तें मैल बहाय । कोमल अंकुर ऊगि तिमि, ह्वै रोमांच स्वभाय ॥२४७॥

चंद्र किरन के परत तें, सोमकांत द्रवि जाय । तैसे अर्जुन देह तें, स्वेद बुंद सरसाय ॥२४८॥

कमलकली मधि अलि प्रविसि जल महँ कमल हलाय । तिमि अन्तःसुख लहरबल बाहर कँपि नरराय ॥२४९॥

जिमि कपूर कदली त्वचहिं उकलि कपूर गिराय । तिमि पुलकित आनंद दृग आँसू बहहिं स्वभाय ॥२५०॥

उदधि पूर्ण, शशि उदय तें, जैसे बहुरि भराय । बारबार तिमि लहर भर, नयनन तें उमगाय ॥२५१॥

करहिं एक इक होड़, इमि सात्विक अठ भाव जे । तिमि अर्जुन सब मोड़ ब्रह्मानंद स्वराज्य लहि ॥२५२॥

सुख अनुभव उपरांत तिहिं, तिमि करि द्वैत सँभार । साँस लेय तब पार्थ पुनि, बाहर दृष्टि पसार ॥२५३॥

देव विराजत हैं जहाँ, नतमस्तक तिहिं ओर। पुनि विनवत एहि भाँति ते, करसंपुट कहँ जोर ॥२५४॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे,
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्थ—देव नमहिं तुहि देव सब, प्राणि विविध समुदाय।
कमलासन अज ईश सब, ऋषि दिवि उरग लखाय ॥१५॥

कहि-प्रभु जय जय स्वामि तुम, कीन्ह कृपा अधिकाय। जो यह विश्व स्वरूप कहँ, मम प्राकृतहिं दिखाय ॥२५५॥
सत्यहिं उत्तम किय प्रभो, मम सतोष स्वभाय। सो यह देख्यो जगत सब, प्रभु आश्रित ही आय ॥२५६॥
स्वामी नभ की खोल महँ, ग्रहगन कुल लखि जाँहि। पक्षिजात समुदाय जिमि, गुरुतरु पर दिखराँहि ॥२५७॥
देव गिरिहिं सम्बन्ध जिमि, थलथल श्वपद अरण्य। तैसे इहिं तुव देह मैं, लखि बहु भुवन अगण्य ॥२५८॥
यह शरीर जो आपको, श्रीहरि विश्वस्वरूप। सुरगनयुत सब स्वर्ग को, देखत अहौं अनूप ॥२५९॥
देखहुँ यहाँ अनेक प्रभु, पाँच महा ये भूत। भूत ग्राम अरु सृष्टि सब, इक इक लखि अनुभूत ॥२६०॥
यह विरचि दरसाय, सत्यलोक तुव माँहि प्रभु। तब कैलाश दिखाय, अरु देखिय इहिं ओर जब ॥२६१॥
शिवा सग शिव तुव तनहिं, इक अंशहिं दरसाय। हृषीकेश प्रभु रूप तुव, तुम्हरे माँहि दिखाय ॥२६२॥
कश्यप आदिक ऋषि सकल, पन्नगयुत पाताल। देत दिखाई ये सकल, मधि तुव रूप विशाल ॥२६३॥
अधिक कहा, त्रय लोकपति, इक इक तुव अँग भीत। चित्राकृति चौदह भुवन, जनु लिखि गये सुरीत ॥२६४॥
अरु तहँ जे जे लोक ते, रचना चित्र अनेक। इमि लखि सकल अलौकिकहिं, तुव गांभीर्य विवेक ॥२६५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं,
पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं,
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

अर्थ—उदर नेत्र मुख कर अमित, परित अनंग स्वरूप।
अन्त मध्य नहि आदि तुव, लखि जगेश जगरूप ॥१६॥

दिव्य दृष्टि तिहिं थलहिं जब, लखि चहुँ ओर निहार। तब लखि अंकुर फुटि गगन, तुव भुज दंडहिं भार ॥२६६॥
देव निरन्तर एक तिमि, देखत तुव भुजभार। करत एक ही काल हैं, जग के सब व्यापार ॥२६७॥
उघरत जग भांडार पुनि, आकाशहिं पैसार। उदर आपके देखियत, तैसे भुवन अपार ॥२६८॥
सहस सीस अरु देखियत, कोटिक मुख इक वार। परब्रह्म वपु वृक्ष के जे, फल तुल्य निहार ॥२६९॥
विश्वरूप के माँहि, जहँ तहँ बहु मुख तुव दिखत। नानारँग दरसाँहि, अरु तिहिं ऊपर पंक्ति दृग ॥२७०॥
अधिक कहा भुवि स्वर्ग दिशि अरु पताल आकाश। नासै यह सब भेद तुव, विश्वमूर्ति-मय भास ॥२७१॥
कतहुँ न आप सिवाय इक, परमाणुहिं अवकाश। देखत हू पावै नहीं, इमि व्याप्यो सुख-राश ॥२७२॥
इमि अनेक विधि अगम जो, महाभूत विस्तार। हे अनंत यह आप मय, देखौं सकल अपार ॥२७३॥
कौन थलहिं ते प्रगट इमि, खड़े कि बैठे आप। किहिं माता के गर्भ वसि, किहिं आकृति किहिं माप ॥२७४॥
कहा रूप वय आपको, कहा और तुर पार। ऐसो आश्रय तुव कहा, जो मैं लेहुँ निहार ॥२७५॥
देख्यौ सकल निहार मैं, तुव ठिकान भगवन्त। आप न जनमे काहु ते, आप अनादि अनन्त ॥२७६॥
आप खड़े बैठे नहीं, छोट ऊँच नहि माप। अहो कृष्ण प्रभु आपके, ऊपर नीचे आप ॥२७७॥
आप स्वरूपहु आप जिमि, देव वयस तुव आप। आगे पीछे आपके, देव देव तुम व्याप ॥२७८॥
आपहिं के अनुहारि, आपहि सब कहि अधिक कह। लख्यो अनंत अपारि, वारंवार निहारि मैं ॥२७९॥
इकहि न्यूनता प्रभु लखौं, आप स्वरूप ठिकान। आदि मध्य अवसान जे, तीनों नहीं सुजान ॥२८०॥
शोधन करि इमि सकल थल, पै न पता कहुँ पाय। अतः सत्य तुव रूप में, तीनों नहीं स्वभाय ॥२८१॥
आदि मध्य अरु अन्त बिन, अति अपार विश्वेश। मैं देख्यो तुहिं तत्वतः, विश्वरूप अखिलेश ॥२८२॥

जानि परत इमि अँग सजे, अलंकार बहु रंग । महामूर्ति में प्रगट बहु, पृथक मूर्ति श्री अंग ॥२८३॥
अमित रूप तरु बेलि जो पृथक आप गिरिराज । दिव्य आभरण फूल फल, शोभित अति यदुराज ॥२८४॥
आप महोदधि देव हैं, मूर्ति तरंग दिखाँय । किंवा इक तरु श्रेष्ठ तुम, मूर्ति फूल फल आँय ॥२८५॥
अहो भूत तें भरि धरा, उडुगन जिमि आकाश । आप मूर्ति तिमि मूर्तिमय, लखौं भरी सुखराश ॥२८६॥
एकहि इक अँग प्रान्त में, त्रिजग होयँ बिनसाँय । तुम स्वरूप महँ दीर्घवपु, प्रति रोमहिं दरसाँय ॥२८७॥
कवन कवन इत आप, इमि जग के विस्तार कर । यह देखौं अरिताप तो मम सारथि तुम अहौ ॥२८८॥
इमि तुम व्यापक सर्वदा, लागत मोंहि मुकुन्द । सगुण रूप धरि करि कृपा, हरत भक्त दुख-द्वन्द्व ॥२८९॥
श्याम चतुर्भुज मूर्ति तुव, लखि मन नयन जुड़ाय । आलिंगन यदि देउ तो, मम दुहुँ भुजहिं समाय ॥२९०॥
अकथ मूर्ति इमि करि कृपा, धारहु विश्व-स्वरूप । किंवा दूषित दृष्टि मम, लखि साधारण रूप ॥२९१॥
अब नसि दृग के दोष प्रभु, सहज दिव्य दृग कीन्ह । अतः यथावत रूप लखि महिमा तुव लखि लीन्ह ॥२९२॥
जूआ मकराकार के, पीछे बसि तुम जोइ । विश्वरूप तुम ही धरयो, मैं निश्चय लखि सोइ ॥२९३॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च,
तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्-
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

अर्थ—मुकुट, गदा अरु चक्रयुत, दिप्त तेज की राशि ।
प्रभा अनल रवि दुति अगम, दुर्लभ लखि सविकाशि ॥१७॥

श्री हरि तुव सिर मुकुट यह, सो वह होय न काहिं । पै अचरज अब यह लगत, तेज जासु अधिकाहिं ॥२९४॥
अरु यह ऊपर हाथ महँ, चक्रहिं करि स्वीकार । विश्वमूर्ति नहिं चिन्ह मिटि, उद्यत रहे सँभार ॥२९५॥
सो न गदा यह अपर कर, तल दुहुँ भुजा सशस्त्र । तिनहिं पसार लगाम के हेतु सँभार निरस्त्र ॥२९६॥
विश्वरूप विश्वेश, सह सहि सो धारण किये । समझहुँ सकल अशेष, मोर मनोरथ सिद्धि हित ॥२९७॥

अचरज की नहिं योग्यता पै प्रभु तुव वपु माँहि । यह अचरज तें थकित मम, चित्त नवल यह आँहि ॥२९८॥
ये हैं वा नहिं विश्ववपु, नहिं विचार अवकाश । अँग प्रभा को नवल इमि, चमकत परित प्रकाश ॥२९९॥
इत कृशानु की दृष्टि झँपि, रवि जिमि जुगुनु मलीन । अद्भुत तेजहिं तीव्रता, ऐसे दिखत प्रवीन ॥३००॥
सकल जगत डूब्यो महा,-तेज महोदधि माँहि । वा युगांत महँ नभहिं ढँकि, दामिनि अंचल माँहि ॥३०१॥
या युगांत के तेज की, ज्वाल व्यापि आकास । ऐसो प्रभु को तेज मम, दिव्यहु दृष्टि न भास ॥३०२॥
दाह प्रगटि तन माँहि अति, तीव्र तेज अधिकाय । दिव्य दृष्टि हू त्रास लहि, देखे तें यदुराय ॥३०३॥
काल अनल शिव में छिपी, महाप्रलय भभकारि । सो तृतीय दृग की कली, खुली मनहुँ असुरारि ॥३०४॥
आप प्रकास प्रसार जरि, ज्वालहिं जे पँचभूत । चहत कोयला होन को, ब्रह्म कटाह न कूत ॥३०५॥
नवल लख्यो तनधार, अद्भुत तेजो राशि इमि । नहीं कान्ति को पार, आपरूप की व्याप्ति अरु ॥३०६॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं,
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता,
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अर्थ—ज्ञेयहि तुम अक्षर परम, जग के परम निधान ।
अव्यय ध्रुव रक्षक धरम, पुरुष नित्य मैं मान ॥१८॥

देव अहो अक्षर तुमहिं, परे सार्धत्रय मात । जासु सदन खोजत रहत, श्रुति सदैव दिन रात ॥३०७॥
जो गृह है आकार को, जग इक ठौर निधान । तुम अव्यय तुम गहन हौ, अविनाशी भगवान ॥३०८॥
जीवन धर्म अनादि सिध, तुम हो नित्य नवीन । जानौं पुरुष जगेश तुम, सैंतीसवें प्रवीन ॥३०९॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं,
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अर्थ—शशि रवि दृग, भुजबल अमित, रहित आदि मधि अन्त।
दीप्त अग्निमुख, तपत जग, तुम स्वतेज दरसंत ॥१९॥

आदि मध्य अंतहु रहित, निज सामर्थ्य अनन्त। विश्वबाहु बहुचरण तुम, अति अपार भगवन्त ॥३१०॥
शशधर रवि दृग कौतुकहिं, शांत प्रकोप दिखात। इक शासत तम नैव तुव, इक अमृत बरसात ॥३११॥
इहिं प्रकार मैं लखत हौं, तुम कहँ मैं भगवान। प्रजुलित जिमि चहुँ ओर तें, मुख प्रलयाग्नि समान ॥३१२॥
जिमि गिरि महँ दावाग्नि जरि भभकि ज्वाल भभकार। तैसहि चाटत दाढ़ रद, लोल जीह भयकार ॥३१३॥
अनल उष्णता आप मुख, कांति प्रभा सब अंग। छुभित जगत सब तपत है, पावत नाश प्रसंग ॥३१४॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि,
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं,
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

अर्थ—नभ भुवि अंतर सब दिशा, तुम इक व्याप्त अखंड।
त्रिजग विकल यह निरखि तुव, अद्भुत रूप प्रचंड ॥२०॥

अमर लोक पाताल, अन्तरिच्छ अथवा धरनि। दशहूँ दिशा विशाल, विदिश चक्र जे सब अहैं ॥३१५॥
यह सब तुव इक रूप महँ, कौतुक भरे लखात। नभहू डूब्यो जात यह, आप भयंकर गात ॥३१६॥
अद्भुत रस कल्लोल महँ, चौदह भुवन प्रवेश। इमि सह अचरज रूप तुव, किमि देखौं विश्वेश ॥३१७॥
व्याप्ति असाधारण अगम, नहिं उग्रता सहौंहि। गये दूर सुख प्राणि पर, कष्ट सहित धरि जाँहि ॥३१८॥
समभि न इमि लखि देव तुत भय भराव किमि आय। डूबत तीनहुँ भुवन अब, दुख कल्लोल समाय ॥३१९॥

इमि लखि तुव माहात्म्य किमि भय अरु दुख कहँ पाय। परि अहि सुख नहिं जिहिं गिनौं सोसुहिं परत जनाय ॥
जब तुव रूप न लखत तब, जग कहँ सुख समार। अब देखे तें विषय नसि, उपजत त्रास अपार ॥३२१॥
देखि तथा तुव वपु तुरत, किमि भेंटब बनिजाय। यदि न बनै प्रभु शोक अरु दुखतें किमि रहि जाय ॥३२२॥
अतः नाऊँ पीछे अहै, जनम मरन अनिवार। अरु आगे तुव वपु अगम, सकौं न भेंटि अपार ॥३२३॥
दीन त्रिलोक भुँजाय, इमि दुहुँ संकट बीच पडि। अरु मम निश्चय पाय, दरश हेतु मम हौंस पुरि ॥३२४॥
जिमि जरि आग समुद्र महँ दाह शमन हित जाय। तब कल्लोल तरग जल, तें अतिशय भयखाय ॥३२५॥
जगकर गतिहू तिमि अहै, तुव लखि सब बिलखाय। याके पैले ओर लखि थिति सुरगन समुदाय ॥३२६॥

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति,
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अर्थ—सुरगन तुव महँ प्रविशि यह, इक भीतहिं कर जोर।
सिध महर्षिगन स्वस्ति करि, बहुयश तें नुति तोर ॥२१॥

सकल कर्म के बीज जरि, तेज आपके अंग। सद्भावहिं सहजहिं मिलत, आप माँहि श्रीरंग ॥३२७॥
इक सहजहिं भयभीत अरु, तुव सन्मुख धरि सर्व। दुहुँ कर जोरे करत हैं, आप विनय तजि गर्व ॥३२८॥
देव अज्ञता सिन्धु परि, विषयजाल महँ जाय। स्वर्ग जगत दुहुँ भाग के, बीच चपेटहिं पाय ॥३२९॥
संकट कौन छुड़ाय सकि प्रभु इमि तुमहिं सिवाय। अतः देव सब भाव तें तुव शरणागत आय ॥३३०॥
अथवा सिद्ध महर्षि अरु, विद्याधर समुदाय। स्वस्तिवाद तुव कहि रहे, वरनन नुति अधिकाय ॥३३१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या,
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा,
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

अर्थ—भव, रवि, वसु, सिध, साध्य, गण, अश्विनि अरु गन्धर्व ।
मरुत, पित, दनु, यक्ष सँघ, विस्मित लखि तुव सर्व ॥२२॥

साध्य, सूर्य अरु रुद्र वसु, द्वै अश्विनीकुमार । विश्वेदेव, समीर सब, विस्मत विभव निहार ॥३३२॥
देव महेन्द्र प्रधान, यक्ष रक्ष गन्धर्व गन । तैसहिं पितर सुजान, अथवा सिद्धादिक सकल ॥३३३॥
यह सब अति उत्कंठितहि, अपने अपने लोक । महामूर्ति जो विश्ववपु, याहि रहे अवलोक ॥३३४॥
देखत देखत प्रतिक्षणहिं, विस्मित ह्वै हिय माँहि । निज मुकुटहिं ते जगतपति, तुव आरती कराँहि ॥३३५॥
कलरव जय जय घोष तें, सब स्वर्गहिं गुंजारि । हाथ जोर कर धरत हैं, निज मस्तक् वरे भारि ॥३३६॥
सात्विक भाव वसंत लहि, विनय वृक्ष उद्यान । अतः युगल कर पल्लवहिं, आप प्राप्ति फल जान ॥३३७॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं,
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं,
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

अर्थ—अमित वदन दृग जंघ भुज, उदर दाढ़ विकराल ।
विकल लोक तिमि मैं निरखि, प्रभु तुव रूप विशाल ॥२३॥

उदय नयन सौभाग्य प्रभु, मन सुख लह्यो सुकाल । जो अगाध लखि तुव इहै, विश्व स्वरूप विशाल ॥३३८॥
जगत्रय व्यापक रूप यह, लखि देवहु बौराँय । चहै लखिय जिहिं ओर तें, परि सम्मुखहिं दिखाँय ॥३३९॥
अतिभय दायक वक्त्र परि, इमि एक ही विचित्र । बहु लोचन यह शस्त्रयुत, भुज अनन्त सर्वत्र ॥३४०॥
सुन्दर कर पद अमित बहु, उदर और बहुरंग । किमि प्रतिमुख उन्मत्तता, प्रभु आवेश प्रसंग ॥३४१॥
जिमि होलिका जराय, जहाँ तहाँ प्रलयाग्नि की । तम स्वभाय हिय लाय, महाकल्प के अन्त जिमि ॥३४२॥

संहारक शिवयन्त्र वा, भैरवक्षेत्र युगांत । आयी नाशक भूत सब, शक्ति पात्र कल्पान्त ॥३४३॥
जहँ तहँ प्रभु तुववदन तिमि, अति प्रचंड दरसाय । दसन भयंकर दिसत तिमि, सिंह न गुहा समाय ॥३४४॥
निकरहिं मुदित पिशाच जिमि काल रात्रि अँधियार । प्रलय रुधिर लिपि दाढ़ तुव तिमि तुव वदन मँझार ॥३४५॥
काल निमन्त्रण हेतु रण, अथवा सब संहार । तुव मुख तिमि अति भीतिप्रद, अधिक कहा विस्तार ॥३४६॥
यह वपुरी जग सृष्टि कहँ, किंचित लेहु निहार । अरु दुख वपु यमुना तटहिं, अहैं वृक्ष अनुहार ॥३४७॥
आयु तरनि यह त्रिजग तुव, महामृत्यु के सिंधु । हिलत लहर वपु शोक जो, महावात संबन्धु ॥३४८॥
इहिं इमि यदि करि कोप कहि, तुम कदाच श्रीनाथ । तुम भोगहु यह ध्यान सुख, कहा लोक तें साथ ॥३४९॥
आड़ वृथा करि जगत सब, जो मैं बोलत बात । सत्य कहत तो कँपत मम, प्राणसहित सब गात ॥३५०॥
अपभय मृत्यु लुकाय, जीत्यो रुद्र युगान्त में । अन्तर बाह्य कँपाय, ऐसी थिति तुम कीन्ह मम ॥३५१॥
नवल महामारी अहै, विश्वरूप यदि नाम । रूप भयंकरता निरखि, भय हार्यो परिनाम ॥३५२॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा,
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

अर्थ—गगन परसि रंग विविध दिप, बड़ दृग मुख विस्तार ।
तुहि लखि अन्तर विकल मम, शान्ति न धीर उदार ॥२४॥

जीति महाकालहिं हठहिं, इमि बहु मुख विस्तार । इन आपुनी महानतहिं, लघु आकाश विचार ॥३५३॥
दीरघ नयन समाय नभ, त्रिजग न पवन ढँकात । जासु बाक जरि अग्नि किमि, भड़कत दरसत तात ॥३५४॥
औ नानरँग भेद हैं, नहिं इक एक समान । प्रलयकाल की अग्नि जनु, देत सहाय सुजान ॥३५५॥
जाकर अँगहिं तेज इमि, भस्म करै त्रयलोक । अरु बहु मुख तहँ दाँत अरु, दाढ़हु भयद विलोक ॥३५६॥
कह समीर धनु बात चढ़ि, महापूर पड़ि सिन्धु । वा विषाग्नि बड़वानलहिं, मारन प्रभृति प्रबन्धु ॥३५७॥

नवल मृत्यु मारन प्रवृति, जनु विष पियो कृशानु। उपज तेज संहार के, आनन निरखि महानु ॥३५८॥
कितनहि दीर्घ विशाल जनु, टूटि मध्य आकाश। खिसल पडै चहुँ ओर नभ अमित भयंपर वास ॥३५९॥
कांखहि दवि भुवि वा चलै, हिरण्याक्ष बिल माँहि। शंभु उघार्यो कुहरपथ, जो पाताल समाँहि ॥३६०॥
जीहन बिच आवेश अति, तिमि मुखकेर विकाश। विश्व न पूरत कौर इक, अतः कौतुकहिं भास ॥३६१॥
गरल ज्वाल पाताल तें, उरग नभहिं फुत्कार। पसरि वदन तिमि वपु गुहा, मध्य जीह भयकार ॥३६२॥
दामिनि सघ युगान्त जिमि, करि नभ किला सिंगार। होंठ बाहिरे निकरि तिमि तीछन दाढ़ निहार ॥३६३॥
अरु ललाट पट खोल किमि, भय को भय उपजाय। महामृत्यु अँधियार के, लहरहिं रहे छिपाय ॥३६४॥
ऐसहि भयद स्वरूप तें, कहा विचार्यो काज। जान परत नहिं कछुक परि, लगत मरण भय साज ॥३६५॥
देखन चाहो विश्ववपु, जो पूरी मम आश। सो अब लोचन देखि कै, भये शान्त सुखराश ॥३६६॥
अहह देह पार्थिव सकल, कौन भीति या माँहि। पै अब मम चैतन्यहू, रहै कदाचित नाँहि ॥३६७॥
इमि मम काँपत अंग सब, मनहु पावत ताप। किंवा बुद्धिहु भीति लहि, बिसरि गयो सब दाप ॥३६८॥
केवल आनँद इक कला, परे इन्द्रियन जोय। निश्चय अन्तर आत्म मम, काँप उठयो है सोय ॥३६९॥
साक्षात्कार प्रताप, ज्ञान अवधि करि पार किमि। रही कठिनता व्याप, गुरू शिष्य संबध यह ॥३७०॥
आप दरस तें मम हिये, प्रभु व्याकुलता आय। ताहि सँभारत धैर्य तें, करहुँ उपाय बनाय ॥३७१॥
धीरज सुनत छिपाय जनु, दर्शन विश्व स्वरूप। पायो, पै उपदेश भल, उरझायो सुर भूप ॥३७२॥
चहूँ ओर धावत फिरत, जीव हेतु विश्राम। ठौर न पावत पै कहूँ, भटकत पुनि परिणाम ॥३७३॥
नसत चराचर जीव इमि, भयद विश्व को वेष। जो जनि कहौं तो का करौं, कैसे रहौं जगेश ॥३७४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अर्थ—अग्नि कृतान्त समान लखि, तुव मुख दाढ़ कराल।
दिशा न जान न सुख लहौं, प्रभु करु कृपा विशाल ॥२५॥

जिमि फुटि भय प्रद पात्र पर, सन्मुख दृष्टि अखण्ड। अति विस्तृत दरसात तिमि, तुव मुख परम प्रचण्ड ॥३७५॥
दांतहु दाढ़हु भीड़ बहु, ढँकत न ओठन माँहि। प्रलय शस्त्र चहुँ ओर जनु, बाड़ी सम लग जाँहि ॥३७६॥
आग्नेयास्त्र चिताय, जिमि कृतान्त की अग्नि में। तत्तक विष भरि जाय, काल रात्रि में भूत चढ़ि ॥३७७॥
आनन निरखि प्रचण्ड तिमि, बाहर कढ़ि आवेश। मृत्युरूप जलधार जनु, हम पर पड़त विशेष ॥३७८॥
अरु प्रलयाग्नि युगान्त की, संहारणी समीर। यदि दोनों मिल जायँ तो, का न जरैं बलवीर ॥३७९॥
औ' संहारक मुख निरखि, मेरो धीर छुड़ात। दिशि न विलोकत भ्रमवशहिं, निज कहँ भूलत तात ॥३८०॥
सुख को परयो अकाल लखि, किंचित विश्वस्वरूप। वेगि समेटु समेटु अब, यह अपार निजरूप ॥३८१॥
अतः जान यदि इमि करहु, तौ किमि पूछत बात। प्रलय रूप तें बार इक, प्राण बचावहु तात ॥३८२॥
यदि तुम मेरे स्वामि प्रभु, तो मम प्राण बचाव। यह विस्तार समेटिये, महा भयंकर ताव ॥३८३॥
जग बसाय चैतन्य निज, सकल देव पर देव। सो उलटे बिमराय अब, संहारत इदमेव ॥३८४॥
अतः वेगि संतोषि प्रभु, हरि हरि माया आप। काढ़ि महाभय तें जनहिं, हरहु सकल संताप ॥३८५॥
विनवौं बारंबार, अतः उतहिं अकुलाय अति। ऐसो मैं असुरार, विश्वमूर्ति सों भय लह्यो ॥३८६॥
धावहु अमरावति भयो, जीत्यो तहाँ अकेलि। जो मैं भीति न धरत हौं, कालहुँ के मुख मेलि ॥३८७॥
नहीं देव वह बात यह, मृत्यु हीनता पाय। सकल विश्व कहँ मम सहित, चाहत घूंट भराय ॥३८८॥
नहिं युगान्त को समय किमि मध्याहि तुम बनि काल। बपुरो त्रिभुवन गोल भय अल्प आयु दुख जाल ॥३८९॥
अहह दैव विपरीत गति, विघ्न शांति की चाह। हाय अरे, यह विश्व नसि, ग्रसन चहत सुरनाह ॥३९०॥
देखत नहिं प्रत्यच्छ मैं, की बहु वदन पसार। चहूँ ओर भच्छण करत, यह सब सेना भार ॥३९१॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः,
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ,
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अर्थ—यह प्रभु सब धृतराष्ट्र सुत, सब भूपति समुदाय ।
भीष्म द्रोण तिमि कर्ण सह, मम प्रधान रण राय ॥२६॥

सुवन अंध धृतराष्ट्र के, अरु कौरव कुल वीर । गये गये परिवार सह, तुव आननहिं गभीर ॥३६२॥
सकल देश के नृपति इन, आये करन सहाय । तिनहिं कहौं का इमि सकल, तुव मुख रहे समाय ॥३६३॥
घट घट पीवत जात तुम, कुंजर के समुदाय । समर साज जे हैं सकल, तिनहिं रहे वश लाय ॥३६४॥
पैदल जन समुदाय, घातक गोला गोलिका । सो सब जात विलाय, तुव आननहिं प्रवेश करि ॥३६५॥
काल मुखहिं समशस्त्र जे,इक सकि जगहिं नशाय। कोटि कोटि तिहिं सम सकल,लीलहिं लीलत जाय ॥३६६॥
गज हय रथ पैदल सकल, अरु रथ साजे जोर । दांत न लागत गट करत, प्रभु किमि तोषन तोर ॥३६७॥
अहहि भीष्म सम कौन प्रभु, सत्य शौर्य धीमान । सो अरु ब्राह्मण द्रोण गुरु, कटकट ग्रसहु महान ॥३६८॥
अहह सूर्य सुत इत गयो, गयो कर्ण वह वीर । अरु हमार अड़चन सकल, नाश गई बलवीर ॥३६६॥
यह प्रसाद कैसो भयो, अहह विधाता काह । विश्व मरन कारन भई, मम विनती अनचाह ॥४००॥
निज विभूति कहि विविध विधि,प्रभु प्रथमहिं मुहिं पाँहि । मै पुनि पूछ्यो हठ सहित,तिमि थिति सन्मुख नाँहि ॥
अतः भोग्य नहिं हरत सत अरु बुधि तिहिंसम होय । मम कपाल जग मरनको किमि कलंक मिटि सोय ॥४०२॥
सिंधु मथत अमृत लह्यो, पूर्व न तोषे देव । कालकूट पुनि उठ तबहिं, जैसे तैसहिं एव ॥४०३॥
जोग अहै प्रतिकार, एक दृष्टि तें अल्प सो । शंभु कियो निस्तार, तिहिं अवसर तिहिं कष्ट तें ॥४०४॥
नभ भरि विष यह लीलि को, जरत समेटि कृशानु । महाकाल तें खेल करि, किहिं सामर्थ्य महानु ॥४०५॥
ऐसहि अर्जुन दुखित मन, सोचत मन दुख भीर । पै प्रभुके तात्पर्य नहिं, समुझि सक्यो मतिधीर ॥४०६॥
कौरव यह मरि मार मैं, इमि बहु मोह प्रसाय । तासु नाश हित विश्व वपु, प्रभु आपुन दरसाय ॥४०७॥
कोई मार न काहु यह, सब मम कृत संहार । विश्वस्वरूप दिखाय हरि, प्रगट कियो निरधार ॥४०८॥

समुझि न अर्जुन अरु वृथा, व्याकुलता चित लाय। पुनि ह्वै के भयभीत अति, कंप बढ़ावत जाय ॥४०६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति,
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु,
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अर्थ—कितनहिं द्रुत प्रविशहिं वदन, भयप्रद दंष्ट्रकराल।
बहु रद मधि लगि लखि परत, चूर्णित शीश विशाल ॥२७॥

सहित कवच असि सैन्य दुहुँ तबकहि लखि इक बेर। गये मुखहिं जिमि गगन महुँ अभ्र विलात न देर ॥४१०॥
किं बहु महा युगान्त महँ, जैसे कोप कृतान्त। सृष्टि बीस इक स्वर्ग अरु, सह पाताल विलात ॥४११॥
किं बहु विधि प्रतिकूलता, संचित विभव विलास। आप स्वभावहिं आपुनो, जहँ तहँ पावत नास ॥४१२॥
इहिं मुख प्रविशी जात इमि, जमी सैन्य इकबार। पै न छूटि इक मुखहिं लखि कैसे कर्म अपार ॥४१३॥
जावै ऊँट चबाय, जिमि अशोक के पत्र को। तुव मुख माँहि समाय, वृथा प्रविशि तिमि लोक सब ॥४१४॥
सहित मुकुट सिर, दाढ़ के, चिमटे में पड़ि जॉय। कैसे चूरन होत सब, देख परत यदुराय ॥४१५॥
दांतहु मधि लगि मुकुट मनि, चूरन जीह अधार। दाढ़ अग्र महँ लगि रह्यो, कहुँ कहुँ चूरण भार ॥४१६॥
कालहिं वपु जनु विश्ववपु, जग तन बल कहँ ग्रास। केवल राखहु कहन को, देह जीव करि नास ॥४१७॥
उत्तम अंग शरीर तिमि, मस्तक जान विशेष। महाकाल मुख यदि गये, अतः बचायो शेष ॥४१८॥
अपर मार्ग नहिं प्राणि कहँ कहि पुनि जन्महिं पाय। वदन गुहा में आपही सब जग प्रविशहि आय ॥४१९॥
सब जग लागत वदन के प्रथमहिं आपहिं आप। अरु यह लीलत जात सब जिमि कै तिमि चुपचाप ॥४२०॥
सकल देव ब्रह्मादि जे, श्रेष्ठ मुखहिं प्रविशॉय। अरु साधारण जीवहूँ, तिन मुख माँहि समाँय ॥४२१॥
जे जहँ उपजत प्राणिगण, तहँहि ग्रसित ह्वै जात। पै इनके निश्चय मुखहिं, छूटत कछुक न तात ॥४२२॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा,
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

अर्थ—जिमि बहु सरित प्रवाह जल, जाइ समुद्र समाँय ।
तिमि यह जग नरवीर तुव, प्रजुलित मुख प्रविशाँय ॥२८॥

जिमि वर सहित प्रवाह सहजहि जात समुद्र महँ । प्रविशत तुव मुख माँह तिमि सब जग चहुँओर तें ॥४२३॥
दिवस रैन सीढ़ी पथहिं, आयु प्राणि समुदाय । तुरतहिं तुव मुख जान हित, साधन करत बनाय ॥४२४॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा ।
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

अर्थ—जिमि अति वेगहिं पतँग परि, जरत दीप हित नाश ।
तिमि बहु वेगहिं जग प्रविशि, तुव मुख हेतु विनाश ॥२९॥

जिमि गिरिवर की खोह महँ, कूदत पड़त पतंग । सकल लोक तिमि देखिये, तुव मुख परन प्रसंग ॥४२५॥
जो प्रविशत इहिं वदन महँ, नाम रूप विनसाय । तप्त लोह महँ जल परत, जिमि तुरतहिं जल जाय ॥४२६॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं,
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

अर्थ—ज्वलित परित मुख ग्रसि जगत, चाटत रसना आप।
उग्र तेज प्रभु व्यापि सब, जग परिपूरित ताप ॥३०॥

अरु इतनो भोजन करत, भूख न्यूनता नाँहि। असामान्य जठराग्नि किमि, उदय भई तुव माँहि ॥४२७॥
ज्यों रोगी ज्वररहित वा, पाय भिखारि दुकाल। खाँध खाँध करि जाहि तें, चाटत ओंठ विशाल ॥४२८॥
इहिं मुख पास न तिमि बची, नाम वस्तु आहार। महिमा भोजन भूखपन, किमि कहि पाऊँ पार ॥४२९॥
किमि समुद्र को घूँट भरि, पर्वत कौर कराय। ब्रह्म कटाहहिं मेलि मुख, डारहिं दाढ़ चबाय ॥४३०॥
उत्कठा किंवा उठी, इमि सर्वथा जनाव। सब दिशि लीलहु चाँदनी, चाटहु चट तुम चाव ॥४३१॥
उठी भूख भभकाय, खात खात तिमि आप मुख। दारु अग्नि भड़काय, वा भोगे जिमि काम बढ़ि ॥४३२॥
जीहा नोंक न त्रिजग पुरि, इक मुख कित विस्तार। मानहु जिमि वड़वानलहिं, देय कपित्थहिं डार ॥४३३॥
अब इतने त्रिभुवन कहाँ, जितने वदन अपार। कहहु बढ़ाये अधिक किमि, जो न मिलत आहार ॥४३४॥
अहह जगत बपुरो लपटि, आनन ज्वाला आप। जैसे मृग घिरि जाय पड़ि, दावानल के ताप ॥४३५॥
अब तिमि जगको हाल यह, देव न कर्म स्वरूप। जग जलचर हित परस अनु, काल जाल दुखरूप ॥४३६॥
सचर अचर कढ़ि मार्ग किहिं, अंग तेज वपु जाल। अब यह मुख नहिं जगत हित, लाक्षागेह विशाल ॥४३७॥
दाहकतामय दाह किमि, जानत नहीं कृशानु। पै जिहिं लागत प्राणतिहिं, बचत नहीं मतिमान ॥४३८॥
शस्त्र न जानत किमि मरहिं, मेरी तीक्ष्ण धार। वा विष जिमि जानत नहीं, निज कहँ मारनहार ॥४३९॥
उग्रपना तिमि तुमहिं निज, जानि परत कछु नाँहि। पै इहिं ओरहिं तुव मुखहि, सब जग जाय नसाँहि ॥४४०॥
अस आतम तुम एक, सकल जगत व्यापक अहो। प्राण भये करि टेक, मम नासक तिमि आप किमि ॥४४१॥
जीवन आशा मैं तजौं, आप संकोच न धारु। कहहु सुखेनहि प्रगट करि, जो मन होय विचारु ॥४४२॥
आप बढ़ावत उग्रपन, कितनो अहै न पार। निज भगवतपन सोच, करि, मम पर कृपा उदार ॥४४३॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो,
नमोऽस्तुते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं,
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।

अर्थ—नमो देववर करि कृपा, कहु को उग्र स्वरूप ।
आदि आप जानन चहौं, हेतु अगम्य अनूप ॥३१॥

आदि त्रिलोकहिं एक प्रभु, वेद वेद्य इकवार । मम विनती सुन लीजिये, भावबंध संसार ॥४४४॥
इहिं विधि अर्जुन विनय करि, प्रभु पद महँ सिरधार । पुनि कहि सर्वेश्वर सुनहु मम विनती चितधार ॥४४५॥
समाधान हित बूझि मैं, विश्वरूप को ध्यान । अरु तुम एकहि काल में, लीलि त्रिलोक महान ॥४४६॥
आप कौन इतने विविध, वदन भयकर धार । धारन कीन्हें सब भुजनि, अस्त्र शस्त्र परिवार ॥४४७॥
गगन न्यूनता देत बढ़ि, जब तब तुम प्रभु कोऽपि । नेत्र भयंकर कर हमहिं, करत भीतिवश सोऽपि ॥४४८॥
कैसहु समता करत प्रभु, आप कृतान्त समान । अभिप्राय निज कहहु तुम, मोतें श्री भगवान ॥४४९॥
यह सुनि कहत अनंत, कौन अहौं मैं प्रश्न तुव । अरु किमि बढ़त न अंत, उग्र रूप इमि धारि कर ॥४५०॥

श्रीभगवानुवाच

कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो,
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे,
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

अर्थ—क्षयकर बढ़ि जग काल मैं, प्रवृत्त जगत संहार ।
उभय सैन्य थित वीर ये, मरि सब तुमहिं निवार ॥३२॥

काल यथार्थहिं मैं अहौं, बढ़ि हित जग संहार । वदन पसार्यो परत अब, ग्रसौं सकल संसार ॥४५१॥
अहह अरे तहँ पार्थ कहि, पूर्व कष्ट तें हार । कियो विनय तब अब प्रगटि, यह अतिकष्ट अपार ॥४५२॥

कठिन बात सुनि पार्थ कहँ, होय निराशा खिन्न। अतः कृष्ण कहि पार्थ कों, अहै बात इक भिन्न ॥४५३॥
सकल पांडवहु नाहि रे, इहि संकट संहार। जात जात ही तब कहूँ, प्राण बचे धनुधार ॥४५४॥
कछु सतर्क ह्वै देय चित, पुनि सुनि प्रभु के बैन। मरन महामारी लही, तिहिं खोये लहि चैन ॥४५५॥
कृष्ण कहत इमि पार्थ तुव, मेरे अहो सुजान। तुम सिवाय यह सब जगत, ग्रसहुँ प्रगट यह जान ॥४५६॥
अग्नि प्रचंड युगान्त जिमि, गोली धरि नवनीत। तिमि जग यह मम मुख परी तुम निरख्यो भयभीत ॥४५७॥
अर्जुन अब इहि बात महँ, कछु सशय जनि जान। वृथा जल्पना कर रही, यह सब सैन्य महान ॥४५८॥
चढ़ि करि मद अभिमान, इमि सेना चतुरंग सब। सुस्पर्धा अनजान, महाकाल तें करत हैं ॥४५९॥
कहत सृष्टि प्रति सृष्टि कर, पैजहिं मृत्युहिं मार। और घूट भर लेयँ हम, यह सब जो संसार ॥४६०॥
ऊपर ऊपर जारि नभ, सब पृथिवी कहँ लील। कि वा जर्जर पवन करि, शर समूह कहँ भील ॥४६१॥
शूरवृत्ति बल जल्पहीं, यह जो मिलि समुदाय। जिनके कुंजर सैन्य की, होत प्रशंसा गाय ॥४६२॥
शस्त्रहु ते तीखे वचन, दाहक अधिक कृशानु। कालकूट कहँ मधुर कहि, मारक पनहि सुजानु ॥४६३॥
चिन्ह बगर गधर्व यह, गोला जान असार। किंवा मूरति चित्र की, देखहु बीर अपार ॥४६४॥
साँप बसन बनि सैन्य नहिं, वा नहिं मृगजल पूर। वा ठाढ़ी कर पूतरी, करि सिंगार भव पूर ॥४६५॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव,
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अर्थ—तातें तुम उठि लहहु यश, भोगु राज रिपु जीति।
पार्थ हने मैं पूर्व सब, लहहु निमित्त-प्रतीति ॥३३॥

ग्रसित सकल बल मैं प्रथम, जातें चेष्टा होय। अब कुम्हार की पूतरी, इव निर्जीवहि जोय ॥४६६॥
सूत्राधार हलावतहिं, जो डोरी टुटि जाय। तो पुतरी सब गिर परहिं, उलटी पुलटी जाय ॥४६७॥

ये सेना आकार, नासत बेर न लगहि तिमि। उठहु वेगि ललकार, तातें तत्पर होय करि ॥४६८॥
अवसर गौ के ग्रहण तुम, मोहनास्त्र इक मार। नृप विराट सुत भीर अति, उत्तर वसन उतार ॥४६९॥
अब ये तातें हीन हैं, सेना अहै विचार। इकले अर्जुन जीति रिपु, पावहु सुजस अपार ॥४७०॥
अरु यह यश कोरो नहीं, आवै राज्य समग्र। सव्य साचि, तुम होउ अब, एक निमत्त उदग्र ॥४७१॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च,
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा,
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

अर्थ—द्रोणहु भीष्महु जयद्रथहु, कर्ण अन्य बलवीर।
मैं हति तिहिं हनि दुःख तजि, रण करु रिपुजित धीर ॥३४॥

चिन्ता करहु न द्रोण की, भीष्म भीति जनि धार। शस्त्र धरौं किमि कर्ण पर, यह न कहहु धनुधार ॥४७२॥
किहि उपाय हति जयद्रथहिं, सह नामांकित वीर। जे जे हैं बहु सैन्य महँ, चिन्तहु चित्त न धीर ॥४७३॥
इकहिं एक सब चित्र के, सिंह लिखे सम मान। गीले हाथ न पोंछि जिमि, चिन्ह न रहै निदान ॥४७४॥
अर्जुन तब इहि युद्ध जमि, कहा कथा इन वीर। सबहिं विदित यह इन सबहिं,ग्रस लीन्हों में धीर ॥४७५॥
जब तुम लखि मम वदन पड़ि, तब इनकी गत आयु। अब यह रीते रह गये, जैसे तुष समुदाय ॥४७६॥
अतः वेगि उठि जाउ, मैं, मार्यो तिन कहँ मान। मिथ्या संकट शोक महँ, पड़हु नहीं मतिमान ॥४७७॥
आपहिं कीजे चिन्ह जिमि, कौतुक बोधिय ताहि। बन निमित्त तुम केवलहि, देखहु मन हरषाहि ॥४७८॥
परे बाघ के हात, शत्रु तुम्हारे उपजतहिं। अब उपभोगहु तात, राज्य सहित निर्मल सुयश ॥४७९॥
जो स्वभाव उन्मत्त जग, दुष्ट और बलवान। विपद तिनहिं हम वध कियो, श्रम विन हे मतिमान ॥४८०॥
ऐसहि यह सब बात लिखि, जगत वचन पट माँहि। विजयी ह्वै संसार महँ, अर्जुन संशय नाँहि ॥४८१॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं,
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्थ—इमि सुनि केशव वचन कँपि, हाथ जोर कर पार्थ ।
गद्गद वच भय वश नमत, पुनि पुनि हरिहिं यथार्थ ॥३५॥

सकल कथा यह इमि कही, संजय प्रति कुरु राय । जासु मनोरथ विफल सब, ज्ञानदेव समुझाय ॥४८२॥
मत भुवनहिं तें गंगजल, छूटत शब्द कराल । तिमि निज वचन विशाल तें, भाषत कृष्ण कृपाल ॥४८३॥
अभ्र समूह महान मिलि, घड़ घड़ शब्द कराय । मंथन मंदर अचल जिमि, छीर सिंधु घहराय ॥४८४॥
कृष्ण जगत के मूल हैं, जासु अनंत स्वरूप । महानाद गभीर तिमि, बोलत वचन अनूप ॥४८५॥
दुगन लह्यो सुख वा दुखहिं, किंचित सुनि के पार्थ । कँपन लगे सब गात तस, जानि न पर्यो यथार्थ ॥४८६॥
कर संपुट तिमि जोरि अरु, अधिक नम्रतहिं धार । धरत शीश निज प्रभु चरण, शरणहिं वारंवार ॥४८७॥
यह विचारि मतिमान, यह सुख किंवा भय अहै । कंठ भर्यो तब जान, जब अर्जुन कछु कहन चह ॥४८८॥
देव वचन सुनि तब भयो, इमि यह अर्जुन वीर । अरु लखि पद सुरलोक महँ, मैं वरनत मतिधीर ॥४८९॥
डरत डरत तिमि पुनि धरत, प्रभुचरणन पर शीष । पुनि कहि प्रभु निज वचन तें, इमि भाषत-'जगदीश ॥४९०॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्थ—उचित मुदित जग प्रेम करि, तव सुजसहिं गावन्त।

दानव दिशि धावत समय, सब सिध संघ नमन्त ॥३६॥

'किंवा अर्जुन काल मैं, अरु ग्रसिबो मम खेल।' यह सब तुम्हरो कथन में, मानहुँ सत्य अपेल ॥४६१॥
आजहु पालन के समय, जो तुम करि सहार। पै प्रभु जो तुम काल हो, जमत न हृदय विचार ॥४६२॥
यौवन तन कैसे कढ़े, किमि वृद्धापन आय। अतः आप जो करन चह, अघटित घटित जनाय ॥४६३॥
चार पहर पूरे बिना, कौनहु समय अनन्त। सूर्य कबहु मध्यान्ह महँ, हो कि अस्त भगवन्त ॥४६४॥
आप अखण्डित काल पै, समय तासु के तीन। अपने अपने समय महँ, होवहिं सकल प्रवीन ॥४६५॥
उत्पति लागत होन जब, तब थिति प्रलय लुपाय। उत्पति प्रलय न रहत पुनि, थिति को अवसर पाय ॥४६६॥
अवसर पाय युगान्त को, उत्पति थिति विनशाय। टारे टरत न काहु के, इमि अनादि सुरराय ॥४६७॥
अतः आज भरि भोग थिति यह वर्तत जग माँहि। तिहिं प्रभु तुम ग्रासन चहत यह मम रुचिकर नाँहि ॥४६८॥
इहिं दुहुँ दल की आयु नसि, कहत देव सकेतु। दरसायो प्रत्यक्ष तुहिं, यथाकाल इहिं हेतु ॥४६९॥
कहत न लागी बेर, जब अनंत संकेत यह। तब अर्जुन पुनि हेर, उभय सैन्य की थिति यथा ॥५००॥
अर्जुन कह पुनि देव तुम, सब जग सूत्राधार। पहुँच गयो निज पूर्व थिति महँ यह सब संसार ॥५०१॥
दुख समुद्र पडि कै प्रभो, आप लगावत पार। श्रीहरि सुमिरत कीर्ति तुव, जो अति अगम अपार ॥५०२॥
आनँद सुख भोगत परम, कीर्ति सुमिरि बहु बार। हर्षामृत कल्लोल महँ, लोटत करत बिहार ॥५०३॥
जीवन लहि जग प्रीति धरि, तुव ऊपर श्रीरंग। अधिकाधिक अरु दुष्ट जे, तिन्हहिं करत तुम भंग ॥५०४॥
कृष्ण प्रभो परि त्रिजग के, दनु अतिभय कहँ पाँय। अतः आपके पास तें, दस दिशि दूर पराँय ॥५०५॥
सुरनर किंनर सिद्ध चर, अचर न बहु कहि जाँय। ते प्रभु लखि युत हर्ष इमि, विनती करहि अघाँय ॥५०६॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनंत देवेश जगन्निवास,
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत ॥३७॥

अर्थ—अक्षर तुम सत् असत् पर, जगत निवास अनंत।
देवेश्वर प्रभु ब्रह्म पितु, किमि न नमहिं भगवंत ॥३७॥

श्री नारायण हेतु कह, दानव चरन न टेक। देखि पलायन करत सब, यह अति ही अविवेक ॥५०७॥
अरु यह प्रभु तें प्रश्न कह, यह तो हमहूँ जान। सूर्य उदय तें किमि रहे, अँधियारो अज्ञान ॥५०८॥
स्वप्रकाश आगार, भये दृष्टिगोचर हमहिं। सहज होंय ते छार, अतः निशाचर रूप तम ॥५०९॥
अब लगि कछु जान्यो नहीं, यह रहस्य श्रीराम। यह महिमा गंभीर तुव अब निरख्यो सुखधाम ॥५१०॥
जग समूह बहु पसर जहँ, प्राणि नगर वपु खेल। सो माया प्रगटात है, प्रभु इच्छा के खेल ॥५११॥
सदा तत्त्व निःसीम प्रभु, गुण निःसीम अनंत। सदा अमित मम दृष्टि प्रभु, तुम नरेन्द्र भगवंत ॥५१२॥
अक्षर तुम कल्याणप्रद, प्रभु जीवन त्रय लोक। सदा असत सत देव तुम, सब तें परे अशोक ॥५१३॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम,
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

अर्थ—यह जग लय थल आदि प्रभु, आपहि पुरुष पुरान।
ज्ञाता ज्ञेय रु परमपद, वपु अनन्त जग जान ॥३८॥

आप अवधि माया अहो, पुरुष प्रकृति के आदि। पुरुष पुरातन तुम स्वयं, आपहि अहहु अनादि ॥५१४॥
सब जग जीवन जीव के, आपहि अहौ निधान। अरु प्रभु तुम्हरे हाथ में, भूत भविष्यत जान ॥५१५॥
निज सुख रूप अभिन्न तुम, अरु प्रभु श्रुति के नैन। त्रिभुवनन के आधार के, आश्रय करुणा ऐन ॥५१६॥

कहत आपको परम प्रभु, आश्रय कमलाकांत। आपहि में लय होत है, महत्तत्व कल्पान्त ॥५१७॥
अधिक कहा प्रभु आप करि, सब जग को विस्तार। आप अनंत स्वरूप को, को कहँ पावहिं पार ॥५१८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः,
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः,
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

अर्थ—अनिल, अनल, यम, वरुण, शशि, कश्यप, अज तुम तात।
नमहुँ आप कहँ नमहुँ पुनि, वार सहस्र सुहात ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं,
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अर्थ—अमित वीर्य विक्रम अमित, व्यापक सर्व स्वरूप।
नमहुँ तुमहि सब ओर तें, सर्वत सर्व अनूप ॥४०॥

कहावस्तु जहँ तुम न प्रभु अहहु न कौन ठिकान। अधिक कहा तुम जिमि अहौ तिमि मैं नमत निदान ॥५१९॥
शासन कर्ता आप यम, आप समीर अनंत। बसति प्राणिगण माँहि जो, सो कृशानु भगवंत ॥५२०॥
आपहिं अज कर्ता जगत, वरुण सुधाकर आप। विधिहू के हो आदि पितु, प्रभु तुम परम प्रताप ॥५२१॥
जगन्नाथ अरु जो सकल, निराकार साकार। तैसहिं तुमहिं प्रणाम है, प्रभु मम वारंवार ॥५२२॥
सहित प्रेम चित नमन करि, ऐसहि पांडुकुमार। बहुरि कहत प्रभु मम अहै, नमस्कार बहुवार ॥५२३॥
श्री प्रभुमूर्ति सुरीति वर, तव साद्यन्तहिं देखि। नमो नमो कहि हे प्रभो, पुनि पुनि नमो विशेखि ॥५२४॥

निरखि निरखि अँग प्रान्त लहि, समाधान चित माँहि । अरु नंतर कहि हे प्रभो, नमो नमो तुम पाँहि ॥५२५॥

सचर अचर सब भूत लखि, सर्वत रूप ठिकान । अरु नंतर हे प्रभु, नमन, नमन बखान बखान ॥५२६॥

ऐसहि अद्भुत रूप तिहिं, पुरि आश्चर्य अनंत । नमो नमो पुनि पुनि कहत, पुनि पुनि नमो भनंत ॥५२७॥

और न चुप बसि जाय, किमि नुति करि सुस्मरण नहिं । कैसहु बरनि न जाय, गुंजत प्रेम प्रभाव तें ॥५२८॥

अधिक न इमि सो नमन करि, वार सहस्र अपार । नंतर कहि तुव सन्मुखहि, नम श्रीहरी उदार ॥५२९॥

सन्मुख पीछे हो किनहिं, किमि इहिं महँ हित मोर । पै तुहिं पीठहि ओर तें, स्वामी नमो निहोर ॥५३०॥

आप खड़े मम पृष्ठ पै, अतः पृष्ठ कहि जाय । पै जग सन्मुख पृष्ठ वा, कैसहु कहि न सकाय ॥५३१॥

अब तन अवयव विपुल प्रभु, गनौं न विलग कराय । सर्वरूप सर्वांग तुहि, बहुरि नमहुँ मन लाय ॥५३२॥

नमहुँ अपार पराक्रमी, प्रभु अनंत बलधाम । सर्वरूप सब काल सम, तुमहिं अपार प्रणाम ॥५३३॥

सब नभ में जिमि बन रहे, अवकाशहु आकाश । तिमि तुम निज व्यापक पनहिं, सर्वरूप महँ भास ॥५३४॥

अधिक कहा केवल सकल, तुम यह सब संसार । जिमि तरंग पय सिन्धु की, छीरहिं जानि उदार ॥५३५॥

बहुरि देव तुम भिन्न नहिं, सकल पदार्थ अशेष । अब यह मम निश्चय अहै, आपहि सर्व रमेश ॥५३६॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं,
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं,
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

अर्थ—जानि न महिमा आप में, निज प्रसाद वा प्रीति ।
कह्यो कृष्ण, यादव, सखा, मित्र मान अनरीत ॥४१॥

करि प्रभुतें व्यवहार, सगे बन्धुगन नात गनि । पै इमि स्वामि उदार, मैं कबहूँ जान्यो नहीं ॥५३७॥

बहुरि मूढ़ ह्वै भूमि महँ, सिंचन अमृत कीन्ह । कामधेनु को देय मैं, बदल बाज कहँ लीन्ह ॥५३८॥

करलहि पारस शैल तिहिं, फोरि नींव भरि लीन्ह । कल्प वृक्ष कहँ तोरि करि, बागुर खेतहिं कीन्ह ॥५३९॥

चिन्तामणि की खानि लहि, पशु हँकारि तजि दीन्ह । प्रभु समीपता पाय तिमि, सखा मान खो दीन्ह ॥५४०॥
कौन समर कहँ मूल्य यह, पै लखु प्रगटहि आज । परब्रह्म तुम कहँ कियो, खुले सारथी साज ॥५४१॥
इमि निजहित जगदीश में, प्रभु कहँ दूत बनाय । कौरव गृह भेज्यो गये, मानहु रहे बिकाय ॥५४२॥
सुख समाधि प्रभु योगि के, किमि मैं अज्ञ न जान । प्रभु विनोद भाषण करौं, तुम ते समता मान ॥५४३॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि,
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं,
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अर्थ—करि परिभव हास्यहिं, अशन, आसन, सेज, विहार ।
॥तुव॥ पीछे सन्मुखहिं सो, समयहु अपरंपार ॥४२॥

जग अनादि के आदि तुम, जन बसि सभा मँझार । सखा संबन्धी नात तें, करहुँ विनोद अपार ॥५४४॥
जाउं कदाचित धाम तुव, तो पावहुँ तुव मान । यदि न करहु सन्मान तो, रूठहु मित्र समान ॥५४५॥
चाहिय यह सुख दानि, चरनन लागि मनाउँ मैं । तुम कहँ सारँगपानि, करनी मम ऐसी बहुत ॥५४६॥
सन्मुख तुव बसि पीठ करि, सजनपनहिं के पंथ । यह कि योग्यता मोहिं, पै, चूक गयो श्रीकंथ ॥५४७॥
धरि तुम तें गतका फुरी, करि अखाड युध बाहु । चौपर खेलत नाकि घर, तुम तें लरौं स्वचाहु ॥५४८॥
उत्तर माँगौं तुरत कहि, बुद्धि आप सर्वज्ञ । कहा तुम्हारो मैं चहौं, प्रभु ते कहि मैं अज्ञ ॥५४९॥
ऐसो ये अपराध जो, त्रिभुवन में न समाँय । प्रभु चरनन की शपथ यह, सब अनजान कराँय ॥५५०॥
चिन्तन मेरो बहु करत, अवसर भोजन पाय । पै बैठहुँ रिसियाय मैं, वृथा गर्व उर लाय ॥५५१॥
खेलहुँ प्रभु अन्तः पुरहिं, मन आशंका नाँहि । प्रभु तुव संगहि सो रहौं, तुव शय्या के माँहि ॥५५२॥
बहुरि बुलाऊँ कृष्ण कहि, प्रभु कहँ यादव मान । जान चहहु जौ आपु तौ, देहुँ आपनी आन ॥५५३॥
आसन इक महँ बैठि मैं, रात न प्रभु की मान । परिचय के अधिकाब यह, बनि आई अनजान ॥५५४॥

अब कहं कह विनती करौं, बहुरि अनंत सुजान । मैं समस्त अपराध की, राशि अहौं भगवान ॥५५५॥
सन्मुख पीछे जो भये, मम अपराध अपार । तिन्ह सब कहँ माता सरिस, निज उदरहिं महँ डार ॥५५६॥
जो सरिता गॅदला जलहिं, लै कहुँ जाय समुद्र । आन उपाय न देखि तिहिं, सिन्धु धरत निज उद्र ॥५५७॥
आप विरुद्धहिं मैं कह्यो, जो कछु प्रीति प्रमाद । तिन्ह सब काँहि मुकुन्द प्रभु, छमिय महा मरजाद ॥५५८॥
सहन शीलता आपतें, भुवि प्राणी आधार । अतः महाप्रभु विनय यह, अतिलघु लहौं न पार ॥५५९॥
अब शरणागत मोहिं लखि, कीजे क्षमा कृपालु । प्रभु अतर्क्य अपराध मम, यद्यपि अहैं विशाल ॥५६०॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो,
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

अर्थ—सचर अचर जग पितु तुमहि, पूज्य श्रेष्ठ गुरुरूप ।
तुम सम श्रेष्ठ न त्रिजग कहुँ, अधिक कहाँ सुरभूप ॥४३॥

निश्चय मैं जान्यो प्रभो, अब तुव सुजस अपार । सचराचर के देव हो, तुम ही जन्म अधार ॥५६१॥
परम देवता देव, केशव शिव सब के तुमहिं । आदि गुरु तुम एव, वेद पढ़ाय विरंचि कहँ ॥५६२॥
सकल प्राणि कहँ एक सम, तुम गँभीर श्रीराम । अनुपम तुम सब गुणन महँ, अद्वितीय सुखधाम ॥५६३॥
यह प्रतिपादन होय किमि, तुम सम अपर न आन । तुम उपजायो गगन जहँ सब जग प्रविशत आन ॥५६४॥
ऐसो बोलब लाजप्रद, दूजो प्रभु सम आन । अधिक होन की बात तहँ, कैसे करिय निदान ॥५६५॥
अतः आप त्रयलोक इक, आन न तुमहिं समान । आप सुकीर्ति अपूर्व जिहिं, मैं किमि कहौं अजान ॥५६६॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं,
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः,
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अर्थ—मांग विनय अस ईश मम, तुव प्रसन्नता हेतु।
प्रियहिं प्रिय, सखि अहिं सखा, सुतहिं पिता सहि लेतु ॥४४॥

ऐसे अर्जुन कहि बहुरि, करत दंडवत भूरि। तब तिहिं सात्विक भाव की, बाढ़ बढ़ी भरपूरि ॥५६७॥
कहि पुनि पुनि प्रभु करु कृपा, वाचा गद्गद होय। हरि अपराध समुद्रतें, काढ़हुँ मो कहँ सोय ॥५६८॥
कबहुँ न दीन्हो मान मैं, आप सुहृद संसार। तुम सब जग के ईश पहँ, मम आश्चर्य अपार ॥५६९॥
आप कथन के योग्य, पै, करि मम कथन सुजान। सभा माँहि बड़बड़ करी, मैं अत्यन्त अजान ॥५७०॥
नहिं मुकुन्द मर्याद, अब ऐसे अपराध की। मासहु मोर प्रसाद, रच रच अतएव प्रभु ॥५७१॥
यह विनती की योग्यता, कहँ मम माँहि सुजान। पै लाडहिं जिमि कहत है, पितु ते बाल अजान ॥५७२॥
यद्यपि सुततें होय जो, अति अगाध अपराध। दूजो मन तजि पितु सहै, तिमि सहि दया अगाध ॥५७३॥
सहत सखा जिमि शान्त ह्वै, उद्धतपन निज मित्र। तैसे सह्यो समस्त तुम, करता पतित पवित्र ॥५७४॥
जिमि प्रिय ढिग प्रिय सर्वथा, चहत नहीं सन्मान। यजनहिं जूँठ उठाय तुम, ताहि क्षमहु भगवान ॥५७५॥
किंवा भेंटत प्राणप्रिय, तिय दुख जो जिय माँहि। ताहि निवेदन करत मैं, कछ संकोच जनाँहि ॥५७६॥
किं बहु तिय निज प्राणपति, तन मन जिय अर्पाय। ताहि मिलत मनभाव हिय, कहत सकल न रहाय ॥५७७॥
स्वामी तातें यह विनय, मम कृत खगपति केतु। तिहिं सिवाय इक और है, यह बरनन को हेतु ॥५७८॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा,
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं,
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

अर्थ—यह लखि पूर्व न मुदित लखि, भय मन विकल विशेष।
सो वपु मुँहि दरशाय त्तम, जगनिवास देवेश ॥४५॥

कीन्ह ढिठाई आप तें, दरश विश्व वपु हेतु। सो अति नेहहिं पूर करि, मातु पिता खग केतु ॥५७९॥
यह मम मन में चाह, आँगन लागै कल्पतरु। खेल करहु सुरनाह, काम धेनु के वत्स सँग ॥५८०॥
उडुगन पासा मोहि मिलि, गेंद हेतु मिलि चंद। माता सो तुम सिद्ध किय, मम आशा सानन्द ॥५८१॥
अमिय लेश अतिश्रम मिलहिं, तिहिं बरसा चौमास। भूमि जोति प्रति क्यारि बुव, चिन्तामणि सहुलास॥५८२॥
कीन्हिउँ इमि कृत कृत्य प्रभु, बहु विधि लाड़ लड़ाय। सुन्यो न कान त्रिदेव जिहिं, विश्वरूप दरसाय ॥५८३॥
जिहिं उपनिषदहिं भेंट नहिं, सो पुनि काह दिखाय। सोई गुप्त स्वरूप निज, मोहिं प्रगट दरसाय ॥५८४॥
केशव कल्पारम्भतें, आज घड़ी पर्यन्त। भये हमारे जन्म जे, जितने श्रीभगवन्त ॥५८५॥
समाचार सब जन्म के, भली भाँति निरधार। पर यह नहिं देख्यो सुन्यो, विश्व स्वरूप उदार ॥५८६॥
कबहुँ न पहुँच विचार बुधि, आँगन विश्वस्वरूप। अन्तःकरण न करि सकै, यह कल्पना अनूप ॥५८७॥
ऐसे विश्व स्वरूप कहँ, मैं देख्यो निज नैन। देख्यो सुन्यो न पूर्व जिहिं, अधिक कहा कहि बैन ॥५८८॥
देव लह्यो अति चैन, मम मन आनंदित भयो। दरसायो मम नैन, विश्वरूप तुम आपुनो ॥५८९॥
ऐसहि जिय अब चाह परि, जो तुम तें बतराउँ। तब समीपता भोग यह, आलिंगउँ हरषाउँ ॥५९०॥
कहिय करौं इहिं रूपतें, तो इक मुख कहि काहि। अरु किमि आलिंगन करहुँ, तुव गणना न जनाँहि ॥५९१॥
अतः धावनो पवन सँग, गगनालिंगन देय। जलक्रीडा करि सिन्धु तें, कैसे कहि कौन्तेय ॥५९२॥
अतः चाह पूरी करहु, गोपहु विश्वस्वरूप। भय उपजत है हृदय मम, यातें प्रभु सुरभूप ॥५९३॥
सचर अचर कौतुक लखै, परि घर माँहि रहाय। रूप चतुर्भुज आप तिमि, मम विश्रांति शुभाय ॥५९४॥
सकल योग अभ्यास करि, मंथन शास्त्र कराय। पै ऐसो सिद्धान्त ही, मिल्यो हमहिं सुरराय ॥५९५॥
सकल यज्ञ हम कीन्ह तो, तिहिं फल वपु यह रूप। सकल तीर्थ कीन्हे प्रभो, याके हेतु अनूप ॥५९६॥
किं बहु हम जो जो किये, पुण्य और जो दान। तिहिं फल को फलरूप तुव, चतुर्भुजी भगवान ॥५९७॥
इमि उपजी जिय चाह मम, शीघ्र लखौं सो रूप। यह संकट सब बेग ही, गुप्त करहु जगरूप ॥५९८॥



असुरहु दायक मोक्ष पद, किमु प्रभु गदा उदार ।
सौम्य प्रभा शोभित सदा, कैसे चक्र अपार ॥
उत्कंठा मम अधिक कह, प्रभु सो वपु दरशाय ।
अत. चतुर्भुज रूप तिमि, अब तुम धरहु स्वभाय ॥

—गीता ज्ञानेश्वरी अ० ११, दोहा १०५,१०६

सब जग अहै निवास, जानत अन्तःकरण की। ह्वै प्रसन्न मम आस, पूज्य देव के देव पुरि ॥५९९॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन,
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

अर्थ—सहस्रबाहु जग वपु मुकुट, गदा चक्र धर देव।
तिमि इमि तुव देखन चहौं, रूप चतुर्भुज एव ॥४६॥

नील कमल किमि छवि लहत,गगनहु मिलत सुरंग। इन्द्र नील मणि महँ दिखत,तेज प्रकाश उमंग ॥६००॥
जिमि सुगन्ध मरकत लहै, भुजा कढ़हि आनंद। मदन सुशोभित होत है, जासु गोद निद्वन्द्व ॥६०१॥
शीश मुकुट को मुकुट है, मस्तक मुकुट धराय। जासु अंग भृङ्गार को, अलंकार ह्वै आय ॥६०२॥
गगनहि शोभित मेघ मधि, इन्द्र धनुष्य विशाल। तैसे हरि धारण कियो, गल वैजन्ती माल ॥६०३॥
असुरहु दायक मोक्षपद, किमि प्रभु गदा उदार। सौम्य प्रभा शोभित सदा, कैसे चक्र अपार ॥६०४॥
उत्कंठा मम अधिक कह, प्रभु सो वपु दरशाय। अतः चतुर्भुज रूप तिमि, अब तुम धरहु स्वभाय ॥६०५॥
नैन जुड़ाने भोगि सुख, प्रभु लखि विश्व स्वरूप। कृष्णमूर्ति के दरस हित, अब भूखे सुरभूप ॥६०६॥
कृष्ण स्वरूपाकार, तजि नहिं भावत इतर कछु। ताहि न निरखि उदार, मानहु लघु यह विश्व वपु ॥६०७॥
अतः होय साकार, तिमि, गोपहु विश्वस्वरूप। श्रीवपु तजि मुहिं अपर नहिं, भोग मोक्षप्रद रूप ॥६०८॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं,
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं,
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

अर्थ—आदि न अन्त सतेज जग, प्रथम न कोऊ देखि ।
हरषि रूप निजयोग बल, दर्शित कियउ विशेखि ॥४७॥

अर्जुन के इमि बैन सुनि, विस्मित विश्व स्वरूप । कहत न ऐसो हम लख्यो, अविचारी नररूप ॥६०९॥
कवन वस्तु यह पाय तिहिं, लाभ न आनँद मान । भ्रम लहि ऐसो कहत कह, दुराग्रही अनजान ॥६१०॥
जब प्रसन्न हम होत तब, तनहु आपनो देत । करत अन्यथा जीव निज, पार्थ कौन किहिं हेत ॥६११॥
आजु कहाँ जो जीव गन, करि इकत्र धरि ध्यान । तुव अभिलाषा पूर्ति हित, मैं श्रम कियो सुजान ॥६१२॥
जानि न इमि तुव प्रेम किमि, ह्वै प्रसन्न बौराय । अतः गुप्त तें गुप्त जग, प्रगट्यो ध्वज फहराय ॥६१३॥
जो मम माया के परे, पार्थ अखंड अपार । जातें उपजत हैं सकल, कृष्णादिक अवतार ॥६१४॥
केवल जग व्यापक सकल, ज्ञान तेजमय रूप । जो अनन्त अरु आदि दृढ़, सब तें विश्व स्वरूप ॥६१५॥
देख्यो सुन्यो न अन्य यह, पूर्वहु तुमहिं सिवाय । अतः साधन जोग जो, सुनु अर्जुन नरराय ॥६१६॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके,
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

अर्थ—दान मखहु वेदाध्ययन, अरु न क्रिया तप उग्र ।
शक्य न जग इमि रूप लखि, तुम सिवाय कुरु अग्र ॥४८॥

धारत वेदहु मौन, जाके निकटहिं जातही । यज्ञहु लौटत भौन, जाय स्वर्ग पर्यन्त लगि ॥६१७॥
साधक लखि के अधिक श्रम, तजत योग अभ्यास । अरु कीजै अध्ययन जो, सुलभ न ताके पास ॥६१८॥
निज सत्कर्महु श्रेष्ठता, पाय पूर्णता धाय । सत्यलोक लगि पहुँच तिहिं, करि अति श्रमहिं अघाय ॥६१९॥
देखि तपी आश्चर्य तजि, उग्रपनो छिन माँहि । तप अरु साधन परस्पर, जो इमि दूर रहाँहि ॥६२०॥
सहजहिं विश्वस्वरूप को, जैसे तुम अवलोकि । इहि मनुष्य के लोक तिमि, कोउ न सक्यो विलोकि ॥६२१॥

संप्रति ध्यानहिं आज लहि, तुमहि एक जग माँहि । परम भाग्य ऐसो कहूँ, ब्रह्माहू के नाँहि ॥६२२॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं,
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

अर्थ—डरहु न भाव विमूढ इमि, लखि मम घोर स्वरूप ।
भय तजि प्रीतिहिं तुम बहुरिं, सो लखु यह मम रूप ॥४९॥

धन्य जगत वपु लाभ इहिं, अतः न भय कछु मान । या सिवाय मन महँ कछू, अन्य न उत्तम जान ॥६२३॥

अमिय सिन्धु भरि तात अरु अकस्मात मिलि जाय । तातें बहुरि भय बुडन के ताहि कौन तजि जाय ॥६२४॥

किंवा कंचन शैल इमि, उठहि न परम विशाल । ऐसहि कहि कर तजत को, भाषिय कुंतीलाल ॥६२५॥

जो चिन्तामणि भाग्य लहि, को कहि बोझ तजाय । कामधेनु पोसे नहीं, यह कहि को तजि जाय ॥६२६॥

जावहु उष्णाकार, शशिगृह आये कहत को । रवि तें छायाकार, कहि को दूर भगावे जग ॥६२७॥

सहज आय भुज आज तिमि, महातेज ऐश्वर्य । तो अकुलाहट याहि तें, किमि उपजे तजि धैर्य ॥६२८॥

अज्ञानी अर्जुन अहो, तुम कछु समझत नाँहि । छायो भेंटहु छाँड़ि तन, कहा क्रोध तुव पाँहि ॥६२९॥

निज अधीर मन करि धरहु प्रेम चतुर्भुज पाँहि । सो मम सत्य स्वरूप नहिं, समझ देखु मन माँहि ॥६३०॥

अर्जुन अब आस्था तजहु, रूप चतुर्भुज माँहि । करहु अनास्था जनि कबहुँ, विश्वस्वरूपहिं पाँहि ॥६३१॥

यदपि रूप यह घोर अरु, अति विकराल विशाल । तदपि पूर्ण निश्चय धरहु, या महँ कुन्तीलाल ॥६३२॥

जिमि धन महँ लागी रहत, कृपण चित्त की वृत्ति । पुनि केवल तन तें करत, जग व्यवहार प्रवृत्ति ॥६३३॥

जीव राखि निज घोंसलहिं, गगन पक्षिणी जाय । पक्ष रहित जब बाल शिशु, संग न सकत उड़ाय ॥६३४॥

चित बँध्यो घर वत्स पर, धेनू गिरि चरि जाय । विश्व स्वरूपहिं प्रेम इमि, अर्जुन करहु थिराय ॥६३५॥

पूर्ण सख्य सुख हेतु, अरु सँभारि चित याबत । ध्यान धरहु कपिकेतु, बहुरि चतुर्भुज मूर्ति को ॥६३६॥

अर्जुन पै इक बात यह, कबहुँ नहीं बिसराय। जो यह विश्व स्वरूप तें, जाय नहीं सद्भाव ॥६३७॥

कबहुँ न अवलोक्यो तुमहुँ, भय उपजै अतएव। भय तजि यातें प्रेम निज, तुम या महँ भरि देव ॥६३८॥

नंतर कहि इम विश्व मुख, अब तुव कथन प्रमान। पूर्ण चतुर्भुज पूर्ण सुख, निरखहु तुम मतिमान ॥६३९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा,
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं,
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्थ—इमि कहि निज वपु पूर्व जिहि, अर्जुन कहँ दरसाय।
धरि निज वपु प्रभु सौम्य पुनि, उरपत धीर धराय ॥५०॥

ऐसहि बोलत ताहि छिन, मनुज रूप कहँ धारि। यह अचरज नहिं जासु रुचि, धारत रूप मुरारि ॥६४०॥

केवल प्रभु परब्रह्म दिय, अर्जुन कर सर्वस्व। पै पार्थहिं भायो नहीं, प्रभु स्वरूप जो विश्व ॥६४१॥

दूषन धरियें रत्न जिमि, वस्तु लेय करि त्याग। अथवा कन्या लखि कहै, मम मन यह नहिं लाग ॥६४२॥

केशव दीन्हों अर्जुनहिं, अति उत्तम उपदेश। प्रीति चाह कैसो समय, दर्श विश्व वपु वेष ॥६४३॥

अलंकार बनवाय, कंचन लगरी तोरि कर। पुनि तिहिं फेरि गलाय, यदि न रुचै मन माँहि सो ॥६४४॥

केशव विश्व स्वरूप ह्वै, तिमि अर्जुन की प्रीति। पुनि न रुच्यो मन माँहि सो, तब ह्वै कृष्ण सुरीति ॥६४५॥

सहत कहाँ गुरु शिष्य हठ, जिमि इत सह्यो मुरारि। पै कृष्णार्जुन प्रीति किमि, संजय कहत पुकारि ॥६४६॥

दिव्य प्रभा व्यापक जगत, पुनि जिहिं प्रभु प्रगटाय। समावेश करि ताहि पुनि, कृष्णरूप महँ लाय ॥६४७॥

यह जिमि त्वंपद जीव सब, तत्पद ब्रह्म समाय। किंवा वृक्षाकार जिमि, बीज माँहि प्रविशाय ॥६४८॥

किंवा स्वप्न प्रपंच जिमि, जागे तें मिटि जाय। कृष्ण वेष तें ह्वै गयो, तिमि वपु विश्व स्वभाय ॥६४९॥

सूर्य प्रभा लय अस्त जिमि, वा घन गगन विलाय। वा सागर की बाढ़ जिमि, सागर माँहि समाय ॥६५०॥

घडी वमन कृत विश्ववपु, कृष्ण स्वरूपाकार । मनहुँ उकेलि दिखाय मो, पार्थ चाह अनुसार ।।६५१।।

निरखि सूत रंग पीतवर, ग्राहक पार्थ न भाय । अतः कृष्ण प्रभु वणिक जनु, ताहि धर्यो धड़याय ।।६५२।।

जिन्ह लीन्हों जगजीत, निज वपु की अतिबाढ़ तें । धारण कियो सुरीत, सो पुनि सुन्दर सौम्य वपु ।।६५३।।

अधिक कहा धारण कियो, अति लघु रूप तुरंत । अर्जुन डरप्यो प्रथम तिहिं, धीर धराय अनंत ।।६५४।।

स्वप्नहि गमनै स्वर्ग जिमि, विस्मय पावहिं जाग । जैसे ही विस्मय लह्यो, जो अर्जुन बड़ भाग ।।६५५।।

किं बहु सब गुरु की कृपा, ज्ञान प्रपंच भुलाय । ब्रह्म तत्त्व प्रगटाय तिमि, श्रीवपु लखि नरराय ।।६५६।।

कृष्ण स्वरूपहिं आड़ जो, प्रगट्यो विश्व स्वरूप । अर्जुन चित इमि श्रेष्ठ गनि, नसी जवनिका भूप ।।६५७।।

जो बढ़ि महासमीर तें, जीत काल कहँ आय । अथवा सातहुँ सिन्धु कहँ, निजभुज तें तरिजाय ।।६५८।।

अर्जुन इमि लखि विश्व वपु, पुनि लखि कृष्ण स्वरूप । तासु हृदय महँ ह्वै रह्यो, अति संतोष अनूप ।।६५९।।

अस्त भये तें सूर्य के, जिमि नभ नखत प्रकास । जिमि धरनी सब लोक सह, पेखत पार्थ हुलास ।।६६०।।

सो अवलोकत खेत कुरु, गोत्रवीर दुहुँ ओर । अस्त्र शस्त्र समुदाय की, बहु वर्षा करि छोर ।।६६१।।

तिमि लखि रथहि घिरंत, मंडप नीचे बाण मधि । धुर पर कमलाकन्त, अरु नीचे निज कहँ लखत ।।६६२।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।५१।।

अर्थ—निरखि आपको सौम्य यह, केवल मनुज स्वरूप ।
अब मम मन सावध भयो, यथा पूर्व अनुरूप ।।५१।।

जैसी इच्छा तिमि निरखि, अर्जुन वीर विलास । पुनि कहि अब मैं बचि रह्यो, केशव रमानिवास ।।६६३।।

ज्ञानहु बुधिको तजि भग्यो, भयके वशहिं पहार । अहंकार मन के सहित, गयो देश के पार ।।६६४।।

इन्द्रिय भूलि प्रवृत्ति अरु, वचन बोलवो बैन । बुरी दशा ऐसी भई, अर्जुन तन वपु ऐन ।।६६५।।

सकल भाव विपरीत नसि, भेंट प्रकृति अनुरूप । अब मैं रक्षित ह्वै गयो, निरखत कृष्ण स्वरूप ।।६६६।।

इमि हिय सुखलहि पार्थ कहि हे प्रभु केशव श्याम । नर स्वरूप यह आपको लखत नयन अभिराम ।।६६७।।
यह वपु मोहिं दिखाय प्रभु, निजगुन चूक्यो जान । जिमि माता समुझाय शिशु दै सुस्तन पय पान ।।६६८।।
जो मैं सागर विश्व वपु, निजकर तरत तरंग । सो अब आयो तीर यह, निज मूरति श्रीरंग ।।६६९।।
सुभट द्वारिकावासि वर, मोर सुकृत तरु रूप । सूखत बरसो मेघ जिमि, यह न दरस यदु भूप ।।६७०।।
सागर अमिय मिलाप सहज तृषाहित यह हमहिं । हे प्रभु आप प्रताप अब मम संशय सकल नसि ।।६७१।।
केशव मम हृदयांगनहि, हर्ष बेलि विस्तार । प्रभु प्रसाद तें मैं लहत, अति आनंद अपार ।।६७२।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिण: ।।५२।।

अर्थ—अगम अहै यह रूप मम, जो तुम निरख्यो पार्थ ।
सुरहु चहत दर्शन करब, यह नित रूप यथार्थ ।।५२।।

कहत कहा यह प्रभु कह्यो, सुनि अर्जुन के बैन । विश्वरूप महँ प्रेम तुम, धारण करहु सुखैन ।।६७३।।
केवल आलिंगन करहु, यह श्रीमूरति पार्थ । की तुम बिसरायो सकल, मम उपदेश यथार्थ ।।६७४।।
यद्यपि कंचन मेरु लगि हाथहिं अर्जुन अंध । तदपि तासु मन लघु लगत, भूल भाव सम्बन्ध ।।६७५।।
जो दरसायो तुमहिं मैं, व्यापक विश्वस्वरूप । शिवहू पावत पार नहिं, तप करि तासु अनूप ।।६७६।।
योग करहिं अष्टाङ्ग जे, सहि नाना दुख पूर । पै योगी पावत नहीं, अवसर अर्जुन दूर ।।६७७।।
किंचित विश्वस्वरूप के, दर्शन मिलि इक बार । ऐसो चिन्तन करत सुर, काल बिना पतझार ।।६७८।।
चातक जिमि शिर वपु हृदय परि धरि अंजलि आस । गगन ओर लागी रहत, तासु दृष्टि सहुलास ।।६७९।।
निर्भर ह्वै उत्कंठतहिं, तैसे ह्वै सुरराज । आठ पहर चिंतन करत, जासु मिलन के काज ।।६८०।।
स्वप्नहु कोई देखि नहिं विश्वस्वरूप समान । पै यह सुख प्रत्यक्ष तुम, निरख्यो नयन सुजान ।।६८१।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

अर्थ—कोऊ देखि न सकत इमि, जिमि तुम लखि मम रूप ।
वेद यज्ञ तप दान करि, अर्जुन वीर अनूप ॥५३॥

कोऊ पथ न जगत को, या महँ सुभट सुजान । वेद सहित यह शस्त्र सब, मानत हार महान ॥६८२॥
चलन हेतु धनुधार, विश्व स्वरूपी पथ मम । नहिं सामर्थ्य सँभार, सब तप के समुदाय महँ ॥६८३॥
सकल दान मख आदि तें, कठिन मिलन मम भूप । अनायास जिमि निरखि तुम, मेरो विश्वस्वरूप ॥६८४॥
अर्जुन तिमि मम मिलन हित, एक जतन अवधार । भक्ति सहित अन्तःकरन, यदि होवे धनुधार ॥६८५॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

अर्थ—निश्चय भक्ति अनन्य तें, इमि मिलि सकि मुहिं पार्थ ।
जानब लखब प्रवेश हित, अर्जुन रूप यथार्थ ॥५४॥

ऐसी होवै भक्ति पै, जिमि वर्षा की धार । धरा त्यागि तिहिं अन्य गति, अहै न पॉडुकुमार ॥६८६॥
सब जल संपति लेय करि, सागर खोज लगाय । जिमि अनन्यगति तें मिलत, गग सिंधु मधि जाय ॥६८७॥
सकल भाव समुदाय तिमि, प्रेम एक समधार । मद्रूपी ह्वै मोहि महँ, पार्थ करहिं सचार ॥६८८॥
छीर उदधि तट मध्य अरु, जैसे एक समान । ऐसहि मो कहँ जानिये, एक सरिस मतिमान ॥६८९॥
अधिक कहा चर अचर में, चींटी तें मम लाग । पै न भजन बिन दूसरी, द्वैत वस्तु बड़भाग ॥६९०॥
जिहिं छिन ऐसो ज्ञान मम, होवहि ताहि सुजान । जानत ही सहजहिं मिलहि, मम दर्शन मतिमान ॥६९१॥
काठ अनल उपजाय, पुनि जरि नाम बिहाय निज । अग्नि नाम ह्वै जाय, मूर्तिमन्त अरु होय सो ॥६९२॥
किं बहु रवि शशि उदय नहिं, तब लगि नभ अँधियार । उदय होन के संग ही होत प्रकाश अपार ॥६९३॥
अर्जुन मम साचात तें, अहंकार को नाश । अहंकार के नाश तें, द्वैत प्रभाव विनाश ॥६९४॥

अरु मैं तू यह सब नसे, इक मैं रहत स्वभाव । अधिक कहा तिहिं माँहि है, पूर्ण एकता भाव ॥६९५॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

अर्थ—कर्म करहिं उद्देश मम, मोर भक्त निःसंग ।
वैर रहित सब प्राणि महँ, पावहि मोहि अभंग ॥५५॥

केवल जो मम हेतु इक, कर्म करत निज अंग । मम सिवाय तिहिं जगत महँ, रुचत न कछू प्रसंग ॥६९६॥
जा कहँ दोऊ लोक महँ, केवल मे मतिमान । अरु जीवन को फल सकल, मानत मोहिं सुजान ॥६९७॥
जासु नयन में मैं भयों, अरु सब प्राणि भुलाय । अतः भजे सर्वत्र ही, मोहिं वैर विनसाय ॥६९८॥
जो ऐसो मम भक्त तिहि, नसे त्रिधातुक देह । सो पावहि मद्रूपता, जानहु अर्जुन येह ॥६९९॥
ऐसहि जग भर उदर बड़, करुणारसहिं रसालु । संजय कहि धृतराष्ट्र तें, बोले कृष्ण कृपालु ॥७००॥
अर्जुन है श्रीमान, आनँद श्री इमि पाय बहु । एकहिं चतुर सुजान, कृष्ण भक्ति संसार महँ ॥७०१॥
उभय मूर्ति प्रभु की निरखि, चित महँ नीक विचार । विश्व रूप तें कृष्ण वपु, महँ तव लाभ निहार ॥७०२॥
अर्जुन की इहिं समझ परि, देवन दीन्हों मान । व्यापक वपु तें श्रेष्ठ नहिं, इक देशी मतिमान ॥७०३॥
करन समर्थन याहि कहँ, इक दो श्रेष्ठ प्रसंग । कहत भये पुनि पार्थ तें, कृष्णचन्द्र श्रीरंग ॥७०४॥
यह सुन अर्जुन मन कहत, उभय स्वरूपन माँहि । श्रेष्ठ कौन यह बूझिहों, मैं अब प्रभु के पाँहि ॥७०५॥
अब किहिं उत्तम रीति कहि, इमि करि चित्त विचार । प्रश्न करत जिमि सो कथा, अब सुनि करि सत्कार ॥७०६॥
सुलभ प्राकृतहिं छन्द महँ, कबहुँ कथा सविनोद । ज्ञानदेव कहि सो कथा, धरिये श्रवन प्रमोद ॥७०७॥
अंजलि भरि सद्भाव की, प्राकृत पुष्प प्रबन्ध । मैं अर्पित करि युग चरन, विश्वरूप संबन्ध ॥७०८॥

—०:❀:०—

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थदीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी) निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दलालात्मज श्रीमद् ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-ज्ञानेश्वर्यां एकादशोऽध्यायः। ॐ शुभमस्तु

ॐ

द्वादश अध्याय



जय जय जय जयकार, शुद्ध उदार प्रसिद्ध अति।
आनँद वर्षाकार, सदा निरंतर हे प्रभो ॥१॥

जो जन मूर्छित ह्वै गये, विषय व्याल विष योग। निर्विष ह्वै गुरु आपकी, कृपा दृष्टि संयोग ॥२॥

कवन ताप पावै लहै, किमि शोकहु जंजाल। यदि प्रसाद रस तरँग तुव, आवै पूर विशाल ॥३॥

योग सुखानँद नेह तुव, पावहिं भक्त कृपाल। ब्रह्म प्राप्ति की लालसहिं, तुमही करि प्रतिपाल ॥४॥

अंकहिं मूलाधार धरि, पालन हृदयाकास। निज उपदेसहिं कौतुकहिं, भक्त झुलाय हुलास ॥५॥

करत खिलौना मन पवन, आतम जोति प्रकास। शिशु आभूषण आत्मसुख, धारण करहिं हुलास ॥६॥

जीव कला पथ ध्याय करि, अनहद नाद निरंत। ज्ञान समाधि सुवाय दै, समुभावनी सुमंत ॥७॥

साधक की तुम मातु हौ, तुव पद धरि लहि ज्ञान। यातें आश्रय आपको, तजौं नहीं भगवान ॥८॥

कृपा दृष्टि सद्गुरु अहो, जापरि होय कृपालु। सों सब विद्या रूप हो, जग करतार दयालु ॥९॥

श्रीमंती मम अम्ब, कल्पलता निज भक्त की। आयसु दे अविलम्ब, ग्रन्थ निरूपन करत मैं ॥१०॥

नव रस के भरि सिन्धु करि, अलंकार आगार। अरु गिरिवर भावार्थ को, यह मम ग्रन्थाधार ॥११॥

कनक खानि साहित्य की, खुलि प्राकृत समुदाय। अरु छावै चहुँ ओर हो, लताविवेक सुहाय ॥१२॥

सदा मोंहि संवाद फल, वपु निधान सिद्धान्त। विविध वाटिका जे घनी, लगन देहु श्रीकान्त ॥१३॥

गुहा मोड़ पाखंड की, कुपथ वितंडावाद। अरु कुतर्क वपु दुष्ट जे, हिंसक कीजे वाद ॥१४॥

केशव गुण वरणों सतत, मुहिं तत्पर करि मात । श्रोतागण के कान की, राज्य बसाइय तात ॥१५॥
देशी भाषा नगर महँ, विद्या ब्रह्म सुकाल । लैंन दैन महँ सुख लहै, सब संसार दयाल ॥१६॥
सदा धारि निज अँचलहिं, मोहि दयावपु मात । तो म अब यह सब करहुँ, ग्रन्थ निरूपण तात ॥१७॥
इतनिहि विनती सुनत गुरु, कृपा विलोकनि दख । कहि अब गीता अर्थ करु, वचन न बोलु विशेख ॥१८॥
इमि लहि कृपा प्रसाद, श्री ज्ञानेश्वर कहि प्रमुदि । सुनिय सहित आह्लाद, ग्रन्थ निरूपन करहुँ अब ॥१९॥

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्थ—सुदृढ निष्ठ इमि भक्त जे, सगुण उपासन धारि ।
जे अक्षर अव्यक्त भजि, के उत्तम व्रत धारि ॥१॥

शशिकुल विजय पताक जो, सकल वीर अधिराज । सो अर्जुन बोलत भयो, पांडुसुवन नरराज ॥२०॥
कहत कृष्ण तें सुनहु निज, विश्वरूप दरसाय । सो अद्भुत अतएव मम, चित्त भीति उपजाय ॥२१॥
अरु परिचित मैं कृष्णवपु, तातें चित इहिं ओर । तब ना कहि प्रभु वरजि मुहिं किमि करुना दृग कोर ॥२२॥
निश्चय दोऊ रूप तुव, निराकार साकार । लहहि भक्ति तें सगुण अरु, योगहिं निर आकार ॥२३॥
आप मिलन के हेतु हैं, प्रभु ये दोऊ पंथ । निराकार साकार दुइ, पंथ चलत श्री कंथ ॥२४॥
जो कस सौभर स्वर्न सो, लगहि पृथक इक अंश । इक देशी व्यापक सरिस, अतः अहहिं अवतंश ॥२५॥
सुधासिन्धु महँ लाभ की, जो सामर्थ्य उदार । सोई सुधा तरंग सें, अंजलि लहत विचार ॥२६॥
यह अनुभव मम चित्त को, सकल अहै निरधारि । पै पूछन को हेतु यह, योगेश्वर असुरारि ॥२७॥
जानन चहौं उदार, साँचहुँ की लीला करी । व्यापक अंगीकार, छिन भर जो प्रभु रूप तुव ॥२८॥
आप करहिं अति श्रेष्ठ जिहिं, कर्म सफल तुव हेतु । मनो धर्म निजभक्ति महँ, बेच दियो खगकेतु ॥२९॥
सकल प्रकारहिं भक्त जे, आपुहिं प्रभु असुरारि । करत उपासन बांध करि, अपने हृदय मँझारि ॥३०॥

और परे जो प्रणव तें, वाणी तें न कहाय। तुलना काहू वस्तु की, जातें ह्वै न सकाय ॥३१॥
अक्षर जो अव्यक्त इमि, रहित देश अरु नाम। ज्ञानी करत उपासना, सोहं भाव ललाम ॥३२॥
सो ज्ञानी अरु भक्त इन, दोउन माँहि अनंत। कहहु यथार्थ सुयोग्य को, जिहिं जानिय भगवंत ॥३३॥
अर्जुन के इमि बोल सुनि, सतोपित जगबन्धु। कह्यो श्रेष्ठ यह प्रशन की, शैली बन्धुर-बन्धु ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अर्थ—चित थिर करि मम माँहि जो, नित्य युक्त ह्वै पार्थ।
भजहिं मोहिं श्रद्धा सहित, मम मति युक्त यथार्थ ॥२॥

दिनकर अस्तहिं समय जिमि, सूर्य बिंब चलि जाय। ताके पीछे किरन हू, अर्जुन तहाँ समाय ॥३५॥
किंवा वर्षा के समय, जिमि सरिता बढ़ि जाय। तिमि मम भजनहिं नित नई, श्रद्धा परत दिखाय ॥३६॥
ज्यों पीछे अनिवार, सागर मिलि सरिता तदपि। प्रेमभाव विस्तार, ऐसहि गंगा के सरिस ॥३७॥
इन्द्रिय सब के सहित तिमि, मम महँ चित कहँ धार। रैन दिवस नहिं कहत जो, करि मम भजन उदार ॥३८॥
ऐसो जो मम भक्त निज, स्वयं समर्पित मोहिं। तिन कहँ मैं जानत अहौं, परम योगयुत जोहि ॥३९॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

अर्थ—नाशरहित अव्यक्त ध्रुव, व्यापक अचल अचिन्त।
अनिर्देश कूटस्थ भजि, जो मुहिं पार्थ निरंत ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

अर्थ—इन्द्रिय संयत करि सकल, बुधि सर्वत्र समान।
सर्वभूत हित रत सदा, ते मुहिं लहत सुजान ॥४॥

अपर भक्त जे पार्थ धरि, सोहं भाव सुजान। निराकार अविनाशि की, प्राप्ति हेतु मतिमान ॥४०॥
जहँ मनको नख लगत नहि, बुद्धि नयन नहिं जाय। सब इन्द्रिय के जोग किमि, होय सकै नरराय ॥४१॥
ध्यानहु ते अति गुप्त जो, मिलत न एकहु ठौर। जासु नहीं आकार कछु, शोध किये चहुँ ओर ॥४२॥
सकल रूप सर्वत्र जो, विद्यमान सब काल। जाके पाये ते मिटत, चिन्ता कष्ट विशाल ॥४३॥
जो उपजत नहि नसत नहिं, अहै कहिय की नाँहि। जासु प्राप्ति के विषय में, जतन न कछू जनाँहि ॥४४॥
जो चालै हालै नहीं, नसै न होय पुरान। जाहि प्राप्त करि निज वसहि, पार्थ महान सुजान ॥४५॥
कटक विषय सब जारि, जिन विराग वपु अग्नि में। वस करि होत सुखारि, तपित इन्द्रियहिं धैर्य तें ॥४६॥
संयम रूपी पाश तें, उलटि लगाय मरोर। इन्द्रिय द्वारहिं रोक धरि, हृदय गुहा बर जोर ॥४७॥
आसन मुद्रा बाँधि दृढ़, देय कपाट अपान। मूलबन्ध के कोट पर, शोभित होत महान ॥४८॥
आशा को संबन्ध तजि, अरु करि दूर अधीर। निद्रारपु अँधियार को, करत नहीं सम धीर ॥४९॥
सातहि धातुन होलि करि, मूल बन्ध की ज्वाल। षट्चक्रन को अर्पिकर, सकल व्याधि के माल ॥५०॥
कुंडलि केर पताक करि, चक्राधार मँझार। जासु प्रकाश विलोकि सकि, शीश शिखर विस्तार ॥५१॥
दै नव द्वार कपाट अरु, इन्द्रिय निग्रह आड़। खिड़की दशवें द्वार जो, नाड़ि सुषुम्न उघाड़ ॥५२॥
जीवहिं चंडी शक्ति करि, मेषरूप संकल्प। मारि महिष मन रूप शिर, दै बलिदान न अल्प ॥५३॥
इड़ा पिंगला ऐक्य करि, अनहद ध्वनि गुंजार। सुधा सरोवर जीत कर, तुरत करै अधिकार ॥५४॥
कोली खोह मँझाय, जो मध्या के विवर मधि। ब्रह्मरंध्र महँ जाय, सकल मार्ग चलि अन्त थल ॥५५॥
दशम द्वार सोपान पथ, ताहि त्यागि मतिमान। कालहिं दाबे गगन कहँ, मिलहिं ब्रह्म में आन ॥५६॥
सोहं सिद्धिहिं प्राप्ति हित, इमि सम बुद्धि प्रवीन। योग दुर्ग द्वारा सदा, कर राखत स्वाधीन ॥५७॥
निज कर बदले ब्रह्म लहि, इहिं विधि पार्थ प्रवीन। तेही पावत मोहि कहँ, ह्वै करि के लवलीन ॥५८॥
अर्जुन यों बल योग तें, मिलत न कछु अधिकाइ। उलटे बहु आयास तें, पावहिं दुख नरराइ ॥५९॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अर्थ—निर्गुण ब्रह्म उपासना, करि जो धरि के काय ।
अधिक कष्ट ते निर्गुणहिं, पावहि श्रम अधिकाय ॥५॥

आश्रित नहिं अव्यक्त जो, सकल भूत हितकार । भक्ति विना ही मिलन चह, ताको पांडुकुमार ॥६०॥
नाशक तिनके पंथ के, इन्द्रादिक पद जान । ऋद्धि-सिद्धि दोनों बनें, तासु आड़ मतिमान ॥६१॥
काम क्रुधा ऊधम करैं, तिनके विविध प्रकार । निराकार परब्रह्म के, संग जुभाव अपार ॥६२॥
अर्जुन प्यासहिं प्यास तें, भूखहिं भूख मिटाय । रात दिवस ही हाथ तें, मापत वायु अघाय ॥६३॥
जागत शयनहिं जान, क्रीडा करत निरोध तें । आलापत मतिमान, तरुगण तें करि मित्रता ॥६४॥
शीतहिं पहिरत उष्णतहिं, ओढ़ लेत नरराय । अरु वरषा के बीच महँ, करत निवास स्वभाय ॥६५॥
अधिक कहा यह नित नयो, अग्नि प्रवेश समान । सती करैं भर्तार बिन, तिमि यह योग महान ॥६६॥
नहिं निमित्त हव्यादि कछु, नहि स्वामी को काज । युद्ध करत पै नित नयो, पार्थ संग यमराज ॥६७॥
इति अति तीखो मृत्यु तें, वा उबलत विषपान । की डोंगर लीलत समय, मुख न फटत मतिमान ॥६८॥
अतः योग के पंथ महँ, पार्थ चलत जो कोइ । ताहि योग के दुःख को, भाग मिलत है सोइ ॥६९॥
यदि अदंत मुख मिल चना, लौह अशन के हेतु । पेट भरै वा जाय मरि, जानि न परि कपिकेतु ॥७०॥
अतः सिन्धु को बाहु तें, तरै लगै को पार । अथवा पाँयन चलि सकै, कोई गगन मँझार ॥७१॥
समर भूमि में जाय लगि, सन्मुख अँग न प्रहार । सूर्यलोक की प्राप्ति की, हो इहि पांडुकुमार ॥७२॥
चलत न पवन समान, पैज बाँधि करि पंगुजन । तिमि धरि तन अभिमान, निराकार पावत नहीं ॥७३॥
धीरहिं बँधि यदि ऐसहूँ, चह भू मौं आकाश । क्लेश पात्र तो वे बनै, करैं निरर्थक आश ॥७४॥
अतः पार्थ जे नर करहिं, भक्ति पंथ स्वीकार । तिन्ह कहँ यह दुख होत नहिं, जानहु पांडुकुमार ॥७५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अर्थ—जो ह्वै मत्पर कर्म सब, मोहिं अर्पि धरि ध्यान ।
सेवहिं भाव अनन्य तें, मोहि सदा मतिमान ॥६॥

कर्मेन्द्रिय तें कर्म सब, सुख तें करहिं उदार । जो आये हैं भाग महँ, वर्णाश्रम अनुसार ॥७६॥
कर्म निषिद्धहि त्यागि कर, विधि तें तिनको पाल । मुहिं अर्पन करि देत हैं, सकल कर्म-फल-जाल ॥७७॥
इहिं प्रकार सब कर्म करि, मोहिं समर्पित भार । नास होत हैं कर्म सब, इहिं विधि पांडुकुमार ॥७८॥
कायिक, वाचिक, मानसिक, औरहु जो जो भाव । तिन की दौर न है कहूँ, मो बिन कौनहु ठाँव ॥७९॥
ऐसे मत्पर होय जे, भजहिं निरन्तर मोहिं । ते मम ध्यानहिं के मिषहिं, मम निवास थल होहिं ॥८०॥
जो अति प्रेमहिं मम निमित, करहि सकल व्यापार । भोग मोच्छ वपु रंक कुल, त्यागहिं परम उदार ॥८१॥
करहु पूर्ण मतिमान, तासु एक किमि कहु सकल । मोहिं स्वतन मन प्रान, ऐसे भाव अनन्य बिकि ॥८२॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अर्थ—चित्त समर्पण करत है, जो अर्जुन मम ठाँउ ।
जन्म मरण जगसिन्धु तें, मैं उद्धार कराउँ ॥७॥

अधिक कहा धनुधार जो, मातु उदर उपजाय । सो कितनो प्यारो अहै, माता केर स्वभाय ॥८३॥
जैसे वे चाहत हमहिं, तैसहि मैं तिहिं चाह । नास करहुँ कलिकाल को, तिन को पच्छ निवाह ॥८४॥
औ' ऐसी मम भक्त कहँ, किमि चिन्ता संसारि । माँगहि किंचित अन्न किमि, श्रीयुत की वरनारि ॥८५॥
जानौं मैं इमि भक्त को, जिमि मन अहै कलत्र । कौनहु संकट होय तिहिं, लजौं नहीं सर्वत्र ॥८६॥
जनम मरन की लहर महँ, डूबत यह संसार । तिहिं लखि मम हिय महँ लगत, ऐसे पांडुकुमार ॥८७॥
को नहिं हो भयभीत यह, भवसागर के माँहि । तहाँ कदाचित भक्तहू, मम अर्जुन डर जाँहि ॥८८॥

अर्जुन ताके ग्राम महँ, धारन करि अवतार । धावत हौं अतएव मैं, तासु हेतु धनुधार ॥८६॥
जग महँ नाव सहस्रशः निज नामहिं की साज । तारक बनि पारहि करौं, भवनिधि तें नरराज ॥६०॥
कहहुँ धरहु तुम ध्यान, देखौं जाहि उपाधि बिन । बसहु नाव पर आन, अर्जुन कहौं गृहस्थ ते ॥६१॥
इकहि भक्त के उदरतें, बाँधि प्रेम की डोर । पुनि आनहुँ तट मुक्ति के, पार्थ कृपा की कोर ॥६२॥
नामहि भक्त जु पशुहु परि, कुन्तीसुत सब काँह । करत ताहि वैकुण्ठ के, राज्य योग्य नरनाह ॥६३॥
अतः भक्त को है नहीं, एकहु कोई चिन्त । उद्धारक तिनको सदा, मैं भावत भगवन्त ॥६४॥
अरु जबहीं करि भक्त निज, चित्तवृत्ति मम माँहि । तब ही निज व्यापार महँ, मोहि लगाय सुहाँहि ॥६५॥
याही कारण भक्तवर, कहहुँ तुमहिं यह मन्त्र । अर्जुन सेवन कीजिये, इहि पथ भक्ति स्वतन्त्र ॥६६॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अर्थ—अर्जुन तुम निज बुद्धि अरु, मन धारहु मम माँहि ।
ऐसे कीन्हें बससि तुम, मो महँ संशय नाँहि ॥८॥

यहहि एक मन बुद्धियुत, निश्चय अन्तर हीन । बनहु निवासी पार्थ तुम, मम वपु माँहि प्रवीन ॥६७॥
यह मन बुधियुत प्रेम जो, दोऊ एकहि संग । यदि प्रविशहिं तो पार्थ तुम, पावसि मोहिं अभंग ॥६८॥
अर्जुन जो यह बुद्धि मन, धाम करहिं मम माँहि । तो मैं अरु तुम माँहि पुनि, कहहु भेद का आँहि ॥६६॥
दीपक तेज विनास, अतः दीप के बुझत ही । लोपित होय प्रकास, किंवा रवि के अस्त सँग ॥१००॥
चलत प्राण के सँग ही, जिमि इन्द्रिय गति जाय । मन बुधि दुहु जाँय जहँ, अहंकार तहँ जाय ॥१०१॥
अतः बुद्धि मन दुहुँ धरहु, मम स्वरूप महँ पार्थ । सब व्यापक जो मैं अहौं, सो तुम होउ यथार्थ ॥१०२॥
अर्जुन यह मम कथन को, किंचित मृषा न जान । भली भाँति लखि मैं कहत, करत आपनी आन ॥१०३॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥६॥

अर्थ—यदि तुम निज चित मोहि महँ, धारि सकहु नहिं पार्थ ।
तो तुम योगाभ्यास तें, चाहहु मिलन यथार्थ ॥६॥

यदि मन बुधियुत चित्त निज, पूर्णपनहिं मतिमान । जो तुम कहँ नहिं शक्य यह, सो महँ धरब सुजान ॥१०४॥
तो अर्जुन ऐसो करहु, आठ पहर मधि एक । छिन भरहू धारन करहु, मन चित्त बुधि न अनेक ॥१०५॥
जिहिं जिहिं छिन अनुभवहु तुम, मेरो सुख मतिमान । तिहिं छिन विषयन महँ अरुचि, प्राप्ति होय बलवान॥१०६॥
जिमि जिमि जावत शरद ऋतु, सरिता नीर सुखाय । तैसे कढ़त प्रपंच तें, चित्त वेगि नरराय ॥१०७॥
ज्यों पूनों तें शशिकला, दिन प्रति न्यून दिखात । प्राप्त अमावस के भये, अर्जुन सकल नशात ॥१०८॥
मन चित माँहि प्रवेश, निवृत होय तिमि भोग तें । अरु पुनि होय अशेष, धीरे धीरे पांडुसुत ॥१०९॥
अतः योग अभ्यास जो, जानहु याहिं यथार्थ । ऐसे कौने काज नहिं, इहिं तें होय न पार्थ ॥११०॥
जो आकाशै करि गमन, कौनहु बल अभ्यास । व्याघ्र सर्पहू में करैं, निरवैरता प्रकाश ॥१११॥
कोउक विषय पचाइ इक, उदधि माँहि पग चाल । एक करहिं अभ्यास बल, निजवश वेद विशाल ॥११२॥
जो कीजे अभ्यास तो, कछुक अनाप्त न भास । यातें अर्जुन मोहिं मिलि, करके बल अभ्यास ॥११३॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अर्थ—जो अभ्यास न करि सको, करहु कर्म मम लाग ।
मम उद्देशहिं कर्म करि, मोक्ष लहहु बड़ भाग ॥१०॥

यदि तुम्हरे अँग शक्ति नहिं, पार्थ योग्य अभ्यास । तो जिहिं विधिक्रम तुव अहै, तैसहिं चलौ सुपास ॥११४॥
इन्द्रिय अवरोधहु नहीं, तोरहु जनि उपभोग । त्यागहु जनि अभ्यास को, तुम स्व जाति संयोग ॥११५॥
करहु सकल कुल धर्म तुम, विधि निषेध कहँ पाल । पुनि सुखेन तुम कहँ सहज, आयसु है भूपाल ॥११६॥
कायिक, वाचिक, मानसिक, जो जैसो आचार । ताहि करत मैं कहहु जनि, ताकहँ पांडुकुमार ॥११७॥
को कर्ता कह कर्म, जो जग चालक ईश है । यह सब जानत मर्म, कौन करत को करत नहिं ॥११८॥

करम न्यून या पूर्ण है, खेद चित्त नहिं मान। निज जीवहिं लखु पार्थ तुम, निज स्वरूप महँ आन ॥११९॥
जहँ जहँ माली जाय तहँ, नीर चलै चुप-चाप। कर्म तैस ही होय तुव, अर्जुन आपहिं आप ॥१२०॥
और प्रवृत्ति निवृत्ति को भार न बुद्धिहिं धार। मम महँ चित्त अखंड वृति, धारण करु अनुधार ॥१२१॥
अर्जुन इमि सीधो अहै, अथवा आड़ो पंथ। रथ कहुँ खटपट करत है, कहहु सुभद्राकंथ ॥१२२॥
कहिय न थोरो अरु बहुत, जो जो कर्म कराय। एकनिष्ठता भाव तें, मम ठिकान अर्पाय ॥१२३॥
ऐसहि धरि मम भावना, तो तन त्यागे पार्थ। तुम पहुँचहु सायुज्यगृह, जो मम अहै यथार्थ ॥१२४॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अर्थ—या में हू असमर्थ यदि, करु मम योगाधार।
सकल कर्म फल त्याग करु, तुम मन जीत उदार ॥११॥

किं बहु यदि तुम कर्म यह, अर्पण करहु न मोहिं। तो तुम पांडुकुमार अब, ऐसो समुझहु ओहि ॥१२५॥
आदिहिं अन्तहिं बुद्धि के, कर्म आदि वा अन्त। यदि मम सुमिरन कठिन है, सुनहु सुभद्राकन्त ॥१२६॥
निज बुधि पार्थ लगाव, इन्द्रिय निग्रह के विषय। मैं यह करत जनाव, मेरो चिन्तन त्याग यदि ॥१२७॥
अरु जिहिं जिहिं अवसर बने, सकल कर्म जो धीर। तिनके फल की आश को, त्यागि देहु रणधीर ॥१२८॥
जिमि तरु में या बेलि में, फल आवत जिहिं काल। ते त्यागत फल कर्मफल, तिमि त्यागिये भुवाल ॥१२९॥
कीजिय मम हित कर्म धरु, मम में प्रीति विशाल। यह न होय तो जान दे, शून्यहिं अर्पि भुवाल ॥१३०॥
अनल माँहि बीजहि बुवे, जिमि पाहन पर नीर। तैसहि जो जो कर्म करु, लखहु स्वप्नवत धीर ॥१३१॥
अहह पिता जिमि करत नहिं, निज कन्या अभिलाष। तैसे जो जो कर्म करु, धरहु न तिहिं फल आश ॥१३२॥
जैसे ज्वाला आग की, वृथा जाय आकाश। शून्य-माँहि तिमि जान दे, करु न क्रियाफल आश ॥१३३॥
अर्जुन यह फल त्याग यदि, साधारण समुझाय। पै है ये सब योग तें, श्रेष्ठ योग नरराय ॥१३४॥
कर्महिं करि फल त्याग करि, पुनि न कर्म उपजाय। बाँस फरै इक बार जिमि, बहुरि बाँझ ह्वै जाय ॥१३५॥

यह शरीर को त्यागि तिमि, धरै न अपर शरीर । अधिक कहा आवागमन, तें छूटे मतिधीर ॥१३६॥
अर्जुन बल अभ्यास तें, ज्ञान प्राप्त ह्वै जाय । ज्ञान प्राप्त ह्वै जाय जब, ध्यान धरिय सुखदाय ॥१३७॥
दै आलिंगन ध्यान, जब ही अर्जुन भाव सब । दूर होत मतिमान, तब ही कर्म अशेष सब ॥१३८॥
सकल कर्म जब दूर रहि, तब संभव फल त्याग । अरु त्यागहिं तें होय वश, शान्ति सकल बड़भाग ॥१३९॥
अतः याहि क्रम शान्ति के, हेतु सुभद्राकंत । तन मन से यह चाहिये, करु अभ्यास निरंत ॥१४०॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अर्थ—ज्ञान परम अभ्यास तें, श्रेष्ठ ज्ञान तें ध्यान ।
ध्यानहुँ ते फल त्यागबर, तातें शान्ति महान ॥१२॥

जानहु पुनि अभ्यास तें, कठिन ज्ञान वीरेश । कह्यो गयो है ज्ञान तें, अर्जुन ध्यान विशेष ॥१४१॥
ध्यानहु ते उत्तम अहै, सकल कर्म फल त्याग । अरु त्यागहुँ ते श्रेष्ठ है, शान्ति हर्ष बड़भाग ॥१४२॥
ऐसहि पंथ इन्ह धाम तें, जाकर सुभट सुजान । प्राप्त करत जो शान्ति बस, मध्यधाम मतिमान ॥१४३॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकार समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

अर्थ—सकल प्राणि महँ द्वेष बिन, सबको मीत दयालु ।
अहंकार ममता रहित, सम सुख दुःख क्षमालु ॥१३॥

जो सब भूत ठिकान महँ, समझ न द्वेष स्वभाव । जिमि चेतन जाने नहीं, आप और पर भाव ॥१४४॥
उत्तम जन को भार धरि, त्यागहु अधम ठिकान । जिमि धरनी जाने नहीं, तैसहि तासु प्रमान ॥१४५॥
नातर नृप की देह रमि, त्यागहु रंक शरीर । अतः न जानत प्राण यह, जो कृपालु मतिधीर ॥१४६॥
जानत नहिं जिमि नीर, हरैं गाय की प्यास मैं । मारैं बाघ अधीर, ह्वै करि के विष तोय मैं ॥१४७॥

सकल प्राणि गण मात्र में, जिहिं मित्रता समान। स्वयं कृपा आधार है, जो सर्वत्र सुजान ॥१४८॥
जाकर मन भासत नहीं, मैं अरु मेरो भाव। अरु सुख दुख जानत नहीं, अर्जुन मनहिं स्वभाव ॥१४९॥
क्षमा जासु के विषय में, भूमि योग्यता अंग। संतोषहि की गोद में, आश्रय दियो उमंग ॥१५०॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

अर्थ—सतत अहै संतुष्ट जो, दृढ़निश्चय थिर-चित्त।
जो अर्पै मन बुद्धि मुँहि, सो मम प्रिय मम भक्त ॥१४॥

जिमि जलनिधि वरसा विना, सदा रहै जलपूर। तिमि संतोषित रहत सो, बिन उपाय भरपूर ॥१५१॥
जो निज अन्तःकरण करि, स्ववश धारि निज आन। जिहि निश्चय तें साँच हूँ, निश्चिय मिलत सुजान ॥१५२॥
जीव कि ब्रह्महु दोउ बसि, आसन एक सुजान। जाके अन्तःकरण गृह, शोभित होत महान ॥१५३॥
संयुत योग समृद्धि इमि, जो असीम है पार्थ। अर्पण कर मन बुद्धि निज, मेरे माँहि यथार्थ ॥१५४॥
अन्तर बाहर सिद्ध है, पार्थ योग वर रीति। धारत तदपि सप्रेम जो, मम ठिकान अतिप्रीति ॥१५५॥
अर्जुन जो मम भक्त, सो योगी सो मुक्त है। ऐसो मम अनुरक्त, सो पतिनी मैं पति अहौं ॥१५६॥
अल्प दिखाई देत यह, जो मैं वरन्यो ताह। मम प्रानहु तें प्रिय अहै, सो मम जीवन नाह ॥१५७॥
कथा प्रेम युत भक्त की, भूल भुलैया जान। यह बोलन की बात नहिं, पै करि प्रेम बखान ॥१५८॥
अतः वेगि उपमा कही, याकी पार्थ सुजान। कहहु प्रेम को कथन किमि, वरन्यो जात महान ॥१५९॥
अब यह अर्जुन रहन दे, प्रेमी कथन अपार। दुगुन होत बल प्रेम को, यातें आप विचार ॥१६०॥
श्रोता जो प्रेमी मिलै, यदि कदापि मतिधीर। तासु मधुरता की कहा, उपमा कहिये वीर ॥१६१॥
अतः पांडुसुत तुम अहौ, प्रेमी श्रोता दोय। कह्यो प्रसंगहिं यह कथा, प्रेमी को जिय जोय ॥१६२॥
कथन करी मैं यह कथा, भली भाँति सुख पाय। ऐसहि कहि डोलत भये, श्रीकेशव कुरुराय ॥१६३॥
बहुरि कहत लच्छण भगत, जानिय पांडुकुमार। बैठारत अंतःकरन, जिहिं मैं भली प्रकार ॥१६४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अर्थ—जातें लोक न क्षोभ करि, जग तें क्षोभ न पाय।
हर्ष शोक भय त्रास विन, मुक्त सोइ मुहिं भाय ॥१५॥

उदधि गर्जना माँहि नहिं उपजत भय जलचरहिं। क्षुभित होत है नाँहि, जलचरहू ते उदधि जिमि ॥१६५॥
जग उन्मद तें जाहि कछु, खेद नहीं मन माँहि। अरु जाके सहवास तें, जग दुख पावत नाँहि ॥१६६॥
अधिक कहा ऊबै जिमि, देह अंग उप अंग। जीवपनहिं ऊबै नहीं, तिमि लहि लोक प्रसंग ॥१६७॥
जगहि देह बनि अतः नसि, प्रिय अप्रिय को भाव। हर्ष शोक दोनों नसैं, इक अद्वैत स्वभाव ॥१६८॥
सुख दुख ते बाधित नहीं, भय अरु क्षोभ विहीन। ऐसी हू थिति पाइ मम, धारत भक्ति प्रवीन ॥१६९॥
अधिक कहा मो कहँ अहै, ता की चाह अतीव। यह मम प्रेमी है किधौं, मम जीवन की जीव ॥१७०॥
निजानंद तें तृप्त जो, रूपान्तर जन्माय। नारि पूर्णता रूप जो, ताको पति नरराय ॥१७१॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अर्थ—उदासीन शुचि चाह बिन, सब आरम्भ विहीन।
निपुणहु गत दुख भक्त मम, सो प्रिय परम प्रवीन ॥१६॥

जा महँ अर्जुन है नहीं, इच्छा को संचार। जासु वृत्ति महँ भरि रह्यो, सुख परिपूर्ण अपार ॥१७२॥
काशीक्षेत्र पवित्र अति, दायक मोक्ष उदार। पै तहँ जाय शरीर को, त्यागहिं पाँडुकुमार ॥१७३॥
पै जीवन की हान, हिय गिरि दोषहिं नाश करि। सज्जन की मतिमान, तिमि पवित्रता होत नहिं ॥१७४॥
शुचितहिं हित शुचि गंगहू, हरहि पाप संताप। बूड़न को डर है तहां, पै विचारिये आप ॥१७५॥
सरितहिं भक्ति अपार परि, डूबि न तहँ परि जाय। प्राणहानि बिन मिलत है, मोक्ष अभंग स्वभाय ॥१७६॥
गंगा के पातक नसैं, संत-समागम पाय। ता सत्संग प्रभाव शुचि, कैसे बरनी जाय ॥१७७॥

निज पवित्रता ते हरैं, तीर्थ कुवासहिं सन्त । मन मल दश दिशि लंघि सब, सन्त प्रभाव अनंत ॥१७८॥
अंतर बाहर शुद्ध जो, निर्मल रवि सम जान । पारदर्शि तत्त्वार्थ निधि, पायालहि मतिमान ॥१७९॥
सकल व्याप्त अरु लिप्त नहिं, जैसे अहै अकास । तैसहि मानस जासु को, सदा पवित्र प्रकाश ॥१८०॥
जगत व्यथा तें मुक्त जे, भूषण साज निराश । व्याध हाथ ते छूट जनु, निर्भय खग आकाश ॥१८१॥
सतत सुखी तिमि कौन हू, त्रास न लहत सुजान । जिमि लज्जा जानै नहीं, मृतक देह अनजान ॥१८२॥
अग नहीं अभिमान, कर्मारम्भहिं हेतु जिहिं । आश बुझत मतिमान, जैसे ईंधन के बिना ॥१८३॥
अहै शान्ति मोक्षागिनी, आवै तासु ठिकान । मानहु तासु विभाग महँ, प्राप्त भई मतिमान ॥१८४॥
सकल ओर भरि कै रह्यो, सोऽहं भाव स्वरूप । पार द्वैत तें होय जनु, तट पहुँच्यो नरभूप ॥१८५॥
आपहि अपने अंग के, बाँटि करहु दुइ भाग । सेवक बनि सेवा करौं, भक्त सुखहिं हितलाग ॥१८६॥
दूजे भागहिं नाम मम, जोगी देत सुजान । जो अभक्त तिहिं भक्ति पथ, वर दिखाय मतिमान ॥१८७॥
आतम रूपहि मम अहै, करौं ताहि ते प्रीत । अधिक कहा ताके मिलै, समाधान मम मीत ॥१८८॥
धारत हम अवतार तिहिं, हेतु यहाँ पर आय । इतनो प्यारो तासु हित, प्रान निछावर लाय ॥१८९॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

अर्थ—जो न प्रमोद रु द्वेष करि, सोच न करत न चाह ।
तजत शुभाशुभ भक्त इमि, सो मम प्रिय नरनाह ॥१७॥

आतम लाभ समान जो, उत्तम लाभ न जान । अतः न भोग विशेष महँ, पावत हर्ष सुजान ॥१९०॥
नसत सहज तिहिं भेद सब, ह्वै करि विश्व स्वरूप । अतः द्वेष नसि जासु सो, उत्तम पुरुष अनूप ॥१९१॥
नसत नहीं कल्पान्त, सत्यहिं अपनी वस्तु जो । सोच सुभद्राकान्त, जानि न करगत वस्तु को ॥१९२॥
जासु परे नहिं और कछु, सो निज आप ठिकान । तातें कौनहु वस्तु की, चाह न करत सुजान ॥१९३॥
उत्तम किंवा अधम यह, जान न पांडुकुमार । रवि जानत दिन रैन नहिं, जिमि निज तेज अपार ॥१९४॥

केवल ऐसो बोधमय, ह्वै कर सर्व प्रकार। भजन शीलता ताहु पर, मोरे माँहि उदार ॥१९५॥
ऐसो दूजो ताहि सम, मोहिं न प्यारो आन। सत्य कहत मैं आप तें, करत आपकी आन ॥१९६॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥

अर्थ—सखा शत्रु जिहिं एक सम, तथा मान अपमान।
शीत उष्ण सुख दुःख सम, संगरहित धीमान ॥१८॥

अर्जुन जाके माँह कछु, विषम वस्तु जग नाँहि। शत्रु मित्र दोनों सरिस, जो मानत मन माँहि ॥१९७॥
गृह जग कहँ उजियार अरु, इतर जनहिं अँधियार। जैसे यह जानत नहीं, दीपक पाँडुकुमार ॥१९८॥
जो बीजारोपण करत, अथवा मारत घाव। देत दुहुँन को एक सम, छाया वृक्ष स्वभाव ॥१९९॥
जो है पालक तिहिं मधुर, प्रेरक कटु सवाद। ऊख देत नहिं भांति इहिं, मन महँ मान विषाद ॥२००॥
इमि न भाव जिहिं जान, अर्जुन तिमि रिपु मित्र को। समहिं मान अपमान, रहत जासु की बुद्धि में ॥२०१॥
एक समानहिं रहत जिमि, तीनहुँ ऋतु आकास। शीत उष्ण को भान तिमि, एक समान विभास ॥२०२॥
उत्तर दच्छिण पवन महँ, जैसे रहे सुमेरु। तिमि सुख दुख की प्राप्ति महँ, तिहिं मन परत न फेरु ॥२०३॥
जिमि सुखकारी चाँदनी, राजा रंक समान। तिमि सब प्राणी मात्र कहँ, एक समान सुजान ॥२०४॥
सब जग कहँ जिमि एक सम, सेव्य नीर धनुधारि। तैसे तीनहुँ लोक सब, चाहत तिहिं निरधारि ॥२०५॥
अन्त बाहर जो तजत, सर्सबन्ध सब रंग। एकान्तहि बसि आत्मरत, आनँदरूप असंग ॥२०६॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

अर्थ—सम स्तुति निंदा मौनि अरु, जिहि तिहिं लहि सन्तुष्ट।
सदन न थिरमति भक्त जो, सो मो कहँ प्रिय इष्ट ॥१९॥

जो निंदा तें द्वेष अरु, स्तुति तें भनय न मान। आकाशहिं लागत नहीं, जैसे लेप सुजान ॥२०७॥

निंदा औ'नुति तें करत, तिमि एकहिं सम मान। जन अरु वन महँ जो विचरि, प्रानवृत्ति अनुमान ॥२०८॥
धारन करि जो मौन, साँच झूठ दोनों न कहि। भोग ब्रह्मथिति भौन, तें जो कबहुँ न दूर रहि ॥२०९॥
जो नहिं कुपित अलाभ तें, मुदित न लाभ यथार्थ। जिमि समुद्र सूखै नहीं, बरसा के बिन पार्थ ॥२१०॥
एक ठिकाने रहत नहिं, जैसे कहूं समीर। आश्रय धारन करत नहिं, तैसे जो रणधीर ॥२११॥
नित्य निवास समीर करि, जिमि आकाश समस्त। तिमि जाको विश्राम थल, है संसार प्रशस्त ॥२१२॥
यह सब जग मम घर अहै, ऐसी थिरमति जाहि। अधिक कहा चर अचर जो, आपहि होय रहाहि ॥२१३॥
अर्जुन पुनि मम भजन में, इमि आस्था जिन माँहि। तो निज माथे को मुकुट, मैं तिन्ह करौं सदाँहि ॥२१४॥
नतसिर करि उत्तम जनहिं, यह कह अचरज होइ। त्रिजग मान मम किन्तु मैं, चरनामृत लहि सोइ ॥२१५॥
आदर श्रद्धा योग्य को, कीजै कौन प्रकार। यह जानिय तब जब मिले, श्रीगुरु शंभु उदार ॥२१६॥
अधिक कहा यह बात कहि, शंकर महिमा गाय। होय तत्त्वतः आतम को, नुति संचार स्वभाय ॥२१७॥
कहत भये श्रीनाथ, अतः रहन दे बात यह। अर्जुन अपने माथ, ऐसो भक्तन को धरहुँ ॥२१८॥
जो चौथो पुरुषार्थ है, सिद्ध मोक्ष को रूप। निजकर गहि चलि भक्त पथ, है अँग पार्थ अनूप ॥२१९॥
जो अधिकारी मोक्ष को, करत मोक्ष व्यापार। पै राखत है नीरसम, नम्र भाव धनुधार ॥२२०॥
नमन तेहि ते ताहिं मम, करहुँ मुकुट निज माथ। तासु चरन को चिन्ह मैं, धरहुँ हृदय नरनाथ ॥२२१॥
अलंकार गुण तासु के, निजवाणी महँ धारि। तिहिं महिमा भूषण धरहुँ, अर्जुन श्रवण मँझारि ॥२२२॥
अतः दर्शहित तासु मैं, नैनहीन लहि नैन। निज भुज लीला कमल तें, पूजि लहौं चित चैन ॥२२३॥
दो भुज में पुनि दो भुजा, अपने माँहि लगाय। आलिंगन तिहिं अंग के, लेन हेतु सद भाय ॥२२४॥
सँगति जिहिं सुख लाभ हित, मैं विदेह तन धार। अधिक कहा उपमा नहीं, सो मम प्रान अधार ॥२२५॥
या महँ कहा विचित्र, सो ही है मम मित्र अति। जो सुनि तासु चरित्र, पै अर्जुन इतनहि नहीं ॥२२६॥
सत्यहु ते मम प्रान तें, परम पियारे जान। जो मम भक्त चरित्र के, करत मुदित जस गान ॥२२७॥
आदिहु अंतहु लगि कह्यो, योग स्वरूप समस्त। भक्ति योग यह जानिये, पांडुकुमार प्रशस्त ॥२२८॥
जाकर थिति ऐसी परम, करहुँ ताहि पर प्रीति। तिहिं धारहुँ मन शीष पर, अर्जुन यह मम रीति ॥२२९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

अर्थ—ये धर्मामृत मम कथित, को जो करि आधार ।
श्रद्धायुत 'पर' जान मुहिं, अति प्रिय मोंहि उदार ॥२०॥

अमृत धारा धर्म यह, परम रम्य यह बात । जो सुनिकै अनुभव करत, प्रीति सहित अति तात ॥२३०॥
श्रद्धा तें आदरहिं जे, भक्तियोग विस्तार । अरु मन माँहि विचार बहु, करहिं जासु आचार ॥२३१॥
कीन्ह निरूपण जिमि अतः, तिमि मन मांहि विचार । बोनी करैं सुखेत महँ, जैसे बीज उदार ॥२३२॥
श्रेष्ठ परम मुहिं जानि कै, इहि हित प्रेम अपार । सर्वस्वहिं पुनि मानि कै, करि अर्जुन स्वीकार ॥२३३॥
अर्जुन या जग मांहि हैं, ते योगी अरु भक्त । उत्कंठा तिहिं हेतु मम, अहै अखंड समस्त ॥२३४॥
अतिशय पांडुकुमार, कथा भक्ति की जाहि प्रिय । सो पावन संसार, वही तीर्थ अरु धाम है ॥२३५॥
औ' देवार्चन मम करैं, करहुँ ताहि को ध्यान । तिहिं सिवाय भावत नहीं, अर्जुन कोई आन ॥२३६॥
निधि निधान सब मों अहै, व्यसन तासु को जान । अधिक कहा तिहिं मिलन तें, समाधान मम मान ॥२३७॥
कीरति प्रेमी भक्ति की, जोई बरनत तात । परमदेव मैं आपुनो, तिहिं मानत प्रमुदात ॥२३८॥
सर्व जगत आनन्दप्रद, सृजत सकल संसार । संजय कहि धृतराष्ट्र तें, कह्यो मुकुन्द सुसार ॥२३९॥
निर्मल अरु अकलंक जो, जग पर परम कृपाल । शरण जान के योग्य जो शरणागत प्रतिपाल ॥२४०॥
जो लीला लालन जगत, शील सहायक देव । जासु खेल रक्षा करैं, शरणागतहिं न भेव ॥२४१॥
सोहत कीरति धरम जो, सरल अगाध उदार । अतुल प्रबल बल प्रेम रज्जु, बँधि बलि बंधन भार ॥२४२॥
जो है वत्सल भक्तजन, मिलि प्रेमहिं करि हेतु । सकल कला को निधि महा, कृष्ण सत्य को सेतु ॥२४३॥

श्रीपति श्री भगवान, चक्रवर्ति निज भक्त के। भाग्यवान बलवान, प्रभु वर्णित अर्जुन सुने ॥२४४॥

संजय कहि धृतराष्ट्र तें, अब याके उपरांत। कृष्ण निरूपण भाँति जिहिं, सो सुन चित एकांत ॥२४५॥

सो इहि कथा रसाल मैं, भाषापथ महँ लाय। अब वर्णत कीजै श्रवण, श्रोतागन चित लाय ॥२४६॥

सन्तन की गहि शरण कहि, ज्ञानदेव सानद। ये सिखयो मम स्वामि गुरु, निवृतिदेव सुखकंद ॥२४७॥

—०:❀:०—

ॐ तत्सदिति श्री सत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-

दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)

निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्

ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर

श्री गणेश प्रसाद-कृतायां गीता-

ज्ञानेश्वर्य्यां द्वादशोऽध्यायः

शुभमस्तु

ॐ तत्सत् ३



ॐ

त्रयोदश अध्याय

आश्रय थल विद्या सकल, आत्म-रूप गण ईश।
सुमिरन कर बंदौं चरण, श्री गुरु के नत शीष ॥१॥

जाके चिंतनमात्र तें, काव्य शक्ति स्वाधीन। सुसंपूर्ण विद्या बसैं, जिह्वा माँहि प्रवीन ॥२॥
कथन मधुरता होय इमि, अमृत फीको होय। अक्षर के अनुकूल ही, रस आश्रय रहि जोय ॥३॥
धरि स्वरूप अभिप्राय करि, प्रगट सँकेत समस्त। आत्म-ज्ञान निःशेषतः, सकल होय गत-हस्त ॥४॥
सद्गुरु चरण सरोज यदि, करहिं हृदय मँह वास। इहिं प्रकार तें ज्ञान को, भाग्योदय सुख-रास ॥५॥
जो विरंचिहू को पिता, अब तिहिं करहुँ प्रणाम। श्री लक्ष्मी के नाथ इमि, कहत भये सुखधाम ॥६॥

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

अर्थ—कहत क्षेत्र इहिं देह को, हे कुन्तीसुत बीर।
जो जानत क्षेत्रज्ञ तिहिं, कहत तत्वविद धीर ॥१॥

अर्जुन सुन इहि देह कहँ, क्षेत्र कहत संसार। जो जानत इहिं ताहि कहँ, कहि क्षेत्रज्ञ उदार ॥७॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

अर्थ—क्षेत्रहि महँ क्षेत्रज्ञ जो, अर्जुन मो कहँ जान ।
ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जो, उत्तम मम मतिमान ॥२॥

जाहि कहत क्षेत्रज्ञ सो, निश्चय जानिय मोंह । मो कहँ पोषक मानिये, पार्थ क्षेत्र संदोह ॥८॥
यातें निश्चय जान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को । मै समभत हों ज्ञान, प्यारे अर्जुन वाहि को ॥६॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

अर्थ—का यह तन किहिं भांति हैं, सह इंद्रियन विकार ।
किमि उपजत अरु शक्ति सो, सुनु संक्षेपहिं सार ॥३॥

इहि तन के जिहिं भावतें, कह्यो क्षेत्र यह नाम । अब वरणौं तुमतें सकल, सो अभिप्राय ललाम ॥१०॥
क्षेत्र कहत किमि देह कहँ, यह कैसे उपजाय । बाढ़त कौन विकार तें, पावत वृद्धि अघाय ॥११॥
यह लघु साढ़े तीन भुज, या कितनो अधिकाय । पीक सहित वा पीक बिन, कौन अहैं नरराय ॥१२॥
औ इत्यादिक सब अहैं, याके जो जो भाव । सविस्तार वर्णन करौं, चित दै सुनु सदभाव ॥१३॥
याही के कारण करत, श्रुति सर्वदा प्रलाप । इहिं निश्चय के हेतु करि, तर्क जल्पनालाप ॥१४॥
छहौं शास्त्र सब थकि रहैं, करत करत संवाद । तबहुँ समभ पायो नहीं, अजहूँ वाद-विवाद ॥१५॥
नसि सगोत्रता शास्त्र की, इहिं एकहिं के हेतु । वाद उपस्थित जगत में, ऐक्य हेतु कपिकेतु ॥१६॥
एकहुँ दुसरे तें नहीं, मुख अरु वचन मिलाप । युक्ति पराजित ह्वै गई, करिके विविध प्रलाप ॥१७॥
जानत नहिं यह कौन थल, कैसो बल अभिलाप । जो घर घर पीटत फिरै, निज कपाल किहिं आश ॥१८॥
अधिक वेद विस्तार, नास्तिक मुखहिं प्रहार हित । बड़ बड़ बिन आधार, तिहिं लखि पाखंडी करत ॥१६॥
सो वरनत निर्मूल यह, असत् वाक को जाल । जो यह भूठो कथन मम, तो प्रन करत विशाल ॥२०॥

कोई पाखंडी नग्न, कोई मुंडित केश। बहुत वितंडावाद परि, होंहि परास्त जनेश ॥२१॥
देह निरर्थक जाय यह, मीचि मांहि बिन काज। योगी योगाभ्यास करि, तन संरक्षण व्याज ॥२२॥
अर्जुन डरपहिं मरण तें, ते सेवहिं एकान्त। यम-नियमन समुदाय को, सेवहिं आद्योपान्त ॥२३॥
यहहि क्षेत्र अभिमान ते, शंभु त्याग के राज। जान उपाधि मसान में, वास करत महिराज ॥२४॥
आवृत करि दशहूँ दिशा, करि इमि पैज महेश। कियो काम को कोयला, जान लुभायक वेष ॥२५॥
उपजि विरिंचिहिं चारमुख, याके निश्चय हेतु। पै न जानि सो सर्वथा, यह जानहु कपिकेतु ॥२६॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

अर्थ—कथन विलगि विधि, वेद बहु, ऋषिगन विविध प्रकार।
ब्रह्म सूत्र पद हेतु युत, निश्चित कह्यो उदार ॥४॥

एक कहत यह देह सब, अहै जीव आधीन। तासु व्यवस्था प्रान कहुँ, दीन्ही सौंप प्रवीन ॥२७॥
सेवक भाई चार, जिहिं प्रानहिं घर हैं सगे। और एक रखवार, मन समान है तासु के ॥२८॥
तहँ दश इन्द्रिय वृषभ युग, श्रम न गनहिं दिन रैन। विषय स्वरूपी खेत महँ, आँट करैं दिन रैन ॥२९॥
अरु विधि तजि कर्तव्य की, बीज बोय अन्याय। डारत खात कुकर्म की, अर्जुन तहँ अधिकाय ॥३०॥
अघटित पीकैं पाप तहँ, अर्जुन बीज समान। जन्म कोटि लगि दुःख को, भोगे जीव महान ॥३१॥
अथवा विधि आचरण कर, सत्क्रिय बीजारोपि। जन्म कोटि लगि सकल सुख, जीव भोग करि सोऽपि ॥३२॥
अपर कहत ऐसो नहीं, क्षेत्र न जीवाधीन। यह काके आधीन हैं, मो तें बूझ प्रवीन ॥३३॥
अहहै जीव यह पथिक जिमि, वस्यो प्रवासी आय। और पहरुवा प्रान यह, तातें जगत रहाय ॥३४॥
सांख्य-मतहिं गायन करत, जिहिं सो प्रकृति अनादि। क्षेत्र तासु की वृत्ति है, जान लेहु श्रोतादि ॥३५॥
और प्रकृति के गेह महँ, अहै सकल समुदाय। अतः प्रकृति तन खेत महँ, जोतत अहहिं स्वभाय ॥३६॥
गुण तीनहु संसार, उपज तासु के उदर तें। कर्ता कृषि, व्यापार, जानहुँ गुनहिं प्रधान तुम ॥३७॥

जहँ रज गुण बौनी करत, सद्गुण करि रखवारि । अवसर आवत ही करत, तमः कटाई भारि ॥३८॥
साधि समय अव्यक्त वर, खूंदि वृषभ वपु काल । महत्तत्त्व खलियान को, निर्मित करै विशाल ॥३९॥
करत तिरस्कृत यह वचन, कोई इक मतिवन्त । सकल कल्पना यह अहै, अर्वाचीन न तन्त ॥४०॥
कहत महत्ता प्रकृति की, ब्रह्म तत्त्व के मॉहि । सुनहु क्षेत्र वृत्तान्त यह, तुम चुपचाप सराहि ॥४१॥
जहँ लय रूपी पलँग पर, शैया शून्य स्वरूप । तहँ बलयुत संकल्प जो, सोवत रह्यो अनूप ॥४२॥
अकस्मात जागत भये, सदा उद्यमी वीर । इच्छावश पावत भये, धन निधान गंभीर ॥४३॥
निराकार की वाटिका, जो त्रिभुवन के रूप । तासु पराक्रम तें भई, हरी भरी नर भूप ॥४४॥
एक महाभूतहिं कियो, जो अनेक निज चाह । अरु प्रानी समुदाय रचि, चार भाँति नरनाह ॥४५॥
आदि पंच भूतानि के, भेद पृथक्क बिलगाय । नंतर भौतिक पंच की, बँधिया दियो बँधाय ॥४६॥
कर्माकर्म दिवार, दोनहुँ ओरनि बाँधि करि । कीन्हों तहाँ उजार, ऊसर बाँगर रान पुन ॥४७॥
निरालम्ब तें इतहिं लगि, जन्म-मरण वपु पंथ । सरल अरुकि संकल्प ने, रच्यो सुभद्राकंथ ॥४८॥
अहंकार तें एक करि, जब लगि जीवनकाल । बुद्धि करत व्यवहार सब, चर अरु अचर विशाल ॥४९॥
चिदाकाश मँह भाँति इहिं, बढ़ि संकल्पी शाख । कारण मूल प्रपंच को, अतः यही मम भाख ॥५०॥
इमि मति मुक्ता फल सुनत, पुनि कहि अपर विवाद । अतः विवेकी यह भलो, हाहा तुव संवाद ॥५१॥
जो शैया संकल्प लखि, ब्रह्मतत्त्व को गाँव । तो पुन किमि मानत नहीं, प्रकृति तासु को नाँव ॥५२॥
किन्तु न ऐसी बात यह, तुम न लगहु इहिं फेर । अब हम यह तुमतें सकल, कहत न लागहिं देर ॥५३॥
कौन भरन कर गगन महँ, सकल घनन कहँ आय । अरु को धारन करन हैं, तारागन समुदाय ॥५४॥
कौन तनायो आन, गगन चँदोवा कब तन्यो । पवन हिंडोरन जान, किन्ह की आयसु मान के ॥५५॥
कौन बवत रोमावली, सागर कौन भराय । अरु को बरसा करत है, पावस कालहिं पाय ॥५६॥
यह न वृत्ति है काहु की, क्षेत्र स्वभाविक आहिं । जो जोतै सोई लहै, अपर न पावत ताहिं ॥५७॥
अपर एक तब कहत सुन, नीके करिके कोपि । तो किमि एकहिं भोग करि, केवल कालहिं सोपि ॥५८॥
यदपि लखत इहिं काल की, घात सदा अनिवार । परि निज मति को गर्व करि, अभिमानी न विचार ॥५९॥

सरिस कंदरा सिंह यह, मरन भयंकर जान । वृथा वाद पर का करिय, पूरी परि न निदान ॥६०॥
करत महा कल्पहु परै, काल अचानक घात । सत्यलोक वर जाति अँग, घालत नहीं अघात ॥६१॥
दिग्गज-गन को मर्दि करि लोकप नित्य नवीन । स्वर्गहिं करत अरण्य वत, सब कछु काल अधीन ॥६२॥
जनम मरन वपु चक्र में, लगत पवन तिहिं अंग । भ्रमवश घूमत जीव मृग, लहि निर्जीव प्रसंग ॥६३॥
केतो दीन्ह पसार, देखु काल पंजा प्रबल । कुंजर जिमि आकार, जगत धरयो कर मध्य जो ॥६४॥
अतः काल सत्ता अहैं, यह मत सत्यहिं जान । अर्जुन याही क्षेत्र हित, इमि मतभेद प्रमान ॥६५॥
इमि बहु वाद विवाद करि, ऋषि नैमिष आरन्य । अभिप्राय याके विषय, कथा पुराण जघन्य ॥६६॥
छंद अनुष्टुप आदि महँ, इहि विधि अहै प्रबंध । अब लगि ग्रन्थ सगर्व कहि, क्षेत्र विषय संबंध ॥६७॥
निरखि वेद के बृहत जे, साम सूत्र अति शुद्ध । परि तेहू जानत नहीं, क्षेत्र विषय अवरुद्ध ॥६८॥
अमित दूरदर्शी विपुल, महा महाकवि जोइ । क्षेत्र विषय महँ वाद करि, हारि थके मति सोइ ॥६९॥
ऐसहि यह परि है इतो, याको स्वामी कौन । निश्चय तें यह बात इमि, कह न सकत मति भौन ॥७०॥
औ यापै यह क्षेत्र जिमि, करि साद्यन्त विचार । तैसो मैं वरनन करौं, तुम तें पांडुकुमार ॥७१॥

महाभूतान्यहंकारो, बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंचचेन्द्रियगोचराः ॥५॥

अर्थ—कारण पंचीकृत अहं, बुद्धि और अव्यक्त ।
दश इन्द्रिय मन और दश, इन्द्रिय विषय समस्त ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

अर्थ—इच्छा द्विष सुख-दुख निकर, चेतनाहु धृति जान ।
कहि क्षेत्रहि संक्षेप में, यह विकारयुत मान ॥६॥

आदि महा जे भूत पँच, अहं बुद्धि अव्यक्त । पँच ज्ञान अरु कर्म पँच, दश इन्द्रियहु समस्त ॥७२॥

इन्द्रिय कर्मरु ज्ञान, इक मन दशहू विषय जे । इच्छा जान सुजान, सुख दुख द्वेष समूह अरु ॥७३॥
चेतनता अरु धैर्य यह, तत्त्व क्षेत्र मैं जान । सो सब कहँ वरनन करौं, मैं तुम तें धीमान ॥७४॥
कौन विषय इन्द्रिय कवन, महाभूत अब कौन । एक एक करि विलग मैं, कहौं सकल मति भौन ॥७५॥
देख धरा जल तेज अरु, पवन और आकाश । महाभूत ये पांच हैं, समुझ कहौं सुखराश ॥७६॥
औरहु जागृति दशहिं मैं, स्वप्न छिपो जिमि जान । किंवा रात अमावसहिं, चंद्रगुप्त नतिभान ॥७७॥
नातर जिमि शैशव दशा, रहित तरुणता जोय । किंवा जिमि फूलन कली, माँहि सुगंधहु गोय ॥७८॥
अधिक कहा जिमि काष्ठमहँ, अग्नि न प्रगट जनाय । गुप्त प्रकृति के उदर महँ, जैसहिं जग नरराय ॥७९॥
जैसहि ज्वर जो धातुगत, कुपथ निमित्त निहार । पुनि अंतह तें प्रगट ह्वै, बाहर फैलत भार ॥८०॥
गाँठि परत तिमि पाँच की, प्रगट देह आकार । अहंकार नाचत फिरै, चारहुँ ओर उदार ॥८१॥
अति अचरज हंकार, अज्ञानी सँग लगि न तिमि । भरि दुख विविध प्रकार, ज्ञानसहित के कंठ लगि ॥८२॥
जाहि बखानत बुद्धि तिहिं, इहिं लक्षण तें जान । कहत सुनौ तुम पार्थ इमि, कहन लगे भगवान ॥८३॥
काम प्रबलतहिं पाय करि, इन्द्रिय वृत्ति मिलाय । एकत्रित ह्वै जात हैं, सकल विषय समुदाय ॥८४॥
जहँ सुख-दुख के लूट को, अनुभव पावत जीव । तहँ समुझत तुलना उभय, को हैं न्यून अतीव ॥८५॥
यह सुख है यह दुःख है, यह है पुन्य विकार । यह उत्तम यह अधम है, ऐसो करि निरधार ॥८६॥
जो समुझत उत्तम अधम, जाने अल्प महान । जिहि दृष्टी तें जीव कहँ, मिलत विषय पहिचान ॥८७॥
जो समृद्धि गुण सत्व की, ज्ञान तत्त्व को आदि । आत्म जीव की संधि में, वास करत निरवादि ॥८८॥
यह सब लक्षण बुद्धि के, जानहु पांडुकुमार । अब लक्षण अव्यक्त के, सुनहु कहत निरधार ॥८९॥
कहँ सांख्य सिद्धान्त महँ, जेहि प्रकृति यह नाम । तिहि जानहु अव्यक्त यह, पार्थ महामति धाम ॥९०॥
अर्जुन उभय प्रकार, कीन्हो वरनन प्रकृति को । सांख्ययोग अनुसार, तहाँ कह्यो विस्तार तें ॥९१॥
जीव दशा जो अपर तिहिं, तासु नाम वीरेश । यहां कहत पर्याय ते, इमि अव्यक्त व्रजेश ॥९२॥
गत रजनी परभात महँ, तारा छिपि आकाश । प्राणिमात्र व्यापार रुकि, अथये भानु प्रकाश ॥९३॥
देह तजे पर होत है, नतर पार्थ प्रवीन । जिमि देहादि उपाधि सब, कर्म उदर महँ लीन ॥९४॥

किंवा बीजाकार महँ, तरुवर बसै समस्त । तंतु दशा महँ रहत जिमि, वस्त्राकार प्रशस्त ॥९५॥
सूक्ष्म वपु ह्वै लीन जहँ, महाभूत समुदाय । थूल धर्म निज प्राणि सह, तैसहि पार्थ तजाय ॥९६॥
नाम अहै अव्यक्त तिहिं, अर्जुन ऐसो जान । अब सब इन्द्रिय भेद सुनु, तुम तें कहौं सुजान ॥९७॥
श्रवन नयन त्वच नासिका, पाँचहु इन्द्रिय जान । ज्ञानेन्द्रिय इन कहँ कहत, ज्ञानीजन मतिमान ॥९८॥
ऐक्य भये इन पाँचहू, तत्त्वहिं पांडुकुमार । बुद्धि कहत इनतें सकल, सुख-दुख केर विचार ॥९९॥
अर्जुन अरु अध द्वार, चरन भुजा वाचा पुनः । शिश्न सहित निरधार, ये सब पाँच प्रकार जे ॥१००॥
कहत जेहि कर्मेन्द्रियाँ, अर्जुन ते यह जान । कहत कृष्ण विश्वेश प्रभु, कमलापति भगवान ॥१०१॥
क्रिया शक्ति जो देह में, बसत प्राण की नारि । कर्मेन्द्रिय द्वारा करत, अंतर बाह्य प्रसारि ॥१०२॥
दशहुँ कर्म ज्ञानेन्द्रियाँ, इमि भाष्यो भगवान । अब निश्चय तें तुम सुनहु, मन स्वरूप सन्मान ॥१०३॥
इन्द्रिय की अरु बुद्धि की, संधि बीच धनुधारि । रजगुण रूपी शाख पर, खेलत रहत खिलारि ॥१०४॥
आभ गगन की नीलिमा, वा मृग नीर तरंग । वृथा भास जिमि होत हैं, तिमि मन केर उमंग ॥१०५॥
शुक्र रुधिर मिलि पंच जे, तत्त्व बनत आकार । एकहिं तत्त्व समीर जो, दश विभाग निरधार ॥१०६॥
दश विभाग पुनि पवन के, देह धर्म संबंध । एक एक इक इक थलनि, करत निवास प्रबंध ॥१०७॥
केवल चंचलता सकल, रहत तासु के अंग । अरु धारत निज माँहि सो, रज गुण प्रबल प्रसंग ॥१०८॥
करि मिलाप हंकार, जो बाहर है बुद्धि के । कुन्तीसुत बलधार, बसि ऐसे मधि भाग में ॥१०९॥
नाम निरर्थक मन कह्यो, यह कल्पना स्वरूप । जासु संग तें ब्रह्म की, दशा जीव नरभूप ॥११०॥
जो है मूल प्रवृत्ति को, जिहिं बल काम विकास । अहंकार के प्रति करत, जो अखंड छल भास ॥१११॥
जातें इच्छा अति बढ़त, आशा हू चढ़िजाय । अरु जाही के योग तें, अर्जुन भय उपजाय ॥११२॥
द्वैत उपजि जिहिं कारणहिं, अरु जोरत अज्ञान । जो विषयन के मध्य में, इन्द्रिय गेरत आन ॥११३॥
छन महँ सृजि संकल्प जग, सहज विकल्पहिं नास । धरत मनोरथ की मढ़ुकि, उतरत बिनहिं प्रयास ॥११४॥
अहै मूल भांडार जो, पवन तत्त्व को सार । बुद्धि द्वार की रोक करि, यह मन पांडुकुमार ॥११५॥
सोही अर्जुन मन अहै, किंचित् शंक न मान । अब विषयन को नाम सुन, भेद समेत सुजान ॥११६॥

शब्द परस अरु रूप रस, औरहु गंध सुजान। ज्ञानेन्द्रिय के विषय यह, पांच प्रकार प्रमान ॥११७॥
धावत बाहिर ज्ञान, इन पांचों ही द्वार तें। भगि अधीर पशु जान, हरित मृदुल तृन निरखि जिमि ॥११८॥
व्यञ्जन स्वर उच्चारि वा, त्याग और स्वीकार। गमन त्याग मल-मूत्र के, जे कारज धनुधार ॥११९॥
ये कर्मेन्द्रिय के विषय, पांच जानिये सांच। या पंचहि तें सब क्रिया, धावत करिये नांच ॥१२०॥
ऐसे ये दश विषय हैं, यह शरीर के माँहि। अब इच्छा हू को करत, बरनन हम तुम पाँहि ॥१२१॥
चिंतन पिछली बात करि, वा सुनि शब्दहिं कान। लहैं चेतना वृत्ति जो, इहि विधि तें बलवान ॥१२२॥
इन्द्रिय विषय सँयोग छन, जो तुरंत उपजाय। बार-बार उपभोग करि, ऐसो जाहि सुहाय ॥१२३॥
जाकी वृत्तिहिं उपजतहिं, मनजित कितहीं धाय। जहँ इन्द्रिय पहुँचत नहीं, तहँ मुख घालत जाय ॥१२४॥
जाकर वृति के प्रेम तें, बुद्धि होय उन्मत्त। जाहि विषय पर प्रीति तिहिं, इच्छा कहत प्रशस्त ॥१२५॥
इच्छा के उपजत चहत, इन्द्रिय भोग-विलास। जब तहँ मिलत न तिहिं समय, द्वेष नाम यह भास ॥१२६॥
जो सुख पाव समस्त, अब यह लच्चण देखिये। इतर वस्तु सब अस्तु, तब जीवहिं जावे बिसरि ॥१२७॥
जो मन वाचा काय तें, अपनी शपथ दिवाय। चिंतन सकल शरीर को, थल ही देत नसाय ॥१२८॥
जासु उपजनहिं मात्र तें, प्रान पंगु ह्वै जाय। प्रथम अपेक्षा दुगुन बढ़ि, सात्त्विक भाव अघाय ॥१२९॥
इन्द्रिय वृत्ति समस्त वा, हृदय भूमि एकान्त। थपथपाय निद्रा लहत, सुखद सुभद्राकान्त ॥१३०॥
अधिक कहाँ जहँ जीव कहँ, आत्म-लाभ मिलि जाय। तासु नाम सुख कहत हैं, सब मुनिवर समुझाय ॥१३१॥
अपर अवस्था लाभ की, ऐसी यह न मिलाय। दुख जानहु तिहि सर्वथा, जीवन महँ नरराय ॥१३२॥
जहँहि मनोरथ संग नहिं, स्वय सिद्ध सुख जान। सुख अरु दुख के हेतु यह, पार्थ उभय पहचान ॥१३३॥
जो सत्ता चैतन्य तन, साक्षी भूत असंग। नाम चेतना तासु कहि, अर्जुन प्रति श्री रग ॥१३४॥
नख सिख जो तन में सदा, जागत जो दिन रैन। तीन अवस्था मध्य में, अन्तर कछुक परै न ॥१३५॥
यह बसंत ऋतु राय, माया बन को है सदा। सब प्रफुलित समुदाय, मन बुधि आदिक जाहि तें ॥१३६॥
जंगम थावर अंश महँ, करि समान संचार। ताहि चेतना कहत हैं, मृषा नहीं धनुधार ॥१३७॥
जानिन राजा कुटुम्ब कहँ, आयसु तें रिपु जीति। चन्द्रपूर्णता निरखि करि, सिंधु भरत कर प्रीति ॥१३८॥

किंवा चुम्बक निकट ह्वै, लौह चेतना धार। अथवा रवि के संग तें, सब जग करि व्यवहार ॥१३९॥
अहह बिना थन मुख दिये, शिशु परिपालत जान। करत निरीक्षण कच्छपी, तैसे ही इत मान ॥१४०॥
आतम संगहिं देह यह, तैसहि पार्थ सुजान। जड़ कहँ मिलत सजीवता, आत्म-प्रभाव महान ॥१४१॥
ये ही कारण तें कहत, चेतनता को नाम। अब धृति को वरनन करौं, अर्जुन सुनहु ललाम ॥१४२॥
द्वेष परस्पर भूत को, उघरत जाति स्वभाव। का धरनी को नीर तें, नहीं विनाश जनाव ॥१४३॥
नीर नसत है तेज तें, तेज पवन तें नाश। भक्षण करत समीर को, सहज भाव आकाश ॥१४४॥
काहू तें आकास, कौनहु समय न मिलत तिमि। पृथक भाव ही भास, ओत-प्रोत सर्वत्र परि ॥१४५॥
ऐसहिं पाँचों भूत जे, सहत न एकहिं एक। तिन्हहिं करत एकत्र जो, यह शरीर कर टेक ॥१४६॥
द्वैत विवादावाद तजि, एक समीप बसाय। निज गुण तें पोषण करत, एकहिं एक सुभाय ॥१४७॥
ऐसहिं प्रीति अपेल जहँ, चलत धैर्य तें जान। ताहि वृत्ति को धृति कहत, मुनि गन परम सुजान ॥१४८॥
अर्जुन अस जो जीव सँग, छत्तिस तत्त्व मिलाप। याही को संघात कहि, मैं वरनत प्रति आप ॥१४९॥
यों छत्तीसहुँ भेद सब, तुमहिं कह्यो समुझाय। इन सबको मिलि जो बनत, सोइ क्षेत्र कहि जाय ॥१५०॥
अर्जुन रथ के अंग मिलि, जैसे रथ कहि जाय। देह कहत ऊपर अधः, मिलि अवयव समुदाय ॥१५१॥
जिमि चतुरंग समूह को, सेना नाम बखान। अथवा अक्षर पुंज मिलि, भाषत वाक्य सुजान ॥१५२॥
जैसहिं जलद समूह कहँ, कहत अभ्र यह नाम। अथवा सिगरे लोक को, नाम जगत परिनाम ॥१५३॥
एकहिं ठाँव मिलाय, अग्नि सूत अरु तेल वा। दीपक नाम कहाय, अर्जुन जो जग में धरत ॥१५४॥
ये छत्तीसहुँ तत्त्व तिमि, जहँ मिलि इक ह्वै जाय। वाही के समुदाय को, क्षेत्र नाम कहि जाय ॥१५५॥
ये ही भौतिक वणिज महँ, पिकत पुन्य अरु पाप। अतः कहत हम कौतुकहिं, क्षेत्र नाम अरिताप ॥१५६॥
काँहू के मत माँहि अरु, देह कहत हैं याह। परि अनन्त ऐसे अहैं, नाम समझ नरनाह ॥१५७॥
औ ब्रह्मा ते लेइ करि, थावर जंगम लाग। जे उपजत नासत सकल, क्षेत्र सोइ मह भाग ॥१५८॥
अर्जुन परि सुर नर उरग, योनि विभाग रचात। ते सत-रज-तम कर्म गुण, संगति तें उपजात ॥१५९॥
गुन त्रय को अर्जुन कथन, आगे कहिहौं जाय। प्रस्तुत ज्ञान स्वरूप को, तुमहिं कहौं समुझाय ॥१६०॥

सहित विकारहिं क्षेत्र तब, वरन्यो करि विस्तार । अब स्वरूप जो ज्ञान को, सुन चित लाय उदार ॥१६१॥
ज्ञानहि जिहिं के हेतु लगि, स्वर्ग आड मगटार । योगीजन लीलत गगन, ब्रह्मरंध्र के के द्वार ॥१६२॥
करि न सिद्धि की चाह, सीम न धारत ऋद्धि की । तुच्छ गनत नरनाह, योग समान कठोर मग ॥१६३॥
करत निछावर अमित मख, लाँघि किला तप रूप । फेंकत बेलि उखार के कर्म स्वरूप अनूप ॥१६४॥
नाना पंथ उपासनहिं, धावत अंग उघार । एक सुषुम्ना विवर के, मग तें चलत उदार ॥१६५॥
ऐसे ज्ञानहिं प्राप्ति हित, मुनिवर मन अति चाह । वेदरूप तरु पत्र पर, चलत सहित उतसाह ॥१६६॥
अरु गुरु सेवा तें मिलहिं, ऐसी बुधि चित धारि । करत निछावर जन्म शत, निश्चय करि धनुधारि ॥१६७॥
ज्ञानहि की जिहिं प्राप्ति तें, नसत सकल अज्ञान । जीव आत्म की ऐक्यता, पावत परम सुजान ॥१६८॥
जो रोकै इन्द्रिय विषय, मोड़ि प्रवृत्ति के पाँय । अरु निज मन की दीनता, दूर करत नरराय ॥१६९॥
ज्ञानहिं के जिहिं लाभ तें, पावत द्वैत दुकाल । अरु सुकाल अद्वैत को, प्राप्त होत महिपाल ॥१७०॥
जो मद चिन्ह नसाय करि, महा मोह को ग्रास । नाम नहीं सो करत हैं, निज अरु पर को भास ॥१७१॥
आवन गमन उखार, धोय पंक संकल्प को । देय मिलाय उदार, जो व्यापक परब्रह्म तें ॥१७२॥
जाके पाये तें बनत, प्राम पंगु नरराज । जिहिं सत्ता तें सब जगत, के व्यवहारिक साज ॥१७३॥
उघरहिं लोचन बुद्धि के, जिहिं प्रकाश उजयार । आनँद रूपी छाँह पर, विहरि जीव सुख सार ॥१७४॥
ऐसो अर्जुन ज्ञान जो, एक पवित्र विधान । विषय-लिप्त मन जाहि तें, निर्मल होत महान ॥१७५॥
जीव बुधिहिं जो आत्म कहँ, लगी रहत क्षय व्याधि । जाकी पास समीपता, निरुज होत तजि आधि ॥१७६॥
जो न निरूपन जोग तिहिं, करि रूप तुम पाँहि । सुनकर धारहु बुद्धि में, नैनन तें न लखाँहि ॥१७७॥
सो पुनि याही देह तें, जो करि आप प्रभाव । तो इन्द्रिय व्यापार तें, नैनहिं देत दिखाव ॥१७८॥
जिमि वसंत आगमन तें, तरुवर सजत महान । तिमि इन्द्रिय आचरन तें, जानत पायो ज्ञान ॥१७९॥
जैसहिं तरुवर मूल को, मिलत भूमि तें नीर । तिहिं शाखा विस्तारपन, बाहिर तें लखि धीर ॥१८०॥
अंकुर मृदुता पाय, किंवा भुवि मृदुता कहत । कुल श्रेष्ठता जनाय, जिमि उत्तम आचरन तें ॥१८१॥
किंवा नेह जनात हैं, जिमि आतिथि सत्कार । पुन्य पुरुष पहिचानिये, दर्शन तोष अपार ॥१८२॥

किं बहु कदलि कपूर कहँ, जानि सुगंध अधार । धर्‌यो कांच महँ दीप जिमि, लखि बाहर उजियार ॥१८३॥
देहहिं अंतर ज्ञान जों, जिहिं लच्छण दरसाय । सो बरनहुँ मैं तुम सुनहु, उत्तम ध्यान लगाय ॥१८४॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अर्थ—कपट-मान-हिंसा-रहित, शांति सरलता जान ।
गुरु सेवा शुचि भाव थिर, मन निग्रह मतिमान ॥७॥

अभिरुचि नाहीं मिलन की, विषयमात्र के हेतु । जा कहँ जग सन्मान लगि, भार रूप कपिकेतु ॥१८५॥
जो गुन हैं तिनको कथन, जगत करै सन्मान । रूप अंग की योग्यता, करि संसार बखान ॥१८६॥
ज्यों व्याधा रूंधै मृगहिं, पैरत भँवर पराय । तैसहिं जग सनमान तें, ताको मन अकुलाय ॥१८७॥
इमि जग के सनमान तें, सांसत गुनत महान । आउँन देत न अंग निज, जो गौरवहिं सुजान ॥१८८॥
स्वयं पूज्यता लखि न दृग कीरति सुनत न कान । अमुक अहैं यह चिंतना, जग की चहत न जान ॥१८९॥
आदर की जहँ बात है, किमि करि अंगीकार । नमस्कार ते मरन की, समता करत उदार ॥१९०॥
सुर गुरु सम सर्वज्ञता, जाके अंग स्वभाय । जग महिमा भय तें करत, पागल सम व्यवसाय ॥१९१॥
स्वचातुर्य कहँ गुप्त करि, निज महिमा संहार । करत प्रेम तें भ्रांतिपन, को सबहीं व्यवहार ॥१९२॥
जग भय तें अकुलाय, करत उपेक्षा शास्त्र की । उत्तम रीतिहिं प्राय, बैठि रहत चुपचाप जो ॥१९३॥
सम्बन्धी चिन्ता न करि, जगत करै अपमान । जाके मन में चाह इमि, अर्जुन होय महान ॥१९४॥
अँगहिं नम्रता पूर्न अति, हीनपनालंकार । धारन करके करत हैं, ऐसी बात अपार ॥१९५॥
जीवत हैं अथवा नहीं, जग जाने यह भाव । ऐसी अभिलाषा रहत, जिमि इमि होय स्वभाव ॥१९६॥
चलत पाँव तें वा नहीं, की पवनहिं बहि जाय । दशा होय मम भाँति इमि, भ्रम लहि जग समुदाय ॥१९७॥
नाम रूप मम होय लय, मम अस्तित्व छिपाय । अरु सब प्रानी मात्र को, मम भय नहिं उपजाय ॥१९८॥
अहै कामना जासु इमि, रहत नित्य एकान्त । औ जीवन एकान्त हित, जासु सुभद्राकान्त ॥१९९॥

करत पवन ते प्रेम जो, नभ तें बोलत चाह। जीव प्रान तें प्रिय अहै तरु जा कहँ नरनाह ॥२००॥
अधिक कहा जिहि भांति ये, लच्छन परत दिखाय। भयो हस्तगत ज्ञान तिहि, इमि जानिय नरराय ॥२०१॥
ये लच्छण जिहि मॉहि, मान रहित तिहिं जानिये। अब बरनो तुव पाँहि, दंभरहित के चिन्ह जे ॥२०२॥
दंभरहित जे ताहि को, मन है कृपन समान। जीव जाय पर नहिं कहत, किहि थल धर्‌यो निधान ॥२०३॥
अर्जुन जो परि ताहि के, संकट प्रानहिं आय। पर निज मुख तें कहत नहिं, निज सुकृत प्रगटाय ॥२०४॥
गाय पन्हाय चुराय जो, जैसे पांडुकुमार। बृद्धि छिपावत आयु की, जिमि गनिका प्रति जार ॥२०५॥
धनिक अरण्यहिं चोर मिलि, पुनि धनि धन न बखान। वा कुलवधू स्वअंग सब ढँकति चीर तें जान ॥२०६॥
जिमि किसान निज बीज कहँ, भुवि महँ बोय छिपाय। दान पुन्य तिमि निज किये, तैसहिं लेत लुकाय ॥२०७॥
देह सुशोभित करत नहिं, जन रंजन नहिं सोपि। कहि न स्वधर्महिं आपनो, वचन ध्वजा आरोपि ॥२०८॥
कहत न पर उपकार निज, प्रगटत नहिं अभ्यास। निज संपादित पुन्य कहँ, बेचत नहिं जस आस ॥२०९॥
निज शरीर उपभोग हित, देखिय कृपण समान। पै न कहत यह बहुत हैं, धर्म विपय मतिमान ॥२१०॥
निरबल तन कहँ देख, घर महँ लखत दरिद्रता। दान विषय सुख रेख, परि सुरतरु तें होड़ करि ॥२११॥
अधिक कहा वर धर्म निज, पाय प्रसंग उदार। आत्म-विचारहिं चतुर करि, जग बाउर व्यवहार ॥२१२॥
जिमि कदली आकार तरु, पोलो परत दिखाय। परि फल गाढ़ रसाल जिमि, अहै स्वाद अधिकाय ॥२१३॥
कि बहु हल को अंग घन, पवन पाय उड़िजाय। परि बरसत अद्भुत सघन, जग जानत सुखदाय ॥२१४॥
जाको पूर्न प्रभाव तिमि, देखत मन भरि जाय। तिहिं बरनन के हेतु बुधि, तिहि समीप नरराय ॥२१५॥
ऐसे लच्छण सहज ही, जासु अंग में जान। भयो हस्तगत ताहि के, ज्ञान महा मतिमान ॥२१६॥
दंभ रहित भाषत सुजन, सोई या कहँ जान। कहत अहिंसा चिन्ह अब, तुमतें सुनहु सुजान ॥२१७॥
कहत अहिंसा विविध विधि निज-निज मत अनुसार। कहत निरूपण ताहि को सुन चितलाय भुवार ॥२१८॥
ऐसो जो बरनन भयो, जिमि कटि तरुवर साख। अरु रुँधान चहुँ ओर तिहिं, तरु के दीजे राख ॥२१९॥
जिमि निज छुधा बुझाय, बाहु तोरि निज पाक करि। बहु देवल बिनसाय, बाड़ी कीजे देव की ॥२२०॥
जो हिंसा हिंसा-रहित, ऐसो यह दरसाय। पूर्व मिमांसा महँ कियो, यह निरनय नरराय ॥२२१॥

कारण बरषा के बिना, सकल जगत दुख पाय । पर्जन्येष्ठी अतः मख, करै पार्थ अधिकाय ॥२२२॥
इन मख के तब मूल महँ, पशु हिंसा अधिकार । तहां अहिंसा फूल पुन, कहाँ लखिय धनुधार ॥२२३॥
केवल हिंसा बोय तहँ, कहाँ अहिंसा पाय । परि अद्भुत यह धीरता, याज्ञिक की दरसाय ॥२२४॥
आयुर्वेदहु सकल को, यह मत पांडुकुमार । जीव हेतु कीजे हतनु, जीवहिं को न विचार ॥२२५॥
नाना रोगहिं ग्रस्त ह्वै, प्रानी विकल लखाँय । हिंसा प्रशमन हेतु तिहिं, करहिं चिकित्सा धाय ॥२२६॥
कोई औषधि के प्रथम, खोदत कौनहु कंद । एक समूलहिं पत्र के, सहित उखारत मंद ॥२२७॥
एकै तोरत मध्य तें, इक तरु छाल निकार । एक पचावत मध्यपुट, प्राणि सगर्भ न वार ॥२२८॥
सब तन नसहिं विकार, इक अजातरिपु तरुहिं के । ऐसे सत्त्व निकार, धनुधर देत सुखाय सब ॥२२९॥
जंगमहू पर फेरि कर, तिन्ह के पित्त निकारि । पुन राखत दुःखित जनहिं, ताते पांडुकुमार ॥२३०॥
अहह तोरि जे घर बसे, मंदिर लेंय रचाय । वा व्यवहारहिं रोकि के, अंनक्षेत्र खुलवाय ॥२३१॥
जो आच्छादत मस्तकहिं, नीचे अंग उघार । घर कहँ तोरि मरोरि कर, आँगन मंडप डार ॥२३२॥
नाना वस्त्र जराय जिमि, बैठत तापत आगि । कुंजर कीचर धोय पुनि, अंग लगावत लागि ॥२३३॥
सुआ त्यागि पिंजरा रचत बैल बैंचि रचि सार । यह करनी या हास्य है, कहा हँसिय धनुधार ॥२३४॥
कोइक मत अनुसार निज, पानी पीवत छान । जीव मरत तब छानतहिं, तासु त्रास मतिमान ॥२३५॥
कोई हिंसा त्रास तें, अन्न पचावत नाहिं । प्रान विकल हो जाँय तिहिं, यहहू हिंसा माँहि ॥२३६॥
यह हि कर्मकांडी कहहिं हिंसा हिंसा नाँहिं । समुझहु यह सिद्धांत तिहिं, तुम सुदि निज मन माँहि ॥२३७॥
कहि अब मत समुदाय, तब इच्छा मन इमि भई । मम मन में जब आय, प्रथम अहिंसा कथन हित ॥२३८॥
चाह अहिंसा कथन की, किमि मम पुरहि न आस । अरु दूजोमम भाव इमि तुम जानहु सुखरास ॥२३९॥
अर्जुन हेतु प्रधान यह, मम मन आयो जान । शेष अन्यथा कुपथ पथ, कौन चलै मग जान ॥२४०॥
अर्जुन, अरु यह हेतु है निज मत के निरधार । अपर उपस्थित मतन के, कीन्हो चहिय विचार ॥२४१॥
करत निरूपन स्वमत इमि सुन चित धारि सुजान । जाके कथन स्वरूप मिलि, हिये अहिंसा ज्ञान ॥२४२॥
निज मति कहि करि व्यक्त जे, चिन्ह अहिंसा जान । तिन्ह लच्छण तें लखि परै, हिये अहिंसा ज्ञान ॥२४३॥

अहहिं अहिंसा अंग महँ, आचरनहिं तें जान। कहत कसौटी कंचनहिं जिमि कस करि पहिचान ॥२४४॥
निरख अहिंसा रूप सब, तिमि मिलि मन अरु ज्ञान। सकल अहिंसा रूप इमि, सुनिये पार्थ सुजान ॥२४५॥
नाँघत नहीं तरंग अरु, पग तें लहर न तोर। अरु थिरता मोरत नहीं, पानी की बरजोर ॥२४६॥
जिमि बक जल महँ जाय, बेग सहित आमिष निरखि। अति हलकेपन पाँय, धरत नीर पर जाय कर ॥२४७॥
किंवहु कमलन पर भ्रमर, धरि हलकेपन पाँय। शंका अति ताको रहत, केशर कुचर न जाँय ॥२४८॥
सूक्ष्म अति परिमाणु तिमि जीव भराव सुजान। धरत पाँय करुणा सहित, भूमि माँहि मतिमान ॥२४९॥
करुणहिं कर तिहिं पंथ पर, तिहिं दिशि भरत सनेह। करत बिछौना जीव निज, जीव तरे करि नेह ॥२५०॥
जिहि उपाय तें पंथ में, अर्जुन चलत उदार। यह बरनन की वचन तें, नाप न होय अपार ॥२५१॥
जिहिं सनेह संयोग ते, मंजारी शिशु धारि। मुख महँ दांतन की अनी, जिमि लागत धनुधारि ॥२५२॥
मातर जिमि ममतावशहिं, निज सुत कँह लखि मात। तासु दृष्टि के प्रेम को, कैसे बरानय तात ॥२५३॥
किंवा धीरे कमल-दल, चलत हलाय समीर। जिमि नयनन कहँ मृदुल लगि, हरत ताप की पीर ॥२५४॥
धरत धरनि पर पाँय अति, धीरे पंथ चलाय। जिहिं जीवन कहँ लगत पग, दुख तन सुख उपजाय ॥२५५॥
कीटक कृमि लखि जाँय, अर्जुन इमि धीरे चलत। लौटत तेही पाँय, जो धीरे तिहि ठौर तें ॥२५६॥
अतः पाँय धरि जोरि करि, तो प्रभु निद्रा भंग। स्वस्थपनहिं धका लगै, अर्जुन तासु प्रसंग ॥२५७॥
इमि करुणा तें विकल ह्वै, लौटत पीछे पाँय। कोइक दुख पावै नहीं, पंथ कुलत सकुचाँय ॥२५८॥
नाँघि न तृण कहँ जीव गनि, कहा जीव की बात। सदा ध्यान में राखि यह, पंथ चलत जो तात ॥२५९॥
चींटी मेरु न नाँघ सकि, मशक न सिंधु तराय। तिमि अतिक्रमण न करि सकत जीवहिं मग महँ पाय ॥२६०॥
जासु चलन ऐसी फलत, फलदाया के रूप। मूर्तिवंत अवलोकिये, वाणी दयास्वरूप ॥२६१॥
जिहिं मुख नैहर प्रेम को, श्वास लेत सुकुमार। अंकुर कढ़ि माधुर्य के, तैसे दसन निहार ॥२६२॥
नेह पसीजत प्रथम ही, पीछे अच्छर चाल। शब्द रूप पीछे उपज, प्रथमहिं दया विशाल ॥२६३॥
नहिं मुख बोलत बोलि यदि मन राखत इमि भीति। लगि न जाय मम बचन कहुँ, काहु विषमता रीति ॥२६४॥
अधिक शब्द कहि जाँय, अरु यदि बोलन के समय। शंक न काहु जनाय, लगि न काहु के मर्म थल ॥२६५॥

चलत बात कट जाय नहिं, कोई नहिं डर जाय। यदि कोई सुन कर करै, तिरस्कार मरगाय ॥२६६॥
कौनहुँ दुख पावे नहीं, भौंहन कोउ चढाय। जाके मन में भाव यह, अतः रहत अधिकाय ॥२६७॥
अरु यदि बोलत विनय के, लोभहिं तें अरिताप। तो श्रोता के मातु पितु के समान प्रिय आप ॥२६८॥
निनद ब्रह्म किंवा प्रगट, वा निर्मल जल गंग। वा वृद्धापन प्राप्त जिमि, पतिव्रता तिय अंग ॥२६९॥
सत्यहिं अरु कोमल परम, पर मिति और रसाल। सुधा तरंग समान जिमि, उत्तम शब्द भुवाल ॥२७०॥
करत विकल प्रानीगनहिं, अरु विरोध बल बाद। निन्दा अरु छल सहित जो, वेधक मर्म विवाद ॥२७१॥
कपट पैज अरु वेग युत, आश शंक ठगिहार। इमि अवगुन युत वचन जिन्ह, त्यागे सकल उदार ॥२७२॥
इहिं प्रकार तें जासु की, दृष्टि सु थिरहिं निहार। अरु तनाव जिनकी भृकुटि, त्यागि दियो धनुधार ॥२७३॥
अहै ब्रह्म भरपूर, सिगरे प्रानी मात्र महँ। लखब न कतहूँ शूर, अतः त्रास पावै नहीं ॥२७४॥
दया भाव वश आंतरिक, कौनहु समय सुजान। नैन उघारत आपने, निरखत कृपा महान ॥२७५॥
शशधर बिंबहिं अमिय भरि, लखत नहीं संसार। परि चकोर इक सर निरखि, अमिय उदर महँ धार ॥२७६॥
समाधान मन होत तिमि, प्रानीगनहि निहारि। दृष्टि प्रेम जाने नहीं, कूर्महु तिमि धनुधारि ॥२७७॥
अधिक कहा इमि दृष्टि जिहिं, प्रेमज प्रानी माँहिं। फरहू ताके देखिये, तैसे ही लखि जाँहि ॥२७८॥
सिद्ध मनोरथ होत जिमि, होकरि के कृत अर्थ। निर्व्यापारहिं होत तिमि, ताके भुजा समर्थ ॥२७९॥
जन्म अंध तजि दृग क्रिया, अरु ईंधन बिन आग। गूंगा धारत मौनव्रत, जैसे पार्थ सभाग ॥२८०॥
जिन्ह के कर करतव्यता, रहत नहीं कछु पार्थ। परब्रह्म पद माँहि तें, करत निवास यथार्थ ॥२८१॥
लगै न धक्कहु पवन कहँ नख न लगै आकास। कर न हिलावत पार्थ ते, चित बुधि धरि इमि त्रास ॥२८२॥
दृग महँ मसक समाय, बसे मक्षिका अंग महँ। त्रास न नेक दिखाय, पशु पक्षी आदिकन कहँ ॥२८३॥
कहहु रही यह बात कहँ, शस्त्र धरन की पार्थ। धारन करन न चहत जन, लकुटी काठ यथार्थ ॥२८४॥
कौतुक कमल न खेलिवा, केलि न फूलन माल। कहीं गोफनी के सरिस, दुखद न होय भुवाल ॥२८५॥
देह कम्पहु हिल जाँहि कहुँ, इति तें कर न फिराय। अंगुरिन पर बाढत रहत तिन्ह के नख समुदाय ॥२८६॥
आदि न कारज करत कछु, परि यदि परहिं प्रसंग। तो अभ्यास न दूसरो, जोरे हाथ अभंग ॥२८७॥

किंवा हाथ उठाय कर, अभय वचन उच्चार । वा धीरे से परसि कर, दुःखित तनहिं उदार ॥२८८॥
यहहु संकट तें करत, हरत दुखित दुख शूर । तिहिं सम द्रवित न हो सकहिं, चंद्र किरन भरपूर ॥२८९॥
कोमल कर परसन लगत, मलियानिलहु कठोर । पशुहू के तन पर फिरत, जो मानत सुखकोर ॥२९०॥
सदा मुक्त शीतल अहैं, जिमि चंदन सब अंग । निरफल कहत न फल बिना, सब जग तासु प्रसंग ॥२९१॥
सज्जन शील स्वभाव, वाक जाल तजि जिमि अहैं । तिन्ह के करतल भाव, अर्जुन तैसहिं जानिये ॥२९२॥
अब मन तिन्ह के कहहिं हम, यदि सॉचे धनुधार । तो यह गाथा कौन की, वर्नित भई उदार ॥२९३॥
कहाँ शाख बिन तरु अहैं, नीर बिना किमि सिंधु । तेज तेज आकार को, कहा आन संबंधु ॥२९४॥
आवयव और शरीर यह, अहै विलग किमि धीर । किंवा रस अरु नीर ये, पृथक होत कत वीर ॥२९५॥
जो भाष्यो अतएव हम, यह सब ही वहिरंग । मूर्तिमान सो जानिये, मन ही केर प्रसंग ॥२९६॥
जोई बोवत बीज भुवि, सो तरु प्रगट दिखाय । तिमि इन्द्रिय द्वारा विकसि, सो जो मनहिं स्वभाय ॥२९७॥
जो मन महँ नहिं न्यूनता, पार्थ अहिंसा माँहि । तो बाहर इन्द्रियन तें, कैसे किहिं दरसाहिं ॥२९८॥
अर्जुन इच्छा वृत्ति की, प्रथम मनहिं उपजाँय । पुन वाचा दृग आदि की, क्रिया रूप प्रगटाँय ॥२९९॥
जो मन महँ आवत नहीं, सो किमि वचन कहाय । जो न बीज परि भूमि महँ अंकुर किमि उपजाय ॥३००॥
जिमि बिन सूत्राधार, पुतरी हालत नहिं वृथा । इन्द्रिय तें व्यापार, त्यों बिन मन के होत नहिं ॥३०१॥
जो पानी सूखै उगम, तो किमि सरित प्रवाह । देह करहिं व्यापार किमि, प्रान गये नरनाह ॥३०२॥
अर्जुन तिमि मन मूल है, इन्द्रिय-गन के भाव । इन्द्रिय तें व्यापार सब, मनहिं कराय स्वभाव ॥३०३॥
किंतु करै जिहिं अवसरहिं, मन अपनो व्यापार । तैसे यह लखि परत सब, बाहर वपु व्यवहार ॥३०४॥
जिमि सुगंध परिपक्व फल, चहुँ दिशि करै प्रसार । मनहिं अहिंसा सत्य थिर, तो तिहिं बाह्य सिहार ॥३०५॥
अतः वणिज करि इन्द्रियां, मन पूँजी आधार । पूर्ण अहिंसा जो कह्यो, ताको करि व्यवहार ॥३०६॥
जैसे खाड़ी देत भरि, निज बाढ़हिं तें सिंधु । तिमि मन निज संपत्ति तें, भरि इन्द्रिय सम्बन्धु ॥३०७॥
अधिक कहा पंडित धरै, जिमि बालक को हाथ । अच्छर लेख सुरेख तिहिं, लिखवावत धनुहाथ ॥३०८॥
दयाभाव तिमि आपुने, मन अरु कर पद माँह । भाव अहिंसा पुनि तहँहि, उपजावत नरनाह ॥३०९॥

ऐसहिं कारण पार्थ, इन्द्रिय की चेष्टा सकल। नैननि लखत यथार्थ, मन के ही व्यापार तें ॥३१०॥

ऐसहि मन-तन-वचन तें, त्यागि सकल व्यापार। हिंसा जाके पास तें, पावत नास निहार ॥३११॥

ज्ञान विलासी ज्ञानगृह, पुरुषहिं अर्जुन जान। अधिक कहा तिहिं ज्ञान की, स्वयं मूर्ति पहिचान ॥३१२॥

सुनिय अहिंसा कान जे, वरनन ग्रन्थाधार। यदि देखन की चाह है तो तिहिं दृगहिं निहार ॥३१३॥

ऐसो भाषत देव यह, इक बोलहिं कहि जात। परि वरन्यो विस्तार तें, क्षमिय मोहिं तुम तात ॥३१४॥

जिमि पशु चारा हरित लखि, पाछिल मग बिसराय। किंवा वेग समीर खग, नभ भरराति उड़ाय ॥३१५॥

नेहहि मूर्तिहिं सुज्ञ तिमि, ह्वै रस वृति विस्तारु। बहॅकी मेरी बुद्धि इत, रही न वशहिं विचारु ॥३१६॥

सो परि तैसी बात नहिं, अहैं हेतु विस्तार। शब्द अहिंसा माँहि है, त्रय अक्षर निरधार ॥३१७॥

कहत अहिंसा अल्प परि, तबहिं अहिंसा मान। खंडन हित जो अमित मत, करि विस्तार बखान ॥३१८॥

इमि मत अंतर पाय, धरि ज्यों-की-त्यों बात यदि। तो न घटित समभाय, कथन हमारो चित्त महँ ॥३१९॥

चलिय ग्राम ढिग जौहरी, शालिग्राम बताय। परिज्ञुति बरनन करहु जनि, फटिक शिला की गाय ॥३२०॥

जिहिं थल माँहि कपूर दर, विक्रयमंद पिसान। तहां सुगंध कपूर को, कहा महत्व सुजान ॥३२१॥

सुजन अतः यदि इहि सभहिं कहौं कथन अभिमान। तो प्रभु मेरो कथन यह, तुमहिं न रुचै सुजान ॥३२२॥

जो सामान्य विशेष सब, कहौं एक करि बात। तो लैंहाहु न आपने, श्रवन मुखहिं लगि तात ॥३२३॥

शंका के गँदलेपनहिं, शुद्ध स्वरूप मलीन। सावधानता आय चलि, उलटे पगनि प्रवीन ॥३२४॥

जहँ जल माँहि सिवार बहु, अपनो करत पसार। तिहिं निहारिके हंस किमि, करै निवास विचार ॥३२५॥

कि बहु जब रहि चाँदनी, घन के पैलें पार। तब चकोरनी चोंच निज, कबहुँ न देय उघार ॥३२६॥

यदि तिमि यह निर्दोष नहिं, ग्रन्थ निरूपण मोर। तो कुपि करि स्वीकार नहिं, लखहु न याकी ओर ॥३२७॥

अन्य मतहिं न बुझाय, नसि न शंक संबंध कहँ। तो तुव संग न पाय, जो निबन्ध इमि होय नहिं ॥३२८॥

अरु मम सब यह ग्रन्थ के, प्रतिपादन को भाव। आप संत ह्वै सर्वदा, मम सन्मुख करि चाव ॥३२९॥

इमि यथार्थतः आपको, गीता प्रेमी जान। इक गीता को हृदय महँ, मैं धार्यो मतिमान ॥३३०॥

जो अपनो सर्वस्व दै, लीजे यहि अपनाय। अतः ग्रंथ नहिं कथन मम, साँचो ही हो जाय ॥३३१॥

जो सर्वस्वहिं लोभ धरि, करि अवहेलन याहि । तो गीता अरु मोर गति, एकहिं सी ह्वै जाहि ॥३३२॥
अधिक कहा मैं तुव कृपा, के निमित्त के काज । कियो ग्रन्थ निज बालमति, सुनहु संत महिराज ॥३३३॥
आप रसिक के जोग ही इहि विधि कियो बखान। अतः विविध मत विलगि करि तुमतें कह्यौं सुजान ॥३३४॥
कथा पाय विस्तार तब, मूल अर्थ इक ओर । मैं बालक कीजे छमा, आप कृपा की कोर ॥३३५॥
कंकर जो कौरहिं लगो, फेंकत समय लगाय । सो दूषण नहिं समय नसि, त्यागव अवसि जनाय ॥३३६॥
आगत समय बिताय, किंवा सुत घिरि चोर तें । लखि जीवन न कुपाय, राई नोन उतार वरु ॥३३७॥
कारन यह परि है नहीं, आप कहैं समुझाय । कहो कृष्ण इमि अर्जुनहिं, सो प्रभु सुनु चित लाय ॥३३८॥
कहत सुलोचन पार्थ सुन, सावधान ह्वै बैन । ज्ञान निरूपन मैं करौं, तुमतें लखिय सुखैन ॥३३९॥
ज्ञान कहत जिहिं वसत तहँ, छमा दम्भ तें हीन । तिहिं ठौरहिं महँ जानिये, सत्यहिं ज्ञान प्रवीन ॥३४०॥
अरु अगाध सरवरहिं महँ, करत सरोज निवास । किंवा जिमि धनवंत गृह, करि संपत्ति सुवास ॥३४१॥
अर्जुन तिमि जिहिं योग तें, छमा वृद्धि कहँ पाय । लच्छण वरणौं तासु के, लच्य माँहि जिमि आय ॥३४२॥
जैसे भावहिं अंग निज, प्यारे भूषण धार । सहन करत सब ताहि तिमि, करिके अंगीकार ॥३४३॥
सब प्रधान त्रय ताप जे, सकल उपाधि मिलाय । दुखित होय नहिं प्राप्त यदि सकल दुःख समुदाय ॥३४४॥
इष्ट पदार्थहिं प्राप्ति महँ, जिमि संतोषहिं मान । तैसहि पाय अनिष्ट कहँ, मान देत मतिमान ॥३४५॥
सुख-दुख जहां समाय जो सहि मान अमान दुहुँ । मन महँ भेद न पाय, निंदा अरु नुति माँहि जो ॥३४६॥
जो गरमी तें तपत नहि, शीतहिं तें न कंपाय । कौनहुँ संकट पाय के, जाहि न भय उपजाय ॥३४७॥
जिमि सुमेरु को होत नहिं, निज शिखरन को भार । कहि न यज्ञवाराह जिमि, धरा भार तें हार ॥३४८॥
किंवा पृथवी झुकत नहिं, जिमि सचराचर भार । नाना द्वंदहिं पाय तिमि, दुखित न होय उदार ॥३४९॥
जो नाना नद नदिन के, जल समूह कहँ पाय । जिमि समुद्र निज उदर महँ सब कहँ लेत भराय ॥३५०॥
जा महँ यह बातहु नहीं सहि न सकहिं तिमि जाहि । अरु सब कहँ सह लेत मैं ऐसहु चिंतन नाहिं ॥३५१॥
निज वश कर राखत सकल जो कछु मिलत शरीर । अरु यह सब सहिलेत मैं करि अभिमान न धीर ॥३५२॥
दुःख रहित मिलि यह छमा, प्रियवर जाके पास । ताको महिमा ज्ञान की वृद्धि जान सुखरास ॥३५३॥

अर्जुन ऐसे पुरुष को, जान ज्ञान को प्रान। अब वरनौं तिहि सरलपन, ताको सुनहु सुजान ॥३५४॥
जैसहि प्रान समान, भले बुरे आचार महँ। ताहि सरलता जान, सबही तें अनुकूल तिमि ॥३५५॥
जैसहि मुख कहँ देखकर, भानु न करत प्रकाश। रहत एकही ठौर महँ, जिमि नभ को अवकाश ॥३५६॥
जाकर मन तिमि आन नहिं प्रति प्रानी के माहि। अरु ताको आचरण सम, एकहि सो दरसाहि ॥३५७॥
संबंधी सग जग सकल, अरु जग तें पहिचान। अपुन पराये भाव जे, जानत नहीं सुजान ॥३५८॥
उदक समानहिं नम्र जो, मित्रभाव सब पाँहि। हिचक न कोऊ के विषय, जासु चित्त के माँहि ॥३५९॥
जैसो वेग समीर को, तैसो सरल स्वभाव। जिहिं शंका अरु चाह को, मूल नहीं दरसाव ॥३६०॥
जैसे माता सन्मुखहिं, शिशु कहँ नहिं संदेहु। तिमि आपन मन देन हित सोच करत नहिं केहु ॥३६१॥
जिमि सरोज विकसित भये, फेर नहीं सकुचाय। मन विकार तिमि काहु पैं, कहत न कबहुँ छिपाय ॥३६२॥
आदिहिं ते दरसाय, जिमि उत्तमता रत्न की। तिमि मन पहुँचे धाय, क्रिया करन तें प्रथम तिहिं ॥३६३॥
शंकहिंयुत न विचार करि, अनुभव तें जो तृप्त। अरु मन माँहि विचार जो, गहैं तजैं नहिं उक्त ॥३६४॥
कपट दृष्टि आचरन नहिं, नहिं शंका तें युक्त। अरु कुबुद्धि तें होत नहिं, कौनहु सें अनुरक्त ॥३६५॥
दशहु इन्द्रियाँ सरल अरु, निर्मल कपट विहीन। पाँच प्रान आठहुँ पहर, निशि दिन मुक्त प्रवीन ॥३६६॥
सरल अमिय की धार तिमि, तिहि मन सरल सुजान। अधिक कहा यह चिन्ह सब, नैहर समहिं प्रमान ॥३६७॥
अहैं मूर्ति सो पुरुषवर, सरलपना की जान। ज्ञान करत है धाम तहँ, अपनो सदा सुजान ॥३६८॥
चतुर शिरोमणि तुमहिं सब, अब याके उपरांत। हम वरनत गुरु भक्ति को, सुनि मनकर एकान्त ॥३६९॥
जनम भूमि सब भाग्य की, यह सेवा को काज। करत जीव कहँ ब्रह्म वपु, जो ग्रसि शोक समाज ॥३७०॥
यह गुरु सेवा प्रगट करि तुमतें कहौं बखान। तिन्ह कहँ तुम चितलायके, सुनि समुझहु मतिमान ॥३७१॥
गंग उदधि मधि जाय, सकल नीर समुदाय के। अथवा श्रुति प्रविशाय, ब्रह्म पदहिं महँ जायके ॥३७२॥
जीवन निज गुण अगुण सब, जैसे पतिव्रत नार। प्राननाथ प्रिय कहँ अरपि, मानत मनहिं सुखार ॥३७३॥
जो, निज भीतर बाहरौ, गुरुकुल कहँ अर्पाय। देह आपनो करत है, भक्ति धाम हरषाय ॥३७४॥
गुरुगृह है जिहिं देश महँ, सो बसि मनके माँहि। नारि विरहनी करत जिमि, पति चिंतवन सदाँहि ॥३७५॥

आय पवन तिहिं देश तें, तिहिं लखि करत प्रनाम । अरु आवे मम गेह महँ, बिनती करहिं ललाम ॥३७६॥
सत्यहिं प्रेमहिं भूलि तिहिं दिशहिं कहत प्रिय बात । अरु निज प्रानहिं थानपति गुरु गृह राखत तात ॥३७७॥
जिमि बछरा गिरवँहि बँध्यो राखत गोपर ध्यान । रहत देह वपु ग्राम तिमि गुरु आयसु मनमान ॥३७८॥
अरु मन महँ यह कहत की कब मिटि हैं प्रतिबंध । कब मिलिहैं मम स्वामि इमि पल जिमि युग संबंध ॥३७९॥
यदि आयो गुरु-ग्राम तें, या श्री गुरु पहुँचाय । जैसे गत आयुष्य कहँ, पूर्णायुष्य मिलाय ॥३८०॥
गिर अमृत की धार, जैसे सूखत अंकुरहिं । डाबर तें धनुधार, अहा उदधि लहि मीन जिमि ॥३८१॥
अधहिं लोचन लाभ जिमि, पावहिं रंक निधान । सुरपति को जिमि पद मिले, अंग भिखारी आन ॥३८२॥
गुरु कुल के तिमि नाम तें, लहैं महा सुख पूर । किंवा आलिगन गगन, करि आतुरतहिं शूर ॥३८३॥
गुरुकुल परि इमि प्रीति जहँ, अर्जुन परहिं दिखाय । करत रहत है तासु की, सेवा ज्ञान जनाय ॥३८४॥
अरु तिहि के अंतःकरन, उपजत प्रेम पँवार । करत उपासन ध्यान जो, गुरु स्वरूप धनुधार ॥३८५॥
शुद्ध हृदय वपु मंदरहिं, ध्रुव गुरुदेव सुजान । पुनि सब भावहिं आपही, बनि पूजा सामान ॥३८६॥
किंवा ज्ञान स्वरूप तट, मंदिर आनँद माँहि । श्री गुरु वपु शिवलिंग परि, ध्यानामृत बरसाँहि ॥३८७॥
ज्ञान वपुहि रवि के उदय, बुधि अंजुलि सत् भाव । शिव स्वरूप गुरु मूर्ति पर, लाखनवार चढ़ाव ॥३८८॥
जीव दशा वपु धूप जरि, उत्तम समय त्रिकाल । करहिं निरंतर ज्ञानवपु, दीप प्रभा उजियाल ॥३८९॥
इकहि भाव गुरु पाँहि, करि अखंड नैवेद्य वपु । शिव स्वरूप गुरु माँहि, आप पुजारी होय करि ॥३९०॥
नंतर शय्या जीव वपु, गुरुपति रूपहि भोग । प्रेम कौतुकहि बुद्धि इमि, धारन करि न वियोग ॥३९१॥
कौनहुँ एकहि अवसरहि अंतः भरि अनुराग । अथवा तिहिं को नाम कहि, क्षीरसिंधु बड़भाग ॥३९२॥
ध्यानहिं बहु सुख ध्येय को शेष शयन निर्दोष । निरखैं नारायन शयन गुरु भावहिं करि तोष ॥३९३॥
श्री श्री पाँव पलोटिनी, पुन आपहि बनि जाय । गरुड़ होय ठाढ़ो रहो, आपहि आप स्वभाय ॥३९४॥
जनम नाभि ते आपनो, ब्रह्मा आपहिं मान । मनो धर्म अनुभवत वपु, गुरु प्रेमहिं सुख ध्यान ॥३९५॥
कतहुँ भक्ति के प्रेम बल, गुरु कहँ माता मान । दूधपान सुख अनुभवत, खेलत गोद सुजान ॥३९६॥
ज्ञान वपुहि तरु के तरे, धेनु रूप गुरु मान । आप वत्स को रूप ह्वै, पार्थ करे पयपान ॥३९७॥

गुरु करुणा वपु प्रेम जल, आपहिं मीन बनाव । कौनहुँ एकहिं समय यह, कीजे अर्जुन भाव ॥३९८॥
सेवावृत्ति स्वरोप, गुरू कृपामृत वृष्टि ह्वै । जन्मैं मन आरोप, ऐसे ही संकल्प जिहिं ॥३९९॥
आपहिं पीला जाय बनि, नयन पंख तें हीन । किमि अपारपन प्रेम को, याहि विलोकु प्रवीन ॥४००॥
चारा लेवे चोंच तें, गुरुहिं पक्षणी मान । नाँव सहारा आप धरि, नाँव गुरुहिं अनुमान ॥४०१॥
इमि सुप्रेम बल ध्यान तें, ध्यानहिं को उपजाव । उपजि तरंग तरंग तें, जिमि सिंधुहिं निज भाव ॥४०२॥
अधिक कहा गुरु मूर्ति कहँ हिय धरिके सुख पाय । बाहर सेवाभाव जब, बरनौं सुनु चितलाय ॥४०३॥
निश्चय यह मन महँ करै, उत्तम सेवा होय । जाते सहजहिं गुरु कहैं, वर मांगहु प्रिय जोय ॥४०४॥
उत्तम सेवा तें जबहिं, गुरु प्रसन्नता पाय । तब मैं विनती इमि करहुँ, जिमि मम मनहिं सुहाय ॥४०५॥
इहि हित सब परिवार जो, तुम्हरो है गुरुदेव । तितने सबके रूप मैं, बनि अकेल करि सेव ॥४०६॥
अरु उपयोगी आपके, जे साधन समुदाय । तितने ही सब रूप मैं, हो जाऊँ गुरुराय ॥४०७॥
गुरुकुल जन समुदाय, सेवा हित बनिहौं सकल । एवमस्तु गुरुराय, इमि वर माँगत ही कहैं ॥४०८॥
एकहिं होकर सब बनौं, उपयोगी समुदाय । सेवा कौतूहल सकल, तब उदार दरसाय ॥४०९॥
गुरु अनेक की मातु परि, मैं इकलौता होय । करत आपनी शपथ मैं, गुरु दाया कहँ जोय ॥४१०॥
गुरु को प्रेमहिं बाँधि निज, इक पत्नीव्रत धारि । करहुँ क्षेत्र सन्यास तिहिं, लोभ धारि धनुधारि ॥४११॥
चहुँ दिशि की नहिं पवन लगि, तासें बाहर जाय । गुरु दाया को पींजरा, मैं बन जाउँ स्वभाय ॥४१२॥
स्वामिनि गुरु सेवा वपुहिं, निज गुण करि लंकार । पहिराऊँ निज भक्ति तें, सेवा सकल सम्हार ॥४१३॥
गुरु सनेह जल वृष्टि तें, मैं अवनि ह्वै लहि ओल । इमि अनंत जग ऐसहीं करहुँ मनोर्थ अडोल ॥४१४॥
आपहिं मैं ह्वै करि रहौं, श्री गुरुवर को धाम । अरु श्रम करिके दास ह्वै, सेवा करहुँ ललाम ॥४१५॥
आवत जावत लाँघि गुरु, सो दिहरी हो जाउँ । द्वारपाल अरु द्वारहू, मैं ही होय रहाउँ ॥४१६॥
छत्रहिं परम प्रवीन, छत्र धारि बनिके धरहुँ । मैं तहुँ ह्वै लवलीन, गुरु की ह्वै करि पादुका ॥४१७॥
चँवर डुराऊँ गुरुवरहिं, हाथ देउँ मैं आन । चौबदार ह्वै पथ कहौं, ऊँची नीची जान ॥४१८॥
गुरु जल भारी मैं बनौं, दे मुख मज्जन नीर । मुख तें जल गिर जहँ परै, स्वच्छ पात्र बनि धीर ॥४१९॥

काँवर जल की कंध धरि, उबटन करि अन्हवाउँ । थूँक धरन के हेतु मैं, पीकदान बनि जाउँ ॥४२०॥
गुरु को आसन होउँ अरु, अलंकार परिधान । चदनमाला आदि ह्वै, गुरु सेवा चित मान ॥४२१॥
औ मैं होइ रसोइया, परसि विविध पकवान । गुरु आरती उतारि हौं, संयुत भक्ति महान ॥४२२॥
जब गुरुवर भोजन करहिं, करहुँ अशन तिहि पाँति । अरु आगे तें आय मैं, बीड़ा देहुँ सुभाँति ॥४२३॥
जूँठन गुरु को दूरि करि, करहुँ बिछौना भार । अरु गुरु के चाँपौं चरन, मैं ही परम उदार ॥४२४॥
औ सिंहासन होइ करि, तहँ गुरुवरहिं पधार । सब प्रकार सेवा करहुँ, पूर्णपनहिं सविचार ॥४२५॥
जहाँ जाय गुरु ध्यान, अरु मन देवें गुरु जहाँ । करि प्रथमहिं प्रस्थान, चमत्कार सो ह्वै रहौं ॥४२६॥
गुरु श्रवणांगन होइ मैं, अमित शब्द समुदाय । गुरु जाको परसन करहिं, बनौं परस मैं धाय ॥४२७॥
श्रीगुरु प्रेमल दृष्टि तें, जाहिं लखहिं निज नैन । सकल रूप हो जाउँ मैं तब मानहिं मन चैन ॥४२८॥
गुरु रसनहिं जो-जो रुचहिं, सो रस ह्वै मम रूप । अरु सुगंध बनिके करौं, सेवा घ्राण अनूप ॥४२९॥
इमि मन गत अरु बाहरौ, सेवा वस्तु समस्त । श्रीगुरु सेवा हित बनौं, सेवा करौं प्रशस्त ॥४३०॥
इमि तब लगि सेवा करौं, जब लगि अहै शरीर । पुनि देहानतर उपजि, अद्भुत बुद्धि सुधीर ॥४३१॥
इहिं शरीर की मृत्तिका, तिहिं थल मेलहुँ जाय । जहँ श्री गुरुवर के चरण, खड़े होंय सुख पाय ॥४३२॥
स्वामि जहां निज कौतुकहिं, परसन करि जो नीर । निज तन को जल-भाग तहँ, करौं विलीन अपीर ॥४३३॥
श्रीगुरु आरति दीप जिहिं, वा गुरु गृह जो दीप । तेज भाग निज देह को, तहाँ मिलाय महीप ॥४३४॥
गुरु पर बहै समीर, जहाँ पंख वा चँवर तें । तहँ लय होय सुधीर, पवन प्रान मम देह को ॥४३५॥
गगन भाग निज देह को, तहँ लय करौं विचार । जिहि अवकास निवास करि, श्रीगुरु सह परिवार ॥४३६॥
जीवन अरु गत देह मैं, रहौं न सेवा लीन । पलभर इतर न करि करहुँ, कल्प-कल्प स्वाधीन ॥४३७॥
जो अरु गुरु-सेवा बने, ऐसी अनुपम वीर । अहैं यहाँ पर्यन्त लगि, जाके मन में धीर ॥४३८॥
कहत न थोरी अरु बहुत जानि न दिन अरु रैन । गुरु आयसु बल तें रहत, प्रमुदि स्फूर्ति सुखैन ॥४३९॥
श्रीगुरु सेवहिं नाम तें, गगनहुँ तें अधिकाय । सब सेवा आपहिं करै, इक कालहिं सुख पाय ॥४४०॥
देहहु चलि पहुँचे प्रथम, हृदय वृत्ति करि पार । मनहि चुनौती देय करि, कारज करत अपार ॥४४१॥

कौनहुँ अवसर पाय करि, श्रीगुरु कौतुक हेतु । करत निछावर आपनो, जीवन को कपिकेतु ॥४४२॥
श्रीगुरु सेवहिं होय कृश, गुरु प्रेमहिं तें पुष्ट । गुरु आयसु को वासु थल, आप बनै संतुष्ट ॥४४३॥
गुरु कुल योग कुलीन, सुजन नेह गुरु बंधु जो । गुरुसेवा लवलीन, जाहि निरंतर व्यसन यह ॥४४४॥
सो वर्णाश्रम धर्म है, सम्प्रदाय गुरु जासु । गुरु सेवा नित कर्म है, जाही को सुखरासु ॥४४५॥
गुरू क्षेत्र गुरु देवता, गुरु माता पितु मान । गुरु-सेवा तें अन्यथा, पंथ न कोई जान ॥४४६॥
जाहि सार सर्वस्व है, श्री गुरुजी को द्वार । गुरु सेवक भाई सगे, सम करि प्रेम अपार ॥४४७॥
जाकर मुख में चलत है, महामंत्र गुरु नाम । गुरू वचन तजि छुवत नहिं, कौनहुँ शास्त्र ललाम ॥४४८॥
गुरु चरनों तें जो छुओ, चाहे जैसो नीर । गनत त्रिलोकी तीर्थ सब, आये ताके तीर ॥४४६॥
अकसमात उच्छिष्ट गुरु, ता कहँ जो मिलिजाय । तो समाधि सुख लाभ सम, मानत मन प्रमुदाय ॥४५०॥
जो गुरु पथ चालत समय पदरज-कण उड़िजात । तिहि मस्तक धरि लाभ गनि मोक्ष सुखहु अधिकात ॥४५१॥
अधिक कहा गुरुभक्ति की, अहै नहीं कछु पार । परि कारण विषयांतरहि, यह आशय धनुधार ॥४५२॥
अहहि परम प्रिय जाहि, जाहि चाह गुरुभक्ति की । मधुर न मनहिं जनाहि गुरु-सेवा तजि इतर कछु ॥४५३॥
सो शोभाप्रद ज्ञान को, तत्त्व-ज्ञान को धाम । अर्जुन सोही देव है, ज्ञानभक्त सुखधाम ॥४५४॥
ये जाने जो साँचहू, तहँ खुलि ज्ञान दुवार । अरु इहि विधि तें ज्ञान भरि, परिपूरित संसार ॥४५५॥
अहहि अमित अभिलाख मम गुरु-सेवा के माँहिं । अमर्याद वरनन करत, अतः न अधिक जनाहिं ॥४५६॥
यों तो मैं करलूल हौं, भजन विषय महँ अंध । सेवा के हित पंगु हौं, मंद बुद्धि संबंध ॥४५७॥
गुरु जस वरनत मूक मैं, वृथा अलसि को पोष । परि गुरु-सेवा माँहि मम, मन सप्रेम निर्दोष ॥४५८॥
गुरु मम हैं ज्ञानेश कहि, हरन सकल भव पीर । इहिं कारन पालन करन, पड़ि मम थूल शरीर ॥४५६॥
यदपि कह्यौ मरयाद बिन, सेवा अवसर पाय । अब बरणों प्रभु ग्रंथ को, उत्तम अरथ प्रवाह ॥४६०॥
सुनु-सुनु श्रोता साधुजन, कृष्ण विष्णु अवतार । भूत भार सहि बोल जो, अर्जुन सुनत उदार ॥४६१॥
जैसे शुद्ध कपूर, अंतर बाह उभय थल । तिमि शुचिता भरपूर, साँची स्वच्छ दिखात जो ॥४६२॥
निर्मल भीतर बाह्य जिमि, किंवा रत्न-स्वरूप । अथवा भानु प्रकाश जिमि, उभय ओर अनुरूप ॥४६३॥

निर्मल बाहिर कर्म तें, हिये ज्ञान उजियार। इहि प्रकार तें शुद्ध जो, उभय ओर धनुधार ॥४६४॥
जल मृतिका संजोग तें, बाहर शुद्धि सुजान। अरु उच्चारन वेद तें, निर्मलता मतिमान ॥४६५॥
दरपन रज तें मलरहित, बुद्धि सदा बलवान। औ धोबी की नाँद परि, निर्मल वसन सुजान ॥४६६॥
अधिक कहा इमि बाहिरे, निर्मलता अवधार। साँचहुँ अंतर शुद्धता, ज्ञान दीप उजियार ॥४६७॥
किंबहु अंतः शुद्ध नहिं, यदि जो पांडुकुमार। तो सब कर्म विडंबना, बाहिर के निरधार ॥४६८॥
जिमि मृत को शृङ्गार करि, वा खर को अन्हवाय। या कटु तुम्बी महँ करे, गुड़ को लेप बनाय ॥४६९॥
अन्न लिपे उपवासि कहँ, तोरन गेह उजार। कुंकुम सेंदुर तें करै, जिमि विधवा शृंगार ॥४७०॥
चमक बाह्य दरसाय, कलश मुलम्मा पोलयुत। भीतर माटी पाय, कहा करै लै चित्र फल ॥४७१॥
कर्म बहिर नहिं श्रेष्ठ अरु, मूल्य न श्रेष्ठ विहीन। मदिरा घट नहिं शुद्ध जो, गंगहु धोय प्रवीन ॥४७२॥
जबहिं ज्ञान अंतर उपजि, बाहर लाभ स्वभाय। ज्ञानकर्म संभवत परि, सुर दुर्लभ नरराय ॥४७३॥
ऐसे उत्तम कर्म तें, बाह्य भाग कहँ धोय। अरु अंतर की कालिमा, ज्ञान प्रभावहिं खोय ॥४७४॥
अंतर बाहिर दोष तजि, निर्मल इक सम होय। अधिक कहा निवसति तहाँ, केवल शुचिता सोय ॥४७५॥
अतः भीतरी शुद्धता, बाहर हू दरसाय। फटिक धाम को दीप जिमि, बाहर तें लखिजाय ॥४७६॥
जातें पार्थ विकल्प अरु, उपजत मृषा विकार। अरु कुकर्म के बीज के, अंकुर लहैं अपार ॥४७७॥
सो सुनिके वा देखिके, अथवा भये मिलाप। मेघ रंग तें गगन जिमि, मन पर परहि न छाप ॥४७८॥
ऐसे इन्द्रिय मेल तें, भोगि विषय समुदाय। परि विकार के दोष तें, लिपत नहीं नरराय ॥४७९॥
जो मिलि पंथहि माहि उत्तम वा अपवित्र तिय। तहँ विकार तिहिं मांहि उपजि न तिमि व्यवहार करि ॥४८०॥
किंबहु पति सुत अंक भरि, इक तरुणी निज अंग। पुत्रभाव तें अंग तिहिं, उपजत नहीं अनंग ॥४८१॥
जाकर मन निर्मल अहैं, उत्तम अधम विकार। अनुचित उचित विशेष कहँ, सो सुस्पष्ट विचार ॥४८२॥
उदकहिं हीरा भींज नहिं, ककर जल न पचाय। मनोवृत्ति तिमि ताहि की, नहिं संदेहहिं पाय ॥४८३॥
शुचितहि जाको नाम है, यह जहँ पूर्ण दिखाय। तहाँ जानिये ज्ञान है, हे अर्जुन नरराय ॥४८४॥
अरु थिरता जाके मनहिं, पूर्णपनहिं मिलि जाय। पुरुष श्रेष्ठ सो ज्ञान को, जीवन जान स्वभाय ॥४८५॥

काया बाह्यहिं रीति निज, करै कर्म समुदाय। परि निश्चलता तासु मन, त्यागत नहीं सदाय ॥४८६॥
धेनु सनेह स्ववत्स महँ, प्रेम न वन महँ जाय। सती प्रेम सह गमन को, भोग प्रेम न कहाय ॥४८७॥
किंवा लोभी दूर चलि, पर मन रहि तिहिं वित्त। देह चलत तिमि तासु को, होत नहीं चल चित्त॥४८८॥
जिमि न भ्रमहिं आकाश, धाराधर ही भ्रमत हैं। जैसै ध्रुव सुखराश भ्रमण चक्र में भ्रमत नहिं ॥४८९॥
अर्जुन जिमि चलि पथिक जन, जैसै चलत न पंथ। अथवा तरुवर चलत नहिं, कतहुँ सुभद्रा कंथ ॥४९०॥
चलित हलित पंच-भौतुको, इंद्रिय तन संबंध। तिमि विकार की लहर तें, लहत न मन प्रतिबंध ॥४९१॥
जैसे आंधी योग तें, धरनी हालत नाँहिं। तिमि उपाधि के योग तें, क्षोभ नहीं मन माँहिं ॥४९२॥
दुख दरिद्रता तें न तपि, भय शोकहिं न कँपाय। देह मरन तें विकलता, जो कबहूँ नहिं पाय ॥४९३॥
आयुव्याधिहि गर्जनहिं, अरु आशहिं भय भीति। सरल पंथ तें कबहुँ जो, विचलित नहीं सुरीति ॥४९४॥
जो निन्दा अपमान सहि, काम लोभ स्वाधीन। बार न बांको हो सके, मन को कबहुं प्रवीन ॥४९५॥
धरनि चहै गलि जाय बरु, टूट परै आकाश। परि जाने नहिं लोटिबो, चित्त वृत्ति सुखरास ॥४९६॥
गज कहँ पुष्प प्रहार की, मार नहीं पासंग। तिमि कुवाक्य वपु बाण तें, फिरत न पंथ प्रसंग ॥४९७॥
गगन नहीं जरजाय, जैसे वन की ज्वाल तें। मंदर गिरि न कँपाय, क्षीरसिंधु की लहर लहि ॥४९८॥
आवत-जावत लहर तिमि, नहिं विकार मन माँहि। अधिक कहा कल्पांतहू, धीरज छोड़त नाहिं ॥४९९॥
जाहि बखानत भाव थिर, कहि इमि नाम सुजान। यह सब लक्षण देखिये, निज नैननि मतिमान ॥५००॥
अंतर बाहर जासु अँग, यह थिरता अविनाशि। सत्य ज्ञान की निधि प्रगट, तिहिं जानिय सुखराशि ॥५०१॥
साँप न छाड़त ठाँव निज, शूर न तजि हथियार। अथवा अपनी निधि गड़ी, कृपण न देत बिसार ॥५०२॥
किंबहु इकलौता सुतहिं, मातु नेह जिमि प्रान। मधु महँ जिमि मधु मक्षिका, लावत लोभ महान ॥५०३॥
अर्जुन जो अंतःकरन, इहि विधि करि स्वाधीन। इन्द्रियगन के द्वार महँ, जान न देत प्रवीन ॥५०४॥
सुनहिं कान हौवा अतः, देखहिं डाकिनि आस। पाश फांस अंतःकरन, तातें करि अति त्रास ॥५०५॥
किंवा जैसे प्रबल पति, व्यभिचारिनि तिय बंध। तैसे अपनी प्रकृति परि, करत सदा प्रतिबंध ॥५०६॥
जब लगि अंत शरीर; जीवत तन कहँ कृश करहिं। इन्द्रिय निग्रह धीर, करि विवेक बल तें सदा ॥५०७॥

चौकी प्रत्याहार की, महाद्वारे मन देह। सम-दम को पहरा महा, देत न रहि संदेह ॥५०८॥
गले नाभि आधार जे, बंध त्रयहु थिर कार। ईड़ा-पिंगला संयमहिं, राखत चित्त उदार ॥५०९॥
अरु समाधि की सेज के, पास बाँधि धरि ध्यान। चित चैतन्यहिं एक रस, थिर कहि देत सुजान ॥५१०॥
निग्रह जो अंतःकरन, सो यह जान सुजान। जहां होय यह तहँ विजय, ज्ञान फेर मतिमान ॥५११॥
जाकी आयसु मानि मन, सदा शीष पर धार। ज्ञान स्वरूपहिं जानिये, निरखि मनुज आकार ॥५१२॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अर्थ—इन्द्रिय विषय विराग अरु, मन अभिमान अभाव।
जन्म-मरण रुज वृद्धता, तन दुख दोष लखाव ॥८॥

अरु विषयन के विषय महँ, नीको जाहि विराग। करि सहायता मन सदा, जाग्रत ह्वै बड़भाग ॥५१३॥
अन्न वमन कर चहति नहिं, की रसना तिहिं खाय। किंवा अगहिं चाह नहिं, प्रेतहि अंक भराय ॥५१४॥
चाहत नहिं विषपान करि, जरत सदन प्रविशाय। शारदूल की खोह मै, कोऊ बसत न जाय ॥५१५॥
जैसे कूदत नाँहि, पिघले लोहे के रसहिं। जिमि अजगर तन माँहिं, सिरहानो करि जात नहिं ॥५१६॥
जाकहँ कछु भावत नहीं, विषय बात कपिकेतु। अरु इन्द्रिय सुख मांहिं जो, रंचक जान न देतु ॥५१७॥
दुर्बल तन मन आलसी, विषय-भोग महँ वीर। मन अरु इन्द्रिय दमन महँ ऐक्यभाव रनधीर ॥५१८॥
अर्जुन जाके पास अति, तप अरु व्रत समुदाय। प्रलयकाल सम दुख गनत, जननिवास थल पाय ॥५१९॥
अति इच्छा जाकी प्रबल, अहै योग अभ्यास। नाम न सहि समुदाय को, जात अरण्यहिं पास ॥५२०॥
शयन बान की सेज पर, खेलव पंकहि पीप। जग के भोग विलास को, तैसहिं जान महीप ॥५२१॥
स्वर्ग मिलन की बात सुनि, ऐसी मानत त्रास। अथवा दुर्गन्धित महा, अहै श्वान को माँस ॥५२२॥
आत्म-मिलन को भाग्य जो, सो यह विषय विराग। जीव ब्रह्म आनंद के, योग्य होत बड़ भाग ॥५२३॥
उभय लोक सुख भोग महँ, जिहिं ऐसी अति त्रास। ता महँ जानिय ज्ञान को, अर्जुन सदा निवास ॥५२४॥

श्रद्धहिंयुत करि कर्म, कूप बाग मख सर विविध। बसति न तन मन कर्म, कर्तापन अभिमान परि ॥५२५॥
अर्जुन पोषण करत हैं, जो वर्णाश्रम-धर्म। इहिं आचरत न न्यून करि, नित नैमित्तिक कर्म ॥५२६॥
यों कीन्हों मैं कर्म परि, भयो सिद्ध यह मोर। यह आवत नहिं वासना, मन महँ काहू ओर ॥५२७॥
सहज सदा सर्वत्र फिरि, जिमि समीर चहुँ ओर। किंवा बिन अभिमान जिमि, भानु उदय सब ओर ॥५२८॥
श्रुति स्वभावतः कहत वा, गंग चलत बिनकाज। निरभिमान आचरन यह, जिमि जाको नरराज ॥५२९॥
सदहिं फलत ऋतुकाल परि, फल्यो न तरुवर जान। तरु के सम इमि वृत्ति तिहिं, सदा कर्म महँ मान ॥५३०॥
जैसे धागा हार को, इह बल खैंचो जाय। ऐसे मन अरु वचन तें, अहंकार नसि जाय ॥५३१॥
जैसहिं घन आकाश महँ, रहि संबंध विहाय। तिमि शरीर तें कर्म जो, बिन संबंध कराय ॥५३२॥
जैसहि मद्यप तन वसन, चित्र हाथ हथियार। बँध्यो वरद पर शास्त्र तिमि निष्फल कर्म उदार ॥५३३॥
कहि इहि थिति कहँ वीर, निरभिमानता नाम तिहिं। तिमि अस्तित्व शरीर, जिहि चिंतन नहिं मैं अहौं ॥५३४॥
यों सम्पूर्ण दिखात जहँ, तहाँ ज्ञान आगार। शंक नहीं इहि विषय महँ, कौनहु भाँति उदार ॥५३५॥
जनम मरन अरु दुख जरा, रोग पाप अधिकार। तिहिं ढिग आवन तें प्रथम, दूरहिं लेत निहार ॥५३६॥
जिमि गुनियां तें न्यून बढ़ लखि कै पावत जाँच। किंवा योगि उपद्रवहिं, ज्ञाता मंत्र पिशाच ॥५३७॥
औ जन्मांतर वैर जतु, उरग उरहिं न भुलाय। पूर्व जनम के पाप तिमि योगी चित महँ लाय ॥५३८॥
आँखैं कंकर सहति नहिं, घाव न भाला मार। कौनहुँ कालहुँ जनम के, बिसरत दुख न अपार ॥५३९॥
कहत पीप की भील घुसि, कढ्यो मूत्र के द्वार। हाय हाय कुच स्वेद को, चीख्यो चाटि अपार ॥५४०॥
ऐसहि बहु विधि बिलपि करि जनम विपति उरधार। कहत न अब मैं इमि करौं जिमि दुख होय अपार ॥५४१॥
जैसे ज्वारी हारि पुनि, जीत हेतु धरि दाँव। अथवा सुत पितु वैर हित, सोचत कब उमचाँव ॥५४२॥
ज्यों मारक परि कोपि, अँग रक्षक बदला चहैं। तिमि पीछा करि सोचि, सावधान ह्वै जनम पर ॥५४३॥
संभावित कहँ अजस जिमि, सहन होत है नाहिं। जनम लैन की लाज जो, तजत नहीं मन माँहि ॥५४४॥
अरु भविष्य सहँ मरन है, चहैं होय कल्पांत। किंवा आजहिं होय परि, सावधान चित्तांत ॥५४५॥
जल अथाह महँ जाय कहि, करिहा लगि है नीर। तैरन हार न सोचकर, तैरन के बल वीर ॥५४६॥

जैसहि रण थल जान के, प्रथम सँभारत अंत । घाव लगन के प्रथम ही, ढाल रोपि बुधवंत ॥५४७॥
जिमि भविष्य थल भयद पुनि, आजहि करत सँभार । प्रान जान के प्रथम जिमि, औषधि लेत विचार ॥५४८॥
शेष बात ऐसी घटित, जरन लगत जल धाम । कूप खोदिवो तब वृथा, फलद नहीं परिनाम ॥५४९॥
जाय दहारहिं डूबि सिल, तिमि भव सिंधु डुबाय । तो व्यर्थहिं डूबै अतः कौन कहत चिल्लाय ॥५५०॥
अतः बैर बलवान तें, जिहिं गहरो ह्वै जाय । धारन करि जिमि शस्त्र कहँ, आठहु पहर रहाय ॥५५१॥
नव बधू हित ससुरार, सन्यासी जिमि मरन हित । तत्पर रहत उदार, तिमि वह मृत्यु विचार करि ॥५५२॥
अर्जुन याहि प्रमान तें, जन्महिं जन्म निवारि । मरनहिं मारत मरन तें, आत्म-स्वरूप सँभारि ॥५५३॥
साँचहु दुख पावत नहीं, तिनके घर महँ ज्ञान । जनम मरन के दुख सकल, जिन्हके नसे महान ॥५५४॥
जरा आगमन के प्रथम, अर्जुन याहि प्रकार । लखि तरुणता उमाहि करि, अपने मनहिं विचार ॥५५५॥
कहत आज इहि अवसरहिं, जो मम पुष्ट शरीर । जरा पाय यह होय जिमि, फचरी सूखि अधीर ॥५५६॥
दैव बिना व्यवसाय जिमि, शिथिल हाथ अरु पाँय । मंत्री बिन राजा रहत, जिमि निर्बल असहाय ॥५५७॥
करि सुगंध तें प्रेम जो, नाक फूल के भोग । मस्तक घुटना ऊँट बनि, आवहिं यह संयोग ॥५५८॥
ज्यों आसाढ़ी पवन तें, पशु खुर रोगहिं पाय । तिमि मम मस्तक की दशा, दुखदायक नरराय ॥५५९॥
जो मम नैन दिखाँय, कमल दलन तें ईर्ष धरि । तैसे ही हो जाँय, जिमि पाके परवर रहैं ॥५६०॥
छाल पुरानी सम लटकि, भौंह नयन परि आय । अरु आँसू के नीर तें, उरहिं पक्र हो जाय ॥५६१॥
गिरगिट चलत बमूर तरु, लथपथ गोंदहिं माँहि । तैसहिं थूक भरात हैं, बार बार मुख माँहि ॥५६२॥
जिमि रसोइ के चूल्ह ढिग, जल परि राख भराय । तिमि भरि जावे नासिका, नाक मैल अधिकाय ॥५६३॥
खाये पान रँगाय मुख, हँसत दाँत दरसाँय । शब्दन को भाषण सरल, उत्तम परम सुनाँय ॥५६४॥
निरखहु तिहिं मुख माँहि यह, चलिहैं लार प्रवाह । दांत सहित सब डाढ़हू, गिरि जैहैं नरनाह ॥५६५॥
ऋणहिं दबै जिमि कृषक वा, शीत पाय के ढोर । तिमि रसना कीन्हें जतन, चलत न काहू ओर ॥५६६॥
जैसे सूखे तृन-कणहिं, इत-उत पवन उड़ाय । मुख दाढ़ी की दुर्दशा, तैसी ही ह्वै जाय ॥५६७॥
शैल शिखर जैसे झिरत, पावस को जलपाय । दाँत झरोखन तें झिरत, तैसे लार स्वभाय ॥५६८॥

सहज न कान सुनाय, उच्चारण नहिं वचन मुख। तन ऐसो ह्वै जाय, जैसे बूढ़ो होय कपि ॥५६९॥
जैसे हालत तृन सघन, ठाढ़ो पाय समीर। तैसहिं सहजहि कँपत हैं, थर-थर सकल शरीर ॥५७०॥
चरन फँसत हैं चरन तें, भुज मुरकें बल खाँय। ऐसे सकल शरीर के, लच्छण स्वाँग जनाँय ॥५७१॥
द्वार बनत मल मूत्र के, जिमि माटी घट फाट। इतर मनावत मरन मम, अरू जोहत तिहिं बाट ॥५७२॥
इमि थिति लखि धिकार जग मौत वेगि कब आँय। सब चाहहिं मम निधन अरु कुटँब जनहुँ उकताँय ॥५७३॥
अबलहु कहहिं पिशाच अरु शिशु मूर्छित ह्वै जाँय। अधिक कहा जीवन सकल घृणापात्र बनि जाँय ॥५७४॥
खाँसी केर उभार सुनि, जगहिं सेज निज गेहि। कहहिं सकल यह वृद्ध हैं दुखदायक बहुतेहि ॥५७५॥
परें अपने ही तरुन पन, जरा सूचना मान। देखत मनहिं विचार अरु, आनत हीक महान ॥५७६॥
कहहिं अवसि थिति होय इमि अरु अब वृथा सुभोग। पुनि हितदायक बात कह कहा करन के जोग ॥५७७॥
सब कछु तबहिं सुनाँय जब लगि, बहिर न कान हैं। जब लगि पंगु न पांय तब लगि तीरथ लेय करि ॥५७८॥
नयननि जब लगि देख सकि, तब लगि दर्शन पाय। मूक होन के प्रथम ही सुन्दर वचन सुनाय ॥५७९॥
जब लगि हाथ न लूल हैं, तब लगि जानहिं मर्म। सकल करहिं तब लगि सुभग दानादिक जे कर्म ॥५८०॥
जबहिं आय ऐसी दशा, तब मन शुद्ध न मान। आत्म ज्ञान सम्पूर्णतः, चिंतहिं अतः सुजान ॥५८१॥
आजुहिं धनहिं सवाँरि धरि लूटहिं चोर विहान। दीपक जरन न पाय अरु, धरहु सुठौर निधान ॥५८२॥
जीर्ण अवस्था जुरत हीं, जनम वृथा ह्वै जाय। अब ही ते अतएव जो, सब कहँ दूरि कराय ॥५८३॥
दुर्ग-अरण्यहिं त्यागि जिमि, पत्नी निज घर आय। तिमि त्यागत जो चलत हैं, तो किमि लूटो जाय ॥५८४॥
आवतही वृद्धापनहिं, जन्म अकारथ जाय। पुन सयान सौ बरस को कहत न कछु समुझाय ॥५८५॥
जिमि तिलतरुतें झारि तिल लहि न लहैं पुनि झारि। अग्निहोम जरि राख जब पुनि न सकहिं कछु जारि।५८६।
अवशहिं अहैं प्रवीन, ज्ञान जानिये ताहि महँ। होत न तिहिं स्वाधीन, जो चिंतन करि वृद्धपन ॥५८७॥
जब लगि नाना भाँति के, रोग न उपजि शरीर। तब लगि विविध उपाय करि, निरुज होन हित वीर ॥५८८॥
आटा की गोली गिरी, साँप मुखहिं तें जान। पा करिके त्यागन करहिं, जैसे पुरुष सयान ॥५८९॥
जातें होत वियोग दुख, विपति शोक उपजाय। सो सनेह सुख परिहरहिं, उदासीन ह्वै जाय ॥५९०॥

जिहिं जिहि ओरहिं दोष सब, मुख कहँ देहिं उघार। तिन्ह कर्मेन्द्रिय छिद्र महँ, पाहन नियमहिं डार ॥५९१॥
ऐसहिं ऐसहिं आचरन, जाके अहैं उदार। जान ज्ञान-सम्पन्न—जन, सोई पांडुकुमार ॥५९२॥
एक अलौकिक औरहू, अब लच्छन तुम पाँहि। बरनत हौं अर्जुन सुनहु चित्त लाय तिहि काँहिं ॥५९३॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टाऽनिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

अर्थ—जो असक्त सुख दुख रहित, सुत तिय घर के पाँहि।
सदा रहत सम-चित्त अरु, इष्ट अनिष्टहिं माँहिं ॥९॥

उदासीन इहि देह तें, जो इमि रहि नरराय। बस्यो प्रवासी है तहां, जैसे कोई आय ॥५९४॥
किबहु तरु की छांय जिमि, पंज जात मिलि जाय। तिहिं समान जो गेह में, नेह न रंच कराय ॥५९५॥
जैसहि तरु सँग छांह तिहिं, परि तरु जानत नांहि। तैसे ही तिहिं नारि महँ, लोलुपता न जनांहिं ॥५९६॥
सकल प्रवासी जान, अरु जो-जो उपजै प्रजा। वा पशु के सम मान, जो बैठत हैं रूख तर ॥५९७॥
जो इमि संपति मधि रहत, जानत पांडुकुमार। जैसे साखी आय के, बैठ्यो पंथ मँझार ॥५९८॥
जैसहि शुक रहि पिंजरहिं, पालक आयसु पाल। चलत वेद प्रतिकूल नहिं, कैसहु कौनहुँ काल ॥५९९॥
जो तिय सुत अरु गेह तें, राखत नाहीं प्रीत। धाम ज्ञान को जानिये, ता कहँ परम पुनीत ॥६००॥
जैसे सागर मांहि है, बरसा ग्रीष्म समान। हानि लाभ की प्राप्ति है तैसहि ताहि ठिकान ॥६०१॥
जैसहि तीनहु काल है, भानु न तीन प्रकार। तैसे सुख-दुख चित्त तिहिं, भेद नहीं धनुधार ॥६०२॥
जिहिं समता की न्यूनता, रहत न जिमि आकास। तहां जानिये ज्ञान को, है प्रत्यक्ष निवास ॥६०३॥

मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अर्थ—करि मम भाव अनन्यतः, परम भगति निर्दोष।
एकान्तहिं चाहत बसहुँ, जन-गन संग न तोष ॥१०॥

औ मेरे अतिरिक्त कछु, उत्तम नहिं संसार। करि काया मन वचन तें, इमि निश्चय धनुधार ॥६०४॥
जो तन मन अरु वचन तें, करि निश्चय धरि आन। इक मोकहँ तजि इतर कछु, देखि परत नहिं आन ॥६०५॥
जो मम मॉहि विलीन, निज मन करि कहि अधिक का। तिन्हहीं कियो प्रवीन, सेज आपनी मोर इक ॥६०६॥
गमन करत निज पति निकट, शक न तिय के अंग। तैसे ही अनुसरन मम, जिहिं ऐक्यता प्रसंग ॥६०७॥
ज्यों गंगाजल सिंधु महँ, मिलिकर मिलित रहाय। तैसे ही मद्रूप ह्वै, मोहि भजत सब भाय ॥६०८॥
सूरज उदये तें उदय, अथये होय विलीन। जिमि शोभा पावत प्रभा, ऐक्य प्रभाव प्रवीन ॥६०९॥
किंबहु जल निज थलहिं परि, हालत पाय समीर। कहि तरंग संसार तिहिं, परि वह केवल नीर ॥६१०॥
जदि अनन्य इहि भाँति ह्वै, मोहि भजत मद्रूप। मूर्तिवंत सोई अहै, ज्ञान जान नर भूप ॥६११॥
अरु पवित्र तीरथ तटहिं, उत्तम तप बन माहि। बसहुँ गुहामहँ जाय करि, ऐसी जिहिं कहँ चाहि ॥६१२॥
किंवा पर्वत कंदरहिं, वा सरवर के तीर। सादर करत निवास जो, नगर न चाहत धीर ॥६१३॥
जिहिं जन संगहिं विकलता, अति एकांतहिं प्रीति। ज्ञानरूप तिहिं जानिये, मनुजाकार प्रतीति ॥६१४॥
चिन्ह महा मतिमान, औरहुँ जे तुमते अबहिं। बरनन करौं महान, ज्ञान सुगमता हेतु तें। ६१५॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अर्थ—नितहि ज्ञान अध्यात्म अरु, तत्त्व ज्ञान दरसाय।
ज्ञान कहत इहिं भिन्न जो, सो अज्ञान कहाय ॥११॥

ऐसी जो इक वस्तु है, परमातमा स्वरूप। जातें जानी जात है, सोई ज्ञान अनूप ॥६१६॥
इक अतिरिक्तहिं अपर ते, जानि स्वर्ग संसार। इमि निश्चय तिहिं मन करत, सो अज्ञान असार ॥६१७॥
स्वर्ग गमन की चाह तजि, जग सुख सुनत न कान। दे डुबकी सतभाव की मथि आध्यात्मिक ज्ञान ॥६१८॥
शोधि पथहि लखि विविध पथ, आड़ी पथ कहँ त्याग। सरल राजपथहिं चलत जो अर्जुन बड़भाग ॥६१९॥
सकल ज्ञान समुदाय करि, तिमि इक एक विहाय। पुनि आध्यात्मिक ज्ञान महँ दृढ़तर मन बुधि लाय ॥६२०॥

कहत एक ही सत्य यह, इतर भ्रांतियुत ज्ञान । एसी निश्चल बुद्धि जिहिं होवहिं मेरु समान ॥६२१॥
ऐसो निश्चय जाहि कहँ, आत्मज्ञान के माँहि । जिमि ध्रुव निश्चल एक थल, गगनहिं सदा रहाहिं ॥६२२॥
जाकर मन में ज्ञान वसि, सो मद्रूप सुजान । ज्ञान निवास ठिकान तिहिं, कथन मृषा नहिं जान ॥६२३॥
सुख न मिलै भोजन कहे, भोजन करि सुखपाय । तिमि थिति जानिय ज्ञान की एक सरिस नरराय ॥६२४॥
अरु इक निर्मल फल मिलत, तत्त्व ज्ञान कौंतेय । जो दृष्टिहि धारत सरल, पार्थ वस्तु कौंतेय ॥६२५॥
यदि न ज्ञेय दरसाय, जिहि ज्ञानहि के बोध तें । तो समझत नरराय, ज्ञान लाभ पायो नहीं ॥६२६॥
अंधा के कर दीप कहँ, धरिके कीजे काह । तैसहिं निश्चय ज्ञान सब, वृथा जांय नरनाह ॥६२७॥
अरु न दृष्टि परमात्म लहि, उदये ज्ञान प्रकाश । अंध समानहिं बुद्धि तिहिं, होत निरर्थक भास ॥६२८॥
उत्तम बुद्धि स्वभाय इमि, ज्ञान प्राप्त ह्वै जाय । अतः जहां जहँ देखिये, तहँ तहँ ज्ञेय दिखाय ॥६२९॥
ऐसे निर्मल ज्ञान तें, ज्ञेय वस्तु दरसाय । इहिं प्रकार के ज्ञान तें, जो संपन्न रहाय ॥६३०॥
जेती ज्ञानहिं वृद्धि है, तितनी ही बुधि जासु । तासु ज्ञान के शब्द तें, करि नहिं सकत प्रकासु ॥६३१॥
उदय होत ही ज्ञान के, जिहिं मति ज्ञेयहिं पाय । सो पावत पर तत्त्व को, हाथहिं हाथ छिपाय ॥६३२॥
ज्ञानहि तिहिं कहँ कहत में, कह अचरज धनुधार । सूरज को सूरज कहत, कहा लगत हैं वार ॥६३३॥
श्रोतहु गन कहि यह अधिक, वरनन करौं न यॉहि । वृथा करत प्रतिबंध जिमि, वृथा प्रसंगहिं माँहि ॥६३४॥
कीन्हउ बहुत प्रवीन, अधिक कथन तें पहुँनई । हम प्रति वरनन कीन्ह, ज्ञान विषय विस्तार करि ॥६३५॥
कछु वरनन में इतर कवि, अप्रधान विस्तार । सो आमंत्रन अगुन को, किमि इत करि धनुधारि ॥६३६॥
जेंवन हित यदि बैठि भगि, लेकरि परसो थार । कौन अर्थ को तब रह्यो, ताको बहु सत्कार ॥६३७॥
सब गुन तें सम्पन्न गो, दूध दुहन की बेर । मारत लात न दुहन दें, पोसहिं कौन न बेर ॥६३८॥
नहिं विकास मति ज्ञान तिमि, जल्पहिं इतर बखान । परि यह नीको है सही, तुवकृत कथन सुजान ॥६३९॥
कछुक ज्ञान उद्देश करि, योगादिक सायास । सो तुम प्रति इमि कथन मों, दायक तोष विकास ॥६४०॥
अमृत झर लगि सात दिन, केहि लगत दुखकार । सुख के दिवस करोड़ की ? गिने जाँय धनुधार ॥६४१॥
युग समान यदि होय जो, पूर्न चन्द्र की रात । तो चकोर तिहिं ओर किमि, निरखत रहहिं न तात ॥६४२॥

ज्ञान निरूपन भाँति तिंहि, अरु रसालपन पून। ता कहँ सुनि पुनि कौन कहि बस अब भो भरपूर ॥६४३॥
ऐसहि लगि मन मानि भोजन भयो न पूर्णतः। परसनहारि सयानि, अरु सभाग्य जो पाहुनो ॥६४४॥
सुरुचि मोहि तिहि ज्ञान की, तैसहिं भयो प्रसंग। अरु तुम्हरो अनुरागहू, तैसो अहै अभंग ॥६४५॥
कारन यह ही ज्ञान तें, चौगुन प्रेम प्रकास। नहीं कहत नहि याहिं लखि, होवहि ज्ञान विकास ॥६४६॥
औ याके उपरान्त ही, बुद्धि मध्य घर माँहि। करहु निरूपन पदन को, साँचे अर्थहिं काँहि ॥६४७॥
सुनि यह भाषण संत के, कहि निवृत्ति को दास। मेरे हू मन महँ अहैं, ऐसी ही अभिलास ॥६४८॥
कारन ये अब आप की, आयसु स्वामी मान। वृथा वचन के जाल को, बढ़न न देऊँ सुजान ॥६४९॥
ऐसहि चित धरि ज्ञान के, चिन्ह अठारह जान। करत निरूपन पार्थ प्रति, श्री केशव भगवान ॥६५०॥
कह पुनि यह सब चिन्ह जहँ, तहाँ जानिये ज्ञान। यह मम मत अरु और बहु ज्ञानी करत बखान ॥६५१॥
जिमि तुव करतल महँ धर्यो, तिहिं आँवला प्रमान। तुम्हरे नयननि तें तुमहिं तिमि दरसाऊँ ज्ञान ॥६५२॥
अर्जुन जो मतिमान, जाहि कहत अज्ञान इमि। लक्षण करौं बखान, भलीभांति तिहिं व्यक्त करि ॥६५३॥
अर्जुन समझत ज्ञान कें, जानि परत अज्ञान। जो नहिं ज्ञान स्वभावतः, सो सहजहिं अज्ञान ॥६५४॥
देखहु दिवस बितात जब, आवत रैं नहिं जान। उभय त्याग कछु तीसरो, जिमि आवत नहिं आन ॥६५५॥
ज्ञान नहीं तैसहिं जहां, तहां अहै अज्ञान। कछु लक्षण अज्ञान के, तुम प्रति कहौं बखान ॥६५६॥
जीवन जिहिं सनमान हित, जो हेरत निजमान। सतकारहिं तें जाहि को, होत तोष मतिमान ॥६५७॥
गर्वहिं चढ़ि गिरि शिखर महँ, नीचे उतरत नाहिं। पूर्नपनहि अज्ञान है, अर्जुन जाके माँहि ॥६५८॥
जो स्वधर्म वपु डोर बधि, वाचा पीपर पान। जैसे मन्दिर मांहि धरि, कूंची ठाढ़ी जान ॥६५९॥
करि प्रसार विद्या निजहिं, सुकृत ढंढोरा देय। निज कीरति के हेतु करि, सकल कर्म कौंतेय ॥६६०॥
अर्चत जो तिन्ह तें कपट, चर्चित करि निज अंग। सोइ खानि अज्ञान की, अर्जुन जान असंग ॥६६१॥
जरहिं आग वनमांहि, जरि जिमि जंगम थावरो। दुख दायक जग मांहिं, जिमि जाके आचरन हैं ॥६६२॥
साबर तें तीखो लगत जो सहजहिं बकि जाय। अतिमारक संकल्प जिहिं विषहू तें अधिकाय ॥६६३॥
सो अज्ञान निधान है, तहां अधिक अज्ञान। हिंसा को आधार थल, जाको जीवन जान ॥६६४॥

जिमि फुँकना फूलहि फुँके, छाडें ते दबि जाय । लाभ भये तिमि जाय चढ़ि, हानि भये दुख पाय ॥६६५॥
जिमि समीर के भँवर परि, धूरि चढ़त आकास । तिमि अपनी नुति के समये, फूलहिं हिये हुलास ॥६६६॥
किञ्चित निंदा सुनत ही, सिर ठोंकत तजि धीर । पक गलत जिमि पाय जल, सूखत पाय समीर ॥६६७॥
जो न सहन करि सकत है, मान और अपमान । जानिय ताके मांहि है, पूर्णपनहिं अज्ञान ॥६६८॥
जाकर मन में अपर कछु, वचनहिं अपर जनाय । एकहिं देय भरोस तिहिं तजि कर इतर सहाय ॥६६९॥
जाको पालन प्रगट तिमि, व्याधा मृगहिं चुँगाय । परि विरुद्ध अंतःकरण, ऐसहि जासु स्वभाय ॥६७०॥
ज्यों पाको फल निम्ब, गार सिवारहिं तें लिपिन। भलो न अन्तः बिम्ब, बाहर ते दरसाय वर ॥६७१॥
सो नर महँ जानहु धन्यो, बहु अज्ञान निधान । मृषा न मानहु वचन यह, निश्चय सत्यहिं जान ॥६७२॥
करत अनादर भगति गुरु, लाजत गुरुकुल नाम । जिहिं गुरुतें विद्या लही, तिहिं न मान परिणाम ॥६७३॥
नामहु ताको लेत अघ, शूद्र अन्न सम जान । परि लच्छण के कहन हित, नाम लेत यह मान ॥६७४॥
अब गुरु सेवक नाम कहि, वचन पाप कहँ धोय । गुरु सेवक को नाम इमि, जिमि रवि सब तम खोय ॥६७५॥
गुरु कर निंदा नाम तें, जो अघ भयो अपार । सो अघ यातें जाय नसि, होय वचन विस्तार ॥६७६॥
यह थल को सब भय हरन, होय नाम उच्चार । पुनि वरनहुँ लच्छण अपर, ताहि सुनहु चितधार ॥६७७॥
कर्महिं आलस देह तें, मन में संशय धारि । कूप होय बन को यथा सकल अमंगलकार ॥६७८॥
काँटीला तरु तिहिं मुखहिं, भीतर अस्थि अपार । भीतर बाहर उभय थर, अशुचि पूर धनुधारि ॥६७९॥
श्वान न देखहिं खाय, अन्न उघारो वा ढँको । द्रव्य हेतु नरराय, अपन परायो लखत नहिं ॥६८०॥
कूकर के संयोग जिमि, ठौर कुठौर न जानि । तिमि नारी के विषय में, कछू विचार न मानि ॥६८१॥
नित्य निमित्तिक कर्म मधि, अवसर देय चुकाय । जाके मन में तासु को, दुःख नहीं उपजाय ॥६८२॥
जो अघ कर्माचरन करि, पुण्यकर्म महँ लाज । जाके मनहिं विकल्प को, अतिशय वेग विराज ॥६८३॥
जो बाँधे रहि आश धन, उपनेत्रहिं निज नैन । तिहिं पुतरा अज्ञान को, जानि लहहु मन चैन ॥६८४॥
किंचित जो स्वारथ लखत, धीरज दूर कराय । जैसे चींटी के चलत, तृन बीजा हलि जाय ॥६८५॥
जैसे डाबर पग धरत, पानी सब गँदलाय । तैसे भय को नाम सुनि, जो अतिशय अकुलाय ॥६८६॥

और मनोरथ पूर में, जाको मन बहि जाय। जैसे तूँबी पूर में, परिकै जाय बहाय ॥६८७॥
जैसहि पवन सहाय तें, धूम दिगन्तर जाय। तैसहिं दुख की बात सुनि, ताकी थिति नरराय ॥६८८॥
आँधी वायु समान, जो आश्रय कहुँ धरत नहिं। क्षेत्र तीर्थ पुरि जानि, जो कतहूँ ठहरत नहीं ॥६८९॥
ज्यों उन्मत गिरगिट तरुहिं, चढ़ि चढ़ि पुनि उतराय। वृथा करत परिभ्रमण जो, चंचल-चित्त कराय ॥६९०॥
गोला पेंदी पात्र बड़, बिन रोपे न रहाँय। तैसहिं नींद विहाय जो, इमि थिर रहि न सकाँय ॥६९१॥
कपि समान जामें रहत, चंचलता भरपूर। जानिय अति अज्ञान को, तिहिं निवास थल शूर ॥६९२॥
जाके अंतःकरन में, संशय बंधन नाँह। अज्ञानी तिहिं जानिये, हे अर्जुन नरनाह ॥६९३॥
ज्यों नाले के पूर महँ, बालू बाँध न मान। विधि निषेध की बात तें, तिमि न भीति मन आन ॥६९४॥
जो स्वधर्म नकि पाँय तें, मोरत व्रतहिं न पाल। जासु क्रिया तोरत सदा, सीमा नियम विशाल ॥६९५॥
दुःख न पापाचरण जिहिं, पुन्याचरन न लेश। और लाज मरजाद की, जो तजि देत विशेष ॥६९६॥
जो कुल धर्महिं लखत नहिं, आयसु वेद न मान। अनुचित उचिताचार को, जो करि सकत न ज्ञान ॥६९७॥
जिमि बहुधा जलधार, पाट फूटि बन नहर बहि। बहत वायु विस्तार, अरु बंधन बिन साँड़ रहि ॥६९८॥
ज्यों अंधा उनमत्त गज, बन में लागी आग। जाको मन बंधन रहित, विषय बीच तिमि लाग ॥६९९॥
चलत न बन महँ कौन कछु, घूरे फेंकि न काह। नगर द्वार की देहरी, को न नाँघि नरनाह ॥७००॥
अन्नसु क्षेत्रहिं अन्न हित, सामान्यहि अधिकार। किंवा वणिक दुकान महँ, को न जाय धनुधार ॥७०१॥
चंचल जिहि अंतःकरन, तिहिं ठिकान अज्ञान। पूर्नपनहिं अरु वृद्धि लहि, तैसे अर्जुन जान ॥७०२॥
जीवन के पर्यन्त लगि, विषय चाह तजि नाँहिं। अरु स्वर्गहु में भोग हित इतहिं बांधि ले जाँहिं ॥७०३॥
जो श्रम क्रिया सकाम सब, करि हित भोग महान। अरु नहाय सह वसन जो, लखि मुख विरत सुजान ॥७०४॥
जो उकतात न चेत करि, बरु विषयहु उकिताय। गलित हाथ तें खाय जिमि, कोढ़ी नहीं घिनाय ॥७०५॥
खर न टिकै इमि उड़ि खरी लातन नाकहिं फोरि। तदपि न खर पीछे हटत, धावत तिहिं की ओरि ॥७०६॥
जरत आग में कूदि जिमि, जो विषयहिं के हेतु। निज शरीर में व्यसन वपु, जनु आभूषण देतु ॥७०७॥
समुझि न होत अधीर, मृग जल मिथ्याभास को। फोरत धाय शरीर, जिमि मृग जल के लालसहिं ॥७०८॥

जनम-मरन लगि विषय से, पावत बहु विधि त्रास। तदपि त्रास मानत नहीं, बाढ़त प्रेम पिपास ॥७०९॥
जो विसरत बालक दशहिं, प्रथम मातु-पितु प्रेम। तिहिं तजि लहि पुनि तरुनता भूलत तिय तन नेम ॥७१०॥
नंतर तिय उपभोग करि, वृद्धापन कहँ पाय। प्रेमभाव तिहि को तहां, बालक पर अधिकाय ॥७११॥
अंध उरग जैसे रहत तिमि शिशु वशहिं रहाय। अरु जीवन तें मरन लगि रुचि न विषय तें जाय ॥७१२॥
जानिय तासु ठिकान महँ, है अज्ञान अपार। अब औरहुँ कछु चिन्ह में, तुम प्रति कहौं उदार ॥७१३॥
यह तन ही है आतमा, जो मानत मन माँहिं। चढ़ बढ़ के जो कर्म को, करि आरम्भ सदाहिं ॥७१४॥
औ ऊनो पूरो अथच, जो-जो कुछ आधार। ताके आविष्कार को, वरनन करत अपार ॥७१५॥
सिर धरि देव-प्रसाद जिमि, करि पूजक अभिमान। तिमि विद्या बय भार तें मारग चलत उतान ॥७१६॥
सपति मम घर माँहि, अरु मैं ही धनवान इक। किहिं आचरन जनाहिं, कहु मेरे आचरन सम ॥७१७॥
इक प्रसिद्ध सर्वज्ञ मैं; कोउ न मोंहि समान। जो ऐसी सब बात में, धरत महा अभिमान ॥७१८॥
ज्यों रोगी सहँ सकत नहिं, उपभोगहिं किहुँ भाँत। तैसे भलो न सह सकत, काहू को निज आँत ॥७१९॥
दीपक बाती खाय जिमि, तेलहिं देय जराय। अरु काजल धरियें जहां, तहां कालिमा लाय ॥७२०॥
चिटचिटाय जल के परत, पाय समीर बुझाय। अरु तिनकाहू बचत नहिं, जो कदापि सुलगाय ॥७२१॥
अल्प प्रकासहिं करत अरु, उतनहिं तें गरमाय। ऐसहिं दीपक के सरिस, जो निज गुण प्रगटाय ॥७२२॥
ज्यों औषधि के नामहू, पय नव ज्वरहिं कुपाय। सर्पहिं दूध पियाय जिमि, विष ही बनि रहि जाय ॥७२३॥
जो करि मत्सर सद्गुणहिं विद्वत्तहिं ऽहंकार। जो तप तें अरु ज्ञान तें, करि अभिमान अपार ॥७२४॥
अन्त्यज फूलै राज्य लहि, अजगर फूलै खाय। तैसहिं जो अभिमान तें, फूल्यो नाँहि समाय ॥७२५॥
जैसहि शिल न द्रवाय, जैसे बेलन नवत नहि। गारुड़ि वश नहि आय, जिमि फुंकारत नाग जो ॥७२६॥
अधिक कहा वरनन करैं तिहि महँ बढ़ि अज्ञान। यह तुम प्रति हम कहत हैं निरचय करि मतिमान ॥७२७॥
औरहु अर्जुन देह धर, आदिक जो समुदाय। रत ह्वै पिछले जनम को, चिंतन नहीं कराय ॥७२८॥
चोरहिं तें व्यवहार करु, करु कृतघ्न उपकार। निरलज की नुति कीजिये, जैसे देय बिसार ॥७२९॥
गलित कान अरु पूंछ लखि हाँकत दूर दुखाय। श्वान आय पुनि दीन जिमि कानहुँ पूँछ हिलाय ॥७३०॥

दादुर जिमि मुख सांप के, अंग सहित सब जाहिं। परि कौतुक बहु मक्खिका निगलत नहीं भुलाहिं ॥७३१॥
नवहुँ द्वार तिमि झिरत अरु, पावत क्षय तन अंग। परि जाके चित होत नहिं, किमि यह सोच प्रसंग ॥७३२॥
जो पचि मल-थल गर्भ महँ, मातु उदर करि बास। नव मासहिं लगि जठर में सहि उबाल की त्रास ॥७३३॥
दुःख मिलत जो गर्भ में, वा उपजन के काल। सोच करत नहि सर्वथा, जो दुख अधिक विशाल ॥७३४॥
जो शिशु लोटत गोद, कीचड़ मल अरु मूत्र महँ। वरु मानत हैं मोद, देखि हीक दुख मानि नहिं ॥७३५॥
कालहिं पायो जनम अरु, पुन आगे जन्माय। ऐसो यह कछु सोच नहिं, जाके मन में आय ॥७३६॥
अरु चंचलता जीवनहिं, ताहू परि धनुधार। चिंता मरन न करत जो, नीकी भाँति निहार ॥७३७॥
जीवन पर विश्वास जिहिं, मृत्यु बसति संसार। जाको मन मानत नहीं, याके सोच विचार ॥७३८॥
अल्प उदक में मीन रहि, यह न लखि इमि आस। तिहिं तजि के जिमि जात नहिं जो अगाध जलरास ॥७३९॥
गान बधिक सुनि भूलि मृग, व्याधा कहँ न निहार। आमिष लीलत मीन अरु, लखत न काँटाकार ॥७४०॥
दीपक केर प्रकास लखि, कूदत आय पतंग। परि सो यह जानत नहीं, अपनो मरन प्रसंग ॥७४१॥
गेह जरत देखत नहीं, निद्रा सुखहिं गवाँर। अन्न खात जो विष मिल्यो, जानि न जेंवनहार ॥७४२॥
जीवन के मिष मरन ही, आयो ताके माँहि। भूल्यो राजस सुखहिं में, सो यह जानत नाँहि ॥७४३॥
जो लहि बाढ़ शरीर, रैन दिवस उपयोग तें। साँचहि मानि अधीर, पाय विषय सुख पुष्टता ॥७४४॥
गनकहिं सब अर्पन करहि, बपुरो इमि नहिं जान। यह रूपकता जो अहै, लूटन हित मतिमान ॥७४५॥
साहु तसकरहिं मित्रता, प्रान हानि हित जान। चित्र मूत्तिकहिं ढारि जल, ताको नास निदान ॥७४६॥
निद्रा औ आहार तिमि, जानि न जाय भुलाय। सो ताको छय हेतु रज, पाँडुहिं अंग फुलाय ।७४७॥
शूली के सन्मुख चलत, सद्यहिं पाँय चलाय। प्रति पद में जिमि मरन के, पासहिं पहुँचत जाय ॥७४८॥
जिमि जिमि बाढ़त देह तिमि, जिमि जिमि दिवस बिताय। जिमि जिमि बाढ़त रहत सुख भोग केर अधिकाय ॥
आयुष जीतत जात तिमि, आवत मरन समीप। लवन डारिये नीर महँ, जैसे गलत महीप ॥७५०॥
जैसहिं जीवन जात है, तैसहिं कालहिं पास। हाथहि हाथन लेइ सो, जानि न मानत त्रास ॥७५१॥
अधिक कहा यह मरण है, अंगहिं नित्य नवीन। भूलि विषय सुख माँहि जो, देखत नहीं प्रवीन ॥७५२॥

सोही है धनुपानि, नृपति देश अज्ञान को । शक नहीं मन आनि, सत्य कथन यह जानिये ॥७५३॥
जीवन के परितोष तें, जैसे मरन न देखि । तिमि तारुण्य उमंग तें, जरा न गनत विशेखि ॥७५४॥
गाड़ा लौटि पगार तें, गिरि तें गिर सिल भार । सन्मुख लखत न वस्तु तिमि, जरा न सकति निहार ॥७५५॥
नाला बढ़ि जल धार बहि, लड़ै महिष उन्मत्त । तिमि तारुण्य उमंग तें, अंधाधुन्ध प्रमत्त ॥७५६॥
काया पुष्टिहिं न्यूनता, कांति-भंग सब अंग । अरु मस्तक शिरभाग में, कंपन धरत अभंग ॥७५७॥
डाढ़ी धारत स्वेतता, ग्रीवा हलि करि नॉहि । माया को विस्तार परि, अधिक होत तिहि मांहि ॥७५८॥
अंध न लखि सन्मुख नरहिं, जब लगि उरहिं न आय । सुखतें सोवत आलसी, गेह जरत न उठाय ॥७५९॥
अबहिं भोगि तिमि तरुणता, कालहिं जरा मिलाय । सो सांचो अज्ञान है, वृद्धापन बिसराय ॥७६०॥
निरखि अध अरु पंगु कहँ, गर्वहिं ताहि बिगाय । परि न कहत लखि मोर गति, ऐसहिं होय स्वभाय ॥७६१॥
चिन्ह मरन प्रगटाय, वृद्धापनो स्वरूप अँग । भ्रमवश नांहि भुलाय, तरुनाईपन आपनी ॥६६२॥
सो नर घर अज्ञान को, यह निश्चय करि जान । औरहु ताके चिन्हवर, बरनहुँ सुनहु सुजान ॥७६३॥
आवहि चरि इक बार घर, बाघ बनहिं निज भाग । चरद् जाय पुनि धाय तहँ, करि विश्वास अभाग ॥७६४॥
स्वस्थ निधानहिं कबहुँ लहि बसति उरग जिहि माँहि । अरु याते निश्चित रहि उरग बसति तहँ नांहि ॥७६५॥
अकस्मात सम्पत्ति लहैं, तैसहिं इक दो बार । निज जीवन महँ शंक तहँ, मानत नहीं गँवार ॥७६६॥
अब सहजहिं मम बैर बुझि, बैरी नींदहिं माँहि । जो मानत सो सुत सहित, प्रानहिं देहि गवाँहि ॥७६७॥
जब लगि निद्रा भूख लगि, तब लगि रोग न जान । तब लगि चिंता रोग की, जो न करत अनुमान ॥७६८॥
अरु तिय सुत सपत्ति अति फल जब लगि अधिकाय । तबलगि तिहिं बुधि दगन परि, रजगुण धूर चढ़ाय ७६९।
सहजहिं परहिं वियोग अरु, संपति नसि दुख आय । यह आगामी दुःख को, तातें लखो न जाय ॥५७०॥
सो कृत है अज्ञान, अरु अज्ञानी पुरुष सों । विचरन देत अजान, सो मनमानी इन्द्रियहिं ॥५७१॥
जो तरुनाई के मदहिं, संपति के अधिकाय । सेव्य असव्य न जानि कछु, सेवन करत अघाय ॥५७२॥
जो न करन के जोग करि, नीच बात मन धारि । चिंतन जोग न चिंत करि, जाकी मति अनुदारि ॥५७३॥
चलन जोग नहिं चलत तहँ, जो न ग्राह्य तिहिं लेय । छुवन जोग नहिं छुवत तिहिं, निज अंगहिं मन देय ॥७७४॥

जावन जोग न जात तहँ, योग्य न देखन देखि । खाँवन जोग न खात तिहिं, खाये तोष विशेखि ॥७७५॥
संगति जोग न संग धरि, असम्बन्ध सम्बन्ध । जो आचरन अजोग है, तिहि आचारत अंध ॥७७६॥
सुनन जोग तिहिं नहिं सुनत, बोल अजोग बकाय । निरखि दोष में दोष नहिं, करहिं प्रवृत्ति स्वभाय ॥७७७॥
जो मन अरु अंगहिं रुचत, सो कृत करत न आन । उत्तम अधम विचार नहिं, जो करि भल मन मान ॥७७८॥
नरक यातना मिलहिं परि, मोकों पाप महान । यह आगे देखत नहीं, किंचित मूढ़ अजान ॥७७९॥
औ अज्ञान प्रसार, जग तिहिं संगति पाय के । झूमत बल अधिकार, सज्ञानहु के संगहूँ ॥७८०॥
अधिक कहा जिहिं भोग तुम लखि स्वरूप अज्ञान । ते सम्यक तुम प्रति कहौं तिन्हको सुनिय सुजान ॥७८१॥
जाकी पूरी प्रीति तिमि, लागी गेह मँझार । नवल सुगन्धित केसरहिं, जिमि भ्रमरी गुंजार ॥७८२॥
जिमि मिसरी की रासि बसि, माछी उड़न न चाहि । जाको मन आसक्ति तिमि, नारी चित्त सदाहि ॥७८३॥
दादुर जिमि जल कुंड परि मशक नाक लपटाय । ढोर निकर नहिं सकत जिमि कीचड़ माँहि धँसाय ॥७८४॥
गेहहिं निकरन चहत नहिं, जो हिय मन अरु प्रान । मरनानंतर साँप ह्वै, बसहिं गेह थल आन ॥७८५॥
जैसे प्रीतम कंठ लागि, प्रिया अलिंगन लेय । तिमि गेहहिं निज प्रान तें, धारन करि कौंतेय ॥७८६॥
ज्यों संरक्षण मधु रसहिं, मधुकर मन अति चाह । तिमि घर संरक्षण करत, बहु प्रकार नरनाह ॥७८७॥
जिमि निज वृद्धापनहिं महँ, इक सुत दुखतें पाय । जितनो माता-पितुहिं को, प्रेम अधिक सरसाय ॥७८८॥
अर्जुन घर के माँहि, तितनो ताको प्रेम है । जग सर्वथा न जान, नारी परिहरि प्रिय कछू ॥७८९॥
जो सब भावहिं जीव तें, तिमि तिय तनहिं रहाय । कौन अहौं का करत मैं किंचित जानि न जाय ॥७९०॥
सिद्ध पुरुष को चित्त जिमि, ब्रह्म स्वरूप विलीन । तिमि ताके व्यवहार जग, सब थकि जात प्रवीन ॥७९१॥
देखत हानि न लाभ कछु, सुनत न पर अपवाद । जाकी इन्द्रिय एक मुख, तें करि तिय अहलाद ॥७९२॥
जो आराधत अरु नँचत, तिय चित्तहिं चितलाय । बाजीगर के चित्त तें, जिमि कपि नाँच कराय ॥७९३॥
आपन कहँ दुख देत अरु, इष्ट मित्र दुखदाय । पुनि जैसे लोभी करत, संपति वृद्धि सिवाय ॥७९४॥
दानहुँ पुन्यहुँ न्यूनता, कपट गोत कुटुबाँहि । परि तिय की थैली भरत, कमी करत कछु नाँहि ॥७९५॥
गुरु कहँ वञ्चनहि ठगत अरु, साधारन सुरसेय । अरु दरिद्रता मातु-पितु, कहँ दिखाय कौंतेय ॥७९६॥

औ नारी के विषय हित, संपति भोग विशेखि । लावत उत्तम वस्तु को, जो उपहारहिं देखि ॥७९७॥
जिमि कुल देव भजाहिं, जैसे प्रेमल भक्ति तें। नारि उपासति जाहिं, तिमि एकाग्रहिं चित्त तें ॥७९८॥
उत्तम अरु बहु मोल सब वस्तु देत हित नारि। हित निर्वाहहु देत नहिं, इतर कुटुम्ब निहारि ॥७९९॥
नयन उठा करि जो लखैं, वा करि नारि विरोध । तो जानहु युग डूबि है, ऐसो जाको शोध ॥८००॥
शपथ न तोरत नाग की आनि दद्रु की भीति। तिमि मन रुख तिय पालि अरु चलत न तिहिं विपरीति ॥८०१॥
नारी ही सर्वस्व जिहिं, कहा कहिय अधिकाय। अरु सुतादि तिय तें उपजि, तिन्ह तें प्रेम लगाय ॥८०२॥
औरहु सग सम्बन्धि तिय, सब सपति ससार। निज जीवनहूँ तें अधिक, मानत तिहिं अधिकार ॥८०३॥
अहै मूल अज्ञान को, अज्ञानहिं बल जासु। अधिक कहा केवल अहैं, वपु अज्ञानहि तासु ॥८०४॥
सागर की गति छुभित जब, चलि तरंग अधिकाय। सो नौका में लगत ही, जैसे डगमग पाय ॥८०५॥
अरु निज प्यारी वस्तु लहि,जिमि सुख पाय चढ़ाय। तिमि अप्रिय के मिलत ही दुख लहि नीचे जाय ॥८०६॥
जाके चित्तहिं माँहि, इमि चिंता प्रिय अप्रिय की। पार्थ महामति ताहि, अज्ञानी ही जानिये ॥८०७॥
जो करि मेरी भक्ति परि, फल इच्छा मन धारि। जिमि नट लीला विरति की धन के हेतु निहारि ॥८०८॥
जार करम हित मनहिं धरि जिमि व्यभिचारिनि नारि। नॉतर गृहकारज करत पति आयसु अनुसारि ॥८०९॥
अर्जुन तिमि मम भक्ति की, दरसावत वर रीति। परि विषयन में दृष्टि करि, सब प्रकार तें प्रीति ॥८१०॥
यदि कहुँ विषय न पाय जो भजन करत धनुधार। तो भजनहि तजि कहत यह सब झूठो आचार ॥८११॥
सेवन करि बहु देव को जिमि अज्ञान किसान। प्रथम देव को भजत जिमि तिमि भज सबहिं समान ॥८१२॥
जाको देखत ठाठ बहु, तिहिं गुरु करि गहि रीति। सीखत तासो मन्त्र अरु इतर न मानहिं गीति ॥८१३॥
सकल प्रानि तें निठुरता प्रतिभा तें अनुराग। तिमि निर्वाह न होत तिहिं भक्ति एक रस लाग ॥८१४॥
जो मम मूरति विरचि धरि, कौने परि निज धाम। आपुहिं देवी देव हित भटकत फिरत निकाम ॥८१५॥
कारज हित कुल देव, नित आराधन करत मम। आन देव की सेव, पर्व विशेषहिं में करत ॥८१६॥
करत थापना घरहि मम, इतरहि बायन देत। श्राद्ध काल में करत हैं, पूजन पितरन हेत ॥८१७॥
जेती एकादशि दिवस, भक्ति करत सो मोर। नाग पंचमी के दिवस, तितनी नागहिं ओर ॥८१८॥

अरु गणेश की भक्ति करि, चौथ तिथिहिं को पाय। चौदस लहि यह कहहिं तुम दुर्गा माय सहाय ॥८१६॥
नित्य निमित्तक करम तजि, नव चंडी आरोपि। भैरव थारी परसि धरि, रवि के वारहिं सोऽपि ॥८२०॥
सोम दिवस कहँ पाय अरु, शिव कहँ बेल चढ़ाय। इमि एकहिं सब देवकी, सेवा करे अघाय ॥८२१॥
जैसहिं गनिका ग्राम की, सबहिं प्रीति दरसाय। इमि अभंग सब कहँ भजहिं, छन भर नहीं थिराय ॥८२२॥
ऐसहिं लखिये भक्त जो, चहुँ दिसि धावत जाय। जानु मूर्ति अज्ञान की, अवतारी नरराय ॥८२३॥
निर्मल अरु एकान्त थल, तीर्थ तपोवन नीर। देखि अरुचिता जासु मन, सो अज्ञान अधीर ॥८२४॥
जन समुदायहिं चाह, नगर वास तिहिं सुखद लगि। अज्ञानी नरनाह, जिहि आनँद प्रद जगत नुति ॥८२५॥
जो विद्या लहि आतमा, जानत इमि विद्वान। करत उभय उपहास अरु, आवन देत न कान ॥८२६॥
जो न पढ़त उपनिषद कहँ योग शास्त्र न रुचाय। अरु ज्ञानी अध्यात्म को जाके मन न सुहाय ॥८२७॥
आतम अनात्म विचार की, बुद्धिरूप जो भीत। ताहि तोरि के जासु मन, आचारत विपरीत ॥८२८॥
सकल कर्मकांडहिं समझि, जिहिं कंठस्थ पुरान। अरु ज्योतिष जानत सकल, होय भविष्य प्रमान ॥८२६॥
शिल्पकलाँहि प्रवीन अरु, पाकहु शास्त्र सुजान। आथर्वण विधि कर्म पटु, कर आमलक समान ॥८३०॥
कोकहु शास्त्रहु नहिं बच्यो, भारत कहहिं बखान। निज आधीनहिं शास्त्र करि मूर्त होय मतिमान ॥८३१॥
नीति सकल में सूझ अति, वैद्यकहु सब जान। काव्य और नाटकहु में, चतुर न दूजो मान ॥८३२॥
ज्ञाता गारुड़ मर्म को, सुस्मृति करहिं बखान। कोष प्राज्ञ सेवा करैं, जिहि पारंगत जान ॥८३३॥
न्यायहु शास्त्र प्रपूर, अति प्रवीण व्याकरण महँ। जनम अंध भरपूर, आत्म-ज्ञान के विषय इक ॥८३४॥
एकहिं तजि सब शास्त्र की, जो सिद्धांत अधार। मूल नखत सुत जनमि तजि तिमि जरि ज्ञान अपार ॥८३५॥
जिमि मयूर तन चिन्ह बहु, पंखहि नयनाकार। दृष्टि न एकहुँ माँहि तिमि, विद्या वृथा अपार ॥८३६॥
जिमि मृत नर के जीवप्रद, संजीवन-कन पाय। तो गाड़ा भर मूल को, कहा काज नरराय ॥८३७॥
जिमि तन लच्छन आयु बिन मस्तक बिन लंकार। बन वर-बधू बधाव जिमि, अहैं विडम्बन भार ॥८३८॥
अर्जुन ताही भाँति तें, तजि आध्यात्मिक ज्ञान। इतर सकल जे शास्त्र हैं तिनको नहीं प्रमान ॥८३६॥
अर्जुन लखि पढ़ मूर्ख यह बिन आध्यात्मिक ज्ञान। नित्य बोध पावत नहीं, शास्त्र मूढ़ तिहिं जान ॥८४०॥

ज्यों बीजा अज्ञान को, तिहिं नर को तन जान। विद्वत्ता ताकी सकल, बेलि जान अज्ञान ॥८४१॥
सो जो जो बोलत अहैं, फूलि फूलि अज्ञान। अरु तातें जो पुण्य फलि, तिहिं अज्ञानहिं जान ॥८४२॥
अरु न मान मनमाँहि जो आध्यात्मिक ज्ञान कहँ। ज्ञान अर्थ लहि नाँहि यह बोलब निश्चय समझु ॥८४३॥
जो पहुँचत नहिं तीर इहिं, उलटि पाँय फिरि आय। ताको पैले पार की, कैसे समझ पराय ॥८४४॥
देहरि परि धरि गाड़ि के, जाको शीश कटाय। धर्‌यो गेह को ताहि धन, कैसे परै दिखाय ॥८४५॥
अर्जुन जिहिं अध्यात्म के ज्ञानहिं लहिं पहिचान। ज्ञान अर्थ को विषय तिहि किमि लखि जाय सुजान ॥८४६॥
अतः ज्ञान के तत्व को, देख न सकहिं अजान। कछु आवश्यकता नहीं, कहिय विशेष प्रमान ॥८४७॥
गर्भवती भोजन करहिं, गर्भहिं तृप्ति कराय। कथित ज्ञान के योग तें, अज्ञानहुं समझाय ॥८४८॥
अंधहिं आमंत्रण करिय, संग सनयनहुँ आँय। बिलगि निरूपण करन के कारण नहीं जनाय ॥८४९॥
ज्ञान अमानित्वादि के, चिन्हहिं उलटी रीत। हम वरन्यो तुम तें पुनः, इहि कारण तें मीत ॥८५०॥
सहजहिं उलटे भाव कें, चिन्ह अठारह जान। सिद्ध होत अज्ञान के, लक्षण सकल सुजान ॥८५१॥
ग्यारहवें सुश्लोक के, उत्तरार्ध महँ जान। श्री मुकन्द कहि ज्ञान इमि, तिहिं उलटै अज्ञान ॥८५२॥
करि लक्षण विस्तार, इहिं प्रकार अज्ञान के। कहा काम धनुधार, पय महँ जलहिं मिलाय जो ॥८५३॥
एकहु अक्षर छाँड़ि नहिं, वृथा न करि बकवाद। मूल माँहि जो अर्थ तिहिं, करि विस्तारहिं नाद ॥८५४॥
श्रोतागन तब कहि ठहर, किमि वरनत परिहार। वृथा भीति किमि करहु तुम पोषक कवि आगार ॥८५५॥
कहउ मुरारीं आप तें, तुम प्रगटहु सब काँहि। अभिप्राय जो गुप्त कर, हम राख्यो इहि माँहि ॥८५६॥
देव मनोगत भाव तुम, करि सुस्पष्ट दिखाय। ऐसो यह मम चित्त कहि तुम कहँ सह्यो न जाय ॥८५७॥
अतः अधिक नहिं कहत हम, सब संतोषहि पाय। श्रवण सुखद नौका मिली ज्ञान स्वरूपी आय ॥८५८॥
अब तदनन्तर जो कह्यो, श्री हरि रमा निवास। कथन तासु को बेगहीं कीजिय सहित हुलास ॥८५९॥
संत वचन इमि सरस सुनि कहि निवृत्ति के दास। तिंहि सुनि येचित लाय प्रभु जो वरन्यो सुखरास ॥८६०॥
अर्जुन तुम प्रति यह कह्यो सब लक्षण समुदाय। सो जानहु अज्ञान के सकल भाग नरराय ॥८६१॥
ये अज्ञान विभाग दीजिय पीठहिं निश्चयहिं। दृढ़ निश्चय बड़भाग ज्ञान विषय उत्तम विधिहिं ॥८६२॥

निर्मल ज्ञानहिं भेंटिये, ज्ञेय वस्तु मन माँहि। तिहिं जानन हित प्रगट करि, अर्जुन निज आशाहिं ॥८६३॥
कहत नाथ सर्वज्ञ तब, जानि पार्थ को भाव। अभिप्राय हम ज्ञेय को, अब बरनत धरि चाव ॥८६४॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

अर्थ—ज्ञेय कहत जिहिं जानि तिहिं, पावत मोक्ष अनादि।
सो सर्वोत्तम ब्रह्म कहि, सत अरु असतहु वादि ॥१२॥

ज्ञेय कहत इमि ब्रह्म को, कारण इतनहिं जान। कौनहुँ जतन न पाव तिहिं, ज्ञानहि तजि मतिमान ॥८६५॥
अरु जिहिं जाने तें कछू, करतब रहत न शेष। जानत हीं तद्रूपता, आवत जाहि विशेष ॥८६६॥
जिहिं जानत ही शव समहि, त्याग होत संसार। अरु निमग्नता होत है, नित्यानंद मँझार ॥८६७॥
जाको आदि न है कछू, ऐसो ज्ञेयहिं जान। परब्रह्म जिहि नाम कहि, सहज भाव मतिमान ॥८६८॥
जासु निरूपन होय नहि, निरखि विश्व आकार। अरु विश्वहि ऐसहि कहिय तो यह मायाकार ॥८६९॥
नहिं वपु वर्णाकार कछु, दृष्टि न सकत निहार। कौन कहै तब किमि अहैं, ताको पांडुकुमार ॥८७०॥
औ यदि साँचहिं नहिं कहत, फुर महदादि अपार। तिहि तजि के कैसे करहिं कौन पाय आधार ॥८७१॥
यहहु न यहहु बखान, अतः तासु संबंध में। पावत परम सुजान, वेद भारती मूकता ॥८७२॥
ज्यों माटी तें विरचि घट, धरा तासु आकार। तैसे ही सर्वत्र जो, वसि सब रूप उदार ॥८७३॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

अर्थ—सकल ओर कर पग सकल, औरं शीष मुख नैन।
सकल ओर हैं कान जग, व्यापक सकल सुखैन ॥१३॥

सकल देश सब काल महँ, देश काल तें भिन्न। थूल सूक्ष्म की सब क्रिया, जाके कर आसन्न ॥८७४॥
कारन इहिं तें ताहि को, 'विश्वबाहु' इमि नाम। जो सर्वज्ञहिं भाँति सब सदा क्रिया परिनाम ॥८७५॥

अरु समस्त थल मांहि जो, एकहि कालहिं पार्थ । अहैं अतः ताको कहत, विश्व अंघ्रि यह सार्थ ॥८७६॥

नहीं पृथकतः भानु के, अगहि में जिमि नैन । सकल रूप जो तिमि अहैं, सर्व दृष्टि सुख ऐन ॥८७७॥

अहहिं न दृग तिहिं तदपि कहि वेदहु परम सुजान । 'विश्व-चक्षु' यह नाम तिहिं वरनन करत महान ॥८७८॥

सब प्रकार तें सर्व सिर, वास करत जो नित्य । विश्व-मूरधा कहत तिहिं, इहिं प्रकार संस्तुत्य ॥८७९॥

जासु स्वरूपहि मुख अहै, जिमि कृशानु कहँ देख । तैसहिं सब उपभोग करि, सकल प्रकार अशेख ॥८८०॥

श्रुति महँ कथन ललाम इहिं कारण तें ब्रह्म को । कहत 'विश्वमुख' नाम जासु व्यवस्था उचित यह ॥८८१॥

सकल ओर भरि वस्तु सब, जिमि आकाशहिं मान । शब्द मात्र सर्वत्र सब, सुने जात जिहिं कान ॥८८२॥

इहिं प्रकार हम तिहिं कहत, सर्वश्रुत सर्वत्र । ऐसो जो व्यापक अहै, सब महँ अत्रहु तत्र ॥८८३॥

अर्जुन व्यापक ब्रह्म अरु, सब महँ याहि प्रमान । विश्वचक्षु तिहि नाम कहि, श्रुति बहु करत बखान ॥८८४॥

कर पग आँखन की कहा, तहाँ वारता होय । सकल सार शून्यत्व को, जानि परत जो सोइ ॥८८५॥

एक लहर इक लहर तें, ग्रसित होत दरसात । ग्रसीजात अरु ग्रसत जो विलगि अहहिं का ? तात ॥८८६॥

इक यथार्थ तिमि ताहि को व्याप्यरु व्यापकभाव । परि छन भर कहि जात करि विलगि विलगि दरसाव ॥८८७॥

शून्य दिखावन हेतु तें, विन्दु एक धरि जाय । तिमि अद्वैतहि कथन हित, द्वैतहु मान्यो जाय ॥८८८॥

नातर अर्जुन शिष्य गुरु, सम्प्रदाय रुकि जाय । अरु निरूप अद्वैत को, कैसहु ह्वै न सकाय ॥८८९॥

द्वैत निरूपन कीन्ह, करि सुपथ श्रुति भगवती । तिहिं तें होत प्रवीन, परम कथन अद्वैत को ॥८९०॥

जो अब निरखत नैन तें, यह सब जग आकार । सुनिये किमि व्यापक अहै, वहै ज्ञेय धनुधार ॥८९१॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

अर्थ—सकल इन्द्रियहिं रहित सब, इन्द्रिय गुण आकार ।
निर्गुण भोगत सकल गुण, सक्त न सब आधार ॥१४॥

जिमि अवकाशहिं गगन इमि, अर्जुन ब्रह्म जनात । तन्तु अहै जिमि वसन मधि, वसन रूप दरसात ॥८९२॥

जैसहिं रस अवलोकिये, उदक होय जल रूप । दीप मध्य जिमि तेज रहि, देखिय दीप स्वरूप ॥८९३॥
जिमि सुगंध कपूर महँ, देखि कपूर स्वरुप । कर्म देह के रूप जिमि, देखि शरीर अनूप ॥८९४॥
अधिक कहा कंचन-रवा, के वपु कंचन जान । तैसेहिं जो सब जगत महँ, मूर्तिमंत मतिमान ॥८९५॥
कंचन-रवा स्वरूप जब, जानिय रवा प्रमान । जब कंचन की दृष्टि लखि, सोई कंचन जान ॥८९६॥
जल प्रवाह टेढ़ो रहै, परि जल सरल स्वभाय । लोह तपत ह्वै अग्नि बनि, सो किमि लोह न आय ॥८९७॥
घट अवकाशहि गगन भरि, घटाकार बनि जात । अरु मठ में चौकौन भरि, चौकोनो दरसात ॥८९८॥
नसत नहीं आकाश, जिमि घट पट के नास तें । नहि विकार सुख राश, होय विकार उपाधि तें ॥८९९॥
इन्द्रिय गन मन मुख्य अरु,सत रज तम अनुहार । भासित होत स्वरूप इमि, जो अर्जुन धनुधार ॥९००॥
जैसहिं गुड़ की मधुरता, नहिं आकार अधार । इन्द्रिय गुण आधार तिमि अहहिं न ब्रह्म उदार ॥९०१॥
दूध दशा में घृत रहत, जिमि दूधहिं आकार । दूध अतः घृत है नहीं, जैसे ही धनुधार ॥९०२॥
सकल ओर भरि ब्रह्म जग, पै न ब्रह्म संसार । परि कहि भूषण नाम जिहिं, स्वर्णहिं स्वर्ण निहार ॥९०३॥
ऐसे भाषहिं प्रगट करि, कहथो धनंजय जान । अहै ज्ञेय की भिन्नता, गुण अरु इन्द्रिय मान ॥९०४॥
नामहु वपु संबन्ध, जाति क्रिया को भेद अरु । ज्ञेयहि नहिं प्रतिबन्ध, इहिं आकार प्रकार करि ॥९०५॥
ज्ञेय नहीं गुण जानि तिहिं, गुण सम्बन्धहु नाँहि । भासमान परि होत है, अर्जुन ताके माँहि ॥९०६॥
अर्जुन अज्ञानी मनहिं, इहिं कारण इमि जान । ये ब्रह्महि के गुण अहैं, या कहँ निश्चय मान ॥९०७॥
ज्ञेयहिं महँ गुण कथन इमि, जैसे घन आकास । वा दर्पन धारन करत, जिमि प्रतिबिम्बाभास ॥९०८॥
जिमि रवि-मंडल-रूप, किंवा जल धारन करत । मृग जल केर स्वरूप, जिमि रवि कर धारत अहैं ॥९०९॥
निर्गुण तिमि सम्बंध बिन, धारन सर्व कराय । परि जानिय ताको वृथा, भ्रम दृष्टहिं दरसाय ॥९१०॥
अरु निरगुण इहि भाँति तें, सकल गुणन कहँ भोग । रंक राज्य करि स्वप्न में जातें सदा वियोग ॥९११॥
अतः संग गुण तें अहैं, अथवा गुण तें भोग । यह निर्गुण संबन्ध करि, भाषण सदा अजोग ॥९१२॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अर्थ—अंतर बाहर भूत के, चर अरु अचर समान।
सूक्ष्म न जानन जोग सो, दूर समीपहिं जान ॥१५॥

जो सचराचर भूत महँ, व्यापक एक प्रकार। वा अभेद जिमि उष्णता, नाना अग्नि-उदार ॥६१३॥
सूक्ष्मपनहिं सब जगत महँ, जो अविनाशी भाव। जो व्यापक तिहिं जानिये, अर्जुन ज्ञेय स्वभाव ॥६१४॥
जो इक अंतर बाहरहु, एकहि दूर समीप। एकहिं तजि के अपर कछु, दूजो नहीं महीप ॥६१५॥
क्षीर उदधि की मधुरता, तीरहु मध्य समान। तिमि व्यापक सर्वत्र ही, पूर्णरूप मतिमान ॥६१६॥
जारज अडज स्वेदजहु, उद्भिज सकल ठिकान। पृथक भूत महँ खंड बिन, व्याप्त अखंड समान ॥६१७॥
श्रोता सब सुजान, घट सहस्र महँ पृथक्तः। शशि के बिम्ब समान, जिमि न भेद कछु लखिपरत ॥६१८॥
नातर लवणहिं राशि महँ, जिमि क्षारता समान। वा कोरी भरि ऊख महँ, एक मधुरता जान ॥६१९॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

अर्थ—'ज्ञेय' विभागन भूत महँ, विलग भाव दरसाय।
सब भूतहि पोषत पुनः, नासत पुनि उपजाय ॥१६॥

एकहिं जाकी व्याप्ति है, विपुल प्राणि समुदाय। जो जग रचना को अहै, कारण सुमति सुभाय ॥६२०॥
अतः प्रानि आकार यह, अरु तिन्हको आधार। उपजति हैं बहु लहरगन, जैसे सिंधु मँझार ॥६२१॥
जिमि शिशु तरुनाई जरा एक शरीरहि माँहिं। तिमि उतपति-थिति-लयहु त्रय ज्ञेयहिं माँहि सदाहिं ॥६२२॥
साँझ प्रात मध्यान्ह जिमि होत जात दिन-मान। गगन न पलटत कबहुँ जिमि तिमि ज्ञेयहुँ पँहिचान ॥६२३॥
कहि तिहिं श्रेष्ठ विरंचि प्रिय, जग उपजावन काल। थिति कालहिं जिहिं विष्णु यह नाम देत जगपाल ॥६२४॥
जब आकारहिं लय करत, तबहिं रुद्र कहि जात। अरु लय गुण लोपत जबहिं, शून्य कहावत तात ॥६२५॥
गगन शून्यता विलय गुण त्रय नसि शून्य कहाय। महा शून्य तिहि श्रुति कहत ब्रह्म नाम समझाय ॥६२६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्यधिष्ठितम् ॥१७॥

अर्थ—कहत परे अज्ञान तें, ज्योति ज्योति को जान ।
ज्ञेय रूप मिलि ज्ञान तें, सब के हिय थित मान ॥१७॥

जो दीपन है अग्नि को, जीवन शशि को जान । जातें देखो जात है, अहैं नयन सो भानु ॥६२७॥
उडुगन महँ उजियार, जाही के उजियार तें । जाको तेज अपार, महातेज तेजहिं लहत ॥६२८॥
जो आदिहिं को आदि है, अहै वृद्धि की वृद्धि । जो जीवहिं को जीव है, जो सुबुद्धि की बुद्धि ॥६२९॥
जो मनही को मन अहै, जो नैनन को नैन । जो कानहिं को कान है, जो बैनहिं को बैन ॥६३०॥
गमन क्रिया को चरन जो, जो प्रानहिं को प्रान । क्रिया लहत कर्तापना, जिहिं परिनाम सुजान ॥६३१॥
आकारै आकारता, विस्तारहिं विस्तार । संहारहिं संहारता, जातें मिलहिं उदार ॥६३२॥
जो धरनी धारन करत, जल की हरत पियास । जाके योगहिं तेजहूं, पावत परम प्रकास ॥६३३॥
जो पवनहु की श्वास है, जो नभ को अवकास । अधिक कहा जातें मिलत, सब तेजहिं आभास ॥६३४॥
अधिक कहा सब जगत को, कारन आदि सुजान । भास द्वैत को होत नहिं, अर्जुन जासु ठिकान ॥६३५॥
अर्जुन दर्शन सहित सब, द्रष्टा दृश्य विलात । सर्व एक चित एक रस, जाके दर्शन तात ॥६३६॥
ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान, एक रूप ह्वै जात पुनि । ब्रह्म स्वरूप सुजान, जातें थिति पावत परम ॥६३७॥
जैसे जोड़ लगावतहिं, सब संख्या मिलि जाँय । तैसहिं साधन साध्य सब, एकरूपता पाँय ॥६३८॥
अर्जुन जासु ठिकान नहिं, लेख द्वैत संवाद । करि निवास सबके हृदय, अपर कथन करि वाद ॥६३९॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

अर्थ—अहि तुम प्रति संक्षेप इमि, क्षेत्र ज्ञान अरु ज्ञेय ।
जिहिं जानत मिलि भक्त मम, मम रूपहिं कौंतेय ॥१८॥

आदिहिं क्षेत्रहिं मित्रवर, तुमतें कह्यो सुनाय। ऐसहि तिहिं सुस्पष्ट करि, भली भाँति दरसाय ॥६४०॥
आदिहिं वर्णन क्षेत्र को, जिमि कीन्हौं मति ऐन। तैसहि वर्णन ज्ञान के, दरसाये तुव नैन ॥६४१॥
औ अज्ञानहुँ कौतुकहिं, करि बिस्तार स्वरूप। जिमि तुव बुद्धिहिं तृप्ति मिलि, तिमि वरन्यौं नरभूप ॥६४२॥
अरु अबहीं दृष्टांत सह, ताको करि विस्तार। वरनन कीन्हौं ज्ञेय को, सुस्पष्टहिं धनुधार ॥६४३॥
यह सब कथन विचार करि, निज बुद्धिहिं निरधार। इच्छा करि मम प्राप्ति लहि, मद्रूपता उदार ॥६४४॥
अर्जुन जो त्यागन करत, देहादिक परिवार। वृत्ति बनावत मोहिं निज, अंतःकरण मँझार ॥६४५॥
जो निज चित्तहिं भक्त मम, मो कहँ अर्पहिं पार्थ। सो पावहिं मद्रूपता, निश्चयपनहिं यथार्थ ॥६४६॥
सबहिं सुलभ सत पथ, इहि प्रकार मद्रूप लहि। सुनहु सुभद्राकंत, मैं मुमुक्षु हित विरचि धरि ॥६४७॥
सीढ़ी लाय कगार हित, ऊपर हेतु मचान। जल अथाह तें तरन हित, जैसे नावहिं आन ॥६४८॥
यह सब है परमातमा, यदि यह कहौं उदार। परि तुम्हरो मन धर्म यह, समझे नहीं विचार ॥६४९॥
अतः आपकी बुद्धि में, जड़ता लखि करि नेह। चार भाग इक ब्रह्म के, करिके वरन्यो येह ॥६५०॥
जब शिशु भोजन करत तब, इक ग्रासहिं बहुभाग। किये जात तिमि हम कियो, वरनन चार विभाग ॥६५१॥
इकहि ज्ञेय अज्ञान इक, एक क्षेत्र इक ज्ञान। जिमि तुम समुझहु जान करि, ये विभाग मतिमान ॥६५२॥
अरु इतनहुँ परि पार्थ यदि, तुव भुज यह अभिप्राय। आवै नहिं इक बैर तो कहि विधि अपर बुझाय ॥६५३॥
चारहु भागहिं अब न करि, अतः न एकहिं मान। आत्म-अनात्म विचार करि, दो विभाग मतिमान ॥६५४॥
एक बचन परि तुम करहु, जो मांगों सो देहु। जो मैं बरनौं ताहि तुम, ध्यान देय सुन लेहु ॥६५५॥
अर्जुन तन रोमांच कृष्णचन्द्र के वचन सुनि। उमगत मन गनि सॉच, पारथ को भल देव कहि ॥६५६॥
ऐसे वेगहिं शोक कहि, अर्जुन प्रति श्रीरंग। प्रकृति पुरुष द्वै भाग कर, बरनौं सुनहु प्रसंग ॥६५७॥
जिहिं पथ योगी सॉख्य मत, कहि वर्णत संसार। जाके बरनन हेतु मैं, धर्यो कपिल अवतार ॥६५८॥
सो विवेक निर्दोष अति, प्रकृति पुरुष को जान। अरजुन तें वर्णन करत, आदि पुरुष भगवान ॥६५९॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

अर्थ—आतम औ माया उभय, जान अनादि सुजान ।
माया तें उपजात हैं, गुण विकार मतिमान ॥१९॥

आतम अहै अनादि अरु, माया तासु समीप । दिवस रैन संबंध जिमि, तैसहिं जान महीप ॥६६०॥
छाया रूप न जानिये, परि रहि रूप समान । कनकी कोंड़ा बढ़त जिमि, बीज समान सुजान ॥६६१॥
दोऊ एकत्रित जुड़े, प्रकृति पुरुष प्रगटात । तैसहिं सिद्ध अनादि यह, जानिय मन महँ तात ॥६६२॥
कीन्हों क्षेत्रहिं नाम तें, जाको सकल बखान । प्रकृति जानिये ताहि को, समझहु मन महँ जान ॥६६३॥
जाकहँ अति समझाय, अरु ऐसे क्षेत्रज्ञ कहि । सोही पुरुष कहाय, मृषा वचन नहिं जानिये ॥६६४॥
आनहिं आनहिं नाम इहिं, परि न निरूपन आन । यह लक्षन चूको नहीं, पुनः पुनः धरि ध्यान ॥६६५॥
केवल सत्ता रूप जो, सो ही पुरुष सुजान । जानहु क्रिया समस्त को, प्रकृति नाम मतिमान ॥६६६॥
इन्द्रिय बुधि अंतःकरण, आदि विकार समूह । अरु सत्वादिक गुणन के, जे हैं तीनों जूह ॥६६७॥
यह सब ही समुदाय को, प्रकृति जानिये आप । यह कारण उतपत्ति को, कर्म केर अरि ताप ॥६६८॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

अर्थ—उत्पति करणहि प्रकृति कहि, इन्द्रिय और शरीर ।
भोक्तापन सुख दुःख को, कारण पुरुष सुधीर ॥२०॥

सो प्रथमहिं हँकार तें, इच्छा बुधि उपजाय । अरु पुनि कारन की धुनहिं, तिन्ह कहँ देत लगाय ॥६६९॥
औ जो कारण प्राप्त हित, करि अविलम्ब उपाय । कार्य नाम है तासु को, सुनहु धनंजय राय ॥६७०॥
औ इच्छा मद तें प्रकृति, मन कहँ देत जगाय । मन तें इन्द्रिय करत जो, सो कर्तव्य कहाय ॥६७१॥
अतः कार्य कर्तव्य अरु, कारण तीनहुँ जान । प्रकृति मूल औ सिद्ध के, स्वामी करत बखान ॥६७२॥
अरु तिहिं सरिस स्वरूप, परि जाको गुण बल बढ़ै । प्रकृति कर्म को रूप, इमि तीनहुँ के मिलत ही ॥६७३॥
उपजत सत आधार तें, ताहि कहत संत कर्म । जो उपजत रजगुणहिं तें, तिहि कहि मध्यम कर्म ॥६७४॥

किंवा केवल तुमहि तें, जो जो उपजत कर्म । अर्जुन कर्म निषिद्ध को, जानहु नाम अधर्म ॥९७५॥
ऐसे ही सत असत सब, कर्म प्रकृति तें होंय । सुख-दुख तिहिं सब कर्म तें, पावत हैं सब कोय ॥९७६॥
असत कर्म तें दुख उपजि, सत तें सुख उपजाय । तिन्ह दोऊ को भोग सब पुरुष लेत नरराय ॥९७७॥
सुख-दुख उपजत जबहिं लगि, उद्यम प्रकृति कराय । भोग करत तब तिहिं सकल, पुरुष जान नरराय ॥९७८॥
अनुपम इमि व्यापार यह, प्रकृति पुरुष के माँहि । सकल काज नारी करत, पुरुष खाय सचु पाँहि ॥९७९॥
चमतकार कहिये कहा, करत न तिय प्रिय संग । अरु उपजत अति जगत महँ, विविध रूप गुण रंग ॥९८०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

अर्थ—आत्म प्रकृति संबन्ध तें, उपजत गुण तिहिं भोग ।
यदपि अभोक्ता जन्म को, कारण गुण संयोग ॥२१॥

उदासीन आकार बिनु, निरधन जो इक पार्थ । जीर्ण वृद्ध तें वृद्ध अति, तिहिं तें वृद्ध यथार्थ ॥९८१॥
नारि नपुसक नाँहि, आड नाम जाको पुरुष । निश्चय कछु न जनाहिं, अधिक कहायो एक है ॥९८२॥
नयन कान तें हीन जो, हस्तहु चरन विहीन । रूप वर्ण अरु नाम नहिं, जाको पार्थ प्रवीन ॥९८३॥
अर्जुन जाके कछु नहीं, प्रकृति पीय कहँ पेखि । ऐसे ही सुख दुःख को, लहि उपभोगहिं लेखि ॥९८४॥
सो कर्ता भोक्ता नहीं, उदासीन तिहिं जानि । परि यह प्रकृति पतिव्रता, भोग कराय सुजानि ॥९८५॥
चहल पहल निज रूप गुण, को करि प्रकृति सुजानि । मनचाहो बहु खेल करि, दरसावत मतिमानि ॥९८६॥
नाम प्रकृति को गुणमयी, यातें कहि संसार । अधिक कहा सब गुणन की, मूरतिवंत अपार ॥९८७॥
यह गुण रूपहिं युक्त अरु, प्रति छन नित्य नवीन । निज मादकतातें करहिं, जड़ कहँ मत्त प्रवीन ॥९८८॥
यातें नाम प्रसिद्ध है, प्रेमहिं मिलहिं सुप्रीति । जागृति होवें इन्द्रियां, याके कारण मीत ॥९८९॥
निरखि नपुंसक यह मनहिं, सो भ्रमाय त्रयलोक । अहैं अलौकिक प्रकृति की, इमि करनी अरि शोक ॥९९०॥
जो अति अपरम्पार, करि विकार उत्पन्न सब । महा द्वीप धनुधार, भ्रम की व्याप्ति स्वरूप जो ॥९९१॥

अहै काम मंडप यही, मोह अरण्य बसंत। दैवी माया जासु को, नाम प्रसिद्ध भनंत ॥९९२॥
अहै वाक्मय बाट यह, उपजावत साकार। अरु प्रपंच की दानवी, निरअंतर निरधार ॥९९३॥
जन्म देत सबहीं कला, विद्या सकल रचाय। इच्छा ज्ञान क्रियाहु सब, याही तें जन्माय ॥९९४॥
यह ध्वनि की टकसार है, चमत्कार को धाम। अधिक कहा सब खेल हैं, याही को परिनाम ॥९९५॥
जग उतपति अरु प्रलय जो, याके सायं प्रात। यह अति अद्भुत मोहनी, सकल जगत की तात ॥९९६॥
जो अद्वैतहि अपर वपु, संगी सँग तें हीन। शून्य गेह में ध्वनि करति, ऐसी अहै प्रवीन ॥९९७॥
यह महिमा सौभाग्य की, याकी अहैं नवीन। जो न आवरन जोग तिहिं, करि आवरन प्रवीन ॥९९८॥
नहिं लवलेशहु ब्रह्म महँ, अर्जुन अहैं विकार। परि आपहिं बनिजात हैं, प्रकृति विकार अपार ॥९९९॥
निराकार साकार, जो अजन्म ताकी उपजि। होइ रहे धनुधार, थिति अरु थल आपहिं सकल ॥१०००॥
इच्छा-इच्छा रहित की, तृप्ति पूर्ण की होत। जाको कुल नहिं तासु की, बनत जाति अरु गोत ॥१००१॥
अकथनीय को चिन्ह अरु बनि अपार को मान। जाको मन नहिं तासु बनि, मन अरु बुद्धि सुजान ॥१००२॥
निराकार साकार तिहिं, अव्यापार-व्यापार। अहंकार बनि तासु को, जो है निरहंकार ॥१००३॥
जन्मरहित को जन्म अरु, नामरहित को नाम। क्रियाकर्म आपहि बनत, ताको जो निष्काम ॥१००४॥
निर्गुन के गुन बनि रहत, अचरन के पग होय। तिहि अकान के कान बनि, नैन अनैनहिं सोय ॥१००५॥
सब विकार तिहिं पुरुष के, आपहिं बनत बनाव। अवयव बनि बिन अंग के, भावातीतहिं भाव ॥१००६॥
यहि प्रकार यह प्रकृति निज, सब व्यापकता हेतु। अविकारी जो तिहिं करत, वश विकार कपिकेतु ॥१००७॥
अमा माँहि जिमि चंद्रमा, लुप्त होत अवदात। लुप्त होत पुरुषत्व तिमि, प्रकृति देश महँ तात ॥१००८॥
इतर धातु इकबाल, उत्तम कंचन माँहि मिलि। देखहु कुन्तीलाल, कस हलाकी हो जात जिमि ॥१००९॥
साधूहु संध्या समय, बौरहिं मलिन विहार। मध्यान्हहुँ महँ मेघ जिमि, करि गगनहिं अँधियार ॥१०१०॥
जैसहिं प्रय प्रशु पेट छिपि, अग्नि काष्ठ के माँहि। आच्छादित रहि बसन तें, रत्न दीप छिप जाँहि ॥१०११॥
जिमि नृप रहि आधीन पर, सिंह रोग वश होय। तैसहिं पुरुषहु प्रकृतिवश, निज तेजहिं कहँ खोय ॥१०१२॥
अकस्मात नर जागृतहिं, निद्रावस्था पाय। स्वप्न केर सुख-दुःख के, जिमि वश महँ हो जाय ॥१०१३॥

गुनहिं भोगि तिमि पुरुष सो, होय प्रकृति आधीन। उदासीनहू होत जिमि, नारी के स्वाधीन ॥१०१४॥
नित्य जनम तें रहित के, जनम मरन के धाय। गुण संगहिं ते बजत हैं, तासु अंग नरराय ॥१०१५॥
अर्जुन सो परि किमि अहैं, तातो लोह पिटाय। लोग कहत हैं ताहि जिमि अग्नि माँहि परि धाय ॥१०१६॥
जैसहिं जलहिं हलाय बनि, प्रतिमा चंद्र अनेक। ताको चंद्र अनेक जिमि, भाषत नर अविवेक ॥१०१७॥
दो मुख जिमि दरसाँय दर्पन महँ मुख देखि निज। फटिकहु लाल लखाँय, किंवा कुंकुम माँहि धरि ॥१०१८॥
सगम गुखहिं अजन्म जिमि पायो जनम जनाय। परि यह ऐसी बात नहिं यदि यथार्थ लखि जाय ॥१०१९॥
उत्तम अधमहिं योनि महँ, जनम लेय इहिभाँति। जिमि सन्यासी स्वप्नमहँ होवहिं अत्यज जाति ॥१०२०॥
अतः केवलहिं पुरुष महँ सुख दुख भोगन देखि। परि सब कारन प्रकृति की गुण संगतिहि विशेखि ॥१०२१॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ताच, भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

अर्थः—जो साक्षी अनुमंत अरु, भोक्ता भर्तृ महेश।
परमात्मा कहि पुरुष पर, इहि तन माँहि नरेश ॥२२॥

अहहि प्रकृतिके मध्य यह जिमि तरू थंभ सुजान। इहिं प्रकृतिहिं अंतर विपुल जिमि नभ अरु महि मान १०२२
अर्जुन सरिता प्रकृति तट, यह है मेरु समान। बिंब परति तिहि माँहि परि, बहि न प्रवाहहिं जान ॥१०२३॥
उपजति नासति प्रकृति यह ज्यों को त्यों सब काल। सब जग को शासन करन अतः पुरुष महिपाल ॥१०२४॥
जियत प्रकृति याके बलहिं, सत्तहिं जग निर्मान। इहि कारन इहिं प्रकृति को, भर्ता पुरुषहिं जान ॥१०२५॥
अर्जुन काल अनन्त तें, चालत यह संसार। लय पावत कल्पांत महँ, याके माँहि उदार ॥१०२६॥
स्वामी माया भार, जो चालक ब्रह्माण्ड कों। गनहिं प्रपंच प्रसार, निज गति अपरंपार तें ॥१०२७॥
जाकहँ परमात्मा कहत, जो यह देह मझार। अर्जुन जानहु चित्त धरि, सोई पुरुष उदार ॥१०२८॥
अर्जुन ऐसे कहत जो, प्रकृति परे है एक। वही पुरुष है जानिये, करिय यथार्थ विवेक ॥१०२९॥

य एवं वेत्ति पुरुषं, प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि, न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

अर्थ—इमि परमात्महिं अरु प्रकृति, गुण सह जानहि पार्थ ।
सो सब विधि करि कर्म परि, पुनि नहिं जनहिं यथार्थ ॥२३॥

जो यह पुरुषहिं पूर्णतः जानहिं याहि प्रमान । तैसहिं सब गुण कर्म अरु प्रकृतिहिं जान सुजान ॥१०३०॥
यह स्वरूप यह छांह अरु, यह जल यह मृग नीर । ऐसो निर्णय जाहि तें, होय सके रनधीर ॥१०३१॥
अर्जुन प्रकृतिहु पुरुष के, विषयक सकल विचार । जाके मन प्रगटात हैं, भली भाँति निरधार ॥१०३२॥
सकल कर्म कहँ करत हैं, जो संबंध शरीर । गगन न मैलो धूल तें, तैसहिं पुरुष सुधीर ॥१०३३॥
देहहु लहि तन मोहवश, होय न प्रकृति अधीन । देह नसे तें पुनः सो, जन मन लहत प्रवीन ॥१०३४॥
ऐसहिं यह एकहिं अहैं, प्रकृतिहु पुरुष विचार । होत अलौकिक याहि तें, पार्थ परम उपकार ॥१०३५॥
उपजहि हिय जिमि भानु, ऐसो निर्मल ज्ञान तुव । चित्त लगाय सुजानु, ऐसे बहुत उपाय सुनु ॥१०३६॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चाऽपरे ॥२४॥

अर्थ—कोई ध्यानहिं आतम लखि, इक मन तें निज माँहि ।
अन्य सांख्य इक योग तें, अपर कर्म योगाहि ॥२४॥

श्रवन आदि के वपुष इक, जारि अँगीठि विचार । पुट दे काढ़ि अनात्म कहँ, आतमहिं ते धनुधार ॥१०३७॥
अरु छतीस मल भेद तजि, शुद्ध सुवर्ण निकारि । आतम-स्वरूपी कंचनहिं निश्चय करि तिहिं धारि ॥१०३८॥
आतम ध्यानहिं दृष्टि तें, तिहिं आतमा कहँ कोय । आत्मस्वरूपहिं होय करि, अरजुन आपहिं जोय ॥१०३९॥
कोई देववशात् चित, साँख्य योग महँ धार । कोई आतम-स्वरूप लखि, कर्मयोग आधार ॥१०४०॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अर्थ—इक न जानि इमि अन्यतें, सुनि आराधत धीर।
जनम मरन तें तरत ते, श्रुति पारायन वीर ॥२५॥

ऐसहिं विविध प्रकार तें, निश्चय करि निस्तार। यह सब भव सागरहिं तें, पार होत धनुधार ॥१०४१॥
अरजुन ते ऐसो करत, तजि निज सब अभिमान। श्रद्धा कर इक शब्द महँ, धरत भरोस महान ॥१०४२॥
जो निरखत हित अहित लखि हानि दयावश होय। दुखित देखि करि दुखहरत सुख उपजावति सोय।१०४३।
जो निकरहिं तिनके मुखहिं, तिहिं उत्तम सत्कार। सुनि करि निज मन अंग तें ताही करैं आचार ॥१०४४॥
सब तजि निज व्यवहार, सुनतहिं ताके वचन कहँ। तिहिं अच्चरहिं उदार मन कहँ राई नोन करि।१०४५।
अरजुन तेही अत महँ, मरन सिंधु समुदाय। उत्तम विधि तिहि तें निकरि पार होहिं सुख पाय ॥१०४६॥
ऐसे ऐसे जतन हैं, याके विविध प्रकार। एकहिं वस्तुहिं के विषय, जानन हित धनुधार ॥१०४७॥
अब उपाय बहु रहन दे, मंथन करि सर्वार्थ। देऊँ तुमहिं नवनीत वपु, वर सिद्धान्त यथार्थ ॥१०४८॥
अनुभव यातें सहजहिं, पावहुँ पांडुकुमार। ब्रह्म प्राप्ति होवहिं तुमहिं, परहि न श्रम को भार ॥१०४९॥
अतः रोपि सिद्धांत हम, खंड न करि मतवाद। परम शुद्ध फलितार्थ को कहत सहित अह्लाद ॥१०५०॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

अर्थः—कौनहु थावर जगमहुँ, प्राणी जो उपजाय।
जान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के, संयोगहिं नरराय ॥२६॥

क्षेत्रज्ञहिं कहि शब्द इमि, हम तुम प्रति दरसाय। अरु क्षेत्रहु वरणन कियो जो सब तुमहिं बुझाय ॥१०५१॥
ये दोऊ के मेल तें, उपजत सब संसार। जिमि समीर सँग नीर में, उपजि तरंग अपार ॥१०५२॥
नातर भुवि वा सूर्य की, किरन जोग तें वीर। देखिय पूरो रूप जिमि, मृग जल को गभीर ॥१०५३॥
ज्यों धाराधर धार, जब धरनी पर परत बहु। अंकुर विविध प्रकार, जैसे ऊगत हैं विपुल ॥१०५४॥
ज्यों सचराचर तिमि सकल, जीव नाँव जिहि काँह। उभय जोग तें उपजि सो इमि जानहु नरनाँह ॥१०५५॥

यातें अर्जुन भूत सब, प्रकृति पुरुष तें जान। भिन्न न याके पास तें, कैसहु कबहूँ मान ॥१०५६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

अर्थ—नशनहार सब भूत महँ, रहि अविनाशि समान।
जो देखत इमि आत्म कहँ, सो ज्ञानी मतिमान ॥२७॥

जैसहिं वसन न तंतु परि, तंतुहि तें उपजाय। सूक्ष्म दृष्टि तें निरखि यह, प्रकृति पुरुष इक जाय ॥१०५७॥

सकल भूत इक एक के, पासहिं तें उपजाँय। परि तुम अनुभव याहि को, ऐसो लेउ बुझाय ॥१०५८॥

नाम विलगि इमि याहि के, भिन्न-भिन्न आचार। विविध भांति के वेषहू, याके सकल निहार ॥१०५९॥

ऐसहिं निरखि किरीट जो, भेदहिं निज मन मान। कोटि जन्म भवसिंधु तें, पार न पावहिं जान ॥१०६०॥

एकहि तूँबी में फलत, जिमि फल विविध प्रकार। लंबे टेढ़े गोल अरु, विपुल काज आधार ॥१०६१॥

शाखा सीधी वक्र वा, जिमि बदरी कहि जात। तैसहिं अघटित भूत परि, आत्मा सुधहि तात ॥१०६२॥

जैसहिं बहुतक अग्निकण, परि उष्णता समान। जीव राशि तिमि विपुल परि, आत्मा एकहिं मान ॥१०६३॥

जिमि जल धार अकास बहु, परि एकहि है नीर। तिमि आत्मा सर्वांग महँ, भूताकारहिं वीर ॥१०६४॥

आत्म परंतु समान, ये प्राणी यदि भिन्न हैं। आकाशहिं सम मान, यदि घट मठ आकार बहु ॥१०६५॥

नाशत भूताभास इक, आत्मा नित्यहिं सोइ। जिमि आभूषण विविध परि, एक सुवर्णहिं जोइ ॥१०६६॥

जो न विलग लखि जीव तें, जीवधर्म तें हीन। सो उत्तम ज्ञानी अहैं, ज्ञानी गननि प्रवीन ॥१०६७॥

ज्ञान नयन को नयन वह, नयनवन्त को नैन। यह नुति ताकी अधिक नहिं, सो अति भाग्य सुखैन ॥१०६८॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

अर्थ—ईश्वर कहँ जो अचल अरु, सर्वत्रहिं सम देखि।
हनत न आत्महिं आत्म कहँ, परगति लहत विशेखि ॥२८॥

यह तन थैली इंद्रि गुण, बात पित्त कफ धारि। पंचतत्व को मेल अति, दारुण अधम विचारि ॥१०६९॥
ये बीछी पँच डंक की, पँच विधि लागी आग। जीव सिंह को जन्तु मिली हरिन-कुटी बड़भाग ॥१०७०॥
ऐसो जो इहिं देह के, उदर अनित्यहिं भाव। नित्य ज्ञान वपु जो छुरी, करत न कोई घाव ॥१०७१॥
अर्जुन जो ज्ञानी अहैं, करत न अपनो घात। अरु शरीर के अंत में, मिलत ब्रह्म महँ तात ॥१०७२॥
योगरु ज्ञानहिं प्रौढ़तहिं कोटिन जन्म तजाय। जन्म न जहँ तिहि पदहिं महँ योगी मगन स्वभाय ॥१०७३॥
जो पद तट वा पार, पैले पारहिं नाद के। सो परब्रह्म उदार, तुर्यावस्था माँझ घर ॥१०७४॥
जैसे गंगादिक सरित, सब मिलि उदधि मँझार। मोक्ष सहित गति सकल जहँ, लहि विश्राम अपार ॥१०७५॥
जो निज बुद्धि न भेद धरि, आनि विषमता पाय। ताको ऐसो ब्रह्म सुख, इहि देहहिं मिलिजाय ॥१०७६॥
जैसे दीपक अमित को, एकहिं तेज प्रमान। तिमि सर्वत्रहिं जानिये, ईशहु पूर्व समान ॥१०७७॥
जीवहिं आत्महिं लखत जो, ऐसहिं एक समान। जनम-मरन के फेर महँ, सो नहिं परत सुजान ॥१०७८॥
अरु समता वपु सेज पर, जो सोवत सब काल। अतः करत बहुवार तुति, ताकी भाग्य विशाल ॥१०७९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

अर्थ—सब प्रकार के कर्म यह, प्रकृतिहि करि करि जात।
तथा अकर्ता आत्म लखि, सोई देखत तात ॥२९॥

सकल कर्म पँच ज्ञान की, इन्द्रिय तें जो कर्म। प्रकृतिहिं करि यह निरखि जो, जान यथार्थहि मर्म ॥१०८०॥
घर महँ जो रहि कर्म करि कर्म करत नहिं धाम। घन धावत जिमि गगन महँ, थिर आकाश ललाम ॥१०८१॥
आत्म प्रभहिं गुणयुक्त तिमि प्रकृति विपुल करि काम। आत्मा थंभ समान रहि, जानि न काम निकाम।१०८२।
अनुभव रूप प्रकास, ऐसो जिहिं अंतःकरन। आत्म अकर्ता भास, पूर्नपनहिं दरसात तिहिं ॥१०८३॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

अर्थ—जो प्राणीं की पृथकतहिं, अरु तिन्ह को बिस्तार ।
अवलोकत परमात्म महँ, तिहिं मिलि ब्रह्म उदार ॥३०॥

जब यह भूताकार जो, भिन्न एक वपु देखि । होय ब्रह्म संपन्न सो, तब हीं, पार्थ विशेखि ॥१०८४॥
जैसहि जलहिं तरंग अरु, धरनि माँहि परिमानु । नातर रवि की किरन बहु, जैसे मंडल भानु ॥१०८५॥
अथवा अवयव देह महँ, सकल भाव मन माँहि । अथवा एकहि अग्नि महँ चिनगारी अधिकाहिं ॥१०८६॥
एकहि तें तिमि भूत सब, जो निश्चयहिं निहार । तरणि ब्रह्म संपत्ति की, ताहि मिली धनुधार ॥१०८७॥
अरु जहँ-जहँ देखहिं तहाँ, ब्रह्महिं प्रगट निहार । अधिक कहा सुख लाभ को, संचय अपरंपार ॥१०८८॥
सकल व्यवस्था प्रकृति अरु पुरुषहिं की समुझाय । पूर्णसिद्ध अनुभवित जो, सो तुम जान्यो काय ? ॥१०८९॥
जैसहि कर आवै सुधा, वा लखि नयन निधान । तैसहिं उत्तम लाभ यह, मानहु पार्थ सुजान ॥१०९०॥
जो अनुभव केवलहि यह, निज चित करि निरधार । सो अब अर्जुन यह समय, कीजे नहीं उदार ॥१०९१॥
कथन करौं तुम पाँहि, इक दुइ गहन विचार अरु । सुनिये बरणो जाँहि, तिन्ह कहँ चित्त लगाय के ॥१०९२॥
ऐसहिं वचन सुनाय पुनि, कथन लगे भगवान । तबहि पार्थ सर्वांग निज, चितमय कियो सुजान ॥१०९३॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

अर्थ—यह अनादि गुण रहित तें, परमात्मा अविनाशि ।
तन में हू रहि करि न कछु, लिपति नहीं सुखराशि ॥३१॥

जल महँ परि प्रतिबिंब रवि परि न लिपत जिमि भानु । तिमि परमात्मा कहत जिहिं तिहिं स्वरूप इमि जानु ॥
कारण जलते आदि अरु, पुनः समानहिं भानु । अज्ञानी लखि मध्य महँ,प्रतिबिंबहिं रवि जानु ॥१०९५॥
आत्महु तिमि रहि देह महँ, साँच कथन यह नाँहि । रहत सदा जहँकी तहाँ पार्थ जान मन माँहि ॥१०९६॥
जिमि दरपन महँ आप मुख,प्रतिबिंबित मुख भास । देहहिं महँ तैसहि बसति,आत्मतत्व सुखरास ।१०९७॥

आतम तन संबंध कहि, है सर्वथा निमूल। वायु बालु को गँठन कहुँ, होय सकै रिपुशूल ॥१०९८॥
आगी ताग कपास द्वौ, कैसे रहत समीप। किमि मिलाइये एक महँ, नभ पाषाण महीप ॥१०९९॥
एक उदय दिशि ओर अरु, दूजो पश्चिम जाय। इन दोनों की भेंट तिमि, यह संबंध जनाय ॥११००॥
जिमि उजेर अँधियार, जीवत वा मृत पुरुष को। तिमि संबंध विचार, आतमा और शरीर के ॥११०१॥
जैसहिं दिन अरु रैन वा,साम्य न स्वर्न कपास। तैसे ही यह देह अरु, आतमा माँहि विभास ॥११०२॥
कर्म तगा तें तन गुँथित, पचतत्त्व विरचाय। जन्म-मरन के चक्र तें, भ्रमत न चैनहिं पाय ॥११०३॥
काल अनल के मुखहिं परि जिमि गोली नवनीत। माखी पंख हिलावतहिं तन लहि नासहिं मीत ॥११०४॥
यह तन परि यदि अग्नि तो, राख होय उड़ि जाय। यदि कूकर के मुखहिं परि तो विष्ठा ह्वै जाय ॥११०५॥
किंवा ह्वै कृमि राशि यदि, चूकहिं दोनहुँ काम। कपिध्वज ऐसहि होत यह अधिक बुरो परिनाम ॥११०६॥
इहि शरीर की यह दशा, अरु इमि आतम परंतु। नित्य सिद्ध सहजहिं अहैं,सदा अनादि अनंतु ॥११०७॥
जो कृश नहिं अरु थूल नहिं,सकल गुणन तें हीन। क्रियारहित नहिं कर्म करि,पूरन कला विहीन ॥११०८॥
निराभास आभास नहिं नहिं प्रकास अप्रकास। नहीं अल्प अरु अधिक नहिं निराकारपन जासु ॥११०९॥
सहित न रहित सुजान, भरित नहीं रीतो नहीं। शून्यपनहिं मतिमान, रूप अरूपहु कछु नहीं ॥१११०॥
निरानंद आनंद नहिं, एक न विविध जनाय। मुक्त नहीं अरु बद्ध नहिं, आत्मपनहिं नरराय ॥११११॥
नहिं इतनो उतनो नहीं, रच्यो न विरच्यो जाय। बोलत किंवा मूक यह, लक्षण रहित स्वभाय ॥१११२॥
जग उपजे उपजात नहिं, जग नासे न नसात। उत्पति अरु लय उभय थल, को लयथान सुभ्रात ॥१११३॥
अव्ययपन तें माप नहिं, कथन नहीं करि जात। बढ़त घटत कछु है नहीं, छीन न खरचो जात ॥१११४॥
ऐसो आतम स्वरूप यह, देह माँहि कहि जात। महाकार जिमि गगन को, नाम जगत में तात ॥१११५॥
अर्जुन आतम अखंडपन उपजि न सत तन रूप। आतम न धारत तजत नहिं आप स्वरूप अनूप ॥१११६॥
आवत-जावत रैन दिन, जैसे नभहिं सुजान। तैसे सत्ता आतम महँ, अर्जुन देहहिं जान ॥१११७॥
अतः न तन महँ करत सो, कछुक करावत नाँहि। सक्त होत नहिं देह के, जो व्यापारहिं माँहि ॥१११८॥
जो अतएव स्वरूप, न्यून पूर्न कहि सकत नहिं। लिप्त न तन तें भूप,अधिक कहा रहि देह महँ ॥१११९॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

अर्थ—जिमि सब व्यापक गगन निज, सूक्ष्मपनहिं न लिपाय ।
तिमि सब तन महँ व्याप्त परि, आतम न लिप्त स्वभाय ॥३२॥

अहहै कहाँ आकाश नहिं, कहाँ न करत प्रवेश । परि जिमि कैसहु काहु तें, दुख न लहत लवलेश ॥११२०॥
सर्व ममहिं सर्वत्र तिमि, यदि आत्मा निरखाँहिं । देह संग के दोप तें, लिप्त होत सो नाहिं ॥११२१॥
ध्यानै धरहु यह पुनि पुनः यह लक्षण निरधार । देह संग तें विलग हैं, यह आत्मा धनुधार ॥११२२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

अर्थ—अर्जुन जिमि इक सूर्य ही, करि प्रकाश संसार ।
तैसे ही क्षेत्रज्ञ करि, सब क्षेत्रहिं उजियार ॥३३॥

चुम्बक के संसर्ग लहि, लोह न चुम्बक होय । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ महँ, तैसहिं अंतर जोय ॥११२३॥
दीपक के उजियार करि, घर के सब व्यवहार । परि घर महँ अरु दीप महँ, अंतर अमित निहार ॥११२४॥
काष्ठ उदर कें माँहि जिमि, अग्नि अहै धनुधार । परि न काष्ठ इहिं दृष्टि तें, त्यों कहँ लोहु निहार ॥११२५॥
अथवा जिमि घन गगन महँ, वा रवि मृग जल माँहि । तैसहिं देखिय नयन तें, यह क्षेत्रज्ञहिं काँहि ॥११२६॥
अधिक बात सब जानदे, जिमि नभमहँ इक भानु । विलगि विलगि सब लोक महँ करत प्रकाश सुजानु ॥११२७॥
ऐसहि करत प्रकास, क्षेत्रज्ञहु सब तनहिं तिमि । नहिं शंका को त्रास, यातें आत्मा तन विषय ॥११२८॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

अर्थ—जो इमि अंतर ज्ञान दृग, जान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ।
भूत छूटि किमि प्रकृति तें जानि ब्रह्म लहि विज्ञ ॥३४॥

अंतर जो लखि बुद्धि तें, ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ। शब्द तत्त्व के सार को, जाननहारे विज्ञ ॥११२६॥
ये दोनों के भेद को, जानन हित मतिमान। ज्ञानीजन के द्वार को, आश्रय करत सुजान ॥११३०॥
याही के हित सुमति धरि, संपति शांति जुराय। शास्त्ररूप गो दूध प्रद, पोषत घर महँ लाय ॥११३१॥
याके जानन हेतु चढ़ि, पुरुष योग आकाश। अधिक चाव मन माँहि जो, धारत अर्जुन आश ॥११३२॥
जो देहादि समस्त कहँ, मानत तृणहिं समान। अरु संतन की पादुका, धरत प्रान पर आन ॥११३३॥
ऐसी ऐसी रीति तें, साधन ज्ञान मिलाय। अपने अंतःकरन में, निश्चय करत अघाय ॥११३४॥
क्षेत्रहु औ क्षेत्रज्ञ को, अंतर निरखि यथार्थ। तिन्ह के ज्ञानहिं की करत, हम नीरांजनि पार्थ ॥११३५॥
और महाभूतादि के, जो प्रभेद बहु रूप। मिथ्या माया तें भयो, जो विस्तार अनूप ॥११३६॥
जानत जो मतिमान, सो जैसी है तिमि अहैं। बँध्यो न बंधन मान, जिमि शुक नलिका न्याय तें ॥११३७॥
ज्यों माला माला अहैं, ऐसहि निरखत नैन। सर्प बुद्धि मिथ्या नसै, तब होवहिं चित चैन ॥११३८॥
सीपी सीपी ही अहैं, ऐसी सत्य प्रतीत। रूपे के आभास के, नास भये तें मीत ॥११३९॥
आत्महि महँ तिमि प्रकृति को विलगभात्र दरशात। देखत अंतःकरन 'मैं कहत' ब्रह्म ह्वै जात ॥११४०॥
जो आकाशहु व्याप्त करि, माया के पर तीर। ताहि मिले सब सम विषम, भेद नसत रनधीर ॥११४१॥
औ आकार नसात सब, जीवपना लय पाय। द्वैत भाव नहिं रहि सकत, जो अद्वैत रहाय ॥११४२॥
अर्जुन सो ह्वै सर्वथा, परम तात्त्व मतिमान। आत्म प्रकृति कहँ विलगि करि,राजहंस के मान ॥११४३॥
कहो आत्म अरु प्रकृति के,विषयहिं प्रभु प्रति पार्थ। सो अनुभव तिन्हको सकल,कीन्हो प्रगट यथार्थ ॥११४४॥
को देवै को लेतु, जिमि नर तिमि नारायणहुँ। अरु अर्जुनहिं सहेतु, मैं ही हौं प्रभु महँ कहत ।११४५॥
अस्तु कहत बिन प्रश्न मैं, वृथा बात विस्तार। अधिक कहा पार्थहिं दियो, निज सर्वस्व उदार ॥११४६॥
एक कलश को नीर जिमि, दूजे में धरि जाय। तिमि निज अनुभव कृष्ण प्रभु, अर्जुन हृदय भराय ॥११४७॥

अस्तु कहत बिन प्रश्न मैं, वृथा बाउ विस्तार। अधिक कहा पार्थहि दियो, निज सर्वस्व उदार ॥११४७॥
किंतु नहीं संतोषता, अर्जुन निज मन पाय। अरु ताकी बाढ़न लगी, चाह अधिक अधिकाय ॥११४८॥
दीपक महँ जिमि तेल भरि, अधिक होय उजियार। तिमि अर्जुन मन चाह अति, सुनि सुनि कथन उदार ॥
सु दर उत्तम पाक करि, रुचिया जेंवनहार। मिलतहिं पुनि परसा करें, जैसे हाथ उदार ॥११५०॥
देवहु तिमि लखि पार्थ को, अति उछाह अवधान। चौगुन निज मन रुचि कियो, कथन हेतु भगवान ॥११५१॥
जिमि सुवायु तें घन घने, चद्र समुद्र भराय। श्रोता सुनि अति आचरहिं, वक्ता रस उपजाय ॥११५२॥
सजय कहि राजा सुनहु, अब मुकु द भगवान। सपूरन आन दमय, करि ससार सुजान ॥११५३॥
अमर्याद मति व्यास जी, भीष्म पर्व सयोग। कथन महाभारतहि इमि, जो हरि सब भव रोग ॥११५४॥
दोहाहू सरसाँहिं, ओवी छद प्रबन्ध करि। विशद नागरी माँहि, कृष्णार्जुन संवाद कहि ॥११५५॥
कथा शांति केवल करत, जो मैं अब समुझाय। माथे रस शृङ्गार के, चरन धरत इतराय ॥११५६॥
ये देशी भाषा नई, साहित्यहिं सिख देय। सुधा स्वाद हीनो परत, मधुर मनहिं कौंतेय ॥११५७॥
शब्द द्रविणकारी गुणहिं, होवहिं च द्र समान। रस अरु रंग भुलाय करि, लोपहिं नाद सुजान ॥११५८॥
अज्ञानीहू के मनहिं, सात्विक भाव प हाय। अधिकारीहू सुनत ही, लागि समाधि अ वाय ॥११५९॥
गीता अर्थहिं तें भरो, कहि सब जग विस्तार। सब जग को आनदप्रद, ह्वै जावहिं धनुधार ॥११६०॥
नासै दै य विवेक को, एकय होय मन कान। जहँ देखिय तहँ खानि लखि, विद्या ब्रह्म महान ॥११६१॥
समारंभ सुख को निरखि, परतत्वहिं लखि नैन। महाबोध को होय जग, सकल सुकाल सुखैन ॥११६२॥
अतिशय मम पर नेह, श्री निवृत्ति महाराज को। अनुभव आवत येह, जो समस्त वरनन करत ॥११६३॥
अतः अक्षरहिं प्रतिपदहिं, उपमा कविता भूर। प्रतिपद महँ ग्रन्थार्थ को, वरनन कीन्हों पूर ॥११६४॥
अब लखि मो कहँ निपुण करि, सकल शास्त्र के माँहि। श्रीमन्त श्री गुरुराज की, कृपा न वरनी जाहि ॥११६५॥

श्रीगुरु कृपा सहाय मम, कथन लहत सनमान । संत आप सम तिहिं सभा, गीता ग्रंथ महान ॥११६६॥
या परि तुव संतन चरन, को मिलि आज प्रसाद । अतः न प्रभु कटकि रहि, भयो परम अहलाद ॥११६७॥
उपजि गिरासुत मूक नहिं, स्वामी कौतुक कॉहि । सामुद्रिक ऊनी नहीं, लच्मी के कर माँहि ॥११६८॥
कहा बात अज्ञान की, तुम संतन के पास । मैं नव-रस बरसा करत, आप प्रसाद हुलास ॥११६९॥
अधिक कहा अब स्वामि मुहिं, अवसर देहु सप्रीति । ज्ञानदेव कहि ग्रन्थ यह, वरनौं उत्तम रीति ॥११७०॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्देलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर
श्री गणेश प्रसाद–कृतायां गीता-
ज्ञानेश्वर्यां त्रयोदशोऽध्यायः
शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ३



ॐ

चतुर्दश अध्याय

जय जय जय आचार्य मम, प्रभु समस्त सुरभूप।
बुद्धि प्रभा के भानु अरु, सुख के उदय स्वरूप ॥१॥

जय जय सब विश्राम थल, शोभा सोऽहं भाव। चौदह लोक तरंग के, आप समुद्र स्वभाव ॥२॥
आपहि दीन दयालु प्रभु, करुणासिंधु अभंग। बहुरि ब्रह्म-विद्या-वधू, आपहि वरैं असंग ॥३॥
आपहिं जो नहिं जान तिहिं, यह जग सांच लखाय। जिहिं प्रगटहु तिहिं विश्वमय, आप रूप दरसाय ॥४॥
ऐसहि जग महं कौतुकी, पर की दृष्टि चुराय। पैं अद्भुत चातुर्य तुव, आप चुरायो जाय ॥५॥
इकहिं ज्ञान इक प्रकृति फँसे, पैं तुम भर्यो संसार। लीला तुव इमि रूप निज, तुमहि नमन बहुवार ॥६॥
जानहु जग जिहिं जल कहत, तासु मधुरता आप। अरु क्षमता जो धरणि महँ, सोऊ आप प्रताप ॥७॥
शशि, सवितादिक सीप सम, उदय करत त्रय लोक। आप प्रकाश प्रभाव तें, तेजहिं तेज अरोक ॥८॥
चल बल शक्ति समीर, होत आपके बलहिं प्रभु। खेलत खेल गँभीर, लुकालुकी तुव माँहि नभ ॥९॥
अधिक कहा सब प्रकृति के, आप ज्ञान के हेतु। तथा आप के कथन मँह, श्रुति लह श्रम कपिकेतु ॥१०॥
जब लगि तुव दर्शन नहीं, तब लगि वेद सुजान। दरसन तें वेदहु हमहिं, पुनि मौनता समान ॥११॥
सब जलमय ह्वै जाय जब, छन को पता न पाय। महा नदीहु को कहाँ, खोज लगे नरराय ॥१२॥
नातर शशि खद्योत जिमि, उदय होत जब भानु। तुव सन्मुख उपमा यही, हम अरु वेद समानु ॥१३॥
पश्यन्ति परा अरु वैखरी, जहँ नसि द्वैत-ठिकान। तहाँ आप को कौन मुख, तें वरनौं भगवान ॥१४॥

यातें हौं चुप नुति तजहुँ, प्रभु चरनन के माँह । अपनो मस्तक धारिहौं, यहै भलो जगनाह ॥१५॥
अतः आप जैसे अहौ, तिमि प्रणवौं गुरु तोहिं । निज ग्रन्थोपम लाभप्रद, साहु होहु प्रभु मोहिं ॥१६॥
काढ़ि दया-पूंजी भरहु, मम मति थैली माँहि । पूर्ण ज्ञानमय काव्य कृति, नाथ देहु मन माँहि ॥१७॥
सन्त श्रवालंकार, अरु मैं यह व्यापार सजि । पहिरावहुँ मनहार, सुन्दर बिरचि विवेक वपु ॥१८॥
श्री गीतार्थ निधान प्रभु, काढ़ि चाह मन मोर । पुरवहु निज नेहांजनहिं, दै मम दृग की कोर ॥१९॥
निर्मल करुणा भानु की, उदयहु तिमि गुरु राय । मम बुधि दृग लखि बेर इक, वाक सृष्टि उपजाय ॥२०॥
प्रेमि शिरोमणि आप पुनि, हो जाइय ऋतुराज । फलहि काव्यफल बुद्धि मम, बढ़ि वपु बेलिहिं साज ॥२१॥
यह मति गंगा अमित मम, महापूर लहि अर्थ । तिमि उदार परिवाह बहि, करुणादृगहिं समर्थ ॥२२॥
अहहु जगत आधार इक, तुव प्रसाद वपु चंद । काव्य फूर्ति-वपु पूर्णिमा, करु मम हिय सानन्द ॥२३॥
जिहिं निरखत मम ज्ञानवपु, सिंधु रसिकता ज्वार । इमि बढ़ि जिमि मम फुरनमहँ, नहिं समाय बहि धार ॥२४॥
सन्तोषे गुरुराज कहि मिष नुति विनयहिं धारि । ज्ञानदेव तुम करु वृथा, द्वैत कथा विस्तारि ॥२५॥
अब नुति व्यर्थहिं तजि करहु, ज्ञान अर्थ वर रीत । ग्रन्थ कथन उत्साह को, भंग न करहु पुनीत ॥२६॥
सत्यहि प्रभु ज्ञानेश कहि, लखत रह्यौं यह पंथ । जो तुम कहि ग्रंथहिं करहु, श्रीमुख तें श्रीकंथ ॥२७॥
अहै दूब को मूल, जिमि स्वभाव सों ही अमर । हरत मरन की शूल, तापरि अमृत बरसि जो ॥२८॥
अब प्रसाद गुरु को लह्यो, सुस्पष्टहिं विस्तार । मूल शास्त्र को प्रतिपदहिं, वर्णन करहुं उदार ॥२९॥
और बढ़ी दरसात बहु, श्रवन सुनन की चाह । जैसे नौका शंक नसि, अन्तर मन की जाह ॥३०॥
इमि मम वाणी गुरु कृपा, के घर लहि वरदान । पावहि उत्तम मधुरता, सरस सार्थ वर ज्ञान ॥३१॥
संजय कहि धृतराष्ट्र तें, प्रथमहि यह यदुराय । तेरहवें अध्याय महँ, अर्जुन प्रति समझाय ॥३२॥
आतम प्रकृति संयोग तें, उपजत यह संसार । आतमहि गुण के संग तें, जग महँ मगन उदार ॥३३॥
अरु सुख दुख भोगत सकल, कारण मायोपाधि । अथवा गुण तें रहित सो, सदामुक्त निरुपाधि ॥३४॥
संग रहित इमि आतमा, किमि लहि माया संग । आतम प्रकृति संयोग कह, कह सुख दुःख प्रसंग ॥३५॥
गुण कितन कैसे अहैं, बाँधत कौन प्रकार । अथवा गुण तें रहित के, लक्षण कहा निहार ॥३६॥

अर्थ—अर्जुन माया योनि मम, तहँ मैं गर्भहिं धार।
उपजत है तातें सकल, प्रानि समूह अपार ॥३॥

सो माया विश्राम थल, महद् ब्रह्म को जान। महद् ब्रह्म यह नाम कहि, याही तें मतिमान ॥६७॥
गुण विकार इहि योग तें पावहिं वृद्धि अपार। कहत याहि तें नाम अस, महद् ब्रह्म अवधार ॥६८॥
कहहि सांख्य मत-वादि इमि, याहि प्रकृति निरधार। पार्थ कहत अव्यक्त इमि, मत अव्यक्त पुकार ॥६९॥
कहि मम माया ऐसहि, वेदान्ती मतिमान। अधिक कहा बोलों वृथा यह जानहु अज्ञान ॥७०॥
आपुन आत्मस्वरूप कहँ, आपुहिं जो बिसराय। ताहि कहत अज्ञान को, रूप धनजय गाय ॥७१॥
एकहि मातहिं और जिहि, लखिय न समय विचार। दीपक धरि जिमि खोज करि, मिलत नहीं अँधियार ॥७२॥
दूधहिं देहु हिलाय, रहत न साढ़ी दूध की। अरु सहजहिं जम जाय, जो दूधहि न हिलाइये ॥७३॥
जाग्रत अथवा स्वप्न नहिं, अरु समाधिहू नाँहि। जो थिति निद्रा घोर जिमि, पार्थ जान मन माँहि ॥७४॥
किंवा वायु न हिलहि जब, रीतो रह आकास। तिथि निद्राथिति निश्चयहि, ह्वै आज्ञानाभास ॥७५॥
दूरहि नर वा खंभ है, निश्चय ते न जनाय। पै तो भी कछु वस्तु है, आभासत नरराय ॥७६॥
आत्महि तिमि जैसो अहै, जब न दिखात यथार्थ। अपर वस्तु है कौन यह, निश्चय होत न पार्थ ॥७७॥
दिवस रैन की सधि महँ, जैसे सायंकाल। तिमि आत्मा अरु जगत के, मध्य ज्ञान भूपाल ॥७८॥
ऐसी जो कौनहु दशा, ताहि कहत अज्ञान। तातें बद्ध प्रकाश जो, तिहि क्षेत्रज्ञ बखान ॥७९॥
निज स्वरूप कहँ जान नहि, तातें यदि अज्ञान, सो क्षेत्रज्ञ स्वरूप है, यह जानहु मतिमान ॥८०॥
जो माया चैतन्य को, भली भाँति मन धार। मूल स्वरूपहिं प्रकृति को, यह स्वभाव धनुधार ॥८१॥
आप स्वरूप भुलाय, अब अज्ञान समान लखि। कौन अहै न जनाय, धारत रूप अनेक विध ॥८२॥
कहत रंक जिमि भ्रमहि वश, जा आयउँ नर राज। किंवा मूर्छित कहत मैं, गयो स्वर्ग के राज ॥८३॥
दृष्टि अचानक परत ही, जो जो कछु दरसाय। तासु नाम है सृष्टि जो, मोतें ही उपजाय ॥८४॥
स्वप्नहि मोहहि माँहि जिमि, लखि अकेल बहु वस्तु। आत्म स्वरूपहिं तिमि बिसरि, जीवात्मा गति अस्तु ॥८५॥

शुद्ध स्वरूपहिं भ्रान्ति यह, तुनि कहि अन्य प्रकार । पै माया बपु मूल महं, बिसरु न पांडुकुमार ॥८६॥
यै माया मम गेहनी, तरुणी अहै अनादि । अनिर्वाच्य गुणयुक्त जो, अरु यह विद्या-वादि ॥८७॥
यह अभाव को रूप है, आकृति अति विस्तार । यह अज्ञान समीप है, ज्ञानहिं दूर निहार ॥८८॥
सोवत मैं जब सब जगत, यह माया मम पार्थ । अरु सत्ता संयोग महँ, धारत गर्भ यथार्थ ॥८९॥
उदर जीव भूतहु प्रकृति, प्राकृत आठ विकार । करत गर्भ की वृद्धि को, बहु प्रकार धनुधार ॥९०॥
संवित तत्त्वहिं जाय आत्म प्रकृति सँगतें प्रथम । अर्जुन मन प्रगटाय, बुद्धितत्त्व के बलहिं ते ॥९१॥
जो ममता मन की तरुणि, अहंकार विरचाय । ताही तें उपजात है, महाभूत समुदाय ॥९२॥
अरु स्वभावसों भूत को, विषयेन्द्रिय सबंध । तातें तेहि योग तें, यह उत्पत्ति प्रबंध ॥९३॥
पुनि विषयेन्द्रिय क्षोभ लहि, सब त्रयगुण समुदाय । तबहि वासना गर्भ तें, जहाँ तहाँ उपजाय ॥९४॥
जिमि जल के संयोग तें, बीज अकुरहिं पाय । अरु तरु के आकार सब, तहँ ही रहत समाय ॥९५॥
धरत अविद्या संग मम, तैसहि विविध प्रकार । अरु फूटन लागत विपुल, जे अंकुर संसार ॥९६॥
औ कैसो प्रगटात है, गर्भ गोल ससार । सुजन सिरोमनि ताहि को, अब सुनिये चितधार ॥९७॥
उद्भिज, स्वेदज, अडजहु, अरु जेरज ये चार । ये अवयव फूटत सकल, ता महँ पांडुकुमार ॥९८॥
गगन पवनवश गर्भरस, बाढ़ लहत अधिकाय । अडज अवयव ताहि तें, प्रगट होत नरराय ॥९९॥
जन्महि लेत उदार, स्वेदज अवयव ताहिं तें । तोय तेज अधिकार, अरु तम रज गुण युक्त जो ॥१००॥
जल धरनी को अंश बहु, अधम जहाँ तम भार । यह उद्भिज थावर प्रगटि, तहाँ पार्थ धनुधार ॥१०१॥
ज्ञानहु पंचरु कर्म पचँ, इन्द्रिय दसहु समान । मन बुद्धयादि इकत्र जहँ, तेहि जेरज भुवि जान ॥१०२॥
यह जरायुजादिक सकल, कर पग तल इमि चार । महा प्रकृति जो मूल है, ताको शीर्ष विचार ॥१०३॥
जाकी पीठ निवृत्ति है, उदय प्रवृत्ति विशाल । आठ भाँति सुर योनि है, ऊपर भाग भुवाल ॥१०४॥
आनँद प्रद सुरलोक गल, मृत्यु लोक मधि भाग । अधो देश पाताल है, कटि नीचे बड़ भाग ॥१०५॥
सुन्दर इमि सुत एक जो, माया प्रसव निहार । जिहिं शिशुता की पुष्टता, तीन लोक विस्तार ॥१०६॥

गांठहु पोरहु संधि अरु, प्रतिदिन लहि विस्तार । चौरासी लख योनि इमि, बालक की धनुधार ॥१०७॥
नाम वपुष भूषण विविध, तन अवयवहिं सजाय । नित नूतन वपु मोह को, दूध पियाय बढ़ाय ॥१०८॥
सुत कर अंगुलि जान, विलग २ संसार सब । सजि मुद्रिका सुजान, भिन्न देह अभिमान तिहिं ॥१०९॥
यह चर अचर अकेल सुत, प्रकृति रूप अज्ञान । उपजि फूल अभिमान तें, मम सौभाग्य महान ॥११०॥
कह विधि प्रातःकाल में, विष्णु काल मध्यान्ह । सायंकालहि बाल को, पार्थ जान ईशान ॥१११॥
सेज महा प्रलयहिं सुभग, खेलत शयन कराय । कल्प उदय के होत जगि, ज्ञान विषमता पाय ॥११२॥
अर्जुन इहिं विधि बाल यह, मिथ्याभासी धाम । युग युग की अनुवृत्ति करि, निज क्रीडा अविराम ॥११३॥
जासु सखा संकल्प है, अरु सेवक हंकार । ऐसे ही पावत मरन, ज्ञानहिं तें धनुधार ॥११४॥
अब विशेष बरनौं कहा, यह माया जग व्याय । मम सत्ता सहकारिता, पाय धनंजय राय ॥११५॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

अर्थ—चौरासी लख योनि सब, माया तें उपजाय ।
बीज प्रदायक मै पिता, तासु माँहि नरराय ॥४॥

याही कारण मैं पिता, यह माया है माय । अरु यह सब जग मम सुवन, अहै धनंजय राय ॥११६॥
अब शरीर बहु देखि के, भेद न आनहु चित्त । जो मन बुद्ध्यादिकन तें, प्रानी एकहिं भित्त ॥११७॥
कह अवयव बहु नांहि, विलग एक ही देहमहँ । विश्वविचित्रहिं पाँहि, तिमि एकहि यह सब समझ ॥११८॥
जैसे एकहि बीज तें, उपजत तरु सुखरास । ऊँच नीच शाखें विषम, विलग भाव परिभास ॥११९॥
नाती चीर कपास को, घट माटीसुत जान । जैसे यह सम्बन्ध इमि, तैसहि मेरो मान ॥१२०॥
किंवा जैसे सिन्धु महँ, उपजि तरंग अपार । सचराचर सम्बन्ध तिमि, मेरो अहै उदार ॥१२१॥
बहुरि अग्नि अरु ज्वाल जिमि, उभै यथार्थ कृशानु । तिमि मैं जग सम्बन्ध सब, मिथ्या जानु सुजानु ॥१२२॥

जग उपजत मम रूप लुपि, तो जग को उपजाय। मानिक लोप्यो जात कहुँ,मानिक तेजहिं पाय ॥१२३॥

अलंकार बनि जाय यदि, सोनापन कहुँ जाय। किंवा प्रफुलित कमल दल,किमि कमलत्व नसाय ॥१२४।

अवयव जो धारन करत, अवयव धारि सुजान। सो तिहिं ते सोभा लहत, की ढँकि जात बखान ॥१२५॥

किंवा बोय जुवार जो, अधिकाधिक उपजाय। तातें कहिये न्यूनता, की बढ़ती दरसाय ॥१२६॥

सो अवलोकिय मोहिं, तातें जग इक तीर करि। तैसे भिन्न न जोहि, होत जगद्रूपहि अहौं ॥१२७॥

आपुन अन्तः करन महँ, गांठ बांधि धनुधार। यह निश्चित सिद्धान्त जो, सत्य सत्य निरधार ॥१२८॥

अब दरसावत मैं निजहिं, बिलग बिलग तनुरूप। ते मैही बांध्यो सकल, गुण तें समुझहु भूप ॥१२९॥

जैसे स्वप्नहिं आपने, अपनो मरन निहार। कपिधुज ऐसो जानिके, भोगत दुःख अपार ॥१३०॥

किंवा देखत पीत दृग, रोग पीलिया पाय। अरु सोही अनुभव करत, पीतरंग दरसाय ॥१३१॥

किंवा भानु प्रकाश तें, जैसे घन दरसात। सो लोपत यहहू दिखत, तासु तेज तें तात ॥१३२॥

किंवा आपुनि छाँह को, निरखि आप भय पाय। तो कहिये किमि दूसरी, अन्य वस्तु नरराय ॥१३३॥

यह अनेक तन तैसही, मैं बहु ह्वै दरसात। ऐसो यह सम्बन्धहू, मैं ही देखत तात ॥१३४॥

इमि लगाव बन्धन नहीं, यह जानिय मम ज्ञान। बंधन उपज स्वभाव सों,मम स्वरूप अज्ञान ॥१३५॥

इमि निज कहँ मैं बन्ध, कैसे अरु गुन कौन ते। सुनिये सोइ प्रबंध, अब अर्जुन चित लाय कर ॥१३६॥

कहु गुन अरु लच्छन किते,कहा रूप अरु नाम। कब उपजहि यह मर्म सो,सुनु चित लाय ललाम ॥१३७॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

अर्थ—सत रज तम ये तीन गुन, माया तें उपजाय।
तन महँ आतम अनाशि कहँ, बंधन करि नरराय ॥५॥

सत गुण अरु रज तम सकल, तीनहु गुन के नाम अरु माया तिन की अहै, जनम भूमि मतिधाम ॥१३८॥

सत गुन उत्तम तिनहि महँ,मध्यम रज गुन जान। और तमोगुन अधम है,सहज सुभाव सुजान ॥१३९॥

ये तीनों गुन जन्म लहि, एकहि वृत्ति ठिकान । जैसे एकहि देह महँ, तीन अवस्था जान ॥१४०॥
किंवा हीन सुवर्ण सँगि, जिमि जिमि बाढ़त तोल । तिमि तिमि सोनो हीन परि, हीनी कस अरु मोल ॥१४१॥
जैसे आलस आगमन, जागृति दशा गँवाय । अरु दृढ़ता तें आवसै, तिमि सुषुप्ति सुख पाय ॥१४२॥
अहँ बुद्धि स्वीकार करि, वृत्ति बढ़ै जो आय । सो सत रज के द्वार तें तम गुन ही ह्वै जाय ॥१४३॥
कहे जानिये वृत्ति के, अर्जुन सब गुन नाम । अवगुन किमि बंधन करत, दरसाऊं सुखधाम ॥१४४॥
दशा जीव मतिमान, यह आत्मा अल्पहि प्रविसि । इमि कल्पना निकाम, यह देहहि 'मैं हौं' समझि ॥१४५॥
जनम मरन पर्यन्त लगि धर्म शरीर समस्तु । ममता नहिं धारत जबहि गुन बाधा नहिं अस्तु ॥१४६॥
जैसहि मछली के मुखहिं, गोली जब परिजाय । बंसी को खिलवार तब, बंसी खींचहि धाय ॥१४७॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति, ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

अर्थ—अनघ सत्त्व निर्दोष अरु, निर्मल सकल प्रकाश ।
संग ज्ञान सुख बाँधि तहँ, आत्मा कहँ सुखराश ॥६॥

सत गुन रूपी व्याध तिमि, सुख ज्ञानहिं वपु फास । जीवहिं बांधत मृग सरिस, तरफरात सहि त्रास ॥१४८॥
ज्ञानी हौं करि कल्पना, धरत ज्ञान अभिमान । आत्म ज्ञान सुख निजि करहिं, सब खो देत अजान ॥१४९॥
कोई तोषित विज्ञ तहँ, मान लाभ हरषाहिं । मैं संतुष्ट विलोकि यह, धन्य मानि निज काँहि ॥१५०॥
कहत भाग्य मम सम नहीं, दूजो सुखी न आज । आठौं सात्विक भाव तें पूरो भरो विराज ॥१५१॥
इतनहिं ते नहिं काज सरि, बंधन अपर निहार । विद्वत्ता के भार भरि, अंगहि भूत सवार ॥१५२॥
आपहि ज्ञान स्वरूप परि, भूलि न दुख कहँ मान । विषय ज्ञान इतनो बढ़्यो, जितनो गगन प्रमान ॥१५३॥
इन्द्र न ताहि समान, दो दाना मिलि जाँय तो । मांगत भिक्षा दान, स्वप्नहि जिमि नृप रंक बनि ॥१५४॥
अर्जुन देहातीत जो, देहवन्त तिमि होय । बाह्य ज्ञान के कारनहि, ऐसी थिति लहि सोइ ॥१५५॥

निपुन प्रवृति के शास्त्र महँ, मखविद्या निष्णात । अधिक कहा तिहिं स्वर्ग की, हू जानत है बात ॥१५६॥
अरु कहि मोहि सिवाय नहिं, आज ग्यान सज्ञान । अरु चातुर्य प्रकास शशि, मम चित गहन महान ॥१५७॥
सत गुन इमि जीवात्म कहँ, नाथ डारि सुख ज्ञान। जैसे पंगुल पुरुष बसि, बरद माँहि मुद मान ॥१५८॥
अरु रजगुन इहि जीव पर, कैसे बंधन डारि । अब ताको बरनन करौं, ताहि सुनै चित धारि ॥१५९॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेनदेहिनम् ॥७॥

अर्थ—उपजत प्रीति स्वरूप जो, रज गुन तृष्णा संग ।
आत्महिं कर्मासक्ति तें, बाँधत पार्थ असंग ॥७॥

कामाकांक्षा तें तरुन, सदा बनत बल सींव । यातें रजगुन कहत इहिं, जागत रंजन जीव ॥१६०॥
अल्पहि प्रविशत जीव मँह, अरु लागत ध्वनि काम । तृष्णा रूपी पवन पर, हो आरूढ़ अकाम ॥१६१॥
अनल कुंड महँ घृत परत, वज्र अग्नि भड़काय । अब लघु दीरघ वस्तु जे, सब कहँ देत जराय ॥१६२॥
सुखप्रद अरु सुखकार, लागत इच्छा ह्वै प्रबल । इन्द्र श्रीहु नाकार, तृप्त होत नहिं तासु मन ॥१६३॥
जब बढ़ती तृष्णा प्रबल, यदि सुमेरु कर आय । तदपि कह दीरघ महा, अपर वस्तु मिलि जाय ॥१६४॥
करत निछावर जीव को, इक इक कौड़ी हेतु । इक तिनका के लाभ तें, निजहिं धन्य गनि लेतु ॥१६५॥
आजहि संचित धन खरचि, पर आगे करि काह । करत अमित व्यवसाय सो, करि के ऐसी चाह ॥१६६॥
कहत स्वर्ग कहँ जाउँ यदि, तो उत भोजन काह । या कारन चेष्टा करत, करु मखादि नरनाह ॥१६७॥
करत एक से एक व्रत, इच्छा पूर्ति सुचारु । काम्य कर्म कहँ छाँड़ि के, छुवत न कर्म उदारु ॥१६८॥
जैसे ग्रीषम के पवन, करि विश्राम न जान । यह रजगुन व्यापार हित, तिमि न रैन दिन मान ॥१६९॥
चंचलपन इतनो महा, दामिनिहु में नाहिं । जिमि कामिनी-कटाच्छ वा, नहिं मीनम के माँहि ॥१७०॥
ऐसहि अतिशय वेग तें, स्वर्ग जगत के हेतु । कूदत आगी माँहि इमि, क्रिया करत कपि केतु ॥१७१॥

सो तृष्णा वश माँहि, जीव भिन्न जो देह तें। गल साँकल पहिराँहि, अर्जुन वपु व्यापार की ॥१७२॥
यह रज गुण दारुण परम,जीवहि बांधि शरीर। अब सुनिये कौतुक कछू,तम गुन के रन धीर ॥१७३॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

अर्थ—उपजत तम अज्ञान तें, सब जीवन कर मोहि।
निद्रा अलस प्रमाद तें, बांधत अर्जुन ओहि ॥८॥

जाकी ओटहिं तें परत, दृष्टि मंद व्यवहार। काले मेघ समान जो, मोह रात्रि धनुधार ॥१७४॥
जीवन जो अज्ञान जिहिं, निर्भर इक आधार। जा ही तें जग भूलि तें, नाचत फिरत अपार ॥१७५॥
सुरा पात्र वपु मूर्खता, महामन्त्र अविचार। अधिक कहा जो जीव को, मोहन अस्त्र निहार ॥१७६॥
अर्जुन सो यह तम अहै,ऐसहि कवच रचाय। चहुँ ओरहि इहि देह कहँ,आतम मानि नरराय ॥१७७॥
एकहि यह तम चर अचर, लागत सकल शरीर। और दूसरी बात तहँ, अहै नाहिं रन धीर ॥१७८॥
जड़तहिं सब इन्द्रियन में,मूरखता मन माँह। औ' आलस व्यापत सकल,दृढ़ पनाँहिं नर नाह ॥१७९॥
सतत मरोरत अंग अँग,अरुचि होत सब काम। केवल चलत जँभाइयाँ,निसिदिन आठहु जाम ॥१८०॥
सनमुख परि न दिखाय,नयन उघारे लखि परे। अकबकाय उठ जाय,बिना हँकारे हां कहहि ॥१८१॥
शिलहु परैं कहुँ आन जिमि,मुरकि न करवट लेत। तैसहि करवट लेट पुनि,बदलै नहिं कौन्तेय ॥१८२॥
धरा जाय पाताल महँ, किंवा गगन गिराय। पै इच्छा उपजत नहीं, उठन केर नरराय ॥१८३॥
सोवत स्वस्थहि जासु मन, अनुचित उचित न सोच। सोऊँ जहँ ही को तहाँ,यह चाहत बुधि पोच ॥१८४॥
उभय हथेली हाथ की, धरहि गाल पर लाय। अरु निज मस्तक पांय पर,लाकर देय जमाय ॥१८५॥
अरु मन महँ इच्छा धरत, पूरी निद्रा माँहि। ता कहँ निद्रा सामुहें, स्वर्गहु तुच्छ जनाहि ॥१८६॥
जो ब्रह्मा की आयु मिलि, मैं सोवहुँ इहि रीति। यह तजि जाको अन्यथा, दूजे व्यसन न प्रीति ॥१८७॥

किंवा पन्थहि चलत गिर,तहँ ही ध्यान लगाय । अमृत नहिं स्वीकार करि, यदि निद्रा मिल जाय ॥१८८॥
यदि वर जोरहिं कबहुँ करि,तिमि कौनहुँ व्यापार । तो अंधा जिमि कोपवश,काम करत अनुसार ॥१८९॥
कासों बोलौं काहि, कब कैसी चालहिं चलौं । यहहु जानत नाँहि, साध्य असाध्यहु है कहा ॥१९०॥
पोंछ लेहुँ तिहिं पंख तें, सब बन लागी आग । धरि के कूदत जाय तहँ, मन पतंग अनुराग ॥१९१॥
साहस कर्म प्रवृत्त तिमि,करि निषिद्ध की चाह । ऐसो रुचत प्रमाद जिहिं,अधिक कहिय का ताह ॥१९२॥
निद्रालस्य प्रमाद ये, तीनहु तम के पास । निरुपाधिक जो जीव तिहिं, बांधत मनहि हुलास ॥१९३॥
जिमि कृशानु भरि काष्ठ महँ, लखिय काष्ठ आकार । किंवा घट महँ गगन जब घटाकाश निरधार ॥१९४॥
ज्यों जल भरित सरोवरहिं,चंद्र बिंब कहँ देखि । तिमि गुन के आभास तें,आत्महिं निरखि विशेखि ॥१९५॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

अर्थ—सत गुन सुख, रज कर्म तें, आत्महि बाँधत जोर ।
ज्ञान ढाँकि बंधन करै, तम प्रमाद तें घोर ॥९॥
सत गुन जीतै रज तमहि, रज सत तमहिं दबाय ।
तमस न्यून करि सतरजहिं, तब आपहि प्रगटाय ॥१०॥

अरु कफ वातहिं दूर करि, जब देहहिं बढ़ पित्त । जिमि शरीर महँ पित्त बढ़ि, करि देहहि सन्तप्त ॥१९६॥
किंवा आतप पावसहिं, जीत शीत दरसाय । तब जैसे आकाश यह, हिममय ही ह्वै जाय ॥१९७॥
किंवा जागृति स्वप्न कहँ,तोपि नींद आजाय । चित्त वृत्ति क्षण एक तिमि, रूप सुषुप्ति रहाय ॥१९८॥
जीतत सत तिमि रज तमहिं, सत्त्व जबहिं बढ़ि जाय । तबहि जीव कहँ कहत लखु,मैं अब सुखी स्वभाय ॥१९९॥

सत रज गुन कहँ-लोपि तिमि,तम गुन लहै महत्त्व । सहजपनहिं ते तब तहाँ, पाय प्रमाद प्रभुत्त्व ॥२००॥

सत्त्व तमहिं कहँ दाब करि, ताहि रीति अनुसार । बढ़त रजोगुन तब तहां बलहिं पाय धनुधार ॥२०१॥

कर्म बिना पुनि ताहि कछु, भलो दिखात न आन। देह निवासी जीव कहँ, देह राज इमि मान ॥२०२॥

करत निरूपन त्रिगुन बुध, तीन पथ तें जान । चिन्ह वृद्धि सत्त्वादि के, सुनु सादर अवधान ॥२०३॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

अर्थ—यह तनके सब द्वार महँ, ज्ञान प्रभा उपजाय ।
तब सत गुन की वृद्धता, प्राप्त भई समझाय ॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

अर्थ—कर्मारम्भ प्रवृत्ति अरु, लोभ अशम अरु चाह ।
जब रज गुन की वृद्धि तब, ये उपजहिं नरनाह ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

अर्थ—अनुद्योग अज्ञान अरु, मोह प्रमाद जनाय ।
तब तम गुन की बाढ़ बहु, जानहु मन नरराय ॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

अर्थ—जब सतगुन की वृद्धि महँ, प्राणी मरणहिं पाय।
जानि महत्तत्त्वादि कहँ, निर्मल लोकहिं जाय ॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

अर्थ—जब रज गुन महँ देह तजि, कर्म संग उपजाय।
अरु तम गुन महँ मरन जब, मूढ योनि जनमाय ॥१५॥

निरखु रजस तम जीति जब, सतगुन तन बढ़ि जाय। तब लच्छन जो होत सो, ऐसे प्रगट जनाय ॥२०४॥
ज्ञान हिये न समात तब, बाहर निकरत आय। कमल फूलि कुसुमाँकुरहिं, जिमि सुगंध फैलाय ॥२०५॥
इन्द्रियगन के आँगनहि, सेवा करत विवेक। अरु साँचहि कर चरन तिहि, पावत नयन अनेक ॥२०६॥
छीरहिं नीर मिलाय धरि, राजहंस पहँ लाय। ताकी चोंच प्रहार तें, उभय नबेरहिं पाय ॥२०७॥
दोषादोष विवेक की, इन्द्रिहिं पारख होय। नियम तासु पायक बनैं, सेवा करि मुद मोय ॥२०८॥
निरखि न अनुचित नैन, श्रवन अजोगहि सुनत नहिं। जीभहु त्यागत बैन, जोनहि बोलन को उचित ॥२०९॥
जैसे सन्मुख दीप के, रहत नहीं अँधियार। तिमि इन्द्रिय के सन्मुखहि, नहिं निषिद्ध संचार ॥२१०॥
जैसहि पावस काल महँ, महानदी उमगाय। तैसहि बुद्धि भराव भरि, सकल शास्त्र समुदाय ॥२११॥
जैसे पूनो रैन महँ, चन्द्र प्रभा आकाश। तैसहि ताकी बुद्धि महँ, फैलत ज्ञान प्रकाश ॥२१२॥
सकल वासना तासु नसि, पास प्रवृत्ति न आय। अरु विषयों ते हीक अति, ताके मन उपजाय ॥२१३॥
यहि प्रकार बढ़ि सत्व तहँ, यह लच्छन दरसाय। अरु अर्जुन ताको मरन, यदि कदापि ह्वै जाय ॥२१४॥
किंवा काल सुकाल बनि, घर उत्तम पकवान। अरु आये जो स्वर्ग तें, प्रिय पाहुने महान ॥२१५॥
जिमि घर मैं संपत्ति तिमि धीरज वृत्ति उदार। किमि न होय जग जस अधिक, स्वर्गहिं सौख्य अपार ॥२१६॥
उत्तम इमि उपमा अहै, तासु धनंजय राय। तो सद्गुन मय देह तब, कहो और कहँ जाय ॥२१७॥

उत्तम अति आचार, धरहिं शुद्ध जो सत्त्व गुन । भोग क्षेम आधार, जो शरीर को त्याग करि ॥२१८॥
इहि विधि तें जो देह तजि, सत्त्व मूर्ति बनि जाय । अधिक कहा बरनन करैं, ज्ञानी घर जनमाय ॥२१९॥
कहहु धनुर्धर भूप यदि, भूपपनहि ह्वै जाय । तो तिहि थल महँ ताहि कहँ, कहा न्यूनता पाय ॥२२०॥
किं बहु इततें दीप कहिं, अन्य ग्राम लै जाय । तो जैसे अर्जुन तहाँ, दीपक बनो रहाय ॥२२१॥
निर्मल सत की वृद्धि तिमि, ज्ञान अधिक अधिकाय । बुद्धि तरंगित होत तब, अर्जुन ज्ञान मँझाय ॥२२२॥
क्रम महदादिक तत्त्व पर, करि विचार मति धीर । आतम स्वरूपहिं लीन ह्वै, ज्ञान सहित रणवीर ॥२२३॥
छत्तिस में सैंतीसवो, चौबिस माँहि पचीस । तीन अवस्था माँहि जो, चौथो है अवनीस ॥२२४॥
यों सर्वोत्तम सर्व जो, प्राप्त एकता भाय । ताहि निरूपम देह को लाभ धनंजय राय ॥२२५॥
निरखु सत्त्व अरु तम गुनहि, दाबहि याहि प्रकार । जाहि समय रजगुन बढ़त, ताहि समय धनुधार ॥२२६॥
आपुनि कृति चहुँ ओर, जब शरीर वपु ग्राम महँ । जो मैं कहत ढिंढोर, ऐसे लच्छन प्रगट तिहिं ॥२२७॥
आँधी आतहि लै उड़े, वस्तु अनेक प्रकार । तिमि इन्द्रिय की विषय पर, सहज प्रवृत्ति पसार ॥२२८॥
समझ न अधमाचार इमि, करि पर नारी प्रीति । अरु बकरी के मुख सरिस, चरत रहत विपरीति ॥२२९॥
औरहु भारी लोभ बढ़ि, मन मानो आचार । जाहि न धारन कर सकै, सोई बचत विचार ॥२३०॥
उद्यम अरु आगे परैं, कैसहु काहु प्रकार । करहि धनंजय प्रवृति तहँ, हाथ न कबहुँ निकार ॥२३१॥
करहुँ अश्वमेधादि मख, वा इक रचि प्रासाद । ऐसी दुर्घट धुन पकरि, रहि वश होय प्रमाद ॥२३२॥
सरवर को निर्माण करि, किवा नगर रचाउँ । महारण्य में वाटिका, विविध विधान लगाउँ ॥२३३॥
इमि दुर्घट कृत हाथ गहि, अरु आरम्भहि जान । उभय लोक की प्राप्ति की, चाह न पुरत महान ॥२३४॥
सागर मानत हार अरु, आगी मोल विहीन । इतनी अभिलाषा प्रबल, याकी बढ़त नवीन ॥२३५॥
आशावश करि चाह, धावत आगे मनहि के । पूरी होत न आह, सब संसारहु लहन की ॥२३६॥
ऐसे ही रज गुन बढ़त, ये लच्छन दरसात । अरु ऐसी थिति के रहत, जब शरीर तजियात ॥२३७॥
यह सब गुन के सहित तब, पावत आन शरीर । पुनि मनुष्य की योनि ही, महँ जनमत रनधीर ॥२३८॥

सब सुखमय नृप मन्दिरहिं, यदि भिक्षुक प्रविशाय। तो राजा ह्वै जाय किमि, सुनु अर्जुन चित लाय ॥२३९॥
यदपि वृषभ श्रीमान गृह, जाय बरारहिं देश। तो तिहिं कड़वी ही मिलत, भोजन हेतु विशेष ॥२४०॥
अतः हाथ व्यापार के, निशि दिन नहिं विश्राम। अर्जुन तैसहि पाँति महँ, जनम लहत परिनाम ॥२४१॥
जो रज वृत्ति दहार महँ, डूबि मरन कहँ पाय। जो सकाम करि कर्म नर, तहाँ जाय जनमाय ॥२४२॥
औ' आगे तिमि सत्त्व अरु, रजस वृत्ति कहँ जीत। तब तम गुन उन्नति लहै, इहि प्रकार तें मीत ॥२४३॥
अरु तन में तिहि काल जो, बाह्य चिन्ह दरसात। कहत ताहि सुनु लक्ष्य दे, उत्तम विधि तें तात ॥२४४॥
जिमि रवि शशि तें हीन, रात अमावश गगन में। तैसहि जानु प्रवीन, ताको मन अज्ञान भरि ॥२४५॥
ज्ञान रहित अरु शून्य मन, तिमि अंतरहु तुषार। तहाँ नाम रहि जात नहिं, कौनहु बात विचार ॥२४६॥
छाँडत मृदुता बुद्धि इमि, कठिन न पाहन होय। अरु सुस्मृति इहि देश की, सीमं पार करि सोय ॥२४७॥
अन्तर बाहर देह महँ, भरि अविवेकाचार। एक मूर्खता ही करत, आलिंगन व्यापार ॥२४८॥
इन्द्रिय सन्मुख रहि खड़ो, अनाचार धरि रूप। ओर मरन पर्यन्त करि क्रिया तासु अनुरूप ॥२४९॥
दुष्कृति ही तें चित्त तिहिं, आनन्दित ह्वै जात। अवलोकत अँधियार में, जिमि उलूक वर तात ॥२५०॥
कर्म निषेधहि नाम तें, भलतहिं भरि मन चाव। अरु इन्द्रिय तिहिं विषय के, ओरहि धाय स्वभाव ॥२५१॥
जल्पहि बिना त्रिदोष बहु, बिन मद पिये मताय। बिना प्रेम भूलो फिरत, तैसे नर बौराय ॥२५२॥
चितहु जात निज थलहिं ते, परि न समाधि सुजान। मोह नशा तें होत वश, उनमत्तता महान ॥२५३॥
अतिशय बढ़ि तम आप, सम सामग्री सहित जब। अधिक कहा रिपुताप, ये लक्षण ऐसहि निरखि ॥२५४॥
यह प्रसंग यदि होय अरु, मरन पार जो तात। तो सब सामग्री सहित, तम गुन ही में जात ॥२५५॥
यदि सरसों जावे बयी, प्रथम तजहि निजरूप। बढ़ि बन तरु, तब फूलिहै, फलिहै निज अनुरूप ॥२५६॥
आगी तें दीपक करै, आगी देय बुझाय। पै दीपक लागै जहाँ, अग्निस्वरूप सुझाय ॥२५७॥
सङ्कल्पित निज गाँठरी, तम गुन की बँधि पार्थ। देह पतन पश्चात पुनि, तामस रूप यथार्थ ॥२५८॥
अधिक कहा करि मरन जो, तम वृद्धिन महँ पाय। तो पशु पक्षी तरु कृमिहिं इन योनिन जन्माय ॥२५९॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

अर्थ—सात्विक निर्मल सुकृत फल, राजस फल दुख जान ।
औ' तामस अज्ञान फल, इमि बरनत मतिमान ॥१६॥

याही कारन पाय जो, उपजि सत्त्व परिणाम । श्रुति समूह ऐसे कहत, सोई सुकृत ललाम ॥२६०॥
सात्विक-कृत फल सहजही, निर्मल सुख अरु ज्ञान । उपजत तहाँ अपूर्वहू, सात्विक गुणहि प्रमान ॥२६१॥
क्रिया राजसी जासु पुनि, फल इन्द्रायन जानि । देखि परत सुखरूप जो, फल दुख कडुव महान ॥२६२॥
निंबौली फल देखि, अन्तर विष बाहर सुघर । तिमि राजसहि विशेखि, क्रिया फलति तिमि दुखद फल ॥२६३॥
जितनहि तामस कर्म हैं, पीकहिं फल अज्ञान । जिमि बिषकंद लगाइये, विष अंकुर उपजान ॥२६४॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

अर्थ—ज्ञान उपजि गुन सत्त्व तें, लोभ रजोगुन जान ।
तम तें मोह प्रमाद अरु, उपज लहै अज्ञान ॥१७॥

अतः पार्थ जिमि दिवस को, कारन जानिय भानु । तैसहि कारन ज्ञान को, सत्त्वहिं जानु सुजानु ॥२६५॥
औ' तैसे ही लोभ को, कारन रज गुन जान । किंवा अपने बिसमरन, जिमि अद्वैत सुजान ॥२६६॥
ज्यों अज्ञान प्रमाद सब, मोह दोष समुदाय । इन्ह सब को कारन अहै, तम गुन हो नरराय ॥२६७॥
दरसायो सब बिलग करि, कर आमलक समान । सकल गुनहिं लखि लेहिं इमि, नैन विवेक सुजान ॥२६८॥
इन्ह रज तम गुन वृद्धि तें, पावत पतन महान । अरु सतगुन के बिन मनुज, ज्ञान न लहत सुजान ॥२६९॥
सकल अक्षि जिमि त्याग करि, थिति तुरीय स्वीकारि । तिमि इक सात्विक वृत्ति को, आजन्महि व्रतधारि ॥२७०॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अर्थ—ऊपर लोकहिं सात्विकी, राजस मध्य रहाय ।
अधम वृत्ति धरि तामसी, अधः पतन कहँ पाय ॥१८॥

यों जो सात्विक वृत्ति तें, करत सदा आचार । ते शरीर तजि स्वर्ग महँ, करत निवास उदार ॥२७१॥
जो करि तजत शरीर, इमि जो राजस आचरन । मृत्यु लोक महँ धीर, पावत मनुज शरीर सो ॥२७२॥
सुख दुख की खिचरी तहाँ, जेंवत एकहिं थार । मरन न चूकत कैसहूँ, किये अमित उपचार ॥२७३॥
अरु तिमि तम गुन आचरन, करि जो तजत शरीर । नरक भूमि हित गमन लहि, पत्र प्रवेश अधीर ॥२७४॥
ऐसी सत्ता ब्रह्म की, त्रिगुणात्मक जो पार्थ । दरसायो कारण सहित, करि के सुगम यथार्थ ॥२७५॥
निज स्वरूप की पूर्नता, आपन गुनहिं समान । देखत काज विशेष करि, तिहिं अनुकरन सुजान ॥२७६॥
जैसे स्वप्न नरेश बनि, अपर चढ़ाई देखि । विजय पराजय देखि पुनि, आपनि आप विशेखि ॥२७७॥
ऊरध मध्यरु अधः तिमि, भेद वृत्ति गुन माँहि । तो तजिये यह दृष्टि तो, शुद्धहिं ब्रह्म सुहाँहिं ॥२७८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

अर्थ—कर्ता अन्य न गुनहिं तजि, जब इमि द्रष्टा देखि ।
परे गुनन तें जानि सो, लहि मद्भाव विशेषि ॥१९॥

अब यह कथन किनार कसि, निरखु न तुम कछु आन । प्रथम कही इक बात जो, ताहि सुनहु धरि ध्यान ॥२७९॥
ये जानहु लहि ब्रह्म की, सत्ता लहै स्वभाय । देह निमित्तहिं पाय पुनि, तीनहुँ गुन उपजाय ॥२८०॥
ईंधन के आकार, जिमि आगी दरसात है । सब तरुवरहिं निहार, धरनि नीर आधार तिमि ॥२८१॥

दूधहि परिनत होत है, जैसे दधि आकार। कि यहु ऊख स्वरूप में, जिमि माधुर्य उदार ॥२८२॥
गुन त्रय अन्तःकरण युत, तनहू तिमि ह्वै जात। बन्धन को कारन अहै, यह यथार्थ है तात ॥२८३॥
यह अचरज उलझन इती, है परन्तु धनुधार। पावत नाहीं न्यूनता, मोक्ष करै संसार ॥२८४॥
निज निज धर्महिं त्रिगुन करि, देह कर्म विस्तार। गुणातीत पन माँहि तिमि, नहीं न्यून संचार ॥२८५॥
सुनहु सहज कैसे मिलति, मुकति कहौं तुम पाँहि। ज्ञान कमलवर भ्रमर तुम, मैं जानत मन माँहि ॥२८६॥
आत्म गुनन के जोग नहिं, अरु अलिप्त गुन माँहि। प्रथम कह्यो तिहिं तत्त्व को, मैं अर्जुन तुम पाँहि ॥२८७॥
ज्ञान मिलन पर जीव तिमि, ऐसे ही दरसात। जैसे जागृति पाय के, स्वप्न प्रपंच नसात ॥२८८॥
सरित तीर महँ मनुज रहि, निज प्रतिबिंबहिं देखि। नीर तरंगित होय जब, लिखि प्रतिबिम्ब विशेखि ॥२८९॥
नहिं बिसरहि निज काँहि, किंवा नट निज कुशलतहिं। निज कहँ भूलत नाँहि, गुण समूह लखि जीव तिमि।
जिमि ऋतुत्रय आकाश महँ, सदा होंहि विनशाहिं। पै आकाश अलिप्त रह, सदा सकल ऋतु माँहि ॥२९१॥
गुण महँ रहि गुण तें परे, स्वात्मरूप रतिमान। मूल स्वरूपहिं माँहि तिहिं, अहं भाव बसि जान ॥२९२॥
अहहुँ अकर्ता साक्षि मैं, अरु कहि तहाँ निहार। वह गुण क्रिया समस्त कहँ, नियमन करौं उदार ॥२९३॥
सत रज अरु तम कर तहाँ, करम भेद विस्तार। अरु उपजत सब गुनहिं तें, सकल क्रिया सविकार ॥२९४॥
सुन्दरवन को हेतु जिमि जानिय सुऋतु बसन्त। इमि अलिप्त इन माँहि मैं, मानु सुभद्राकन्त ॥२९५॥
दिनपकान्त मनि उदित करि, तारागन लुपि जाय। करहिं प्रफुल्लित कमलदल, अँधकार नसि जाय ॥२९६॥
दिनकर जैसे करत नहिं इन महँ कौनहुँ काज। तैसहि मैं करता नहीं, सत्ता रूप विराज ॥२९७॥
देखत मोहिं दिखात गुन, सब गुन कहँ मैं पोष। अरु सब के निःशेष तें, मैं इक दोष अदोष ॥२९८॥
उदय होय जिहिं पार्थ, ऐसहि भाँति विवेक को। ताही माँहि यथार्थ, गुणातीतता रहहि यह ॥२९९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्थ—जो तन में त्रय गुन उपजि, तिहि नहिं जीव स्वभाय।
जन्म जरा दुख मरन तें, छूटि मोच्छ कहँ पाय ॥२०॥

जो अब निर्गुन ब्रह्म कहँ, इमि निश्चिय तें जान। सो ज्ञानहि को तिलक है, ताही पर मतिमान ॥३००॥
अधिक कहा इहि भांति की, अर्जुन सत्ता मोर। जैसे सागर जाय करि, सरिता तजत हिलोर ॥३०१॥
नलिकहिं तजि अरु शाख बसि जिमि शुक भ्रान्ति विहीन। अहं ब्रह्म के बोध तिमि गुन तें पृथक प्रवीन ॥३०२॥
जो निद्रा अज्ञान महँ, सोवत घोर अथोर। आत्म स्वरूप प्रबोध तें, जागृति लहत बहोर ॥३०३॥
दर्पण जो बुधिभेद वपु, तिहिं करतें गिर धीर। मुखाभास तें मुक्तता, पावत सो रन धीर ॥३०४॥
अब शरीर अभिमान को, वहति न वीर समीर। सो जीवेश तरंग यह, मिलति सिन्धु गम्भीर ॥३०५॥
बहुरि पाय मद्रूपता जिमि पावस ऋतु अन्त। उपजहि नभ महँ घन घने पुनि नभ महँ बिनशन्त ॥३०६॥
यदि यथार्थ मम रूप ह्वै, करहिं देह महँ वास। तो तर्न में उत्पन्न गुन, कछु लहत न त्रास, ॥३०७॥
जिमि प्रकास न रुकाय, पाँच भवन महँ दीप धरि। किंवा नहीं बुझाय, जिमि वडवानल सिन्धु महँ ॥३०८॥
गुन के आवागमन तें, ज्ञान न तासु मलीन। जीव बिलग जिमि चन्द्र नभ, जल तें बिलग प्रवीन ॥३०९॥
गुनहु तीन निज निज बलहिं बहुविधि तनहिं नचाय। अरु कौतुक हित रूप निज देखन नहीं पठाय ॥३१०॥
अन्तर आत्मा तासु पुनि, ऐसे अचल रहाय। अरु शरीर आचरन कहँ, जानत नहीं स्वभाय ॥३११॥
उरग काँचुली छाँडि निज, भाग जात पाताल। त्वचा सँभारत कौन सो, तिमि ज्ञानी को हाल ॥३१२॥
कमल कली कुम्हलाय जब मिलि सुगन्ध आकास। जिमि आवत नहिं बहुरि ते कमल कोश के पास ॥३१३॥
आत्म स्वरूपहिं एक ह्वै, जैसहि पुरुष सुजान। तहां देह के धर्म किमि, कैसे ताहि न जान ॥३१४॥
जनम जरा मरनादि जे, षट् गुन कहँ समस्तु। देहहि ते सम्बन्ध तिहि, जीवहिं तें नहि अस्तु ॥३१५॥
घट नभ घर परिछिन्न, घट फूटत खपरी बनै। निज स्वभाव आसन्न, महदाकाश स्वरूप ह्वै ॥३१६॥
काया बुद्धिहिं नसत तिमि, आपहि आत्म-स्वरूप। ताहि सिवाय न आन कछु कतहुँ अहै वरभूप ॥३१७॥
यद्यपि तनधारी अहै, पै जिहि अन्तर ज्ञान। कहत ताहि मैं पार्थ मुनि, गुणातीत मतिमान ॥३१८॥
घन गर्जन सुनि मोर मन मानत सुख गत पीर। समाधान लहि पार्थ तिमि, सुनि प्रभुवचन गँभीर ॥३१९॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्थ—कहा चिन्ह त्रय गुनन तें, जे अतीत भगवान ।
बहुरि कवन आचार तें, नांघत त्रिगुन सुजान ॥२१॥

किन चिन्हन तें जानिये, जहँ बसि ऐसो ज्ञान । अर्जुन पूछत तोपयुत, कहिये श्रीभगवान ॥३२०॥
गुनातीत किमि आचरै, कैसे गुन निस्तार । यह कहिये करिके कृपा, आप कृपा आगार ॥३२१॥
अर्जुन के ऐसे वचन, सुनि पुनि श्रीभगवान् । बोले बैन गँभीर अति, सुनु अर्जुन धरि ध्यान ॥३२२॥
ऐसे अनुचित प्रश्न तुम, काहे पूछत तात । गुणातीत यह नाम सत, इमि असत्य ह्वै जात ॥३२३॥
गुणातीत जस नाम सो, होत न गुन आधीन । किंवा रहि गुनमाँहि पर, वश नहिं होत प्रवीन ॥३२४॥
गुण हलचल के बीच रहि, है ताके आधीन । अथवा नहिं आधीन सो, किमि जानिये प्रवीन ॥३२५॥
या की शंका यदि तुमहिं तो पूछहु सुख पाय । करहुँ निरूपन तासु को, सो सुनिये चित लाय ॥३२६॥

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

अर्थ—कर्म प्रवृति वा मोह यदि, हों प्रवृत्त नहिं द्वेप ।
अरु निवृत्ति की चाह कछु, ज्ञानहिं पार्थ न शेप ॥२२॥

यदि रजगुन बल पाय तनु, कर्माङ्कुर उपजाय । तो प्रवृत्ति के पंथ में, अर्जुन तिहिं लै जाय ॥३२७॥
कर्ता हौं मैं कर्म को, ऐसो नहिं अभिमान । किंवा कर्म विनाश तें, बुद्धि न बिगरति जान ॥३२८॥
किंवा सत्त्व बढ़ै जबहि, इन्द्रिय ज्ञान प्रकास । पै इमि उत्तम ज्ञान तें, हसत न फूलत भास ॥३२९॥

किंवा जो बढ़ि जाय तम, नहिं भ्रम मोह विकार । दुखी नहीं अज्ञान तें, अरु तिहिं नहिं स्वीकार ॥३३०॥
जिहि अवसर लहि मोह तम, चाह न राखत ज्ञान । कर्म तजत नहिं ज्ञान में, दुखी न होत सुजान ॥३३१॥
साय प्रातः मध्यदिन, गणना तीनहुं काल । रवि न करत तिमि तन विषय, गुणातीत को हाल ॥३३२॥
अवर ज्ञान तें ताहि की, ज्ञान पूर्ति किमि होय । वरसा जल तें पूर्णता, किमि सागर की सोय ॥३३३॥
किंवा कर्म प्रवृत्ति तें, कर्मठता तिहिं जान । कहु किमि हिमगिरि हिमहि तें, कंपित होय सुजान ॥३३४॥
ज्ञान लहहि किमि नास, किंवा उपजहिं मोह जब । अग्नि जरत सहि त्रास, कबहुँ ग्रीष्म तें पार्थ किमि ॥३३५॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

अर्थ—गुन सन लहत विकार नहिं, उदासीन आसीन ।
करत न सो गुन करत गनि, थिर निज रूप प्रवीन ॥२३॥

यही काज गुन अगुन तिमि सब आपहिं हो जाय । अतः मिलै वा जाय परि सुख-दुख नहिं उपजाय ॥३३६॥
यह प्रतीति के सहित सो इहि विधि वसत शरीर । पथिक चलत पथ पंथ बसि तैसहि बसि तन धीर ॥३३७॥
विजय पराजय जान नहिं जिमि रनभूमि निसान । कर्ता नहिं तिमि गुन नहीं, इमि मानत मतिमान ॥३३८॥
आगत ब्राह्मण अतिथि घर, किंवा तन महँ प्रान । उदासीन ही रहत जिमि, चौपंथहि रहि थान ॥३३९॥
गुन के आवागमन तें, विचलित होत न वीर । जिमि मृग जल की लहर तें, मेरु अचल मतिधीर ॥३४०॥
यह अति किमि बोलै पवन गगनहिं सकि न हिलाय । अंधकार लीलत नहीं कबहू रवि कहँ धाय ॥३४१॥
जैसे जागृति के समय, स्वप्न दशा नहिं पाय । तैसे ज्ञानी पुरुष को, गुन नहिं बाँधि सकाय ॥३४२॥
गुन कर वश निश्चय नहीं, कौतुक लखि रहि दूर । कठपुतरी सम दोष गुन, सो जिमि दर्शक शूर ॥३४३॥
आचारै सुखरास, सत्कर्महिं सात्विक गुणहिं । रज तें भोग विलास, तम ते मोहादिकन को ॥३४४॥
निश्चय यह जिमि जानि रवि साची जग व्यवहार । तिहिं सत्ता ते होत तिमि सब गुन क्रिया अपार ॥३४५॥
चन्द्र उदय तें सिन्धु भरि सोमकान्त द्रवि जाय । और कुमुद गन बिकसि सब आपुहिं आप स्वभाय ॥३४६॥

नभ महँ रुकि वा चलि पवन, पै निश्चय आकाश। गुन की गड़बड़ गाढ़ तें, डुलत नहीं सुखराश ॥३४७॥
इहिं प्रकार लच्छन सकल गुणातीत के जान। अब तिहिं के आचरन किमि सुनु सब कहौं बखान ॥३४८॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

अर्थ—सम दुख-सुख, थिर स्वात्म महँ, सम मृद स्वर्न पखान।
निन्दा नुति प्रिय अप्रियहु, धीरहिं सकल समान ॥२४॥

सूत सिवाय न वसन कछु, अंतर बाहर पार्थ। मद्रूपहिं सचराचरहिं, निरखत सकल यथार्थ ॥३४९॥
श्रीहरि देवहिं मुक्ति जिमि निजरिपु भक्त समान। तिमि सुख-दुख इमि आचरन करत समानहिं जान ॥३५०॥
औरहु ऐसहुं तो सहज, सुख-दुख तैसहिं सेय। देह रूप जल माँहि जिमि, मीन बसै कौन्तेय ॥३५१॥
अब तन को अभिमान तजि, ह्वै कर आत्मस्वरूप। बीज बोय तरु धान के, अन्त बीज पकि भूप ॥३५२॥
जब मिलि जात महान, किंवा गंगा सिन्धु महँ। आपहिं मिटत सुजान, ताको तब फल रव सकल ॥३५३॥
अर्जुन आतम-स्वरूप महँ, तासु चित्त लवलीन। तन महँ रहि सुख-दुःख की, बाधाहू तें हीन ॥३५४॥
जैसहि दिन अरु रैन दुहुँ खंभहि एक समान। तिमि तन में रहि आतम कहँ सुख दुख सम ही जान ॥३५५॥
जैसे निद्रित अंग अहि, अरु उर्वशी समान। आतमरूप महँ थिति पुरुष, कहँ सुख दुख सम मान ॥३५६॥
अतः मान नहिं भेद कछु, गोबर कंचन माँहि। रतन और पाखान महँ, अन्तर मानत नाँहि ॥३५७॥
धामहिं आवहिं स्वर्ग सुख, किंवा आवहिं बाघ। आतमबुद्धि पर भंग नहिं, नहीं कदापि निदाघ ॥३५८॥
जीवित होत न मृतक जिमि बीज जलो न उगाय। साम्य बुद्धि तिमि उपजि के भंग न होत स्वभाय ॥३५९॥
जो ब्रह्मा इमि नुति करै वा निंदहिं कहि नीच। पै न जानि यह राख जिमि जली-बुझी वा बीच ॥३६०॥
निन्दा औ नुति उभय तिहिं, किंचित परत न जानु। अँधियारे वा दीप की, बात न जिमि गृह-भानु ॥३६१॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

अर्थ—समहि मान अपमान जिहिं, अरु रिपु मित्र समान ।
सर्वारंभहि तजत सो, गुणातीत कहि जान ॥२५॥

कहि तसकर दे मार, वा ईश्वर कहि पूजिये । करि राजा धनुधार, वृष गज रथ बैठारिये ॥३६२॥
किंवा आवहि सुहृद ढिग, वा बैरी बसि आलु । पै जैसे जानत नहीं, दिन अरु रैनहिं भानु ॥३६३॥
छह ऋतु रहि आकाश महँ, पै जैसे न लिपाय । तैसहि मन की विषमता, ता कहँ नहिं समभाय ॥३६४॥
अर्जुन ताके माँहि इक, यह औरहु दरसाय । सो कौनहु व्यापार को, करत न कछू सुभाय ॥३६५॥
सर्वारम्भहिं तजि रहत, प्रवृति पन्थ ते दूर । ज्ञानवान के कर्मफल, सब जर जावें शूर ॥३६६॥
उभय लोक के विषय जिहिं नहिं मन माँहि विचार । परि स्वभाव तें मिलहि जो तिहिं तैसहिं आचार ॥३६७॥
सुख दुख जो मानत नहीं, जैसे रहि पाषान । तैसे सब व्यापार कहँ, मन तें तजत सुजान ॥३६८॥
अब कितनो विस्तार यह, इमि जाको आचार । गुणातीत ताको कहत, मूर्तिवंत धनुधार ॥३६९॥
अर्जुन गुन को अतिक्रमन जिहिं जतनहिं धनुधारि । कृष्णनाथ कहि तिहिं कहौं अब सुनिये चितधारि ॥३७०॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

अर्थ—मन कहँ एकनिष्ठ करिय, भक्तियोग मम सेय ।
ते इहिं गुन गन नांघि जग, ब्रह्मभाव लहि लेय ॥२६॥

चित्त रहित व्यभिचार, भक्तियोग जो सेय मम । सब गुन तें निरवार, पाय सकै अर्जुन सुभग ॥३७१॥
कहा भक्ति कैसे करिय, अव्यभिचार कहि काँह । यह सब निश्चय तें कहौं सो अब सुन नरनाह ॥३७२॥
अर्जुन अब सुनु मैं अहौं, ऐसे यह संसार । जैसे मनि अरु मनि प्रभा, एकहिं अहैं उदार ॥३७३॥
कि यहु द्रवता नीर महँ, आकाशहिं अवकाश । अरु मिश्री महँ मधुरता, आन नहीं सुखराश ॥३७४॥
जिमि कृशानु अरु ज्वाल इक दलहि कमल को नाम । पान फूल अरु शाख जिमि तरुवर को परिनाम ॥३७५॥

जिमि हिम अरु हिमवास थल, एक हिमालय जान। किंवा दूध जमाइके, तिहिं दधि कहत सुजान ॥३७६॥
यह सब मद्रूपहि अहै, जासु नाम संसार। चन्द्रकला जिमि चन्द्रतें, बिलग नहीं निरधार ॥३७७॥
जिमि घृत जमि नहिं पिघलि जय, तबहूं घृतहीं जान। किंवा कंकन बिन गले, कंचन ही मतिमान ॥३७८॥
जैसे चीर न उकलि परि, तन्तुहिं सहज सुजान। अरु बिन फूटे ही घटहु, जिमि मृत्तिका प्रमान ॥३७९॥
अहह विश्वपन जाय तब पुनि मो कहँ प्राप्त करि। तैसो नहीं स्वभाय, मैं ही सब जग सहित हौं ॥३८०॥
अव्यभिचारिनि भगति कहि, जो इमि मो कहँ जान। जग अरु मो महँ भेद लखि, सो व्यभिचारिनि मान ॥
याही कारन भेद तजि, धारि अभेदहिं चित्त। मैं आपहि जग महँ भरयो, ऐसो जानहु नित्त ॥३८२॥
अर्जुन कंचन टीक जो, कंचन लगी निहार। सो एकहिं तिमि जगत अरु, मोंहि न बिलग विचार ॥३८३॥
जिमि दिनकर तें किरन कढ़ि, तेज स्वरूप निहार। अहहिं बिलग नहि सूर्य तें, तैसहि जान उदार ॥३८४॥
जैसहि रजक न धरनि महँ हिमकन हिमगिरि जान। तिमि मम महँ निजरूप लखु, अर्जुन मान सुजान ॥३८५॥
यदि तरंग अति लघु अहैं, परि न उदधि तें भिन्न। तैसहि ईश्वर में अहौं, आन न गनि अवछिन्न ॥३८६॥
यों सर्वत्रहि एकता, जाकी दृष्टि प्रकाश। अर्जुन मैं ताको कहत, भक्त नाम सुखराश ॥३८७॥
औ सर्वोत्तम ज्ञान थिति, ऐसहि दृष्टिहिं जान। सकल योग को सार यह, है अर्जुन मतिमान ॥३८८॥
सकल ओर ब्रह्माण्ड, तिमि त्रिपुटी परमात्म है। बरसा होत अखण्ड, सिन्धु और घनधार मधि ॥३८९॥
किंवा कूपाकाश मुख, जोड़ नहीं आकाश। परम पुरुष तें भक्त तिमि, ऐक्यभाव सुखराश ॥३९०॥
सदा बिंब प्रतिबिंब लगि, जैसे सूर्य प्रकाश। अहं ब्रह्म की वृत्ति तिमि, एक ब्रह्म जग भास ॥३९१॥
ऐसहि तिहिं मम ईश लगि सोहं वृत्ति प्रसार। तब तिहिं वृत्ति समेत निज लय लहि ईश मँझार ॥३९२॥
जैसहि सैन्धव को रवा, सिंधु माँहि नरराय। गलत आपुही आप पुनि, गलि के ही रहि जाय ॥३९३॥
जैसहि अनल जराय तृन अनल समेत बुझाय। भेद नाश करि ज्ञान तिमि, आपहि स्वयं नशाय ॥३९४॥
अतिशय दूरहि मैं अहौं, अरु रहि भगति समीप। परि अनादि जो एकता तैसहि रहति महीप ॥३९५॥
गुन अब जीतों पार्थ यह, रहत नहीं कछु बात। ऐक्यभाव की प्राप्ति तें, सरलभाव रहि जात ॥३९६॥
अधिक कहा ऐसी दशा, ब्रह्म-दशा कहि जात। भजत मोहिं मर्मज्ञ जो, सो ही पावत तात ॥३९७॥

अहैं भक्त संसार, इन लच्छन तें युक्त जो। ताकी अहै उदार, पतिव्रता यह ब्रह्मता ॥३९८॥
गंग प्रवाहहि नीर बहि ता कहँ सिन्धु सिवाय। गति न आन कछु जान जिमि ऐसहिं इत नरराय ॥३९९॥
ज्ञान नयन तें तैसही, मम सेवन करि पार्थ। होय ब्रह्मता के मुकुट, को मणि सोय यथार्थ ॥४००॥
कहत मुक्ति सायुज्य इहिं, ब्रह्म प्राप्ति कहँ तात। अरु चौथो पुरुषार्थहू, जासु नाम कहि जात ॥४०१॥
यों आराधन सीढ़ियो, ब्रह्म प्राप्ति की जानि। अरु मो कहँ साधन गनहु, जो कदापि धनु पानि ॥४०२॥
ऐसहि कबहूँ कल्पना, तुम निज चित्त न लाय। ब्रह्म आन नहिं है कहूँ, अर्जुन मोंहि सिवाय ॥४०३॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

अर्थ—नाश रहित अविकार अरु, सुख अखंड जो पार्थ।
ब्रह्म सनातन धर्महू, की मैं मूर्ति यथार्थ ॥२७॥

अर्थहु ब्रह्महु नाम को, सो मैं ही धनुधार। अरु इन शब्दों को कथन, मेरो ही निरधार ॥४०४॥
अरु शशि मंडल चंद्रमा, दो नहिं पांडुकुमार। तैसहि मम अरु ब्रह्म महँ, नहीं विभेद निहार ॥४०५॥
अतुल जोग आवरन बिनु, सुख अरु धर्मस्वरूप। अद्वितीय निष्कम्प अरु, नित्य ब्रह्म नरभूप ॥४०६॥
जिहि स्वरूप महँ ज्ञान नसि अज्ञानहिं होय लय। किमि करि अधिक बखान, मैं असीम सिद्धान्त सों ॥४०७॥
जो प्रेमी इकनिष्ठ को, केशव जगदाधार। कथन कियो इहिं पार्थ तें, पार्थ सुन्यो अवधार ॥४०८॥
संजय ते धृतराष्ट्र कहि, को पूछत यह बात। वृथा कथन तुम करत जो, मो कहँ नहीं सुहात ॥४०९॥
सजय मम सब शमन करु, कहहु विजय की बात। तब संजय मन में कहत, विजय बात तजु तात ॥४१०॥
संजय विस्मित मानसहिं, धन्य कथा सरसाहि। कहत दैव किमि युद्ध की, चर्चा रोचक याहि ॥४११॥

कृपासिन्धु सन्तुष्ट ह्वै, औषध रूप विवेक। दै इहिं नाशहि मोह वपु, महारोग अविवेक ॥४१२॥
संजय इमि मन चिन्त करि, पुनि संवाद सँभार। महापूर आनन्द को, तिहिं चित भयो अपार ॥४१३॥
तातें इहिं अब हर्ष को, आयो आविर्भाव। श्री मुकुन्द संवाद को, अब बरनहिं सद्भाव ॥४१४॥
सुनिय सुचित कहि निवृति के, ज्ञानदेव समझाय। धरहु आपके हृदय महँ, तिन्ह शब्दन के भाय ॥४१५॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भइलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर
श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-
ज्ञानेश्वर्य्यां चतुर्दशोऽध्यायः

शुभमस्तु

ॐ तत्सत् २



ॐ

पंचदश अध्याय



अरु अब अपने हृदयकी , चौकी चारु बनाय ।
तापर श्रीगुरु के चरण, पधराऊँ सुख पाय ॥१॥

अंजलि ऐक्य-सुभाव की, सर्वेन्द्रिय वपु फूल । भरि पुष्पांजलि अर्घ्य को, अर्पन करि अनुकूल ॥२॥
उदक अनन्यहि धोय निज, जो वासना स्वरूप । चंदन लाय अनामिका, लिपि तिहिं भक्ति अनूप ॥३॥
कंचन प्रेम स्वरूप की, नूपुर करि निर्मान । गुरु के कोमल चरन महँ, पहिराऊँ मुद मान ॥४॥
उत्तम एकाकार की, मुदरी दृढ़ अनुराग । श्री गुरुवर की अँगुरियन, पहराऊँ बड़भाग ॥५॥
आनँद रूप सुगंध अति, सात्विक कली स्वरूप । अष्ट कमलदल जो प्रफुल, धरि गुरु चरन अनूप ॥६॥
अह धूप यह जारि तहँ, नाहं दीप प्रकाश । आलिंगन करि साम्यरस, निर् अन्तर सुखराश ॥७॥
निज तन जिय करि पादुका, दुइ गुरु चरन पधार । भोग मोक्ष दुहुँ श्रीचरण, राई नोन उतार ॥८॥
गुरु पग सेवा येह, चहौं पात्रता तासु प्रभु । प्राप्ति करत न संदेह, सकल अर्थ वपु मोक्ष जो ॥९॥
इमि यथार्थ तें ज्ञान बढ़ि, ब्रह्मरूप विश्राम । जाके मुख के शब्द मनि, अमिय सिन्धु परिणाम ॥१०॥
जासु कथन रस तें तजिय, कोटि पूर्णिमा चंद । ऐसे तिहि मुख तें कढ़त, अक्षर मधुरानंद ॥११॥
आश्रित रवि दिशि पूर्ब है, जग सम्पत्ति प्रकाश । तिमि श्रोतहिं वच ज्ञान की दीपमालिका भास ॥१२॥
निनद ब्रह्म परि फीक तिमि, मोक्ष न सजि तिहि देखि । इमि सुयोग वर बोल लहि, गुरु सेवाहि विशेखि ॥१३॥
श्रवण सौख्य वपु मंडपहिं, जग सुख लहि ऋतुराज । तिमि वाचावपु बेलि बढ़ि, चहूं ओर नरराज ॥१४॥

सकल वचन मन सहित फिरि, जाको थल नहिं पाय्य । चमत्कार सो ब्रह्म तिहिं, वाणी वश ह्वै जाय ॥१५॥
जानत जिहिं नहिं ज्ञान ते, जो न ध्यान में आय । अगम अगोचर ब्रह्म सो, वचन माँहि प्रगटाय ॥१६॥
सहजहिं वाणी को मिलत, सो अर्जुन सौभाग । गुरूपद पदुम पराग लहि, जो संयुत अनुराग ॥१७॥
कीजिय वरनन व्यर्थ, ज्ञान देव कहि अधिक किमि। आज न अपर समर्थ मम सिवाय संसार महँ ॥१८॥
केवल इक गुरु राज को, मैं शिशु अहौं अजान। बहुरि कृपा को पात्र इक मैं ही भयो महान ॥१९॥
निरखि मेघहित चातकहिं, सब जल देत रिताय । मम ऊपर तैसहि करी, गुरूवर कृपा अघाय ॥२०॥
करउँ व्यर्थ मुख आपने, बड़ बड़ यदि अधिकाय । तो गीता माधुर्य यह, निकसे आप स्वभाय ॥२१॥
यदि सुभाग्य अनुकूल तो, बालू मनि बनि जाय । सबल होय आयुष्य तो, मारक लेत बचाय ॥२२॥
अमिय सरिस तंदुल बने, कंकर अँधन धराय । जगन्नाथ की यह कृपा, भोजन समय सुहाय ॥२३॥
यहि प्रकार यदि काहु को, श्रीगुरु करि स्वीकार । तो समस्त संसार बनि, मोक्ष स्वरूप उदार ॥२४॥
निरखि हीन थिति पांडवहिं, नारायण जगनाथ । विश्ववन्द्य तिन्ह कहँ कियो, गाय पुरानन्ह गाथ ॥२५॥
श्रीयुत नाथ निवृत्ति तिमि, सब अज्ञान निवार । दीन्ह योग्यता ज्ञान की, मो कहँ परम उदार ॥२६॥
अधिक कहा यह कथन तें, बाढ़त प्रेम प्रवाह । पावत श्रीगुरू गौरवहिं, अति आनंद उमाह ॥२७॥
गीता के अभिप्राय, अब मैं सब बरनन करौं । तुव संतन के पाँय, गुरु प्रसाद अब पाय मैं ॥२८॥
चौदहवें अध्याय के, अन्तहिं प्रस्तुत जोय । तिहिं निर्णय कैवल्यपति, इमि कीन्हो सुनु सोय ॥२९॥
जे इहि ज्ञानहिं प्राप्त करि मुक्तिहिं सोइ समर्थ । जैसे संपति यज्ञ सों, है सुख स्वर्ग तदर्थ ॥३०॥
किंवा जो शत जन्म भरि, ब्रह्म कर्म करि पार्थ । सो निःसंशय प्राप्त करि, ब्रह्मा को पद सार्थ ॥३१॥
नयन, बान ही प्राप्त करि, जैसे भानु प्रकाश । तैसे जो ज्ञानी अहै, लहै मोक्ष सुखराश ॥३२॥
ज्ञान मिलन की योग्यता, किहिं के अंग उदार । सो निरखहु संसार में, एकहि बात विचार ॥३३॥
नैननि अंजन लाय करि, लखि पाताल निधान । परि लोचन तिहिं चाहिये, जो पाँयाल सुजान ॥३४॥
ज्ञानहिं तें सो मोक्ष लहि, शंक नहीं मन आन । परि चाहिय मन शुद्ध थिर, ऐसी थिति लहि ज्ञान ॥३५॥
यह विचार करि देव इमि, सिद्धान्तहिं निरधार । बिन विराग के ज्ञानकी, थिरता नहीं निहार ॥३६॥

भारत मन जयमाल, अब विरक्तता कौन विधि । निर्णय कियो भुवाल, यह हू श्री सर्वज्ञ हरि ॥३७॥
अहहि रसोई विष भरी, जानैं जेवन हार । तो उठि के तहँ ते चलै, तजि के परसी थार ॥३८॥
यदि अनन्यता जानिये, यह समस्त संसार । तो तिहि के पीछे लगत, दौरि विराग अपार ॥३९॥
पन्द्रहवें अध्याय महँ, किमि अनित्य संसार । वृक्षाकार निमित्त तें, वरनन कियो मुरार ॥४०॥
इतर भाड़ जिमि उकठि कर, सततहिं सूखत जात । तैसे यह संसार तरु, कबहुँ न सूखत तात ॥४१॥
गमनागमन नसाय जग, इहिं प्रकार करि हेतु । तरुरूपक की कुशल तहिं, करि निरूप खगकेतु ॥४२॥
ये मिथ्या ससार गनि, अहं भाव निजरूप । पन्द्रहवें अध्याय महँ, यातें कियो निरूप ॥४३॥
अब यह ग्रन्थ समग्र को, गर्भितार्थ विस्तार । उत्तम रीतिहिं सरलतहिं, वरनौं तिहिं अवधार ॥४४॥
जो पूनों शशि पूर्णता, सिन्धु महा आनन्द । अरु नरेन्द्र जो द्वारका, इमि बरनत सानन्द ॥४५॥
जानहिं पांडुकुमार, निज स्वरूप वपु गेह महँ । प्रतिबंधक निरधार, पंथहि विश्वाभास जो ॥४६॥
सो यह जगडवर अहै, अहै नहीं संसार । यह जानिये विशाल तरु, जाको अति विस्तार ॥४७॥
परि नहिं यह तरु के सरिस, उपरि डार, तर मूर । तातें आवत ध्यान नहिं, यह काहू के शूर ॥४८॥
जो तरु के जर में परै, कबहूँ अनल, कुठार । चाहे जेतो उच्च हो, जितनहु हो विस्तार ॥४९॥
सो टूटे जर तें तदपि, शाख सहित गिर जाय । कहाँ बात तिमि टूटिवो, सहज न यह तरु आय ॥५०॥
अर्जुन यह कौतुक कथन, अहै अलौकिक बात । नीचे ओरहिं जो बढ़त, यह विचित्र तरु तात ॥५१॥
कितिक उँचाई भानु की, जे जानी नहिं जात । किरनें नीचे प्रसरि तिमि, अचरज तरु जग तात ॥५२॥
ज्यों कल्पान्त-पयोधि तें, गगन व्याप्त ह्वै जात । व्याप्त होत तिम जगत सब, इक इहिं तरु ते तात ॥५३॥
कि बहु अथये भानु जिमि, रैन भरति अँधियार । तैसहि सब आकाश महँ, यह तरु भरि धनुधार ॥५४॥
चाखन को फल नाहिं, सूंघन को नहिं फूल इत । सो सब यह तरुछाँह, अर्जुन जो कछु जानिये ॥५५॥
या कर जर ऊपर अहै, यहि न उखारत वात । हरो भरो रहि सर्वदा, तेहि कारण यह तात ॥५६॥
ऊपर की यदि ओर जर, इमि सब कह्यो सुजान । परि नीचे की ओर हू, बहु मूलक तरु जान ॥५७॥
औ चौफेरहिं अति प्रबल, पीपल वड विस्तार । जिमि बीजहिं ते शाख को होत अपार पसार ॥५८॥

औरहु यह अर्जुन अहै, जो तरु सम संसार। परि जर नीचे ओर ही, अहै न यही प्रकार ॥५९॥
याकर ऊपर ओर ही, शाख समूह अपारु। देखि परै अर्जुन विपुल, या करि अति विस्तारु ॥६०॥
या के ही बल पवन चलि, गगन केर आधार। तीन अवस्था को उदय, यातें होत उदार ॥६१॥
एसो एक विशाल तरु, अर्जुन विश्वाकार। जानहु सो उपजत भयो, ऊरध मूल अपार ॥६२॥
अब यहि ऊरध मूल कहि, लच्छन कौन प्रकार। तासु अधोमुख-पन कहा, किंवा कैसी डार ॥६३॥
इहि तरु की सो काहि, कहिये नीचे मूल जो। ऊपर शाखा ताहि, सो कैसी अरु कौन है ॥६४॥
अरु यह इमि अश्वत्थ कहि किमि प्रसिद्ध लह नाम। आत्म-ज्ञान युत याहि किमि निर्णय कीन्ह ललाम ॥६५॥
इन सब उत्तम रीति तें, तुव अनुभव जिमि आय। करौ निरूपन ताहि को, सुस्पष्टहिं तिमि गाय ॥६६॥
सुनहु सुभग परि यह अहै, तुम्हरे जोग प्रसंग। धरहु सपदि मन के सहित, श्रवन माँहि सब अंग ॥६७॥
इमि परिपूरित प्रेम रस, जब यदु प्रभु कहि बैन। तब जनु धरि अवधान ही, अर्जुन भये सुखैन ॥६८॥
देव निरूपन अल्प लगि, श्रोतापनो प्रकाश। जिमि करि दशहू दिशिन को, आलिंगन आकाश ॥६९॥
कथन कृष्ण को सिन्धु यह, अर्जुन अपर अगस्त। अहह एक ही घूंट महँ, करि आचमन समस्त ॥७०॥
अमर्याद इमि पार्थ को, लखि प्रभु परम उमंग। मन मान्यो आनंद अति, धन्य कह्यो श्रीरंग ॥७१॥

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अर्थ——ऊपर जर, तर शाख कहि, ध्रुव अश्वथ संसार।
छंद पत्र जो जानि इहिं, सो वेदज्ञ उदार ॥१॥

सुनु अर्जुन सो ब्रह्म ही, इहि तरु ऊरध जान। जिहि तरु ही के हेतु तें, लखि ऊर्ध्वता सुजान ॥७२॥
नहिं यह भेद सुजान, जहँ मधि ऊरध अधः इमि। अर्जुन जासु ठिकान, अद्वैतहि की एकता ॥७३॥

सेवन विषय सिवाय जो, असौरभ्य मकरन्द । जो सुनियत नहिं नाद सो, स्वयं एक आनन्द ।।७४।।
आगे पीछे जिहिं वही, अरु इत उत दुइ पार । जो अदृश्य नहि दृश्य कछु, सब कहँ लखत उदार ।।७५।।
यह उपाधि को ओपना, ओपत ही धनुधार । नामरूप वपु जगत को, जाही तें विस्तार ।।७६।।
ज्ञाता ज्ञेय विहीन जो, है केवल इक ज्ञान । सूक्ष्म रीति तें भरि रह्यो, जो सब गगन महान ।।७७।।
नहिं कारन अरु काज नहिं, द्वैताद्वैतहु नाँह । जो आपुन ही आप को, जानत है नरनाह ।।७८।।
निर्मल ब्रह्महिं सत्य इमि, ऊरध तरु ससार । तिहिं अंकुर लहि मूल किमि, सो वरनौं धनुधार ।।७९।।
अरु यथार्थ कछु नहिं अहै, माया नाम प्रसिद्ध । किंवा संतति बांझ की, जैसे कथन विरुद्ध ।।८०।।
जो नहिं सत अरु असत तिमि सहि नहिं सकत विचार । ऐसो जासु प्रकार तिहिं कहि अनादि संसार ।।८१।।
घड़ी कियो जिमि बास, जो पेटी बहु तरर की । जग वपु घन आकास, सब आकारित वस्तु को ।।८२।।
अरु प्रपंच को चित्र जो, जगतरु बीज स्वरूप । अरु विपरीतहि ज्ञान को, दीप प्रकाशित भूप ।।८३।।
सो माया है ब्रह्म ढिग, ऐसी जैसी नाँहि । पुनि सो प्रगटित होत है, ब्रह्म प्रभावहिं पाँहि ।।८४।।
निद्रा आपहि आप कहँ, आपहिं मुग्ध बनाय । किंवा काजल मंद करि, दीप प्रभहिं नरराय ।।८५।।
स्वप्नहि प्रियतम संग तिय, सोवत वेगि जगाय । आलिंगति आलिंग विन, कामातुरता पाय ।।८६।।
उपजि ब्रह्म तें प्रकृति तिमि, अरु स्वरूप अज्ञान । प्रथम मूल जग रूख को, यह जानहु मतिमान ।।८७।।
आत्मस्वरूपहि विस्मरन, माया महँ उपजाय । बीज भाव कहि याहि को, वेदान्ती समुदाय ।।८८।।
घन सुषुप्ति अज्ञान को, कहि बीजांकुर भाय । तहँ जागृति अरु स्वप्न के, फल भावहिं कहि जाय ।।८९।।
इमि वरनन शैली अहै, वेदान्ती गन माँहि । किन्तु तजिय परि सिद्ध यह, सब अज्ञान जनाँहि ।।९०।।
अध ऊरध कढ़ि मूल, आभा निर्मल ऊर्ध्व तिहि । दृढ़ बाधत अरिशूल, आपहिं माया योग तें ।।९१।।
अरु सदेह उठि भिन्नता, अकुर प्रथम अपार । सो चहुँ ओरहि अकुरित, नीचे परि विस्तार ।।९२।।
ऐसहि जगतरु मूल यह, बलकहि ऊपर ओर । अंकुर के समुदाय बहु, प्रगटत नीचे ओर ।।९३।।
ज्ञान स्वरूपी वृत्ति जो, प्रथम हिये उपजाय । कोमल विकसित पत्र इक, तहँ ते कढ़ि नर राय ।।९४।।
अरु सत रज तम त्रिविध इमि, एकहि जो हंकार । सो अंकुर त्रय पान को, फूटि अधोमुख द्वार ।।९५।।

धारन करि बुधि शाख को, भेद अनेक बढ़ाय । मन स्वरूप बढ़ि शाख तहँ, हरो भरो पनपाय ॥९६॥
कोमल रसतपु भेद तिहि, दृढ़ता लहि इमि मूल। चित्त चतुष्टय शाख के, अंकुर लहि अरि शूल ॥९७॥
गगन पवन अरु अनल जल, धरनि पाँच यह तत्त्व। महाभूत के वेगतें, प्राप्त करत सरलत्व ॥९८॥
श्रोत्रादिक तिहिं विषयतिमि, अँग बसि पालन पाय। कोमलपत्र विचित्र यह, अर्जुन निकरत आय ॥९९॥
सुनन चाह अधिकाय, श्रवणांकुर बढ़ि दुगुन तब। सुनिकर अति हरषाय, इच्छा पूरन होत जब ॥१००॥
अंग लता त्वच पान के अंकुर परस स्वरूप। तहँ विकार लहि अधिक ते, धाय विविध नव भूप॥१०१॥
जब स्वरूपवपु पत्र कढ़ि, धाय सु दूरहि नैन। भली भाँति तब भास भ्रम, होत पल्लवित ऐन ॥१०२॥
औ' शाखा रसरूप बढ़ि, वेगहि विविध प्रकार। स्वाद चाह वपु जीभ के, पल्लव निकरि अपार ॥१०३॥
घ्राण वपुहि शाखा सुदृढ़, अंकुर गंध पसार। आन बसत दल लोभ को, तहँ आनंद उभार ॥१०४॥
अष्ट प्रकृति मन, बुधि, अहं, पाँचहु भूत महान। अवधि सकल संसार लगि, बाढ़त रहत सुजान ॥१०५॥
अधिक कहा विस्तार जग, इन्ह आठहूँ विभाग। पै सीपी आकार जिमि तिमि भ्रम रजतहि लाग ॥१५६॥
किंवा सिन्धु समान बढ़ि, तिहि तरंग विस्तार। तिमि अज्ञानहि मूल ते, ब्रह्महि वृक्षाकार ॥१०८॥
अब यह ही विस्तार इहि, यहही इहिं पैसार। जिमि अकेल नर आपहीं निरखि स्वप्न परिवार ॥१०८॥
अचरज तरुवर जोर, करि किनार सब वस्तु अब। कढ़ि अंकुर तर ओर, महदादिक तरु शाख तिहिं ॥१६०
ज्ञानी जो कहि याहि इमि, तरु अश्वत्थ विचार। सोऊ हम वरनन करत, ताहि सुनो धनुधार ॥११०॥
जो रहि एक समान नहिं, 'श्वं' कह कहत बिहान। वृक्ष प्रपंच स्वरूप यह, सो अश्वत्थ सुजान ॥१११॥
जिमि इक छन महँ मेघ के, बदलत नाना रंग। किंवा एक निमेष भर, मैं बिजुरी सब भंग ॥११२॥
किंवा किंचत कमल दल, पर जल नहि ठहरात। अथवा व्याकुल मनुजचित, जैसे नहीं थिरात ॥११३॥
याकी थिति तिमि जानिये, प्रति छिन पावत नास। तातें कहि अश्वत्थ इहिं सकल जगत गुन रास ॥११४॥
अहै नास अश्वत्थ इहिं, पीपल कहहि स्वभाय। परि श्रीहरि को है नहीं, अर्जुन यह अभिप्राय ॥११५॥
निरखि नीक मैं विषय गति, पीपल नाम बखान। परि इहिं लौकिक बात को, कहा हेतु मतिमान ॥११६॥
ग्रन्थ अलौकिक सुनहु यह, जो प्रस्तुत अत एव। जग तरु कहँ अश्वत्थ कहि, क्षणिकत्वहिं के भेव॥११७॥

ख्याति अहै संसार, अव्यय विषय कथाहि की। पै ऐसो धनुधार, गर्भित अर्थ विचार करि ॥११८॥
उदधि नीर जिमि वाक वपु घन शोषन करि जात। पुनि बरसत सरिता भरत, बहुरि सिन्धु मिलि जात ॥११९॥
सिन्धु बढ़त अरु घटत नहिं, परिपूरन दरसात। परि जब लगि नहिं भेद खुलि, मेघ नदी की तात ॥१२०॥
इमि यह तरु की उपज लय, चपल न जानी जात। अतः याहि अव्यय सदा, वेद पुरान बतात ॥१२१॥
ऐसहु दानी दान को, कारन संचय मान। तैसहि व्यय तें वृक्ष यह, अव्यय नाम सुजान ॥१२२॥
किं बहु रथ को चाक जिमि, अति वेगहि ते धाय। चाक न लागत धरनि महँ, ऐसो जान्यो जाय ॥१२३॥
औ' कालान्तर शाख तरु, टूटत प्रान स्वरूप। कोटि न अंकुर तिहिं थलहिं, औरहु निकरत भूप ॥१२४॥
इकहि शाख कब टूटि कब, कोटि शाख उपजाय। जैसे अभ्र अषाढ़ में, उमड़ि न जाने जायँ ॥१२५॥
उदित सृष्टि को नाश जिमि, महाकाव्य के अंत। तिमि उपजत विस्तार बनि, अपर सृष्टि अरिकंत ॥१२६॥
ज्यों संहार समीर, पड़ि प्रपंच प्रलयांत तन। तिमि कल्पादिहि वीर, प्रगटि पत्र समुदाय नव ॥१२७॥
इक मनु मन्वन्तर अपर, रवि शशि वंश पसार। पोर पोर जिमि ऊख तिमि,बढ़त विश्व विस्तार ॥१२८॥
जिमि कलियुग के अन्त गिर, चहुँ युग छाल शरीर। तब सतयुग वपु देह पुनि, उपजि डेवढ़ो धीर ॥१२९॥
चालू वर्ष बितात ही, नव सबत्सर आय। दिवस जात पुनि नव दिवस, जैसे जानि न जाय ॥१३०॥
जैसहि पवन झकोर की, संधि न निरखी जाय। तिमि कितनी उपजहिं गिरहिं, शाख न जानी जाय ॥१३१॥
इक तन अंकुर गिरत कढ़ि बहु तन अंकुर फेरि। इमि यह भव तरु उपजि नसि, 'अव्यय' नामहि टेरि ॥१३२॥
जिमि जल वेगहि बढ़त अरु, पीछे ते मिलि जात। नाशवत तिमि यह जगत, पै थिर मान्यो जात ॥१३३॥
किंवा लागत पलक तब, कोटिन उपजि नसात। जैसे सिन्धु तरंग नित, अज्ञानिहिं लखि आत ॥१३४॥
काग पुतलि की चपलतहिं, इक चलि दोऊ नैन। दोनों है इमि भ्रमवशहिं, जानत जगमति ऐन ॥१३५॥
कारन मूल सुजान, इमि जग अतिशय वेग तें। भौंरा भ्रमि थिर जान, जैसे भुवि गड़ि वेग अति ॥१३६॥
फेरि बनैटी वेग अति, अधिक कहा तम माँहि। जैसे आकृति ताहि की, चक्राकार दिखाहि ॥१३७॥
तैसे ये संसार-तरु, उपजत नसत सदाहि। यह न देखि जिमि भ्रमविवश, अव्यय समुझत ताहि ॥१३८॥
निरखि वेग परि वाहि को, जो इहिं छनक प्रमान। उपजत नासत निमिष महँ, कोटिन बार सुजान ॥१३९॥

इहिं मिथ्या अस्तित्व सब, हेतु न तजि अज्ञान । इमि जग तरु कहँ पूर्णता, जो जानत सज्ञान ॥१४०॥
अरजुन ताको कहत मैं, ज्ञानी अरु वेदज्ञ । अहै वेद-सिद्धान्त तें, वंदनीय सो तज्ञ ॥१४१॥
सकल योग फल जोमिलत, तिहिं एकहिं उपयोग । अधिक कहा मिलि ताहिं तें, ज्ञानहिं जीवन जोग ॥१४२॥
को तिहिं वरनन करि सकै अधिक कहा कहि जाय । जो जानत संसार तरु, को अनित्य नरराय ॥१४३॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा,
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि,
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अर्थ—शाख पसरि अध ऊर्ध्व तिहिं, विषय पान गुन जोर ।
जन लोकहिं फल कर्म तें, मूल फैलि तर ओर ॥२॥

अधः शाख तरु जो अहै, यह प्रपंच वपु घोर । बहुरि शाख बहु तासु कढ़ि, सीधी ऊपर ओर ॥१४४॥
जो शाखें नीचे पसरि, सो सब ह्वै करि मूरि । कढ़ि तिहिं नीचे ओर हू, लतिका पल्लव भूरि ॥१४५॥
ऐसो जो वरनन कियो, हम प्रथमहिं तुम पाँह । ताहि कहत अति सुगम करि, सुन मन दे नरनाह ॥१४६॥
ज्ञान स्वरूप सुजान, अति विशाल बहु वन सहित । बद्धमूल अज्ञान, तें उपजत अठविध प्रकृति ॥१४७॥
आदिहि स्वेदज जेरजहु, उद्भिज अंडज जान । अति विशाल चौशाल फुटि, परि तरु ते मतिमान ॥१४८॥
इन इक इक अंकुरहिं कढ़ि, लख चौरासी डार । अरु पुनि जीव अनेक वपु, शाखें निकरि अपार ॥१४९॥
सरल शाख तें उपजतीं, विविध शाख संसार । आड़ी शाखें जाति बहु, अर्जुन मालाकार ॥१५०॥
नारि, नपुंसक, पुरुष यह, व्यक्तिभेद टकसार । लहत स्वभावहिं भार ते, रूप विकार अपार ॥१५१॥
जैसे वर्षाकाल महँ, गगनहि घन उपजात । विस्तारित अज्ञान तें, तिमि अकार बहुजात ॥१५२॥
उरझि परसपर नवति पुनि, शाखें निज निज भार । जातें छोभ सरूप गुन, पवन उपजि धनुधार ॥१५३॥

अरु गुन छोभ अपार तें, यह तरु ऊरध मूल। ऊर्ध्व मध्य अध ओर त्रय, शाखें फुटि अरिशूल ॥१५४॥
इमि रजगुणी भकोर तें, अति आंदोलित होत। मनुज जाति की शाख जो, ऊपर होत उदोत ॥१५५॥
आडी शाख दिखात, अरु तामहँ चौवर्ण वपु। मध्यहि में रहि जात, सो नहिं ऊपर अधः नहि ॥१५६॥
उत्तम पल्लव डोलि नव, निज निज बल अनुसार। विधि निषेध तिहिं शाख पर, वेद प्रमान उदार ॥१५७॥
अग्र विभागहिं पत्र जमि, अर्थ काम विस्तार। छणिक भोग इहिं लोक अरु, अपरलोक धनुधार ॥१५८॥
कर्म शुभाशुभ के विपुल, अंकुर किते न जान। प्रवृति पंथ के लोभ बढ़ि, फूटहिं बहुरि सुजान ॥१५९॥
छिन्न आदि के भोग जब, गिर तन सूखी डार। तब ही नव तन वृद्धि के अंकुर उपजि उदार ॥१६०॥
औ' शब्दादि सहाय तें, सपजहि उपजे चाह। विषय स्वरूपहि पान लहि, नित्य नये नरनाह ॥१६१॥
इमि प्रचंड रज पवन तें, मनुज शाख समुदाय। इमि विस्तारित भूमि तिहिं, मनुज लोक कहि जाय ॥१६२॥
जब तिमि रजगुन रूपकी, छन भर रुकत समीर, पुनि तम गुन की घोर गति, पवन चलत मतिधीर ॥१६३॥
इहिं तरु शाखा के तरे, नीच वासना रूप। शाखें फूटि कुकर्म की, पुनि तिहिं पर अति भूप ॥१६४॥
अकुर कढ़ि तिहि काल, अरु कुपंथ वपु खर दरे। रूप प्रमाद प्रवाल, दलपल्लव अरु डार लहि ॥१६५॥
यजुः साम ऋग्वेद महँ, कहत निषेध प्रमान। अग्र भाग में ताहि के, डोलत किस लय जान ॥१६६॥
कह्यो अथर्वण वेद जो, परमारक अभिचार। बेलि वासना पान त्रय, को तहँ होत पसार ॥१६७॥
जिमि जिमि पसरत वासना, बढ़ि अकर्म को मूल। जन्म डार आगे बढ़त, धाय दौर अरि शूल ॥१६८॥
कर्म पतन की भूल तें, नीचादिक चांडाल। दूषित जात स्वरूप जो, बनत शाख को जाल ॥१६९॥
खग, पशु, शूकर, बाघ अरु, बीछी साँप अपार। आड़ी, टेढ़ी शाख के, अमित भुंड विस्तार ॥१७०॥
अर्जुन ऐसी शाखपर, नित नव पाय शरीर। निश्चय पावत नरक फल, सहत अमित दुख भीर ॥१७१॥
औ' आगे हिंसा करहिं, संग कुकर्म सँजोग। जन्मरूप अंकुर जमत, ऐसहि बढ़त कुजोग ॥१७२॥
ऐसे ही तरु और तृन, माटी लोह पखान। होत तासु अनुसार ही, फल लहि दुखद महान ॥१७३॥
सकल सुभद्राकंत, शाखें नीचे ओर बढ़ि। थावर योनि प्रयंत, सुनु मनुष्य की योनि तें ॥१७४॥
डार मनुज की योनि की, अधः मूल तिहिं जान। ताही तें संसार तरु, को विस्तार महान ॥१७५॥

अर्जुन ऊपर ओर यदि, देखहु मूल प्रधान । जो नीचे की शाख यह, बीचहि दिखहिं सुजान ॥१७६॥
दुष्कृत तम सात्विक सुकृत, इहिं परिपूरित शाख । मध्य शाख तें अधः अरु, ऊरध जात न माख ॥१७७॥
अरु त्रय वेद सुपान नहिं, लगि अन्यत्र सुजान । मनुजहिं तजि के इतर को विषय न वेद विधान ॥१७८॥
अतः मनुज तन शाख यह, यदपि ऊर्ध्व उपजाय । कर्म बुद्धि तें तदपि इहिं, नीचे मूल दिखाय ॥१७९॥
औरहु तरु की शाख बढ़ि, हेतु मूल दृढ़ जान । जिमि दृढ़ता बढ़ि मूल में, तिमि तरु होत महान ॥१८०॥
यह तन जब लगि तबहिं लगि, कर्म देह संसार । अरु जब लगि यह तन रहत, रुकि न सकत व्यापार ॥१८१॥
अतः मनुज तन मूल यह, मेटी जात न आन । ऐसेहि अर्जुन तें कहत, जगत पिता भगवान ॥१८२॥
जब तमगुनी सुजान, दारुन आँधी होत थिर । प्रबल घटा सत्रान, तब ही छूटत सतगुनी ॥१८३॥
नराकार यह मूल तें, सदवासना सरूप । कोमल अंकुर सुकृत के, आवत तामहँ भूप ॥१८४॥
कुसल बुद्धि के प्रखरपन, ज्ञान योग आधार । निमिष मात्र में शाख बहु, निकरि करति विस्तार ॥१८५॥
दृढ़ करि छालत फूर्ति कहँ, बुद्धि नोक विस्तार । अरु विवेक पर्यन्त करि, बुद्धि प्रकाश पसार ॥१८६॥
सरस समेधा गूढ़ अति, शोभित निष्ठा पान । अंकुर कढ़ि सद्वृत्ति के, सीधे तहाँ सुजान ॥१८७॥
सदाचार के उठत बहु, एकाइक टकसार । चहुँ ओरहि ध्वनि वेद पद, घुम घुमात धनुधार ॥१८८॥
शिष्टाचार विधान अति, बहुविधि याग विधान । ऐसे निकरत पान पर, पान अपार सुजान ॥१८९॥
इमि यम दम वपु गुच्छ बहु, उठि तप केरी डार । अरु तातें वैराग्य की, कोमलता विस्तार ॥१९०॥
अरु विशिष्ट व्रत कोपलें, तीखी नोक सुधीर । जन्म वेग तें ऊर्ध्व मुख, ऊँचे आवत वीर ॥१९१॥
जब लगि सत्त्व समीर, चलि प्रचंड तब लगि रहत । झड़ी सुविद्या वीर, फूटि पान घन वेद मधि ॥१९२॥
दरशि जन्म शाखा सरस, धर्म डार विस्तार । स्वर्गादिक फल की तहाँ, आडी निकरि उदार ॥१९३॥
धरम मोक्ष की शाख कढ़ि, पुनि उपरति रँग लाल । बढ़त रहत नित नूतनहिं, तिन्ह के पान प्रवाल ॥१९४॥
आड़ी शाखा के विविध, बाढ़त भेद नरेश । ऋषि विद्याधर पितरगण, रवि चन्द्रादि ग्रहेश ॥१९५॥
याहू तें ऊँचे लहें, अर्जुन फल के भार । इन्द्रादिक के लोक वपु, महाशाख विस्तार ॥१९६॥
अरु या ते ऊँची अधिक, शाखायुत तप ज्ञान । जो कश्यप मरिचादि ऋषि, यहाँ बसहिं मतिमान ॥१९७॥

यों शाखा पर शाख लगि, ऊपर ही विस्तार। अग्र भाग बड़ मूल परि, उत्तम बहु फलदार ॥१९८॥
ये शाखा के ऊपरहु, शाखा में फल लाग। अंकुर कढ़हिं सनोक बहु, विधि शिव रूप उदार ॥१९९॥
अरु फलभारहिं झुकहिं तरु, ऊपर तें दुगुनाय। झुकहिं यहाँ लगि पार्थ ते, लगहि मूल में आय ॥२००॥
इतर लहहिं फल भार, स्वाभाविक तरु शाख जे। सो झुकि के धनुधार, मूलहिं लागत आय करि ॥२०१॥
अर्जुन तिमि जिहिं थलहिं ते, यह जग तरु उपजाय। ज्ञानवृद्धि को पाय के, तिहिं मूलहिं लगि जाय ॥२०२॥
अतः शंभु अज तें परे, जीव बाढ़ कछु नाँहि। अरु ताके आगे पुनः, केवल ब्रह्म रहाँहि ॥२०३॥
किं बहु शिव ब्रह्मादि इमि, निज सामर्थ्य वशाहिं। ऊर्ध्व मूल जो ब्रह्म तस, समता करि न सकाहिं ॥२०४॥
औरहु ऊपर शाख जो, ख्यात नाम सनकादि। फल अरु मूल न तहँ कछु, पूरित ब्रह्म अनादि ॥२०५॥
इमि मनुष्य की शाख तें, जात ऊपरी ओर। ब्रह्मादिक की शाख जो, जानहु ऊंच अथोर ॥२०६॥
अर्जुन ऊर्ध्व अजादि की, मूल मनुष्यहि जान। ताते नीची शाख कहँ, याको मूल बखान ॥२०७॥
इमि अध ऊरध शाख यह, तुम्हहि अलौकिक तात। ऊर्ध्वमूल संसार तरु, की दरसायी बात ॥२०८॥
औ' नीचेहू मूल इमि, उत्पति कहि विस्तार। अब किमि लहि उन्मूलता, याहि सुनहु धनुधार ॥२०९॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा ॥३॥

अर्थ—आदिहु अन्त न रूप थिति, याहि न जानि अपार।
भवतरु दृढ जर छेदि इहिं, विरति शस्त्र दृढ धार ॥३॥

यों शंका उपजाय, अर्जुन परि तुव हृदय महँ। किमि साधन कहँ पाय, इमि विशाल तरु नाश हित ॥२१०॥
यह तरु शाखा ऊर्ध्व जो, ब्रह्मलोक लगि जान। निराकार में ही अहै, अरु इहिं मूल सुजान ॥२११॥

नीचे ओरहुँ याहि बहु, अधः शाख विस्तार। अपर शाख मध भाग में, मनुज स्वरूप निहार ॥२१२॥
इमि विस्तृत दृढवृक्ष को, को सकि अन्त कराय। ऐसी हलकी भावना, यदि तुम्हरे मन आय ॥२१३॥
याके उन्मूलन विषय, कहा परिश्रम होय। शिशु हौआ दूरी करन, दूर जात नहिं कोय ॥२१४॥
किमि गिराइये दुर्ग नभ, तोरिय शशक विषान। पुष्प लगहिं यदि गगन किमि, तोरिय संभव जान ॥२१५॥
अर्जुन तिमि संसार तरु, यह नहिं सत आकार। पुनि उन्मीलन ताहि के, किमि आयास विचार ॥२१६॥
जो हम बरन्यो मूल अरु, अमित शाख विस्तार। सो वन्ध्यासुत मरि रहे, जैसे गेह मँझार ॥२१७॥
स्वप्न कथन को काम करु, जागे पर मतिमान। तिमि यह भवतरु की कथा, सब निर्मूलहिं जान ॥२१८॥
जिमि हम कीन्ह निरूप, अचल मूल यदि याहि की। अरु तैसो नरभूप, यदि यह सत्यहि होति तो ॥२१९॥
को माता को पूत सो, जो तिहि सकति नसाय। कहिये कबहूँ गगन यह, फूंकन ते उडिजाय ॥२२०॥
अर्जुन तातें बरनियो, मैं तस माया रूप। जिमि कूर्मी-घृत ते करैं, कोउ आतिथ्य अनूप ॥२२१॥
जिमि मृग नीर सरोवरहिं, दूरहिं तेहि निहार। सो जल कदली धान के, उपयोगी न उदार ॥२२२॥
किमि सत ताको काज जब, असत मूल अज्ञान। ताते है संसार तरु, यह मिथ्या मतिमान ॥२२३॥
अरु न अन्त या वृक्ष को, ऐसो कथन सुजान। अर्जुन एक प्रकार तें, सॉच परत है जान ॥२२४॥
कैसे निद्रा-अन्त तब, जब लगि जागृति नाँहि। किवा रात सिरात कहुँ, जब नहिं प्रात जनाँहि ॥२२५॥
अर्जुन तिमि जब लगि न करि, ऊँचो माथो ज्ञान। भवरूपी अश्वत्थ यह, तब लगि अन्त न जान ॥२२६॥
जहँ कर तहँ जब लगि न रहि, अर्जुन चलत समीर। कहत अनन्त तरंगता, तब पर्यन्तहि धीर ॥२२७॥
नसि मृग जल आभास, अतः सूर्य के अस्त ते। पावत लोप प्रकास, किंवा दीपक के बुझे ॥२२८॥
नाश-अविद्यामूल है, जब लगि प्रगटि न ज्ञान। तब लगि अन्त न याहि को, अर्जुन ऐसहि जान ॥२२९॥
यह अनादि है लोक महँ, भाषत ताहि प्रकार। मिथ्या नाँही कथन सो, है तिहिं के अनुसार ॥२३०॥
कारन यह भव वृक्ष महँ, नहीं सत्यता जान। पुनि ताको नहिं आदि कछु, को आरंभहि आन ॥२३१॥
जो कतहूँ उपजत सही, तो सजि आदि बखान। जो न अहै ताकी उपज, कैसे आदि सुजान ॥२३२॥
तातें जन्म न जाहि को, कहहु मातु तस कौन। नहिं जनमत तातें कहत, ये अनादि मतिभौन ॥२३३॥

जनम पत्रिका किमि बनै, बांझ मातु सुत केर। नभ में नीली भूमिका, किमि कल्पना निबेर ॥२३४॥
गगन पुष्प की डंठली, तोरब कौन समर्थ। तातें नहि संसार तरु, कैसे आदि तदर्थ ॥२३५॥
जिमि घट की रचना बिना नहिं अस्तित्व प्रमान। तैसहि अहै अनादि यह, वृक्ष समूल सुजान ॥२३६॥
ऐसहि पार्थ निहार, आदि अन्त याको नहीं। सो व्यर्थहि धनुधार, परि मध्यहिं आभास जस ॥२३७॥
ज्यों गोदावरि ब्रह्मगिरि, तें पति सिन्धु मिलाय। आदि अन्त मृग जल न तिमि, मध्यहि वृथा दिखाय॥२३८॥
आदिहु अन्तहु कछु नहीं, सत्यहु कछू न आहि। पै अद्भुत मिथ्यापनहिं, प्रतिभासित समझाहि ॥२३९॥
इन्द्र धनुष बहु रंग तें, जिमि रंजित दरसाय। तिमि भवतरु अज्ञानवश, ही इमि जान्यो जाय ॥२४०॥
ऐसहि जगथिति के समय, भूलहि दृग अज्ञान। जग मनहर निज स्वाँग जिमि, बहुरूपिया सुजान ॥२४१॥
अरु गगनहिं नहिं नीलमा, पै भासित तिहि रंग। तदपि एक छिन लखि परत, उपजत पावत भंग ॥२४२॥
स्वप्नहि मिथ्या मानि पै, किमि रह एक समान। तैसे ही आभास यह, छिनमहँ विलय निदान ॥२४३॥
देखत में आभास पै, गहे न आवत हाथ। जिमि जल में प्रतिबिम्ब लखि, बानर इव ह्वै जात ॥२४४॥
उपजि नास जग तरु त्वरित, तडित पैंज नहिं पूर। सिन्धु तरंगहु भग ह्वै, कसत किनारो शूर ॥२४५॥
ग्रीषम अंतहि पौन, आगे पीछे लखत नहि। तिमि थिर नहि मगिभौन, यह जग रूपी तरु महा ॥२४६॥
आदिहु अन्तहु रूप थिति, इमि अस तरु की नाँहि। अब इहिं उन्मूलन विषय किमि आयास जनाँहि॥२४७॥
आपुन ही अज्ञान महँ, बढ़्यो न अहहि यथार्थ। आतम ज्ञान वपु शस्त्र तें, अब यह तोरहु पार्थ ॥२४८॥
आतम ज्ञान सिवाय तुम, जितने करहु उपाव। तितनो ही या वृक्ष तें, होत अधिक उरझाव ॥२४९॥
यह तरु ऊपर अधः पुनि, कितनी शाख महान। अतः मूल अज्ञान को, नासत सम्यक् ज्ञान ॥२५०॥
यदपि रज्जु तिहिं उरग गनि, तिहि मारन के काज। वृथा परिश्रम जानिये काठ खोज नरराज ॥२५१॥
नाँवहि धावत तरहु मैं, मृगजल रूपी गंग। वन नाला मधि डूबि परि, साँचहु पाय प्रसंग ॥२५२॥
जगतमृषा के निवृति हित, करियत वृथा उपाय। वायु विकोपित अग भरि, निज रूपहिं बिसराय ॥२५३॥
अतः स्वप्न के घाव की, औषधि जागव जान। अतः मूल अज्ञान की, ओषधि अस यह ज्ञान ॥२५४॥
अरु अभंग बलपूर, चहिय बुधिहिं तिमि विरतिनव। ज्ञान खड्ग कहँ शूर, जिमि लीलहिं धारनकरहिं ॥२५५॥

इतनी दृढ चाहिय विरति, तजि त्रिलोक के भोग । श्वान वमन तत्काल करि, जैसे त्यागत लोग ॥२५६॥
अर्जुन आवत ठीक जब अतिशय सकल पदार्थ । तब ही जानिय ताहि को, मिल्यो विराग यथार्थ ॥२५७॥
देह अहंता म्यान तें पुनि तिहिं पार्थ निकार । इक धारहि निज भुज धरहि, प्रत्यग् बुद्धि विचार ॥२५८॥
सिलहिं विवेक पजाय में, अहं ब्रह्म खरधार । पुनि पानी दै ज्ञान को, पूरन ऐक्य पसार ॥२५९॥
निश्चय करि परि मूठ बल, निरिखि एक दो बार । अतिशय निर्मल मनन करि पुनि संभारिय भार ॥२६०॥
निदिध्यास बनि ऐक्य मय करि निजबल हथियार । सन्मुख अपने हनिय जिहिं दूजो नहीं निहार ॥२६१॥
पुनि अद्वैत प्रकाश बढ़ि, आतम ज्ञान स्वरूप । भववृक्षहिं कौनहु थलहिं, नहीं यथावत भूप ॥२६२॥
शरद आगमन पवन जिमि, नसि अभ्रहिं आकास । किंवा तम को घूंट भरि, सूरज उदय प्रकास ॥२६३॥
जागत ही नसि जात नाना स्वप्न प्रपंच थल । तीक्ष्ण लगत तिमि तात आत्मा अनुभव धार असि ॥२६४॥
दिसत न मृग जल तहँ कहूँ, जिमि चाँदनी भुवाल । तिमि ऊरध तल अधः के, अमित शाख के जाल ॥२६५॥
ऐसे ही यह वीर वर, आत्म-ज्ञान असिधार । ऊर्ध्वमूल सह छेदिये, जग अश्वत्थ अपार ॥२६६॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं,
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये,
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

अर्थ—जहां जाय लौटत नहीं, तिहिं पद कर करु शोध ।
आदि पुरुष की शरण गहु, जेहि ते जग लहि बोध ॥४॥

ये जो हैं ताते परे, ख्यात अहंता हीन । आपहि आप स्वरूप को, निरख्यो चाहिय प्रवीन ॥२६७॥
दर्पन के आधार सों, एकहि द्वै दरसात । मुख पावत लखि मूढ जन, तिमि यह लखनि न तात ॥२६८॥
मुख निरखब ऐसो अहै, जिमि भिर कूपहिं नीर । कूपखनन तें प्रथम भरि, आपहि उमगत नीर ॥२६९॥

सूखत जल प्रतिबिंब रवि, निज बिम्बहि महँ जाय। घट फूटे घट को गगन, गगनहि माँहि समाय ॥२७०॥
किंवा ईंधन नसत जिमि, निज वपु लीन कृशानु। तैसहि अर्जुन निरखि निज, स्वय स्वरूप सुजानु ॥२७१॥
निजहि स्वाद जिमि जीभ चखि निज पुतरी लखि नैन। ऐसहि आप स्वरूप कहँ आपहि मिरखि सुखैन ॥२७२॥
गगन गगन महँ जिमि मिलत मिलत प्रकास प्रकास। किंवा मिलत जलाशयहि जल जाकर सुखरास ॥२७३॥
निज स्वरूप निरखहु स्वयं, यह अद्वैत प्रकार। यह निश्चय करिके कहत, हम तुम प्रति अनुसार ॥२७४॥
जानन बिन तिहिं जान, देखे बिनही देखु तिहिं। भाषत पुरुष पुरान, अर्जुन ताहि ठिकान को ॥२७५॥
करि अवलंब उपाधि पुनि, वरनत नाम स्वरूप। वृथा कथन यह वेद को, ब्रह्म विषय महँ भूप ॥२७६॥
स्वर्ग जगत तें ऊबि पुनि, योग ज्ञान अनुसार। बहुरि न जहँ ते जाँय तहँ, पैज मुमुक्षु उदार ॥२७७॥
जग तें आगे निकरि कै, पैज विरक्तहिं तात। कर्म पथहिं मिलि ब्रह्मपद, तिहिं तजि आगे जात ॥२७८॥
अहंतादि निज भाव कहँ, जीतहिं पार्थ समस्त। ज्ञानी निजपद प्राप्ति हित, विजयपत्र धरि हस्त ॥२७९॥
ये संसार परंपरा, जितनी जाहि ठिकान। भाग्यहीन की आश जिमि, बाढ़त व्यर्थ निदान ॥२८०॥
जाही के जाने बिना, भासत यह संसार। 'मैं' अरु 'तू' पन जगत को, जानि यथार्थ उदार ॥२८१॥
आत्म-पदार्थहिं पार्थ सो, आपुहिं आपु निहार। जैसे हिम ही हिमहिं को, हिमता देत अपार ॥२८२॥
अर्जुन एक रहस्य पुनि, आत्म वस्तु को जान। जाहि भेंटि के फिरत नहिं, तहँ ते कोउ सुजान ॥२८३॥
सो इमि भेंटत ताहि, ज्ञान पूर्ण सर्वत्र जो। जैसे भरयो रहाहि, महाप्रलय के समय जल ॥२८४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अर्थ—सुख दुख द्वन्द्व विमोह सँग, मान कामना हीन।
ध्रुवपद नित्याध्यात्ममय, पावत ज्ञानि प्रवीन ॥५॥

ज्यों वर्षा के अन्त में, मेघ तजहिं आकास। तजहि मोह अभिमान तिमि, जिन को मन रिपु त्रास ॥२८५॥
जिमि निर्धन निष्ठुर नरहिं, त्यागहिं संग सुजान। तिमि विकार के वेगवश, होत नहीं बलवान ॥२८६॥
कदली फल तरु नसत तिमि, आत्म-लाभ दृढ़ पाय। क्रमशः तिहिं की सब क्रिया, तैसहि जाँय रुकाय ॥२८७॥
आग लगी तरु देखि जिमि, खग जहँ तहाँ परॉहि। तैसहि सकल विकल्प जे, तिहिं तजि कर भग जाँहि॥२८८॥
सकल दोष रूपी तृणहिं, जो धरनी उपजाय। भेद बुद्धि की बात जो, जा महँ नहीं रहाय ॥२८९॥
सूर्य उदय के होत ही, आपहि, रैन सिराय। देह अहंता तासु तिमि, सहित अविद्या जाय ॥२९०॥
आयुहीन जिमि जीव कहँ, अवचित तजै सरीर। तैसे मोहक द्वैत तिहिं, त्यागि देत मतिधीर ॥२९१॥
जैसे पारस लोह को, लहि सर्वत्र अकाल। जुरै न रवि अँधियार वा, तिमि मति द्वैत दुकाल ॥२९२॥
अरु दरसात सरीर, सुख-दुख रूपी द्वन्द्व जो। आवत नहिं रनधीर, सो सब जाके सन्मुखहिं ॥२९३॥
स्वपन राज्य किंवा मरन, कारन मोद न शोक। जैसे जानि न परत कछु, जागृत के अवलोक ॥२९४॥
सुख-दुखरूपी द्वन्द्व तिमि, जे अघ पुन्य स्वरूप। जीति सकहिं नहिं जिमि उरग, पन्नगारि कहँ भूप ॥२९५॥
असत नीर को त्याग कर, सत छीरहि को पान। सो ज्ञानी अति धीरमति, राजहँस उपमान ॥२९६॥
जैसे भूतल महँ करहिं, वर्षा निजरस भानु। पुनि सोखत निज किरन तें, निज थिरहि मतिमानु ॥२९७॥
आत्मरूप विस्मरन तें, ब्रह्म बिखरि चहुँ ओर। करि एकता निरन्तरहिं, ज्ञान दृष्टि की कोर ॥२९८॥
अधिक कहा मिलि सिन्धु महँ, जैसे गंग प्रवाह। तिमि सो निश्चय-आत्म महँ, डूबहि ज्ञान अथाह ॥२९९॥
जैसहि इत तें उत कतहुँ, जात नहीं आकास। तिमि सर्वत्रहि निजपनहिं, जाहि नहीं अभिलास ॥३००॥
एकहु बीज न जमत जिमि, बोय अरण्य कृशानु। उपजि विकार न जासु मन, तैसहि उदये ज्ञानु॥ ३०१॥
जाकर मन मति धीर काम लहर तिमि उठत नहिं। पयनिधि अचल गँभीर जिमि मदिर गिरिनिकरि जब॥३०२॥
चन्द्रकलहिं पूरन भये, कमी न कतहुँ जनाय। आत्म पाय तिमि जासु मन, चाह नहीं उपजाय ॥३०३॥
अणु नहिं सन्मुख अनिल रहि कितनी कहीं निरूप। तैसहिं नाम सुहात नहिं, विषय केर जिहिं भूप। ३०४॥
यों ज्ञानाग्निहु नाश तपि, तजि सब विषय सुजान। सो मिलि निजपद माँहिं जिमि कंचन कंचन मान ॥३०५॥
यदि ऐसे तुव प्रश्न की, मिलत कौन थल माँहि। तो यह ऐसो पद अहै, जासु नाश कहुँ नाँहि ॥३०६॥

ज्ञेयपनहिं नहिं ज्ञान सकि, दृश्यपनहिं न दिखाय। किंवा कहिये अमुक इमि, सो तिमि नाँहि जनाय ॥३०७॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

अर्थ—शशि रवि पावक जाहि को, करि न प्रकाश सुजान।
जहाँ जाय नहि फिरहि सो, परमधाम मम जान ॥६॥

दीपक शशि उजियार वा, अधिक कहा कहि जाय। अरु दिननाथ प्रकाश तें, पुनि जो कछु दरसाय ॥३०८॥
सो सबही को देखिबो, देखब अहै न जासु। जासु अगोचर रहत ही, भासत विश्वाभासु ॥३०९॥
जिमि जिमि सीपी भास कम, तिमि सत रजत प्रकास। रज्जुभाव किंवा नसत, सांप सत्यताभास ॥३१०॥
करत अधिक उजियार, रवि शशि आदिक प्रखर तिमि। जाके ही आधार, अर्जुन करत प्रकाश ते ॥३११॥
इक सम सब भूतात्मकहि, ब्रह्मतेज की राश। चन्द्र सूर्यहू में करत, जो निज तेज प्रकाश ॥३१२॥
शशि रवि को अँधियार पड़ि, अर्जुन वस्तु प्रकास। तेजस्वी महँ तेज जो, सोइ ब्रह्म सुखराश ॥३१३॥
अरु जिहिं ब्रह्म प्रकाश तें, जग रवि शशियुत लीन। दिन के उदये होत जिमि, नखत सचन्द्र विलीन ॥३१४॥
स्वप्न पसारा नसत ही, जिमि जागृति कहँ पाय। किंवा सन्ध्या समय जिमि, मृग जल नहीं रहाय ॥३१५॥
कौनहु को आभास नहि, तिमि जिहिं वस्तु ठिकान। सो मेरो निज धाम लखि, पार्थ प्रधान सुजान ॥३१६॥
जो नर आगे जाय के, पहुँचत ताहि ठिकान। किंवा स्रोत समुद्र मिलि, लौटत नहीं सुजान ॥३१७॥
कि बहु हथिनी लवण की, लवणसिन्धु महँ जाय। तो वह जैसे पलटि कै, आवत नहीं स्वभाय ॥३१८॥
किंवा ज्वाला अग्नि की, गगनहिं जाय न आय। तप्त लौह महँ जल परै, जैसे नाशहिं पाय ॥३१९॥
पाये उत्तम ज्ञान, ऐक्य भाव तिमि होत मम। पंथ मुरत मतिमान, बहुरि आगमन ताहि को ॥३२०॥
कहि अर्जुन पुनि मति धरा, प्रभु जो आप प्रसाद। किन्तु विनय मेरी सुनिय, चित दै हरिय विषाद ॥३२१॥
अरु प्रभु मिलि पुनि फिरहि नहि, ऐक्य आप आसन्न। देव आप तें भिन्न ते, अथवा रहे अभिन्न ॥३२२॥
यद्यपि भिन्न अनादि सिधि, फिरहि न संभव नांहि। भ्रमर जात जो फूल महँ, सो कि फूल ह्वै जांहि ॥३२३॥

शर परसत जिम लक्ष्य कहँ, बहुरि पलटि गिरि जात। बान लक्ष्य तें भिन्न तिमि, तुम तें मिलिआजात॥३२४॥
ना तर आप स्वभाव तें, कौन मिलत किहि माँहि। शस्त्र आप ही आप में, किहिं प्रकार घुस जाँहि॥३२५॥
जबहि एक प्रभु जीव तुम, किमि संयोग वियोग। अवयव और शरीर को, कहत न इमि उपयोग॥३२६॥
सदा भिन्न जे आप तें, ते कबहूँ न मिलाँहि। ते फिर आवत वा नहीं, काज न वृथा कहाँहि॥३२७॥
सफल और मुख आपके, मोहि जनाइय जोइ। अहै कौन जो आप को, पाय न पलटहि सोइ॥३२८॥
जो सर्वज्ञ सुजान, ये शंका सुनि पार्थ की। तोषित भये महान, बोध देखि के शिष्य को॥३२९॥
कहि प्रभु-बुधबर फिरत नहिं, मम स्वरूप कहँ पाय। भिन्न अभिन्नहु रीति तें, उभय रहहिं नरराय॥३३०॥
गहन विवेकहिं देखि तो, सहजहिं में वे एक। वा ऊपरी विचार तें, लखि तो भासि अनेक॥३३१॥
जैसहि जल मिलि भिन्न-सी, देखी जात तरंग। पै केवल जल वस्तुतः, नहिं भिन्नता प्रसंग॥३३२॥
किंवा भूषण स्वर्ण के, विलग विलग ही देख। पुनि विचार करि देखिये, तो सब कंचन लेख॥३३३॥
ज्ञान नयन तें पार्थ तिमि, मोतें सकल अभिन्न। पै मेरे अज्ञान के, कारन दीखत भिन्न॥३३४॥
अरु सत वस्तु विचार तें मैं इक कैसे भिन्न। उपजि सकै व्यवहार जो, अर्जुन भिन्नाभिन्न॥३३५॥
यदि रवि बिंब समस्त ही, नभहिं धरै निज माँहि। कहाँ परै प्रतिबिंब औ, किरनें कहाँ पराँहि॥३३६॥
किं बहु किमि जल प्रलय को, खाड़ी मांहि समाय। अतः एक अविकारि मैं, कहा अंश नरराय॥३३७॥
सीधउ जल तिरछाय, परि प्रवाह के जोग जिमि। अरु दूजोपन पाय, नीर जोग तें भानु जिमि॥३३८॥
चौकोनो वा गोल नभ, यह इमि किमि समुझाय। पै उपाधि घट मठहिं की, तैसी ही दरसाय॥३३९॥
जिमि नृपती बनि स्वप्न महँ, निद्रा के आधार। किमि अकेल नहिं करत सो, शासन सब संसार॥३४०॥
सो लहि दर परि स्वर्न बनि, अन्य धातु मिलि हीन। तिमि मम शुद्ध स्वरूप जो, मायावशहिं मलीन॥३४१॥
एक प्रगट अज्ञान तहँ, "को मैं" उपजि विकल्प। अविचारहिं निरधारि पुनि, मैं शरीर हौं अल्प॥३४२॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

अर्थ—जग महँ जीव अनादि है, मेरे अंश स्वरूप।
खैंचत इन्द्रिय मन छठो, प्रकृति मध्य रहि भूप ॥७॥

ऐसी देह प्रतीति बढ़ि, आत्म ज्ञान विलगाय। तासु अल्पता हेतु तें, तन मम अंश जनाय ॥३४३॥
किंवा सिन्धु तरंग वश, उछलि तरंगाकार। तब समुद्र को अंश इमि, जिमि अल्प ही निहार ॥३४४॥
उपजति जब ही देह महँ, 'मै हूँ' को हंकार। जड तन चालक जगत में, जीव जानि धनुधार ॥३४५॥
जीवहिं बोधहिं दृष्टिगत, जो यह सब व्यापार। जीव लोक के शब्द तें, सो तात्पर्य विचार ॥३४६॥
साँचहिं जो यह मान, अरे जहाँ उपजन मरन। यह संसार सुजान, जीवलोक सो कहत मैं ॥३४७॥
जीव जगत में मोहि को, जानहु याहि प्रकार। जल महँ दरसत चन्द्र जिमि, जल तें परे उदार ॥३४८॥
कुंकुम महँ धरि फटिक जिमि, लाल दिखाई देय। लाल वर्ण तस सो नहीं, तिमि जानहु कौन्तेय ॥३४९॥
नहि अनादिपन नसत मम, अक्रियत्व नहिं भंग। पै कर्ता भोक्ता कहत, गुनि अज्ञान प्रसंग ।३५०॥
निर्मल आत्मा अधिक किमि, प्रकृति एकताधार। अङ्गीकृत करि आप परि, प्रकृति धर्म अधिकार ॥३५१॥
सयुत मन श्रोत्रादि षट्, उपज प्रकृति तें पाय। तिनहि समझ निज प्रवृति करु व्यापारहि नरराय ॥३५२॥
संन्यासी जिमि स्वप्न महँ, सह कुटुम्ब बन आप। अरु पुनि ताके मोह परि इत उत फिर लह ताप ॥३५३॥
आत्मा आपहिं भूल तिमि, आप प्रकृति वपु होय। अरु तामें अनुरक्त मन, अर्जुन पावन सोय ॥३५४॥
सो मनरूपी रथहिं चढ़ि, निकरि श्रवन के द्वार। शब्दरूप वन में बहुरि, अर्जुन, कर सचार ॥३५५॥
घोर बनहि पैसार, मनरूपी रथ माँहि बसि। परसि त्वचा के द्वार, प्रकृति लगामहिं धारि पुनि ॥३५६॥
कीनहु एकहि अवसरहिं दृग द्वारहि चलि जाय। बहुरि रूप के पर्वतहिं, स्वच्छन्दहि विचराय ॥३५७॥
किं बहु रसना पन्थ तें, चलि पुनि ते धनुधार। अरु रस केर अरण्य महँ, भरती करत अपार ॥३५८॥
कबहूँ अंश मम जीव यह, घ्राणपंथ ते जात। दारुन बन कहँ लांघि चलि, लहि सुगंध भरमात ॥३५९॥
इमि तन इन्द्रियनाथ धरि, मन कहँ हृदय लगाय। शब्दादिक के विषयगन, भोगहिं तिन्हहिं अघाय ॥३६०॥

शरीरं यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति, वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

अर्थ—जीव जबहिं जग प्राप्त करि, इक तजि अपर शरीर ।
मन इन्द्रिय लहि संग जिमि, पुष्प सुगंध समीर ॥८॥

कर्ता भोक्ता जीव यह, निजकहँ इमि दरसाय । जब एकाध शरीर महँ, पार्थ प्रवेश कराय ॥३६१॥
ज्यों संपन्न विलासयुत, नर तब जान्यो जाय । जब नृप सेवन जोग थल, माँहि निवास कराय ॥३६२॥
अहंकार की वृद्धि तिमि, विषयेन्द्रिय भरमार । तबहि दिखाई देत जब, जीव अन्य तन धार ॥३६३॥
नातर जब देहहिं तजे, तब इन्द्रिय समुदाय । सोई निजसम्पत्ति सों, सब संगहि लै जाय ॥३६४॥
अतिथि पाय अपमान, अपमानी को सुकृत धन । किंवा सूत्र समान, खींचत गति कठपूतरिहिं ॥३६५॥
नातर रवि निज अस्त जिमि, जग दृग सँग लै जाय । अधिक कहा निज संग धरि, पवन सुगन्ध अघाय॥३६६॥
अर्जुन तैसहि जीव यह, देह त्याग करि जाय । ज्ञानेन्द्रिय सह मन छठो, इन्हहिं संग धरि जाय ॥३६७॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनाश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

अर्थ—जीव श्रवण दृग जीह त्वच, घ्राण और मन जान ।
इन्ह को आश्रय धारि कै, भोगत विषय अमान ॥९॥

जग अरु स्वर्गहिं जहँ तहाँ, पुनि जिमि तन स्वीकार । तहँ तिमि परसत पूर्ववत्, मन आदिक धनुधार ॥४६८॥
जैसेहि दीप बुझाइये, प्रभा सहित लुपि जाय । पुनि अँजोरिये दीप को, तहँ तिमि प्रभा दिखाय ॥४६९॥
सकल जीव कर्तृत्व इमि, अर्जुन याहि प्रकार । पार तथापि अज्ञान की, दृष्टिहि समझहु भार ॥४७०॥
आत्मा आवत देह महँ, अरु विषयहिं करि भोग । अथवा तन तजिके गयो, यह सत मानस लोग ॥४७१॥
जनम मरन इहिं भांति यह, वा कर्तापन भोग । प्रकृति धर्म सब ताहि को, मानि आत्म के योग ॥४७२॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

अर्थ—देहहिं आवागमन थित, अरु भोगत गुण संग ।
मूढ़ न देखत लखत सो, जिहिं चखु ज्ञान प्रसंग ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अर्थ—जतनशील जोगी लखत, आतमहि आप ठिकान ।
जतन करतहू मलिन हिय, इहिं नहिं लखत अजान ॥११॥

अरु तहँ उपजै चेतना, बनि इक तन आकार । ताकी हलचल देख कहि, जनम भयो संसार ॥३७३॥
सगति तिमि तिहिं पाय, इन्द्रिय सेवत निज विषय । भोग नाम कहि जाय, तासु सुभद्रापति जगत ॥३७४॥
नतर भोगहिं छीन तन, अर्जुन तबहिं छुटाय । अरु चेतना दिखाय नहिं, हा ! कहि मरनहिं पाय ॥३७५॥
डोलत तरु लखि परि तबहिं, मानिय की चलि पौन । अरु तरु नासे तें तहां, पौन कि नहिं मतिभौन ॥३७६॥
दर्पन सन्मुख धरहु वा, अरु लखि तहँ निजरूप । अतः उपज निज मानि तुव, वपु न प्रथम किमि भूप ॥३७७॥
किंवा दर्पन दूर करि, लोपरूप आभास । की तब निश्चय करिय इमि, अहैं न हम सुखरास ॥३७८॥
यदपि शब्द आकाश को परि घन सिर आरोपि । किंवा घन के वेग को, चन्द्र वेग गनि सोऽपि ॥३७९॥
उपज नाश तिमि देह को, अंध पुरुष वश मोह । अविकारी जो आतमा, ता महँ निश्चय जोह ॥३८०॥
आत्मा आत्महिं के थलहि, लखि तन महँ तन धर्म । देखन हारे आन हैं, जो इमि पेखत मर्म ॥३८१॥
देहाच्छादन लखि न रहि जिहिं दृग कारन ज्ञानु । ग्रीषम काल पसार करि, प्रखर किरन जिमि भानु ॥३८२॥
ज्ञान प्रभहिं तिहिं रीति, बसत स्वरूपहि फुरन जिहिं । आत्मा माँहि प्रतीति, सो ज्ञानहि ऐसे लखत ॥३८३॥
ज्यों तारागन भरत नभ, प्रतिबिंबित बारीश । परि न परयो सो टूटि कै, यह प्रत्यक्ष महीश ॥३८४॥

गगन गगन के थल रहत, सिन्धुहि वृथा दिखात। तैसहि निरखहि आत्म कहँ, मिथ्या तन महँ तात ॥३८५॥
जिमि तरंग के वेग तें, शशि में देखिय खंड। परि लखिये जो चन्द्र कहँ, तो निज थलहि अखंड ॥३८६॥
डाबर सूखै वा भरै, ज्यों-को-त्यों जिमि भानु। उपजत तन अरु नसत पुनि मो कहँ लखिय समानु ॥३८७॥
घट मठ विरचे जाँय अरु, पुनि नासिये सुजान। परि जैसो आकाश है, तैसो रहत महान ॥३८८॥
सत्ता आतम अखंड तिमि, कल्पित निज अज्ञान। उपजत नासत देह यह, निश्चय करिके जान ॥३८९॥
घटत बढ़त चेतन नहीं, चेष्टा करि न कराय। आत्मज्ञान जाकहँ विमल, तिहिं ऐसो समझाय ॥३९०॥
ज्ञान लहत अरु आवहिं, बुधि महँ मर्म समस्त। सकल शास्त्र सर्वस्व कहँ, पावहिं पार्थ प्रशस्त ॥३९१॥
यदि विराग मन नाँहि, सकल शास्त्र सम्पन्न परि। संभव मेटब नाँहि, जो सब व्यापक मोहिं तें ॥३९२॥
अरु यदि हिय चिन्तत विषय, मुख पर दिसे विचार। तो मम प्राप्ति न होय तिहिं सत्य अवार उदार ॥३९३॥
स्वप्नहि मुख महँ ग्रन्थ यदि किमि जग फंद नसाय। किंवा पुस्तक घर धरी, वांची किमि कहि जाय ॥३९४॥
किंवा बाँधहि नैन को, मोती नाक लगाय। तो मोती को मोल जो, कासों जान्यो जाय ॥३९५॥
जीहहिं शास्त्राभ्यास सब तिमि चित धरि हंकार। कोटि जनम इमि धरहि पै, प्राप्ति न मोर उदार ॥३९६॥
अर्जुन जो इक मैं अहौं, व्यापक भूत समस्त। सुनहु व्याप्ति तिहि मैं कहौं, सरल निरूप प्रशस्त ॥३९७॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

अर्थ—सूरज में जो तेज सो, सब जग करहि प्रकास।
शशि अग्निहु कर तेज कहँ, जानहु मम आभास ॥१२॥

जो रवि सह सब जगत की, यह रचना दरसात। आदि अंत लगि सो प्रभा, मेरी जानहु तात ॥३९८॥
उदक शोषि रवि तेज मिस, पुनि शीतलता आय। अहै चन्द्र महँ जो प्रभा, सो मेरी नरराय ॥३९९॥
जारन अरु पाचन क्रिया, जो सब करत अपार। तेज विभव सो अगिन को, मम ही जान उदार ॥४००॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अर्थ—धरनि प्रविशि मैं धारि सब, निज सामर्थ्य विशाल ।
सब औषधि पालन करत, ह्वै कर चंद्र रसाल ॥१३॥

अतः सिन्धु गंभीर, में हू गलत न यह धरा । रजकन ढेला धीर, में प्रविशों धरनी तलहिं ॥४०१॥
सकल भूत भुवि परति जो, चर अरु अचर अपार । सो मैं ही धारन करत, महि महँ प्रविश उदार॥४०२॥
अर्जुन मो कहँ गगन महँ, चंद्रस्वरूप निहार । चलत सरोवर अमिय को, जो परिपूर्ण उदार ॥४०३॥
चंद्र विकासत किरन जो, तहँ रस ओघ अपार । सब औषधि भांडार को, में ही भरत उदार ॥४०४॥
यों धानादिक सकल को, मैं ही करत सुकाल । सब प्रानिन को अन्न तें, जीव न देत सुवाल ॥४०५॥
अरु उपजायो अन्न यदि, तिमि किमि दीप न होय। जीव जातु के योग तें, समाधान लहि सोय ॥४०६॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

अर्थ—आश्रित करि तन जीव के, मैं जठराग्नि न होय ।
चौविध अन्नहिं पचन करि, प्राण अपान समोय ॥१४॥

करहुँ अँगीठी कदघट, भीतर प्राणिन देह । दीपत जठरानल अनह, मैं ही अर्जुन येह ॥४०७॥
धौंकत धौंकत निशिदिवस, प्रान आपान मिलाय । अन्न पचावत उदर महँ, कितो न जान्यो जाय ॥४०८॥
चिक्कन, रूख, सुपक्व अरु, जे अपक्व धनुधारि । मैं ही पचवत अन्न इमि, जो चौविध निरधारि ॥४०९॥
जीवन जग निरवाह, इमि मै ही सब जीव को । जठरानल नरनाह, जीवन साधन मुख्य जो ॥४१०॥
अब अति निज व्यापक नहीं, अद्भुत किमि कहि जाय । मैं ही हौं सर्वत्र जग, अपर नहीं दरसाय ॥४११॥
एक अधिक दुख में घिगे, एक सदा सुख माँहि । सो किहिं कारन तें विषम, वेष विलोके जाँहि ॥४१२॥

जिमि सब नगरहिं दीप इक, तें सब दीप लगाय। एक प्रभायुत एक कहुँ, प्रभाहीन दरसाय ॥४१३॥
ऐसी तर्क वितर्क यदि, तुव मन महँ उपजाय। तो निरसन तिहि शंक को, सुनिय नीक कहि जाय ॥४१४॥
सकल ओर मैं ही भरयो, मृषा नहीं यह बात। पै प्राणी की कल्पना, बुधि अनुसार जनात ॥४१५॥
एकहि जो आकाश ध्वनि, वाद्य विशेषहिं आन। भिन्न-भिन्न ध्वनि रूप ह्वै, बाज न होत सुजान ॥४१६॥
किं बहु जग चेष्टा विलग, जो उदये इक भानु। आन आन उपयोग पड़ि, ताही को मतिमान ॥४१७॥
किंवा नीरहिं उपजि तरु, बीज धर्म अनुरूप। जब जीवहिं परिणत भयो, तैसहिं मोर स्वरूप ॥४१८॥
जैसहि दुलरी हार, अज्ञ विज्ञ सन्मुख धर्यो। जानहिं सुख आधार, अज्ञहिं सर्प प्रतीति पुनि ॥४१९॥
सीपहिं मोती, व्याल विष, अति किमि स्वाती नीर। तिमि ज्ञानिहिं सुखरूप मैं, अज्ञानिहिं दुख भीर ॥४२०॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

अर्थ—सब उर वासी मोंहि तें, सुस्मृति ज्ञान अभान।
मैं वेदान्ती वेदविद, वेदवेद्य मुहिं जान ॥१५॥

अमुक अहौं मैं बुद्धि इमि, फुरन होत दिनरात। जो सब के उरदेश महँ, सो जानहु मैं तात ॥४२१॥
किन्तु समागम संत अरु, ज्ञान योग अभ्यास। अरु विराग सह गुरु चरन, सेवत परम हुलास ॥४२२॥
ऐसे ही सत्कर्म तें, नशि अज्ञान अशेष। आत्मस्वरूपहिं मैंपनो, होत विलीन विशेष ॥४२३॥
स्वयं आप लखि योग मम, सदा सुखी सो आत्म। सो सुख कारन मोंहि तजि अपर कहा तादात्म्य ॥४२४॥
अर्जुन उदये सूर्य के, रवि तें रवि कहँ पेखि। मैं ही कारन मोंहि ते, मो कहँ तैसहिं देखि ॥४२५॥
सेवत तन अभिमान सों, सुनि गौरव संसार। जासु अहंता देह महँ, डूबि रही धनुधार ॥४२६॥

जगत स्वर्ग के हेतु तें, कर्मपंथ में धाय । तातें ताहि विभाग मिलि, सुनो भयो दुखदाय ॥४२७॥
कारन जानिय मोहि, अज्ञानी कहँ भ्रान्ति अस । जागनहारो जोहि, हेतु स्वप्न अरु नींद को ॥४२८॥
दिनहि घूँघरो मेघ करि, सो दिन ही तें जान । तिमि मम सत्तहिं प्रानि मुहिं, जानि न विषय भुलान ॥४२९॥
यों निद्रा वा जागृतिहिं, ज्ञान हेतु कपिकेतु । जीव ज्ञान अज्ञान को, तिमि मैं ही हौं हेतु ॥४३०॥
जैसे सर्पाभास को, डोरी ही आधार । तिमि ज्ञानहु अज्ञान जग, मैं ही सत्य निहार ॥४३१॥
जैसो मैं तैसो बहुरि, जानि न जाननहेतु । शाखा बहु लहि वेद भव, बनि विभाग कपिकेतु ॥४३२॥
शाख विभेदहिं सत्य त्रय, मैं ही जान्यो जात । पूरब पश्चिम सरित बहि, सींमसिन्धु जिमि तात ॥४३३॥
अनिल सुगंधित लहरि जिमि, खोज न मिलि नभ माँहि । ब्रह्मपास श्रुति जाँय अरु, शब्द सहित सचु पाँहि ॥
श्रुति समस्त जहँ जाय लाजि, ऐसो थल एकांत । मैं ही करत प्रकास सो, जथा सुभद्राकांत ॥४३५॥
नातर श्रुति सह सब जगत, जहाँ अशेष विलीन । मैं ही निजवर ज्ञान को, जाननहार प्रवीन ॥४३६॥
जागे तें नसि जात, स्वप्न द्वैत सन्देह नहिं । निजहि प्रतीति जनात, तैसहि अपनी एक तहँ ॥४३७॥
जानत निज अद्वैतपन, मैं तिमि अपर विहीन । मैं ही जानत और तिहिं, कारन बोध प्रवीन ॥४३८॥
अर्जुन को कपूर जरि, तो काजर नहिं होय । और वचन अवशेष नहिं, तहाँ कृशानहु सोय ॥४३९॥
सकल अविद्यामूल सह, कहँ जो खाय पचाव । सो ज्ञानहु बुझाय जहँ, तहाँ न भाव अभाव ॥४४०॥
जग समूल लै जाय जो, कहँ खोजिय तिहिं चोर । कौनहु इक जो इमि दशा, शुद्ध रूप सो मोर ॥४४१॥
ऐसी दृश्य अदृश्य की, व्याप्ति निरूप विशाल । निरुपाधिक निज रूप महँ, विरमो मोद भुवाल ॥४४२॥
जिमि पयनिधि प्रतिबिंब पडि उदये गगनहिं चंद । सहसा अर्जुन उरहिं तिहि सकल बोध निर्द्वन्द्व ॥४४३॥
किंवा उत्तम भीत पर, सन्मुख चित्र दिखाय । तिमि अर्जुन अरु कृष्ण मधि, ज्ञान दशा दरसाय ॥४४४॥
ज्यों समझै त्यों-त्यों मधुर, धन्य सुवस्तु स्वरूप । तातें अर्जुन कहि अहै, अनुभवयुत को भूप ॥४४५॥
अब प्रसंग अनुसार, निरुपाधिक व्यापक पनो । कृष्ण कृपा आगार, वरन्यो आप स्वरूप जो ॥४४६॥
कहिय मोहि समझाय कै, पूर्नपनहि इक बार । कहत द्वारकानाथ तहँ, भलो कह्यो धनुधार ॥४४७॥
कहहु सप्रेम अखंड अरु, मम मन ऐसी चाह । कहा करिय परि प्रश्न इमि, मिलत नहीं नरनाह ॥४४८॥

आज मनोरथ सफल मम, अर्जुन तुम कहँ पाय। जो सुख भर तुम ने कियो, मम प्रति प्रश्न अघाय॥४४६॥
जो अद्वैतहि भोगिये, निज अनुभव सुख साज। सो निर्मल थल सुखद मम, तुव प्रश्नहि ते आज॥४५०॥
जिमि दर्पन सन्मुख धरे, आप निरखि निज नैन। तिमि निर्मल संवाद के, तुम शिरमनि सुख ऐन॥४५१॥
जानत नहिं तुम प्रश्न जब, मोतें करवो तात। बैठ सुनावहुँ तबहि मैं, तिमि नहिं मम तुव नात॥४५२॥
औ अलिंगत अर्जुनहिं, कहि इमि सरूप विलोक। पुनि प्रभु अर्जुन तें वचन, कहा कहत हर शोक॥४५३॥
जिमि दुहुँ ओंठनि इक वचन, दुहुँ पग ते इक चाल। तिमि तुव पूछब मम कहब, एकहि जान भुवाल॥४५४॥
अर्जुन ऐसहि जानिये, हम तुम एक स्वरूप। प्रश्न करत तुम, मैं कहत, दोनहुँ एकहि भूप॥४५५॥
इमि कहि मोहहिं भूल प्रभु, अलिंगन दै पार्थ। चकित होय पुनि कहत यह, प्रेम न इतो यथार्थ॥४५६॥
गुड बनाय जिमि ईख तें, लवन देय तहँ हीन। जो रसाल संवाद सुख, तिहिं करि प्रेम मलीन॥४५७॥
भिन्न न नर नारायण, प्रथमहु हम इन माँहि। पै यह प्रेम भराव मम, मेरे माँहि समाँहि॥४५८॥
कहत कृष्ण भगवान, इमि बुधि थिर करि पार्थ प्रति। कीन्हो है मतिमान, हम तें कैसो प्रश्न तुम॥४५९॥
इत अर्जुन श्रीकृष्ण के, ध्यानहि मगन महान। देह भान लहि प्रश्न की, कथा सुनत मतिमान॥४६०॥
अरजुन गद्गद वचन तें, तब बोल्यो मतिमान। निरुपाधिक जो रूप निज, ताहि कहिय भगवान॥४६१॥
अर्जुन को इमि कथन सुनि, तिहिं वर्नन के हेतु। करत निरूप उपाधि को, दुइ प्रकार खगकेतु॥४६२॥
औ' निरुपाधिक प्रश्न परि, करत उपाधि बखान। यह शंका यदि काहु के, मनहिं उपजि बलवान॥४६३॥
अश मठा को विलग करि, तब निकरत नवनीत। हीन अंश के त्याग जिमि, कंचन शुद्ध पुनीत॥४६४॥
हाथहिं दूर सिवार करि, परि पानी तब पूर। किंवा घन नसि गगन तें, गगन स्वच्छ रहि शूर॥४६५॥
जैसे ऊपर तुष प्रभृति, कौंडा दूर कराय। कर आवत तब धान कन, कहा हानि नरराय॥४६६॥
काढ़ि उपाधि स्वरूप की, तिमि तजि सहित विचार। काहू सें नहिं पूछिये, निरुपाधिक निरधार॥४६७॥
कहत न करि निर्देश, जिमि कुलतिय पिय नाम को। कुंठित शब्द विशेष, वरनन जोग न वरनि तिमि॥४६८॥
कथन जोग नहिं जो अहै, इमि वरनन तिहिं केर। तातें कथन उपाधि को, श्रीपति आदि नवेर॥४६९॥
जैसे चन्द्रहिं प्रतिपदहि, निरखन हित लखि शाख। तिमि निरुपाधि स्वरूप के, हेतु उपाधिहिं भाख॥४७०॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अर्थ—क्षर अरु अक्षर द्वै पुरुष, है प्रसिद्ध संसार।
कूटस्थहिं अक्षर कहत, भूतन्ह क्षर उच्चार ॥१६॥

कहि पुनि श्रीहरि पार्थ तें, यह जो पुर संसार। केवल दो ही पुरुष की, वस्ती तहँ निरधार ॥४७१॥
जैसहि सब आकाश महँ, निवसत दिन अरु रात। तिमि यह दोऊ पुरुष रहि, जग रजधानी तात ॥४७२॥
अरु इक तीजो पुरुष सो, सहत न यह दुइ नाम। जिहिं उदये यह नगर सह, उभय नसत परिनाम ॥४७३॥
संप्रति तीजी बात तजि, प्रथम दोइ सुनु बात। जो आये जग पुर बसन, के उद्देशहिं तात ॥४७४॥
अन्धहु पंगहु भ्रान्ति इक, अपर श्रेष्ठ सर्वांग। भयो समागम उभय को, कारण गुण ग्रामांग ॥४७५॥
नाम इकाकी क्षर अपर, अक्षर कहि संसार। इन दोनों ही तें सकल, यह जग भरयो अपार ॥४७६॥
अक्षर के किमि चिन्ह, अब जो क्षर सो कौन है। वरनौं परम प्रसन्न, अभिप्राय संपूर्ण यह ॥४७७॥
अरजुन तृन पर्यन्त लगि महत्तत्व पर्यन्त। जग आदिहिं ते अन्त लगि, विकसित भयो अनन्त ॥४७८॥
जो कछु छोटी या बड़ी, जगम थावर वस्तु। किं बहुना मन बुद्धि तें, जासु प्रतीत समस्तु ॥४७९॥
जो रचना पंच भौतिकी, नाम रूप आकार। अरजुन ढारी जात जो, त्रयगुन के टकसार ॥४८०॥
जिहिं सुवर्न ते बनत है, मुद्रामय आकार। जिहिं द्रव्यहि ते काल जो, खेलत पाँसा सार ॥४८१॥
जो विपरीतहि ज्ञानतें, जानि परत जग वस्तु। जो प्रतिक्षण उपजाय अरु, होय विलीन समस्तु ॥४८२॥
अरे भ्रान्तिवपु बनहिं तें, सांग सृष्टि उपजाय। अधिक कहा कहि जासु को, नाम जगत कहि जाय ॥४८३॥
जो दरसायो प्रकृतिमिष, आठ भिन्न करि भेद। क्षेत्र नाम दै तासु के, छत्तिस किये विभेद ॥४८४॥
कहँ पीछली बात का, अबही इहिं अध्याय। रूपक वृक्षाकार करि, ताहि निरूप बताय ॥४८५॥
सो सब लहि साकार, निज निवास थल जानि कर। चेतन तिहिं अनुसार, आपहिं अर्जुन ह्वै गयो ॥४८६॥
कूपहिं जिमि प्रतिबिंब निज, सिंह मानि लखि आन। क्षुभित होय पुनि क्षोभवश, कूपहिं कूदत आन ॥४८७॥

किं यह नभ तें उपजि जय, जलहि बिंब आकास । तिमि अद्वैतहु द्वैत महँ, अर्जुन करत निवास ॥४८८॥
अर्जुन इमि करि कल्पना, जगत नगर साकार । आत्मा निज कहँ बिसरि कर, तहँ निद्रा विस्तार ॥४८९॥
शयन आत्मा को पुरहिं, तैसो ही अवलोक । जिमि सपने लहि सेज को, पुनि तहँ सोय अशोक ॥४९०॥
यों निद्रा के गाढ़पन, मैं सुख-दुख युत घोर । अहंकार ममता विवश, बररी लगै अथोर ॥४९१॥
यह मम पितु यह मातु मम, गौर श्याम सर्वांग । सुत संपति अरु तिय सुहृद, मेरे सांगोपांग ॥४९२॥
आश्रेय करि इमि स्वप्न को, जग स्वर्गहि में धाय । नाम तासु चैतन्य को, क्षरे नरवर रहि जाय ॥४९३॥
अब सुनु जो क्षेत्रज्ञ को, नाम पुकारो जात । किंवा जिहिं थिति को जगहिं जीव नाम कहि जात ॥४९४॥
सब जग करि संचार, जो आपुहिं को बिसरि के । सो आत्महिं धनुधार कहत पुरुष क्षर पार्थ वह ॥४९५॥
अहै वस्तुतः पूर्ण जो, कहत पुरुष तिहिं हेतु । अतः शयन जिहिं तन नगर, सोपि पुरुष संकेतु ॥४९६॥
अरु तिहिं क्षरपन को मृषा, जाल लगायो जाय । कारन रूप उपाधि को, सो बन गयो अघाय ॥४९७॥
नीर हिले ते चन्द्रिका, जैसे हलत दिखाय । तिमि उपाधि के दोष तें, आलस दोष जनाय ॥४९८॥
ज्यों नाला के सूखतहिं, लोप चन्द्रिका पाय । तिमि उपाधि के नाश तें, औपाधिक न दिखाय ॥४९९॥
इमि उपाधि के कारनहिं, जीव क्षणिकता पाय । तासु विनाशी हेतु तें, अरजुन क्षर कहि जाय ॥५००॥
इमि यह जानहु क्षर पुरुष, चेतन जीव समस्त । करत निरूपण अबहि हम, अक्षर पुरुष अनस्त ॥५०१॥
अक्षर नामक पुरुष जो, दूजो अहै सुजान । गिरि गन में मध्यस्थ सो, पार्थ सुमेरु समान ॥५०२॥
धरा, स्वर्ग, पाताल त्रय, भागहिं भिन्न न मेरु । दुबी ज्ञान अज्ञान अँग, पुरुषहिं भिन्न न हेरु ॥५०३॥
द्वैतहि ज्ञान विरुद्ध, ज्ञान यथार्थहि एकता । तासु स्वरूप विशुद्ध, जो इमि सकल न जानिबो ॥५०४॥
इमि रजकनपन नसत सब, घट पासन नहि होय । ताहि मृत्तिकामात्र कहि, जो मध्यस्थहिं जोय ॥५०५॥
सरवर सूखत रहत नहिं, जैसे नीर तरंग । तिमि आकार विहीन थिति, जाकी रहत अभंग ॥५०६॥
जैसे जागृति नाश करि, स्वप्न प्रपंचहु नाँहि । तैसहि निद्रा के सरिस, जासु रूप दरसाँहि ॥५०७॥
सब जग होय विलीन अरु, आत्मबोध नहि आय । केवल सो अज्ञान थिति, अक्षर नाँव कहाय ॥५०८॥
अमा रैन जिमि शशिकला, तजि सब रहि चन्द्रत्व । तैसहि अर्जुन जानिये, अक्षर को रूपत्व ॥५०९॥

सब उपाधि को नाश परि, जीव दशा विश्राम । फल पाके तें झाड जिमि, बीजरूप परिणाम ॥५१०॥

करि उपाधि स्वीकार तिमि, सह उपाधि विश्राम । जहँ तिहिं को अव्यक्त इमि जग में भाषत नाम ॥५११॥

अरु सुषुप्ति अज्ञान घन, बीज भाव कहि जात । अरु स्वपने वा जागृतिहिं, फल भावहिं विख्यात ॥५१२॥

जानहुँ थल विश्राम, सो तिहिं अक्षर पुरुष को । बीज नींव कहि नाम, एवं जिहिं वेदान्त महँ ॥५१३॥

जहँ विपरीतहि ज्ञान को, अर्जुन होत विकास । तहँ जागृति अरु स्वप्न वा, बहु बुधि वनहिं प्रकास ॥५१४॥

जीवात्मा जहँ जगत को, उपजाव न उपजाय । उभय भेद तें विलग थल, अक्षर पुरुष कहाय ॥५१५॥

क्रीडत जागत सपन तन, जग क्षरपुरुष कहाय । उभय अवस्था तासु जो, जाहीं ते उपजाय ॥५१६॥

ऐसहिं अज्ञ सुषुप्ति घन, परि जो जग में नाम । जामें है एकहि कमी, ब्रह्म प्राप्ति परिनाम ॥५१७॥

निद्रा पासहिं यदि सपन, वा जागृति नहिं पाय । ब्रह्मभाव परमार्थतः, तिहिं कहि मैं नरराय ॥५१८॥

उपजि प्रकृति अरु पुरुष जहँ, जैसे घन आकाश । स्वप्न क्षेत्र क्षेत्रज्ञ वपु, जहँ देखिय सुखराश ॥५१९॥

अधिक कहा शाखा अधः, यह जगवपु तरु मूल । सो ही अक्षर पुरुष को, है स्वरूप अरिशूल ॥५२०॥

एहि तें कहियत पुरुष इहिं, यह सोवत परिपूर । मायारूपी पुर विषे, सदा शयन करि शूर ॥५२१॥

ज्ञानहि भिन्न स्वरूप, अरु विकार आवागमन । सोई पुरुष स्वरूप, जो सुषुप्ति जहँ भान नहिं ॥५२२॥

सहज जासु नहिं नाश पुनि, अर्जुन ज्ञान सिवाय । अन्य वस्तु तें नास तस, कैसहु कियो न जाय ॥५२३॥

यातें अक्षर याहि को, कहि वेदांती पथ । जो सिद्धान्त प्रसिद्ध है, जगहिं सुभद्राकंथ ॥५२४॥

ऐसे कारन काज तें, जो माया के संग । सो चेतन जिहिं चिन्ह यह, अक्षर पुरुष अभंग ॥५२५॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

अर्थ—अन्यहि उत्तम पुरुष जो, परमात्मा कहि जात ।
जो त्रिलोक वश करहि तिहिं, कहियत ईश्वर तात ॥१७॥

अब विपरीतहि ज्ञान तें, जो यह जग उपजाय । सो जागृति अरु स्वप्न लय, घन अज्ञानहिं पाय ॥५२६॥

ज्ञानहिं तें अज्ञान सम, पुनि सम्मुख रहि ज्ञान। काष्ठहि अग्नि जराय जिमि, आपहुँ जरति निदान ॥५२७॥
अज्ञानै नसि ज्ञान तिमि, आत्मस्वरूपहिं पाय। इमि ज्ञातृत्व विहीन जो, ज्ञाता ही रहि जाय ॥५२८॥
सोई उत्तम पुरुष को, तीजो अंतिम मान। पूर्व कथित जो दो पुरुष, तिन्ह ते बिलग सुजान ॥५२९॥
जैसे स्वप्न सुषुप्ति तें, जागृति भिन्न नितांत। उभय अवस्था को अहै, परिचायक शुद्धान्त ॥५३०॥
जो रविबिंबहि भिन्न, मृगजल वा रवि किरन तें। उत्तम पुरुष विभिन्न, प्रथमहि तें तिमि पार्थ यह ॥५३१॥
किंवा जैसे काष्ठ तें, बिलगहि काष्ठ कृशानु। तिमि क्षर अक्षर तें बिलग, उत्तम पुरुषहि जानु ॥५३२॥
ज्यों कल्पांतहि सिन्धु की, सीम नसति सर्वत्र। सब जग जलमय नद नदी, मिलि करि ह्वै एकत्र ॥५३३॥
जागृति स्वप्न सुषुप्ति की, बात न तासु समीप। प्रलय तेज तें रैन दिन, को जिमि अस्त महीप ॥५३४॥
जहँ एकत्व नहिं द्वैत पुनि, है वा नहिं नहिं ज्ञान। अनुभवहु ययराय के, बूडहि जहां सुजान ॥५३५॥
ऐसो जो कछु तत्त्व सो, उत्तम पुरुष कहाय। परमात्मा के नाम तें, यह ही बोल्यो जाय ॥५३६॥
जीव अहं तहँ कथन करि, तिहिं पद तें न मिलाय। बूड़त नर को कथन जिमि, तट पर रहि कह जाय ॥५३७॥
अर्जुन तैसहि वेदहु, बसि विवेक के तीर। ऊले पैले पार को, बरनन करत सुधीर ॥५३८॥
दोउ पुरुष क्षर अक्षरहु, दोउ निरखि इहि पार। आत्मस्वरूपहिं कहत इमि, पर तीरस्थ उदार ॥५३९॥
अर्जुन याहि प्रकार, सो परमात्मा शब्द तें। यह सूचना उदार, जानहु उत्तम पुरुष की ॥५४०॥
यहां मौन ही शब्द है, सब न जान जिहिं ज्ञान। कछु न होय व्यापार तिहिं, जो है वस्तु महान ॥५४१॥
सोऽहं भावहु अस्त जहँ, वक्ता कथन स्वरूप। जहाँ दृश्य द्रष्टा सहित, होय विलीन सुभूप ॥५४२॥
अहहि बिंब प्रतिबिंब मधि, प्रभा न जो दरसाय। अरु अन्य वस्तु तथापि नहिं, यह कैसे कहि जाय ॥५४३॥
किंवा नासा फूल दुइ, जो इन मध्य सुगंध। जो दीखत तोहे नहीं, ऐसो नहीं प्रबन्ध ॥५४४॥
द्रष्टा दृश्य विलीन तिमि, अमुक अहै कहि कौन। परि यह तिहिं अनुभव निरखि, तासु रूप मतिमौन ॥५४५॥
अहहि प्रकाशकु बिन प्रभा, बिना नियामक ईश। जो अपने अवकाश बसि, आप स्वरूप महीश ॥५४६॥
निनद ब्रह्मपद नाद बल, स्वादहिं शक्ति सुवाद। आनँद भोगन जोग को, जो आनँद निरवाद ॥५४७॥
जो पुरुषोत्तम पुरुष महँ, अहै पूर्ण परिणाम। अर्जुन थल विश्राम को, तिहिं जानिय विश्राम ॥५४८॥

जो मिलि तेजहिं तेज, जो सुख ही को प्राप्त सुख । महाशून्य वपु सेज, शून्यहु होय विलीन जहँ ॥५४६॥
उदय उदय तें दूर जो, लय लय तें हो पार । अधिक कहा कहि जाय जो, सब तें दूर अपार ॥५५०॥
सीपी रूपो है नहीं, दरसत रजत समान । रूपापन को भास तहँ, अज्ञानी प्रति जान ॥५५१॥
नाना भूषण रूप छिपि, कंचन होत न नास । तिमि जो जग धारन करत, जग न आप सुखरास ॥५५२॥
अधिक कहा कल्लोल जल, जैसे भिन्न न भूप । तिमि आपहि सत्ता जगत, और प्रकाश स्वरूप ॥५५३॥
निजहि सँकोच विकास को, स्वयंरूप गीरेश । जिमि जल शशि प्रतिबिम्ब को, कारन चंद्र विशेष ॥५५४॥
कछु न होत जग उपजि तिमि जग नसि कहुँ न जात । जिमि निशि रहि वा दिवस रहि, रविहिं न अंतर तात ॥
जासु कबहुँ कछु हेतु तें, अर्जुन होत न नाम । जाकी तुलना करिय तो, स्वयं जोग सुखरास ॥५५६॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

अर्थ—क्षर पर उत्तम अक्षरहिं, मैं ही हों जिहिं हेतु ।
पुरुषोत्तम कहि मोंहि जग, वा वेदहिं कपिकेतु ॥१८॥

आपन ही जो आप कहँ, अर्जुन करत प्रकास । जाहि द्वैत नहि ताहि किमि, अधिक कहौं सुखरास ॥५५७॥
सो इक मैं अविकार, उत्तम क्षर अक्षरहिं तें । पुरुषोत्तम सुखसार, अतः वेद अरु लोक कहि ॥५५८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१६॥

अर्थ—जो पुरुषोत्तम मोंहि कहँ, ज्ञानी इहिं विधि जान ।
सो सब भावहिं मोंहिं भजि, ह्वै सर्वज्ञ सुजान ॥१६॥

अधिक कहा सो पार्थ मैं, पुरुषोत्तम इमि जान । जाको भयो प्रकाश जो, सूर्य स्वरूपी ज्ञान ॥५५६॥
ज्यों जागे तें आपने, स्वप्न प्रपंच नसाँहि । तिमि ज्ञानहिं ते त्रिजग के, भास वृथा ह्वै जाँहि ॥५६०॥

कि यहु कर धरि माल नसि-सर्पाभासी त्रास । तैसे मेरे बोध तें, नासत मिथ्याभास ॥५६१॥
अलंकार को व्यर्थ कहि, भूषन कंचन जान । तैसहि मो कहँ जानि जो, तजहिं भेद अज्ञान ॥५६२॥
स्वयं सिद्ध सर्वत्र मैं, एक सच्चिदानंद । जो अभिन्न सब आपतें, जानत आनँदकंद ॥५६३॥
सबहि जानि कहि यह कथन, ताको सोहत नाँहि । द्वैतभाव सर्वत्र ही, ताहि न शेष जनाँहि ॥५६४॥
अतः पार्थ मम भजन को, सो अधिकारी होय । जैसे आलिंगन करै, गगन गगन कहँ सोय ॥५६५॥
जिमि पयनिधि की पहुनई, पयनिधि बनि करि जाय । जैसे अमृत को मिलत, अमृत होत सकाय ॥५६६॥
उत्तम कंचन चाह, उत्तम कंचन मिलत हित । मोग भक्ति नरनाह, तिमि मद्रूपहिं संभवत ॥५६७॥
गंगा सिंधुहिं भिन्न यदि, तो किमि सिंधु मिलाप । इमि मद्रूप न भक्ति मम, तो सम्बन्ध प्रलाप ॥५६८॥
जैसे भिन्न न सिंधु तें, सब विधि उदधि तरंग । तैसे जो मम भजन करि, मम धरि ऐक्य प्रसंग ॥५६९॥
सूर्य प्रभा की एकता, है अर्जुन जिहिं हेतु । तिमि मैं अरु मम भक्त में, भेद नहीं कपिकेतु ॥५७०॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

अर्थ—अनघ गोप्यतम शास्त्र यह, मैं बरन्यो तुम पाँहि ।
याहि जानि नर बुद्धियुत, अरु कृतकृत्य सुहाँहि ॥२०॥

इमि यह कथनारंभ इक, सकल शास्त्र प्रद जान । जो सुगन्धि उपनिषदगन, कमल दलनि उपमान ॥५७१॥
सकल वेद को सार इम, व्यास ज्ञान कर पाय । मंथन करि नवनीत यह, काढ्यो सरस सुहाय ॥५७२॥
कला सत्रवीं मोद शशि, ज्ञानामृत की गंग । क्षीरसिंधु की जो नई, लक्ष्मी ज्ञान प्रसंग ॥५७३॥
गीतहिं सब निजवर्ण पद, अर्थ जीव प्राणत्व । मम अतिरिक्त न जगत महँ, जानत कछु अस्तित्व ॥५७४॥
क्षर अरु अक्षर सन्मुखहिं, जात तजत पुरुषत्व । पुनि मम पुरुषोत्तमहिं निज, करि समर्प सर्वस्व ॥५७५॥
तातें प्रस्तुत एव, जो यह गीता तुम सुनी । पतिव्रता जग एव, मम आत्मा के कारणहिं ॥५७६॥

साँचहु कहियत शास्त्र यह, जग जीतन को शस्त्र। जो आत्मा को प्रगट करि, ये अक्षर दिवि-अस्त्र ॥५७७॥

जो कहि तुव सम्मुखहिं परि, सो अर्जुन इमि होय। आज हमारो गुप्त धन, काढ़ि लियो तुम जोय ॥५७८॥

जो मम शिव चैतन्य के, मस्तक-धन वपु गंग। तुम अज्ञानिधि आज मे, गौतम तेहि प्रसंग ॥५७९॥

अनुभवहित सौंदर्य निज, जिमि दर्पन धरि जाय। तिहिं दर्पन थित मम प्रतिहिं, कियो धनंजय राय ॥५८०॥

किंबहु नभ सह नखत ससि, सागर निज महँ धारि। मो कहँ गीता सहित तिमि, तुम निज उरहिं पधारि ॥

अर्जुन तुम कहँ तजि गये, त्रिविध पाप परिनाम। अतः भये गीता सहित, तुम मम थल विश्राम ॥५८२॥

ज्ञानलता गीता अहै, मम किमि बहु कहि जाय। जो तिहिं जाने सो सकल, मोहयुक्त ह्वै जाय ॥५८३॥

जो सेवै सरिता अमिय, रोग समस्त विनास। और अमरपन ताहि को, पार्थ मिलहि सुखरास ॥५८४॥

चिदानन्द संदोह, आत्मस्वरूपी ज्ञान मिलि। किमि विस्मय नसि मोह, जो गीता कहँ जान तिमि ॥५८५॥

कर्म स्वयं निज आयु तजि, आत्म-ज्ञान कहँ पाय। उतराई बनि ज्ञान की, तहाँ विलय ह्वै जाय ॥५८६॥

जैसे खोये वस्तु मिलि, स्वयं खोज मिटि जाय। कर्मरूप तिमि धाम पर, ज्ञानकलश चढ़ि जाय ॥५८७॥

ज्ञानि पुरुष के कृत्य सब, आपहि सरल निहार। दीनबन्धु श्रीकृष्ण प्रभु, बोले याहि प्रकार ॥५८८॥

कृष्ण वचामृत पार्थ उर, उभरत नहीं समात। व्यास कृपा तें पाय पुनि, संजय हू हरषात ॥५८९॥

सोइ नृपति धृतराष्ट्र कहँ, दिय संजय हित पान। अतः समय प्राणांत तिहिं, दुखप्रद भयो न जान ॥५९०॥

अवसर गीता श्रवण जो, अधिकारी न जनाय। अंतहि तिहिं उत्कर्षता, मिली भली नरराय ॥५९१॥

दाखैं बेलिहि दूध दै, तब लगि वृथा गवाँय। परि जिमि फले परिपाक के, समय दुगुन दरसाय ॥५९२॥

सादर संजय कथन करि, तिमि श्रीहरि मुख बैन। यथाकाल में अथहू, नृप धृतराष्ट्रहिं चैन ॥५९३॥

कीन्ह निवेदन सोइ, भाषा छंदन माँहि मैं। जानि न जानि बिलोइ, अपने मोटे ज्ञान तें ॥५९४॥

जो न रसिक सो सेवती, लखि विशेष नहि जान। परि सुगंध को रसिकवर, जानत भ्रमर सुजान ॥५९५॥

अरु अमान्य तिहिं त्याग करि, सिद्धान्तहिं कहँ मान। कारन बाल स्वभाव यह अज्ञानहिं जिहिं ज्ञान ॥५९६॥

यद्यपि शिशु अज्ञान अति पै तिहिं लखि पितु मातु। कौतुक करि मन मोद भरि तिन्हके हिय न समातु ॥५९७॥

आपहिं मिलि करि लाड़ मम आप संत पितु मात। जानिय प्रभु यह ग्रन्थ मिष, तिमि मम तोतरि बात ॥५९८॥

स्वामी मम जगदात्म अब, श्री निवृत्ति महराज। ग्रहण करैं मम वाक्य वपु, यहि पूजा को आज ॥५९९॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद्‌ ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-

दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)

निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्‌

ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर

श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-

ज्ञानेश्वर्यां पंचदशोऽध्यायः

शुभमस्तु

ॐ तत्सत्‌ ३



ॐ

षोडश अध्याय



अद्भुत उदयो सूर्य जो, नासत जग आभास ।
अद्वय कमल विकास कर, बन्दौं परम हुलास ॥१॥

ज्ञानाज्ञानौ चन्द्रिका, नसै अविद्या रैन । आत्मबोध शुभ दिवस जो, ज्ञानी करत सुखैन ॥२॥
दिन उदये खग जीव वपु, आत्मज्ञान खुल नैन । अरु शरीर अभिमान वपु, तजि घोंसला सुखैन ॥३॥
सूक्ष्महिं तन जो कमल मधि, चेतन भ्रमर बँधाय । अद्भुत रवि के उदय तें, बंदि मोच्छ सुख पाय ॥४॥
शब्द स्वरूपी थल विकट, भेद नहीं दुहुँ तीर । बुद्धि बोध के विरह तें, अति आकुलित अधीर ॥५॥
समाधान लहि ऐक्य रस, चक्रवाक जुग जोर । भोगहि चिद्रूपी नमहिं, रवि प्रकास चहुँ ओर ॥६॥
जिहिं रवि के उदये सकल, चोर भीति बिनसाय । जोगी पथिक सुपंथ चलि, आत्मा अनुभव लाय ॥७॥
जाकर किरन विवेक सँग, ज्ञान भानु मनिकांत । दीपत जारत जगत बन, सुनहु सुभद्राकांत ॥८॥
आतम वपु थल पाय, किरन पुंज जाकी प्रखर । मृग जल सम नर राय, महासिद्धि को पूर लखि ॥९॥
जो सोहं मध्यान्ह महँ, आत्मबोध के माथ । आत्म भ्रांति छाया छिपत, निज पग तल कुरुनाथ ॥१०॥
जब माया निसि नसत तब, सहित स्वप्न ससार । कौन सँभारहि नीद जो, ज्ञान अन्यथाकार ॥११॥
अद्वय ज्ञान स्वरूप पुर, महानन्द समुदाय । सुख अनुभव को चलत थिर, लेन देन व्यवसाय ॥१२॥
अधिक कहा इमि जासु के, उत्तम सुदिन प्रकास । सार मुक्ति कैवल्य को, लहत लाभ सुखरास ॥१३॥
जो स्वधाम को भूप अरु, सदा उदित सब ठाँय । जिहिं उदये पूर्वादि दिशि, उदय अस्त दरसाँय ॥१४॥

ज्ञान सहित अज्ञान नसि, दुहुँन छिपी प्रगटाय । ऊषा काल समस्त सो, आन अधिक किमि गाय ॥१५॥
ज्ञान सूर्य को निरखि जो, निसि दिन के वा पार । सोहत विना प्रकाश जो, सब प्रकाश आधार ॥१६॥
श्री निवृत्ति रवि ज्ञान तिहिं, अवनमि वारंवार । जाकी महिमा वचन तें, वरनि न पावहुँ पार ॥१७॥
नुति तव उत्तम जान, स्वामी की महिमा निरखि । जहँ मति विलय सुजान, मौनहि प्रभुकी नुति परम ॥१८॥
सबहिं न जानत जानिबो, मौनहिं महिमा सार । होत न कतहूँ आनिये, आपहिं आप मँझार ॥१९॥
जिहिं नुति कारन वैखरी, पश्यंती मधिमाहु । लीलि सकल के सहित पुनि, होत विलीन पराहु ॥२०॥
अद्वय आनँद आप गुरु, अरु में सेवक तात । तुहि नुति भूषण न्यून यदि, परि स्वीकारहु तात ॥२१॥
दीन अमिय सागर निरखि, जोग अजोग विसार । पुनि धावत आतिथ्य को, लेकरि शाकाहार ॥२२॥
शाकहिं तिहि सब बहुत गनि, हर्ष उमंग विचार । रवि नीराजनवर्तिका, केवल भक्ति निहार ॥२३॥
जोग अजोगहिं बाल गनि, तो बालकपन काहि । साँचहि गुनि पै मातु श्री, मानहि तोष सदाहि ॥२४॥
ग्राम गली को नीर जो, मिलहिं गंग महँ आय । तो गंगा किमि ताहि तें, कहसि दूर हटि जाय ॥२५॥
कैसो भृगु अपकार पै, मान्यो प्रिय उपकार । शारंगधर सन्तोष लहि, गुरुता ताहि विचार ॥२६॥
दिनपति सन्मुख आय, किवा नभ अँधियारमय । गगन दूर हट जाय, तो का नभ तें कहत रवि ॥२७॥
धारि भेद बुधि की तुला, तिमि रवि उपमा धार । तातें तौलत आपको, सो क्षमिये इकवार ॥२८॥
जिन्हं निरख्यो प्रभु ध्यान दृग, वेदादिक नुति कीन । जिमि तिन को उपहास सहि, तिमि क्षमिगे मम दीन ॥२९॥
विन अघाय मैं उठत नहि, करौ जोड़ समझाय । मैं प्रवृत्त गुन गान तुव, दोष न मोर कहाय ॥३०॥
गीता नाम प्रसाद तुव, पायो सुधा स्वरूप । उद्यत वरनत द्विगुन बल, विधिवश लह्यों अनूप ॥३१॥
अमित कल्प करि मम वचन, तपसत भाषनरूप । महाद्वीप गीता मिली, तिहिं फलरूप अनूप ॥३२॥
कृत मम अति पुन्याचरन तिहिं कर तुव गुन गान । यह मो कहँ उत्तीर्ण फल, दीन्हों कृपानिधान ॥३३॥
जीवन रूप अरन्य महँ, मरन रूप जो ग्राम । आन पड़ो तो सो सकल, मिटयो कष्ट परिनाम ॥३४॥
नासि अविद्या बलवती, गीता नाम प्रसिद्धि । सो नुति वरनन जोग मम, प्रभुकी सुजस समृद्धि ॥३५॥
अकस्मात निर्धन भवन, महालच्छमी आय । अतः ताहि निर्धन अहै, यह कैसे कहि जाय ॥३६॥

दैववशहि रवि आय, किवा अंधियारे थलहि। तो अँधियार नशाय, कहत न जग उजियार किमि ॥३७॥

जिहि प्रभु की लखि योग्यता, जगत न सम परिमानु। सो ईश्वर किमि भाववश, प्राप्त न होत सुजान ॥३८॥

जैसे ख्ं'घव पुष्पनभ, तिमि मम गीता गान। परि समर्थ पूरन कियो, तुम मम चाह महान ॥३९॥

श्रीज्ञानेश्वर कहि अतः, प्रभु में पाय प्रसाद। गीता पद्य अगाध कहि, विशद सहित अहलाद ॥४०॥

श्रीनारायण पार्थ प्रति, पंद्रहवें अध्याय। सकल शास्त्र सिद्धान्त को, कथन कियो समुझाय ॥४१॥

जिमि सद्वैद्य शरीरगत, कहत दोष समुदाय। तिमि उपाधि तरु रूप करि, कह्यो समस्त बुझाय ॥४२॥

जीवात्मा अविनाशि जो, पुरुष रूप दरसाय। चेतन नामोपाधि तें जग आकार जनाय ॥४३॥

नंतर मिष उत्तम पुरुष, शब्दहि सरल कराय। दरसायो उत्तम परम, आत्मतत्त्व हरषाय ॥४४॥

आतम मिलन में आन्तरिक, साधन ज्ञान महान। सो ज्ञानहि सुस्पष्टकरि, कथन कियो भगवान ॥४५॥

जोग्य कछू रहि नाँहि, इहि अध्यायहि कथन को। किन्तु शिष्य गुरु माँहि, अति सनेह अब पुनि कहत ॥४६॥

ऐसे पाके विषय सब, वर्णित ज्ञान अपार। परि मुमुक्षु जे इतर तिहिं, इच्छा श्रवण उदार ॥४७॥

ज्ञानःपाय मर्मज्ञ मिलि, उत्तम पुरुषहिं मोहिं। सो ही है सर्वज्ञ अरु, भक्तिसीम है सोहि ॥४८॥

ऐसहि त्रिभुवन नाथ जो, पद्रहवें अध्याय। ज्ञान विशेषहि कथन करि अति संतोष अघाय ॥४९॥

सब प्रपंच नसि दरसतहि, दृष्टादृष्ट स्वरूप। जीव वसति आनद के, साम्राज्यहिं परि भूप ॥५०॥

कहि प्रभु जतन न प्रबल कछु, ब्रह्म प्राप्ति को आन। सब उपाय को भूप यह, अर्जुन सम्यक ज्ञान ॥५१॥

आतम ज्ञानहि चहत जे, ते निज तोषहि हेतु। आदर करि तिहिं ज्ञान कहँ, प्रान निछावर देतु ॥५२॥

किन्तु जाहि की जाहिपर, बढ़त प्रेम अधिकार। यह लच्छण है प्रेम को, नित नूतन विस्तार ॥५३॥

जब न मिलहि जिज्ञासु कहँ, उत्तम अनुभव ज्ञान। योगक्षेम तिहि ज्ञान के, हेतु चिन्तना जान ॥५४॥

आवहि किमि स्वाधीन, अतः ज्ञान अपरोक्ष जो। कहा उपाय प्रवीन, प्राप्त भये तिहिं बढ़न को ॥५५॥

ज्ञान न उपजन देत जो, उपजे करि गति वाम। ज्ञान विरोधी कौन है, यह जनाउ परिनाम ॥५६॥

अरु करि ज्ञान विरुद्ध जे, तिहि के पथ निवारि। जो हित कर सब भाव तें, सोही वस्तु विचारि ॥५७॥

जिज्ञासा इमि ज्ञान तुव, धरि चित भाव समस्त। लच्छमीपति तिहि सिद्धि हित, बोलत वचन प्रशस्त ॥५८॥

ज्ञानलता वर बाढ़ि लहि, तिहिं ते आत्मस्वरूप । तिहिं दैवी संपत्ति को, करहुँ बखान अनूप ॥५९॥
आसुरि संपति घोर जो, राग द्वेष आधार । अरु जो ज्ञान विनाशिनी, तिहिं वरनत धनुधार ॥६०॥
सहजहिं इष्ट अनिष्ट करि, कौतुकिनी दुहुँ ओर । यह नवमें अध्याय में, विवरण कियो निचोर ॥६१॥
सब विचारि कैं तबहिं परि, अपर प्रसंगहिं पाय । सो प्रसंग तिहिं देव अब, वरनत अवसर पाय ॥६२॥
जो पिछले अध्याय तें, अहहि कथन संबंध । सोलहवें में ताहि को, यह जानिये प्रबंध ॥६३॥
यह दुहु अहहिं समर्थ, देव असुर संपत्ति परि । हित अनहिततहिं तदर्थ, अब प्रस्तुत यह ज्ञान के ॥६४॥
दैवी संपति को सुनहु, प्रथमहिं करत विचार । धर्म दीप निशि मोह को, मोक्ष पंथ सहकार ॥६५॥
संपति कहि संपाद जो, ताको सब संसार । पोषत एकहिं एक इमि, इक थल वस्तु अपार ॥६६॥
दैवी संपति सुखद यह, इक आश्रम के जोग । दिव्र गुन कारन याहि कहि, दैवी संपति लोग ॥६७॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अर्थ—ज्ञानयोग, इकनिष्ठता, अभय, चित्त-शुधि, दान ।
वेद पठन, इन्द्रिय दमन, मख, तप, सरल महान ॥१॥

जो दैवी गुण मध्य अब, निवसति होय प्रधान । सुनहु ताहि को नाम इमि, भाषत अभय सुजान ॥६८॥
कूदि न पूर महान महँ, डूबन को भय नाहिं । किंवा सेवहिं पथ्य जो, रुज न होय घर माँहि ॥६९॥
कर्म अकर्महिं पथहिं तिमि, उठन न दे हंकार । अर्जुन जो तजि देत है, सकल भीति संसार ॥७०॥
ऐक्यहि के विस्तार तें, सब जग आत्मस्वरूप । भयवार्ता के देश तें, पार होत सो भूप ॥७१॥
किंवा लोनहिं डारि जल, लौन नीर बनि जाय । तिमि आपहिं अद्वैत ह्वै, भय आपहिं नसि जाय ॥७२॥
अहो अभय जिहिं नाम कहि, तिहिं ऐसो ही जान । सीमा सम्यक ज्ञान की, यह संपूर्ण सुजान ॥७३॥
निर्मल बुधि जाको कहत, तस इहि चिन्ह सुजान । राख न आगी ते जलत, बुझत न जलत समान ॥७४॥
ऐसा प्रीति परवा प्रथम, मधिकालहिं नरराज । निज अति सूक्ष्म रूप ते, जैसे चन्द्र विराज ॥७५॥

निज स्वरूप रहि गंग, वर्षा ऋतु के नंतरहि। लहि मधिकाल प्रसंग, ग्रीषम ऋतु के प्रथम जिमि ॥७६॥
औ संकल्प विकल्प नहिं, रज तम गुन वृति त्याग। बुद्धि आतमानंद को, उपभोगति तजि राग ॥७७॥
इन्द्रियगन अनुकूल वा, प्रतिकूलहि दरसाय। विस्मय उठत न चित महँ, कैसहु कछू सुभाय ॥७८॥
ग्राम गयो प्रिय पतिव्रता, तिय विरहाकुल होय। हानि लाभ की बात तिहिं, जिमि मन भावत सोय ॥७९॥
सत स्वरूप के रुचिरपन, बुधि अनन्य इमि होय। सत्त्व शुद्धि ता कहँ कहत, केशिनिषूदन जोय ॥८०॥
आत्ममिलन के हेतु अब, ज्ञान योग यह दोय। इन में ते जो एक की, बुधि में थिरता होय ॥८१॥
सकल चित्त की वृत्ति को, त्यागन करि इहि भाँत। पूर्णाहुति निष्काम जिमि, देत हुताशनि तात ॥८२॥
अतिकुलीन निज कन्यका, सत्कुलीन कहँ देय। नारायण में थिर अहै, जिमि लक्ष्मी कौंतेय ॥८३॥
जो वृत्तिविगत विकल्प थिर, ज्ञान योग मधिजान। याहि कहत गुन तीसरो, श्री मुकुन्द भगवान ॥७४॥
यथाप्राप्त धनमाँहि, अब तन मन अरु वचन तें। अरिहु जो दुख माँहि, करत न ताकी वंचना ॥८५॥
जिमि तरु छाया फूल फल, मूलपत्र तें पार्थ। पथिक जनन की वंचना, करत न कबहुँ यथार्थ ॥८६॥
इमि मन तें संपत्ति लगि, सन्मुख अवसर जाय। दुखी मनोरथ पूर्ति हित, उपयोगी ह्वै जाय ॥८७॥
समुझ नाम तिहिं दान जो, अंजन मोक्ष निधान। अब दम को लच्छन सुनहुँ, वरनत श्री भगवान ॥८८॥
इन्द्रिय विषय मिलाप को, करत वियोग सुजान। असिधारन करि शत्रु को, जिमि नासत बलवान ॥८९॥
इन्द्रिय द्वारहि विषय की, पवन लगन नहिं देतु। सौंपत प्रत्याहार कर, इन्हहि बांधि कपिकेतु ॥९०॥
चित प्रवृत्ति जो आन्तरिक, बाहिर ताहि निकार। विरति आग सुलगाय जो, इन्द्रिय दशहु द्वार ॥९१॥
श्वासोच्छ्वासहु तें अधिक, कठिन व्रतहि आचार। निशिदिन व्रत आचरन करि, उत्तम रीति उदार ॥९२॥
जाको नामहि दम कहत, ऐसो जान स्वरूप। अब सच्छेपहिं तें कहत, यज्ञ अर्थ सुनु भूप ॥९३॥
करि प्रमदादिक दूर, अग्रभाग ब्राह्मणहिं करि। निज अधिकारहिं पूर, करत आचरन मध्य महँ ॥९४॥
जो सर्वोत्तम जाहि को, देव धर्म भजनीय। यथा शास्त्र जो यजन करि, विधितें अति कमनीय ॥९५॥
जैसहि द्विज षट्कर्म करि, शूद्र नमन करि ताह। यह दोउन को सरिस मख, फलदायक नरनाह ॥९६॥
निज अधिकार विचार सब, निज निज यजन कराँय। परि फल आशा रूप विष, तामहँ नहीं मिलाँय ॥९७॥

उपजि न मन तन द्वार में, मैं कर्ता यह भाय। वेदापरतु को आपहीं, आश्रम चल बनि जाय ॥९८॥
एहि समझि न सर्वत्र ही, यजन सशास्त्र प्रमान। ज्ञातापथ कैवल्य को, यह सगी मतिमान ॥९९॥
गेंद अवनि में तजत नहिं, तजि भुजधारन हेतु। किंवा बोइय बीज थल, फल हेतुहि कपिकेतु ॥१००॥
सादर दीपहि लेत हित, ढूंढन धरी सुवस्तु। किंवा शाखें फल लहैं, सींचत मूलहिं अस्तु ॥१०१॥
अधिक कहा निजरूप के, देखन हेतु सुजान। दरपन पोंछत प्रीति तें, बार बार सनमान ॥१०२॥
ईश्वर गोचर होय, अहै वेद प्रतिपाद्य जो। अर्जुन श्रुति को सोय, बार बार अभ्यास करि ॥१०३॥
इतर नाम मन्त्रस्तवन, ब्रह्मक्षत्र द्विज काज। तत्त्व प्राप्ति हित बार बहु, पढ़ि पवित्र नरराज ॥१०४॥
अर्जुन है स्वाध्याय यह, जिहिं बरनन कार देव। अब तप के तात्पर्य को, सुनु बरनत मुदमेव ॥१०५॥
दान स्वयं सर्वस्व सो, व्यर्थ उड़ाय न दान। जैसे राखत स्वयं फल, इन्द्रावन को जान ॥१०६॥
किंवा अग्निहि धूप पड़ि, सोधे कनक घटाय। कृष्णपक्ष महँ चन्द्र को, जैसे ह्रास दिखाय ॥१०७॥
निज स्वरूप को पाय तिमि, इन्द्रिय प्रान शरीर। ह्रास होत जो याहि को, तासु नाम तप धीर ॥१०८॥
किंवा तप को रूप यदि, भिन्न तदपि यह जान। चोंचहि जलपय विलग करि, जैसे हंस सुजान ॥१०९॥
जनमत इकता जीव तन, विलगि करै निज हाथ। सो विवेक अन्तःकरन, उपजावत नरनाथ ॥११०॥
कठिन मति पथ विषम महँ, पावत आत्मविचार। स्वप्न सहित निद्रा नसै, जिमि जागे धनुधार ॥१११॥
अरु विवेक मिलि जाय आत्म-प्राप्ति अन्तःकरन। जो सोंचहि नर राय, तप को यह सिद्धान्त है ॥११२॥
अब शिशु हितप्रद पथ अहै, जिमि प्रानिन महँ प्रान। तिमि सब जग सौजन्यमय यह आर्जव मतिमान ॥११३॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अर्थ—सत्य अहिंसा क्रोधबिन, त्याग अचुगली शांत।
भूतदया अति लोभ नहिं, मृदुल सलज्ज थिरांत ॥२॥

अब जग को हित कामनहिं, तन मन वच आचार। जानि अहिंसा रूप सो, यह निश्चय धनुधार ॥११४॥

जैसे ज्ञानी अधखिली, कोमल तीखी होय । किंवा तेज शशांक को, शीतल सुखमय जोय ॥११५॥

औषध देतहि रोग नशि, जीभहु नहि करुवाय । ऐसी औषध मिलत नहिं, उपमा कैसे पाय ॥११६॥

जल अति कोमल कमलदल, हिलुरत परि न लुभाय । परि फोरत पर्वत महा, अति कराल नरराय ॥११७॥

शंक निवारन माँहि जो, तीछन लौह समान । श्रवन करन में सुखद अति, लजि माधुर्य महान ॥११८॥

जो कौतूहल तें, सुनिय, कानहु वानी पाय । सत्यपने की प्रबलतहिं, भेदि ब्रह्म लगि जाय ॥११९॥

अधिक कहा प्रियपनहिं झक, कौनहु तें न कराय । यदि विचारिये अर्थ तो, कौनहुं धका न पाय ॥१२०॥

घातक सत्य यथार्थ, गान बहलिया कान मधु । जरहि सत्य सो पार्थ, अनल कार्य सम प्रगट करि ॥१२१॥

कान मधुर पै अर्थ तें, होत हृदय के खड । सो वानी सुन्दर नहीं, है दानवी प्रचड ॥१२२॥

जिमि अपराधहि ऊपरहिं, कुपित मातु के रूप । लालन कोमल कमलदल, जैसे अहै अनूप ॥१२३॥

कान सुनत सुखदाय जो, मधुर अहै परिनाम । भेदक मर्म न वचन जो, सत्य तासु को नाम ॥१२४॥

उदकहिं पाहन सींचिये, होत अंकुरित नाँहि । माखन निकरि न बहु करहिं, मथन काँजी माँहि ॥१२५॥

उरग काँचरी सिरहि पग, धरि परि फन न पसार । ऋतु वसन्तहू आय परि, फल नहिं गगन मँझार ॥१२६॥

जैसे रंभारूप लखि, उपजि न शुक मन काम । वा भस्महि घृतहू परै, अनल न जरि परिनाम ॥१२७॥

जातें बालहु क्रोध भरि, तैसे शब्द अपार । बीजाक्षर सम जोरि तिहिं, कुपित करब उच्चार ॥१२८॥

जाकी आयु पुराय सो, जियत न धरि विधि पाय । तैसे क्रोध न उपजि तिहिं, कीजे अमित उपाय ॥१२९॥

अक्रोधन तरा नाम, जाकी थिति ऐसी अहै । अर्जुन प्रति सुखधाम, इमि जानहु वरनन करत ॥१३०॥

जिमि माटी तजि त्यागघट, तंतु तजे पट त्याग । जिमि बीजहि के त्याग तें, वट तरु त्याग सुभाग ॥१३१॥

किंवा त्यागे भित्ति इक, तजे जात सब चित्र । किंवा निद्रा त्याग तें, तजि बहु स्वप्न विचित्र ॥१३२॥

त्यागत जलहि तरंग वा, वर्षा तजि घन त्याग । धन त्यागे तजि जात जिमि सकल भोग बडभाग ॥१३३॥

ज्ञानीहू तिमि देह महँ, करत अहंता त्याग । जिहिं त्यागे तजि जात हैं, सब ससार विभाग ॥१३४॥

नामहु ताको त्याग इमि, वरन्यो श्रीभगवान । भाग्यवान अर्जुन करत, प्रश्न याहि मन मान ॥१३५॥

सकल चिन्ह अब शान्ति के, करि सुस्पष्ट बखान । अति उत्तम कहि देव यह, सुनु मन लाय सुजान ॥१३६॥

आन्यो चाहत वस्तु जो, ताहि पूर्णतः जान । ज्ञाता ज्ञानहु विलय जहँ, सो थिति शांत सुजान ॥१३७॥
जिमि जल उमरत प्रलय को, बूड़त विश्व अपार । निज स्वरूप में आय पुनि, पावत विलय उदार ॥१३८॥
यह न भेद व्यवहार, अगम प्रवाह कि सिंधु पुनि । को जानत धनुधार, जल इकता को बोध परि ॥१३९॥
ज्ञेय मिलत ही उदर महँ, जब ज्ञातृत्व समाय । पुनि अर्जुन जो शेष सो, शांति स्वरूप सहाय ॥१४०॥
अरु दुखदायक रुज शमन, करि सद्वैद्य उपाय । तहँ सोचत नहिं यह अपन, किंवा दूजो आय ॥१४१॥
किंवा जो पंकहिं फँसी, लखि आकुलता पाय । यह दुधार गौ वा नहीं, मनुज विचार न लाय ॥१४२॥
किंवा डूबत निरखि जिहिं, उपजत दया महान । बूझि न ब्राह्मण अन्त्यजहिं, काढ़ि बचावत प्रान ॥१४३॥
अघी पाय दुर्गम बनहिं, करि पतिव्रतहिं उधार । शिष्ट बिना पहिराय पट निरखत नहीं उदार ॥१४४॥
सब कहँ निंदापात्र जो, पूर्व कर्म अनुसार । तिमि अज्ञान प्रमाद युत, अरु बहुदोष अपार ॥१४५॥
करि सहायता तासु पुनि, अर्जुन भले प्रकार । जो सालत दुख व्याधि तिहिं, जिमि तिहिं देय विसार ॥१४६॥
दोष अपर के शुद्ध करि, अपनी दृग की कोर । अरु अवलोकन करत पुनि, सदय तासु दिशि ओर ॥१४७॥
खेत बवैं पुनि जाय, देव पूजि पुनि दरश करि । पुनि प्रसाद कहँ पाय, प्रथम अतिथि संतोष करि ॥१४८॥
सन्मुख जन की न्यूनता, निज गुन बल करि दूर । नंतर ता कहँ सदय चखु, अवलोकत द्रवि पूर ॥१४९॥
कबहुँ न बेधत मर्म तिहिं, दुष्कृत प्रगटत नाँहि । अरु सदोष कहि नाम धरि, काहू दुखावत नाँहि ॥१५०॥
जिहिं उपाय तें पतित जन, पुनि ऊपर उठि जाँय । सोई कारज करन परि, देति न मर्महिं घाय ॥१५१॥
उत्तम जन के मान सम, करत नीच को मान । इहि सिवाय तिहिं दोष जे, निरखि न ताहि सुजान ॥१५२॥
अनचुगली के चिन्ह यह, अर्जुन निश्चय जान । मोक्ष मार्ग को सुखद यह, साधन जान प्रधान ॥१५३॥
औ दाया को रूप इमि, पूर्ण चन्द्रिका मान । लघु दीरघ देखत नहीं, शीतल करत समान ॥१५४॥
द्रवित दया अन्तःकरन, दुःख निवारन काल । श्रेष्ठ अहै वा अधम यह, गनत नहीं महिपाल ॥१५५॥
जल समान को जगत में, निजपन नाशत जान । परि सूखन के समय हू, तृन के राखत प्रान ॥१५६॥
कृपाविवश अकुलाहिं, दूजे को लखि दुःख तिमि । मानत अल्पहि ताहि, निज सर्वस्वहिं देय करि ॥१५७॥
जल बाहिर निकरत नहीं, खाली भरे सिवाय । थकित मनुज के तोष बिन, आगे धरत न पाँय ॥१५८॥

निज पग महँ काँटा चुभै, सम जिमि पीर जनाय। तिमि दूजे के दुख निरखि, आप दुखी ह्वै जाय ॥१५६॥

किंवा शीतल पगहिं कछु, लागत आँख जुडाय। तिमि दूजे के सुखहि ते, आप सुखी ह्वै जाय ॥१६०॥

अधिक कहा जिमि तृषित हित, जग में जल निर्मान। दुखित जनन के दुख हरन, के हित राखत प्रान ॥१६१॥

अहहुं ऋणी मैं जन्मतः ताको मिलत उदार। मूर्तिवंत तिहिं जानिये, दाया को अवतार ॥१६२॥

सूर्य उदय के होत ही, कमल प्रफुल्लित होय। पै सुगंध उपयोग तिहिं, भानु लेत नहिं सोय ॥१६३॥

किंवा पाय वसंत श्री अति शोभा बन आय। पै सो उपभोगत नहीं, निज पंथहि चलि जाय ॥१६४॥

किं बहुना अतिसिद्धि सह, लक्ष्मी करत सहास। महाविष्णु के ढिग निवसि, गनैं न जिमि सुखरास ॥१६५॥

ऐहिक दैविक भोग, जो इच्छा सेवक बनैं। कछु कीजै उपयोग, रुचि तथापि मन माँहि नहिं ॥१६६॥

अधिक कहा कौतूहलहिं, उर न विषय अभिलास। 'अलोलुप्त्व' याको कहत, यह जानहु सुखरास ॥१६७॥

जिमि छत्ता मधु मक्षिकहि, जलचर कहँ जिमि नीर। अथवा अंबर खगगनहि, बिन प्रतिबन्ध सुधीर ॥१६८॥

किंवा बालक लाभ हित, मातु प्रेम संबन्ध। जिमि वसंत सुस्पर्श तें कोमल मलय सुगंध ॥१६९॥

जिमि नयनहि प्रियजन दरस, कूर्म दृष्टि तिहि बाल। प्रानि मात्र में तिमि रहत, सो कोमल भुविपाल ॥२७०॥

छुअत लगत अतिमृदुल अरु, मुखमहँ अति रुचिकार। सूंघत घ्राण सुगंध युत, निरखत स्वच्छ अपार ॥१७१॥

यदि कछु बाधा करत ना, चाहै जितनौ खाय। तो उपमा कपूर की ताको दीन्ही जाय ॥१७२॥

उदर महाभूतहि धरै, परिमाणहु मधि जाय। अरु जैसे आकाश ह्वै, जग अनुसार दिखाय ॥१७३॥

किं बहूना जो जियत है जग के जीतन हेतु। ताको 'मार्दव' कहत मैं, जिहिं थिति इमि कपिकेतु ॥१७४॥

जो हीनी थिति आय, तेज रहित मानी पुरुष। भूप पराजय पाय, जैसे लज्जित दुखित अति ॥१७५॥

संन्यासी चाण्डाल गृह, अकस्मात आ जाय। अरु तिहिं उत्तमके हृदय, जिमि लज्जा उपजाय ॥१७६॥

क्षत्रिय रण तें नसत जो, सहित लाज पछितात। किंवा आमंत्रण करै, सतिहिं विधवपन तात ॥१७७॥

सुन्दर जन महँ दोष या, सभावितहिं कलंक। प्रानहिं संकट लाज में, जिमि दिन मांहि मयंक ॥१७८॥

सार्धत्रयकर देह धरि, मरि मरि पुनि उपजाय। भिन्न भिन्न बहु योनि महँ, जन्म मरन कहँ पाय ॥१७९॥

गर्भ जरायु निवास लहि, रक्त मूत्र रस सोय। लागत ऐसी लाज पुनि, ऐसी बहुरि न होय ॥१८०॥

अधिक कहा धरि देह जो, नाम रूप कहँ धार । तातें लाज न दूसरी, अधिक जान धनुधार ॥१८१॥
ऐसे दुर्लक्षण सहित, तन तें जो उकतात । यही लाज है साधु को, निलजहिं भली जनात ॥१८२॥
जिमि कठपुतरी बाहु को, ताग टुटत गतिरोध । तिमि जय कीजै प्रानगति, कर्मेन्द्रिय अवरोध ॥१८३॥
किरन प्रभा गति गोय, किंवा रवि के अस्त तिहिं । ज्ञानेन्द्रिय गति जोय, तिहिं प्रकार मन जीतिये ॥१८४॥
ऐसी नियमन मन पवन, ते दश इन्द्रिय पंगु । अचापल्य को मर्म यह, जानहु अरि मदभंगु ॥१८५॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अर्थ—शौच तेज धीरज क्षमा, अति अमान अद्रोह ।
दैवी संपति महँ उपजि, इन लच्छनयुत सोह ॥३॥

ईश्वर की अब प्राप्ति हित, अवलम्बन पथ ज्ञान । इमि इच्छा धारन करत, होत न न्यून सुजान ॥१८६॥
अग्नि माँहि प्रविशाय वा, अन्य मरन दुख पाय । सती गनत नहिं त्रास तिहिं, प्राणेश्वर सुखदाय ॥१८७॥
आपुन नाथहिं चिंति तिमि, विषयन विषवत् बाधि । अवलंबन करि कठिन पथ, धारत शून्य समाधि ॥१८८॥
शास्त्रकथित विधि अविधि को, गनत नहीं प्रतिबन्ध । महासिद्धि को चित्त में, नहिं इच्छा संबन्ध ॥१८९॥
बहु प्रकार मन सहज ही, धावत ईश्वर ओर । आध्यात्मिक तिहिं नाम कहि, तेज वीर सिरमोर ॥१९०॥
सहन करत सब में बड़ो, गर्व न क्षमा कराय । जिमि शरीर रोमहिं धरत, ताको सुधि बिसराय ॥१९१॥
इन्द्रिय कहँ मदमत्तता, पूर्व कर्मवश रोग । अथवा प्रिय अप्रियहु को, जो जग जोग विजोग ॥१९२॥
आवहिं जो इक साथ, महापूर सब पात को । धीरज्ञान थिर पाथ, ह्वै करि पार्थ अगस्त्य मुनि ॥१९३॥
नभ महँ रेखा धूम की, अति विशाल उड़ि जाय । एक लहरि महँ पवन जिमि, सब कहँ देत उड़ाय ॥१९४॥
अधिभौतिक अधिदैव अरु, आध्यात्मिक गुण व्यूह । सब संकटहू प्राप्त करि, जस नहिं कष्ट समूह ॥१९५॥
चित कहँ क्षोभत पार्थ तिहिं, धीरज थिरता देय । ताको धृति वरनत सकल, यह जानहु कौंतेय ॥१९६॥
कंचन कलसहि शुद्ध करि, भरहि सुधा जल गंग । अन्तर बाहर कलस सम, जाको शुचिता संग ॥१९७॥

निष्कामहिं आचरन तन, मनहि आचरन ज्ञान, । अन्तर बाह्य शुचित्व को, जनु प्रत्यक्ष प्रमान ।।१६८।।
ज्यों गंगाजल पाय अरु, संतापहु कहँ नास । पावन करि तरु तीर के, आय सिन्धु महँ वास ।।१६६।।
नासत जग अँधियार अरु, सँपति करत विकास । करत प्रदक्षिण भानु जिमि, विचरन करि आकास।।२००।।
छोरहिं बधन मॉहि तिहि, डूबन हार निकार । दुखित जनन के दुःख को, निरसन करत उदार ।।२०१।।
किं बहुना दिनरात,परसुख उन्नति हेतु जो । अरु प्रवेश करि तात, स्वारथ साधत ताहि के ।।२०२।।
निज स्वारथ के काज लगि, अनहित प्रानी जात । जो अड़चन संकल्प की, करत नहीं न सुहात ।।२०३।।
यह अद्रोह सरूप, अस, अर्जुन सुन्यो स्वभाय । ताको वरनन हम कियो, जैसो परयो दिखाय ।।२०४।।
गंगा चढ़ि सिव सीस पर, तहँ जाय सकुचाय । जाहि सदा सन्मान निज, लज्जाजनक जनाय ।।२०५।।
अर्जुन यह है सर्वथा, अमानित्व इमि जान । जाको यह वरनन भयो, वारंवार बखान ।।२०६।।
ये दैवी संपत्ति के, शुभ छब्बिस गुण जान । सार्वभौम जे मोक्षके, जिमि अगुवा मतिमान ।।२०७।।
दैवी संपति नित नवी, वा गुणतीर्थ स्वरूप । विरत सगर सुत भाग्य जनु, आई गंग अनूप ।।२०८।।
किंवा माला गुन कुसुम, बाला मुक्ति सुहाथ । निरपेक्षित वर विरत जो, तिहिं गल दै धनुहाथ ।।२०६।।
किंवा छब्बिस ज्योतिगुन, यह आरती सँवारि। गीता निज पति आत्म कहँ, नीराजनी उतारि ।।२१०।।
गीता सिंधु स्वरूप, दैवी संपति सीप किय । गुन यह मुक्ता रूप, जो फल उपजै ताहि महँ ।।२११।।
अधिक कहा वरनन करौं, प्रगटित सरल स्वभाव । कर दैवी गुण राशि कों, संपतिरूप जनाय ।।२१२।।
जो मन महँ दुखबेलि भरि, कंटक दोष स्वरूप । तिहिं आसुरि संपत्ति को,अब हम वरनत भूप।।२१३।।
यदपि अनुपयोगी अहै, जानि त्याग के हेतु । श्रवन शक्ति निज करि भली, अतः सुनहु कपिकेतु।।२१४।।
नरक व्यथा की वृद्धि हित, पातक घोर समूह । यह आसुरि संपत्ति तिहिं, मिलि करि के रचि व्यूह ।।२१५।।
किंवा मिलि विषवर्ग सब, कालकूट तिहिं नाम । तिमि यह संपति आसुरी, दोष सब परिनाम ।।२१६।।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।४।।

अर्थ—ढोंग, गर्व, मानीपनो, क्रोध, निठुर, अज्ञान ।
जे आसुरि संपत्ति महँ, उपजत तिनकर जान ॥४॥

जो आसुरि संपत्ति के, दोषन माँहि प्रधान । दंभ ताहि को कहत हैं, सुनु तस चिन्ह सुजान ॥२१७॥
निंदहिं जो निज मातु को, जगहिं दोष दरसाय । यद्यपि तीर्थ पुनीत पै, पतन हेतु ह्वै जाय ॥२१८॥
गुरुमन विद्या ब्रह्म लहि, चौहाटहिं उघराय । यद्यपि हितकर आपनी, पै अनहित बनि जाय ॥२१९॥
डूबहि लगहि न बार, तिहिं नौकहिं सिर बाँधि जिमि । वेगि लगावत पार, नौका जो बहुपूर महँ ॥२२०॥
जीवन कारन अन्न तिहिं, कहि उत्तम बहु खाय । सो अन्नहु विषरूप तिहिं, होय धनंजय राय ॥२२१॥
धर्म सखा दुहुँ लोक को, यदि चहुँ ओर उघार । आपन तारनहार पै, तिहुँ ते दोष पसार ॥२२२॥
अतः चौहटहिं बचन ते, निजकृत धर्म उचार । धर्महु होय अधर्म सो, दंभ जानि धनुधार ॥२२३॥
आवहिं मूरख जीभ पर, जो यदि अक्षर चार । ब्रह्मसभाहु को कछू, समझत नहीं गँवार ॥२२४॥
किंवा मद्यप हयगनहिं, गजपति कहँ लघुमान । गिरगिट कांटा तरु चढ्यो, स्वर्गहिं नीचो जान ॥२२५॥
ईंधन तृण की पाय करि, धावत गगन कृशानु । डाबर में बसि मीन जिमि, करि जलनिधि अपमानु ॥२२६॥
इक दिन मिलै परान्न तो, होय रंक उन्मत्त । तिमि वा उर लहि मान बहु, तिय विद्यानुति चित्त ॥२२७॥
घन छाया लखि भाग्य हत, जैसे घर कहँ तोर । अरु मृग जल लखि मूर्ख जिमि, जल के बांधहि कोर ॥२२८॥
इहिं विधि जो मत जात, अधिक कहा धन कारणहिं । दर्प अहै सो तात, वचन अन्यथा जान जनि ॥२२९॥
जगहिं वेद विश्वास अरु, ईश पूज्य विश्वास । एक सूर्य यह जगत को, जैसे करत प्रकाश ॥२३०॥
जग महँ इच्छित वस्तु जो, सार्वभौम पद एक । निज जीवन प्रिय सब जगहिं, निर्विवाद यह टेक ॥२३१॥
अतः विश्व उत्साह तें, बरनत ईश्वर वेद । द्वेष करत सुनि ताहि को, अरु मानत मन खेद ॥२३२॥
कहत खाहु ईश्वरहि अरु, वेदहिं विष दै मार । मम महिमा मर्याद को, जो है नाशन हार ॥२३३॥
ज्यों खद्योतहु रवि निदरि, ज्योति न चहत पतंग । अरु सागरतें बैर करि, जिमि टिटिहर मतिभंग ॥२३४॥
सहि न नाम ईश्वरहु को, विवश मोह अभिमान । कहत बाप तें यह अहै, मेरो सौत समान ॥२३५॥

अधिक पुष्ट इमि मान को, परम मत्त अभिमान । ता कहँ रौरव नरक को, पंथारूढहिं जान ।।२३६।।
औ दूजे को सुख निरखि, तासु निमित्त बनाय । क्रोध अग्नि को विष चढ़त, मनोवृत्ति महँ आय ।।२३७।।
शीतल जल पड़िजाय, तप्त तेल तो भभक उठि । जलन स्यार उर आय, चंद्रबिंब कहँ देखि जिमि ।।२३८।।
सूर्य उदय लखि प्रात महँ, जग आयुष्य प्रकास । फूटहिं नयन उलूक के, पापी मानत त्रास ।।२३९।।
चोर मरन ते दुखद गनि, सब जग सुखकर प्रात । साँपहि दूध पियाइये, कालकूट बनि जात ।।२४०।।
अगम सिंधु के नीर को, बडवानल करि पान । तदपि जरत दिन रैन सो, कबहुँ न शांति निदान ।।२४१।।
जिमि विनोद विद्याविभव, लखि सौभाग्य महान । दूजे को तिमि दुगुन बढ़ि, रोष क्रोध तिहि जान ।।२४२।।
जस मन बांबी उरग की, नयन बान की नोंक । बोलब वर्षा अगिन की, मानहु होत अरोक ।।२४३।।
अपर क्रिया गण जासु के, प्रखर आर की धार । बहिरंतर जाको अहै, अतिशय तीख अपार ।।२४४।।
जिहिं मनुष्य महँ अधम गनि, कटुभाषण अवतार । अब लच्छन अज्ञान के, सुनु मन दे धनुधार ।।२४५।।
ज्यों शीतोष्णहि परस को, भेद न जान पखान । किंवा जिमि जन्मान्ध को, रैन दिवस नहिं जान ।।२४६।।
जरि सब खाय कृशानु, खाद्य अखाद्य न कहत कछु । सोनो लोहो मानु, किंवा पारस जान नहिं ।।२४७।।
किंवा दर्वी जिमि प्रविशि, रस अनेक के माँहि । किंतु स्वयं रस स्वाद कर, चाखन जानत नाँहि ।।२४८।।
किंवा वायु न परख करि, पंथ कुपंथ विशेखि । तिमि अनुचित अरु उचित को, अंधपने नहिं देखि ।।२४९।।
यह उत्तम यह अधम है, ऐसहि बाल न जान । जो देखहि मुँह माँहि तिहिं, केवल धरत अजान ।।२५०।।
करि खिचड़ी अघ पुण्य भखि, तिमि करि घी व्यापार । करुवो मधुर न जान परि, इमि जिहिं थिति धनुधार ।।
नाम अहै अज्ञान तिहि, या महँ शंक न मान । छहों दोष के चिन्ह इमि, तुम तें किये बखान ।।२५२।।
आसुरि संपति अति बली, छहों दोषयुत अंग । अहै भयंकर तासु विष, जिमि लघु अंग भुजंग ।।२५३।।
अनल तीन विद्युत प्रलय, वाडव गनि लघु जान । परिपूरत नहिं विश्व सब, जो आहुति करि प्रान ।।२५४।।
धाताहू के शरण गहि, टरत न मरन त्रिदोष । तिमि तीनहु तें दुगुन हैं, यह छह याके दोष ।।२५५।।
अरु जब करहिं उभार, ये संपूरण दोष पट । अल्प न गनिय विचार, या आसुरि संपत्ति के ।।२५६।।
सकल क्रूर ग्रह किंतु जब, मिलैं एक ही राशि । किंवा निंदक कहँ लगत, अघ अनेक दुखराशि ।।२५७।।

सकल रोग गन व्याप्त जिमि, मरनहार के अंग । दुष्ट मुहूर्तहि जिमि मिलहिं, सब दुर्योग प्रसंग ॥२५८॥
किंवा थकि नर बाढ़ परि, विश्वासहि वश चोर । तिमि ये दोष मनुष्य कर, करत अनिष्ट अघोर ॥२५९॥
अंत समय जिमि छाग कहँ, सात डंक के घात । बीछी हन तिमि दोष षट, सब इकत्र ह्वै जात ॥२६०॥
देय तिलांजलि मोच्छ के, पंथहिं जो धनुधार । सो चालत नहिं मोच्छपथ, बूड़त मधि संसार ॥२६१॥
अधम योनि की पॉयरी, उतरत पांडुकुमार । जो थावरहू के तले, बैठत पाँव पसार ॥२६२॥
अधिक कहा इमि मनुज महँ, ये सब षटहू दोष । मिलि आसुरि संपत्ति की, मनहुँ बढ़ावत रोष ॥२६३॥
इमि इहि दैवी आसुरी, सुविदित संपति दोय । विलग विलग करि तासु ये, लच्छन बरनैं जोय ॥२६४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

अर्थ—दैवी संपत्ति मुक्ति हित, आसुरि बंधन हेतु ।
तू जनम्यो दैवी विषै, शोक तजहु कपिकेतु ॥५॥

दैवी संपति मान, इन दो महँ जे प्रगट कहि । प्रातःकालहि जान, मोच्छसूर्य उजियार तहँ ॥२६५॥
दूजी संपति आसुरी, मानहु मोह स्वरूप । बंधन कारन जीव की, लौह शृङ्खला रूप ॥२६६॥
किंतु न राखहु भीति मन, यह सुनि कै धनुधार । कहहु रात को भय करै, कैसे दिन उजियार ॥२६७॥
यह तिहि संपति आसुरी, अर्जुन बंधनकार । जो यह षटहू दोष को, बन्यो रहत आधार ॥२६८॥
दैवी संपति हम कही, तुम तें पांडुकुमार । या महँ तुम्हरो जन्म भो, वरगुण सिंधु अपार ॥२६९॥
या दैवी संपत्ति के, ह्वै स्वामी धनुधार । सतत भोगु कैवल्य सुख, सुखस्वरूप निरधार ॥२७०॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

अर्थ—जगहिं दैव अरु आसुरी, भूत सृष्टि दुइ भाँति ।
दैवी विस्तर सों कही, अब सुनु आसुरि पाँति ॥६॥

जग महँ दैवी आसुरी, संपतियुत नरनार । पंथ अनादि प्रसिद्ध यह, चलत जगत व्यवहार ॥२७१॥

जिमि जग रजनी माँहि करि, निशिचर निज व्यापार । अरु मनुजादिक दिवस महँ, करहिं सुनिज व्यवहार ॥

आपनः अपने पंथ महँ, अर्जुन तेहि प्रमान । चलैं दोउ संसार जो, दैव आसुरी यान ॥२७३॥

दैवी संपति प्रकार, ज्ञान समय के कथन तिमि । कह्यो सहित विस्तार, सो पिछले अध्याय महँ ॥२७४॥

औ आसुरि संपत्ति महँ, जो घूमत संसार । तासु विषै तुव प्रति कहौं, सुनहु, करहु अवधार ॥२७५॥

कोइक श्रवन न करि सकै, जिमि बिन वाद्य न नाद । विना पुष्प मकरन्द को, मिलिबौ जिमि जग बाद ॥२७६॥

आसुरि संपति पार्थ तिमि, बिन आधार शरीर । नहीं अन्यथा लखि परै, कैसेहु रनधीर ॥२७७॥

इंधनादि में प्रगट करि, जिमि पावक दरसाय । ओत प्रोत भरि प्रानि तन, तब यह देखी जाय ॥२७८॥

जिमि जिमि बाढ़त ईख तिमि, तिहिं में रस बढ़ि जाय । प्रानी के तन बढ़हि जिमि, तिमि सो बाढ़हिं पाय ॥२७९॥

अब तिहिं प्रानी को सकल, रूप कहौं समुझाय । दोषवृन्द जो आसुरी, संपति में उपजाय ॥२८०॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

अर्थ—उचित कहा अनुचित कहा, आसुर जन नहिं जान ।
तिन्ह महँ शौचाचार नहिं, अरु नहि सत्य प्रमान ॥७॥

करि निषेध पापाचरन, वा करि पुण्याचार । यह न ज्ञान मन तासु जहँ, भरयो अधिक अँधियार ॥२८१॥

कोश कृमिहु जिमि वेग ही, संकट में पड़िजाय । अपने आवागमन को, पंथ न जानन पाय ॥२८२॥

चोरहिं ऋण दै देत, अगली बात विचार बिन । किंवा मूर्ख अचेत, पुनि मिलिहै के मिलहि नहिं ॥२८३॥

आसुर जन तैसे प्रवृति, अरु निवृत्ति नहिं जान । और शौच को स्वप्नहू, देखत नहीं अजान ॥२८४॥

यदि कालिख कोयला तजि, काग श्वेत ह्वै जाय । मांस अशन तें दानवहु, तब कदापि उकताय ॥२८५॥

आसुर प्रानी माँहि जग, शौच कबहुँ नहिं आय । पवित्रत्व कहु मद्य के, घट महँ कबहुँ कि आय ॥२८६॥

नाशहि विधि की आश सब, चलत न पूर्वज पथ । विहित आचरन जान नहिं, कबहुँ सुभद्राकंथ ॥२८७॥

जैसे बकरी को चरब, अथवा गतिविधि पौन । अथवा जरिबो अनल को, कहौ रोकि सकि कौन ॥२८८॥
तिमि इच्छा अनुसार ही, करहिं विविध आचार । आसुरजन को सत्य तें, सदा वैर व्यवहार ॥२८९॥
जौ बीछी निज डंक तें, गुदगुदाव करि देय । तो भाषण में सत्यता, आसुर के कौन्तेय ॥२९०॥
अरु अपान के द्वार पै, होय कदापि सुगंध । तदपि आसुर के मुखहिं, कठिन सत्य संबंध ॥२९१॥
करत न कछु इहि भाँति, निज स्वभाव सों अति बुरे । कहत अपूरब बात, अब हम इनके कथन की ॥२९२॥
ऊट निकट जा देखिये, सुभग कौन सो अंग । तिमि आसुरी प्रसंग को, बरनौ सुनहु प्रसंग ॥२९३॥
धुवांदान के वदन तें, धुवां भभकि धुंधवाय । तैसहि आसुरि शब्दगति, हम सुस्पष्ट बताँय ॥२९४॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

अर्थ—असत जगत नहिं धर्मथिति, अरु ईश्वर तें हीन ।
काममूल संयोगमय, अन्य न कारन चीन्ह ॥८॥

यह जग अहै अनादि थल, ईश्वर नियमन हार । न्यायान्यायाचार को, वेद करत निरधार ॥२९५॥
अन्यायी जिहिं वेद कहि, दंड नरक को पाय । जाहि न्याययुत कहहि सो, सुखमय स्वर्ग सिधाय ॥२९६॥
जगत व्यवस्था पार्थ इमि, जो अनादि चलि आइ । वृथा कहहिं आसुर सबहिं, मिथ्या बात बनाइ ॥२९७॥
याजक मूढहिं मख ठग्यो, फँसि सुर प्रतिमहिं सेव । योगी फँसे समाधिभ्रम, करि के भगवे भेव ॥२९८॥
जो पावो निज शक्ति तें, करु ताको उपभोग । या सिवाय अरु है कहा, कहहु पुन्य को जोग ॥२९९॥
कि बहु निज अँगहीनतहिं, मिलत विषय सुख नाँहि । अतः विषय सुखहीन ह्वै दुखित महाअघ आँहि ॥३००॥
साँचहि यदि यह पाप है, हरन धनी के प्रान । तो तिहि सब धन हाथ निज, यह तो पुण्य महान ॥३०१॥
निर्बल कहँ खावैं बली, यह यदि अघ कहि जाय । मीनगनन को वंश इमि, अति विशाल नशि जाय ॥३०२॥
करहिं कुमार कुमारि को, ब्याह प्रजा के हेतु । कुलहिं शोधि शुभ लग्न में, करि विचार कपिकेतु ॥३०३॥
संतति की गणना नहीं, पशु खग आदिक माँह । तिन्ह को कौन विधान तें, कीन्हो जात बिवाह ॥३०४॥

चोरी को धन खाय जो, तिहिं नहिं विषहि समान। जो प्रेमहि व्यभिचार करि, कोढ़ी कौन अजान ॥३०५॥

अतह जगत को ईश है, शासक धर्म अधर्म। पावत फल परलोक में, जैसहि कर्म अकर्म ॥३०६॥

अतः ईश परलोक नहिं, दिखत व्यर्थ ही जान। करत पुण्य अघ जाय मरि, को भोगहि पुनि आन ॥३०७॥

इतहिं उर्वशी इन्द्र सुख, स्वर्ग लोक सम जान। तैसहि कृमिहू नरक महँ, क्रीडत अति रुचि मान ॥३०८॥

अतः स्वर्ग अरु नरक नहिं, नहिं अघ पुण्य विभाग। जानु उभयथल भोगसुख, कामहिं को अनुराग ॥३०९॥

जैसे ही मिलि जाँय, कामविवश तिय पुरुष युग। तिन्हहिं प्रजा उपजाय, तैसे ही संपूर्न जग ॥३१०॥

औरहु स्वारथ हेतु मिलि, यह जो जो अभिलाष। बहुरि परस्पर द्वेष तें, करत काम ही नाश ॥३११॥

इमि कछु काम सिवाय जग, मूल न दूजो जान। आसुरि संपति युक्त जन, को मत याहि प्रमान ॥३१२॥

अब यह निंदित कथन को, अधिक न करौं पसार। कारन याको कथन सब, व्यर्थ होय धनुधार ॥३१३॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

अर्थ—नष्ट प्रकृति लघु बुद्धि इमि, दृष्टि धारि कपिकेतु।
उपजि उग्र अति कर्म करि, जगक्षय अनहित हेतु ॥९॥

ईश्वर के विपरीत इमि, बड़-बड व्यर्थ कराय। यही नहीं अन्तःकरन, कछु निश्चय इक आय ॥३१४॥

कि बहु पाखंडी बन्यो, जगमहँ प्रगट उघार। नास्तिकपन को निज उरहिं, जो ध्वज रोपन हार ॥३१५॥

आदर करत न स्वर्ग को, नरकत्रास नहिं मान। अरु अंकुर जस वासना, को जरि गयो महान ॥३१६॥

जल बुलबुला मलीन महँ, कर्दम विषय स्वरूप। देहरूप निज खेल महँ, केवल डूबत भूप ॥३१७॥

जब जलचर को मरन ढिग, डोहहिं ढींवर जाय। वा तन छूटन के समय, सकल रोग उपजाँय ॥३१८॥

जग अनिष्ट उद्देश धूमकेतु को उदय जिमि। विश्वहिं हनत विशेष, आसुर जन तिमि जन्म लहि ॥३१९॥

अशुभ बीज जिमि बोइये, अंकुर अशुभ उगाय। सो जनु चालत पाप के, कीर्तिथंभ दुखदाय ॥३२०॥

आगे पीछे अनल जिमि, जारत इतर न जान। तिमि इक कृति विपरीत तिहिं, स्वच्छंदहि मन मान ॥३२१॥

जो कछु करि अब निजबलहिं, जाकी पाय सहाय । कृष्ण कहत जो पार्थ सों, सो सुनु अब मन लाय ॥३२२॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

अर्थ—आश्रित काम अपूर युत, दम्भ मान मद धार ।
मोहहिं गहि आग्रह असत, करत अशुचि आचार ॥१०॥

जाल भरत नहि नीर जिमि, पुरै न ईंधन आग । कबहुँ न पावत तृप्ति तिमि, भूखो सदा अभाग ॥३२३॥
दंभरु मान समूह को, करि इकत्र धनुधार । अरु आश्रय दे काम को, मन महँ भरत अपार ॥३२४॥
गज मदमातो वारुणी, पीकै अति मत जाय । तिमि मद चढ़ि तिहिं अंग महँ, जरा अवस्था आय ॥३२५॥
जो आग्रह आधार बनि, अरु मूर्खता सहाय । तिहिं निश्चय निर्वाह को, वरनन किमि करि जाय ॥३२६॥
जिमि पर की पीड़ा बढ़ै, प्रानहानि हो जाय । ऐसे कर्माचरन करि, सफल जनम जनु पाय ॥३२७॥
सब जग कहँ धिक्कार, अरु निज कर्महिं धन्य कहि । दश दिशि करत पसार, अपने इच्छा जाल को ॥३२८॥
ऐसे ही अभिमान तें, पापाचार बढ़ाय । धर्मधेनु छूटी फिरत, जिमि खेती चरि जाय ॥३२९॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

अर्थ—देह पतन लगि सीम नहिं, चिंता आश्रित जासु ।
काम भोग ही श्रेष्ठ अरु, अन्य न निश्चय तासु ॥११॥

इमि साधन उपरोक्त तें, कर्म प्रवृत्ति कराय । अरु जीवन पश्चात हू, की चिंता मन लाय ॥३३०॥
चिन्तातल पाताल तें, ऊँची नभ तें जान । तुलना में त्रिभुवन नहीं, जाको अणु परिमाण ॥३३१॥
यों जो मापति भोगपट, मन पहिरावति चिन्त । मरन कालहू वल्लभा, इव न तजति इहिं कन्त ॥३३२॥
चिंता होत अपार तिमि, सदा बढ़त दिन रात । जो असार विषयादिकहँ, मन महँ सेवत तात ॥३३३॥

गीत तियनि के सुनन चह, नैनन रूप निहार। आलिंगन कर तरुनि को, सब इन्द्रियनि अपार ॥३३४॥
नारिहिं सुख सम सुख न कछु, सुधा निछावर देय। अतह तासु के चित्त महँ, यह निश्चय कौंतेय ॥३३५॥
दिशि विभाग पाताल वा, स्वर्गलोक हू जाय। प्रमदा के सुख भोग-हित, तत्पर सदा रहाय ॥३३६॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

अर्थ—शत शत आशापाश बँधि, तत्पर क्रोधरु काम।
चह अन्यायहि अमितधन, काम भोग हित काम ॥१२॥

सोचि न लीलत मीन, आमिपकण आशा बडी। तिमि आसुर लवलीन, धारत आशा विषय की ॥३३७॥
इच्छित वस्तु न पाय पुनि, व्यर्थ बढ़ावत आस। बाढत कोशा कीट इव, निजहि बाँधि सहत्रास ॥३३८॥
अरु यदि अभिलाषा न पुरि, तबहिं द्वेष बहु होइ। काम क्रोध ते अधिक इमि, पुरुषारथ नहिं कोइ ॥३३९॥
दिवसहिं चलि जगि रात के, कबहुं न मिलि विश्राम। अतह रैन दिन ताहि को, अर्जुन आठो जाम ॥३४०॥
काम धकेलत शिखर तें, परहि टेकरी कोह। फूले मनहि समात नहिं, काम कोह के मोह ॥३४१॥
उपजति इच्छा विषय की, तिमि जो कछु मन माँह। द्रव्य सिवाय न हो सकै, पूर्ण कबहुं नरनाह ॥३४२॥
जो आवश्यक भोग को, द्रव्य उपार्जन हेतु। चहुँ ओरहि करि जगत में, झूम झपट कपिकेतु ॥३४३॥
एकहि अवसर साधि हनि, इक को हरि सर्वस्व। करि प्रबंध बहु युक्ति करि, इक के हित नाशत्व ॥३४४॥
ज्यों व्याधा बन जात धरि, भाला संसी जाल। बाज शिकारी श्वान अरु, बोरा पाश विशाल ॥३४५॥
आसुर दुष्ट स्वभाय, ऐसहि कर्म निकृष्ट करि। प्रानीगन समुदाय, उदरभरन हित हनन करि ॥३४६॥
अपर प्रान को घात करि, आसुर द्रव्य मिलाय। द्रव्य पाय कर चित्त तिहिं, कैसे तोपहिं पाय ॥३४७॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

अर्थ—अब यह धन मो कहँ मिल्यो, सफल मनोरथ होय ।
इतनो धन मम पास है, इतनो मिलिहै सोय ॥१३॥

कहत आज बहु जनन की, संपति करि स्वाधीन । तातें मैं अतिधन्य हौं, अर्जुन परम प्रवीन ॥३४८॥
ऐसहि महिमा कहत निज, तब मन बढि अभिलाष । संगहि सोचत अब हरहुँ, पर को धन सुखराश ॥३४६॥
यह जितनो धन मिलि गयो,तिहि की पुँजी लगाय । लाभ लहौं चर अचर को,जो यह सब दरसाय ॥३५०॥
यों स्वामी हमहीं बनहिं, जो धन सब संसार । जापर करहुँ कुदृष्टि मैं, करहुँ तासु संहार ॥३५१॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

अर्थ—यह रिपु हनि हनिहौं अपर, मैं अति प्रबल प्रचंड ।
मैं भोगी अरु सिद्ध मैं, ईश्वर सुखी अखंड ॥१४॥

ये रिपुगन मारे बहुत, बहुरि जीतिहौं आन । मैं अकेल अरु जगत सब, मम गुन करहिं बखान ॥३५२॥
जो मम आयसु अनुसरहिं,तिहि तजि शेषहिं नाशि । अधिक कहा चर अचर को, मैं ईश्वर सुखराशि ॥३५३॥
सब सुख को आधार मैं, भोगभूमि नृपराज । अतः इन्द्रहु तुच्छ है, मेरे सनमुख आज ॥३५४॥
सो कैसे नहिं होय, जो तन-मन-बच तें करौं । अरु ऐसो कह जोय, मम तज आयसु जो करे ॥३५५॥
कालहु तब लगि सबल जब, मैं न दिखत बलवान । सुख की केवल राशि हौं, मैं ही परम सुजान ॥३५६॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अर्थ—अहहुँ धनी कुलवान मैं, जग को मोहि समान ।
मख करि बहु दै मोद लहि, इमि विमोह अज्ञान ॥१५॥

श्रीयुत यदपि कुबेर पै, मो समान नहि जान । मेरे सम सम्पन्न नहिं, कमलापति भगवान ॥३५७॥

जाति सुजस कुल गोत मम, गावत सब संसार। अरु विधिहू मोतें अहै, किंचित न्यून निहार ॥३५८॥
ईश्वर आदिक नाम को, वृथा सुजस विस्तार। मम समता जो करि सकै, ऐसो कौन उदार ॥३५९॥
औ लोपे अभिचार जो, तिहि मैं करि उद्धार। रिपु पीड़ा जो करत मख, सकल थापिहौं भार ॥३६०॥
जो गावहिं ऐश्वर्य मम, जो नट हमहिं रिझाय। जो माँगे सो देहु तिहिं, सकल वस्तु समुदाय ॥३६१॥
अन्न उदक औ मद्य भखि, आलिंगहुँ प्रमदान। मै त्रिभुवन महँ ह्वै रह्यो, आनँद रूप महान ॥३६२॥
आसुर प्रकृतिहिं मत्त ह्वै, अधिक कहा कहि जाय। अमित मनोरथ विवश ह्वै, सूंघि खपुष्प अघाय ॥३६३॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अर्थ—इमि चित भ्रमयुत होय करि, लपटि मोह के जाल।
काम भोग आसक्त पड़ि, अशुचि नरक भूपाल ॥१६॥

अति बकबक रोगी करै, जिमि ज्वर के आवेश। तिमि आसुर संकल्पवश, ह्वै जग बकहिं विशेष ॥३६४॥
आँधी आशारूप सँग, धूलरूप अज्ञान। गगन मनोरथ रूप में, घूमत रहत निदान ॥३६५॥
घन असाढ़ के जिमि सघन, सागर लहर अभंग। तिमि ताके अन्तःकरन, बहु संकल्प उमंग ॥३६६॥
उरहि मनोरथ की विविध, बनति बेलि की जाल। मनहुँ कमल के फूल फटि, फँसि कंटक, भूपाल ॥३६७॥
जैसे पाहन ऊपरहिं, हाँडी फूटहि पार्थ। सकल कामना तासु तिमि, खंडहि खंड यथार्थ ॥३६८॥
जैसे चढ़ती रैन में, तम की पूरनताइ। तैसे तम अन्तःकरन, माँहि मोह बढ़ जाइ ॥३६९॥
अरु जिमि बाढ़त मोह तिमि, विषय-वासना बाढ़। पातक को कारन अहै, विषय-वासना गाढ़ ॥३७०॥
सब अघ आपुन प्रबलतहिं, जिमि जिमि पावहिं बाढ़। तिमि पावहिं जीते जियत, नरक अनन्त प्रगाढ़ ॥३७१॥
जो पावत दुरवासना, ते सब आसुर जान। नरकवास दुख ते लहत, इमि जानहु मतिमान ॥३७२॥
शैल खदिर अगार, तरुवर असिसम पत्र के। मनहुँ समुद्र अपार, उफनत ताते तैल के ॥३७३॥
कष्ट समूहहिं भोगि जहँ, नित्य नये यमदंड। तहँ पड़ि दारुन नरक महँ, भोगत दुःख अखंड ॥३७४॥

कठिन नरक के भाग महँ, इमि जे जन्महिं पॉय । देखो तेही भूलहीं, यजनादिक सदुपाय ॥३७५॥
इमि मख आदिक सब क्रिया, नाटक सम अनुहारि । हानि प्रदायक विफल ते, ह्वै जावहिं धनुधारि ॥३७६॥
जिमि कुलटा प्रिय जार तें, संपादन करि प्रीति । तोषित पति अस्तित्व तें, करि सौभाग्य प्रतीति ॥३७७॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अर्थ—आत्मश्लाघि अनम्र ते, धनमानहि मद पूर ।
करहि दिखावे विधिरहित, नाम हेतु मख क्रूर ॥१७॥

स्वयं आप कहँ श्रेष्ठ गनि, निजहिं मानि बहुमान्य । अरु फूलहिं ते गर्व तें, जो न अहै सामान्य ॥३७८॥
जैसे खंभा लोह के, कैसेहु नमन न जान । किंवा पर्वत ऊँच अति, जो आकाश समान ॥३७९॥
तिमि आपुन ऐश्वर्य तें, मन मानत संतोष । अरु सब ही कहँ तृणहुँ तें, मानत नीच सरोष ॥३८०॥
संपति मदिरा पान करि, ह्वै उन्मत्त अपार । अनुचित उचित विचार को, बिलग करत धनुधार ॥३८१॥
ऐसी मति जिहिं अंग, कहा यज्ञ की बात तहँ । पै बाहरी उमंग, मूरख कहा करंत नहिं ॥३८२॥
अतः कौनहू समय इक, मूढ मद्यबल पाय । मख उपहासन हेतु ही, मख आरंभ कराय ॥३८३॥
कुंडरु वेदी मंडपहु, नहिं कछु साधन लाज । अरु विधि सों तो तिन्हहिं को, कबहूँ कछू न काज ॥३८४॥
देव विप्र के नाम तें, हवा न आड़ी जाय । ऐसी जहाँ विराज थिति, तहाँ कौन किमि जाय ॥३८५॥
करि चतुराई कपट की, कृत्रिम वत्स बनाय । गो सन्मुख ठाड़ो करहिं, पुनि पय लेहिं दुहाय ॥३८६॥
यज्ञ निमित्त बनाय तिमि, सब कहँ लेयँ बुलाय । अरु मिषतें व्यवहार के, सबहिं लेहिं नँगियाय ॥३८७॥
जो कछु वे इमि हवन करि, निज उत्कर्ष निमित्त । ते चाहत प्राणीन के, सर्वनाश हित चित्त ॥३८८॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अर्थ—अहंकार, बल, गर्व अरु, काम क्रोध आधारि।

द्वेषहिं मम निज परतनहिं, पर बढ़ती न सहारि ॥१८॥

दीक्षितपन निज प्रगटियत, आपुहिं आप बखान। वृथा बजावत फिरत जग, हेतु प्रसिद्ध निशान ॥३८९॥
चढ़ै गर्व महिमा महत, तिहिं अधमहिं धनुधार। जिमि कज्जल पुट देत बढ़ि कालोपन तमभार ॥३९०॥
घनीभूत तिहिं मूढता, उद्दण्डता बढ़ाय। अहंकार दूनौ बढ़ै, अविवेकहु अधिकाय ॥३९१॥
जनु तिहिं माँहि विशेष, बल बलवानहु तें अधिक। हेतु विनाश अशेष, ते दूजे की बातबल ॥३९२॥
एकाइक हंकार तस, प्रबल होत इमि मान। गर्वसिंधु उछलात तजि, निज मर्याद महान ॥३९३॥
अरु इमि बाढ़त दर्प जब, भड़क पित्त तब काम। तिहिं सहाय भड़कात अति, क्रोध अग्नि परिणाम ॥३९४॥
ग्रीषम महँ जिमि तैल घृत, के गृह लाग कृशानु। अति प्रचड पुनि ताहि पै, चलहि समीर महानु ॥३९५॥
अहंकार तिमि प्रबल अति, दर्प, क्रोध अरु काम। इन दोऊ को मेल ह्वै, अर्जुन जिन्ह उरधाम ॥३९६॥
स्वेच्छा के अनुसार तें, पुनि बहु हिंसा धारि। कहिय कौन प्रानीगनहिं, हनत नहीं धनुधारि ॥३९७॥
अरजुन तब अर्पहि प्रथम ,रक्त मांस निज केर। जारण मारण आदि की, क्रिया करत मुठभेर ॥३९८॥
जारण करि ते देह जो, तिन्ह महँ मेरो वास। सकल घाव मम आतम में, परहिं लहौं मैं त्रास ॥३९९॥
अरु उपाधि आरोपि, अभिचारक तिहिं माँहि बहु। मै चैतन्यहि सोऽपि, पीडा पहुँचत आय कै ॥४००॥
जो उनके अभिचार तें, बाचहिं भाग्यवशात्। तो दुर्जनता की शिला, तेहि पर फेंकि हठात् ॥४०१॥
दानी सज्जन औ सती, याजक तपी सुजान। औ' सन्यासी पुरुष जे, नहिं सामान्य प्रमान ॥४०२॥
अपर महात्मा भक्त जो, मेरे निज आधार। होम धर्म तें शुद्ध ह्वै, वेदविहित आचार ॥४०३॥
तिन कहँ ते बहु द्वेष मय, कालकूट विष देहिं। अति कुबोलमय बान तें, तासु प्रान हरि लेहि ॥४०४॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

अर्थ---सकल नराधम क्रूर अरु, द्वेषी इमि जग माँहि ।
योनि आसुरी माँहि मैं, डारौं तिन्हहिं सदाहि ॥१९॥

सब प्रकार इमि मोहि तें, जे कर बैर सदाहि । तिन्ह पापिन कहँ दंड मैं, देउँ सुनहु तुम ताहि ॥४०५॥
जो जग नरतन पाय करि, निज कर्तव्य बिसराय । ताको नरपद हरन करि, मैं इमि राखौं जाय ॥४०६॥
दुखद गाँव को धूरि करि, अरु पनघट संसार । तमोयोनि की वृत्ति ही, मैं तिहिं देत अपार ॥४०७॥
अब अहार के नाम जहँ, तृणहु नहीं उपजाय । तिहिं अरण्य महँ व्याघ्र वा, वृश्चिक तन जनमाय ॥४०८॥
क्षुधाग्रस्त तिहिं योनि में, निज तन तोरहिं खाय । अमितवार तिहिं योनि महँ, मरि मरि जन्महिं पाय ॥४०९॥
किंवा मैं तिहिं उरग करि, जो बिल में अटकाय । निज विषाग्नि तें निज तनहिं,त्वच कहँ लेत जराय ॥४१०॥
श्वासहिं लेकरि देय तजि, इतने महँ जो काल । उतनो हू विश्राम तिन्ह, दुर्जन को न भुवाल ॥४११॥
ऐसे कोटिन कल्प की, गणना अल्पहिं जान । राखत क्लेशित योनि महँ, काढ़ि न अवधि महान ॥४१२॥
अरु यह पहलो वासथल, जहँ पर जाहिं निदान । अधिक भयंकर याहु तें, पावहिं दुःख महान ॥४१३॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

अर्थ---आसुरि योनिहिं प्राप्त करि, मूढ अधमगति पाहिं ।
जनम जनम तें मोहिं को, निश्चय नहीं मिलाहिं ॥२०॥

आसुरि सम्पति घोर बहु, सम्पति किमि कहि जाय । मिलति अधोगति जीव को, जाके जोगहि पाय ॥४१४॥
यदि शरीर आधार तें, अल्प स्वस्थता पाय । नंतर तामस योनि जो, व्याघ्रादिक समुदाय ॥४१५॥
सो सुखहेतहु मैं हरत, तमहि एकसर होय । जहाँ गये अँधियारहू, कालोकिमला होय ॥४१६॥
जिहिं सन अघ घिनयाय, नरकहु मानत जासु भय । खेद खिन्नता पाय, मूर्छित ह्वै है जाहि तें ॥४१७॥
जाके योगहि मल मलिन, तापहु तापहि पाय । जाके नामहिं कंप लहि, महाभयहु भय खाय ॥४१८॥
असगुन उपजि अमंगलहिं, अघ जिहि ते उकताय । छूतहु जिनकी छूत महँ, अति आकुल ह्वै जाय ॥४१९॥

इमि अधमाधम जो अहै, अर्जुन इहि संसार । भोगि ताहि पुनि तामसी, योनि जनमि धनुधार ॥४२०॥
अहह कहत रोदत वचन, सुमिरत मन फिरि जाय । हाय हाय यह मूर्खजन, कितने नरकहिं जाय ॥४२१॥
संपति आसुरि जाहि तें, घोर नरक इमि पाय । वृथा उपार्जन करत तिहिं, पुनि कैसे नरराय ॥४२२॥
आसुरि संपति जाहि तें, भोगत नरकहि वास । अतः पार्थ तिहि पंथ ढिग, तुम न जाव सुखरास ॥४२३॥
दम्भादिक सब दोष षट, संपूरन जिन्ह माँहि । तिन्हहि तजहु तुम निश्चयहिं, कहहु अधिक अब काहि ॥४२४॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

अर्थ—जीवहिं दायक नरक के, त्रिविध नरक के द्वार ।
काम क्रोध अरु लोभ त्रय, तातें तजिय उदार ॥२१॥

काम क्रोध अरु लोभ इन्ह, त्रय बल जहाँ विशेष । तहाँ अशुभ उपजै अधिक, यह जानिये नरेश ॥४२५॥
सकल दुःख समुदाय, दरस दैन हित पार्थ निज । पथ दर्शक विरचाय, काम क्रोध अरु लोभ को ॥४२६॥
किं बहु ठन को मेल जनु, नरक भुगावन काज । पापीजन की जगत महँ, एक विशाल समाज ॥४२७॥
नरक नरक तब लगि सुनिय, सकल शास्त्र के माँहि । जब लगि ये त्रय उरहि में, अर्जुन उपजत नाँहि ॥४२८॥
सस्ती ताकी यातना, बेगि सुगम दुखदानि । अपर हानि नहिं हानि कछु, त्रय मेलन ही हानि ॥४२९॥
अधम अवस्था पार्थ कहि, अब किमि कहि अधिकाय । नरकद्वार यह जानिये, जो त्रिदोष समुदाय ॥४३०॥
काम क्रोध अरु लोभ यह, मन अनुकूलहि होय । नरकपुरी की समिति में, आदर पावइ सोय ॥४३१॥
अर्जुन वारंवार कहि, यह त्रिपुटी कामादि । सकल विषय तें अति अधम, तिहिं तजि कीजे वादि ॥४३२॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

अर्थ—अर्जुन जो त्रय नरक के, द्वारन ते हो मुक्त ।
आत्मश्रेय हित आचरत, लहत परम गति युक्त ॥२२॥

ये धर्मादिक चार महँ, तबहि सिद्ध पुरुषार्थ । जब ये दोष समूह त्रय, त्यागहिं पुरुष यथार्थ ॥४३३॥
जब लगि ये त्रय जगहिं मन, तब लगि श्रेय उपाय । सुनि न सकत नर कान तें, देव कहत समुझाय ॥४३४॥
नारहिं निज उर पाय, जाहि चहिय कल्यान निज । सावधान ह्वै जाय, तीनहु की संगति तजहिं ॥४३५॥
शिला बाँधि के उदर महँ, उदधि तरन हित जान । किंवा जीवन हेतु करि, कालकूट विषपान ॥४३६॥
काम क्रोध अरु लोभ तें, कार्य सिद्धि तिमि जान । ठाँव मिटाय समूल करि, याको नाश सुजान ॥४३७॥
यदि कदापि यह शृङ्खला, तीन कड़ी की टूट । तो पुनि सुख से चल सकहि, अपने पंथ अटूट ॥४३८॥
उपजि न तनहिं त्रिदोष जिमि, त्रिकुटी तें पुरहीन । अन्तःकरन त्रिताप से, होवै मुक्त प्रवीन ॥४३९॥
काम क्रोध अरु लोभ तजि, तिमि लहि सुख संसार । अरु सत्संगति तें लहहिं, मोक्ष पंथ सुखसार ॥४४०॥
अरु सतसंगति प्रबलतहिं, सच्छास्त्रहिं आधार । जनम मरन थथरील बन, ते पावहिं निरतार ॥४४१॥
सकल आतमानंद तब, बसहि सदा वर रीति । सोइ धाम तिन्ह की मिलहि, श्रीगुरु कृपा प्रतीति ॥४४२॥
आत्मस्वरूपी मातु मिलि, परम सीम जो प्रीति । आलिंगत ही जगत की, मिटि कोलाहल भीति ॥४४३॥
इमि तजि दूरहिं आय, काम क्रोध अरु लोभ को । सो स्वामी बनि जाय, अर्जुन ऐसे लाभ को ॥४४४॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

अर्थ—जो चल विधि तजि शास्त्र की, निज इच्छा अनुसार ।
ताहि सिद्धि सुख परमगति, नहिं मिलि सकइ उदार ॥२३॥

औ कामादिक बीच जो, माथ झुका रहि जाय । आत्म लाभ चाहै नहीं, आत्म चोर कहलाय ॥४४५॥
सम कृपालु जग दीप जिमि, लखिय हिताहित हेतु । ऐसे वेदहिं को करत, जो अमान्य कपिकेतु ॥४४६॥
धरत न जो मर्याद निज, आत्मलाभ नहि चाह । सब इन्द्रिय के लाड़ की, पूर्ति करत नरनाह ॥४४७॥
औ कामादिक सबहि कहँ, तजहु न शपथ कराय । निज इच्छा आचरन करि, अगम बनहिं भटकाय ॥४४८॥
अरु जल मिलै न पान हित, मृग मरीचिका आस । तैसे ताको दूर अति, स्वप्नहु मिलत न पास ॥४४९॥

और नसत परलोक तिहिं, निश्चय शंका नाहिं । वा न मिलत सुखभोग तिहि, या लोकहु के माँहि ॥४५०॥
जो द्विजवर जल बूड़ि कढ़ि, मीन हेतु ललचाय । मीनहु मिलत न ताहि कहँ अरु नास्तिकता पाय ॥४५१॥
नासत जो परलोक को, विषयभोग की चाह । मरन ताहि दिशि दूसरी, लेकर चलि नरनाह ॥४५२॥
अर्जुन किमि लहि तत्र, कहु प्रसंग तिहि मोक्ष को । स्वर्ग न तेहि परत्र, विषयभोग इहलोक नहिं ॥४५३॥
सेवन चाहत विषय जो, बहुरि काम आधार । ताहि विषय नहिं स्वर्ग नहिं, पावहिं नहिं निस्तार ॥४५४॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

अर्थ—यातें कार्य अकार्य को, निर्णय शास्त्र प्रमान ।
शास्त्रविहित तुम कर्म करु, जानि मानि मतिमान ॥२४॥

जो यह कारन आपनी, चाह श्रेय की होय । तौ वर्णित श्रुतिशास्त्र की, करि न अवज्ञा सोय ॥४५५॥
निज पति को अनुसरन करि, पतिव्रता तिय जोइ । अनायास निज परमहित, को साधन करि सोइ ॥४५६॥
किंवा श्री गुरुवचन महँ, ध्यान देत स उपाय । आत्म प्राप्त करि शिष्य सो, शंक नहीं नरराय ॥४५७॥
किंव आपुन धन धर्यो, यदि चाहौ मिलि जाय । तो दीपक जिमि सामुहें, धरके लेउगे जाय ॥४५८॥
अर्जुन तिमि चाहत बनो, स्वामी सब पुरुषार्थ । तो सिर पर धारन करै, श्रुति सुस्मृतिहिं यथार्थ ॥४५९॥
कहि जिहिं त्यागन शास्त्र यदि, राज्यहु तृणवत जान । जो स्वीकारहु विषहु पुनि,तदपि विरुद्ध न मान ॥४६०॥
एक निष्ठता वेद इमि, यदि होवे धनुधार । तो अनिष्ट जग कौन सो, तस ह्वै सकै शुवार ॥४६१॥
करत समृद्धि अपार, अहित दूर करि हित करत । अहै नहीं ससार, अपर मातु श्रुति तें अधिक ॥४६२॥
तातें जब लगि ब्रह्म मिलि, तब लगि श्रुतिहि न त्याग । अर्जुन याहि विशेष सों, सेवन करु बड़भाग ॥४६३॥
अर्थ सहित तिहिं शास्त्र के, करन हेतु चरितार्थ । हे अर्जुन तुम जन्म धरि, बलयुत धर्म यथार्थ ॥४६४॥
अरु पुनि आप स्वभाव सों, धर्मराज. के भ्रात । अतह धर्म विपरीत तुम, करहु न किंचित तात ॥४६५॥
कार्य अकार्य विवेक तुम, करहु शास्त्र आधार । अरु अकार्य ठहराय जो, ताकहँ दूर निवार ॥४६६॥

सुनि सुकार्य ठहराय जो, निज अंगहिं आचार। अति आदर अरु प्रेम सें, उत्तम रीति विचार ॥४६७॥
अरु सब जगत प्रमान की, छाप आज तुव हाथ। जगसंग्रह के योग्य तुम, कहौं सत्य अय पार्थ ॥४६८॥
सकल आसुरी वर्ग को, निर्णय याहि प्रकार। कियो निरूपण कृष्ण प्रभु, सुनियो पांडुकुमार ॥४६९॥
अर्जुन पूछत याहि पर, निज मन के सद्भाय। सावधान चित कै श्रवन, तें सुनिये कुरुराय ॥४७०॥
जिमि कुरुपतिहिं बताय, संजय आयसु व्यास के। तिमि मैं तुमहिं सुनाय, श्रीनिवृत्ति जी की कृपा ॥४७१॥
कृपा दृष्टि मम ऊपरहि, आप संत बरसाँय। तो आपहि को मान है, मेरी विनय कहाय ॥४७२॥
निज अवधान प्रसाद मैं, मोंहि दीजिये नाथ। ज्ञानदेव कहि प्रभुकृपहिं, मैं हो जाउँ सनाथ ॥४७३॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर
श्री गणेश प्रसाद--कृतायां गीता-
ज्ञानेश्वर्यां षोडशोऽध्यायः
शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ३



ॐ

सप्तदश अध्याय



श्री गुरुराज गणेश हे, नमन करौं तिहिं पास।
जिनकी योग समाधि की, मुद्रहिं जगत विकास ॥१॥

यह जग त्रिगुणनगर बिड़ी, जीव किले के माँहि। आतम-शिव के सुमिरनहिं, मुक्त करत छिन माँहि ॥२॥
किय तुलना शिवसों बहुरि, गुरुता तुमहिं विशेष। मम तारन हित भवजलहिं, हलकी नौका वेष ॥३॥
आप विषय अनजान जो, वक्रतुंड तिहिं हेतु। अरु जो जानत तुमहि तिहिं, सदा सरल अतिहेतु ॥४॥
यदि प्रभु के नयनहिं निरखि, तो अतिलघु दरसात। जिहिं खेलहिं उघरत झँपत, जग उपजत विनसात ॥५॥
कान हिलत जग प्रवृति चलि, उठि मद अनिल सुगंध। नीलकमल ते पूजि जनु, जीव भृङ्ग अनुबंध ॥६॥
नंतर काम निवृत्ति चलि, पूजा वितरण पाय। तब तुव शुद्ध स्वरूप की, अतिशोभा सरसाय ॥७॥
जो माया तुव बाम अँग, ताको नृत्य विलास। तांडव मिस कौशल्य तुव, यह संसाराभास ॥८॥
अति अचरज गुरुराज, तुम जातें संबन्ध करि। वंचित सो महराज, सकल द्वैत व्यवहार तें ॥९॥
आपहि नामत जगत के, सब बंधन आधार। जगद्‌बन्धु प्रभु भाव इमि, धरि लहि मोद अपार ॥१०॥
द्वैतभाव को नाम तिहि, तनहिं न रहि सुरराय। कारन दूजे को करत, आप स्वरूप सुभाय ॥११॥
आपहि जानत बिलग करि, बिविध उपायहिं धाय। तिन्ह को आप न मिलत अरु, दूरहि राखव प्राय ॥१२॥
ध्यानहि धरि तुव मूर्ति मन, तो न जाहि तिहिं-देस। ध्यानसहित तजि द्वैतपन, तो बसि प्रेम प्रदेस ॥१३॥
जो बनि सिध सर्वज्ञ सो, वास्तव तुम्हहिं न जान। तस पहुँचत नहिं कान लगि, वाणी वेद महान ॥१४॥

अहै मौननिधि नाम तुव, किमि करि नुति की थाह। तुव माया यह दृश्य जग, कैसे भजिये ताह ॥१५॥
जो प्रभु को सेवक बनौं, भेद द्रोह लगि जाय। बहुरि न कछु संबंध धरि, यह उत्तम दरसाय ॥१६॥
जो संबंध न सर्वदा, तो अद्वैतहिं पाय। यह जान्यो मैं मर्म तुव, परम पूज्य गुरुराय ॥१७॥
जिमि तहँ जाय मिलाय, लव न विलग नहिं जलहिं परि। अधिक कहा कहि जाय, नमन हमारो जान तिमि ॥
उदधिहिं रीतो कुम्भ परि, जिमि उभरत भरि जाय। अथवा बाती दीप सँग, दीपक ही बनि जाय ॥१९॥
निवृतिनाथ कृतकृत्य मैं, तिमि करि तुमहिं प्रनाम। अब गीता को अर्थ मैं, कहि सुस्पष्ट ललाम ॥२०॥
सोलहवें अध्याय के, अंत अंत सुश्लोक। जो ऐसे सिद्धान्त को, निर्णय कियो अशोक ॥२१॥
कर्तव्याकर्तव्य को, जो कछु करि आचार। तुमहिं सर्वथा शास्त्र ही, एक प्रमान उदार ॥२२॥
सो सुनि अर्जुन मन भनत, यह कैसी है बात। जो बिन शास्त्र न कर्म को, छुटकारा दरसात ॥२३॥
उरग पास मैं जाय तिहिं, फणि मणि किमि निकराय। और सिंह की नाक के, केशहिं कैसे लाय ॥२४॥
अरु तिहिं केशहिं पोहि मणि, कंठहिं भूषन धारि। जो पहिरै नहिं तौ रहै, किंवा कंठ उघार ॥२५॥
नाना अद्भुत शास्त्र तिमि, को एकत्र कराय। एक वाक्यता के फलहिं, किमि उपभोगहिं पाय ॥२६॥
कृत करि तिहिं अनुसार, एकवाक्यता होय यदि। कहाँ आयु विस्तार, इतनो अवसर कब मिलहि ॥२७॥
समय शास्त्र अरु देश धन, यदि चारहुँ मिलि जाय। सब के कर कहँ लगत है, ऐसे उचित उपाय ॥२८॥
उत्तम साधन शास्त्र को, बहुधा मिलि न सकाय। जो मुमुक्षु विद्वान नहिं, सो कैसी गति पाय ॥२९॥
अर्जुन जो प्रस्ताव करि, प्रश्न हेतु चित लाय। मूल विषय ताको इहाँ, सत्रहवें अध्याय ॥३०॥
अति निरिच्छ सब विषय तें, कला समस्त प्रवीन। अरु अर्जुन के रूप तें, कृष्णहिं कृष्ण नवीन ॥३१॥
सकल शौर्य आधार जो, सोमवंश शृङ्गार। जाकी लीला करत है, सुख आदिक उपचार ॥३२॥
जो प्रियतम मति नारि को, ब्रह्मज्ञान विश्राम। अरु सहचर मनधर्म को, जो श्रीकृष्ण ललाम ॥३३॥

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्थ—जो अति श्रद्धायुक्त भजि, शास्त्ररीति कहँ टारि ।

भक्ति तासु सत रज तमी, कौन भांति निरधारि ॥१॥

इन्द्रिय भोक्ता ब्रह्म तुम, सुन्दर श्याम तमाल । शंका संशययुत वचन, तुव लागहिं इहि काल ॥३४॥
शास्त्र सिवाय न मोच्छ लहि, प्रानीगन समुदाय । एक पच्छ आदरि कहत, ऐसो किमि यदुराय ॥३५॥
नाहिं जिनहिं अवकाश, जाहि न ऐसो देश मिलि । करिय शास्त्र अभ्यास, ऐसो गुरुहू मिले नहिं ॥३६॥
सामग्री अभ्यास हित, जो सहकारी होय । तेहू जिन्ह को मिलत नहिं, यथाकाल महँ सोय ॥३७॥
नहीं काल अनुकूल अरु, बुद्धि न करत सहाय । इमि न सकत करि शास्त्र को, संपादन सुखदाय ॥३८॥
अधिक कहा लहि सकहि नहिं, शास्त्र विषय नखमान । तातें तजि जिन्ह शास्त्र की, ऊहापोह महान ॥३९॥
अतह शास्त्र निरधार करि, ताही के अनुसार । करि पुनीत आचरन को, जो परलोक सिधार ॥४०॥
ऐसे ही हो जाँय हम, जो मन इच्छा धार । चालत तिन्ह के पंथतें, करि तैसहिं आचार ॥४१॥
जैसे शिशु नीचे लिखत, गुरु लिपि अच्छर देखि । वा सुनैन को अग्र करि, चालत अंध सुरेखि ॥४२॥
जो सब शास्त्र प्रवीन तिमि, तिहिं आचरन सुजान । तिहिं परश्रद्धा राखि अति, मानत ताहि प्रमान ॥४३॥
अर्चन करि शिव आदि को, भू आदिक अतिदान । अग्निहोत्र आदिक यजन, जो करि श्रद्धा मान ॥४४॥
गति पुरुषोत्तम पाय, सत रज तम महँ कौन सो । मम प्रति कहु समुझाय, दीनबन्धु करुनायतन ॥४५॥
जो अधिपति वैकुण्ठ के, वेद कमल मकरंद । यह जग जाके अंग की, छाया जगदानंद ॥४६॥
काल सहज संपन्न अति, लोकोत्तरहि प्रचंड । अद्वितीय अरु गूढ जो, घन आनंद अखंड ॥४७॥
यह सब गुणसपन्नता, जासु शक्ति आधार । निज मुख तें भगवान श्री, कृष्ण कहत हितकार ॥४८॥

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

अर्थ—श्रद्धा स्वाभाविक त्रिविध, प्रानीगन के माँहि ।

सात्त्विक राजस तामसी, सुनु बरनौं तुम पाँहि ॥२॥

अहो पार्थ तुव अभिरुचिहिं, यहहू हम है जानि । जो अड़चन अभ्यास की, शास्त्रविषय में मानि ॥४६॥
केवल श्रद्धा तें चहत, पार्थ परमपद पाय । पै सुजान यह बात नहि, इतनी सहज जनाय ॥५०॥
श्रद्धा मात्रहिं जनि करिय, पांडुकुँवर विश्वासु । द्विज अंत्यज संसर्ग तें, अंत्यज होय न कासु ॥५१॥
गंगानीरहु होय यदि, मद्यपात्र के माँहि । धरि के करिय विचार मन, पियन जोग वा नाहि ॥५२॥
यदि कर धरि करि खेल, कैसे जारि न सकत सो । लहै अनल तें मेल, चंदन शीतलहू अधिक ॥५३॥
शुद्ध सुवर्नहि हीन महँ, पार्थ गलाय मिलाय । अरु तिहिं उत्तम जानि जो, हानि न किमि दरसाय ॥५४॥
श्रद्धारूप स्वभाव सों, यदि तिमि उत्तम जान । पै प्रानी के भाग में, जब वह आय निदान ॥५५॥
सो सब प्रानी भावनिज, शक्ति अनादि प्रभाव । तस कारण त्रैगुण्य तें, अर्जुन होत स्वभाव ॥५६॥
जब दुइ गुन दबि जाँय अरु, तीजो उन्नति पाय । तब तिहिं गुन अनुरोध तें, जीव वृत्ति उपजाय ॥५७॥
धारि वृत्ति अनुरूप मन, क्रिया मनहिं अनुसार । क्रिया करत जिमि देह तजि, तिमि पुनि तन कहँ धार ॥५८॥
जिमि नसि बीजहिं तरु बनत, तरु नसि बीज समाय । ऐसहि कोटिन कल्प लगि, जाति न नसहि स्वभाय ॥५९॥
उपजि बिनसि जन्मांतरहिं, तिमि लहि जन्म अपार । पै प्रानी के त्रिगुन महँ, अंतर नाहिं भुवार ॥६०॥
तातें जीवविभाग महँ, जे श्रद्धा दरसाय । सो अर्जुन इहिं त्रयगुणहिं, सम सब जीव स्वभाय ॥६१॥
यदि कदापि बढ़ि जाय, शुद्ध सत्त्व तो ज्ञान लहि । तासु विरुद्ध रहाय, रज तम गुण जो शेष द्वै ॥६२॥
श्रद्धा सत अनुरोध तें, चलति मोक्षफल ओर । तब रज तम ये उभय गुन, किमि चुप बैठहिं घोर ॥६३॥
सत गुण को आश्रय बिनसि, जब रज गुन बढ़ि जाय । कर्म करनहारी तबहिं, ते श्रद्धा बनि जाय ॥६४॥
जब तम की आगी उठै, तब तिहिं श्रद्धा भंग । भोग अनेकन भोग करि, मन चाहे बहुरंग ॥६५॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

अर्थ—श्रद्धा उपजति सबहि कहँ, निज सत्त्वहि अनुसार ।
जस श्रद्धा तें युक्त जो, तस योग्यता विचार ॥३॥

इमि सत-रज-तम तें विलग, श्रद्धा नाँहि सुजान । सकल जीव समुदाय के, माँहि महा मतिमान ॥६६॥
श्रद्धा स्वाभाविक अहै, अतह पार्थ मतिमान । त्रिगुणात्मक के भेद यह, सत रज तम गुन जान ॥६७॥
जैसे जीवन जल अहै, पै मारक विष जान । किंवा मिरची चरपरी, ऊख मधुर रस मान ॥६८॥
सदा जनम अरु मरन लहि, जब तमगुन अधिकाय । अरु श्रद्धा परिनाम तिहिं, तैसहि होय स्वभाय ॥६९॥
काजर अरु मसि माँहि जिमि, अन्तर नाहिं दिखाय । तिमि मनुष्य औ' तामसी, श्रद्धा नहिं बिलगाय ॥७०॥
श्रद्धा रजमय जान, जैसे राजस जीव महँ । तथा सत्त्वमय मान, श्रद्धा सात्त्विक पुरुष महँ ॥७१॥
ऐसे ही यह सकल जो, जगडबर निःशेष । ओतप्रोत केवल भयो, श्रद्धा तें सविशेष ॥७२॥
किंतु त्रिगुन आधीन जो, त्रिगुणपना को रूप । श्रद्धा में अवलोकि के, करि पहिचान सुभूप ॥७३॥
जिमि तरु जानिय फूल तें, मनुज वचन तें जान । पूर्व जन्म के कर्म जिमि, भोगहिं ते पहिचान ॥७४॥
श्रद्धा के त्रयरूप को, जिन्ह लछन तें ज्ञान । तिन्ह सब को वरनन करत, सुनहु ताहि धरि ध्यान ॥७५॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अर्थ—यच्छ रजनिचर राजसी, सात्त्विक जन सुरभक्त ।
शेष तामसी प्रेत अरु, भूतन प्रति अनुरक्त ॥४॥

सात्त्विक श्रद्धा ते बन्यो, अर्जन जासु शरीर । बहुधा तस मेधा करति, स्वर्ग जतन बलवीर ॥७६॥
सो सब विद्यामात्र पढ़ि, करि मखक्रिया न बेरु । अधिक कहा सुरलोक को, प्राप्त करत नहिं बेरु ॥७७॥
जाकर रजना राजसी, श्रद्धा के अनुसार । सो पिशाच अरु राच्छसहिं, भजत सदा धनुधार ॥७८॥
जस पुनि श्रद्धा तामसी, बरनौं तासु स्वभाय । अति कर्कश निर्दय महा, ते कर अघ समुदाय ॥७९॥
सायंकाल मसान, प्रानी बध करि देत बलि । पूजहिं अशुभ अजान, भूत प्रेत समुदाय कहँ ॥८०॥

सारकढ़ो जो तमगुनी, तिहि तें जो रचि जाँय । तिन्ह घर श्रद्धा तामसी, को जानहु नरराय ॥८१॥
यों श्रद्धा संसार महँ, त्रिविध चिन्ह त्रय हेतु । याही तें बरनन किये, हम तुम प्रति कपिकेतु ॥८२॥
जो यह श्रद्धा सात्त्विकी, रक्षा कीजे तासु । अरु विरुद्ध रज तम उभय, आवन देहु न पासु ॥८३॥
याकी रक्षा करत है, सात्त्विक मति मतिमान । अर्जुन तिहिं कैवल्यपथ, दुर्गम नाहिं सुजान ॥८४॥
सकल शास्त्र अभ्यास किय, ब्रह्मसूत्र पढ़ नाँहि । नहिं सिद्धान्त स्वतंत्र तस, लगे कबहुँ कर माँहि ॥८५॥
श्रुति अरु स्मृति के अर्थ परि, आपहिं धारि स्वरूप । तदनुसार आचार करि, भये प्रसिद्ध अनूप ॥८६॥
चलत आचरन पथ तिहिं, सात्त्विक श्रद्धा धारि । सो सोई फल पाव जनु, प्रथमहिं धरयो सुधारि ॥८७॥
कोई दीप लगाय श्रम, तिहिं ते कोइ लगाय । तो प्रकाश तिमि ताहि को, मिलहि न किमु नरराय ॥८८॥
कोइक महल बनाय, व्यय करि द्रव्य अपार जग । अपर न किमि सुख पाय, जो निवास करि ताहि में ॥८९॥
अधिक न जो सरवर खनै, ताहि कि तृषा बुझाय । स्वयं पाक करि तृप्ति तिहिं, इतर कि तृप्ति न पाय ॥९०॥
अधिक कहा कहि गंग किमि, गौतम ही की गंग । अरु सब जग के हेतु किमि, नाली केर प्रसंग ॥९१॥
अधिक अधिक तें शास्त्रयुत, जे आचरत सुजान । श्रद्धा तें अनुकरन करि, मूरखहु तरैं प्रमान ॥९२॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

अर्थ—जो जन तप आचरन करि, शास्त्र-विहीन मलीन ।
दंभ अहंतायुक्त अरु, काम प्रेम बल भीन ॥५॥

नाम न जानत शास्त्र को, जानन की नहिं चाह । शास्त्राज्ञा को छुवनहू, देत न अपनी छाँह ॥९३॥
क्रिया बड़े जन की निरखि, तिन्ह को देहिं बिराय । अरु चुटकिन पर पंडितहिं, अर्जुन देहिं उड़ाय ॥९४॥
आपन ही चातुर्य गनि, अरु करि धन अभिमान । अरु सचमुच पाखंड तप, को आदरहिं अजान ॥९५॥
अपने अरु सन्मुख जनहिं, यज्ञ-त्रसन अँग धार । रक्त माँस मुख पात्र में, पार्थ करत भरमार ॥९६॥
जरत कुंड जो वेदिका, तिहिं मुखपात्र रिताय । बालक को बलिदान करि, हेतु कुदेव रिझाय ॥९७॥

जो अशनहु जलपान, सात सात दिन करत नहीं। परम दुराग्रह ठान, क्षुद्रदेव तें वर लहहिं ॥९८॥
इमि निज अरु पर कहँ दुखद, बीज बोय तम खेत। अरु तातें पुनि तामसी, श्रद्धा अंकुर लेत ॥९९॥
अर्जुन तैर न जानि जो, नहि नौका आधार। पै समुद्र में प्रविशि सो, ताकी दशा विचार ॥१००॥
करहिं वैद्य से वैर जो, औषधि लातनि मार। रोगी मुक्त न रोग तें, पावहिं दुःख अपार ॥१०१॥
नयन रोग के नास हित, आपुन नयन निकार। गृह अन्दर तिहिं अन्ध की, जैसी दशा विचार ॥१०२॥
निंदहिं शास्त्र सुपंथ को, तैसहि असुर अजान। इत उत धावत मोहवन, जो दुख रूप महान ॥१०३॥
काम नचावत नचत तिमि, मारत क्रोधाधीन। अधिक कहा पूरहिं हमहिं, दुख वपु पाहन बीन ॥१०४॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अर्थ—अन्तर्यामिहि मोंहि अरु, सकल भूत समुदाय।
सतत दुखावहिं मूढ जे, आसुर तेहि जनाँय ॥६॥

आपुन वा परदेह को, जो जन कटु दुख देय। तितनो सब दुख मोहि ते, क्षीण करत कौंतेय ॥१०५॥
जो पापी को नाम अर्जुन छुवत न वचन तें। त्याग हेतु परिनाम, परि प्रसंग पड़ि कथन को ॥१०६॥
अंत्यज तें भाषन तजत, मृतकहिं बाहर टारि। अधिक कहा मल कर्दमहु, करतें चारु पखारि ॥१०७॥
शुद्धि करन हित तिहि परसि, जिमि न दोष मन मानि। तैसे ताके तजन हित, यह संभाषन जानि ॥१०८॥
अर्जुन, तिन्ह कहँ देखि जहँ, तहँ सुमिरन करि मोहि। प्रायश्चित्त न आन कछु, तिहिं उपयोगी होहि ॥१०९॥
सात्विक श्रद्धा जो मिले, ताहि सदा सब भाँत। बार बार रक्षा करिय, करि उपाय वर तात ॥११०॥
धारिय सतसंगतिहिं जिमि, सात्विक पुष्टिहि पाय। आहारहिं स्वीकारि जो, सत्त्वभाग अधिकाय ॥२११॥
देखिय इमि साधारणहु, पावहिं वृद्धि सुभाय। अपर हेतु बलवान नहिं, कछु आहार सिवाय ॥११२॥
अर्जुन लखि प्रत्यक्ष करि सावधान मदपान। तो पीवत ही तिहिं छिनहिं, बनि उन्मत्त महान ॥११३॥
सदा अन्न जो खाय तिहि, व्यापहि कफ अरु वात। ज्वर आवे तो शमन करि, किमि दुग्धादिक तात ॥११४॥

किंवा मृत्यु टराय, जैसे सेवन अमिय करि । अथवा मरणहिं पाय, जो विष को सेवन करहि ॥११५॥
जस करिये आहार तस, होय धातु आकार । उपजि भाव अन्तःकरन, धातु समानहिं भ्कार ॥११६॥
जैसे बासन के तपत, भीतर जल तपि जाय । तैसहि धातु प्रमान ही, चित्तवृत्ति ह्वै जाय ॥११७॥
सात्त्विक रस सेइय अतह, सत्त्व वृद्धि उपजाय । अरु राजस तामस उपजि, तैसहि रस को पाय ॥११८॥
सात्त्विकीय आहार कह, रज तम के आहार । यह तुमसों वरनन करौं, सुनहु, करहु अवधार ॥११९॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

अर्थ—सब कहँ ही आहार प्रिय, जो है तीन प्रकार ।
यज्ञ दान तप भेद इमि, वरनौं सुनहु सुवार ॥७॥

अरु इक ही आहार के, कैसे तीन प्रकार । अर्जुन जैसे होय ते, तुमहिं कहौं निरधार ॥१२०॥
अन्न बनायो जात है, भोक्ता रुचि अनुसार । और रहत सो दास बनि, गुन को जेंवनिहार ॥१२१॥
कर्ता भोक्ता जीव जो, गुन कारनहिं स्वभाय । पाय त्रिविधता करत जो, त्रय प्रकार व्यवसाय ॥१२२॥
और त्रिविध आहार है, यज्ञहु तीन प्रकार । तप दानहु व्यापार जे, त्रिविध अहैं धनुधार ॥१२३॥
कीन्हों प्रथम बखान, जो लच्छन आहार के । अब सुनु तिहिं अवधान, सुस्पष्टहिं वरनन करौं ॥१२४॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

अर्थ—आयु सत्त्व बल निरुज सुख, प्रीति बढ़ावनहार ।
चिक्कन थिर रस मोदप्रद, सात्त्विक प्रिय आहार ॥८॥

अब सतगुण की ओर बढ़ि, भोक्ता पाय सुभाग । मधुर रसहि की ओर तब, बाढ़हि रुचि अनुराग ॥१२५॥
अरु स्वभावतः सुरस जो, होवहिं मधुर पदार्थ । अति चिक्कण परिपक्व जो, निज स्वभाव सों पार्थ ॥१२६॥

कोमल अति जाको परस, दीर्घ नहीं आकार। जो पिघलत जीभहिं लगत, स्वादहु अहै अपार ॥१२७॥
अरु रसाल अति कोमलहु, द्रव भावहिं भरपूर। द्रवीभूत वर अग्नि की, आँचहिं जहँ तहँ शूर ॥१२८॥
अल्पहि अँग परिणाम बहु, जिमि गुरु वचन उदार। जिमि भोजन करि अल्प तिहिं, परि परितृप्ति अपार ॥१२६॥
जिमि मुख में अतिमधुर तिमि, माधुर्यहि परिनाम। प्रीति बढ़त तिहि अन्न पर, जो सात्विक सुखधाम ॥१३०॥
ऐसहि गुन लच्छन रहत, जो सात्विक आहार। नित नूतन दिन रैन बढ़ि, बल आयुष्य अुवार ॥१३१॥
सात्विक इमि रसरूप घन, बरसहिं जबहिं शरीर। आयुष सरिता पूर तब, दिन प्रति बढ़त सुधीर ॥१३२॥
अर्जुन केवल भानु, जिमि दिन उन्नति हेतु है। रचा सत्त्व महानु, तिमि कारन आहार हो ॥१३३॥
भोजन के ही आश्रयहिं, बढ़ि मन और शरीर। प्रगट कहाँ ते हो सकहिं, तो पुनि रुज की भीर ॥१३४॥
सात्विक ही आहार तें, देह निरुज ह्वै जाय। अरु उपयोग स्वरूप जो, मिलि सौभाग्य अघाय ॥१३५॥
सुख ही के व्यापार सब, पावत हैं विस्तार। अरु बाढ़त है मित्रता, आनँद सँग उदार ॥१३६॥
ऐसे सात्विक भच्य को, बहुत बडो परिणाम। यह उपकारी उभय जो, सान्तर बाह्य ललाम ॥१३७॥
अब गुन राजस युत पुरुष, जिहिं रस पर करि प्रीत। तिहिं प्रसंग तें युक्त करि, वरनौं तुम प्रति मीत ॥१३८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥६॥

अर्थ—नमक अम्ल कटु उष्ण खर, रूक्ष दाह अतिकार।
दुःख शोक रुज करत जो, राजस प्रिय आहार ॥६॥

जो कटु मारक गुण रहित, काल कूट सम मान। दाहक चूना तें अधिक, विकट खटाई जान ॥१३६॥
कनक माँहि जल देय जिमि, तैसहि नोनहिं सान। तिहिं गोला महँ अपर रस, मनहुँ मिलाये आन ॥१४०॥
इमि अति खारी वस्तु पर, राजस जन की चाह। उष्ण वस्तु के मिसहिं जनु, लीलि अनल नरनाह ॥१४१॥
जनु बाती लगि जाय, इमि निकरत लौ उष्ण मधि। राजस जन अधिकाय, चाहत ऐसे भोजनहिं ॥१४२॥
सावल पाहन फोर जिमि, ऐसे ही नरराय। राजस जन तीखे भखत, घावन करि चुभ जाय ॥१४३॥

अधिक राख ते रूख अरु, अन्तर बाह्य समान। राजस जन सुख देत तिहिं, इमि भोजन रुचिमान ॥१४४॥
दाँत परस्पर घिसत अति, जब भोजन सुख देत। ऐसे कठिन पदार्थ भखि, आनँद अनुभव लेत ॥१४५॥
जो चरपरे स्वभाव सों, राई बहुरि मिलाँय। जिहिं खावत मुख नासिका, धार लगै भननाय ॥१४६॥
अधिक कहा जो चुप करत, अनलहिं तेज अपार। राजस प्रानी भखत तिहिं, करि प्रानहु तें प्यार ॥१४७॥
इमि न तृप्त जो मनुज ह्वै, जीभवशहिं बौराय। मनहुँ अन्न मिस उदर महँ, प्रजुलित अनल भराय ॥१४८॥
सोंठ लवंगहि खाय बहु, शुचि सेजहु न सुहाय। अरु मुख तें नहिं बिलग करि, नीरपात्र अपनाय ॥१४६॥
ऐसे आहारहिं करत, जनु रुज उरग स्वरूप। सोयो ताहि जगाय करि, मादक पानहिं भूप ॥१५०॥
उपजहिं रुज इक बार, पुनि स्पर्धा करि एक इक। इमि राजस आहार, केवल दुख ही जासु फल ॥१५१॥
ऐसे राजस भोजनहिं, कथन कियो धनुधार। अरु ताको परिनाम फल, हू को कह्यो विचार ॥१५२॥
कैसो तामस मनुज अब, चाहत हैं आहार। अर्जुन तिनकी वासना, मनहुँ न आन भुआर ॥१५३॥
जैसे जूठन भैंस भखि, तैसहि तामस खाय। सडो गलो भोजन करत, अहित न मन समुझाय ॥१५४॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अर्थ—जाहि बने बीते पहर, बासी रूख कुबास।
भोजन जूँठ अभक्ष्यहू, तामस के मन आस ॥१०॥

अन्न पके जो दो पहर, वा बीत्यो दिन एक। ताहि तामसी मनुज जो, सेवत सोइ सटेक ॥१५५॥
जो अधकच्च किंवा जरो, अर्जुन, ताहि प्रकार। रस विहीन जो अन्न सो, तामसजन आहार ॥१५६॥
सुपरिपक्व अरु रसभरित, इमि अन्नहिं अवलोक। ताको अनुभव रहत नहिं, तामस जनहि अरोक ॥१५७॥
यदि कहुँ उत्तम अन्नहू, ते तामस जन पाँय। व्याघ्र समुझि नहिं छुवत तिहिं, जब लगि नहिं सड़जाय ॥१५८॥
किंवा बासो बहुदिवस, स्वादरहित ह्वै जाय। ते सूखो किंवा सड़ो, लगि फफूँड क्रिमि आय ॥१५६॥
जेंवत बाल समान, कर लगि जेंवन कीच सम। जेंवत बैठि अजान, वा इक थारहिं नारि सँग ॥१६०॥

जो इमि खाय मलीन अरु, तिहिं शुचि भोजन मान । इतनहुं तें ते नीच को, तृप्ति न हो मतिमान ॥१६१॥
चमत्कार पुनि देखि जो, वर्जित अधम पदार्थ । किंवा जे माने गये, त्यागन जोग जथार्थ ॥१६२॥
जे अपेय तिहिं पान करि, जो अखाद्य तिहिं खाहिं । अर्जुन तामस जनन की, बाढ़त ऐसी चाहि ॥१६३॥
जेवनहारा तामसी, की रुचि याहि प्रकार । याको फल पावत तुरत, दूजे छन न सुवार ॥१६४॥
कारन ये भोजन करहिं, जब अपवित्र पदार्थ । ताहि समय ह्वै जात सो, अघ को पात्र यथार्थ ॥१६५॥
ऐसो जो भोजन करत, भोजन विधि अयथार्थ । जानहु पापी पेट तस, पावत दुःखहि पार्थ ॥१६६॥
शिरछेदन परिनाम वा, करै प्रवेश कृशानु । ऐसो अनुभव चाहिये, पै करि सहन अजानु ॥१६७॥
तातें तामस अन्न को, कह परिनाम निदान । कहत कृष्ण तिहिं पार्थ प्रति, हेतु न, कहौं सुजान ॥१६८॥
इमि आहार समान, पुनि ताके उपरांत कहि । अर्जुन यागहु जान, तीन भाँति के होत ते ॥१६९॥
अब तिन महँ जो प्रथम है, सात्त्विक मख को मर्म । उत्तम महिमा तासु कहि सुनहु शिरोमणि वर्म ॥१७०॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अर्थ—चाहि न फल करि विविध मख, निज कर्तव्य निरधार ।
कहत नाम यह तासु हम, सात्त्विक मख धनुधार ॥११॥

एक परम प्रिय पीय तजि, जाको उपजि न काम । जैसे साध्वी को रहै, इमि मन धर्म ललाम ॥१७१॥
जैसे सिंधु मिलाय पुनि, आगे चलत न गंग । अथवा आतम दरस करि, वेदहु मौन प्रसंग ॥१७२॥
आपुन हित सुविचार तिमि, चित्तवृत्ति अर्पाय । अहंकार फल आस तजि, जो नहिं शेष बचाय ॥१७३॥
जिमि जल तरु के मूल चलि, उत्तम अधम न मान । पीछे फिरत न मूल मिलि, केवल पोषत जान ॥१७४॥
निश्चय करि तन मनहिं तिमि, यजन माँहि लवलीन । पै तातें अभिलाष फल, चाहत नहीं प्रवीन ॥१७५॥
जो फल आशा रहित ह्वै, पार्थ स्वधर्म सिवाय । इतर विरति सर्वांग करि, मख भूषित नरराय ॥१७६॥
जिमि धरि दर्पण देखिये, निज नयननि निजरूप । किंवा करतल दीप धरि, रतन पेखिये भूप ॥१७७॥

चलत पंथ दरसाय, भानु उदय तें पार्थ जिमि। तैसे ही नरराय, निर्णय लखि कै वेद को ॥१७८॥

कुंडहु वेदी मंडपहु, सब मख साज सँभार। तिन्ह की रचना जनु करी, स्वयं वेद निरधार ॥१७९॥

सकल अंग तिय उचित जिमि, अलंकार कहँ धारि। जथा जोग तिमि वस्तु सब, धरहि प्रबध विचारि ॥१८०॥

अलंकार संयुक्त जनु, कहा कहौं अधिकाय। मखविद्या जनु यजन के, मिस धरि सूरति आय ॥१८१॥

इमि मख कीन्हे जात जो, सहित अंग उप अंग। चाह प्रतिष्ठा के विना, विन फल आस अभंग ॥१८२॥

सब तरुगन में तुलसिका, करि सुरीति प्रतिपाल। किन्तु फूल फल छाँह की, आस न रहत भुवाल ॥१८३॥

किं बहु इमि फल आस तजि, जो सुयज्ञ रचि जाय। सात्विक मख ताको कहत, सुनहु धनंजय राय ॥१८४॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अर्थ—करत दिखाऊ यज्ञ जो, फल आशा उर धारि।

ताको राजस यज्ञ कहि, इमि जानहु धनुधारि ॥१२॥

अब अर्जुन करि यज्ञ यदि, इमि याके अनुसार। जिमि आमन्त्रण नृपति को, कीजै श्राद्ध मँझार ॥१८५॥

यदि घर आवे नृपति तो, बहु उपयोगी जान। और सुजस संसार महँ, श्राद्ध न रुकत सुजान ॥१८६॥

स्वर्ग सहज मिलि जाय, जो इहिं कारन यज्ञ करि। लहि सन्मान अघाय, पुनि दीक्षित धनि के जगत ॥१८७॥

ऐसे केवल हेतु फल, जस प्रसिद्ध संसार। जो मख को विस्तार करि, सो राजस धनुधार ॥१८८॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अर्थ—अन्न विना, श्रद्धा रहित, मन्त्र दक्षिणा हीन।

विधिविहीन जो यज्ञ तिहिं, तामस कहत प्रवीन ॥१३॥

जिमि पशु-पक्षि विवाह में, काम सिवाय न आन। तैसहि तामस यज्ञ में आग्रह जान प्रधान ॥१८९॥

चाह न पवनहि पंथ की, मृत्यु मुहूर्त न देख । अग्नि निषिद्ध पदार्थ कहँ, जारि न करि भयरेख ॥१९०॥
नहिं विधि मर्यादा गनै, तामस निज आचार । तातें विन मर्याद ते, विपरीतहिं अवधार ॥१९१॥
करि विधि की अवहेलना, मंत्र न आवहिं पास । अन्नमात्र छुवै सकत नहिं मुख माखिकहु निरास ॥१९२॥
द्वेष वचन कहि विप्र तें, कहँ दक्षिणा ठिकान । जैसे आँधी को मिलै, अनल सहाय निदान ॥१९३॥
खोवहिं सर्वस्वहिं वृथा, श्रद्धा मुख न दिखाय । जिमि धन गेहनि पुत्र को समय पाय लुटि जाय ॥१९४॥
ऐसो यज्ञाभास जो, तामस मख तिहिं नाम । सुनहु कहत श्रीधाम प्रभु, नील सरोरुह श्याम ॥१९५॥
अलग प्रवाहहि लाय, अब गंगाजल एक परि । एक शुद्ध दरसाय, देखिय एक मलीन अति ॥१९६॥
सत-रज तम के योग तिमि, तप के त्रिविध स्वरूप । एक अधोगति देत अरु, इक प्रद मोक्ष अनूप ॥१९७॥
अर्जुन तप के भेद त्रय, यदि ये जाननि चाह । तो प्रथमहिं तपरूप किमि, यह जानहु नरनाह ॥१९८॥
कहत कहा तपरूप तिहिं, यह प्रथमहिं दरसाय । पुनि त्रयगुन तें भेद जिमि, सो कहिहौं समुझाय ॥१९९॥
उत्तम तप जा कहँ कहत, सो सुनु तीन प्रकार । कायिक वाचिक मानसिक, ऐसे त्रय निरधार ॥२००॥
इन्ह त्रयहू के मध्य यह, दैहिक तप अवधार । जिहिं शिव किंवा श्रीहरि, अति प्रिय पांडुकुमार ॥२०१॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अर्थ—सुर द्विज गुरु विद्वान भजि, शुद्ध विनम्र रहाय ।
ब्रह्मचर्य हिंसारहित, याहि कहत तप-काय ॥१४॥

दरस हेतु यात्रा करहि, निज प्रिय सुर के धाम । जिमि पॉयन को मिलत नहि, आठ पहर विश्राम ॥२०२॥
करि सुरगन शृङ्गार सब, सहित अंग उपचार । सेवा पूजा तें लहहिं, कर शोभा धनुधार ॥२०३॥
हरि मूरति, शिवलिंग लखि, भुवि पड़ि दंड समान । अष्ट अंग करि दण्डवत्, पावत मोद महान ॥२०४॥
गुणी पूज्य संसार, सविधि आचरहि नम्रतहिं । ऐसे विप्र निहार, सेवा बहुविधि करत जो ॥२०५॥
जो अति दुःखित प्रवास वा, अपर कष्ट तें दीन । करहि निवारन कष्ट तस, सुख पहुँचाय प्रवीन ॥२०६॥

सकल तीर्थ महँ श्रेष्ठ जो, सेवा हितु पितु मातु। निज तन निवछावर करत, सेवा करि न अघातु ॥२०७॥

अरु जो मिलतहि जग सरिस, दारुन रोग निवारि। इमि दयालु अरु ज्ञानप्रद, गुरुहिं सेव धनुधारि ॥२०८॥

अरु स्वधर्म वपु आगतें, कोट देह अभिमान। बहु पुट विद्याध्ययन हैं, तिहिं जारत मतिमान ॥२०९॥

आतम इक सब जीव महँ, तिहिं नमि, करि उपकार। नारि विषय महँ नियम करि, नाम न तासु उचार ॥

जन्म प्रसंगहिं नारि तन, परसि न पुनि परसाय। तिहिं के पीछे जनम भरि, नारि प्रसंग विहाय ॥२११॥

सब महँ प्रानहिं जानि जो, तृनहुँ न धका लगाय। अधिक कहा जो छेद अरु, भेदहिं तजि हरखाय ॥२१२॥

ऐसहि ऐसहि देह तें, जब होवहिं व्यापार। तब जानिय तिहिं अंग में, तन तप पूर्ण प्रसार ॥२१३॥

कारन देह प्रधान, अर्जुन कार्य समस्त यह। तप शारीर बखान, याहू तें हम नित कहत ॥२१४॥

कायिक तप जिहिं कहत इमि, ताके चिन्ह बताय। अब सुनु वाचिक तप अनघ, ताहि कहौं समुझाय ॥२१५॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

अर्थ—अपरहिं उद्भ्रम करत नहिं, सत प्रिय हित परिनाम।
वेद-पठन अभ्यासहू, वाचिक तप सुखधाम ॥१५॥

जैसे पारस लोह की, तोल न न्यून कराय। अरु ताको कंचन करत, अवलोकहु नरराय ॥२१६॥

जाकी वाणी माँहि तिमि, सब साधुता दिखाय। सहजहिं अपर न दुखित करि, श्रवन करत सुखपाय ॥२१७॥

नीर देत तरुवरहिं परि, तृणहु जियत तेहि संग। तिमि एकहि ते बोल परि, सब कहँ लाभ अभंग ॥२१८॥

जो मिलि गंग पियूष की, प्रानिहिं अमर कराय। अहै मधुर अघ पातहर, जो तहँ जाय नहाय ॥२१९॥

अविवेकहु नसि जाय तिमि, निज अनादिता खोय। श्रवन करत रुचि अति बढ़त, सुधा प्रवाह न होय ? ॥

जो कोई करि प्रश्न तो, तिहिं इमि उत्तर देत। किंवा वेदाध्ययन करि, वा प्रभुनामहिं लेत ॥२२१॥

ऋगवेदादिक वेदत्रय, वाचा भवन पधार। मानहु शाला वेद की, तिहिं मुख माँहि उदार ॥२२२॥

नामस्मरण कराय, किंवा शिव वा विष्णु को। असहि वचन पर आय, वाचिक तप ताको कहत ॥२२३॥

अर्जुन तप जो मानसिक, कहौं ताहि अवधारि । लोकप-नायक-नाथ जो, भाषत कृष्ण मुरारि ॥२२४॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

अर्थ—मन निग्रह अरु सरलता, मौन मनोगत हर्ष ।
भावशुद्धि अरु ताहि कहि, मानस तप उत्कर्ष ॥१६॥

सरवर विना तरंग के, मेघरहित आकास । किवा चदन वाटिका, जिमि बिन उरग निवास ॥२२५॥
किवा चन्द्र कलंक विन, चिन्ता रहित महीश । अथवा मंदर अचल बिनु, क्षीरसिंधु अवनीश ॥२२६॥
औ' संकल्प विकल्पगन, अब सब ही नसि जाँय । तब केवल निजरूप में, मन निमग्नता पाय ॥२२७॥
पुनि प्रकाश विनु उष्णता, रस जड़ता तें हीन । गगन विना अवकाश वा, जैसे होय प्रवीन ॥२२८॥
निज स्वरूप तिमि निरखि जो,त्यागहि आप सुभाय । जिमि हिम आपुनि ठंड ते,आपहिं करत बचाय ॥२२९॥
जिमि कलक विन अचल पुनि, नित परिपूरन चंद । आत्मस्वरूपी थिरपनो, जाके मन सानंद ॥२३०॥
नासहि धावन भीति मन, चाह विराग विलाय । बोध स्वरूपी होय मन, केवल तहाँ स्वभाय ॥२३१॥
कारन शास्त्र विचार, करत न मुख व्यापार कछु । सूत्र न कर महँ धार, वाचा के उपयोग को ॥२३२॥
आतम लाभहिं लाभतें, मन मनपनो निवारि । निज स्वरूप जल लवण जिमि,मिलिहै नीर मँझारि ॥२३३॥
उठहि कहाँ इमि भाव तहँ, इन्द्रिय पथ तें धाय । जहाँ विषयरूपी नगर, को पावहिं नरराय ॥२३४॥
तातें ताके मानसहिं, भावशुद्धि इमि आय । जैसे करतल देखिये, रोमशुद्धि दरसाय ॥२३५॥
अधिक कहा कहि पार्थ जो, ऐसी मनथिति होय । कहत जगत में ताहि को, मानस तप सब कोय ॥२३६॥
देव कहत परि अस्तु हम, मानस तप के चिन्ह । तुव प्रति सब वरनन कियो, अर्जुन करि करि भिन्न ॥२३७॥
इमि तन वाचा चित्त के, योग त्रिविधता पाय । तुम प्रति हम वरनन कियो, तप सामान्य स्वभाय ॥२३८॥
अब त्रयगुण के संग तें, यह तप तीन प्रकार । सो विशेष तुम तें कहौ, निज बुधिबल अनुसार ॥२३९॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७।।

अर्थ—चाह न फल एकाग्र चित, श्रद्धायुत त्रय भाँत ।
जो नर करि तन मन वचन, तप सात्त्विक कहि जात ।।१७।।

यह तप तीन प्रकार जो, तुम तें कह्यो बखान। जो श्रद्धा परिपूर्ण ते, फल तजि करहिं सुजान ।।२४०।।
श्रद्धायुक्ताचार, जो प्रपूर्न सत बुद्धि तें। तप सात्त्विक निरधार, तब प्रबुद्ध जन तिहिं कहहिं ।।२४१।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१८।।

अर्थ—आदर पूजा मान वा, जग दरसावन हेतु ।
करि चंचल अस्थिर तपहिं, कहि राजस कपिकेतु ।।१८।।

नातर तप आचरन लगि, जग महँ द्वैत पसार। अरु महत्त्व के शिखर पर, जो बसि पाँव पसार ।।२४२।।
सब त्रिभुवन को मान पुनि, मो बिन पाय न आन। अरु भोजन के समय में, आसन मिलै प्रधान ।।२४३।।
ऐसी आवहि योग्यता, मम जस करि संसार। अरु यात्रा मम जगत करि, दर्शन हेतु उदार ।।२४४।।
जो जगपूजा विविध विधि, नहिं मम बिन आधार। भोगहु उत्तम भोग कहँ, अति महत्त्व विस्तार ।।२४५।।
निज अँग गणिका वृद्धपन, सजि तरुणाई हेतु। तिमि तप ढोंग पसारि कै, निजहिं बेचि कपिकेतु ।।२४६।।
अधिक कहा धनमान की, अति चाहहिं उरधार। करत कष्ट तप ताहि कहि, राजस तप निरधार ।।२४७।।
गोपय जब इक कीट पी, ब्यानहु दूध न देत। खड़ी फसल चरि जाय जब, नाज न मिलहिं सुखेत ।।२४८।।
जो तप कीन्हें जात हैं, निज प्रसिद्धि के हेतु। तब अशेष फल ताहि को, जाय वृथा कपिकेतु ।।२४९।।
अर्जुन त्यागि मँझार, इमि निष्फलता देखि तिहि। थिरता नहीं निहार, तिहिं तपमहँ अतएव कछु ।।२५०।।
गर्जन भिदि ब्रह्मांड इमि, व्याप्त होय आकास। सो अकाल की मेघ किमि, छनभर करहि निवास ।।२५१।।

जो तिमि राजस होय तप, फल में बाँझहि जान। रहन जोग नहिं होत है, तिहिं आचरन सुजान ॥२५२॥
अथ यदि तिहिं तप को करिय, जो तामस की रीत। तो परलोकहु नसत अरु, जग जस के विपरीत ॥२५३॥

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१६॥

अर्थ—हठ आग्रह अविवेकयुत, अरु इंद्रिय दुखदाय।
वा पर-नाशहिं करत तप, सो तामस कहि जाय ॥१६॥

केवल मूरखपन पवन, जो उर धरि धनुधारि। अरु जो अपनी देह को, वैरी जान गँवार ॥२५४॥
जो तन के सब ओर ही, पंचानल कहँ धार। निज तन को इंधन करत, जारत अनल मँझार ॥२५५॥
कंटक पीठहिं बांधि अरु, गुग्गुल सिरहि जराय। अंगहि जारत अनल तें, काष्ठ अँगार बनाय ॥२५६॥
श्वासोच्छ्वासहिं रोक करि, वृथा उपास कराय। पग ऊपर सिर राखि तर, धूम पान करि जाय ॥२५७॥
कंठहि लगि हिमनीर घुसि, सेवहिं पाहन तीर। जियतहि काढ़त मांस को, जो आपुने सरीर ॥२५८॥
निज तन को दुख देतु, ऐसे नाना भाँति तें। पर विनाश के हेतु, अर्जुन जो तप को करत ॥२५६॥
निज गुरुत्व पाहन गिरै, खंड खंड ह्वै जाय। किंवा आड़े आय जो, ता कहँ रगड़ नसाय ॥२६०॥
निज तनको तिमि देत दुख, तप आचरन दिखाहि। सुखी प्रमुख जन पर विजय, प्राप्तिहेतु उकताँहि ॥२६१॥
अधिक कहा यह अधम अरु, दुखदायक तप ठान। ऐसो जो ताको कहत, तामस तप मतिमान ॥२६२॥
इमि सत रज तम त्रिविध तप, जो इनको अनुरोध। कह्यो तुमहिं सुस्पष्ट करि, तातें पावहु बोध ॥२६३॥
कथन कहत अब मैं कहौं, जो प्रसंग अनुसार। दानहु के त्रय भाँति के, चन्ह कहौं निरधार ॥२६४॥
अरु गुन के अनुरोध तें, दानहु तीन प्रकार। तिनमें से प्रथमहि कहत, सात्त्विक दान विचार ॥२६५॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

अर्थ—देश समय अरु पात्र में, अनउपकारी पाय ।
दान देय कर्तव्य गनि, सो सात्त्विक कहि जाय ॥२०॥

जो निज धर्माचरन करि, जो कछु संपति पाय । तिहिं अति आदर योग तें, दान देय सत्भाय ॥२६६॥
उत्तम बीजहिं पाय परि, ओल न मिलै सुखेतु । तिमि संबंधहि दान के, देखि जानु कपिकेतु ॥२६७॥
करि चढ़ि रतन अमूल्य जब, तब न स्वर्न रहि पास । यदि मिलि दुहुँ पर देह नहिं, भूषन जोग विभास ॥२६८॥
ये तीनों एकत्र मिलि, मित्र, द्रव्य, त्यौहार । जब ही अपने भाग्य को, उदय होय धनुधार ॥२६९॥
जब अवसर कर दान लगि, तब सात्त्विक सहकार । देशकाल अरु पात्र तिमि, धनहु मिलहिं उदार ॥२७०॥
दानहेतु ऐसो जतन, प्रथमहि करै नरेश । कुरुक्षेत्र काशी मिलै, वा तस अन्य प्रदेश ॥२७१॥
ग्रहण चन्द्र रवि को परम, पुण्यकाल मतिमान । किंवा निर्मल अपर जे, होवहिं पर्व समान ॥२७२॥
देश समय ऐसहि मिलै, अरु पात्रहु अस जोय । मानहु शुचितारूप धरि, आपहि आई होय ॥२७३॥
आश्रय जो आचार के, वेद निवास ठिकान । इमि उत्तम द्विजराज कहँ, जो पावहिं मतिमान ॥२७४॥
दान अरपि तिहिं ब्राह्मणहि, निज सत्ता कहँ त्याग । जिमि प्रीतम के पास चलि, प्रियासहित अनुराग ॥२७५॥
जिमि फिर तिहिं सुखपाय, किंवा अपर धरोवरहिं । किंवा पान खवाय, जैसे सेवक भूपतिहि ॥२७६॥
अर्पन करि भूम्यादिकहिं, तिमि मन करि निष्काम । अधिक कहा फल चाहहू, कबहुँ न उठि मतिधाम ॥
और दान जिहिं देय तिहिं, ऐसहि लेय निहार । दान लेय करि नहिं करै, अर्जुन प्रत्युपकार ॥२७८॥
कीजिय नभ में शब्द पै, उतर न दै आकास । दर्पन के पीछे निरखि, जैसे रूप न भास ॥२७९॥
किंवा नीरहि गेंद को, मारिय तहँ परि जाय । पै कौतुक लखि उछलिकै, सो पुनि हाथ न आय ॥२८०॥
छूटे सांडहिं देय तृन, सिर कृतघ्न उपकार । प्रति उपकार न करत हैं, कबहूँ ते धनुधार ॥२८१॥
दान अर्पि जिहिं सो बहुरि, करि न उलट उपकार । ऐसे मनुजहिं दीजिये, अर्जुन दान विचार ॥२८२॥
ऐसी सामग्री सहित, दियो जाय जो दान । सो उत्तम सब दान महँ, सात्त्विक दान सुजान ॥२८३॥
देश समय तिहिं भांति मिलि, अरु सुपात्र तिमि पाय । अरु पायो जो न्याय तें, निर्मल धन नरराय ॥२८४॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥

अर्थ—जो प्रति उपकारहिं चहत, वा करि फल की चाह ।
दान देत जो दुखित मन, सो राजस नरनाह ॥२१॥

गाय चराई जाय, जिमि मन में पय चाह धरि । बीज बुवायो जाय, अन्न धरै बंडा विरचि ॥२८५॥
किंवा व्यवहारेहिं निरखि, सगे बुलाये जायँ । अथवा लच्य विचार करि, बाण तजत नरराय ॥२८६॥
जैसे लांचहिं गाँठ धरि, पुनि पर काज कराय । किंवा धन लै औषधी, रोगी को दी जाय ॥२८७॥
दानहिं दै जो भाव तिमि, अथवा पावै दान । सो जीवन पर्यन्त लगि, मम जस करहिं बखान ॥२८८॥
किंवा चालत पंथ मिलि, जो उत्तम द्विजराज । पै न योग्यता ताहि की, प्रति उपकारिक काज ॥२८९॥
कौड़ी दै इक दान तिहिं, सकल गोत्र के हेतु । प्रायश्चित संकल्प सब, पढ़ि पुनि तिहिं करि देतु ॥२९०॥
यदि अनेक फल स्वर्ग के, हेतु देत तिमि दान । तो वह इतनो देत इक, भूख न बुझत निदान ॥२९१॥
दानहिं जो लै जाय द्विज, दाता हानि विचार । जनु सर्वस्वहिं चोरहर, गनि इमि दुःख अपार ॥२९२॥
अधिक कहा बरनौं सुमति, ऐसे मन करि दान । कहत त्रिलोकहिं दान यह, राजस दान बखान ॥२९३॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अर्थ—असत्कार अपमानयुत, जो कुदेश अरु काल ।
दीजे दान अपात्र कहँ, सो तामस महिपाल ॥२२॥

किंवा वन के माँहि, हो निवासथल म्लेच्छ को । वा पुर के चौराहिं, अशुचि भूमि वा शिविर महँ ॥२९४॥
सब इकत्र तहँ होय करि, निशि वा सायंकाल । चोरी करके आन धन, बनत उदार विशाल ॥२९५॥
जहँ गनिका ज्वारी अहै, दानपात्र नट भाट । अरु प्रत्यक्षहिं चेटकी, तिहिं मोहहिं निज ठाट ॥२९६॥

नाच स्वरूपहिं पूर्णतः, सनमुख सुख लहि नैन । भाट गीत सुनि कान जो, गुंजारति दिन रैन ॥२९७॥
अपर सुगन्धित वस्तु वा, चालहि पुहुप सुगंध । तब भ्रम को वैताल जनु, प्रगट्यो पाय प्रबंध ॥२९८॥
अरु जग की करि लूट जो, आवहि विविध पदार्थ । तिहि के बल आरंभ करि, अन्नक्षेत्र कहँ पार्थ ॥२९९॥
अर्जुन ऐसे दान को, मैं कहि तामस दान । भाग्यवशहिं इमि ह्वै सकै, घटना एक सुजान ॥३००॥
कबहुँ घुनाक्षर जाय बनि, तालहि काग गिराय । पुण्यदेश अरु पर्व तिमि, तामस कहँ मिलि जाय ॥३०१॥
देखि विभव तिहिं यदि अतिथि, जो कछु माँगे आय । तो यद्यपि अभिमान तें, फूलहि भ्रम कहँ पाय ॥३०२॥
शीष न ताहि नवाय, अरु श्रद्धा मन धरत नहिं । अर्घ्यादिक न कराय, स्वयं आप वा इतर तें ॥३०३॥
आये आसन देत नहिं, गंधाक्षत कहँ पाय । इमि तामस नर अतिथि को, करि अपमान अघाय ॥३०४॥
साहुकारहि जिमि ऋणी, अल्प देय टरकाय । तिमि याचक की वंचना, तामस करि नरराय ॥३०५॥
अरु अर्जुन जो दान करि, ताको मोल बखान । किंवा कहि कटु वचन तिहिं, करि अपमान महान ॥३०६॥
अधिक कहा इहि भाँति जो, करत द्रव्य को दान । तासु नाम संसार महँ, तामस कहत बखान ॥३०७॥
निज निज लक्षणयुक्त इमि, सत रज तम युत दान । सो दानहिं सुस्पष्ट करि, तुम प्रति कह्यो सुजान ॥३०८॥
करहु कदाचित शंक तुम, निज मन में मतिमान । ऐसहि याके विषय में, मोहिं परत अनुमान ॥३०९॥
यदि जगबंधन नसत इक, सात्विक कर्म प्रधान । तो पुनि इतर सदोष को, किमि करिजात बखान ॥३१०॥
किन्तु निवारन भूत बिनु, जिमि नहिं मिलत निधानु । किंवा धूम-विनाश बिनु, कैसे सुलगि कृशानु ॥३११॥
किमि कहि जाय उदार, रज तम के भेद न अधम । लगि जो प्रबल किवार, शुद्ध सत्व की ओट करि ॥३१२॥
श्रद्धा आदिहिं दान लगि, मैं कहि क्रिया अशेष । सो सब तीनहि गुणन तें, व्यापत अहै विशेष ॥३१३॥
निश्चय तीनहु गुनन को, कथन न हेतु प्रधान । किंतु सत्व के दरसहित, यह भाषन मम जान ॥३१४॥
दो महँ तीजी वस्तु जो, दुओ तजे दरसाय । रात दिवस के त्याग जिमि, संध्याकाल लखाय ॥३१५॥
उत्तम तीजो लखि परै, जिमि रज तम के नाश । आपहिं ते सो सत्वगुन, प्राप्त होय रिपु त्राम ॥३१६॥
सत्व दरस के हेतु इमि, रज तम कियो निरूप । रज तम को तजि सत्व को, काज साधिये भूप ॥३१७॥
निर्मल सतगुन तें करहु, यज्ञादिक सब कर्म । तो पावहु करतल सतत, निज स्वरूप यह मर्म ॥३१८॥

सूर्य उदय तें दिवस में, कहा नहीं दरसाय । सतगुन ते करि कर्म तो, कहा न फल पा जाय ॥३१९॥
अतिशय उत्तम सत्त्व में, ऐसी शक्ति विशाल । प्राप्त करत जो ऐक्यता, मोक्ष स्वरूप सुवाल ॥३२०॥
अरु मिलि तासु सहाय, वह इक आनहि वस्तु है । सो प्रवेश कहँ पाय, मोक्ष स्वरूपी नगर महँ ॥३२१॥
उत्तम कंचन होय जिमि, नृप मुद्राक्षर पाय । तब ही वह मुद्रा चलत, रुकत नहीं नरराय ॥३२२॥
शीतल स्वच्छ सुगंधयुत, जल सुखदायक होय । पै पवित्रता तीर्थ की, सम्बंधहि तें जोय ॥३२३॥
सरिता बहुतेरी बड़ी, पै गंगा-सी नाँहि । तब ही तासु प्रवेश है, अर्जुन सागर माँहि ॥३२४॥
जबहि मोक्ष के मिलन को, आवहिं सात्त्विक कर्म । तब न परै प्रतिबन्ध मधि, पार्थ पृथक इक मर्म ॥३२५॥
यह सुनतहिं अर्जुन हृदय, चिन्ता उपजि अपार । कृष्ण कृपानिधि करि कृपा, कहिये ताहि उदार ॥३२६॥
कृपा चक्रवर्ती कहत, सुनु सुस्पष्ट विचार । जिमि सहाय मिलि सत्त्व को, मुक्तिरत्न उपहार ॥३२७॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

अर्थ—अहैं ब्रह्म के नाम त्रय, ॐ तत् सत् इमि जान ।
बिप्र, वेद, मख उपजि तिहि, यह पूर्वहि मतिमान ॥२३॥

यह अनादि परब्रह्म जग, आदिक थल विश्राम । जानिय तीन प्रकार के, तिहिं एकहिं के नाम ॥३२८॥
अहै वस्तुतः ब्रह्म जो, रहित नाम अरु जाति । पै श्रुति ताको नाम करि, लखहि अविद्या राति ॥३२९॥
जब शिशु उपजत तात, नाम न ताको रहत कछु । ओ कहि पुनि बतरात, जबहिं पुकारत नाम तिहिं ॥३३०॥
ऐसे दुःखित जगत दुख, ईशहि विनय सुनाय । ओ कहि उत्तर देत तिहिं, नामहिं मम अभिप्राय ॥३३१॥
अनिर्वाच्यता ब्रह्म दुरि, मिलि अद्वैत स्वरूप । वेद कृपा करि मन्त्र इमि, निरखि निकारयो भूप ॥३३२॥
किंवा लीलहि सन्मुखहिं, ईश उपस्थित होत । वेद कथित इक मंत्र जिहिं, उच्चारनहिं उदोत ॥३३३॥
किन्तु निगम गिरि शिखर पर, पुर श्रुति अर्थ स्वरूप । ब्रह्मपाँति में वसति जो, तिहि प्रतीत यह भूप ॥३३४॥
शक्तिहि जग उपजावनी, ब्रह्मा लही महान । अनुष्ठान इक नाम ही, तें पाये मतिमान ॥३३५॥

सकल विश्व प्रारंभ के, पूर्वहिं समय सुजान। विधि इक रहे अकेल ही, नर बावरे समान ॥३३६॥
ईश्वर मोहिं न जानि अरु, शक्ति न जग उपजाय। तबहि नाम इक ताहि को, मैं निज दियो बताय ॥३३७॥
अर्थ हृदय महँ जानि जसु, करि त्रय अक्षर जाप। जग रचना की योग्यता, लही विधाता आप ॥३३८॥
दियो वेद अधिकार, ब्राह्मणादि द्विज कहँ विरचि। इमि कहि मख आचार, द्विज श्रेष्ठ निर्वाहहित ॥३३९॥
नंतर जानि न परत अति, लोक अपार पसार। अरु इन तीनहुँ भुवन को, दीन्हों तिहिं उपहार ॥३४०॥
इमि जिन्ह नामहिं मंत्र किय, धातहिं श्रेष्ठ अनूप। कमलापति कहि सुनहु सो, वरनौं तासु स्वरूप ॥३४१॥
आदि वरन सब मंत्र कहँ, प्रणव दुजो तत्कार। अरु तीजो सत्कार इमि, तीनहुँ को निरधार ॥३४२॥
नाम अहै इमि ब्रह्मत्रय, ओम् तत् सत् आकार। श्रुति यह सुन्दर फूल की, लेत सुगंध अपार ॥३४३॥
कीजे सात्त्विक कर्म जब, यह इक नामहि संग। तब सेवक बनि मोच्छ तिहिं, अर्जुन गेह प्रसंग ॥३४४॥
दैववशहिं कपूर के, अलंकार मिलि जायँ। तो केवल अड़चन यही, पहिरे कैसे जायँ ॥३४५॥
करि सत्कर्महि आचरन, ब्रह्मनाम को जाप। पै यदि तिहिं उपयोग को, मर्म न जानहु आप ॥३४६॥
यदि घर आवहिं आपके, कबहूँ कोटि महन्त। करि सन्मान न तिन्हहिं को, तो क्षय पुन्य अनन्त ॥३४७॥
जिमि करि पहिनन चाह, अलंकार सुन्दर सुभग। बाँधि गरे नरनाह, करि इकत्र भूषन कनक ॥३४८॥
कर करि सात्त्विक कर्म तिमि, ब्रह्मनाम मुख धारि। पर न व्यवस्था जानि जो, तो सब व्यर्थ विचारि ॥३४९॥
अहह अन्न अरु भूख द्वय, यदपि समीपहि देखि। जो शिशु जेंवन जान नहिं, तौ लंघनहि विशेखि ॥३५०॥
अनल तैल अरु वर्तिका, यदि तीनहु उपचार। पै दीपक न लगाय सकि, तो किमि लहि उजियार ॥३५१॥
करहि सुवेला कृत्य तिमि, मंत्रहु मुख उच्चार। पर न व्यवस्था जानि तो, सकल वृथा धनुधार ॥३५२॥
इकहि नाम परब्रह्म को, यह त्रिअक्षरी जान। अब ताको विनियोग किमि, कियो जात सुनि मान ॥३५३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

अर्थ—ओम् सुनाम यह हेतु कहि, यज्ञ दान तप रूप।
कर्म करहिं सब ब्रह्मविद, सदा वेद-अनुरूप ॥२४॥

अक्षर त्रय परब्रह्म के, नाम मांहि निवसन्त। योजित करु त्रय कर्मथल, आदि मध्य अरु अन्त ॥३५४॥
यह इक युक्ति सहाय तें, हे अर्जुन मतिधाम। सकल ब्रह्मविद लहत सो, मिलत ब्रह्म सुखधाम ॥३५५॥
कथन जासु को शास्त्र महँ, अति महत्व दरसाय। कारन अनुभव ब्रह्मके, यज्ञादिक न तजाय ॥३५६॥
ध्यानहि ते ओङ्कार, सो आदिहिं प्रत्यक्ष करि। वाणी ते उच्चार, करि अर्जुन सुस्पष्ट तब ॥३५७॥
इहिं प्रकार तें ध्यान करि, व्यक्त प्रणव उच्चार। पुनः क्रिया के करन को, करि आरम्भ उदार ॥३५८॥
कृतारम्भ में प्रणव तिमि, दिव अभग अंधियार। जैसे संग समर्थ को, हो वन में धनुधार ॥३५९॥
उचित देव उद्देश्य तें, अतिधर्महि धनलाय। निजद्वारा वा अग्नि में, बहुविधि यजन कराय ॥३६०॥
आहवनीयादिक अनल, महँ निक्षेप स्वरूप। यजन करत विधि सहित जो, निज दक्षतहिं अनूप ॥३६१॥
अधिक कहा, साहाय्य तें, करि मख कर्म अनेक। तजि अप्रियहि उपाधिको, धारन करत विवेक ॥३६२॥
न्यायहिं धन शुचि आदि जे, अहैं स्वतन्त्र पुनीत। शुद्ध देश अरु काल महँ, देवैं दान विनीत ॥३६३॥
अन्तर इक दिन मास वा, चान्द्रायण व्रत धार। निज शरीर की शुद्धि करि, तप आचरत उदार ॥३६४॥
इमि प्रसिद्ध मख दान तप, कर्म बंध के रूप। नाम प्रभावहिं अति सुगम, अर्जुन मोक्ष अनूप ॥३६५॥
जल को पावहिं पार, जल तट रहि जड़ नाॅव जिमि। छूटहि नाम अधार, तिमि बंधन कर कर्म तें ॥३६६॥
किंतु अहैं यह सब क्रिया, जो यज्ञादिक दान। तिहि सहाय ओंकार करि, लहि योग्यता महान ॥३६७॥
जब अल्पहु फलरूपता, आई ताकहँ जान। तब प्रयोग तत् शब्द को, कीन्हो जात सुजान ॥३६८॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

अर्थ—आस न फल की चित्त धरि, यह 'तत्' नाम उचार।
यज्ञ दान अरु तप क्रिया, करहिं मुमुक्षु अपार ॥२५॥

सकल जगत तें जो परे, इक सब हीं। कहँ देखि। परब्रह्म जो नाम तिहि, 'तत्' शब्दहि ते लेखि ॥३६९॥
सर्वहि आदि विचारि 'चित', तद्रूपहिं उरधार। ज्ञानी जन सुस्पष्टतः, तब 'तत्' नाम उचार ॥३७०॥

रु कहि तत् रूपी अहै,जो परब्रह्म विशेष । अर्पि क्रिया फल सहित तिहिं,भोगन हेतु न अशेष ॥३७१॥
मे तत् आत्मिक ब्रह्म तिहिं, सकल कर्म अर्पाय । न मम बोलि इमि अंग निज, सब ही देत झराय ॥३७२॥
ोंकारहिं प्रारंभ करि, अरु समर्पि तत्कार । इहिं प्रकार सब कर्म में, लहि ब्रह्मत्व अपार ॥३७३॥
नश्चय तें यदि कर्म सब, ब्रह्माकारहिं पाय । तदपि सधत नहिं काज तिहिं, अपरभाव बचि जाय ॥३७४॥
केंतु लवणता शेष, लवन सलिलपरि जाय गलि । ब्रह्माकार नरेश, कर्म द्वैत जिमि जान पडि ॥३७५॥
परु जब घटना द्वैत की, तब भय जुरि संसार । यह कहि प्रभु निज श्रीमुखहिं, वेदवचन अनुसार ॥३७६॥
ताहि परे जो ब्रह्म तिहिं, आत्मरूप अवसान । पूर्तिहेतु करि योजना, 'सत्' शब्दहि भगवान ॥३७७॥
ओंकार तत्कार कहि, कृत सब ब्रह्म स्वरूप । कर्म प्रशस्तहिं कहत हैं, अर्जुन ताहि अनूप ॥३७८॥
थेर करिबो सत् शब्द को, कर्म प्रशस्त ठिकान । सुनन योग्य जो ताहि को, हम बरनत भगवान ॥३७९॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

अर्थ—योजित करि सत् शब्द को, साधु भाव सद्भाय ।
अर्जुन कर्म प्रशस्त जे, तहँ सत् शब्द लगाय ॥२६॥

यह सत् शब्दहि तें तजिय, मिथ्या असत् स्वरूप । निष्कलंक सत्तावपुहिं, सुस्पष्टहिं लखि भूप ॥३८०॥
यह सत् कालहु देश रहि, अन्य न वस्तु सिवाय । रहत निरन्तर आप ही, निजस्वरूप नरराय ॥३८१॥
यह सब जगत दिखाय जो, असत विनासहिं पाय । जासु ज्ञान के लाभ तें, ब्रह्मप्राप्ति हो जाय ॥३८२॥
जो सर्वात्मक ब्रह्म है, करि के कर्म प्रशस्त । द्वैत नासि तिहि साम्य करि, ऐक्य बोध लहि न्यस्त ॥३८३॥
कर्महि ब्रह्माकार, ओंकार तत्कारयुत । सोउ न रहत विचार, एकाइक सद्रूप हुँ ॥३८४॥
अन्तर्गत सत् शब्द इमि, जो विनियोग प्रसंग । ज्ञानेश्वर कहि मैं न कहि, यह भावत श्रीरंग ॥३८५॥
यदि बरनौं मैं कहत यह, तो श्रीरंग ठिकान । द्वैत उपजि तातें कहत, यह बरनत भगवान ॥३८६॥
अब करि औरहु रीति तें, यह 'सत्' शब्द विचार । जो करि सात्विक कर्म को, पार्थ परम उपकार ॥३८७॥

चलि उत्तम सत्कर्म जो, अधिकारहिं अनुसार। पै एकाधहु अंग में, जो न्यूनत्व निहार ॥३८८॥
जिमि तन अवयव न्यून इक,तो रुकि तव व्यापार। हीन भाग किंवा रथहिं,तिहिं गति रुकि धनुधार ॥३८६॥
निश्चय तिमि सत्कर्म वर, यदि इक गुणहिं अभाव। तातें सत्कर्महु धरत, असतरूपता भाव ॥३६०॥
करि सहाय वर रीति तव, ओंकार'रु तत्कार। 'सत्' कारहि करि न्यून कहँ, पूर्ण जीर्ण उद्धार ॥३६१॥
निजहु तेज की प्रबलतहिं,यह 'सत्' कार उदार। सद् भावहि आरोप करि, असत्पनाहि निवार ॥३६२॥
निबल सहायहि पाय, वा दिव्यौषधि रोगि जन। तिमि सत् शब्द स्वभाय,कर्म कलंकहि दूर करि ॥३६३॥
किंवा कछू प्रमाद निज, कर्म तजै मर्याद। चूकि निषिद्धहि पथ में, जो परि जाय अकाज ॥३६४॥
चलनहार ही भूलि मग, भ्रम लहि परखन हार। ऐसी घटना कौन जो, होत न जग व्यवहार ॥३६५॥
सीमा छाँडहि कर्म तिमि, तातें हेतु विचार। यदि तिहि कर्म निषिद्ध में, दुर्नामता भुवार ॥३६६॥
अर्जुन तब ओंकार अरु, तत्कारहु अधिकाय। यह 'सत्' कार प्रयुक्त करि, कर्म साधुता पाय ॥३६७॥
जिमि पारस लोहा परसि, नाली गंग मिलाय। किंवा जैसे मृतक पर, सुधावृष्टि झर लाय ॥३६८॥
अर्जुन कर्म असाधु तिमि, करि सत् शब्द प्रयोग। ऐसो यह गौरव परम, नाम मन्त्र संयोग ॥३६६॥
जानि मर्म 'सत्' शब्द इमि, सुमिरहु यदि तिहिं नाम। तो यह केवल ब्रह्म है,तुम जानहु परिनाम ॥४००॥
ऐसे 'ओंतत् सत्' लखिय, तहाँ मुमुक्षु उचार। जहँ ते गोचर सब जगत, करि प्रकाश धनुधार ॥४०१॥
निर्मल अपरिच्छिन्न, जो अर्जुन पर ब्रह्म है। दर्शक नाम अभिन्न, 'ओंतत् सत्' अन्तर्गतहि ॥४०२॥
जिमि नभ आश्रय नभहि तिमि, नाम केर आधार। नाम रहित परब्रह्म जो, नाम अभिन्न निहार ॥४०३॥
उदित होत आकाश में, रवि तें रविहिं प्रकाश। करत ब्रह्म की प्राप्ति तिमि, पार्थ नाम सुखराश ॥४०४॥
अक्षर त्रय ये नाम नहिं, केवल ब्रह्महि जान। कीजै याके हेतु सब, यावत् कर्म सुजान ॥४०५॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

अर्थ—यज्ञ दान तप माँहि थित, जो 'सत्' शब्द उचार।
ताके कीन्हे कर्म सब, 'सत्' ही अहैं उदार ॥२७॥

यज्ञ दान तप आदि जो, क्रिया सकल गंभीर। जाहि प्राप्त है पूर्णता, वा अपूर्ति रणधीर ॥४०६॥
किन्तु कसौटी पारसहिं, उत्तम अधम न मान। तिमि अर्पण करि ब्रह्म को, ब्रह्महि होत सुजान ॥४०७॥
जैसे सरिता सिंधु मिलि, बिलगि न होय निदान। तैसहि पूर्ण अपूर्णता, भेद न कर्म ठिकान ॥४०८॥
नामहि ब्रह्महि शक्ति को, ऐसी तुम प्रति पार्थ। सो दरसाय बखान करि, याहि प्रमान यथार्थ ॥४०९॥
अरु इक इक सब अक्षरहिं बिलग बिलग करि वीर। उत्तम विधि विनियोग की कहौं तुमहिं रणधीर ॥४१०॥
नामहि श्रेष्ठ महान, परब्रह्म को इमि बहुरि। याको मर्म सुजान, तुम सम ही जन जानि है ॥४११॥
अब श्रद्धा यह नाम पर, करु सर्वदा पसार। जन्म बंध के जाल तें, मुक्त होहु धनुधार ॥४१२॥
जिहि कृत में यहि नाम को, सत् विनियोग कराय। अनुष्ठान सब तासु को, वेद स्वरूपहि पाय ॥४१३॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अर्थ—श्रद्धा बिन मख दान तप, जो कछु कीजे पार्थ।
असत कहत तिहिं फलद नहिं, इहिं परलोक यथार्थ ॥२८॥

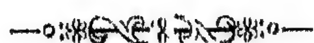
किंवा त्यागहि पंथ यह, नसि श्रद्धा आधार। अरु प्राबल्य दुराग्रहहिं, जो बढ़ाय धनुधार ॥४१४॥
करिय कोटि हयमेधहू, रत्नपूर्ण महि दान। एक अंगूठा पर बहुरि, रहि तप तपहु विधान ॥४१५॥
सरवर कूपहु नाँव ते, सिन्धु नवीन रचाउ। सकल वृथा ही जानिये, बरनौं किमि अधिकाय ॥४१६॥
जो जल पाहन पर बरसि, भस्महि हवन कराय। अथवा आलिंगन करैं, छाया को नरराय ॥४१७॥
किंवा अर्जुन हाथ तें, गगनहि थापड़ मार। समारंभ तिमि कर्म को, सब ही वृथा विचार ॥४१८॥
कोल्हू में पेरिय शिला, तेल खली न मिलाय। केवल लाभ दरिद्रता, तिहिं कर्महि ते पाय ॥४१९॥
देश होय परदेश, खपरी बाँधिय गाँठ में। लेत न कोउ नरेश, जैसे मरत उपास करि ॥४२०॥
सकल कर्म आचरन तिमि, इह लोकहु सुख नाँहि। तहँ परलोकहि के विषय, कौन आस मन माँहि ॥४२१॥
अतह ब्रह्म के नाम में, श्रद्धा तजि करि काज। इहि परलोकहु विषय में, कि बहुना नरराज ॥४२२॥

इमि अघगन गज केसरी, रवि त्रिताप अँधियार । वीर शिरोमणि नरहरी, श्रीपति वचन उचार ॥४२३॥
जिमि शशि एकाएक ही, छिपि चन्द्रिका मँझार । तिमि असीम स्वानंद महँ, डूब्यो पाँडुकुमार ॥४२४॥
ये वाणी संग्राम जो, मापि अनी नाराच । मानो देहहिं जीवतहिं, माप लेय जन साँच ॥४२५॥
ऐसे कर्कश समय किमि, भोगि स्वात्म आनंद । आज समान सुभाग्य को, उदय न कहुँ सुखकंद ॥४२६॥
संजय कहि कुरुराज सुन, रिपु के प्रद आनंद । अरु मम सुख की प्राप्ति को, गुरुकारन सुखकंद ॥४२७॥
यह न पूछि यदि पार्थ तो, प्रभु किमि कहत बखान । अरु कैसे मिलतो हमहिं, यह परमार्थ महान ॥४२८॥
जो अज्ञान अंधेर, जन्म दुःख भोगत पड़े । तहँ ते लायो हेर, आत्म-प्रकाश स्वधाम महँ ॥४२९॥
इन हम तुम ऊपर कियो, यह उपकार अपार । अतः गुरुत्वहि यह अहै, व्यासबंधु धनुधार ॥४३०॥
संजय मन कहि पार्थ को, मैं यश कह्यो अपार । सहि न जाय सो कुरुपतिहिं, अब न करौं विस्तार ॥४३१॥
संजय इमि यह बात तजि, अपर बात स्वीकार । पार्थ प्रश्न करि कृष्ण तें, सो संवाद उदार ॥४३२॥
संजय जिमि बरनन करत, तिमि मैं कहत बखान । ज्ञानदेव कहि निवृत्ति के, सो सुनिये धरि ध्यान ॥४३३॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-
दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)
निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) भद्दूलालात्मज श्रीमद्
ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर
श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-
ज्ञानेश्वर्यां सप्तदशोऽध्यायः
शुभमस्तु
ॐ तत्सत् ३

ॐ

अष्टादश अध्याय



जय जय निर्मल देव निज, भक्त पूर्ण शुभ कारि ।
असद् जाल उत्पति जरा, नाशन प्रबल मयारि ॥१॥

जय जय देव समर्थ अति, दलन अमंगल गोत । शास्त्र वेद वपु विटप फल, फलप्रद परम उदोत ॥२॥
जय जय देव दयालु तिहिं, विषय विगत जो होय । नाशत काल कूतूहलहि, कलातीत प्रभु सोय ॥३॥
जय जय निश्चल देव बढ़ि, कुचि चलत चित पान । जन्मत जगत निरन्तरहिं, क्रीडाप्रिय भगवान् ॥४॥
जय जय देव सुपूर्ण प्रभु, फुरत अखंडानंद । सब अघ निरसन नित्यरत, कारनभूत मुकुंद ॥५॥
जय जय देव प्रकाशमय, जग नीरद धर अभ्र । थंभ भुवन उद्भव प्रक्रम, भव ध्वंसक अति शुभ्र ॥६॥
जय जय देव विशुद्ध गज, विद्या वपु उद्यान । शम दम द्वारा मदन मद,-नाशक दयानिधान ॥७॥
जय जय देव स्वरूप इक, हरन मदन मद नाग । भक्त भाव जगदीप प्रभु, शमन सकल जग आग ॥८॥
जय जय प्रभु अद्वैत प्रिय, नम्र पुरुष कहँ एक । भक्ताधीन उपास्य प्रभु, माया अगम अटेक ॥९॥
सकल कल्पनाहीन, जय जय सद्गुरु देवतरु । जन्मस्थान प्रवीन, स्वयं ज्ञान तरु बीज के ॥१०॥
आप अनूपम अहह प्रभु, आपुहि के उद्देश । कैसे मैं स्तुति करि सकौं, नाना भाषा वेष ॥११॥
जातें तुम्हें विशेषिये, दृश्य न सो तुव रूप । यह जानत मैं लजत हौं, वर्नत स्वयं स्वरूप ॥१२॥
कहत लोग यह जगत महँ, सागर में मर्याद । पै जब लगि नहिं शशि उदय, तब लगि यह संवाद ॥१३॥
शशधर मनि निज नीर सब, चंद्रहिं अर्घ्य न देत । पै शशि अपने हेतु तें, सोमहिं सो जल देत ॥१४॥

अकसमात अंकुर अमित, ऋतु वसंत के संग । फूटत धरि नहिं सकत हैं, तरुवर अपने अंग ॥१५॥

सूर्य किरन लखि पद्मिनी, लजति न फूलति जात । जिमि जल महँ मिलि लवन तहँ, आपन अंग भुलात ॥१६॥

सुमिरन करि तिमि मैं तुमहिं, आपुनपन विसराय । जिमि भोजन तें तृप्त नर, कों डकार बहु आय ॥१७॥

देशांतर ममता गयी, इमि कृति आप जनाय । मम बानी सुस्तुति करत, ध्वनि बाँधे न अघाय ॥१८॥

कीर्तन करौं बहोर, आपुन मति तें नाथ जो । कैसे पाऊँ छोर, गुन अवगुन के छान को ॥१९॥

एक रसात्मक चिन्ह तुम, कैसे होय विभाग । मोती फोरे नहिं भले, बिन फोरे वर भाग ॥२०॥

अहो मातु पितु प्रभु तुमहिं, यह सुस्तुति नहिं होय । बालकपनहिं उपाधितें, भलो कहत नहिं कोय ॥२१॥

जो तुम्हरो पालक अहौं, तो गुसाइपन काहि । यह उपाधि वपु उष्ट्र सम, कैसे वरनौं ताहि ॥२२॥

जो अस कहौं कि आप ही, आतमस्वरूपी एक । अतर्यामी हृदय तें, कहत सुहात न नेक ॥२३॥

सत्यहु सुस्तुति योग्य तुव, उपमा जग न दिखाय । भूषण अंग न लेत प्रभु, केवल मौन सिवाय ॥२४॥

नुति करिबो मौनहि रहब, पूजा कर्म थकानु । सन्निधि कछु न समीपता, संभव आप ठिकानु ॥२५॥

जिमि बाउर निज भ्रमहि वश, बड़बड़ करत भुलाय । तैसहि मेरी नुति वृथा, माता सहन कराय ॥२६॥

अब गीता के अर्थ की, मुक्ता मुद्रा लाय । संत सभहिं सन्मानहित, मम पाणिहिं पहिराय ॥२७॥

सोह न पुनरावृत्ति, लोहाघर्षन परिस तें । भाषत नाथ निवृत्ति, वारंवार न विनय करु ॥२८॥

श्री ज्ञानेश्वर विनत तब, दीन्हों मोंहि प्रसाद । ध्यान देहिं इहि ग्रंथ पर, देव रहै मर्याद ॥२९॥

गीतामंदिर रतन यह, चिंतामणि वपु अर्थ । दर्शन कलशाध्याय को, बोधक सकल समर्थ ॥३०॥

ऐसी लोकहु रीति है, दूरहिं कलश दिखाय । ता दर्शन तें देव के, दर्शन सम फल पाय ॥३१॥

ऐसो ही इत जानिये, इहिं एकहि अध्याय । याके देखे विदित सब, गीता शास्त्र सुभाय ॥३२॥

श्रीगीता प्रासाद में, व्यास चढ़ायो लाय । कलश कहत मै ताहि तें, अष्टादश अध्याय ॥३३॥

कलश धरे प्रासाद में, शेष न कौनहु काम । तिमि भाषे इहि के सकल, गीता पूर्ण ललाम ॥३४॥

अतिशय कौशल व्यास श्री, सूत्र रचे सुखदानि । वेदरत्नगिरि रूप श्रुति, खोदी भूमि खदानि ॥३५॥

धरम, अरथ अरु काम की, माटी भिन्न प्रकार । कोट महाभारत रच्यो, तातें पाय विचार ॥३६॥

उत्तम शिला मैं भाय, आत्मज्ञान की एक सम । चातुर तानि गढ़ाय, कृष्णार्जुन संवाद वपु ॥३७॥
धागा सूत्र पसार करि, सकल शास्त्र पुरवाय । मोक्षरूप मर्याद को, तहँ आकार गधाय ॥३८॥
कीन्ह विरचना मंदिरहिं, पंद्रह थर भे पूर । पन्द्रहवें अध्याय लगि, शुद्ध भूमि गल पूर ॥३६॥
सोलहवें अध्याय को, ग्रीवामणि लगि जान । सत्रहवें अध्याय को, बैठक कलश सुजान ॥४०॥
अष्टादश अध्याय में, कलश लगाय भुवाल । गीताजी की व्यास मुनि, रोपी ध्वजा विशाल ॥४१॥
तातें कहि अध्याय यह, पिछले सब अध्याय । तिन्ह सब की परिपूर्णता, भई जु मो अँग आय ॥४२॥
छिपत न कृति परिपूर्णता, कलश उजागर रूप । आदि अंत गीता सकल, अष्टादशहिं अनूप ॥४३॥
कलश पूर्णता व्यास है, ऐसो गीता धाम । रक्षा पावत प्राणि सब, जीति द्वैत संग्राम ॥४४॥
कोइक करत प्रदक्षिणा, बाहर गीता बॉच । कोइ श्रवण गीता करत, छाया पसि पचि आँच ॥४५॥
इक अवधान स्वरूप तें, पान दक्षिणा लाय । अर्थ ज्ञान वपु गर्भ गृह, प्रविशि तहाँ सुख पाय ॥४६॥
सो निज बोध सुजान, आत्म मिलापहि शीघ्र ही । साधन सफल समान, मोक्षधाम मैं सर्वदा ॥४७॥
अरथ ज्ञान, वाचन, श्रवन, सब महँ मोक्ष समान । पंक्तिभोज में श्रेष्ठ जन, परसत जिमि पकवान ॥४८॥
कृष्णभवन गीता कलश, अष्टादश अध्याय । विशद भेद सब जानिकै, मैं बोलत हरषाय ॥४६॥
सत्रहवें अध्याय के, आगे यह अध्याय । कैसे लख्यो उठावनी, सो संबंध बताय ॥५०॥
श्री गंगा यमुना उदक, यदि प्रवाह तें भेद । तदपि जल की दृष्टि तें, दुहुँ जल मॉहि अभेद ॥५१॥
द्वै आकारन त्यागि के, एकाकार बनाय । सदृश अर्धनारीश्वरहिं, दो मिलि एक दिखाय ॥५२॥
शशधर की सितपक्ष में, कला बढ़त नित जात । पै निज दृष्टिहिं चंद्रमा, सदा सुपूर्ण लखात ॥५३॥
इमि तिमि प्रति अध्याय के, सुश्लोकन चौपाद । पृथक पृथक लखि जात पै, भेद न अर्थ-विवाद ॥५४॥
अर्थदृष्टि ते भेद नहिं, इमि जानत सब कोय । जिमि नाना रत्नहिं गुथे, धागा एकहि सोय ॥५५॥
गुँथो जात इक हार, मोतीपुंज मिलाय के । एक रूप आधार, शोभा संयुत सबन की ॥५६॥
संख्या सो पुहुपान की, गुँथिये माल बनाय । सम सुगंधि तिमि अर्थ के, सुश्लोकहु अध्याय ॥५७॥
गीता के अध्याय सब, श्लोक सात सौ लेख । देव कहत दूजे नहीं, सबहिं एक ही पेख ॥५८॥

देव पथहिं छाँडत नहीं, करत ग्र थ सुस्पष्ट । करौं निरूपन ताहि को, समझत लहैं न कष्ट ।।५६।।
सत्रहवों अध्याय जब, चाहत होत समाप्त । तब अंतिम सुश्लोक महँ, कह्यो वचन प्रभु आप्त ।।६०।।
अर्जुन नामहि ब्रह्म में, यदि अश्रद्धा होय । कर्म करै चाहै अधिक, किन्तु वृथा श्रम सोय ।।६१।।
सुनत कृष्ण के वचन इमि, अर्जुन को आनद । ब्रह्म नाम श्रद्धा विना, दूषित कर्म कुफंद ।।६२।।
सो दुखिया अज्ञान तें, अध लखत नहि ईश । श्रद्धा विन सूझत नहीं जो गावत जगदीश ।।६३।।
सो रज तमके नाश बिन श्रद्धा शुद्ध न होय । ब्रह्म विषय में पात्रता, कबहुँ कि पावत सोय ।।६४।।
शस्त्रालिगन देहिं, धावें बातें सुनत ही । कारन मरन जु येहि, नागिन खेलै हाथ ले ।।६५।।
कर्म करै दुर्घट सकल जन्मान्तर में जाय । दुष्ट कर्म को दुखद फल, भोगे बिन न नसाय ।।६६।।
सविधि सांग कर्महिं करै, होय योग्यता ज्ञान । दुष्ट कर्म विधिहीन जो, तासों नरक निदान ।।६७।।
अडचन कर्मी पुरुष कहँ, बहुत मिलत बहुवार । तातें औसर मोक्ष को, कर्मिहिं दूर विचार ।।६८।।
जानि कर्म की हीनता, कीजै ताको त्याग । आदर ते धारन करहु, सो संन्यास विराग ।।६६।।
जातें काया कर्म अरु, भय की बात न होय । आत्म ज्ञान स्वाधीनता, अर्जुन पूछत सोय ।।७०।।
ज्ञानावाहन मन्त्र के, पीकहि उत्तम खेत । ज्ञानाकर्षक सूत्र जो, द्वैत भाव हरि लेत ।।७१।।
द्वौ सन्यास रु त्याग के, अनुष्ठान की रीति । पूछौं उत्तम रीति सों, कहिहैं कृष्ण सप्रीति ।।७२।।
उचित व्यवस्था पार्थ, त्याग और संन्यास की । प्रश्न कियो शुचि सार्थ, प्रगट रूप जान्यौ चहै ।।७३।।
अर्जुन को उत्तर दियो, केशव जो हरपाय । सो वर्णन सम्पूर्ण शुभ, अष्टादश अध्याय ।।७४।।
कारण कारज भाव तें, इक तें इक अध्याय । जनमत अर्जुन प्रश्न को, सुनिये चित्त लगाय ।।७५।।
सुनि कै केशव के वचन, मन महँ सोच विचार । शङ्का अन्तः करन महँ, लाये पांडुकुमार ।।७६।।
यों तो निश्चय तत्व को, पायो पाँडुकुमार । पै देवहिं चुप निरखि के, सह्यो न सो सुख भार ।।७७।।
जननि-दूध तें उदर भरि, जैसे वत्स अघाय । तौऊ प्रीति-अनन्य ते, चाहत दूरि न जाय ।।७८।।
कारज बिन बोलत रहे, देखै पुनि पुनि देखि । प्रेमपात्र की प्रेमगति, दोगुन चौगुन पेखि ।।७६।।
जगतहि ऐसी प्रीतिविधि, पारथ प्रेम स्वरूप । खेद करत चित में तहाँ, नहि बोलत सुरभूप ।।८०।

कृष्णार्जुन संवाद मिष, ब्रह्म अलौकिक वस्तु। सुख भोगत जिमि आरसी, लखि निजरूप समस्त ॥८१॥

सुख सब भयो रुकाव, जो संवाद रुकाव तें। कैसे होय सहाव, गुण आस्वादन बिन किये ॥८२॥

अब त्यागरु संन्यास के, पूछत विषय समस्त। ता मिष गीता के खुले, सब सिद्धांत प्रशस्त ॥८३॥

अष्टादश अध्याय यह, गीता एकाध्याय। गाय पन्हावत वत्स लखि, बेर अबेर कि काय ॥८४॥

गीतहिं समय समाप्ति के, भृत्य प्रश्न सुनि फेरि। अति आदर सों पेखि के, स्वामी कहत न देरि ॥८५॥

अर्जुन तिहि ऐसे कहत, स्वामि विनय सुनि लेहु। मैं पूछत विनती करत, तामें प्रभु चित देहु ॥८६॥

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्थ—चाहत मैं संन्यास अरु, त्याग केर सुविचारु।
हृषीकेश मोंहि तत्त्व कहु, केशिनिषूदन चारु ॥१॥

कहत त्याग संन्यास दुहूँ, एकहि अर्थ सुजान। संघ और समुदाय जिमि, दोऊ संघ प्रमान ॥८७॥

कहत त्याग संन्यास को, बोलत त्याग विचार। मोरे मन आवत जु इहिं, नाथ कहहु विस्तार ॥८८॥

अर्थ भेद जो होय तो, विशद कहहु गोबिन्द। होत अर्थ की भिन्नता, कहत यथार्थ मुकुन्द ॥८९॥

अर्जुन जो तुम्हरे मनहिं, एक त्याग संन्यास। साँचहु मैं मानत यहै, एक अर्थ को भास ॥९०॥

कहत लीजिये जाँच, पै कारण इहिं भेद को। त्यागहिं बोलत साँच, जो दोनोंहू शब्द को ॥९१॥

कर्म तजै जो सर्वथा, ताहि कहत संन्यास। कर्म करै त्यागै फलहि, ताहि त्याग बुध भास ॥९२॥

कवन कर्म को त्याग फल, कौन कर्म सब त्याग। सो भाषत अति विशद मति सुनहु सहित अनुराग ॥९३॥

आपुहिं गिरि आरण्य महँ, उपजत विटप अपार। तरु वाटिका न होत तहँ, नाहिन धान-प्रसार ॥९४॥

जिमि बिन बोये उगत तहाँ, जहँ-तहँ नाना घास। तिमि बोये बिन धान के, नाँहि उगन की आस ॥९५॥

काया आपुहिं होत हैं, आभूषन उत्साह। स्वाभाविक सरिता बहति, कुआ खनाये जाँह ॥९६॥

सकल नित्य नैमित्तिकहु, कर्म प्राकृतिक होय। काम्य कर्म इच्छासहित, किन्तु होत नहि कोय ॥९७॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अर्थ—त्याग सकामहि कर्म को, धीर कहत सन्यास।
सर्व कर्म फल त्याग पुनि, त्याग विचक्षण भास ॥२॥

सहित कामना कर्म जे, ते उपजावत जग्य। हयमेधादिक जग्य कों, पुण्य कहत वेदग्य ॥९८॥
क्षेत्र, धाम, आराम, सरवर, वापी कूप पुनि। नानाविधि व्रत नाम, अग्रहार पुर को बसब ॥९९॥
ऐसे इष्टापूर्त सब, कर्म कामनामूल। बँधत करत आचरन फल, भोगत तिहिं अनुकूल ॥१००॥
काया ग्रामहिं आय करि, जन्म-मृत्यु ससार। अर्जुन मेटे मिटत नहि, ताकी शक्ति अपार ॥१०१॥
जो कछु लिख्यो ललाट महँ, कैसहु सो नरराय। जिमि कालो गोरोपनो, धोये तें न धुवाय ॥१०२॥
काम्य किये फल भोग में, बैठे धरना देय। जैसे ऋण दीन्हें विना, हू कोई कछु लेय ॥१०३॥
अकस्मात ह्वै जाय जो, काम्यकर्म कहूँ भूल। तोहू घातक दुखद अति, जिमि बाणन के शूल ॥१०४॥
स्वाद मधुर गुड को लगत, खाय जान अनजान। राख मानि अग्निहिं छुवै, तोहू जरत सुजान ॥१०५॥
काम्य किये तें प्राकृतिक, फल भोगन सामर्थ्य। सो मुमुक्षु कौतुकहिं जनि, करहु जानि तिहि व्यर्थ ॥१०६॥
कहहुँ बहुत का पार्थ सुनु, काम्य तजें अस जान। विष त्यागत करि के वमन, तिमि त्यागिये सुजान ॥१०७॥
कहैं ताहि संन्यास, जग में ऐसे भेद तें। द्रष्टा रमाविलास, सर्वांतर साक्षी सकल ॥१०८॥
बनहि तजे तें होत जिमि, तस्कर भय तें हीन। काम्य कर्म के त्याग तिमि, सब कामना विहीन ॥१०९॥
सूर्य सुधाकर ग्रहण महँ, करियत पार्वण दान। मातु-पिता के मरण दिन, धरियत श्राद्ध विधान ॥११०॥
अनुसारियत बलिवैश्व विधि, तथा अतिथि-सत्कार। नैमित्तिक बहु कर्म हैं, जानत सब संसार ॥१११॥
ऋतु बरषा शोभित गगन, शोभा बन ऋतुराज। तन की यौवन के समय, शोभा अधिक विराज ॥११२॥

शशधर मणि द्रवि चंद्र तें, रवि तें कमल विकास। होत निमित्तहिं पायके, नये भाव सहुलास ॥११३॥
कर्म करत जो नित्य प्रति, सोइ निमित्तहि पाय। नैमित्तिक बड़ नाम लहि, सुनियम पूर्वक आय ॥११४॥
संध्या प्रातरु मध्यदिन, प्रतिदिन जो करणीय। दृष्टि रहत परमिति नयन, मानत अधिक न हीय ॥११५॥
अस्वीकृति गति के किये, गति चरणन के पास। दीप प्रभा जिमि दीप महँ, आपुहिं करत प्रकास ॥११६॥
जिमि सुगंध चंदन बसत, तहँ ते आवत वास। तिमि अधिकार स्वरूप को, होत कर्म तें भास ॥११७॥
करहिं पार्थ तिहिं मान, नित्य कर्म ऐसे जगत। तुमहि दिखायो आन, इहि विधि नित्य निमित्त कहे ॥११८॥
जो आवश्यक आचरन, नित नैमित्तिक कर्म। ये निष्फल कोई कहत, समुझत ताग न मर्म ॥११९॥
कीजै भोजन तृप्त ह्वै, क्षुधा जाय हरषाय। तैसे नित्य निमित्तकहि, सब अंगन फल पाय ॥१२०॥
जिमि सुवर्ण पावक परे, मल नसि आभा पाय। तिमि कर्मों के आचरन, चित्त विशुद्ध ह्वै जाय ॥१२१॥
दोष नसें सब आपुहीं, स्वाधिकार बढ़ि जाय। सद्गति हाथोंहाथ ही, मिलै परम सुखदाय ॥१२२॥
नित्य निमित्तक कर्म में, पावत फल अधिकाय। त्यागु मूलनक्षत्र सम, फल त्यागे सुख पाय ॥१२३॥
ऋतु वसंत में सब लता, पीकैं आमहु जोय। हाथ न लावत सो तहाँ, त्यागि देति है सोय ॥१२४॥
करै आचरन विधि सहित, चित दै दोनों कर्म। फल त्यागे शव वमन सम, रहे सदा निष्कर्म ॥१२५॥
इहिं विधि त्यागे कर्मफल, विज्ञ कहैं तिहिं त्याग। त्याग और संन्यास को, इमि मैं कहत विभाग ॥१२६॥
संभव जो संन्यास को, काम्य न बाँधै जाहिं। औ निषिद्ध जे कर्म हैं, तजहु स्वमानहि ताहिं ॥१२७॥
काया होत विनाश, मस्तक काटें ते यथा। फल त्यागे तें नाश, नित नैमित्तिक कर्म को ॥१२८॥
जबहिं धान्यफल जाय पकि, तबहिं मिलत हैं धान। सर्व कर्म के क्षय भये, आपहि पावत ज्ञान ॥१२९॥
ऐसी युक्ति मुमुक्षुजन, सेय त्याग, संन्यास। आत्मज्ञान की योग्यता, पावैं परम हुलास ॥१३०॥
चूकै ऐसी युक्ति तें, अटकल तें करि त्याग। कर्म त्याग नहि हो सकै, लहै घृटाशा जाग ॥१३१॥
औषधि व्याधि निदान बिन, सो लेतहि विष होय। भूखौ अन्न न खाय जो, मरै न सो किमि सोय ॥१३२॥
ताको त्याज्य न कहत हैं, ताहि न त्यागौ कोय। जाहि कहत प्रभु त्याग तहँ, लोभ करहु जनि सोय ॥१३३॥
युक्ति त्याग की चूक तें, बोझ कर्म को त्याग। बहुरि निषिद्धहि कर्म तजि, कहि संपन्न विराग ॥१३४॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

अर्थ—कर्म अहैं सब दोषयुत, तातें बुध कहि त्याग ।
यज्ञ दान तप कर्म को, अपर कहैं जनि त्याग ॥३॥

कर्महिं बंधन करत जो, तजत न फल अभिलाष । नग्न पुरुष कहँ नग्न कहु, नग्न जु गगनहिं भाष ॥१३५॥
जिह्वा लोभी रोगिया, अन्नहि दोष लगाय । जिमि कोढ़ी निज अंग तजि, माछिहिं कोप कराय ॥१३६॥
सकल त्याग नहिं कर्मफल, कर्महिं दोष लगाय । निर्णय ऐसो देत हैं, तजहु कर्म समुदाय ॥१३७॥
निश्चय करिय सुजान, एक कहत यज्ञादिकहिं । शोधक चित्त न आन, कारण ताहि सिवाय कछु ॥१३८॥
जो चाहै विजयी बनब, शीघ्र शुद्धि के मार्ग । करहु आचरन कर्म सब, तजि आलसी कुमार्ग ॥१३९॥
जो सोध्यो चह कनक को, पावक तें न डराय । दर्पण चाहै स्वच्छ जो, सचै रज समुदाय ॥१४०॥
जो चाहौ तुम हृदय तें, स्वच्छ वस्त्र समुदाय । रजक नाँद तें जनि डरो, मलिन जान इतराय ॥१४१॥
कर्महि दुखदायी समुझि, करहु अनादर नाहिं । शुद्ध पाक कीन्हे बिना, उत्तम अन्न नसाहिं ॥१४२॥
ऐसहि इक सिद्धान्त तें, करत कर्म सन्मान । कोइ कर्म के त्याग में, वाद करत मतिमान ॥१४३॥
पुनि पश्चात विवाद को, निश्चय सुनहु विचार । कर्म त्याग कैसे करहु, उत्तम रीति सँभार ॥१४४॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

अर्थ—मम निश्चय सुनु त्याग में, भारत श्रेष्ठ सुजान ।
त्याग कहत हैं तीन विधि, श्रेष्ठ पुरुष मतिमान ॥४॥

अब त्रय विधि के त्याग को, जानहु जग में वीर । करि विभाग तिन्ह को कहत, तीन भाँति रणधीर ॥१४५॥
जो हम तीन प्रकार के, त्याग बखाने आनु । सो ताके तात्पर्य को, सार स्वल्प तुम जानु ॥१४६॥

निश्चय करत विशुद्धि, मै सर्वज्ञ विवेक तें। सुनु अर्जुन सद्बुद्धि, सोई निश्चय तत्व को ॥१४७॥
आपुन चाहत मुक्ति जो, जागत रहत मुमुक्षु। सकल करैं जो हम कहैं, सर्व भाँति मन दक्षु ॥१४८॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

अर्थ—दान मखहु तप कर्म को, जनि त्यागिये सुजान।
यज्ञ दान तप रूप हैं, पावन कहि विद्वान ॥१४९॥

जैसहि पथिक न मग तजै, पाँव उठावत जाय। यज्ञ दान तप आदि सब, आवश्यक न तजाय ॥१४९॥
देखै कोई वस्तु को, जौ लौं मिलै न ताहि। जब लौं तृप्ति न होत है, तजै न भोजन चाहि ॥१५०॥
नौका त्यागु न बीच हीं, पार गये बिन आप। कदली तजै न फलत लगि, दीपक वस्तु मिलाप ॥१५१॥
अर्जुन तप मख दान तें, उदासीन जनि होय। जब लगि आतम ज्ञान को, निश्चय पूर्ण न होय ॥१५२॥
निज अधिकार प्रमान सब, कर्म करै अधिकाय। यज्ञ दान तप कर्म को, अनुष्ठान मन लाय ॥१५३॥
चलत वेग बढ़ि जाय थकि, बैठे ह्वै बलहीन। तिमि अतिशय कर्महिं करैं, होत कामना हीन ॥१५४॥
औषधि-सेवन करत जिमि, विधियुत धीरज धारि। तिमि तिमि रोग बिलात तिहिं, जानत सब नरनारि ॥१५५॥
ऐसहि शीघ्र सुकर्म, क्रमविधि तें कीजै सदा। बाढ़त जात सुधर्म, रज तम नसत समूल तब ॥१५६॥
खारहि की जो देय पुट, बारंबार अनेक। कंचन निर्मल तब बनै, रहत विकार न एक ॥१५७॥
निष्ठा तें कर्महि किये, रज तम होय बिनास। सत्त्वशुद्धि को धाम बनि, आँखन देखें भास ॥१५८॥
सत्त्वशुद्धि की प्राप्ति तें, सुनहु धनंजय वीर। पावें तीर्थ समानता, सब सत्कर्म सुधीर ॥१५९॥
नसै तीर्थ बहिरंग मल, कर्म भीतरी दोष। जानहु निर्मल तीर्थ तुम, जो सत्कर्म अदोष ॥१६०॥
अमृत बरषा तृषित हित, जैसे मरुथल देश। किंवा अंधहि नयन जिमि, सूरज करहि प्रवेश ॥१६१॥
नदी माँहि बूड़त कहत, पावै धरनी कूल। मरनहार को मृत्यु जिमि, देय आयु अनुकूल ॥१६२॥
कर्महि बंधन कर्म तें, नसत मुमुक्षुन केरि। विषहु बचावत मृत्यु तें, रीत रसायन हेरि ॥१६३॥

सोई युक्ति प्रमान तें, कर्म धनंजय वीर। बंधन-नाशक होत है, प्रमुख पात्र रणधीर ॥१६४॥
नाशत बंधन कर्म, धीरयुक्त जिहिं कीजिये। युक्ति सहित सुनु मर्म, भाषौं उत्तम रीति तें ॥१६५॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

अर्थ—किन्तु तजहु फल कर्म अरु, कर्तापन अभिमान।
पार्थ कर्म करु निश्चयहिं, मम उत्तम मत मान ॥६॥

आदि महामख पंच जे, विधि तें तिनको सेय। कर्तापन अभिमान को, अंग छुवन नहिं देय ॥१६६॥
द्रव्यहिं ले करि अपर तें, तीर्थ करन जो जाय। गौरव ताकों तीर्थ को, मन में तोप न लाय ॥१६७॥
जो कोई लावै पकरि, राजाज्ञा आधार। तो न गर्व यह करि सकै, मैं हौ जीतनहार ॥१६८॥
गर्व न पर आधार तें, नदी पार हो जाय। उपरोहित नहिं करि सकै, दातापन को भाय ॥१६९॥
'कर्ता मैं' अभिमान यह, नेक न हृदयहि लाय। यथा समय कर्महिं करै, पूर्ण सविधि मन लाय ॥१७०॥
किये कर्म के फल विषय, नहिं इच्छा कछु होय। सकल मनोरथ त्यागि कै, पूर्ण करहुँ तिहिं सोय ॥१७१॥
आशा फल की छांडि कै, पुनि आरंभहु पार्थ। धाय सँभारत अपर के, बालक लखि निज स्वार्थ ॥१७२॥
अश्वत्थहिं कोउ फलन की, आशा तें न सिंचाय। तैसे फल आशारहित, यज्ञादिक सद्भाय ॥१७३॥
धेनु चरावनहार, दूध आस राखत नहीं। कर्म सदा आचार, तैसे फल आशा बिना ॥१७४॥
ऐसी युक्ति विचारि कै, कर्म करे सुखमान। पावहि आपुहिं आपुनो, आप आतम को ज्ञान ॥१७५॥
यातें त्यागहु कर्मफल, सहित देह अभिमान। कर्म करहु सुन्दर सुखद, मोर विचार प्रमान ॥१७६॥
जन्म मरन बहु बार अब, मुक्ति हेतु श्रम धारि। आन रीति कीजै नहीं, कहत विचारि विचारि ॥१७६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

अर्थ—नित्यनिमित्तिक कर्म सब, योग्य न त्याग सुनाँहि।
मोह पाय जो तजत तिन्ह, तामस कहिये ताहि ॥७॥

किंवा जो अँधियार चलि, नोंचे नख ते नैन। द्वेषभाव तें कर्म सब, त्यागै कर्म करै न ॥१७८॥
कर्म तजब तिहिं कहत मैं, तामस त्याग बखान। आधाशीशी रोग में, पीटत शीष अजान ॥१७९॥
चलि पगतें पूरो करहु, बुरो मार्ग तजि रोष। काटै कोइ न पाँव निज, बुरे मार्ग के दोष ॥१८०॥
सन्मुख भूखे पुरुष के, भोजन धरिये तात। लात मार फेंकत ज्यु तिहिं, लंघन करत लजात ॥१८१॥
कर्म किये हू तें मिटत, वैसहि बाधा कर्म। तामसजन निज भ्रमहिं वश, समझत तासु न मर्म ॥१८२॥
ऐसहि समुझ स्वधर्म, होहु न तामस के वशहिं। तामस पुरुष स्वकर्म, निज स्वभाववश तजत हैं ॥१८३॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

अर्थ—जे तन दुख भय तें तजहिं, कर्मसु राजस त्याग।
ऐसे त्यागहिं त्यागफल, मिलत न कबहुँ सुभाग ॥८॥

निज अधिकारहिं समुझि अरु, विहित तासु कहँ जान। पै तिहिं दुखदायक समझि, राजस त्याग बखान ॥
समय कर्म-आरंभ के, परत कठिनता जान। जिमि भोजन ले चलत में, परत भार जिय आन ॥१८५॥
निंब कहु लगि जहँ-तहाँ, हरड टोठरी लाग। कर्म करत लागत कठिन, ऐसो राजस त्याग ॥१८६॥
धेनु दुहन में सींग डर, कांटा फूल गुलाब। भोजन सुख में पाक है, तहँ भय आग जराब ॥१८७॥
अर्जुन कर्मारंभ तिमि, बारंबार कठोर। तातें तामें मान श्रम, जात न ते तिहिं ओर ॥१८८॥
कर्म विहित आरंभ कर, दुखद जानकर त्याग। सो ऐसे त्यागत मनहुँ, जरयो हाथ लगि आग ॥१८९॥
कहत भाग्यशाली अहौं, पायो उत्तम देहु। पापिन के सम कर्म करि, वृथा क्लेश किमि लेहु ॥१९०॥
कर्म किये तें होय सुख, सो चाहै ना होय। वर्तमान उपलब्ध सुख, किमि भोगों नहि सोय ॥१९१॥
सुनहु किरीट सुजान, राजस त्याग बखानिये। त्यागि न मख तप दान, ऐसे काय क्लेश भय ॥१९२॥

अर्जुन ऐसे त्याग को, कछु फल ताहि न होय। उफनावत पय अग्नि महँ, होम कहत नहिं कोय ॥१६३॥
सलिल डूबि गतप्राण जो, होय न नीर समाधि। मरण अकाल प्रमाणिये, करत न कोई साधि ॥१६४॥
काया लोभहिं तजत जो, यज्ञ दान तप योग। सो न त्याग फल को लहै, सत्यहु बिन उपयोग ॥१६५॥
कहहुँ बहुत का आत्म को, ज्ञान उदय जब होय। प्रात समय नक्षत्र जिमि, लुप्तप्राय सब होय ॥१६६॥
क्रियां सर्व कारण सहित, जातें पार्थ बिलात। सोइ कर्म फल त्याग तें, मोक्षलाभ सरसात ॥१६७॥
कर्म तजहिं अज्ञान तें, किये न पावै मुक्ति। सोई राजस त्याग है, त्यागो जाय अयुक्ति ॥१६८॥
किहिं विधि त्यागे हेतु तिहि, मोक्ष मिले घर आय। सो प्रसंग तुमतें कहौं, सुनु अर्जुन चित लाय ॥१६६॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥६॥

अर्थ—नियत कर्म कर्तव्य बुधि, करि अत एव सुभाग।
फल आशा अरु सग बिन, पार्थ सु सात्त्विक त्याग ॥६॥

निज अधिकार प्रमाण जे, स्वाभाविकहिं विभाग। विधि गौरव शृङ्गार तें, कर्माचरन सुभाग ॥२००॥
अस मन तजि अभिमान, किन्तु कर्म मैं करत सब। त्याग करहु जलदान, अरु फल आशा पुंज को ॥२०१॥
करी अवज्ञा मातु की, अथवा इच्छा काम। अर्जुन कारन पतन के, दोनों पातक धाम ॥२०२॥
दोनों दोषहि त्यागि भजु, मातुहिं भक्ति अपार। गैया मुख अपवित्र लखि, तजत न सब संसार ॥२०३॥
गुठली अरु छिलका दुवौ, आम्रन माँहि असार। तातें प्रिय फल आम को, तजत कि कों ससार ॥२०४॥
अह भावना कर्म की, आस्वादन फल आश। इन दोई को नाम है, बधन कारन पाश ॥२०५॥
कामासक्त न होत है, पितु कन्या के पास। विहित क्रिया नहिं दुखद है, तजि मन महँ फल आस ॥२०६॥
उत्तम सब तें त्याग तरु, देत मोक्षफल चारु। सात्त्विक त्याग प्रसिद्ध है, जानत सब ससारु ॥२०७॥
जारे बीजा विटप के, तातें झाड़ न लाग। फल त्यागे ते होत है, सकल कर्म को त्याग ॥२०८॥
सार परसि जिमि पारसहिं, चणमहँ तजत विकार। तिमि दोऊ दोषहिं तजे, रज तम नशत अपार ॥२०६॥

आत्मविवेक उजेरि, सात्त्विक बुद्धि प्रभाव तें। दिखत न देखिय हेरि, मृग जल सायंकाल कहुँ ॥२१०॥

सात्त्विक बुद्धि प्रकाश तें, विश्वाभास अपार। दिखत न सो किहि ओर है, जैसे नभ विस्तार ॥२११॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

अर्थ—काम्य करम प्रति द्वेष नहिं, पुण्यकर्म नहि सक्त।
शुद्धचित्त बुध त्यागयुत, संशय रहित समस्त ॥१०॥

अतह पूर्व अनुरोध तें, भले बुरे जो काम। प्राप्त होत जिमि गगन महँ, उपजत है घन घाम ॥२१२॥

अर्जुन ताकी दृष्टि में, सकल कर्म निर्दोष। तातें सुख दुख होत जो, गनत न गुख दुख दोष ॥२१३॥

शुभहि कर्म को जानि कै, हर्ष न मानै जोय। अशुभ कर्महू के किये, द्वेष न जेहि मन होय ॥२१४॥

जागे तें जिमि स्वप्न के, सत्य न कछु व्यवहार। तैसे शुभ अरु अशुभ में, नहि सन्देह विचार ॥२१५॥

कर्ता औ कर्महु अतह, द्वैतभाव नहिं होय। ताको सात्त्विक त्याग अस, कहत पांडुसुत सोय ॥२१६॥

इहि विधि सात्त्विक त्याग में, त्याग सर्वथा होय। इतर भाँति कर्महि तजे, अतिशय बंधन होय ॥२१७॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अर्थ—धरि शरीर कर्महिं तजै, शक्य न ऐसो होय।
कर्मफलहि त्यागै सु तिहि, त्यागी भाषत सोय ॥११॥

कर्म करत मुख लाग, मूर्ति मानसी देह धरि। सव्यसाचि यह भाग, महामूर्ख तिहिं जानिये ॥२१८॥

दुख मृतिका को मानि के, भाजन गढ़्यो न जाय। तंतु वस्त्र संबंध को, कैसे तोरयो जाय ॥२१९॥

अनल अंग है उष्णता, तासों त्यागि न जाय। दीप द्वेष करि करि सकै, प्रभा न त्यागी जाय ॥२२०॥

निज सुवास जो हिंगु असि, तो सुगंधि किमि देय। पानी छोड़े द्रवपना, कहाँ रहै कहि देय ॥२२१॥

जो तन भासहिं ऐसही, जब लगि रूप लखाय। कर्मत्याग कैसे बने, का उपयोग कराय ॥२२२॥
देय तिलक पुनि पोंछि ले, ताको बारंबार। में पूछत हौं देहु कहि, कैसे मिटै लिलार २२३॥
स्वयं ताहि आदर दियो, विहित कर्म कहँ आय। कर्मरूप है देह सब, कैसे त्याग कराय ॥२२४॥
सोवतहू में चलत है, स्वयं श्वास उच्छवास। कछू न कीजे आप तें, तऊ कर्म उपहास ॥२२५॥
इहिं प्रकार बसि देह के, कर्म जु पीछे लाग। प्राण रहे प्राणहु रहित, लागौ रहै न भाग ॥२२६॥
एकहि है आधार, कर्म त्याग की रीति में। कर्म न लावत हार, फल आशा के त्याग तें ॥२२७॥
ईशहि फल अर्पित करै, तातें बोध प्रकास। रज्जु ज्ञान प्रभाव तें, नाशै सर्पाभास ॥२२८॥
आतम ज्ञानहि कर्म के, सहित अविद्या नास। पार्थ ऐसही त्याग तें, पावै त्याग विकास ॥२२९॥
इहि विधि त्यागै ताहि कहि, महा त्याग अस नाम। व्यर्थहि मूर्छित रोगियहि, कहत लह्यो विश्राम ॥२३०॥
कर्महि क्लेशद जानि कै, त्यागत धारत कर्म। डंडा मार बजाय के, घूंसा सहत सुमर्म ॥२३१॥
जिहिं फल त्यागे होत है, सकल कर्म को त्याग। त्रिभुवन तिहिं त्यागी कहत, सोई है बड़भाग ॥२३२॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अर्थ—इष्ट अनिष्टरु मिश्र इहि, त्रिविध कर्म फल होय।
फल पावत कर्महि तजे, सन्यासी नहि सोय ॥१२॥

अहैं तीनि विधि कर्म फल, अर्जुन ये सब जान। आशा फल छोड़े न जो, सो पावत बलवान ॥२३३॥
कन्या को उत्पन्न करि, 'न मम' बोल पितु मातु। छूटत कन्या दान दै, संबंधित जामातु ॥२३४॥
निज घर में विषको भरत, बेचत रहत सचेतु। मोल लेत खावत मरत, करि कै तासों हेतु ॥२३५॥
छाँडि अकर्ता आश, कर्ता होके कर्म करु। वश नहि कर्म विकाश, तद्यपि इन दोऊन में ॥२३६॥
जिमि तरुवर मग के पके, फल चाहे जो लेय। तिमि साधारण कर्म फल, यद्यपि है कौंतेय ॥२३७॥
कर्म करै फल आश तजि, आवागवन मिटाय। त्रिविध कर्म फल जगत में, काहू तें न बँधाय ॥२३८॥

ऐसहि सुरनर थावरहु, मिश्रित जग विस्तार । तहँ ऐसे सब कर्म फल, जानो तीनि प्रकार ॥२३९॥
ऐसहि इष्ट अनिष्ट फल, दुहुँ मिल इष्टरु नेष्ट । इहिं विधि तीनि प्रकार फल,जानि लेहु नर श्रेष्ठ ॥२४०॥
निज मति विषयासक्त ह्वै, करि अविधिहिं स्वीकार । होत प्रवृत्ति निषेध महँ, धारत दुष्टाचार ॥२४१॥
यातें ह्वै तन कीट क्रिमि, ढेला आदि निकृष्ट । बुरो मिलत है कर्म फल, ताको नाम अनिष्ट ॥२४२॥
देहिं स्वधर्महि मान करि, स्वाधिकार तें कर्म । वेद मार्ग की रीति तें, सुकृति जानि निजधर्म ॥२४३॥
सो इन्द्रादिक देव को, तन पावै सुनु पार्थ । इष्ट कर्म फल जानिये, अति प्रसिद्ध अरु सार्थ ॥२४४॥
इहिं सम्भुक्त सब कोय, मधुर स्वाद बनि रुचत अति । प्रगट भिन्न रुचि होय,मीठे खाटे रस मिले ॥२४५॥
समरस सत्यासत्य को, होत सुजीतन हार । रेचक पूरक योगवश, कुंभक होत विचार ॥२४६॥
कर्म शुभाशुभ भाग सम, मिश्रण तें नरदेह । पायो इष्टानिष्ट फल, मानहु जनि संदेह ॥२४७॥
ऐसहिं जग में तीनि विधि,समझ कर्मफल आहिं । फल आशा के त्याग बिन,जन्म मरण न सिराहिं ॥२४८॥
जीभ फटे भोजन करत, ऐसे भोजन खाय । ताही के परिणाम तें, अवशि मरन ह्वै जाय ॥२४९॥
चोर महाजन नेह भल, जब न अरण्य प्रसंग । वेश्या तबही लगि भली, जब लौं छुवे न अंग ॥२५०॥
कर्म करत तिमि देह तें, धरत कर्म अभिमान । किन्तु मृत्यु पश्चात जमि,भोगत फलहिं निदान ॥२५१॥
जिमि समर्थ मांगे ऋणहिं, टारे तें न टराय । तैसे प्राणी अवशि हीं, भोगैं फल व्यवसाय ॥२५२॥
ज्वार कण जिमि भू परै, तातें उपजत अन्न । पुनि उपजै पुनि भू परै, पुनि पुनि ह्वै उत्पन्न ॥२५३॥
जो तन लहि फल भोग हित,भोगैं पुनि उपजाय । पुनि चलि डग आगे धरै,तिमि पुनि पाँय उठाय ॥२५४॥
नाँव चलत वा पार तिहिं, दुजी तीर वा पार । तिमि चक्कर फल भोग को, लागत बारंबार ॥२५५॥
साधन साध्य प्रकार परि, फल भोगत विस्तार । बिन त्यागे फल आश के, घूमत सब संसार ॥२५६॥
जाती सूखति फूलतहिं, अहँभाव तिमि त्याग । कर्तापन जातें मिटै, होय न फल अनुराग ॥२५७॥
नसे बीज तें बढ़त हू, जिमि खेती रुकि जाय । तिमि फल त्यागे कर्म सब, आपुहिं नसत स्वभाय ॥२५८॥
गुरु करुणामृत हेतु तें, अरु सत शुद्धि सहाय । सिद्ध होत है बोध को, द्वैत दैन्य नशि जाय ॥२५९॥
कर्म त्रिविध फल योग तें, होत जगत को भास । त्रिविध कर्म फल के नसे भोक्ता भोग्य अभास ॥२६०॥

घटित कर्म प्राधान्य इमि, मिलत कर्म संन्यास। फल तें उपजें सकल दुख, ताहि देत नहिं त्रास ॥२६१॥
जाके सत संन्यास तें, पावहिं आत्मस्वरूप। तासु दृष्टि किमि लखि परै, ताहि कर्म को रूप ॥२६२॥
गिरत मृत्तिका सोय, चित्र लिख्यो जो भीत में। निशि अँधियारो होय, प्रात भये अँधियार कहँ ॥२६३॥
जाको रूप न कतहुं है, छाया कैसे होय। दर्पन बिन प्रतिबिंब मुख, देखत कतहुँ कि कोय ॥२६४॥
कैसे स्वप्न बखानिये, निद्रा को नहिं ठाँव। ताके सत्यासत्य को, कौन कहै सद्भाव ॥२६५॥
नसति अविद्यामूल सब, पार्थ मिले संन्यास। तो कहँ ताके कार्य के, लैन-दैन की त्रास ॥२६६॥
अतह सत्य संन्यास तें, कर्म बात किमि होय। पै अज्ञान निवास यदि, करत देह निज सोय ॥२६७॥
कर्तापन अभिमान तें, आत्म शुभाशुभ वृत्ति। भेद रूप ऐश्वर्य में, तब लौं दृष्टि प्रवृत्ति ॥२६८॥
आत्मकर्म में तबहि लगि, अर्जुन रहत वियोग। जैसे पश्चिम पूर्व को, होत न कहुँ संयोग ॥२६९॥
नातर जिमि नभ अभ्र हैं, औ मृगजल जिमि भानु। जैसे पृथ्वी वायु को, भिन्न भिन्न पहिचानु ॥२७०॥
जिमि सरिता के नीर महँ, डूबि रहत पाखान। पै जल तें अति पृथक है, कहँ लौं करौं बखान ॥२७१॥
कोउ कि कहत अभिन्न, दीपहिं काजल कुसंग ते। रहत नीर तें भिन्न, नीर समीप सिवार है ॥२७२॥
दृष्टि नयन महँ भेद अति, जैसे चंद्र कलंक। यदपि लसत सो चद्र महँ, तदपि पृथक नहिं शंक ॥२७३॥
अंतर जिमि पथ पथिक महँ, बहनहार जलधार। दर्पन देखनहार में, जैसे भेद अपार ॥२७४॥
आत्म रु कर्महि भिन्नता, अर्जुन तैसे मान। पै अज्ञान प्रकाश तें, जानत एक समान ॥२७५॥
सरवर में जिमि पद्मिनी, रवि तें करत विकाश। अरु सुवास मकरन्द रस, तें पूरत अभिलाष ॥२७६॥
कारन पाँचहि पाय तिमि, आत्मक्रिया विस्तार। ताहि निरूपन करत हौं, होत जु वारंवार ॥२७७॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अर्थ—सकल कर्म की सिद्धि में, अर्जुन कारन पाँच।
सांख्य शास्त्र वर्नन करत, सो तुम जानहु साँच ॥१३॥

सो ये कारन पाँच हैं, तुम जानत ही नाँहि। ताको वर्नन करत हैं, शास्त्र उठाकर बाँहि ॥२७८॥
सदन सांख्य वेदांत हैं, वेद नृपति के दोय। गरजत परम निशान ध्वनि, करत निरूपन जोय ॥२७९॥
सकल कर्म सिधि हेतु जग, पाँचहि जान प्रधान। तासु ठिकाने आत्म को, कारनभूत न मान ॥२८०॥
आई ताहि प्रसिद्धि, ऐसी डंका चोट तें। पार्थ निरूपन सिद्धि, तातें गुनु मैं कहत हौं ॥२८१॥
बहुरि ज्ञान वपु रत्न मैं, तेरे हाथ स्वभाय। सो किमि तुम सुख दूसरे, सुनिहौ कष्ट उठाय ॥२८२॥
धरि दर्पन निज सामुहें, निरखत अपनो रूप। सो किमि पूछे और तें, कहु मेरो कस रूप ॥२८३॥
जैसो देखहिं भक्त मुहिं, मैं तैसो ह्वै जाउँ। सो मै तुम्हरे हाथ को, बनो खिलौनो आउँ ॥२८४॥
केशव प्रेम-भरयो कहत, निज को ध्यान भुलाय। तब अर्जुन आनन्दनिधि, महँ घुलि रहे अघाय ॥२८५॥
जैसे चाँदनि चद्र की, पूर्ण चद्र तिथि पाय। चंद्रकान्त मणि शैल लखि, पिघलि सरोवर भाय ॥२८६॥
अरु तिमि सुख अनुभूति यह, भाव भीति विनसाय। सो सुख अर्जन रूप तें, प्रगट भाव दरसाय ॥२८७॥
देव समर्थ सुजान प्रभु, तहँ लौ करि अवकास। बूड़त अर्जुन कहँ लिख्यो, गये बचावन पास ॥२८८॥
अर्जुन ज्ञानी होय के, बुद्धि सहित विस्तार। डूबत आनँद पूर तें, लीन्हो कृष्ण निकार ॥२८९॥
अब सचेत ह्वै जाय, बोले प्रभु इमि पार्थ सों। दीन्हो माथ नवाय, सावधान ह्वै पार्थ तब ॥२९०॥
अर्जुन विनवै सद्गुरो, प्रभु तें विलग शरीर। तातें उफताकर चहौं, एकाकार अधीर ॥२९१॥
कौतुकवश प्रभु आप जो, करत प्रेम तें पूर। जीवरूप प्रतिबंध करि, किमि राखत हौ दूर ॥२९२॥
कहत कृष्ण अर्जुन सुनो, भ्रमवश लखौं न एक। चंद्र चंद्रिका को मिलन, शेष न कहत विवेक ॥२९३॥
कहत भाव यह प्रगट करि, भीति करत तुम पाँहि। कारन प्रेम वियोग तें, पड़त होत कम नाँहि ॥२९४॥
दोउन के संकेत तें, तुरतहि मिटत वियोग। अतः पूर्ण इहि वाद को, विषय न चर्चा योग ॥२९५॥
ऐसो मैं किमि कहत सो, सुन लीजै कुरुराय। सर्व कर्म तें भिन्नता, रहत आत्म के ठाँय ॥२९६॥
अर्जुन विनवै प्रभु सुनहु, मेरो ई अभिप्राय। जो कछु मेरे मन हुतो, सो प्रभु दियो दिखाय ॥२९७॥
सकल कर्म के बीज के, कारन पाँचहि होय। पैज करी प्रभु ने तबै, करिये वर्नन सोय ॥२९८॥
सदा भिन्नता मर्म, सो स्वयं पैज चुकाइये। भिन्न आतमा कर्म, अरु यहहू भाष्यो हुतो ॥२९९॥

सुसंतुष्ट ह्वै प्रभु कह्यो, बैठे धरनो देय। ऐसे कोई कहँ मिलत, जैसे तुम कौंतेय ॥३००॥
कहत सोइ अर्जुन सुनहु, सब ऋण देत चुकाय। ताको वर्नन करत हौं, सकल भाव समझाय ॥३०१॥
अर्जुन विनवै कृष्ण प्रभु, भूले पिछली बात। ऐसे भाषन तें हमें, 'मैं, तू' द्वैत दिखात ॥३०२॥
कहत कृष्ण प्रभु ताहि तें, सावधान सुनु वीर। प्रथम निरूपन के विषय, अब बरनत रनधीर ॥३०३॥
सकल कर्म की प्रगटता, के कारन हैं पाँच। पै सबहू बाहिक अहैं, धनुधर मानहु साँच ॥३०४॥
जातें कर्माकृति बनत, कारन पाँच स्वरूप। हेतु कहत अनुभूत सुनु, तुम तें प्रगट सरूप ॥३०५॥
आतम रहत उदास नहिं, उपादान नहिं हेतु। करत सहाय न अंगहित, कर्मसिद्धि कपिकेतु ॥३०६॥
कर्म शुभाशुभ अंश तें, होवहि ऐसी रीति। रैन दिवस आकाश महँ, होत न कछु विपरीति ॥३०७॥
सगम पाय समीर, नीर सूर्य अरु बाफ मिलि। रहत न नभ के तीर, मेघ बनत आकाश महँ ॥३०८॥
नाव बनावत कुशलजन, नाना काष्ठ मिलाय। साक्षी भूत जु नीर है, चलत समीर सहाय ॥३०९॥
कर गहि माटी पिंड को, धरत चक्र अनुरूप। चक्र भ्रमावत दंड मिटि, माटी भाजनरूप ॥३१०॥
नहि भुवि को आधार तजि, कहु व्यापार विचार। कर्तापनहि कुमार के, होत सकल विस्तार ॥३११॥
औरहुँ रवि उदये लखिय, जग के सब व्यवहार। तातें का ? कोई कहत, सविता का व्यापार ॥३१२॥
कारन तैसे पाँच हैं, पाँच हेतु ते जन्य। कर्मलता में लागतीं, पृथक आतमा धन्य ॥३१३॥
अब सुनु पाँचौं को कहौं, भली भाँति बिलगाय। जैसे मोती परस के, लेत जौहरी जाय ॥३१४॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अर्थ—जीवहु तन इन्द्रिय पृथक्, प्राणादिक व्यापार।
अरु इहि यह पंचम अहै, दैव पृथक् अनुधार ॥१४॥

कारन को अरु कर्म को, लच्छन सहित सनेह। मैं भाषौं तुम सुनहु इमि, पहिलो कारन देह ॥३१५॥

अधिष्ठान उद्देश तन, प्रगट कहौं अस भाव । भोग्य विषय भोक्ता सहित, वास करत इहिं ठाँव ॥३१६॥
सहि निशि अरु दिन दुःख,इन्द्रिय रूपी हाथ दश । पावत दुख अरु सुक्ख,प्रकृति योग उत्पन्न हो ॥३१७॥
जाके भोगन के लिये, पुरुषहि और न ठाँव । तातें कहत शरीर को, अधिष्ठान अस नाँव ॥३१८॥
चौबिस तत्त्व निवास को, है कुटुम्ब घर देह । बंध मोच्छ उरझाव को, टूटत यहीं सनेह ॥३१९॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इहिं, तीनि अवस्था जान । ताको देह ठिकान है, अधिष्ठान अस नाम ॥३२०॥
दूजों कारन कर्म को, कर्ता जीवहि जान । चेतन को प्रतिबिंब है, मुनि जन करत बखान ॥३२१॥
जो जल बरसावत गगन, डाबर ह्वै भरि जाय । प्रतिबिंबित आकाश ह्वै, तदाकार बनि जाय ॥३२२॥
गाढ़ी निद्रा पायँ के, राजा राज्यहिं भूल । राजत्वहिं तजि रंक बनि, भोगत फल प्रतिकूल ॥३२३॥
चेतन आपुहिं बिसरिकै, आपुहि देहहिं मान । प्रतिभासित प्रगटै तहाँ, देह रूप तें आन ॥३२४॥
सो विचारिकै देह में, जीव नाम को पाय । देह नियम पावै सकल, अनु प्रण कीन्हों आय ॥३२५॥
जग महँ कर्ता नाम, करत ताहि तें जीव को । भ्रमवश कर्ता काम, कर्म प्रकृति तें होत कहि ॥३२६॥
दृष्टि इकहि परि भेद लखि,हेतु पलक बहु केश । चमरीकच जिमि उपरि लखि,खुले चिरे सविशेष ॥३२७॥
किंवा ज्यों घर में धरो, दीप विलोकत एक । ताहि झरोखन तें लखो, जैसो दीप अनेक ॥३२८॥
एक पुरुष अनुसरत जिमि, नव रस नाना रूप । अनुभव सब रस को पृथक, पुरुष एक अनुरूप ॥३२९॥
इकहि ज्ञान सों बुद्धि को, तैसहि पृथक दिखाय । कर्न आदि इन्द्रियन तें, बाहर इन्द्रिय भाय ॥३३०॥
अलग अलग इंद्रिय सकल, तीनों कारन कर्म । करन नाम है ताहि को, जानहु ताकर मर्म ॥३३१॥
जाय पूर्व पश्चिमहु पथ, सरिता सिंधु मिलाय । पै सब को मिलिकै उदक, एक उदधि हो जाय ॥३३२॥
क्रिया शक्ति जो रजगुनी, बल समीर लहि होय । अनपायिनि नाना-थलनि,प्रगटि लखैं बहु सोय ॥३३३॥
जो प्रगटति है वचन तें, बानी भाषत ताहि । हाथन तें प्रगटात जो, लैनो दैनो आहि ॥३३४॥
गति तिहिं की ही भाष, क्रिया शक्ति प्रगटै पगनि । शक्ति त्याग नहिं भाष, मल मूत्रन के द्वार को ॥३३५॥
नाभि पवन जो हृदय लौं, करत प्रणव की वृद्धि । प्राण कहत हैं याहि को, मुनि जन जगत प्रसिद्धि ॥३३६॥
ऊपर श्वासोच्छ्वास की, क्रिया शक्ति जो जान । ताको नाम उदान है, भाषत ताहि सुजान ॥३३७॥

गुदाद्वार में वायु जो, ताको नाम अपान । व्यापत सकल शरीर तिहिं, भाषंत नाम जु व्यान ॥३३८॥
कीन्हे भोजन अन्नरस, भरै शरीर समान । छोड़त नेक शरीर नहिं, व्यापत सधि ठिकान ॥३३६॥
अर्जुन ऐसी सब क्रिया, जातें होत सुजान । नाभिकुंड की वायु को, मुनिजन कहत समान ॥३४०॥
और जँभाई आइबो, छींकब, लेब डकार । नाग, कूर्म कृकलादि सब, वायुन के व्यापार ॥३४१॥
ऐसी चेष्टा जो सकल, जान वायु तें वीर । तिन्ह के ही वर्ताव तें, बदलत नाम सुधीर ॥३४२॥
अनिल तत्त्व की भिन्नता, भेदवृत्ति अनुसार । चौथो कारण कर्म को, जानहु सकल विचार ॥३४३॥
उदित पक्ष तिहि माँहि ऋतु महँ उत्तम शरद ऋतु । अति उत्तम सब चाँहि, चन्द्रयोग तें पूर्णिमा ॥३४४॥
ऋतु वसंत में बाग जिमि, उत्तम प्रिया विलास । तामैं सामग्री सुखद, अति उत्साह हुलास ॥३४५॥
सब कमलन के मध्य जिमि, सोहत कमल विकास । ता महँ सुखद पराग अति, सुन्दर भ्रमर विलास ॥३४६॥
सुवचन सुखद कवित्व महँ, तामहँ रस अधिकार । आत्मतत्त्व रस ताहि महँ, अतिशय सुखद अपार ॥३४७॥
सकल वृत्ति ऐश्वर्य तें, युक्त बुद्धि भल सोय । उत्तम बुद्धि प्रभाववश, प्रौढ़ इन्द्रियाँ होयँ ॥३४८॥
इंद्रिय प्रौढ़ समाज को, भूषण निर्मल एक । आश्रय मंडल देव को, सानुकूल प्रत्येक ॥३४६॥
नयन आदि दश इन्द्रियां, ता परि हों अनुकूल । सूर्य आदि सब देवता, सानुराग सुख मूल ॥३५०॥
सुर समूह सब कर्म के, कारण पंचम जान । देव शिरोमनि पार्थ तें, ताको करत वखान ॥३५१॥
जैसहि तुम समुझौ सहज, ऐसे ही अनुरूप । पाँचों कारन कर्म के, कीन्हें सकल निरूप ॥३५२॥
कर्म जगत उपजाय, तासु हेतु जिहिं योग तें । कहि सुस्पष्ट बुझाय, सो सब पाँचों हेतु को ॥३५३॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अर्थ—जो काया मन वाणि तें, कर्म सुजोग अजोग ।
करहि मनुज, तिन सर्व के, हेतु पाँच ये योग ॥१५॥

अकस्मात आगम निरखि, ऋतु वसंत तिहि हेतु । तरु नव पल्लव पुष्पगण, अरु नव फलगण देतु ॥३५४॥

किंवा वर्षाकाल महँ, मेघ होत उत्पन्न। तातें वृष्टि प्रसंग लहि, धान्यादिक सब अन्न ॥३५५॥

अरुण उदय प्राची दिशा, सूर्य उदय जब होय। सूर्य उदय तें सब कहत, दिवस भयो है सोय ॥३५६॥

अर्जुन तैसहि कर्म को, कारण मन संकल्प। दीपरूप प्रगटत वचन, जो संकल्प विकल्प ॥३५७॥

दीप प्रभा जो वचन वपु, कर्म मार्ग को देखि। तहँ कर्ता कर्महिं करत, सब व्यापारहिं पेखि ॥३५८॥

शरीरादि समुदाय को, कारण जान शरीर। जिमि लोहे के काम को, करत लोह तें धीर ॥३५९॥

जैसे ताना तंतु को, तैसहि बाना तन्तु। ताना बाना तंतु से, वसन बनत बुधिमंतु ॥३६०॥

कारण वच मन काय, काया वाचा मनहिं के। हीरा ही के घाय, हीरा पहल बनावहीं ॥३६१॥

शरीरादि सब कर्म के, कारण कैसे होय। ऐसी जिज्ञासा तुमहि, सो अब सुनिये सोय ॥३६२॥

कारण हेतु प्रकाश रवि, अर्जुन जानहु भानु। ऊख गाढ़ के हेतु में, ऊख गाँठ ही जानु ॥३६३॥

ज्यों नाना नुति शारदा, वाणी श्रम अधिकार। जैसे वर्नन वेद को, होत वेद आधार ॥३६४॥

निश्चय कारण कर्म के, देहादिक ही जान। हेतु कर्म को देह इत, यहहू शोक न आन ॥३६५॥

शरीरादि कारण सकल, देह आदि सब हेतु। तातें मिश्रण होत ही, प्रगटत कर्म सुखेतु ॥३६६॥

कर्म बनत जो पार्थ सुनु, शास्त्र रीति अनुसार। कर्म न्याय संगत अहै, हेतु न्याय आधार ॥३६७॥

आये वर्षा जल बहत, जाय धान के खेत। ससकि जात तहँ आय के, पै उपयोग सुहेतु ॥३६८॥

क्रोधविवश घर तें निकसि, जाय द्वारका बाट। यदपि चलन को हेतु श्रम, वृथा न ताको ठाट ॥३६९॥

कहत न्याययुत कर्म, अंध कर्म लखि शास्त्रपथ। मिश्रण प्रगटत कर्म, जैसे कारण हेतु के ॥३७०॥

जैसे दूध उफान बढ़ि, पात्र ठाँव तक जाहि। पुनि स्वभाववश अग्नि पड़ि, किमि व्यय कह्यो न जाहि ॥३७१॥

शास्त्र सहाय विहीन सब, कर्म व्यर्थ ही जान। जैसे लूटो जाय धन, ताहि कहत नहिं दान ॥३७२॥

अक्षर बाँचन रहित अस, कौन मंत्र कहँ होय। कौन प्राणि उच्चरि सकै, धावन वर्णहिं खोय ॥३७३॥

अर्जुन युक्ति सुमन्त्र की, जौलौं समझी नाहि। तौलौं मंत्रोच्चारफल, वाणी कैसे पाँहि ॥३७४॥

कारण हेतुक योग तें, कर्म होय सामान्य। शास्त्ररहित वे कर्म सब, नहि पावत प्राधान्य ॥३७५॥

केवल करत जो कछु तहाँ, सो अन्याय प्रधान। सकल हेतु अन्याय के, न्याय न तहाँ सुजान ॥३७६॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अर्थ—इतने हू में आत्म कहँ, केवल कर्ता जान ।
अंध बुद्धि के हेतु तें, जानत कछु न अजान ॥१६॥

कारण पाँच जु कर्म के, पाँचहि ताके हेतु । सुयशी अर्जुन कहहु कहँ, आत्म दिखाई देतु ॥३७७॥
नयन सरूप प्रकाश, भानु विषय नहिं होत जिमि । कर्ता करहि विकाश, विषय न आत्मा कर्म को ॥३७८॥
अर्जुन देखनहार जो, नहि दर्पण प्रतिबिम्ब । करत प्रकाशित दुहुँन को, देखनहार स्वबिम्ब ॥३७९॥
सूर्य दिवस रजनी नहीं, प्रगटै दिन अरु रात । कर्ता कर्म न आतमा, प्रगटै तासु प्रकाश ॥३८०॥
जाकी धी 'मैं देह हौं', ऐसो विभ्रम पाय । आत्म-विषय अँधियार मय, अर्धरात्रि में जाय ॥३८१॥
जो चित ईश्वर ब्रह्म कहँ, परम सीम लखि देह । जो आत्महिं कर्ता समुझि, निश्चय बुधि लहि एह ॥३८२॥
आत्महिं कर्ता तत्त्वतः, सो सिद्धान्त न जान । देहहिं 'मैं हौं' जानि अस, देहहिं कर्ता मान ॥३८३॥
सकल कर्म को साक्षि मैं, कर्मरहित मैं आत्म । सुनै न कानहुँ बात कछु, स्वस्वरूप तादात्म्य ॥३८४॥
आत्मा मैं उपमारहित, मानत तन तें तौल । अति वैचित्र्य उलूक जिमि, दिनहिं रात्रि कर कौल ॥३८५॥
जो सत सूर्यहिं गगन महँ, लख्यो न कबहूँ होय । तो का डाबर बिंब लखि, सूर्य न मानै सोय ॥३८६॥
नाशे ताके नास, डाबर में उत्पन्न रवि । मूढहिं अस विश्वास, ताके कंपे कंप रवि ॥३८७॥
स्वप्नहु सत निद्रा ग्रसित, जागे बिना अचेत । नहिं अचरज रजु ज्ञान बिन, उरगभाव भय देत ॥३८८॥
नयन पांडु के रोग तें, पीत रंग लखि चंद । कहु मृग जल लखि भूलि मृग, लहत नाँहि दुख द्वंद ॥३८९॥
शास्त्र गुरू के नाम निज, सीमा छुवै न देय । केवल अपनी मूढ़ता, जीव जियाये हेय ॥३९०॥
देहहि मैं हौं जाल इमि, आत्मा पै फैलाय । चलत अभ्र जिमि कोल लखि, मानत चंद्र चलाय ॥३९१॥
कारन पुनि तिहिं भूलि के, देह बंदि गृह पार्थ । कर्म वज्र की गांठि तें, बांध्यो जात दुखार्थ ॥३९२॥
शुक दृढ़ बंधन भावना, बिन बंधन बंधि जाय । बैठि नली में बापुरो, नली गहै अकुलाय ॥३९३॥

निर्मल आत्मस्वरूप महँ, देह कर्म आरोपि। कीन्हे कोटिन कल्प लौं, मापत बीते सोपि ॥३९४॥
कर्म करतहु ताहि तें, छुवै न रंचक ताहि। वडवानल रहि सिंधु महँ, नीर छुवै नहि वाहि ॥३९५॥
करत कर्म व्यवहार, इहिं विधि रहत अलिप्त जो। कहहु तासु निरधार, कैसे पहिचानै तिन्हहिं ॥३९६॥
निश्चय जीवन्मुक्त के, परखन में निज युक्ति। दीपक तें देखे मिलत, खोई वस्तु सुयुक्ति ॥३९७॥
दर्पण कीजै स्वच्छ तो, भेंटत आपुहिं आप। लवण मिले जिमि तोय महँ, तोय होतु है आप ।३९८॥
जो देखे प्रतिबिंब कहुँ, लौट बिंब की ओर। तो वह देखत है नहीं, होवै बिंब बहोर ॥३९९॥
नुति अरु वर्नन संत को, करहु सदा बुधिमन्त। आत्म भूल तजि आत्म ह्वै, सब निरधारहु सन्त ॥४००॥
कर्म करत पै लिप्त नहिं, कर्महि के परिणाम। चर्म चक्षु के धाम तें, जैसी दृष्टि ललाम ॥४०१॥
कर्मातीत जु पुरुष हैं, ताको रूप विधान। भुज उठाय वर्नन करौं, युक्ति समेत सुजान ॥४०२॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अर्थ—'मैं कर्ता' यह भाव नहिं, बुद्धिहु लिप्त न जासु।
प्राणिमात्र हनि हनत नहि, दोष न बाँधत तासु ॥१७॥

निद्रा जो अज्ञान वपु, विश्व स्वप्न व्यापार। भोगत काल अनादि तें, अर्जुन ताहि विचार ॥४०३॥
शिर पर वरप्रद कर धरत, मनहुँ जगाय जनेश। श्री गुरुकृपावलंब लहि, महावाक्य उपदेश ॥४०४॥
सृष्टि स्वप्नहु त्यागि, निद्रा तजि अज्ञान की। सोवत तें जनु जागि, निज स्वरूप अद्वैत वपु ॥४०५॥
देखत मृग जलपूर मृग, निर अंतर अज्ञान। चंद्रोदय मिथ्या जलहिं, नाशत जैसे ज्ञान ॥४०६॥
बालदशा उपरांत जिमि, हौआ को भय जाय। जैसे ईंधन के जले, ईंधनपन मिट जाय ॥४०७॥
जागे ते जिमि स्वप्न कहँ, दृष्टि परत है नाहिं। तैसे अर्जुन रहत नहि, अहं भावना ताहि ॥४०८॥
सूर्य सुरंग रचाय के, खोजै कहुँ अँधियार। सो ताके नहिं भाग्य में, तीन लोक के पार ॥४०९॥
आत्म-स्वरूपानंद वपु, पूर्णतया सब आप। द्रष्टा दृश्यरु दृष्टि सब, अर्जुन आपहि आप ॥४१०॥

अग्नि लगत जिहि वस्तु महँ, सो सब अग्नि स्वरूप। कौन जलावत को जलत, नहि विभाग नरभूप ॥४११॥
निजहिं कर्म तें भिन्न लखि, कर्तापन को भाव। आतमा तें होके विलग, जो अवशेष स्वभाव ॥४१२॥
आतम थिति को नृपति जो, तनहि आतम किमि जान। प्रलयकाल को नीर जिमि, अपर प्रवाहहिं मान ॥४१३॥
किमि तनभाव विकास, अहंभ्रज्ञता भाव में। धरि रविबिंब प्रकास, धरयो सूर्य कहँ किमि कहै ॥४१४॥
जो नवनीतहिं मथि दही, बहुरि मेलि नवनीत। मिलै न पुनि नवनीत तहँ, बहुतक सोचौ रीत ॥४१५॥
नाना भाँतिहि काष्ठ तें, काढ़ै अग्नि सुजान। धरै काष्ठ के पात्र महँ, अग्नि न बँधे निदान ॥४१६॥
निशि उदरहि ते प्रगट ह्वै, उदयै सूर्य महान। तो किमि रवि तहँ रात्रि की, बात सुनै निज कान ॥४१७॥
जाते जान्यो जात है, जो है जानन जोग। एकरूपता के भये, देहभाव किमि योग ॥४१८॥
जहँहि जहाँ निरखै नभहि, तहाँ भरयो ही जान। निज स्वरूप व्यापक मिलत, पार्थ सर्व सुस्थान ॥४१९॥
कर्महि करि तैसे तहाँ, निज स्वभाव अनुसार। कौन कर्म तें रुद्ध ह्वै, कर्तापन निरधार ॥४२०॥
गगन बिना सुस्थान नहिं, सागर मे न प्रवाह। ध्रुव में आवागमन नहि, आत्मस्थिति तिमि ताह ॥४२१॥
अहंभाव कर्तापनहि, नाशत बोध स्वभाव। पै जब लगि तन रहत तिहिं, तब लगि कर्म लखाव ॥४२२॥
जिमि समीर मदी परै, विटप रूप अवशेष। जिमि कपूर के त्यागहू, पात्रहिं सौरभ शेष ॥४२३॥
अरु तबहूँ मन मोद, गायन होय समाप्त यदि। तबहूँ धरणी ओद, भूमि परयो जब बहि गयो ॥४२४॥
प्रातः सांय समय जब, रवि उदयै अरु अस्त। तब पश्चिम दिशि गगन में, भासत सध्या व्यस्त ॥४२५॥
छूटै बाण जु लक्ष्य पै, तामें लागै धाय। बाण शक्ति जबलौं रहै, तब लौं बेंधत जाय ॥४२६॥
चाक भ्रमाव कुम्हार जिमि, भाँडे करहि तयार। चलत भ्रमाये बिन बहुरि, आगिलि गति अनुसार ॥४२७॥
देह अहंता नास यदपि, जो गुण उपजीं देह। निज स्वभाव चेष्टा करै, कर्म न कछु सदेह ॥४२८॥
आगु लगे बिन बन जरत, स्वप्न बिना संकल्प। नभ में जिमि गधर्वपुर, रचना करत न स्वल्प ॥४२९॥
आत्मा के उद्यम बिना, अर्जुन आप स्वभाव। देहादिक कारणन तें, जनमैं कर्म कुदाव ॥४३०॥
जनम पूर्व सस्कारवश, पावहि कारण हेतु। नानाविधि के कर्म सब, बीजरूप तनखेतु ॥४३१॥
ये कर्मों के योग तें, उपजै यदि जग सर्व। अथवा लय पावै सकल, रहैं न कछु कहुँ खर्व ॥४३२॥

कमल प्रफुल्लित होय, किमि संकोचित कुमुदिनी। ताको रंचहु सोय, रवि कारण देखै नहीं ॥४३३॥
गिरहि गगन तें तड़ित यदि, धरा होय यदि चूर। अथवा बरषै जल जलद, हरित होय भर पूर ॥४३४॥
जैसे व्योम दुहून को, रहत न कछू विज्ञान। रहत विदेह स्वभाव तिमि, रहित देह के भान ॥४३५॥
चेष्टा तिमि देहादि की, उद्भव लय की सृष्टि। स्वप्न प्रपंच न लखत जिमि, कोऊ जागृत दृष्टि ॥४३६॥
चर्म नयन तें देह लखि, ताको इमि निरधार। कर्म-करनहारो यही, इहिं के सब व्यापार ॥४३७॥
खेतन महँ तृण को धरयो, पुतला नर आकार। का शूकर मानत नहीं, तिहिं साँचो रखवार ॥४३८॥
सिड़ी नग्न या वसन सह, जानत जन समुदाय। शूर परयो रण खेत महँ, इतर देखि तिहिं धाय ॥४३९॥
जो साध्वी के भोग को, देखत सब संसार। अग्नि अंग जर सो न लखि, लखि सो प्रीतम प्यार ॥४४०॥
आत्म स्वरूपी बोध तें, दृष्टा दृष्ट नसाँय। ना जाने व्यापार कृति, जो इन्द्रिय समुदाय ॥४४१॥
छोटिहु लहर प्रवीन, दीर्घ लहर में मिलति है। लहर लहर प्रति लीन, मानत जन लखि सिंधुतट ॥४४२॥
कौन लहर किहिं लहर को, ग्रसति न जानी जाय। पूर्ण आतम वपु द्वैत बिन, किहिं को मारै आय ॥४४३॥
चंडी देवि सुवर्ण की, तैसहि स्वर्ण त्रिशूल। महिषा-सुरहु सुवर्ण को, नाश्यो ताहि समूल ॥४४४॥
सब प्रकार व्यवहार इहिं, मानत भक्त सुसत्य। स्वर्ण दृष्टि कंचन सकल, चंडि शूल, दनु कृत्य ॥४४५॥
चित्र वसन महँ अग्नि जल, दोऊ दृश्याभास। पट न जलै भींगे नहीं, होत न कछु तिहिं त्रास ॥४४६॥
ज्ञानी के तन में बनत, कर्म भाग्य अनुसार। भ्रम तें जन नहिं लखि सकै, कर्ता कहत पुकार ॥४४७॥
ज्ञानी के तन तें बने, कर्म विश्व कृति घात। पै ज्ञानी को कर्म यह, कहहु न ऐसी बात ॥४४८॥
सूर्य लखै अंधियार कछु, पुनि कछु तेज अपार। ज्ञानी देखि न दूसरो, पुनि कैसे किहिं मार ॥४४९॥
ज्ञानी की मति में नहीं, सुकृति कुकृति की गंधि। गंगहिं मिलि लघु सरित की, नसै अशुचि दुर्गन्धि ॥४५०॥
कतहुँ नहीं कहि जाय, शस्त्र आपुही आप रुँधि। तो का भागत जाय, अग्नि परै जो अग्नि में ॥४५१॥
निज स्वरूप तै जान नहिं, क्रिया जात सब भिन्न। तो ऐसी तिहिं पुरुष की, बुद्धि लिप्त किमि खिन्न ॥४५२॥
अतह कार्य कर्ता क्रिया, सो सब आप स्वरूप। देह जनित सब कर्म तें, बँधत न तिहिं अनुरूप ॥४५३॥
जीव कुशलता आपुनी, आपुहिं कर्ता मान। हेतु पाँच दश इन्द्रियनि, करणी गहत अजान ॥४५४॥

न्याय इतर अन्याय इमि, तिहिं के विधि आकार । तिहिं साधन क्षण एक महँ, रचति कर्म आगार ॥४५५॥

किन्तु उपक्रम मध्य पुनि, अंतहु भारी काम । आत्मा करत सहाय नहिं, मानहु वचन ललाम ॥४५६॥

सब को साक्षी भूत है, आत्मा ज्ञान स्वरूप । कर्म प्रवृति सकल्प कृति, कैसे करहिं निरूप ॥४५७॥

कर्म प्रवृति के विषय महँ, श्रम पावत संसार । सो श्रम आतमहि होत नहिं, जीत करत बेगार ॥४५८॥

केवल आत्मस्वरूप जो, सदा एक अविकार । सो कबहूँ आवत नहीं, कर्म बंदि आगार ॥४५९॥

द्वैतहि चित्र पसारि, अज्ञानहिं वपु बसन परि । त्रिपुटी कहि ससारि, पटचित्री अरु चित्र पुनि ॥४६०॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

अर्थ—ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान त्रय, प्रेरक कर्म सुजान ।
करण कर्म कर्ता त्रिपुटि, सग्रह कारण मान ॥१८॥

ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान त्रय, बीज त्रिपुटि जग केरि । तातें निश्चय कर्म की, प्रवृति होत बहु बेरि ॥४६१॥

अब सहजहि बिलगाय करि, कहहुँ त्रिपुटि को रूप । ता कहँ चित देकर सुनहु, प्यारे अर्जुन भूप ॥४६२॥

जीव स्वरूपी बिंब रवि, कर श्रवणादिक पाँच । विषय पद्म विकसित करे, लखहु प्रकृति कृति नाँच ॥४६३॥

जीव नृपति चढ़ि विन करयो, घोडा देह स्वरूप । विषय देश लूटत गहे, शस्त्र इन्द्रियन रूप ॥४६४॥

जो इन्द्रिय महँ वास करि, भेंटे सुख दुख जीव । घोर नींद महँ होत लय, ज्ञान सुभद्रा पीव ॥४६५॥

अहै जीव को नाम सो, ज्ञाता कहत विचार । औरहु वर्नन जो कियो, ज्ञान कहैं धनुधार ॥४६६॥

गर्भ अविद्या के रहत, उपजत ही धनुधार । आपहि बाँटत भाग त्रय, लो ठिकान निरधार ॥४६७॥

सनमुख अपने दौड़ थल, लक्ष्यरूप करु ज्ञेय । अपनी पिछली ओर पुनि, ज्ञाता लखि कौन्तेय ॥४६८॥

साक्षिपना व्यवहार, ज्ञान रहत तिहिं मध्य में । होत जु कछु व्यापार, ज्ञाता तें अरु ज्ञेय तें ॥४६९॥

ज्ञेय निकट लौं पहुँचतहि, धावन गति रुकि जाय । सो संपूर्ण पदार्थ के, नाम धरत सचु पाय ॥४७०॥

सो साधारण ज्ञान है, वचन न मिथ्या होय । कहहुँ चिन्ह अब ज्ञेय के, सुनु चित दे कै सोय ॥४७१॥

शब्द, परस अरु रूप है, गंध सकल रस जान। इन्ह पाँचन लच्छण न लखि, ताहि ज्ञेय पहिचान ॥४७२॥
जैसे एकहि आम्रफल, शब्दादिक समुदाय। गंध रूप सुस्पर्श रस, शब्देन्द्रिय बिलगाय ॥४७३॥
ज्ञेय यदपि है एक पै, इन्द्रिय द्वार अनेक। पृथक ज्ञान अनुभवत हैं, पाँच भाँति के एक ॥४७४॥
सागर मिलत प्रवाह रुकि, फल पाके तरु धान। मिलि स्ववास गति चलन की, पार्थ रुकत जिमि जान ॥४७५॥
धावत इन्द्रिय मार्ग तें, पहुँचत ज्ञान ठिकान। अर्जुन ताही को कहत, ज्ञेय विषय मतिमान ॥४७६॥
ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान के, लच्छण तीन प्रकार। जानु त्रिपुटि सब कर्म की, कारणभूत अधार ॥४७७॥
अप्रिय प्रिय कौंतेय, इन्द्रिय तें जानत तिन्हैं। विषय जानिये ज्ञेय, शब्दादिक जे पाँच बिधि ॥४७८॥
ज्ञान जनावन सूच्छमता, ज्ञेय जु ज्ञाता पाँहि। तबहि त्याग स्वीकार की, होत प्रवृति तिहि माँहि ॥४७९॥
जैसहि बक लखि मीन कहँ, रंक निधिहि जिमि देखि। कामी लखि जिमि नारि कहँ, करत प्रवृत्ति अलेखि ॥
जैसहि जलतल ओर चलि, भ्रमर पुष्प की बास। सायं वत्स जु वेग तें, धावत परम हुलास ॥४८१॥
सुरपुर उर्वशि की कथा, सुनि के मन ललचात। ताहित सिढ़ियाँ रचन को, यज्ञ रचत उमगात ॥४८२॥
जिमि कपोत आकाश चढ़ि, पारावती विलोक। लोट पोट सब अंग करि, धावत गिरत अरोक ॥४८३॥
घन गरजन को शब्द सुनि, मोर उड़त आकाश। तैसे ज्ञाता ज्ञेय लखि, धावत गपदि सुआश ॥४८४॥
ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान सब, इन तें सुन मतिमान। होवे कर्म समस्त की, प्रवृति न कारण आन ॥४८५॥
ज्ञाता को यदि ज्ञेय कहुँ, प्रिय लागत जो होय। भोग काल क्षण एक के, गहत विलम्ब न सोय ॥४८६॥
अप्रिय लागहि जाहि, ज्ञाता कहँ यदि सो विषय। युग सम व्यापै ताहि, त्यागत मैं क्षण को बिलम ॥४८७॥
नीलम मणि को हार लखि, जो लहि हर्ष अपार। तैसहि सर्पाभास तें, भय पावहि नर नार ॥४८८॥
ज्ञाता ज्ञेयहिं निरखि तिमि, प्रिय अप्रिय सम्बन्ध। स्वीकारत त्यागत सकल, सो व्यापार प्रबन्ध ॥४८९॥
सेना नायक रथ चढ्यो, मल्लयुद्ध प्रिय पाय। अन्य मल्ल कहँ देख तहँ, रथ तजि पैदल आय ॥४९०॥
जो ज्ञाता कर्ता बनै, सोइ रूप प्रगटाय। जिमि भोजन कर्ता करै, स्वयं पाक बुध पाय ॥४९१॥
जिमि भ्रमरहिं कृत वाटिका, धातु कसौटी होइ। देव स्वयं रचना करै, जिमि मंदिर की सोइ ॥४९२॥
ज्ञेय विषय यह तैस ही, ज्ञाता इंद्रिय प्यार। ज्ञाता धारत नाम तहँ, 'कर्ता' पाँडुकुमार ॥४९३॥

ज्ञाता हो कर्ता स्वयं, साधन पावत ज्ञान। तातें ज्ञेय स्वभावतः, कार्य होय मतिमान ॥४६४॥
ऐसहि निज गति ज्ञान की, पलटि जात मतिधीर। जैसे शोभा नयन की, रात्रिहि पलटै वीर ॥४६५॥
उलटहि सुखद विलास, दैव योग श्रीमंत को। पलटै चंद्र विकास, पूर्ण चंद्र तिथि गत भये ॥४६६॥
ज्ञाता आवृत होत है, इंद्रिन के व्यापार। ताके लक्षण कहत हैं, सुनहु सकल अवधार ॥४६७॥
अहंकार मन बुद्धि अरु, चित्त जु चार प्रकार। लक्षण अन्तःकरण के, इहिं विधि कह्यो विचार ॥४६८॥
अहै घ्राण त्वच जीह अरु, नयन नासिका कान। इंद्रिय पाँच प्रकार की, वर्णन कियो सुजान ॥४६९॥
अतः इन्द्रियन तेज लहि, जीव कर्म निरधार। फुरित होय कर्तव्य जब, तब मानत सुखसार ॥५००॥
इंद्रिय दश बहिरंग जे, चक्षुरादि सब जान। तिहि उठाय व्यापार महँ, करत प्रवृत्ति सुजान ॥५०१॥
जब लगि ता कर्तव्य को, करन लगे सुख सार। तबलौं इन्द्रिय संघ कहँ, राखत तिहि व्यापार ॥५०२॥
देखत यदि कर्तव्य में, दुखफल तो तिहि लाग। करि प्रवृत्ति दश इन्द्रियहिं, तासु करावहि त्याग ॥५०३॥
जब लगि दुख निर्मूल नहिं, तब लौं दिन अरु रात। जिमि नृप बिन निज कर लिये, तजत न ताको गात ॥
कर्ता नाम उचार, ज्ञाता के अनुसार ही। त्याग और स्वीकार, जब इंद्रिय की प्रवृत्ति करि ॥५०५॥
कर्ता ही इंद्रियन तें, कर्म करत सब जान। तातें साधन कहत मैं, इंद्रिय कहँ पहिचान ॥५०६॥
कर्ता द्वारा करण के, जो जो क्रिया कराहिं। तातें व्यापै पार्थ जो, कर्म कहत हैं ताहि ॥५०७॥
अलंकार सोनार बुधि, चाँदिनि शशिकर व्याप्त। विस्तारहि जिमि बेलिवर, भूपन महँ पर्याप्त ॥५०८॥
इक्षु भरी माँठ रसहि, जैसे प्रभा प्रकाश। जिमि व्यापै अवकाश तें, निश्चय ही आकाश ॥५०९॥
कर्ता ते जो जो क्रिया, तातें व्यापित जोय। ताको भाषत कर्म हैं, नहीं अन्यथा होय ॥५१०॥
कर्ता कर्म करण तिहिं, लक्षण तीनहुँ फेर। सुनहु विलक्षण अंग तुम, भाष्यो शास्त्र न बेर ॥५११॥
कर्म प्रवृत्ति कारक त्रिपुटि, ज्ञाता ज्ञानरु ज्ञेय। कर्म करण कर्ता त्रिपुटि, कर्म संग्रही ध्येय ॥५१२॥
अनल माँहि जिमि धूम्र है, वृक्ष बीज के माँह। तिमि मन महँ सन्तत विविध, सकल मनोरथ आँहि ॥५१३॥
सब उपजावत कर्म, करण क्रिया कर्ता त्रिपुटि। मिले स्वर्ण सम मर्म, जिमि सोने की खानि महँ ॥५१४॥
कर्ता में अरु कर्म पद, अस प्रवृत्ति मन मान। सकल क्रिया तें दूर ही, आतमा को तहँ जान ॥५१५॥

आत्मा वास्तव दूर है, कर्म पास तें वीर। बार बार मैं का कहौं, तुम जानहु मतिधीर ॥५१६॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१६॥

अर्थ—कर्ता ज्ञानरु कर्म सब, तीन भाँति गुण भेदि।
सांख्य शास्त्र भाषत सुनहु, यथारीति सब वेदि ॥१६॥

कर्ता कर्मरु ज्ञान कहि, तुम तें तीन प्रकार। ये त्रय तीनों गुणन तें, भिन्न भिन्न निरधार ॥५१७॥
कर्ता कर्मरु ज्ञान पर, जनि कीजै विश्वास। बाँधत रज तम दोउ इक, समरथ सत सुखरास ॥५१८॥
सात्त्विक गुण वर्णन कियो, सांख्य शास्त्र निरधार। सोइ निरूपण करत मैं, तुमतें ताहि विचार ॥५१६॥
यह विचार पयनिधि, कुमुद, बोध, आतम पुनि चन्द्र। शास्त्रशिरोमणि जानिये, ज्ञान-नयन भूपेन्द्र ॥५२०॥
दिवस रजनि दुइ मिलि रहे, पुरुष प्रकृति सम मान। तिन्हहिं पृथक कर्ता त्रिजग, गर्यस्वरूप सुजान ॥५२१॥
अमित मोह की राशि जहँ, प्रमित तत्त्व चौबीस। प्राप्त करत परतत्त्व सुख, बरनत सांख्य खितीस ॥५२२॥
सांख्य सुशास्त्रहिं पार्थ, जाकी सुस्तुति होत है। ऐसहि जान यथार्थ, ते गुणभेद चरित्र सब ॥५२३॥
तेहि जग में निज बलहि तें, त्रिविधपने के अंक। दृश्यमात्र जितने सकल, अंकित किये निशंक ॥५२४॥
इमि सत रज तम त्रिविध गुण, इनको परम महत्त्व। त्रिविध सृष्टि में आदि अरु, अंतहु जानु अगुत्व ॥५२५॥
जासु बिलग तें विश्व सब, परयो त्रिगुण के भेद। तासु ज्ञान वर्णन करौं, जाको बरनत वेद ॥५२६॥
निर्मल दृष्टिहिं पाय कै, सकल देखियत शुद्ध। ज्ञानशुद्धि लहि तिमि, लखत सकल अतिशुद्ध ॥५२७॥
सात्त्विक ज्ञानहिं कहत हैं, सुन अर्जुन धरि ध्यान। परम मोक्ष के धाम प्रभु, श्री केशव भगवान ॥५२८॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

अर्थ—विविध भूतगण माँहि जिहि, ते अभिन्नता जान।
इक अविनाशी भाव लहि, सोई सात्त्विक ज्ञान ॥२०॥

ज्ञान उये ज्ञाता सहित, ह्वहि ज्ञेय सुजान । सो अर्जुन निश्चय सहित, उत्तम सात्त्विक ज्ञान ॥५२९॥
दिनकर तिमिरहि लखत नहिं, सरित न उदधि लखाय । गहि न आय छाया अपुनि, कोटिन करौ उपाय ॥
सकल भूत अरु व्यक्ति जग, शिव में तृण अवसान । भिन्नभाव नहिं लखि परै, तैसहि जाकहँ ज्ञान ॥५३१॥
दशा होय रघुधीर, जागे तें जिमि स्वप्न की । लवण मिलावै नीर, चित्रभित्ति पर कर धरै ॥५३२॥
जैसे ज्ञान प्रकाश तें, ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान । सो त्रिपुटी कछु शेषहू, रहत न निश्चय जान ॥५३३॥
जिमि गलि भूषण कढ़त नहिं, कंचन निज सुधि सोइ । जल छानि कै तरंग को, बिलग करै किमि कोय ॥५३४॥
जातें भेद लखात नहिं, दृश्य माँहि सब ठौर । वास्तव सात्त्विक ज्ञान सो, सर्वज्ञान सिर मौर ॥५३५॥
कौतुक में दर्पण लखै, सन्मुख देखनहार । ज्ञेय लौटि ज्ञाता लखै, तिमि स्वरूप निरधार ॥५३६॥
सोई सात्त्विक ज्ञान है, मोक्ष-श्री को धाम । बहुरि कहौं लक्षण सुनो, ज्ञानसु राजस नाम ॥५३७॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

अर्थ—सकल भूत नाना विधिहि, भिन्नभाव सब ठौर ।
जासों जानत ज्ञान सो, राजस ज्ञान न और ॥२१॥

सुनहु पार्थ जो भेद के, आश्रय होय प्रवृत्ति । सोई राजस ज्ञान है, भाषत नाथ निवृत्ति ॥५३८॥
जातें होत अनेकता, भूतमात्र में जाय । आवत निज में भिन्नता, ज्ञातहिं बहु बिसराय ॥५३९॥
सत स्वरूप की आड़ करि, परदा धरि अज्ञान । स्वप्नावस्था कष्टमय, जिमि निद्रा महँ जान ॥५४०॥
दाबो जात सुजीव, जागृति स्वप्न सुषुप्ति में । मृषा मोह की नींव, आत्मज्ञान मंदिर बिलगि ॥५४१॥
अलंकार लखि बालकहि, कंचन बुद्धि न पाय । नामरूप के भेद तें, जिमि अद्वैत दुराय ॥५४२॥
धरै मृत्तिका रूप घट, अग्नि दीप को रूप । घट दीपक लखि मूढ़ नहिं, लखै अग्नि मृद रूप ॥५४३॥
जिमि बसनहि अवलोक कै, भूलै तंतु प्रभाव । सोहै लखि कै चित्रपट, बिसरि बसनपन भाव ॥५४४॥
जबहिं ज्ञान तें भिन्नता, भूतमात्र महँ जान । पंचपबोध की भावना, नाशत राजस ज्ञान ॥५४५॥

ईंधन ही के भेद तें, अनल रूप दरसाय। फूलभेद परिमल उदक, ढालें शशि लहराय ॥५४६॥
जिमि अनेकविध वस्तु तें, भेद भिन्न बहु जान। येष भेद दीरघ लघुहि, जानै राजस ज्ञान ॥५४७॥
अब गुण तामस चिन्ह जिमि, कहौं सुनौं धरि ध्यान। गाँव बाहिरै डोम घर, त्यागहिं हित पहिचान ॥५४८॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अर्थ—इक तन प्रतिमहिं ईश गनि, तत्त्वविरुद्धहि अर्थ।
सक्त अल्प तिहि ज्ञान को, तामस कहत समर्थ ॥२२॥

अर्जुन जो विधि बसन बिन, होय करहिं संचार। शास्त्रमातु श्रुति नग्न लखि, पीठ फेर हाकार ॥५४९॥
निंदहिं घृणित विचारि, इतर शास्त्रहु बाह्य गनि। हाँकैं देहि निकारि, म्लेच्छ धर्म वनखंड महँ ॥५५०॥
जाहि तमोगुन रूप तें, लग्यो पिशाच विकार। भ्रमवश घूमत फिरत सो, जैसे श्वान भुवार ॥५५१॥
जो तन दुख नहिं सहि सकै, जो निषिद्ध नहिं मान। शून्य ग्राम तजि फिरत है, जैसे इत उत श्वान ॥५५२॥
जो मुख में न समात अरु, खाये मुख जरि जाय। केवल तिहि तजि और सब, खाय न नेक अघाय ॥५५३॥
स्वर्ण चुरावै मूस जनु, भलो बुरो न बताय। कारो गोरो गनत नहिं, आमिष भोजी खाय ॥५५४॥
आगी ज्यों बन महँ लगी, करै न सोच विचार। माखी लखै न जिय मरत, बैठे पंख पसार ॥५५५॥
गलित भ्रष्ट यह भक्ष्य है, अथवा वमन विकार। बासो है किंवा भलो, काग न करत विचार ॥५५६॥
पुनि निषिद्ध त्यागै नहीं, विहित न आदर देय। सो विवेक इहि विषय में, करत न कछु कौंतेय ॥५५७॥
जो जो परउ दिखाय तिहि, भोगै विषय बनाय। नारि द्रव्य जस तस मिलै, शिश्नोदरहि बढ़ाय ॥५५८॥
केवल देखत प्यास, तीर्थ अतीर्थ विचार नाहि। सोई सुख की आस, जातें प्यास बुझात है ॥५५९॥
खाद्य-अखाद्य न गनत कछु, निंद्य-अनिंद्य न मान। निश्चय तासु पवित्र सो, मुख भावै भखपान ॥५६०॥
नारी जाति विलोकि कैं, चाहै त्वचा संस्पर्श। तासु विषय सम्बन्ध में, एक मानि अति हर्ष ॥५६१॥
स्वारथ निज उपकार सधि, आवै सो संबंध। तासु ज्ञान सम्बन्ध नहिं, जातें तन संबंध ॥५६२॥

गनैहि मूरख सब अन्न जिमि, ईंधन ही सब आग । तिमि जग को धन आपुनो, तामस के मन लाग ॥५६३॥
केवल मानत विषय को, उपजो सब संसार । देह भरण है सर्व फल, अस जानत कुविचार ॥५६४॥
नीर गिरै आकाश तें, मिलै सिंधु महँ जाय । जैसे जग के काम सब, केवल उदर भराय ॥५६५॥
स्वर्ग नरकप्रद काम जे, कारण प्रवृति निवृत्ति । तासु ज्ञान की रात्रि में, अज्ञानहिं आवृत्ति ॥५६६॥
काया खंडहु आतमा, ईश मूर्ति पाखान । तासु बुद्धि समुझत यहै, ताके परे अजान ॥५६७॥
आतम सकर्महु नास, अतः शरीरहिं के नसे । जैसे वेपहिं भास, बहुरि भोगहित रहत कहाँ ॥५६८॥
किंवा ईश्वर लखत सब, सो फल भोग कराय । बेंच खाय जो देव को, तोऊ भय नहिं खाय ॥५६९॥
देव नगर मंदिरन्ह की, मूर्ति कर्मफल दानि । तो मूरति जिहिं शैल की, ते किमि चुप रहि जानि ॥५७०॥
जो समुझत कहुँ देव है, तो मूरति पाखान । आत्मा को समुझत सदा, देहमात्र नहिं आन ॥५७१॥
औरहु पाप अरु पुण्य को, समुझै मिथ्या मान । मिलै भोग हित मानि हित, सेवै अगिन समान ॥५७२॥
चर्म नयन तें जिहि लखत, इन्द्रिय जोड़ सुहाय । मोइ सत्य विश्राम श्रम, मानत तामस भाय ॥५७३॥
जैसे बेला धूम की, वृथा जात आकाश । बहुत कर्हां का बुद्धि सिद्धि, बाढ़त वृथा कुपास ॥५७४॥
गीलो सूखो होय कछु, नहिं उपयोग जनेश । पुहर मरु बढ़ि कै गिरै, जानत सब बीरेश ॥५७५॥
ईख कगास सहु जानिये, पुरुष नपुंसक जान । उपजि साँवरी बनहि जिमि, सकल निरर्थक मान ॥५७६॥
संपति तस्कर धाम, अस्थिर मन बालकन को । सकल निरर्थक काम, छेरी के गल गलथना ॥५७७॥
नीच निरर्थक सार बिन, परिणामहि दुख जान । ताहि कहत में जानि कै, अर्जुन तामस ज्ञान ॥५७८॥
जनम अंध के नयन के, वर्णन में कहि जाति । याकी आँखें हीं बड़ी, फूटि गईं इहि भाँति ॥५७९॥
कान बड़े कहि बधिर के, कहत अपेयापान । आछ नाम तैसहि समुझि, इहि कहि तामस ज्ञान ॥५८०॥
कहँ लगि वर्णन कीजिये, सन्मुख ताहि निहार । ताहि ज्ञान नहिं जानिये, अंधकार निरधार ॥५८१॥
ऐसे तीनहु गुणन के, भेद प्राप्त जो ज्ञान । श्रोतृ शिरोमणि मैं कह्यो, तुमसे लक्षण जान ॥५८२॥
इहि विधि तीन प्रकार के, धनुधर ज्ञान प्रकास । कर्ता क्रिया विवेक सब, निज नयनन तें भास ॥५८३॥
सकल कर्म के होत हैं, इहिं विधि तीनहि भाग । जिमि जल बहि निजमार्ग लहि, तैसहि कर्म विभाग ॥५८४॥

ज्ञान पृथक् त्रय के वशहि, त्रिविध कर्म जे जान । ता महँ सात्विक कर्म के, लक्षण सुनहु सुजान ॥४८५॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

अर्थ—नित्य निमित्तक संग बिनु, राग द्वेष तें हीन ।
फल इच्छा बिन करत सो, सात्त्विक कर्म प्रवीन ॥२३॥

कर्म करहि कौन्तेय, स्वाधिकार के मार्ग तिमि । पतिव्रता पति देय, आलिंगन जिमि प्रेम तें ॥४८६॥
शोभित चंदन श्याम अँग, अंजन प्रमदा नैन । नित्यकर्म शोभित सुभग, अधिकारी के गैन ॥४८७॥
अहहिं कर्म शुभ नित्य पुनि, नैमित्तिक संबंध । अति शोभित ह्वै जात जिमि, सोना माँहि सुगंध ॥४८८॥
निज शिशु पालत मातु जिव, तन मन धन लौ लाय । ताकों दुख लागत नहीं, दिन प्रति मोद बढ़ाय ॥४८९॥
करहि कर्म आचरन सब, फल में दृष्टि न जोय । सकल ब्रह्म अर्पन करै, कर्मगु सात्त्विक होय ॥४९०॥
जेंवन सब अर्पन करै, पीतम आये गेह । निज चिंता न स्वभावतः, जिमि सत्शील सनेह ॥४९१॥
करि न सकै रहि जाय जो, तामहँ खेद न द्वेष । कर्म किये नहिं गर्व है, नहि आनंद विशेष ॥४९२॥
ऐसहिं विधि तें करत जो, अर्जुन कर्म ललाम । ता कहँ सात्त्विक जानिये, सात्त्विक गुण अरु नाम ॥४९३॥
अब हम राजस कर्म के, लक्षण करहि बखान । सुनहु करहु जनि न्यूनता, निज अवधान सुजान ॥४९४॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अर्थ—जे फल इच्छा ते करहिं, अहंकारयुत कर्म ।
करहिं अधिक आयास तें, अर्जुन राजस कर्म ॥२४॥

जग सम कहत न बैन, गेह मातु पितु तें मधुर । आदर भाव सुबैन, मूर्ख करत जिमि विश्व प्रति ॥४९५॥
छींटा देत न नीर को, तुलसी के तरु माँहि । द्राक्षातरु में दूधहु, डारत नाँहि अघाँहि ॥४९६॥

जो आवश्यक कर्म अति, नित्य निमित्तक होय। ताके विषय न उठि सकै, जो बैठ्यो हू होय ॥५९७॥

तन मन धन सर्वस्व सों, काम्य कर्म की नाव। लावत अति आवेश तें, किन्तु पुरै नहिं चाव ॥५९८॥

ड्यौढ़ी बाढ़ी लाभ के, क्रय विक्रय व्यवसाय। बीजारोपण अन्न के, मन संतोष न पाय ॥५९९॥

जो पारसमनि कर लगै, साधक उन्नति हेतु। निज सिगरी संपत्ति दै, मोल लोह के हेतु ॥६००॥

आगम फल लखि काम्य कृत, करै कठिनहु जानि। बहुल करै यद्यपि जु तिहिं, अर्जुन अल्पहि मानि ॥६०१॥

सर्वेच्छा फल धारि कै, काम्य कर्म बहु भाँति। करत जु राजस कर्म हैं, सदा सर्व दिन राति ॥६०२॥

कर्म करत जो आपुही, निज मुख करत बखान। कर्तापन की डिमडिमी, बाँधन बाँटत आन ॥६०३॥

गुरु पितु मातु न मानि, सो कर्माहंकारवश। औषधि व्यर्थ प्रमानि, मरनहार जिमि कालवश ॥६०४॥

अहंकार कर्तापनहि, फल अभिलाषा धार। अति आदर मय कर्म को, करत न लावत वार ॥६०५॥

इतर कर्म अति कष्टकर, मिलत न कछु उपहार। बाजीगर बहु श्रम करै, उदर भरण व्यवहार ॥६०६॥

इक कण लागै मूस जिमि, खोदत जाय पहार। जिमि दर्दुर शेवालहित, मथत समुद्र अपार ॥६०७॥

धरत सपेरो साँप जिमि, ढोवत माँगत खात। अर्जुन कीजे काह जग, खटपट प्रिय दरसात ॥६०८॥

दीमक कण के लाभ तें, लांघत है पाताल। स्वर्गलोक सुख लाभ हित, जो श्रम करत विशाल ॥६०९॥

काम्य बहुरि इमि क्लेशयुत, राजस चिन्हहिं जान। अब तामस लक्षण कहौं, सुनु अर्जुन धरि ध्यान ॥६१०॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

अर्थ—निरखि न निज बल, हिंस अरु, क्षय कारक परिनाम।
आरंभत हैं मोह वश, कहियत तामस काम ॥२५॥

निन्दा को कालो भवन, जनमैं सार्थ निषिद्ध। अर्जुन ऐसे कर्म को, तामस नाम प्रसिद्ध ॥६११॥

उपजत कछू न लखि परै, कीन्हें ते जो काम। रेखा खींचे नीर महँ, तैसो ही परिणाम ॥६१२॥

किधौं फूंके राख, जिमि कांजी के मन्थनहिं। व्यर्थ सकल जग साख, बालू पेरै कोल्हू महँ ॥६१३॥

अथवा फटकै भूरा को, छेदन कर आकाश। अथवा फांसन पवन को, डारत नाना पाश ॥६१४॥
जैसे वे निष्फल सकल, तैसो ही जो काम। निष्फल सार विहीन जो, अर्जुन तामस नाम ॥६१५॥
तैसहि कर्महिं ते नसत, नर-तन सम सम्पत्ति। कर्म करैं तैसो उलटि, जग पावै आपत्ति ॥६१६॥
जैसे डारैं कमलवन, कांटा वाली जाल। आप उठावैं श्रम वृथा, वनैं कमल को काल ॥६१७॥
आपन अंग जराय के, करत जगत अँधियार। जिमि पतंग दीपक परैं, आपुनि पंख पसार ॥६१८॥
सकल आपनो खोय करि, देहहिं दुख अधिकाय। करहि जु ऐसो कर्म को, दूजे होय अपाय ॥६१९॥
स्वयं नसत यद्दि मक्खिका, करु पर दुखद उवांत। तैसहि निज पर दुखद जो, तिहि चिन्तहि चिन्तांत ॥६२०॥
जो कर्मारंभहिं करत, विन सामर्थ्य विचार। करत आचरण कर्म को, तिहि तामस निरधार ॥६२१॥
करत कितो विस्तार, किहिं विधि मोर प्रयत्न है। मिलति कहा निरधार, तासु किये आचरण के ।६२२॥
यह विवेक अविवेक पग, तें मिटाय कै कर्म। अहंकार युत कर्म सो, अर्जुन समझहु मर्म ॥६२३॥
निज निवासथल जारि के, अग्नि करत प्रस्तारि। मर्यादा निज त्यागि के, सिन्धु बढ़ावति वारि ॥६२४॥
अधिक थोर समुझै नहीं, लखै न आगे मार्ग। मार्ग अमार्ग इकत्र करि, वैसहि चलत कुमार्ग ॥६२५॥
कृति आकृति मिलि घोंटि रहि, नहिं स्वधर्म परधर्म। ऐसे कर्महिं पार्थ सुनि, निश्चय तामस कर्म ।६२६॥
ऐसे गुण त्रय भिन्नता, कर्म केर जो पार्थ। कीन्ही तासु विवेचना, यथारीति सयार्थ ॥६२७॥
ऐसे कर्माभ्यास तें, भयो कर्म अभिमान। ताको कर्ता जीव जो, लहै त्रिविधता भान ॥६२८॥
एक पुरुष चौविध दिखत, चतुराश्रम के भेद। कर्म भेद कर्ता त्रिविध, तैसो लखि तजि खेद ॥६२९॥
गुणत्रय हु महँ सात्विकहिं, वर्णत केवल एक। दत्तचित्त ह्वै कै सुनहु, चित्त न करहु अनेक ॥६३०॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

अर्थ—उत्साही सब संग तजि, निरभिमानि अति धीर।
सिद्धि असिद्धि विकार नहि, कर्ता सात्विक वीर ॥२६॥

चंदन तरु फल हीन, जिहि प्रकार मलयाचलहि । परमत चित्त नवीन, अति सुगंधि सहजहि बढ़ति ॥६३१॥
नागर बेलि न देत फल, सार्थक ताके पात । ऐसे नित्यादिक सकल, फल बिन अधिक सुहात ॥६३२॥
सो फलहीन न जानिये, विफल भाव नहि ताहि । फल में फल कैसे लगें, अर्जुन सो समझाहि ॥६३३॥
सादर अति कर्महिं करैं, कर्तापन नहि मान । मेघवृन्द वर्षा समय, गर्जन करि न गुजान ॥६३४॥
ईश्वर अर्पण योग्य इमि, करत कर्म समुदाय । सात्त्विक कर्ता कहत तिहि, सुनु अर्जुन मन लाय ॥६३५॥
कालहिं जो नांघत नहीं, देशशुद्धि हू साधि । शास्त्र प्रकाश विलोकि कें, निर्णय क्रिया सुसाधि ॥६३६॥
इन्द्रिय वृत्ति इकत्र करि, फल में चित्त न लाय । नियम शृंखला धारि निज, करैं कर्म समुदाय ॥६३७॥
कष्ट सहन के विषय में, उत्तम धैर्य धराय । अहोरात्र चिन्तन करत, संतत जीवित काय ॥६३८॥
आत्म-मिलन की वृद्धि तें, करैं कर्म सम्बन्ध । अर्जुन सकल शरीर के, नाशैं राग प्रतिबंध ॥६३९॥
चित न क्षुधा पियास, आलस निद्रा दूर करि । आत्मरूप की आस, सुख नहि चहै शरीर को ॥६४०॥
कर्म करहि नाना विधिहि, अधिकाधिक उत्साह । शुद्ध किये सोनो घटै, उत्तम कस की चाह ॥६४१॥
जीवन लागत तुच्छ है, अधिक प्रेम की चाह । सती अंग रोमांच लखि, कूदति अग्नि उछाह ॥६४२॥
आत्म-मिलन सी वस्तु में, होय अधिक उत्साह । देह दुःख यदि होय तो, खेद होय का ताह ॥६४३॥
ज्यों ज्यों छूटैं विषय सुख, घटै देह अभिमान । तैसहि आनँद द्विगुन ह्वै, बढ़ै कर्म सनमान ॥६४४॥
ऐसहि विधि कर्महि करत, यदि कछु अवसर पाय । करि न सकैं यदि कर्म को, दुख न होय तिहि ठाँय ॥६४५॥
गिरि सन गिर गाड़ी नसैं, गाड़ी दुःख न पाय । तैसहि कर्मरु काल तें, किंचित खेद कि काय ॥६४६॥
आदर तें आरम्भ करि, पूर्णसिद्धि को पाय । तासु प्रतिष्ठा लोक महँ, प्रगट न करत सुभाय ॥६४७॥
इहि विधि कर्ता कर्म को, देखैं पांडुकुमार । सात्त्विक कर्ता लख सों, जानहु ताहि उदार ॥६४८॥
जो आधार सुजान, अभिलाषा को जगत में । ताकी अस पहिचान, कर्ता राजस कर्म को ॥६४९॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अर्थ—इच्छुक फल आसक्त अरु, लोभी हिंस्र अशौच।
राजस कर्ता प्रगट है, पार्थ सहर्ष सशोच ॥२७॥

करकट घर जिमि ग्राम को, ताको है जो थान। सकल अमंगल वस्तु को, त्यागत जाय मसान ॥६५०॥
सकल विश्व अभिलाष कै, पग धोवन के दोष। ताको घर ही जानिये, ऐसहि पार्थ सदोष ॥६५१॥
कर्महिं जिहिं ते सहज फल, शीघ्र दिखाई देय। ताको उत्तम गति तुरत, प्रारंभत कौंतेय ॥६५२॥
जो संपादित वस्तु तें, कौड़ी देय न काहु। क्षण क्षण सो निज जीव को, त्रिकलि मचावै दाहु ॥६५३॥
निज निधान महँ कृपण चित, दक्ष हरन धन और। तैसे बगुला ध्यान धरि, करत मीन इक कौर ॥६५४॥
जिमि बदरी के तरुन के, पास गये उरझाय। परसे ते अंग छिलत फल, भीतर पोल लखाय ॥६५५॥
काया 'औ' मन वचन तें, परदुख देत अहेतु। साधन अपने स्वार्थ को, परहित लक्ष्य न देतु ॥६५६॥
आरंभ्यो निज कार्य को, करत न नियमित रीति। तासु कार्य के विषयमन, नहिं अनुरुचिाह प्रतीति ॥६५७॥
अन्तर फल उन्माद है, काँटे बाह्य धतूर। निबल अशुचि भरपूर, तिमि सो भीतर बाहिरहि ॥६५८॥
कर्म किये तें फल मिलै, जो कहुँ अर्जुन वीर। तो मुदि जग करि बावरो, दरसावत नहिं धीर ॥६५९॥
कर्म किये जो हीन फल, मानत दुःख अपार। अरु ताके वश होय के, बहु विधि करि धिक्कार ॥६६०॥
इहि विधि जाके कर्म में, होत रहत व्यवहार। सो राजस कर्ता अवशि, निश्चय बारंबार ॥६६१॥
अब यहिके उपरांत में, तामस कर्ता फेर। जो कुकर्म को गेह है, ताको कहत न बेर ॥६६२॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अर्थ—अबुध, अयुक्त, अनम्र, शठ, जरुवा, आलसि जान।
दीर्घसूत्रि, कद्रुवादि सब, कर्ता तामस मान ॥२८॥

अग्नि न जानत मत लगे, कैसे जलत पदार्थ, तामस कर्तहिं तैसही, निर्दय समझ यथार्थ ॥६६३॥
शस्त्र न समुझत धार निज, कैसे काटत प्रानि। काल कूट विष योग निज, कैसे मरत न जानि ॥६६४॥

स्वयम् औरहु दूसरे, जासें पावत नास । दारुण कर्माचरण तिमि, सादर करि नहिं आस ॥६६५॥
समय कर्म आचरन के, कहा करत न सँभार । आँधी वायु समान जो, चेष्टा करत अपार ॥६६६॥
कछु मूल्य नहिं मान, ता आगे उन्मत्त को । मेल न तासु सुजान, इच्छा तें अरु कर्म तें ॥६६७॥
दै दै इंद्रिय भोग जो, देह जियावत आप । जैसे बैलहिं तन्न चिपटि, किलनी तजि न कदापि ॥६६८॥
जैसे छोटे बालकन्हि, रोवत हँसत न देर । तिहिं प्रमाण तिहि कृत्य में, रहत न चित्त में भेर ॥६६९॥
कृत्य अकृत्य विचार नहिं, तम प्रकृतिवश मूढ़ । घूरो पूरो दिखत है, जिमि कचरा तें गूढ़ ॥६७०॥
अहंभार ते ईश्वरहिं, शीष झुकावत नाँहि । तिहिं जडता तें गिरिहु की, जड़ता तुच्छ जनाहि ६७१॥
कपट सहित आचरन करि, मन जिहिं विषय तरंग । वेश्या के समदृष्टि है, धन मन हरन प्रसंग ॥६७२॥
जासु सकल रचना भई, कपट रूप सब देह । ताको जीवन कहत इमि, मनहुँ जुआ को गेह ॥६७३॥
जनु तिहिं प्रादुर्भाव है, भिल्ल ग्राम अभिलाप । जान नहीं ता ग्राम तें, मारग गामी साख ॥६७४॥
सदा शत्रु सब के हितहिं, ताको सहज स्वभाय । लवन मिलाये दूध जिमि, होय अपेया पाय ॥६७५॥
डारैं आगी माँहि, शीत युक्त हू वस्तु जो । अति प्रजुलित ह्वै जाहि, तिहि क्षण सो मिलि अग्नि महँ ॥६७६॥
स्वाद सुहित बहु द्रव्य जो, खाय पेट में जाय । कैसहु उत्तम वस्तु परि, सब ही मल ह्वै जाय ॥६७७॥
देखैं दूजे को भलो, अथवा गुन के कान । ताहि सहन हो सकत नहि, निंदा करैं बखान ॥६७८॥
दूजे के गुण सुनत ही, दुर्गण करत बखान । विष ही बाढ़त सर्प का, जिमि कीन्हें पयपान ॥६७९॥
इहा लोक महँ कीर्ति अति, परलोकहिं सुखदाम । उचित कृत्य हू पाय इमि, करत न सो मन आन ॥६८०॥
उत्तम कामहिं आपुही, आवत नींद अजान । दुर्व्यवहारहि नींद सों, भगत छूत सी मान ॥६८१॥
समय द्राक्षरस आम्ररस, वायस मुख सड़ि जाय । सूर्यंदिये उलूक की, जिमि आँखें फूटि जाय ॥६८२॥
समय पाय कल्याण को, तहँ अति आलस खाय । पै कुकर्म के समय तिहि, कहँ आलस भगि जाय ॥६८३॥
जिमि समुद्र के उदर जरि, बड़वानलहु अखंड । पर उत्कर्षहिं तासु हिय, रहत विषाद प्रचंड ॥६८४॥
धुआँ होय अधिकाय जिमि गोबर की अग्नि तें । जीवन जलन न जाय जिमि दुर्गंधि अपान तें ॥६८५।
अति अभिलाषा सूत्र धरि, आरंभत व्यापार । अर्जुन बाढ़त सत्र तिहि, कल्पहु पैले पार ॥६८६॥

जगतहिं पैले पार की, इच्छा धारत चित्त । अरु आरंभहु करति परि, तृण न लाभ उन्मत्त ॥६८७॥
असन्देह संसार महँ, पाप पुंज को रूप । तामस कर्ता जानिये, ता कहँ अर्जुन भूप ॥६८८॥
अर्जुन तुम तें मैं कह्यो, कर्ता कर्म रु ज्ञान । लक्षण तीनहुँ के त्रिविध, सुजन शिरोमणि जान ॥६८९॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव, गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

अर्थ—अर्जुन गुण के योग ते, बुद्धि धैर्य के भेद ।
तीनि भाँति के पृथकतः, सकल कहौं रिपुभेद ॥२९॥

नगर अविद्या रूप महँ, वसन धारि वपु मोह । संशयरूपी आभरन, धारण करिके जोह ॥६९०॥
आत्मा निश्चय सुघरता, दर्पण बुद्धि स्वरूप । सोग दिखत महँ बुद्धि के, तीनि भाँति अस रूप ॥६९१॥
ऐसी कहिये कौनसी, वस्तु नहीं संसार । जिहिं सत रज तम तीन गुण, कीन्ह न तीन प्रकार ॥६९२॥
कवन काष्ठ जग महँ अहै, अग्नि न जाके मध्य । देखहु दृष्टि पसारि कै, को न लख्यो त्रैविध्य ॥६९३॥
त्रिविध बुद्धि के रूप, सत रज तम त्रय गुणन तें । जानहु तीन स्वरूप, तैसहि धृति के गुणन तें ॥६९४॥
ये सब लक्षण पृथकतः भेद सहित विस्तार । वर्णन करत सु ताहि को, सुनिये पांडुकुमार ॥६९५॥
अर्जुन धृति अरु बुद्धि में, प्रथम बुद्धि के भेद । तिहिं वर्णत चित दै सुनहु, जातें होय अखेद ॥६९६॥
उत्तम मध्यम अरु अधम, मार्ग जु तीन प्रकार । जातें प्राणी आवहीं, वीर अंघ्रु संसार ॥६९७॥
अकरणीय जो काम्य अरु, कहियत जाहि निषिद्ध । जीवहिं भवभयभृत करहि, ये त्रय मार्ग प्रसिद्ध ॥६९८॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

अर्थ—कार्य अकार्य प्रवृति निवृति, भय अरु अभय सुजान ।
बन्ध मोक्ष लखि बुद्धि जिहिं, पार्थ सुसात्त्विक जान ॥३०॥

निज अधिकार प्रमाण तें, विधिवत प्राप्त जु कर्म । नित्यकर्म उत्तम सु इक, अर्जुन समझहु मर्म ॥६९९॥

आत्म-मिलन फल केवलहिं, दृग सनमुख अस भान । प्यास बुझावन हेतु जिमि, कियो जात जल पान ॥७००॥

जो ऐसे कर्महि करै, तजै जन्म मृति त्रास । मोक्ष प्राप्ति की सुगमता, करहि पार्थ सुखरास ॥७०१॥

कर्म करै ऐसे सजन, छूटै भवभय त्रास । तिहिं आचरन मुमुक्षुता, आवत परम हुलास ॥७०२॥

भरयो मोक्ष तिहिं पास, नित्यकर्म आचरत जे । पूर्ण बांधि विश्वास, अतिदृढ निश्चय बुद्धि सें ॥७०३॥

कर्मन महँ लव लाइये, अथवा नहि निरधारि । जो प्रवृत्ति की भूमि पर, रच्यो निवृत्ति बिचारि ॥७०४॥

जीवन जल तें तृषित लहि, तैरत बहत प्रवाह । अंधकूप महँ जो परै, सूर्य किरण गति ताह ॥७०५॥

औषधि पथ्यहि रोगयुत, जियँ रोग नशि जाय । मीन जलाशय पाय जनु, रहत न कछु अपाय ॥७०६॥

जिमि तिहिं जीवन को तहाँ, रहत न कछू अपाय । नित्यकर्म आचरन तिमि, अवशि मोक्ष सुखदाय ॥७०७॥

उचित कर्म में प्रवृत्ति करि, शुद्ध बुद्धि जो ज्ञान । कर्म अन्यथा के विषय, जागृ निवृत्ति महान ॥७०८॥

जो काम्यादिक कर्म हैं, जनमत भय संसार । जापै लगी निषेध की, मुद्रा दृढ़ अनिवार ॥७०९॥

जो न करन के योग्य हैं, जन्म मरन दुखदैन । तासु प्रवृति उलटे पगनि, लौटि लहत पुनि चैन ॥७१०॥

अग्नि प्रवेश न करत अरु, कूदै जल न अथाह । तप्तशूल नहिं धरत अंग, कोई भी नरनाह ॥७११॥

देखि न घालत हाथ, नाग कालिया फुंकरत । कोउ न खोवत माथ, व्याघ्र गुहा में प्रविशि के ॥७१२॥

जिहिं बुधि दृढ निश्चय करत, यह निषिद्ध है कर्म । भय उपजावन है महा, तिहि त्यागत लखि मर्म ॥७१३॥

जेंवन गरल मिलाय जिमि, खाये मरण अचूक । तिमि निषिद्ध आचरण तें, जन्ममृत्यु बिन चूक ॥७१४॥

अरु निषिद्ध के आचरन, जनम मरन भय हेतु । तासु कर्म विनियोग की, बुद्धि निवृत्ति करि देतु-॥७१५॥

कार्य अकार्य विवेक जे, प्रवृत्ति निवृत्ति के रूप । खोटे खरे जिमि पारखी, परखत रत्न अनूप ॥७१६॥

जो कर्तव्य अकृत्य को, समझ शुद्ध सुस्पष्ट । अर्जुन ताको ज्ञान तुम, सात्विक बुद्धि जु इष्ट ॥७१७॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अर्थ—जहँ अधर्म अरु धर्म को, कार्य अकार्य प्रमान।
बुद्धि न जानि यथार्थ तिहिं, अर्जुन राजस जान ॥२१॥

जिमि बगुला के ग्राम में, छीर नीर इक ठोर। तिमि अंधहिं सूझत नहीं, रैन दिवस अरु भोर ॥७१८॥
सेवन करि मकरन्द को, जो पुष्पन महँ सार। सोई कोलत काष्ठ कहँ, भ्रमरपनो न बिसार ॥७१९॥
धर्म अधर्म स्वरूप जो, कार्य अकार्य विचार। करति आचरन बुद्धि जो, नहि निर्धेर निरधार ॥७२०॥
यदि कदापि मिलि जाय, साँचो मोती परख बिन। साँचो मोति स्वभाय, बिन परखे मिलबो कठिन ॥७२१॥
अकरणीय औचकन मिलि, तो सुभाग्य बचि जाय। कार्य अकार्यहिं एक सम, समझि न सकि बिलगाय॥
आसंत्यहि एकत्र ही, योग्य अयोग्य अजान। उत्तम अधम विचार नहिं, बुद्धि राजसी जान ॥७२२॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

अर्थ—धर्महिं समझ अधर्म यह, अर्थ अनर्थहिं मान।
तम गुण सें आवृत्त जो, बुद्धि तामसी जान ॥३२॥

चोरहिं लागत विषम अति, राजमार्ग तें जात। राक्षस सूर्योदय निरखि, ताको मानत रात ॥७२४॥
तैसे भाग्यविहीन कहँ, निधि कुयले की रास। जिमि अपने अस्तित्व को, गनत न अपनो मास ॥७२५॥
धर्म विषय सब बुद्धि तिहिं, पातक रूप दिखाय। सत्य बात मिथ्या कहत, ऐसे हो समुझाय ॥७२६॥
निर्मल अर्थहिं को करत, पार्थ सदाहि अनर्थ। जहा व्यवस्थित गुण अहैं, मानत दोषहिं व्यर्थ ॥७२७॥
श्रुति महँ जाको मान्य है, ताहि कहत अनरीति। बहुत कहौं का पार्थ सुनु, तासु बुद्धि विपरीति ॥७२८॥
कौनहु सेंजानि पूछि तिहिं, बुद्धि तामसी जान। रात्रि सत्यता हेतु नहिं, चहिय शास्त्र को ज्ञान ॥७२९॥
कह्यो सुन्यो कुरुनंद, ऐसे भेदहिं बुद्धि त्रय। पूर्ण कमोदिनि चंद्र, विशद रीति निजबोध की ॥७३०॥
इहिं विधि निश्चय कर्म को, बुद्धि बृत्ति आधार। तहँ धृति संझारंभ है, भाषत तीनि प्रकार ॥७३१॥
धृतिहु तीनि विधि तासु के, लक्षण कहौं बखान। भली भाँति अंगन सहित, पार्थ सुनहु धरि ध्यान ॥७३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अर्थ—इंद्रिय मन अरु प्राण की, क्रिया धरति धृति जाह ।
एकनिष्ठता योग तें, धृति सात्विक कुरुनाह ॥३३॥

सूर्य उदय तें नसत जिमि, चोरी सह अँधियार । राजाज्ञा प्रतिबन्ध तें, रुकत बुरे व्यवहार ॥७३३॥
जैसहि चलत समीर बहु, पार्थ वेग अधिकार । तिमि नासै गर्जन सहित, सकल जलद नहि वार ॥७३४॥
जिमि अगस्त्य के उदय तें, सिन्धु रहत गहि मौन । चंद्रोदय तें कमलवन, सकुचत रहि रवि कौन ॥७३५॥
सिंह गरजना कान सुनि, सनमुख ताहि बिलोक । मदोन्मत्त गज पग उठो, आगे धरि न सशोक ॥७३६॥
अन्तर धैर्योदय निरखि, मन आदिक व्यापार । छाँड़त तिहिं छिन सों तहाँ, नेक न लावत बार ॥७३७॥
गैठबंधन इन्द्रिय विषय, छूटत अर्जुन आप । दश इन्द्रिय मन मातु कुखि, प्रविशत रहत न ताप ॥७३८॥
नौ विध पवन उपाधि, उड़त सुषुम्णा मध्य में । प्राण गाँठरी बाँधि, ऊर्ध्व अधर तजि सीम निज ॥७३९॥
जो संकल्प विकल्प बपु, वस्त्र त्यागि चुपधार । बैठत पीछे बुद्धि के, मन तहँ होय उधार ॥७४०॥
ऐसे धीरज राज मन, प्राणेन्द्रिय व्यापार । निज चेष्टा संमापणहिं, छाँड़त सकल विकार ॥७४१॥
सबहिं अकेले राखि मन, योगयुक्त सठ ध्यान । हृदय कमल महँ गुप्त धरि, शान्तिरूप सुखपान ॥७४२॥
अखिल अधिप परमातम कर, जबलौं सौंपत नाहि । लाँच लये बिन धैर्य ताँ, गहे रहत तिहि माहि । ७४३ ।
श्रीपति अर्जुन तें कहत, इहि विधि धैर्य स्वरूप । निश्चय सात्विक धैर्य है, अर्जुन परम अनूप ॥७४४॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

अर्थ—जो धर्मार्थहु काम सब, जिहि धीरज तें होय ।
फल इच्छायुत राजसी, धृति कहियत है सोय ॥३४॥

धरम, अरथ, कामहिं यतन, तनहिं मानि निजरूप । सेह रहै जग स्वर्ग हूँ, उदर भरै कुरुभूप ॥७४५॥
सिंधु मनोरथ नाँव है, काम और धर्मार्थ । क्रिया वणिज कर धैर्य बल, सो राजस बल पार्थ ॥७४६॥
चौगुन लाभ विचारि कै, पूंजी कर्म लगाय । अस साहस जिहि बल करै, सो धृति राजस आय ॥७४७॥
कहियत राजस तात, ऐसी धृति अर्जुन सुनहु । सुनु लक्षण इहि भाँत, अब धृति तामस तीसरी ॥७४८॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अर्थ—स्वपन, शोक, भय, पार्थ पुनि मद विषाद अरु मान ।
तजि न सकत दुर्मति जहाँ, सो धृति तामस जान ॥३५॥

जो प्रत्यक्ष सदोष है, सर्वाधम गुण रूप । कालेपन में मनत जिमि, कृगला कालो रूप ॥७४९॥
जो जड़ है अरु हीन है, ताको गुण तें योग । सो राक्षस कहँ सत्पुरुष, कहत नहीं का लोग ॥७५०॥
सकल ग्रहों में तापप्रद, मंगल ताको नाम । तैसहि साधारण समहिं, गुण साधन पै काम ॥७५१॥
जो निवासथल दोष को, तम को करि एकत्र । गढ़ो गयो नररूप सो, अर्जुन अति अपवित्र ॥७५२॥
जो अघ को पोषण करत, दुःख न त्यागैं ताहि । तिमि आलस निज काय गहि, त्यागत निद्रा नाँहि ॥७५३॥
कठिनपनो छोड़त नहीं, कबहुँ जिमि पाखान । देह धनहिं की प्रीति अति, कबहूँ न तजि भय मान ॥७५४॥
जिमि कृतघ्न कहँ पाप गहि, कबहूँ त्यागत नाँहि । वस्तुमात्र तें नेह बाँधि, शोक धाम बन जाहि ।७५५॥
असंतोष धरि जीव तें, दिवस रैन अधिकाय । या कारणहिं विषाद तें, भई मित्रता आय ॥७५६॥
अपथ्यहिं तजै न व्याधि, नहिं कुगंधि लहसुन तजै । जौलौं जियत उपाधि, तिमि विषाद सो तजत नहिं ॥७५७॥
काम अवस्था धनहिं को, ताको पावत गर्व । ताहि बनावत गेह निज, तहाँ रहत मद सर्व ॥७५८॥
अनल ताप त्यागत नहीं, उच्च सर्प कटु भाव । जग बैरी भय जानिये, सो गहि तजत न चाव ॥७५९॥
काल न बिसरै देह को, कबहुँ कौनहु बेल । तिमि तमगुन कहँ नहि तजै, मद अखंड रह ठेल ॥७६०॥
जो निद्रादिक पाँच हैं, दोष तमोगुन मारि । जिहिं धृति धारे जाल ये, सुन लीजे धनुधारि ॥७६१॥

धृति तिहिं तामस जानिये, या महँ संशय नाँहि । जगन्नाथ श्रीकृष्ण प्रभु, बोले अर्जुन पाँहि ॥७६२॥
निश्चय जो कछु कर्म को, त्रिविध बुद्धि तें होय । सिद्ध होत धृति तें सबहि, अर्जुन जानहु सोय ॥७६३॥
सूर्य लखावत मार्ग को, चलत पाँव ते चाल । चलन क्रिया पै धैर्य ही, करत सदा सब काल ॥७६४॥
सामग्री इन्द्रिय मनत, बुधि निश्चय करि कर्म । तासु क्रिया निष्पन्न करि, आवश्यक धृति धर्म ॥७६५॥
कर्म त्रिविध विस्तार, ते धृति तें निष्पन्न है । तुम सों तीन प्रकार, ते धृति क वर्णन किये ॥७६६॥
एकहि फल उत्पत्ति जो, भाषत सौख्याकार । तीनि भाँति के जानिये, पार्थ कर्म अनुसार ॥७६७॥
सुख कहँ फल के रूप तें, तीनि भाँति करि भिन्न । ताहि निरूपत शुद्ध कहि, उत्तमता निष्पन्न ॥७६८॥
उत्तम वर्णन होय किमि, शब्दन तें कहि जात । वर्णन लागत शब्द मल, सुनत कर्णमल तात ॥७६९॥
शब्दहि अरु अवधान को, करि तटस्थ बलवान । उर अन्तर तें श्रवण करि, प्रभयुक्त सुख मान ॥७७०॥
अस कहि सुरवर त्रिविध सुख, वर्णन का प्रस्ताव । तासु व्यवस्था करन हित, करत निरूप सुभाव ॥७७१॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

अर्थ---जीव रमत अभ्यास तहँ, सुख में दुःख विनाश ।
तीन भाँति के सुख जहाँ, कहौं सुनहु सहुलास ॥३६॥

सुख जहँ तीन प्रकार के, कथन प्रतिज्ञा कीन्ह । मैं भाषत सुन लीजिये, अर्जुन परम प्रवीन ॥७७२॥
आत्महिं भेटे जीव जब, होय महा आनंद । सो सुख भाषों तोहि को, सुनु सप्रेम कुरुनंद ॥७७३॥
जिमि दिव्यौषध माप के, मात्रा सेवन योग । जिमि राँगो रूपो बनत, रसमातन संयोग ॥७७४॥
सोई बारहि बार, जल जिमि डारै लवण महँ । त्यागत निज आकार, लवण होत सब नीर ही ॥७७५॥
जीव लहहि सुख लेश करि, अभ्यासहि सुख पूर । भेदभाव के नाश तें, दुःख नाशत भरपूर ॥७७६॥
सोई आतम सुख सुखानि, त्रिगुणात्मक बनिजाय । एक एक के रूप सब, बरनौं सुनु चित लाय ॥७७७॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

अर्थ—जो आरंभहि विषसरिस, सुधा-सरिस परिणाम ।
आत्मा-बुद्धि-प्रसाद-भव सात्विक सुख तिहिं नाम ॥३७॥

चंदन की जड़ में बसत, सदा भयंकर साँप । गड़े द्रव्य मुख भूत बसि, उपजावत भय ताप ॥७७८॥
सुन्दर अति है स्वर्ग सुख, कठिन पंथ तहँ यागु । पीड़ा कारक प्रात उत, बाल्यावस्था लागु ॥७७९॥
अनल दीप प्रज्वलित कर, धुआँ कष्ट प्रद होय । तैसहि औषधि जीह धरि, दुख प्रद लागत सोय ॥७८०॥
आत्म सुखहि की प्राप्ति महँ, अर्जुन यह विपरीति । यम दमादि साधन सकल, दुख प्रद होय प्रतीति ॥७८१॥
अनल रूप वैराग्य उठि, सर्व स्नेह जराय । देह स्वर्ग जग आदि के, कृपन दूरि बिलगाय ॥७८२॥
कर्कश व्रत आचरन अरु, श्रवण विवेकहु उग्र । कीन्हें ते पूतनादि के, छक्के छुटत समग्र ॥७८३॥
सहत अधिक दुखदाह, प्राण होत प्रारंभ में । प्राणापान प्रवाह, जहाँ सुषुम्ना के मुखहि ॥७८४॥
सारस जोड़ि वियोग तें, वत्स धेनु तें दूर । परसी थाली तें उठे, जिमि भिखारि दुख पूर ॥७८५॥
सन्मुख मातुहिं एक सुत, होय कालवश बीर । मीन नीर तें बिलग ह्वै, कैसहु धरत न धीर ॥७८६॥
जहँ विरक्त नर इन्द्रियहिं, विषय गेह बिलगाय । तहाँ प्रलय सम होत है, धीर क्लेश अधिकाय ॥७८७॥
सुखारंभ अतिकष्ट कर, सेम बुध पहिचान । क्षीर सिंधु मथि क्लेश सहि, अमृत लाभ प्रमान ॥७८८॥
गरल विराग जु प्रथम ही, शम्भु धैर्य गल धार । ज्ञानरूप अमृत मधुरि, लहि आनंद अपार ॥७८९॥
ऐंठा लोपन दाख को बेरहु तें अधिकाय । पाके ते अतिही मधुर, स्वाद सराहत जाय ॥७९०॥
आत्म प्रकाश प्रभाव तें, ह्वै विराग परिपाक । तहँ विराग अज्ञान दुख, नाशत सबही आँक ॥७९१॥
जिमि समुद्र में गंग मिलि, तिमि आत्महिं मिलि बुद्धि । अद्वय आनंद की सदा, खानि प्रगट अति शुद्धि ॥७९२॥
निज अनुभव विश्राम, जा को मूल विराग है । सात्विक सुख तिहि नाम, तातें जो सुख लखि परै ॥७९३॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

अर्थ—इंद्रिय विषय संयोग तें, आदिहि सुधा समान ।

परिणामहिं विषसदृश दुख, राजस सुख तिहिं जान ॥३८॥

इंद्रिय विषय मिलाप तें, जो सुख रूप प्रवाह । अर्जुन सो दुहुँ तटनि भरि, तहँहू तें उमराह ॥७९४॥
ज्यों अधिकारी ग्राम चलि, होवत अति उत्साह । ऋण लेकर विस्तार करि, जैसे लगनविवाह ॥७९५॥
जीभ सवादहिं रोगिया, केला शक्कर खाय । वत्सनाभ विष खात सो, प्रथमहि मधुर लगाय ॥७९६॥
साहु तस्कर मित्रता, वेश्या हाव सुभाव । प्रथमहि प्रिय लागत सकल, नटके आविर्भाव ॥७९७॥
इन्द्रिय विषय संयोग तें,जीवहिं सुख इमि होय । जिमि चाँदनि प्रतिबिंब लखि,हंस उड़त जल सोय ॥७९८॥
सुसंपादितहि हानि ह्वै, जीवनहू को नाव । सुकृत द्रव्य की गाँठि छुटि,पावत अतिशय त्रास ॥७९९॥
नाना भोगत भोग जे, स्वप्न समान विलाँय । केवल दुख की राशि महँ, लोटत शेष रहाय ॥८००॥
इहिं प्रकार इहि लोक में, सुख विपत्ति को रूप । परलोकहु परिणाम जो, पावत गरल स्वरूप ॥८०१॥
इंद्रिय लाड पुराय, धर्म रूप द्रुमहिं सौंपि तिहि । भोगत विषय सुहाय, धर्म जारि इंद्रियन में ॥८०२॥
जातें पातक पाय बल, नरक माँहि लै जाय । ऐहिक पर लौकिक सुखहिं, अति घातक बनि जाय ॥८०३॥
नामहि माहुर विष मधुर, खाये मारक सत्य । आदि मधुर परिणाम कटु, सुख राजसी अपथ्य ॥८०४॥
अर्जुन राजस सुख सकल, बनत रजग परिणाम । मैं भाषत तुमतें खरो, छुअहु न अंग ललाम ॥८०५॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अर्थ—आरंभ अरु अंत महँ, जिहिं दायक मोह ।

निद्रा आलस प्रमाद भव, सो सुख तामस जोह ॥३९॥

जो अपेय कहँ पान करि, अरु अखाद्य कहँ खाय । अरु कुलटा संयोग सुख, तामस सुख कहि जाय ॥८०६॥
जो दूजे को घात अरु, हरण करे सुख होय । गुने भाट मुख में सुयश, तातें जो सुख सोय ॥८०७॥

आलस तें जो पुष्ट ह्वै, निद्रा में दरसाय । आदि अंत अपनो भलो, भूलि बाट बिललाय ॥८०८॥
निंदित अति तामस कथा, बहुत न बरनौं वीर । तामस सुख तिहिं कहत हैं, जानहु अर्जुन धीर ॥८०९॥
कर्महिं मूलक भेद तें, फल सुख तीन प्रकार । यथा शास्त्र वर्णन कियो, तुम तें सकल विचार ॥८१०॥
सबहिं त्रिपुटि आधार, कर्ता कर्महु कर्मफल । तुमतें सकल विचार, यथा शास्त्र वर्णन किया ॥८११॥
जैसहि पट निर्माण में, तन्तु पुंज विस्तार । तिमि त्रिपुटी लगि तीन गुन, ओत प्रोत आधार ॥८१२॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

अर्थ--अहहि न पृथिवी स्वर्ग मह, लखहि न नर मुनि देव ।
प्रकृतिजन्य त्रय गुणन तें, वस्तु अलिप्त न एव ॥४०॥

ऐसी वस्तु न मिलि सकै, प्रकृतिजन्य दुहुँ लोक । तीन गुणन तें भिन्न जो, सोउ नहीं अवलोक ॥८१३॥
ना लौंदा माटी बिना, कम्बल ऊन विहीन । जिमि तरंग जल बिन नहीं, तिमि न वस्तु गुणहीन ॥८१४॥
सकल प्राणि बिन त्रय गुणनि, रचैं जगत व्यापार । सत्यहु सो नहि हो सकै, अर्जुन लेउ विचार ॥८१५॥
केवल तीनहुँ गुणन तें, रच्यो सकल संसार । यातें ऐसहि जानिये, करिके सकल विचार ॥८१६॥
गुणहिं भये त्रय देवता, गुण तें भये त्रिलोक । चार वर्ण कर्तव्य तिमि, त्रिपुटी तिमि तिहुँ लोक ॥८१७॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

अर्थ—द्विजवर, क्षत्रिय, वैश्य अरु, शूद्र आदि के कर्म ।
प्रकृतिजन्य गुण तें भये, पृथक् जासु अस धर्म ॥४१॥

चार वरन ते कौन हैं, यदि पूछहु सुरभूप । अग्रभाग ब्राह्मण गुनहु, जिमि शरीर मुखरूप ॥८१८॥
दोऊ क्षत्रिय वैश्य जे, ब्राह्मण सम ही मान । तीनहु एक समान हैं, वैदिक कर्म विधान ॥८१९॥

चौथो शूद्र प्रवीन, जाहि वेद अधिकार नहि, । तीन वर्ण आधीन, सेवावृत्ति जु तासु की ॥८२०॥
द्विजवरादि त्रय वर्ण की, सेवा वृत्ति समीप । शूद्र वर्ण चौथो गुनहु, तातें पार्थ महीप ॥८२१॥
संग पुहुप धागा गुंथ्यो, वास लेत श्रीमंत । तैसहि द्विज सग शूद्र को, स्वीकारत श्रुति संत ॥८२२॥
ऐसहि चार प्रकार की, वर्ण व्यवस्था जान । कौन कर्म किहि वर्ण के, बरनौं रूप बखान ॥८२३॥
चतुर्वर्ण जिहि गुणन तें, जन्म-मृत्यु दुखकारि । तिहिं चुकाय करि ईश्वरहि, पावत सब दुख टारि ॥८२४॥
आत्मा प्रकृतिहि तीन गुण, सत रज तम इहिं लाग । बाँटत चारहु वर्ण कहँ, क्रमशः चार विभाग ॥८२५॥
जिमि पितु निज सपत्ति कहँ, बाँटत सुतहिं विचार । पथिकहिं पथ रवि स्वामि जिमि, बहु भृत्यनि व्यापार ॥
जे गुण तीनहुं प्रकृति करि, सर्व कर्म विस्तार । चार भाग चहुँ वर्ण कहँ, बाँट्यो तेहि निरधार ॥८२७॥
सत्त्वगुणहिं के सम विषम, भाग किये निज अंग । उपजाये द्वै वर्ण कहँ, ब्राह्मण क्षत्रिय संग ॥८२८॥
सुभग वैश्य उत्पन्न, सत्व रजोगुण तें गुनहुँ । मिश्रण ते सम्पन्न, शूद्रवर्ण रज तमहि के ॥८२९॥
एकहिं प्राणि समूह कहँ, इमि गुण तें धनुधार । वर्णभेद चारहु किये, लीजे भिन्न विचार ॥८३०॥
धरी आपुनी वस्तु जिमि, दीप प्रकाश दिखाय । गुणहु भिन्न करि शास्त्र तिमि, पार्थ कर्म प्रगटाय ॥८३१॥
कौन विहित है कर्म तिहिं, लच्छण वर्ण विधान । मैं भाषौं तिहिं श्रवण करु, प्रिय सौभाग्य निधान ॥८३२॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥४२॥

अर्थ— शम दम आस्तिक शौच तप, शान्ति सरलता भाव ।

ज्ञान और विज्ञान यह, ब्राह्मण कर्म स्वभाव ॥४२॥

आपुन पति तें जिमि प्रिया, पावत रति एकान्त । तिमि सब इन्द्रिय वृत्ति गहि, बुद्धि आत्म मिलि शान्त ॥८३३॥
ऐसी बुद्धि विलीनता, तिहिं शम कहत प्रधान । तातें कर्मारंभ हूँ, सो गुण प्रथमहि जान ॥८३४॥
इंद्रियगण जे बाह्य हैं, विधि दण्डहिं तिहिं मार । कबहुं न जात अधर्मपथ, राखत रच्छण सुभार ॥८३५॥
करि सहाय कर्ता शमहिं, दूजो दम गुण जान । इंद्रिय गणहिं स्वधर्म के, मार्ग जियाय सुजान ॥८३६॥

दीप बुझायो जात नहिं, षष्ठी पूजन रात्र। तैसहि चित्त निरन्तरहि, ईश्वर निर्णय मात्र ॥८३७॥
गुण तिसरे को रूप यह, तप नामक विख्यात। द्वै प्रकार के शौच जे, कहत ताहि गुनु तात ॥८३८॥
अंग क्रिया शृंगार, शुद्ध भाव तें मन भरत। जीवन सजत उदार, अन्तर बाह्य पवित्रता ॥८३९॥
शौच कहत तिहिं विप्र के, चौथे गुण को नाम। अरु पृथ्वी सम सहन करि, सर्व सहन गथ पाम ॥८४०॥
क्षमहिं कहत तिहिं विप्रको, पंचम गुण तिहिं कर्म। पंचम स्वर जिमि सप्त महँ, अधिम गुहान गुमर्म ॥८४१॥
जिमि प्रवाह टेढ़ो बहत, गंगा सरल स्वभाव। ऊख पदवि टेढ़ी झुकी, पै मिठास सम भाव ॥८४२॥
इतर जीव दुख दैय जो, ताहु तें प्रिय भाय। छठवौं गुण पुनि विप्रको, आर्जव नाम कहाय ॥८४३॥
कष्ट सहत माली सरिस, जल सींचत तरु माँहि। तासु अखंड प्रयत्न फल, फल आये मिलि जांहि ॥८४४॥
शास्त्राचरण प्रभाव तें, ईश्वर प्राप्ति अभीष्ट। प्राप्त होत तिहिं समझ अस, ज्ञान कहत इहिं शिष्ट। ८४५॥
ज्ञान विप्र के कर्म महँ, गुण सातवौं बखान। अब लक्षण विज्ञान के, भाषत सुनहु सुजान ॥८४६॥
समय शुद्धि सह सत्व,निश्चय बुद्धि प्रभाव तें। पावत ईश्वर तत्व,शास्त्र और निज ध्यानबल ॥८४७॥
कर्महिं अष्टम ब्रह्म को, गुण सुरत्न विज्ञान। नवमो गुण आस्तिक्य कहँ, जानहु बुद्धि निधान ॥८४८॥
कोउ धरहि नृप मुद्रिका, प्रजा करहि सनमान। मार्ग करत स्वीकार जिहि, शास्त्र कहत बहुमान ॥८४९॥
आदर देय सुशास्त्र जिहिं, मानत सो आस्तिक्य। ब्रह्म कर्म को नवम गुण, कहत पार्थ मैं सत्य ॥८५०॥
शम दमादि नव गुण सकल, कहे सकल निर्दोष। स्वाभाविक ते कर्म सब, विप्र कर्म के कोष ॥८५१॥
नव गुण रत्नाकर सकल, नव रत्नों के हार। सूर्य समान प्रकाश जिमि, तजत न करि स्वीकार ॥८५२॥
चंपक तरु निज पुष्प तें, प्रभा चंद्रिका चंद्र। चंदन चर्चित रहत नित, निज सौरभ्य अमन्द्र ॥८५३॥
नव गुण रत्नहिं ते जटित, शुभ विप्रालंकार। कबहुँ सो त्यागत नहीं, ब्राह्मण अंग उदार ॥८५४॥
उचित कर्म क्षत्रियन के, बरनौं कुरुपति राय। सुनिये ताहि सुबुद्धि तें, सावधान मन लाय ॥८५५॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

अर्थ—शौर्य, बलहु, धृति, निपुणता, युद्ध न पीठि दिखाय ।

दानशीलता, स्वामिपन, क्षत्रिय-कर्म स्वभाय ।।४३।।

निर्भय सोवत सेज, सिंह न चाहत पहरुआ । रवि प्रकाश निज तेज, चहत सहाय न और की ।।८५६।।
अर्जुन बिना सहाय के, स्वयं शूर बलवान । प्रथम श्रेष्ठ गुण क्षत्र को, 'शौर्य' नाम अस जान ।।८५७।।
सूर्यहिं लोप न करि सकत, कोटि कोटि नक्षत्र । सूर्य उदय तें लुप्त हों, चंद्र सहित ते अत्र ।।८५८।।
आपुन पूर्ण प्रभाव तें, जग कहँ विस्मय देय । क्षोभ न पावत रंचहु, संकट परे अजेय ।।८५९।।
दूजो गुण क्षत्रियन को, कर्म प्रशंसित तेजु । तीजो गुण है 'धैर्य' पुनि, कर्म क्षत्रियन के जु ।।८६०।।
धैर्य कहत है ताहि को, टूटि परे आकाश । तौहु मन अरु बुद्धि के, मिचत न नैन निराश ।।८६१।।
कमल फूलि ऊपर रहै, जल कितनो ही होय । सर्व उचाई के विषय, जय पावत नभ सोय ।।८६२।।
नाना भाँति प्रसंग के, प्राप्त भये तें पार्थ । तासु बुद्धि पावत विजय, निश्चय रूप फलार्थ ।।८६३।।
गुण चतुर्थ जो दाक्ष्य है, जो चोखो चातुर्य । शक्ति अलौकिक युद्ध महँ, गनिय पंचम गुणवर्य ।।८६४।।
सूर्य मुखी के फूल, सन्मुख रवि के रहत जिमि । रहत सदा मन फूल, तैसहि सन्मुख शत्रु के ।।८६५।।
सेज चुकावति ऋतुमती, करि के विविध प्रयत्न । समरांगण तिमि शत्रु कहँ, पीठि न देय सुयत्न ।।८६६।।
क्षत्रिय के आचार महँ, पंचम गुणहिं गुणेन्द्र । जिमि चारहु पुरुषार्थ महँ, जानहु भक्ति नरेन्द्र ।।८६७।।
जैसहि तरु निज शाख तें, देहिं सबहि फल फूल । जिमि पद्माकर परमलहिं, अति उदार अनुकूल ।।८६८।।
किवा चाँदनि सुखदि सहि,जा कहँ जैसी चाह । तिमि याचकहिं जु देहिं सो,जस इच्छा उत्साह ।।८६९।।
देवै दान असीम जो, सो छठवों गुण रत्न । अरु आज्ञा में होन को, धाम जान नर रत्न ।।८७०।।
निज अँग अवयव पोष जिमि,करि इच्छित उपभोग । तिमि जग पालन लोभ तें,चाहत जग उपयोग ।।८७१।।
ईश्वरभावहि नाम तिहिं,सब सामर्थ्य ठिकान । सो सब गुण महँ नृप समझ,गुण सातवों सुजान ।।८७२ ।
ऐसे शौर्यादिक सकल, सातों सुगुण विशेष । सप्त अलंकृत गगन जिमि, सोह सप्त ऋषिवेष ।।८७३।।
क्षत्रिहिं सहज विचित्र, इहि प्रकार जे सप्त गुण । धरिणी करहिं पवित्र, क्षात्र प्रकृति के कर्म सब ।।८७४।।

किंवा क्षत्रिय नर नहीं, सब स्वर्ग को मेरु। मानों गुण सब भार्ग के, धनु आधार निवेरु ॥८७५॥
सो गुण सप्त समुद्र तें, वेष्टित करि नरभूप। क्षात्र कर्म पृथिवी समुझि, भोगत तिहिं अनुरूप ॥८७६॥
क्रिया तासु गंगा जगत, सप्त गुणीक प्रवाह। क्षत्रिय अँग सो सिन्धु महँ, सोहत मिलत अथाह ॥८७७॥
कहहुँ न बहु शौर्यादि गुण, क्षात्र प्रकृति के कर्म। अर्जुन जानहु निश्चयहु, क्षात्र स्वाभाविक कर्म ॥८७८॥
अबहिं वैश्य की जाति की, उचित क्रिया मतिमान। सो तुमसों भाषत सकल, सुनहु सुचित दै कान ॥८७९॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अर्थ—खेती गोरक्षा वणिज, वैश्य स्वाभाविक कर्म।
सेवा करनी ही सदा, शूद्र स्वभाविक धर्म ॥४४॥

नागर भूमिरु बीज के, साधन के आधार। लेकर वैश्य मिलावहीं, मानें लाभ अपार ॥८८०॥
कृषी कर्म करिके करहिं, गोधन रक्षा कार्य। सस्ते महँ क्रय वस्तु करि, विक्रय महँगे, आर्य ॥८८१॥
कर्म स्वभावज हैं अहैं, वैश्य जाति के पार्थ। इतने ही सब जान तिहिं, अतहित करि परमार्थ ॥८८२॥
इनहिं द्विजन्मा जान, विप्र, क्षत्र औ वैश्य त्रय। शूद्र कर्म पह मान, इनकी शुश्रूषा सदा ॥८८३॥
औ' सेवा तजि द्विजन की, शूद्रहिं और न कर्म। इहिं विधि चारहु वर्ण के, कहि कर्मन के मर्म ॥८८४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अर्थ—निज निज करम निरत पुरुष, प्राप्त करत संसिद्धि।
सुनु भाषहुँ किमि लहहि नर, करम निरत निज सिद्धि ॥४५॥

चार वरन के पृथकतः, उचित कर्म सुस्पष्ट। इमि बरनौं शब्दादि जिमि, श्रवणादिक कहँ इष्ट ॥८८५॥
तो सर जल गिर जलद तें, उचित सु सरिता जाय। पुनि सरिता ते उचित ही, जाय सु सिंधु समाय ॥८८६॥

जे आवश्यक कर्म हैं, वर्णाश्रम अनुसार। गोरोचन सोहत सु जिमि, गोरे अंग उदार ॥८८७॥
निज स्वभाव युत कर्म जे, विहित शास्त्र अनुसार। वीरोत्तम कीजै सदा, निश्चय बुद्धि विचार ॥८८८॥
निज रसनहिं परखाय जिमि, परखैया के पास। तिमि स्वकर्म कहँ आप करि, शास्त्राधार सुपास ॥८८९॥
दृष्टि हु आपुनि होय पै, दीपक बिन न दिखाय। मार्ग न पावै ढूँढ के, कहा करै बेपाँय ॥८९०॥
जात स्वभावहिं योग्य जे, प्राप्त सहज अधिकार। समझ आप ही शास्त्र तें, कीजै आप उदार ॥८९१॥
नैननि देत दिखाय, दीपक धरे सुगेह मैं। तहँ प्रतिबंध जनाय, ताहि लेत कछु है कहाँ ? ॥८९२॥
सहज स्वभावहि कर्म जो, पावैं स्वय विभाग। करै आचरन विहित तिहि, यथा शास्त्र अनुराग ॥८९३॥
अर्जुन आलस छांडि कै,फल इच्छा कहँ त्याग। सावधान सब समय महँ, तन मन जिय भर लाग ॥८९४॥
जिमि जल पड़त प्रवाह महँ,धाहि न जाय कहू आन। यथा शास्त्र आचरन की,करहि व्यवस्था जान ॥८९५॥
स्वय कर्म अर्जुन विहित, इहिं विधि करै जु कोय। अर्जुन मोक्ष दुवार जो,तहँ प्रवेश तस होय ॥८९६॥
कछु लगाव नहिं ताहि को, अर्जुन कर्म निषिद्ध। आतम प्राप्ति विपरीत जग,-भय तें छूटत सिद्ध ॥८९७॥
चंदन की बेड़ी यदपि, पायँ न डारत कोउ। काम्य कर्म तिमि कौतुकहि, पकुत न देखत सोउ ॥८९८॥
दूजे नित्यहु कर्म फल, त्याग देत जो पार्थ। मोक्ष सीम मिलि जात है, ताको सहज यथार्थ ॥८९९॥
जगत शुभाशुभ कर्म तें, छूटि त्याग फल युक्ति। लहि सुस्थिति वैराग्य महँ, समझ द्वार तिहिं मुक्ति ॥९००॥
सकल भाग्य की सींव,निश्चय लाभ सु मोक्ष को। अंत करत सब सींव, कर्म मार्ग श्रम सर्व को ॥९०१॥
धरणिहि फल प्रद मोक्ष अरु,सुकृत वृक्ष के फूल। तिहि वैराग्य ठिकान महँ, पुरुष भ्रमर इव भूल ॥९०२॥
आतम ज्ञानहि रवि उदय,पूर्वक अरु न प्रकाश। प्रगट होत वैराग्यनिधि, लखि अर्जुन आकाश ॥९०३॥
दिव्यांजन वैराग्य वपु, नयन बुद्धि मैं देत। आतम ज्ञान निधि हाथ लागि, आनंद रूप सुखेत ॥९०४॥
ऐसी मोक्ष सुयोग्यता, पार्थ सिद्धि ह्वै जाय। विहित कर्म अनुसरत जो,विधिपूत तें चित लाय ॥९०५॥
कर्म विहित इहिं आपुनो, है अनन्य उपचार। औरहु मम परमातम को, सेवा परमाधार ॥९०६॥
सकल भोग करि पतिव्रता, क्रीडति प्रियपति संग। नाम कहत 'तप' सकल आपि,अरु श्रुति तासु प्रसंग ॥९०७॥
इक तजि मातुहिं बालकहिं, कौन सुजीवन आस। मुख्य धर्म तिहि सेइबो, मुनि जन करत प्रकाश ९०८॥

केवल पानी समझ के, मीन करत तहँ वास । सहज लाभ सब तीर्थ को, पावत गंग निवास ॥६०६॥
नहि उपाय आधार, कर्म विहित बिनु अन्य कछु । पढ़ै सकल आभार, ताहि किये जगदीश पै ॥६१०॥
कर्म विहित जो जाहि को, ईश्वर मन अनुकूल । तासु आचरण तें मिलत, सो ईश्वर सुखमूल ॥६११॥
दासी तें स्वामिनि बनै, जो नृप करि परखाय । स्वामि काज सिर त्यागि कै, सेवपत्र लिखवाय ॥६१२॥
चूक नहीं सेवा करै, स्वामी के मनभाव । सोइ परम सेवा सकल, अन्य वणिज बर्ताव ॥६१३॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अर्थ—जो है व्यापक विश्व सब, जातें प्राणि प्रवृत्ति ।
तिहि स्वकर्म करि अर्चना, लहहिं सिद्धि नर मुक्ति ॥४६॥

क्रियहिं विहित केवल नहीं, ईश मनोगत काम । जातें उपजे प्राणि सब, सहित रूप गुण नाम ॥६१४॥
जीव पुतलि अज्ञान की, चिन्धी भाँति लपेटि । अहंकार रजु बाँधि के, खेलति त्रिगुण चपेटि ।६१५॥
जैसे दीपक महँ रहत, अंतर बाह्य प्रकाश । अंतर बाह्य समस्त जग, व्यापक पूर्ण प्रकाश ॥६१६॥
जो निज कर्म प्रसून तें, पूजत प्रभुहिं उदार । सर्वात्मक ईश्वरहि ते, रिझवत सत्य अपार ॥६१७॥
आतम नृप रीझत अवशि, तेहि पूजा करै पाय । देत सिद्धि वैराग्य की, करिके कृपा पसाय ॥६१८॥
ईश्वर में लय लाय, दशा पाय वैराग्य की । जैसे वमन दिखाय, सब संसार दिखात तिमि ॥६१९॥
जिमि विरहिन बिन प्राणप्रिय, जीवन गनि दुखरूप । तैसे सुख संसार के, लागत दुखद सुभूप ॥६२०॥
अनुभव सम्यग् ज्ञान के, पूर्व योग्यता पाय । केवल चिंतन तें लहत, तन्मयता कुरुराय ॥६२१॥
अतह मोक्ष के लाभ लगि, सो व्रत धारत अंग । सो स्वकर्म आस्था सहित, धारै सहित उमंग ॥६२२॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अर्थ—धर्म पराये तें अगुण, श्रेष्ठाचरण स्वधर्म ।
किये न पावत कोउ अघ, नियत स्वभाविक कर्म ॥४७॥

यदि स्वधर्म आचरण कहँ, विषम लगै निज अंग । तो देखहु परिणाम तम, प्राप्त जु तासु प्रसंग ॥६२३॥
आपुहिं लावत निंब कहँ, अर्जुन जिहि मुख लाग । कड़ुवेपन तें ताहि तहँ, देत न कबहूं त्याग ॥६२४॥
कदली फूलन के प्रथम, देखत लगत निराश । पै तिहिं त्यागे रहि न कहुँ, उत्तम फल की आश ॥६२५॥
देखि स्वधर्महिं कठिन जो, त्याग करहि जो कोय । तो किमि पावहि मोक्ष सुख, तामहँ वंचित होय ॥६२६॥
आपनि माता कूबरी, जीवन तिहिं आधार । प्रेम न ताको कूबरो, ताको नेह अपार ॥६२७॥
जो रंभा ते होय, इतर नारि सुंदर महा । हिये विचारहु सोय, ताको बालक करहि कह ॥६२८॥
निश्चय पानी तें अधिक घृत महँ बहु गुण होय । मीन धर्मै घृत महँ कहुँ, कहो कौन गति होय ॥६२९॥
कीड़ा को अमृत अहै, जग को विष विषनाग । गुड़ तें जो मरि जात है, जग को मीठो लाग ॥६३०॥
कर्म विहित निज कठिन हु, करै तासु आचार । ता कीन्हें धरना सकल, छूटै भय संसार ॥६३१॥
जो दूजे के धर्म को, भलो समझि आचार । पग न चलै सिरतें चलै, तैसहि याहि विचार ॥६३२॥
जाति स्वभावहिं कर्म निज, आये तिहि आचार । कर्म बंध कहँ जीति है, करिके ताहि उदार ॥६३३॥
आचारै निज धर्म कहँ, त्यागहि पर के धर्म । नियम न जो ऐसो करे, किमि करि सकै स्वकर्म ॥६३४॥
आत्म दृष्टि जब लगि नहीं, रुकै कि कर्म प्रचंड । विहित कर्म करि कष्ट सहि, जो सुख चहो अखंड ॥६३५॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अर्थ—अर्जुन तजु न स्वकर्म को, यदपि दोषयुत सोय ।
सर्वारंभ सदोष जिमि, धूम अनल महँ होय ॥४८॥

सकल कर्म जो कष्टमय, आरंभत कौन्तेय । तो स्वकर्म कहँ दोषमय, का कारण कहि देय ॥६३६॥
चलि के सीधी बाट, कष्ट उठावत पाँव ही । धावत औघट बाट, सोऊ श्रम पग ही लहत ॥६३७॥

धरहि कलेवा शिल कछु, बोझ दृष्टि सम आहि । पै विश्राम ठिकान जो, सुखद धरहि सम नाहि ॥९३८॥
धान भुसा कछु काढ़िये, श्रम दुहुँ एक समान । माँस और हवि श्रम सरिस, रंधन कार्य सुजान ॥९३९॥
दही नीर महँ एक सम, श्रम मंथन व्यापार । बालू तिल घानी धरैं, परत समहि श्रम भार ॥९४०॥
इतर काम नित होमहित, त्रा आगी सुलगाय । अर्जुन फूंकत महँ धुआँ, लगत सरिस दुखदाय ॥९४१॥
साध्वी कुलटा उभय कहँ, पोषत व्यय सम जान । तब किमि कुलटा पोषिये, सह अपकीर्ति महान ॥९४२॥
जो रिपु पाछे लागि कैं, घाव न मरन चुकाय । तौ तिहि आगे राखि किमि, करिय न युद्ध अघाय ॥९४३॥
कुल तिय निज पति त्यागि कैं, पर घर घुसि सुख चाहि । यदि उन झंझन तैं पिटैं, स्वपति त्याग पछिताहि ॥
सकल कर्म श्रमप्रद अहहिं, कीजै जो मन भाय । तौ नियतहि श्रमप्रद कहब, यह मोकों न सुहाय ॥९४५॥
आनिय तजि सर्वस्व, अमृत यदि अल्पहु मिलै । पाकरि कै अमृतत्व, जो त्यागे जीवित रहत ॥९४६॥
जिहिं विष खाये सुख नसै, आतम हनन लहि पाप । सो विष मोल बिकात है, को लहि पीछे आप ॥९४७॥
इंद्रिय कहँ दुख व्यर्थ दै, करि व्यतीत निज आयु । साँचहु पातक पाय कछु, मिलत न सुख को वायु ॥९४८॥
करु स्वधर्म आचरन जो, सब श्रम को परिहारि । देय मोक्षफल परम लहिं, अति पुरुषार्थ अपारि ॥९४९॥
यह स्वधर्म को आचरन अर्जुन छांडहु नाँहि । जिमि संकट के समय महँ, सिद्ध मंत्र न भूलाँहि ॥९५०॥
सागर नौकहि, यदुरुजी, दिव्यौषधि न तजाय । तासु बुद्धि निज कर्म महँ, तैसे नहि बिसराय ॥९५१॥
करि स्वधर्म पूजा परम, अरजुन बारंबार । तम रज सबहि नसाय कै, तोषहु ईश अपार ॥९५२॥
शुद्ध सत्त्व के मार्ग महँ, निज उत्कंठा आन । सुख सब जग अरु स्वर्ग के, कालकूट सम जान ॥९५३॥
कहहुँ पूर्व संसिद्धि तिहिं, पार्थ जासु वैराग्य । यदुन कहाँ का मिलन निज, ठौर विराग सुभाग्य ॥९५४॥
नर जिमि ह्वै सर्वत्र, जीति भूमिका राग बिनु । तिहि भापत हौं अब, पाय पूर्णता लहहि फल ॥९५५॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

अर्थ—आतमजित इच्छारहित, धी सर्वत्र असक्त ।
ज्ञान सिद्धि उत्तम परम, लहत योग संन्यस्त ॥४९॥

आलहि जैसे वायु गति, रुकत न काहू ठौर । तिमि तनादि जगपाश महँ, पुरुष न बँधि सिरमौर ॥९५६॥
डंठल जिमि परिपक्व फल, फल डंठल न धराहिं । तिमि सर्वत्रहिं प्रेम तिहिं, ह्वै निर्जीव रहाहिं ॥९५७॥
संपति सुत तिय सकल ही, रहत तासु आधीन । जिमि विषपात्र न कहत मम, तिमि मम कहि न प्रवीन ॥९५८॥
जलत हाथ जिमि खींच करि, तुरत लेय लौटाय । बुद्धि खींचि तिमि विषय तें, हिय एकांत बसाय ॥९५९॥
किंकरि जिमि निज स्वामिभय, आज्ञा टारत नाँहि । विषय हेतु तिमि बुद्धि तिहि, हिय तें बाह्य न जाहिं ॥
करि इक भावहि बुद्धि महँ, अर्जुन निज चित धार । आत्म चटक महँ ताहि को, लावत सुखद विचार ॥९६१॥
अनल होत जिमि बिन धुआँ, राख दबाये पार्थ । तिमि लोकहु परलोक की, इच्छा नसत यथार्थ ॥९६२॥
इच्छा आपहिं नशत है, मन निग्रह भये पार्थ । बहुत कहाँ का ऐसही, लहि भूमिका यथार्थ ॥९६३॥
सत सुबोध मतिमान, प्राप्त होत ताको तहाँ । तिहिं की नसत सुजान, सकल बाध्य विपरीतता ॥९६४॥
सैंचित जल व्यय होय तिमि, भोगे कर्म समाप्ति । पुनि नवीन उपजै न तब, शुद्धि बोध की प्राप्ति ॥९६५॥
साम्य दशा ऐसी जबहिं, होय कर्म वीरेश । श्री गुरुवर तब आपुही, भेंटैं आय नरेश ॥९६६॥
चार पहर जिमि रात्रि के, बीते प्रातःकाल । नयन दरस लहि सूर्य जो, अंधकार को काल ॥९६७॥
जिमि कदली फलझौर लहि, तरु की बाढ़ नसात । तैसहि होत मुमुक्षुथिति, गुरुवर भेंटे तात ॥९६८॥
आलिंगैं लहि पूर्णिमा, तजि घटाव जिमि चंद्र । गुरु कृपाबल तैसही, लहि मुमुक्षु नर-इन्द्र ॥९६९॥
नसैं मात्र अज्ञान तिहि, तब गुरु कृपा प्रशस्त । जिमि रवि के उदये नसत, निशि अँधियार समस्त ॥९७०॥
करण, कर्म, कर्ता त्रिपुटि, नसैं अबोध विलात । जिमि गर्भिणि के हनन तें, आपुहिं गर्भ नसात ॥९७१॥
क्रिया जात सब नशत तिमि, नसे अबोधहिं पार्थ । कर्म समूल विनाश ह्वै, सो संन्यास यथार्थ ॥९७२॥
सकल दृश्य नसि जात, नसे मूल अज्ञान के । सो आपुहिं ह्वै जात, जानन योग्य स्वरूप जो ॥९७३॥
स्वप्नहिं डूबे जो पुरुष, पुनि जागृति कहँ पाय । सो अपने कहँ कढ़न हित, करै कि कोउ उपाय ॥९७४॥
अज्ञानी हौं जानि हौं, इहि दुःस्वप्नहि खोय । ज्ञाता ज्ञेय विहीन ह्वै, ज्ञान स्वरूपहिं होय ॥९७५॥
दर्पन मह प्रतिबिंब को, पार्थ किये परिहार । देखन बिन ह्वै शेष इक, केवल देखन हार ॥९७६॥
जिमि जागत अज्ञान तिमि, ज्ञान जात तिहि संग । क्रिया रहित केवल बचन, ज्ञानस्वरूप अभंग ॥९७७॥

रहति क्रिया कोई नहीं, ताको सहज स्वभाव । तातें मुनिजन कहत सब, निष्कर्मता को नाँव ॥९७८॥
आपहिं आप स्वरूप है, ऐसो जो आलोचि । वायु शान्त ते तरँग बिनु, शेष सिंधु इव सोचि ॥९७९॥
उपजै कौनहु कर्म नहिं, जासु सिद्ध निष्कर्म । सहजहि सिगरी सिद्धि महँ, परमसिद्धि शुचि मर्म ॥९८०॥
जैसे मंदिर पर कलश, गंगासिंधु प्रवेश । सोलह आना कस भये, शुद्ध सुवर्ण नरेश ॥९८१॥
गुरु प्रसाद तें पाय, कोई जो थिति पार्थ इमि । पुनि ज्ञानहु बिलाय, जिहि प्रभाव अज्ञान नसि ॥९८२॥
इहि थिति के अतिरिक्त कछु, शेष नहीं निष्पन्न । परम सिद्धि ताको कहत, तातें सब संपन्न ॥९८३॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अर्थ—सिधिहिं प्राप्त कहँ होय किमि, प्राप्ति ब्रह्म की पार्थ ।
. जे निष्ठा पर ज्ञान की, सो सुनु संक्षेपार्थ ॥५०॥

श्रीगुरु कृपा प्रभाव तें, कोऊ भाग्य निधान । आत्मसिद्धि कहँ पावहीं, ताही समय सुजान ॥९८४॥
सूर्य उदय तें होत जिमि, अंधकार उजियार । दीप संग कर्पूर जिमि, दीपहि करत उदार ॥९८५॥
उदक होय कणिका लवण, उदक परै तिहिं ठौर । देखि परत कछुँ लवण नहीं, बुद्धिमान सिर मौर ॥९८६॥
निद्रित जन जागृति लहै, नींद स्वप्न सह खोय । निज स्वभाव कहँ प्राप्त करि, रहि जैसे मुदमोय ॥९८७॥
दैव सुयोगहिं कोउ तिमि, गुरु वच श्रवन प्रभाव । द्वैत भेद को नाश करि, स्वस्वरूप थिति पाव ॥९८८॥
कर्म करन तिहिं शेष है, कौन कहहि इमि बात । जिमि व्यापक आकाश कहँ, कहियो इत उत जात ॥९८९॥
सो कर्तव्य न रहत कछु, निश्चय ताकहँ तात । किंतु कथंचित जन के विषय, ऐसी थिति दरसात ॥९९०॥
कौनहु एक अनूप, उत्तम अधिकारी पुरुष । होयहिं ब्रह्मस्वरूप, गुरु वच निज भुल भेंट गहि ॥९९१॥
जो स्वकर्म की अग्नि तें, ईंधन काम्य निषिद्ध । रज तम उभय जराय दिय, प्रथमहिं सकल सुबुद्ध ॥९९२॥
सुख संपति परलोक भय, ताकी जो अभिलाष । सो घर की दासी बनी, रहि स्वाधीन स्वप्राश ॥९९३॥
इंद्रिय विषय निषिद्ध तें, चिटलीं भिन्न प्रकार । करि पवित्र तीरथ परम, योग सु प्रत्याहार ॥९९४॥

ईश्वर अर्पण करत सब, निज स्वधर्म आचार । प्राप्त करत वैराग्य पद, अक्षय परम उदार ॥९९५॥
आत्म करत प्रत्यक्ष जो, ज्ञान दशा उत्कृष्ट । सामग्री तिहिं लाभप्रद, मिलत सकल जो इष्ट ॥९९६॥
ऐसे उत्तम समय महँ, सद्गुरु मिलें दयालु । शिष्यहिं वंचित करत नहिं, करिके कृपा विशालु ॥९९७॥
औषधि का सेवन करत, पूर्ण लाभ निज ठाँव । किमि सूर्योदय के समय, लहि मध्यान्ह प्रभाव ॥९९८॥
उत्तम भूमि अरु बीज पुनि, ओल भली तिहि माँहि । यदपि मिलै उत्तम उपज, पै मिलिहै समयाँहि ॥९९९॥
जो लहि इष्ट ठिकान सुगम मार्ग सत्संग मिलि । लगि है अवशि सुजान, मार्ग चलत में समय पुनि ॥१०००॥
जाहि मिलै वैराग्य तिमि, सद्गुरु मिलैं सुजान । अंकुर कढ़ै विवेक के, अंतःकरन ठिकान ॥१००१॥
एक ब्रह्म ही सत्य है, इतर समझ भ्रम रूप । साधक दृढ़ निश्चय करत, ऐसो तिहिं अनुरूप ॥१००२॥
सर्वोत्तम व्यापक सकल, परब्रह्म सुखरूप । मोक्ष शब्दहु रहत नहीं, जिहिं ठिकान गुरुभूप ॥१००३॥
जगत अवस्था तीनि जो, ज्ञान उदर महँ जात । सोइ ज्ञान तिहिं वस्तु महँ, आपुहिं आप समात ॥१००४॥
ऐक्यहु इकना रहत नहीं, आनंद कणहु विलीन । कतहुँ बचत नहिं करषित हूँ, रहि इक शेष प्रवीन ॥१००५॥
सोई ब्रह्महि ऐक्यपथा, ब्रह्महि ह्वै रहि जाय । पै अर्जुन क्रम सों किये, पावत ताहि स्वभाय ॥१००६॥
क्षुधित पास पक्वान्न की, थाल परोसे आन । प्रति ग्रासहिं मिलि तृप्ति पुनि, पूर्ण तृप्ति जिमि मान ॥१००७॥
आश्रय करि वैराग्य कर, दीप विवेक प्रकास । आत्मस्वरूपी निधि लहत, अर्जुन अपने पास ॥१००८॥
सो लहि पूर्ण समृद्धि, जाके अंग अखंडता । होय योग्यता सिद्धि, आत्मरूप ऐश्वर्य की ॥१००९॥
सुगम होत है ब्रह्म की, पूर्ण प्राप्ति जिहिं कर्म । सो भाषत हौं श्रवण करु, पार्थ सु क्रम को धर्म ॥१०१०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

अर्थ—अतिशय शुद्ध सुबुद्धियुत, धृति करि नियमन चित्त ।
शब्दादिक सब विषय तजि, रागद्वेष सह भित्त ॥५१॥

सद्गुरु पथ स्वीकार करि, तीर्थ विवेकहिं तीर । सकल बुद्धि मल धोय करि, दूरि करै रणधीर ॥१०११॥

उगलि राहु तें लखि, प्रभा, जिमि आलिंगत चंद्र । निर्मलता लहि बुद्धि तिमि, लहै आत्म नर-इंद्र ॥१०१२॥
अहँ भाव तजि उभय कुल, साध्वी पति अनुसार । बुद्धि स्वचिंतन रत रहै, त्यागि द्वैत व्यवहार ॥१०१३॥
सकल इंद्रियन प्रिय विषय, शब्दादिक व्यवहार । क्रमहिं निरंतर थोर करि, पार्थ ज्ञान आधार ॥१०१४॥
सूर्य किरण के विलय जिमि, मृगजल जाँय विलाय । तिमि धैर्यहिं के रोध तें, पाँचहु विषय नशाय ॥१०१५॥
अधम अन्न को खाय करि, जैसे वमन कराय । इंद्रिय विषय सवासना, वमन करैं बिकलाय ॥१०१६॥
अंतर मुख रूपी सुभग, गंगा तट धृति लाय । प्रायश्चित्त नहान करि, इमि अर्जुन सकुचाय ॥१०१७॥
इंद्रियगन समुदाय, नंतर सात्विक धैर्य तें । योग धारणा लाय, करि शोधन पुनि मन सहित ॥१०१८॥
जो प्रारब्धहिं मिलत है, प्रिय अप्रिय कछु भोग । तिन्ह महँ अप्रिय भोग तें, करि न द्वेष तिहिं योग ॥१०१९॥
किंवा जो सहजहि सुखद, प्राप्त होय सुख भोग । अभिलाषा सो करत नहिं, अर्जुन ता प्रिय योग ॥१०२०॥
इहिं विधि इष्ट अनिष्ट वपु, राग द्वेष अभिलाष । तिहि तजि वसि हिय गिरि गुफा, अथवा कुंज निवास ।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अर्थ—संग रहित, मित भोजनी, वच तन मन स्वाधीन ।
ध्यान योग तत्पर सदा, वैराग्याश्रयलीन ॥५२॥

जगत कुतूहल त्यागि पुनि, वन थल करहि निवास । निज अँग अवयव तें मुदित, बसि अकेल बिन आस ॥
केवल शम दम लक्ष्य है, मौनहि बोलब तासु । मनन करैं सद्गुरु वचन, इतर न समय गुपास ॥१०२३॥
आपुनि अंगहि बल बढ़ै, छुधा निवारण होय । जीह मनोरथ पूर्ण भनि, ताहि न चिंतन सोय ॥१०२४॥
अर्जुन भोजन के विषय, तीनहु बातें त्यागि । संतोषित आहार मित, माप नहीं तिहिं लागि ॥१०२५॥
अशन मिलै जठराग्नि नहिं, तो नाशत है प्रान । केवल रक्षण प्राण हित, भोजन करत सुजान ॥१०२६॥
जार पुरुष इच्छा करत, कुल तिय वश नहिं आय । निद्रा आलस ताहि की, आसन सकि न डिगाय ॥१०२७॥
अवयव भू छूवै जाय, जब करि ईश्वर दंडवत । गिरैं न अंग झुमाय, ता सिवाय अविचार तें ॥१०२८॥

केवल तन निर्वाह हित, चालत कर अरु पाँय । कि बहुना अंतर बहिर, सब स्वाधीन कराय ॥१०२६॥
जाकी वृत्ति न जा सकै, मन दिहरी पर्यन्त । सह वाणी व्यापार कहँ, अवसर नहिं रिपु अंत ॥१०३०॥
अर्जुन तन वाणी मनहिं, इहिं प्रकार तें जीति । ध्यानाकाशाधीन करि, अभय रहत तजि भीति ॥१०३१॥
जिमि दरपन निज हाथ लैं, देखत अपनो रूप । गुरु वाक्यन के बोध तिमि, निश्चय आप स्वरूप ॥१०३२॥
स्वयं ध्यान करि वृत्ति महँ, होय ध्यान को रूप । निज को ध्येय बनाय तिहि, ध्यान करै अनुरूप ॥१०३३॥
अहै एकरूपत्व नहि, ध्याता ध्येयरु ध्यान । अर्जुन तबलौं करते हैं, निज स्वरूप को ध्यान ॥१०३४॥
विषै आत्म-विज्ञान के, होय मुमुक्षु मुदक्ष । पै अर्जुन तिहिं मिलति है, योगाभ्यास सपक्ष ॥१०३५॥
शिश्नरु गुद द्वै मध्य, चरण मूल तें दाबि कै । मूलबंध को सिध्य, तातें अर्जुन करत सो ॥१०३६॥
अधोभाग सकुचन करि, दै करि तीनहु बंध । करत एक सम वायु को, भेदन पवन प्रबंध ॥१०३७॥
कुंडलिनी जागृत करै, ह्वै मध्यमा विकासु । भेदत चक्राधार लगि, आज्ञा चक्रहिं पासु ॥१०३८॥
जलद सहसदल कमल तें, उत्तम अमृत वर्षि । आवत पूर सुपूर्ण ह्वै, मूलाधाराकर्षि ॥१०३६॥
नाचत मूर्धाकाश वपु, पुण्य शैल पर जाय । चिद् भैरव खर्पर पवन, मन की खिचड़ी लाय ॥१०४०॥
इहि प्रकार एकत्र करि, योग बंध बलवान । आगे तिहिं आश्रय करत, स्वयं सुनिश्चित ध्यान ॥१०४१॥
ध्यानहु योगहु एक करि, आत्मतत्त्व के ज्ञान । करि प्रवेश निर्विघ्न तहँ, प्रथमहिं मित्र सुजान ॥१०४२॥
सखाभाव दृढ जोड़ कर, वीतराग सम मीत । प्राप्त रहति सब भूमिका, सखा संग करि प्रीत ॥१०४३॥
देखन योग्य दिखाय तब, जब न दीप तजि संग । यदि दृष्टिहिं दीपक मिलै, तो किमि कठिन प्रसंग ॥१०४४॥
किमि न मोक्ष कुरुराय, तब लौं सँग वैराग्य को । वृत्ति ब्रह्मलय पाय, जाके मोक्ष प्रवृत्ति की ॥१०४५॥
यदि शुभाग्य वैराग्य सह, ज्ञानाभ्यास ठिकान । आत्मलाभ के योग्य ह्वै, निश्चय सो मतिमान ॥१०४६॥
कवच वज्र वैराग्य को, धारत कै निज अंग । अर्जुन असवारी करहि, राजयोग सु तुरंग ॥१०४७॥
दोष सकल छोटे बड़े, पड़ैं दृष्टि मैं आन । काटै बुद्धि विवेक दृढ़, तिन्हहिं खड्गवपु ध्यान ॥१०४८॥
अंधकार महँ प्रविशि रवि, जैसे करि उजियार । मोक्ष विजय श्रीवर लहै, प्रविशै रणसंसार ॥१०४६॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अर्थ—छाँड़ि अहंता, दर्प, बल, क्रोध, परिग्रह, काम ।
पुनि ममता बिन शांत ह्वै, ब्रह्मरूप परिणाम ।।५३।।

आड़े आवैं दोषरिपु, मारि भगावै ताहि । अहँकार तन जानिये, प्रथम शत्रु सब माँहि ।।१०५०।।
जो हनिके हु तजत नहिं, उपज्यो जियँन न देय । अस्थिछिद्र के भीतरहु, ठूँस ठूँस भरि देय ।।१०५१।।
अहंकार के रहन को, फोड़त दुर्ग शरीर । दूजो रिपुबल जानिये, मारत ताहि गॅभीर ।।१०५२।।
नाम सुनत ही विषय को, जो चौगुन बल माय । ता प्रभाव सब विश्व महँ, मरण अवस्था छाय ।।१०५३।।
सकल दोष नृप जान, सर्व विषय विष के सदन । धार खड्गवपु ध्यान, जाहि न कँगहु सकि सकत ।।१०५४।।
सुख उपजै प्रियवस्तु की, प्राप्ति भये कुराय । आच्छादित ह्वै देह में, अर्जुन सो प्रगटाय ।।१०५५।।
औ' सन्मार्ग भुलाय कै, बन अधर्म लै जाय । नरक आदि वपु व्याघ्रमुख, देय धनंजय राय ।।१०५६।।
गर्वहि मारिय तृतीय रिपु, जो घातक विश्राम । तापसजन काँपैं सदा, रहैं न ताके पास ।।१०५७।।
दोष भयंकर है क्रुधा, देखहु तिहिं परिणाम । भरे अधिक बाढ़त रहै, रीतो होय निकाम ।।१०५८।।
सकल काम को नाश करु, रहै न ताको ठाँव । सहजहि क्रोध नशाय है, शेष न ताको नाँव ।।१०५९।।
नासे मूलहिं होत है, जिमि साखा को नास । काम नसे ते हो अशशि, क्रोध समूल बिनास ।।१०६०।।
काम प्रखर अरि हनिय जिहिं, होवै ठीक ठिकान । तो क्रोधहु अति सहज ही, दूर होय मतिमान ।।१०६१।।
नृप प्रथा जिहिं बेड़ी चरण, सिरहि धरावत ताहि । होय प्रतिग्रह रिपु फुरण, तिमि मनुष्य मन माँहि ।।१०६२।।
अवगुन थँग संचार, जो निज माथ हलावतहिं । जीवहि बारंबार, दड धराय ममत्व को ।।१०६३।।
शिष्यहु शास्त्र बिलास अरु, मिष मठ मुद्रा केर । निःसंगहु जन आहि तें, परैं कुकुप कुफेर ।।१०६४।।
घर कुटुम्ब कहँ त्यागि इत, बन महँ ममता लाय । लिपटि परिग्रह जाय पै, नगनहु जन के काय ।।१०६५।।
नाशि परिग्रह दुर्जयहिं, धनि कै ठाँउ ठिकान । विजय विश्व उत्साह सुख, भोगि मुमुक्षु सुजान ।।१०६६।।

अमानित्व आदिक सकल, ज्ञान सुगुण समुदाय। मोक्ष देश तें नृपति सम, आवत तिहि ढिग धाय ॥१०६७॥
अर्पन सम्यग् ज्ञान करि, मानत मोद अपार। साधक अंग निवास कर, ह्वै करि तिहि परवार ॥१०६८॥
यदि प्रवृत्ति नृपमार्ग चलि, जागृतादि त्रय नारि। तहँ प्रतिपद निज सुखहिं को, करति निछावर भारि ॥१०६९॥
ज्ञान लकुटि गहि बोध तहँ, दृश्य भीड़ कहँ टारि। योग भूमिका नारि सब, करि आरती सँभारि ॥१०७०॥
ऋद्धि-सिद्धि के वृन्द बहु, मिलैं ताहि सुप्रसंग। पुष्प वृष्टि तिन की मनहुँ, नहवावत सब अंग ॥१०७१॥
आवत जात समीप, जिमि स्वराज्य प्रशंकता। हर्षहिं भरे महीप, तीनों भवन दिखाय तिमि ॥१०७२॥
अर्जुन वैरी मित्र 'मम, तेरो' करि इहिं जान। रहत न तिहि उर तिहि समय, कथनयोग्य मतिमान ॥
अद्वय ह्वै करि किमि कहै, यह 'मेरो' अस बात। दूजो ताहि दिखात नहिं, किहि मिस किमि कहि जात।१०७४॥
आपनि सत्ता ऐक्य तें, व्यापक विश्व भराय। 'मेरो' कहै प्रसंग नहिं, ममता निपट नजाय ॥१०७५॥
जग कहँ आप स्वरूप लखि, इहि विधि रिपु दल जीति। योग अश्व थिर आपही, अर्जुन ऐसी रीति ॥१०७६॥
कवच सुदृढ़ वैराग्य वपु, लाग्यो जो निज अंग। सो ढीलो ह्वै आप तब, अर्जुन तासु प्रसंग ॥१०७७॥
सन्मुख लावै न ध्यान असि, दूजो मारन जोग। तातें लौटे खड्गभुज, कापै करहिं प्रयोग ॥१०७८॥
ज्यों दिव्यौषधि काज निज, करिकै रोग विनास। पुनि आपुही विलीन ह्वै, तैसो ही इत भास ॥१०७९॥
धावन हारहू रुकत जिमि, लखि निज ठाँव ठिकान। तिमि लहि ब्रह्मस्वरूपता, गति अभ्यास रुकान ॥१०८०॥
जिमि समुद्र मिलि आप, गंगा गति त्यागे सुभग। थिर होवै तजि ताप, कामिनि प्रीतम पास जिमि ॥१०८१॥
केला के फल समय जिमि, तरु की बाढ़ रुकाय। पहुँचत ग्रामहिं मार्ग जिमि, ह्वै समाप्त कुरुराय ॥१०८२॥
निश्चय होय मुमुक्षु कहँ, निकट आत्म प्रत्यक्ष। साधनरूपी शस्त्र सब, लाघव धरैं समक्ष ॥१०८३॥
समय एकता ब्रह्म के, साधन सकल विलाँय। ते न रहत तिहि पास मैं, सुनु अर्जुन राजराय ॥१०८४॥
गोधूली वैराग्य की, बाढ़ ज्ञान अभ्यास। दशायोग परिपाक फल, अर्जुन प्रगट प्रकास ॥१०८५॥
अर्जुन ऐसी शांति यह, प्रगटति ताके अंग। ब्रह्म होन की योग्यता, निश्चय तासु प्रसंग ॥१०८६॥
ज्यों पूनों ते न्यून कछु, चौदस माँहि प्रकास। सोलह आना स्वर्णकस, पंद्रह आना भास ॥१०८७॥
गंग मिलाय समुद्र महँ, पानी उभय समान। वेग जहाँ लगि गंग अरु, शांत सागरहिं जान ॥१०८८॥

अर्जुन अहारु अज्ञाता, में कछु शेष विकास । शांति योग तें लहत सो, त्वरितहि पूर्ण प्रकाश ॥१०८९॥
कहत सुनहु करि प्रीति, ताहि ब्रह्म की योग्यता । लहि तद्रूप प्रतीति, जो तद्रूप न होइ कै ॥१०९०॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

अर्थ—आतमवपु अन्तः सुखी, शोक वासना हीन ।
समता सब संसार महँ, परा भक्ति मम लीन ॥५४॥

अर्जुन जो नर योग्यता, ब्रह्मभाव की पाय । आतम ज्ञान प्रसाद कें, पद पर बैठे आय ॥१०९१॥
अग्नि ताप तें अन्न को, जेंवन होय तयार । शांत भये ते उष्णता, जिमि प्रसन्न जिवनार ॥१०९२॥
शरदकाल में पार्थ जिमि, पूरहिं त्यागति गंग । गायन भये समाप्त जिमि, बाध उपांग स-अंग ॥१०९३॥
उद्यम आत्मज्ञान में, जो श्रम करि भरपूर । सोई समता शान्त लहि, अर्जुन सब सुख पूर ॥१०९४॥
आतम प्रबोध प्रसन्नता, तासु दशा की ख्याति । भोगति बुद्धि निधान सो, जाहि योग्यता पाति ॥१०९५॥
करहि वासना मिलहि यह, शोक कि यह मम आय । ताहि भाव सब गरल सम, भाव पूर्णता पाय ॥१०९६॥
सूर्य उदय तें पार्थ जिमि, सब नक्षत्र स्वअंग । तेजहीन ह्वै जात हैं, तैसहि यहाँ प्रसंग ॥१०९७॥
उठै आतम उपलंभ सब, भूत व्यवस्था भेद । देखत यह जहँ तहँ मुकत, भेद होत विच्छेद ॥१०९८॥
जिमि कर तें पुछि जाय, अक्षर पाटी में लिखे । भेदांतर बिनसाय, तैसहि ताकी दृष्टि तें ॥१०९९॥
ज्ञान विरुद्धहिं रहत जो, जागृति स्वप्न प्रबीन । तिन दोनहुँ को लय करत, अव्यक्तहिं आधीन ॥११००॥
आतम बोध बढ़ाव जिमि, पूर्ण प्रबोध समस्त । ज्ञान अन्यथा लीन करि, आतम प्रबोध प्रशस्त ॥११०१॥
क्षुधा जाय प्रति ग्रास जिमि, भोजन के व्यापार । तृप्ति प्राप्ति तें पार्थ तिमि, नाशत क्षुधा विकार ॥११०२॥
चलत चलत मग पार्थ जिमि, शेष अल्प नियरात । अरु ठिकान पहुँचै जबहि, सब समाप्त ह्वै जात ॥११०३॥
जिमि जिमि जागत जात है, तिमि निद्रा नसि भूप । सब निद्रा तब ही नसै, जागि लहै निजरूप ॥११०४॥
चंद्रहि लहि जिमि पूर्णिमा, पूर्णरूप ह्वै आप । शुक्लपक्ष बीते घटत, शेष न बचत प्रताप ॥११०५॥

ज्ञाता ज्ञेयरु ज्ञान में, पार्थ करै लवलीन । तब अबोध निःशेष ह्वै, त्रिपुटी मो महँ लीन ॥११०६॥
अवसर जिमि कल्पाँत के, नदी सिंधु नहिं भेद । ब्रह्म लोक पर्यंत जल, रहत न कछु विच्छेद ॥११०७॥
शेष इकहिं आकाश, नाना घट मठ के नसे । पेखत अग्नि प्रकाश, अग्नि होय जलि काष्ठ जिमि ॥११०८॥
अलंकार जिमि स्वर्ण के, साँचा माँहि गलाय । नाम रूप के भेद नसि, केवल स्वर्ण दिखाय ॥११०९॥
जागे तें जिमि पुरुष के, स्वप्न प्रपंच विलाँय । केवल आपहि रहत है, आपहिं लखै सुभाय ॥१११०॥
केवल एकहि शेष में, ताहि सहित कछु नाँहि । इहिं विधि मेरी चौथवीं, भगति लहत मम पाँहि ॥११११॥
अपर आर्त जिज्ञासु अरु, अर्थार्थी जिहिं रीति । मोहि भजैं तिहिं पेखि कह, चौथी भक्ति सप्रीति ॥१११२॥
चौथी तीसरि दूसरी, पहिलीहू नहिं होय । पै मेरी सहज स्थितिहिं, भगति कहै तिहिं सोय ॥१११३॥
जो अज्ञान प्रकाश मम, मुहिं लखि भाव अरीति । सब मन कहँ मम भक्ति कहँ गम भासत भ्रम रीति ॥१११४॥
जो जहँ जिमि देखो चहत, तहँ तैसो दरसाय । लखत अखंड प्रकाश के, उजियारे कुहराय ॥१११५॥
देखब स्वप्न असत्य को, निर्भर निज अस्तित्व । तैसे तासु प्रकाश तें, उत्पति अरु लय विश्व ॥१११६॥
करु कपिकेतु विचार, तेमहि सहज प्रकाश मम । अपि मुनि संत उदार, भक्ति कहत हैं ताहि को ॥१११७॥
करत अपेक्षा जासु की, सोई मैं हूँ पार्थ । आर्त भक्त के ठाँव में, भक्तिहि आर्ति पदार्थ ॥१११८॥
जानन की इच्छा सुभग, अरु जानब हौं रूप । जिज्ञासुन्ह में जानिये, मैं ही सो मम रूप ॥१११९॥
अर्जुन इच्छा अर्थ की, अर्थरु अर्थी जान । करि के साधन अर्थ को, अर्थ नाम मम मान ॥११२०॥
इहिं विधि जो अज्ञान तें, करैं हमारी भक्ति । मैं साखी सब जगत को, धरैं दृश्य की पंक्ति ॥११२१॥
दर्पन में मुख तें मुखहिं, पेखै संशय नाँहि । पै मिथ्या दूजोपनो, दर्पन ते मन जाँहि ॥११२२॥
चंद्र एक ही सत्य है, दृष्टिहिं देखत एक । तिमिर प्रभृति जे रोग हैं, तिन तें दिखत अनेक ॥११२३॥
अर्जुन मैं ही लखत हौं, निज को सर्व ठिकान । भक्तियोग तें भिन्नता, कारण वश अज्ञान ॥११२४॥
नासत इत अज्ञान सब, व्यापकपनहि मिलाय । जिमि प्रतिबिंब विलात हैं, निज बिंबहिं मिलि जाँय ॥११२५॥
शुद्ध रहै अरु सौन, मिश्रित वस्तु निकारि कै । तबहु कहावत सौन, सोना जब मिश्रित रहहि ॥११२६॥
निशि सुपूर्णिमा रहित का, चंद्र रहै नहिं सांग । पै भेटत है पूर्णता, पूनो सांगोपांग ॥११२७॥

दिखत ज्ञान के द्वार में, भिन्न दृश्य के रूप। और उपाधि विलीनता, आपुहिं प्राप्त स्वरूप ॥११२८॥
जगत दृश्य पथ के परे, मेरी भक्ति सुयोग। ताको चौथो मैं कहत, अर्जुन गुनिबे जोग ॥११२९॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

अर्थ—जैसो मैं हौं तिमि लखै, भक्ति योग तें पार्थ।
पुनि पै है मद्रूपता, जाने मोहिं यथार्थ ॥५५॥

सहज ऐक्य वपु भक्त ह्वै, ज्ञान भक्ति मम माँहि। सो केवल मद्रूप ही, प्रथम गुन्यो मो पाँहि ॥११३०॥
ज्ञानी है मम आतमा, प्रण करि भुजा उठाय। अर्जुन तुम तें मैं कह्यो, मत्रहनें अध्याय ॥११३१॥
अर्जुन कल्पारंभ में, सिप भागवत बनाय। प्रमुख भक्ति उपदेश में, कह्यो विधिहिं मम काय ॥११३२॥
आत्मज्ञान ज्ञानी कहत, शैव बखानत शक्ति। अर्जुन मैं तिहि कहत हौं, प्रेम लक्षण भक्ति ॥११३३॥
अर्जुन अवसर मम मिलन, क्रम योगिहिं फल वस्तु। ओतप्रोत मोतें भरयो, देखे विश्व समस्तु ॥११३४॥
नसत विराग विचार सह, नसत मोक्ष सह बंध। आवागवनहु नसत सब, रहै न कछु संबंध ॥११३५॥
ऐसे पैले पार को, भेद न कतहूँ भास। छिति जल पावक पवन जिमि, लीन होत आकाश ॥११३६॥
साध्यरू साधन तें परे, जो मम शुद्ध स्वरूप। सो मेरो उपभोग लहि, मोतें ह्वै इक रूप ॥११३७॥
अर्जुन अंग समुद्र मिलि, पृथक सुशोभित गंग। लहि सुभक्त मद्रूपता, सोहत मोरे संग ॥११३८॥
उभय आरसी स्वच्छ धरि, निरखैं एकहिं एक। तिमि मेरो उपभोग सुख, लहै सुभक्त विवेक ॥११३९॥
अर्जुन लहै निहारि कै, दर्पण मुख प्रतिबिंब। तजि दर्पण आस्वाद लहि, जिमि सुभक्त निजबिंब ॥११४०॥
स्वप्न नसे जागृत भये, देखत अपनो रूप। ऐक्यभाव दूजो बिना, भोगत तिहिं अनुरूप ॥११४१॥
जो उपभोगै ऐक्य तिहिं, कहि यह घटित न होइ। तो किमि बोले बोल यह, उच्चारन करि सोइ ॥११४२॥
देखैं जाके ग्राम महँ, रवि को दीप प्रकाश। अथवा मंडप घालि कै, पार्थ धरै आकास ॥११४३॥
किमि सुख भोगै राज, नृप अँग नहिं राजत्व जो। करै भानु दिनराज, आलिंगन अँधियार किमि ॥११४४॥

अरु न होय आकाश तो, किमि जानै आकास । गुंजाभूषण माँहि किमि, रत्न स्वरूप प्रकास ।।११४५।।
जो मद्रूप न होय सो, मो कहँ कित किमि जान । पुनि मो कहँ कैसे भजहिं, बोलत कैसे मान ।।११४६।।
सुख मम हो मद्रूप ह्वै, इहिं क्रम योगी भोगि । तरुणी ज्यों तारुण्य को, निज अंगहि उपभोगि ।।११४७।।
चुंब तरँग सर्वांग जल, बिंबहि प्रभा विलास । सर्वत्रहि किया नभहिं व्यापत जिमि अवकास ।।११४८।।
इहि प्रकार मद्रूप ह्वै, मुहि भज क्रिया विहीन । अलंकार जिमि सहज ही, भजै सुवर्न प्रवीन ।।११४९।।
चंदन कहँ आपहि भजै, चंदन केरि सुवास । भजहि चंद्रमहिं प्रकृतिवस, जिमि चंद्रिका प्रकास ।।११५०।।
नसहि क्रिया तिमि भक्तिवर, है अद्वैत प्रवीन । यह तो अनुभव योग्य है, शब्दशक्ति अतिहीन ।।११५१।।
अर्जुन सो प्रारब्धवस, जो कछु बोलै बैन । ताकी बिनती गुनि कहत, 'ओ' अग करुना ऐन ।।११५२।।
जहँ इक बोलनहार, घटित होय नहि बोलिबो । मम गुरुतवन विचार, वास्तव मैं वह मौन है ।।११५३।।
सो बोलै जो बोल मम, मैं भेंटत हो पार्थ । मौन होय बोलत अहै, मम गुरुस्तुति तत्त्वार्थ ।।११५४।।
अर्जुन तिमि बुधि दृष्टि तैं, जो कछु देख्यो जाय । देखत लोपत दृष्टि कहँ, दिखनहार दरसाय ।।११५५।।
देखैं दर्पण तें मुखहिं, सो देखव अस होय । देखत आपुन दृष्टि तें, आपुन ही मुख सोय ।।११५६।।
दृश्य लुपित ह्वै दृष्टि अरु, द्रष्टा मिलत न यथार्थ । इकलेपन तें घटत नहि, सो द्रष्टापन पार्थ ।।११५७।।
स्वप्नहि प्रिया निहारि प्रिय, पुनि जागृति कहँ पाय । स्वप्न प्रिया दोनों नहीं, केवल आप रहाय ।।११५८।।
उभय काष्ठ घर्षण किये, प्रगट होय जिमि अग्नि । दोनों काष्ठ जलाय जिमि, शेष रहै इक वन्हि ।।११५९।।
किधा जो निज हाथ तें, गहे जाय प्रतिबिंब । तो प्रतिबिंब नसाय करि, स्वयं नसत है बिंब ।।११६०।।
गहै जाय कै दृश्य कहँ, अर्जुन ह्वै मद्रूप । दृश्य मिलै नहि ताहि कहूँ, द्रष्टा हू लय भूप ।।११६१।।
द्रष्टा दृश्य विलीन, अर्जुन ह्वै मद्रूपता । रवि प्रकाश महँ लीन, जिमि अँधियार प्रकाश्यता ।।११६२।।
देखंत हू देखै नहीं, ऐसी थिति उत्पन्न । अर्जुन सत्यहि होय तब, मेरो दरस अभिन्न ।।११६३।।
द्रष्टा दृश्यातीत वपु, दृष्टि लखै जिहि वस्तु । अर्जुन सो भोगै सदा, मम दर्शन सुख अस्तु ।।११६४।।
जैसे दावे गगन के, दबत नहीं आकाश । तिति मम आत्म-स्वरूपता, आपहिं आत्म प्रकाश ।।११६५।।
कल्पान्ते जग उदकमय, रुकैं न बहै प्रवाह । तिमि आतमहि मम एकता, इक रस भरयो अथाह ।।११६६।।

किमि पग नाँघै पाँव निज, अग्नि अग्नि कहँ जारि। नीर नहावहि नीर किमि, अर्जुन ताहि बिचारि ॥११६७॥
सकल होय मैं सर्व महँ, रोके आवन जान। मम अद्वय भगवान की, सोई यात्रा जान ॥११६८॥
सहित वेग धावै यदपि, जिमि जल माँहि तरंग। पै धावै भूभाग में, कबहुँ नहीं प्रसंग ॥११६९॥
अर्जुन जो त्यागी गहै, चलै चलाय प्रसंग। यह कारण सब जलहि को, इक जलरूप तरंग ॥११७०॥
जल तरंग इक रूप, उदकपनो नहिं जाय कहुँ। विलय होय नरभूप, कहुँ, तरंग धावै कहुँ ॥११७१॥
इहिं प्रकार मद्रूप ह्वै, आवै मोपन माँहि। यात्रा भली सराहिये, यानी मेरे आँहि ॥११७२॥
यदि स्वभाववश देह के, आरंभहि कछु काज। ताको मेटौ ताहि मिष, मैं सुनिये कुरुराज ॥११७३॥
कर्महु औ कर्ता दुऔ, अर्जुन होय विलीन। आतमरूप तें मोहि लखि, ह्वै मद्रूप प्रवीन ॥११७४॥
दर्पन तें दर्पन निरखि, यह न देखिबो होय। सोनो झाँकै स्वर्ण को, यह झाँकब नहिं सोय ॥११७५॥
दीप प्रकाशौ दीप तें, सो न प्रकाशब होय। कर्म करै मद्रूप ह्वै, कर्म करब किमि सोय ॥११७६॥
कर्म सदा करतहि रहै, कर्तापन न कहाय। तो अर्जुन ताको कियो, कियो नहीं गनि जाय ॥११७७॥
सकल क्रिया मद्रूप ह्वै घटित न करिबो ताहि। सांकेतिक पूजा सु मम, कहँ नाम सब याहि ॥११७८॥
यातें अर्जुन मम क्रिया, करहि यथाविधि सांग। अनकर्ता, पूजा महा, उपजै सांगोपांग ॥११७९॥
जो देखै मम दर्श, जो बोलै सुस्तवन मम। मम अद्वैतादर्श, मम यात्रा चलि जो पगनि ॥११८०॥
करहि सुपूजा होय मम, जो कल्पै जप सोर। मम समाधि ताकी दशा, पार्थ भक्त-सिर-मौर ॥११८१॥
कंचन कंचन कंकणहिं, भेद न कछू दिखाय। भक्तियोग तें मोहि अरु, भक्त न भेद लखाय ॥११८२॥
उदक और कल्लोल महँ, जिमि सुगंध कपूर। रत्न और ताकी प्रभा, हैं अनन्य नृपशूर ॥११८३॥
कधिक कहा जिमि तंतु पट, घट मृत्तिका सुजान। ओतप्रोत तिमि मोहि महँ, भक्त रहैं मतिमान ॥११८४॥
द्रष्टा मोमय जगत लखि, दृश्यमात्र महँ धन्य। अर्जुन जानो अस सुमति, कारण भक्ति अनन्य ॥११८५॥
अर्जुन त्रय पय योग तें, पावहि दृश्य प्रतीत। भाव अभाव उपाधियुत, अरु उपाधियपू मीत ॥११८६॥
द्रष्टा मैं सब हीं सुभग, ऐसे बोध भराय। आनँद अनुभव आत्म के, नाँचै कुरुपति राय ॥११८७॥
निरखि रज्जुभय होत है, व्यालरूप के भास। पुनि निश्चय तें रज्जु के, सर्पाकार विनास ॥११८८॥

अर्जुन स्वर्ण दिखाय, निर्धारित भूषण गले। तहाँ नहीं दरसाय, गुंजाभरहु न और कछु ॥११८९॥
नीर सिवाय न इमि कछू,वस्तु नहीं यह जान। ग्रहण करत आकार नहिं,अर्जुन निश्चय मान ॥११९०॥
किंवा स्वप्न विकार सब, जागे देखै कोइ। तो आपुहिं तजि और कछु, पार्थ न देखै सोइ ॥११९१॥
कछु जग में है वा नहीं, फुरन होय गुज्ञेय। 'मैं ज्ञाता' परतीति यह, ते भोगै कौंतेय ॥११९२॥
जानैं अर्जुन अज अजर, अक्षय अक्षर मोहि। अरु अपूर्व पारहु रहित, आनद रूपी जोहि ॥११९३॥
अच्युत अचल अनंत मैं, अरु अद्वैत विचार। अर्जुन सबको आदि मैं, निराकार साकार ॥११९४॥
ईश्वर सब को अमर अरु, आदि रहित भयहीन। सब आधाराधेय मैं, अर्जुन सुनहु प्रवीन ॥११९५॥
स्वामी मैं उदित सदा, मैं ही सहजहु नित्य। मैं ही सर्वरु सर्वगत, सर्वातीत गुसत्य ॥११९६॥
सपूर्णहु अरु शून्य मैं, अणु थूलहु मैं जान। जो कछु सो मैं जानिये, मैं ही नयो पुरान ॥११९७॥
जानहु मोहिं असंग, अक्रिय एक अशोक मैं। पुरुषोत्तम श्रीरंग, मैं व्यापक अरु व्याप्य मैं ॥११९८॥
सम स्वतन्त्र पर ब्रह्म मैं, शब्दातीत अश्रोत्र। अर्जुन किमि वर्णन करौं, जासु अरूप अगोत्र ॥११९९॥
आतम इक मैं वस्तुतः, अद्वय भक्ति सुजान। अरु ज्ञाता इहिं बोध को, अर्जुन मो कहँ जान ॥१२००॥
जागृति नंतर आपुनो, ऐक्यभाव प्रगटाय। निजहि होय गुस्फुरण तिहिं,निजमहँ जिमि कुरुराय ॥१२०१॥
सूर्य प्रकाशित होय पुनि,होय प्रकाशक भानु। निज तें द्योतक भिन्न नहिं, अर्जुन रवि को जानु ॥१२०२॥
केवल ज्ञाता शेष इक, ज्ञेय वस्तु ह्वै लीन। सोई जानत निजहिं को, ऐसो जान प्रवीन ॥१२०३॥
अद्वयपन ते आपुहीं, ज्ञान कला कहँ जान। सो मैं ही ईश्वर परम, पार्थ प्रतीति प्रमान ॥१२०४॥
जहाँ द्वैत अद्वैत तें, परे आतम निर्भ्रान्ति। जानैं ऐसो ज्ञान तिहिं, अनुभव आत्मिक शान्ति ॥१२०५॥
जागे देखै एकपन, आपहिं आप स्वरूप। नसै द्वैत किमि कहि सकै, कैसे होवै रूप ॥१२०६॥
देखत दृष्टिहिं मात्र, जिमि सुवर्णता स्वर्ण की। आपुन ही मन-पात्र, अलंकार के नाश बिन ॥१२०७॥
क्षार रहत है नीर महँ, यदपि लवण जल होय। जल नासे जलरूपहू, नासै अर्जुन सोय ॥१२०८॥
जो मैं तू को भेद अस, निज अनुभव आनंद। करि प्रवेश मद्रूपता, एकाकृति स्वच्छंद ॥१२०९॥
जहाँ भाव दूजो नसै, तहँ 'मैं' को कहँ भाव। अस 'मैं तू मम रूप महँ,अर्जुन होय समाव ॥१२१०॥

जिमि जरि चुकै कपूर के, तिहिं क्षण अग्नि बुझाय । अरु दोनों तें जो परे, सो नभ शेष रहाय ॥१२११॥
एक घटावै एक तें, शून्य रहै जिमि शेष । अस्ति नास्ति के विषय तिमि, मैं ही शेष विशेष ॥१२१२॥
आतम ईश्वर ब्रह्म तहँ, यह न कथन अवकाश । जो यहहु बोलै नहीं, यहहु न भल सुखराश ॥१२१३॥
ना बोलो यह हू कहब, सुख भर बोलो जाय । ज्ञान और अज्ञान तजि, तब ही जानि अपाय ॥१२१४॥
जानै ज्ञानहि ज्ञान को, आनँद लहि आनँद । सुख अनुभव सुख को करै, भोगै परमानन्द ॥१२१५॥
छूवै ठाढ़े पाँय, आश्चर्य आश्चर्य महँ । लाभहि लाभहिं पाय, आलिंगै छवि को छविहि ॥१२१६॥
शमहु शान्ति कहँ मिलति अरु, विश्रामहिं विश्राम । अनुभवता सकुचित है, अर्जुन अनुभव धाम ॥१२१७॥
सेवै जो क्रमयोग की, अर्जुन सुंदर बेलि । अधिक कहा मद्रूप फल, निश्चय ताको पेलि ॥१२१८॥
चक्रवर्ति चिद्रूप वपु, मुकुट माँहि चिद् रत्न । सो मैं रत्न सुहात मम, मुकुट पार्थ शुभयत्न ॥१२१९॥
देवल सो क्रमयोग को, मोक्ष कलश तिहिं शीश । करि अवकाश प्रसार जो, ता ऊपर नर-ईश ॥१२२०॥
किंवा विश्व अरण्य महँ, राज मार्ग क्रम योग । मम एकता सुग्राम महँ, करि प्रवेश शुभ जोग ॥१२२१॥
यह प्रवाह क्रमयोग को, भक्ति ज्ञान वपु गंग । मम आनंद समुद्र महँ, जाय सवेग उमंग ॥१२२२॥
ऐसहि यह क्रमयोग की, महिमा अति मर्मज्ञ । बरनौं बारम्बार तुहि, अर्जुन मैं सर्वज्ञ ॥१२२३॥
देशरु काल पदार्थ तें, मोहि साध्य करि लेय । ऐसो मैं नहिं मैं अहौं, सब को सब कौन्तेय ॥१२२४॥
कछु न लगै आयास, अर्जुन मेरी प्राप्ति में । लहैं मोहि निज धाम, सो क्रम योग उपाय तें १२२५॥
इकहि शिष्य गुरु एक जो, रूढ़ि सकल व्यवहार । अर्जुन मेरे मिलन को, जानहु सिद्ध प्रकार ॥१२२६॥
अर्जुन धरणी गर्भ महँ, जैसे सिद्ध निधान । अग्नि सिद्ध जिमि काष्ठ महँ, थन महँ दूध प्रमान ॥१२२७॥
सिद्ध पदारथ प्राप्ति हित, करैं प्रयत्न सुजान । तिमि मैं सिद्ध सु प्राप्ति मम, कीजै यत्न प्रमान ॥१२२८॥
कहँ देव फल प्राप्ति के, आगे मिलन उपाय । जो पूछे किमि यत्न महँ, इमि तात्पर्य जनाय ॥१२२९॥
गीतहि यह सामर्थ्य है, बरनौं मोक्ष उपाय । इतर शास्त्र ऐसे नहीं, सिद्ध प्रमाण सुभाय ॥१२३०॥
घटित न घटना भानु महँ, घनहि भगाय समीर । दूर सिधारहिं करत कर, करत न कबहूँ नीर ॥१२३१॥
नसैं शास्त्र तें आवरन, रूप अविद्या पार्थ । निर्मल आत्मा में स्वयम्, करहु प्रकाश यथार्थ ॥१२३२॥

शास्त्र अतः सब पात्र हैं, सकल अविद्या नाम । आत्मबोध स्वातंत्र्य तें, रहित पार्थ इमि भास ॥१२३३॥
गीता ही आधार, जो पूछै साक्षीपनहि । विषय शास्त्र निरधार, आत्मानात्म विचारि कै ॥१२३४॥
सूर्य अलंकृत पूर्व करि, सब दिशि लहहिं प्रकाश । शास्त्रेश्वर गीता करहि, शास्त्र सनाथ विकाश ॥१२३५॥
अतः पूर्व अध्याय कहि, शास्त्रराज बहु यत्न । विस्तारहि तातें लहै, निजकर आतम सुरत्न ॥१२३६॥
इकहि बार पुनि पार्थ हिय, निश्चय होय न होय । यह चित धरि कै श्रीहरी, कृपादृष्टि पुनि जोय ॥१२३७॥
शिष्य हृदय सिद्धान्त यह, निश्चय सुस्थिर होय । संक्षेपहि उद्देश्य यह, प्रश्न पुनि भाषत सोय ॥१२३८॥
गीताग्रन्थ प्रसंगतः, चाहत होन समाप्त । आदि अन्त लगि दर्श तहँ, एकार्थहि पर्याप्त ॥१२३९॥
ग्रन्थहिं बरन्यो मध्य के, भाग अनेक प्रसंग । अधिकारहु नानाविधिहि, करि सिद्धांत सुअंग ॥१२४०॥
गीता में बरनन भयो, बहु सिद्धान्त विचार । पूर्वापर समझे बिना, मानहिं बहु व्यापार ॥१२४१॥
श्रेणी सब इकत्र करि, पार्थ महा सिद्धान्त । प्रारंभितहि समाप्त करि, निर्णय करि शुद्धान्त ॥१२४२॥
अर्जुन साधन जान, दोई केवल ज्ञान के । फल मोक्षोपादान, नाश अविद्या मोक्ष थल ॥१२४३॥
ज्ञान कथन करि विविध विधि, कियो ग्रन्थ विस्तार । यह अब दोही अक्षरहिं, बरनौं सकल विचार ॥१२४४॥
आवै हाथ उपाय तें, प्राप्त भये पर देव । सोही साधन पुनि कहत, सुनु अर्जुन इतनेव ॥१२४५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

अर्थ —आश्रित मम सब कर्म करि, सदा निहित मर्याद ।
ध्रुव अविनाशी पद लहै, अर्जुन मोर प्रसाद ॥५६॥

निष्ठा तें क्रम पोंगि यह, सुभट रूप मम होय । पैठे सो मद्रूप महँ, पुनि भाषै प्रभु सोय ॥१२४६॥
सुन्दर फूल स्वकर्म तें, उत्तम पूजा ठान । मुँहि प्रसन्न करि प्राप्त करि, अर्जुन निष्ठा ज्ञान ॥१२४७॥
कर महँ निष्ठा ज्ञान जिहिं, मम भक्तिहिं उल्लास । ऐक्यभाव के भजन में, पार्थ सुखी सुखराम ॥१२४८॥
करहुँ प्रकाशित विश्व कहँ, मैं निज आतमस्वरूप । सर्वभाव मुहि जानि कै, तिहि अनुसारहिं भूप ॥१२४९॥

आपुन लोभहिं नोन तजि, जल आश्रित जल होय। पवन फिरत आकाश महँ, पुनि निश्चल महँ सोय ॥१२५०॥
अरु शरीर वच बुद्धि तें, जो मम आश्रित होय। कर्म निषिद्ध कदापि पनि, तो विहितहि मम जोग ॥१२५१॥
नहिं शुभ अशुभ विबन्ध, तैसहि मेरे बोध तें। मिलि गंगा संबन्ध, नाला नदी महान सम ॥१२५२॥
अर्जुन चंदन काष्ठ हौ, तब लौं नहीं समान। जब लगि अग्नि जराय नहिं, जरे बराबर जान ॥१२५३॥
जनिय कंचन लोह महँ, तब लौं भेद विवेक। जब लगि पारस परस करि, करत समान न एक ॥१२५४॥
सकल शुभाशुभ को तबहि, भेद सहित आभास। जब लगि अर्जुन लखत नहिं, मम सर्वत्र प्रकाश ॥१२५५॥
दिवस रैन को लखत हैं, तब लौं भाव अभाव। जब लगि सूर्य प्रदेश महँ, करि न प्रवेश समाव ॥१२५६॥
सकल कर्म ताके नसैं, मेरी प्राप्ति प्रभाव। मम पद महँ आरूढ है, मम सायुज्यहिं पाव ॥१२५७॥
देशहु काल स्वभाव जिहिं, नाश न संभव होय। मम अविनाशी पद लहै, निश्चय अर्जुन सोय ॥१२५८॥
जो लहि आत्मस्वरूप मम, अर्जुन मोर प्रसाद। कौन लाभ जो ना लहै, सकल लाभ मर्याद ॥१२५९॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

अर्थ—सकल कर्म अर्पण करहु, चित्तहिं मत्पर होय।
बुद्धि राखि मो महँ सदा, मम चिन्तारत सोय ॥५७॥

अतः कर्म सब आपुने, अर्जुन मोरे रूप। अर्पन करि कै मोहि महँ, प्राप्त करहु मम भूप ॥१२६०॥
आत्म विवेक सुभाग, अरु चित महँ धारण करहि। विहित कर्म जनि त्याग, हेतु कर्म संन्यास के ॥१२६१॥
निज विवेक बल तें समझ, निज तें कर्महि भिन्न। निर्मल मेरे रूप कहँ, देखहु परम प्रसन्न ॥१२६२॥
जनम भूमि जो कर्म की, पार्थ प्रकृति कहँ जानि। ताको अपने पास तें, बहुत दूर लखि मानि ॥१२६३॥
छाया जिमि बिनु रूप नहिं, कतहूँ, न कबहूँ दिखाय। तैसे प्रकृति न लखि परै, अपने रूप सिवाय ॥१२६४॥
ऐसहि प्रकृति विनाश लहि, भये कर्म संन्यास। कर्म सकल कारण सहित, नासैं बिन आयास ॥१२६५॥
सकल कर्म के नाश तें, आत्म रहै इक शेष। बुद्धि पतिव्रत तिय सरिस, थिर ह्वै करै प्रवेश ॥१२६६॥

करि प्रवेश मो महँ जबहिं, बुद्धि अनन्यहिं भाव। चिन्तन कहँ चित त्यागि के, भजे मोहिं मम भाव ॥१२६७॥
इमि सब चिंतनमात्र तजि, धारि चित्त मम माँहि। करै सर्वदा तुरत ही, विलम करै क्षण नाँहि ॥१२६८॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

अर्थ—चित धरु मुहिं सब विपति तें, तरिहौ मोर प्रसाद।
यदि अभिमानहिं सुनसि नहीं, तो नसि लहसि विषाद ॥५८॥

सेवन करहु अभिन्न पुनि, चित्त होय मद्रूप। पावहु पूर्ण प्रसाद मम, तब तुम पार्थ अनूप ॥१२६९॥
जन्म मरन के भोग, सकल दुःख के धाम वे। अर्जुन इहिं संयोग, दुर्गमता तुव सुगम है ॥१२७०॥
सूर्य प्रकाश सहाय तें, नयन युक्त जब होय। अंधकार को मूल्य किमि, अर्जुन बरनहु सोय ॥१२७१॥
अर्जुन मोर प्रसाद तिमि, नसै जीव को अंश। सो बाधै कैसे कबहु, जग हौआ के वंश ॥१२७२॥
निश्चय संशय रहित हैं, अर्जुन मोर प्रसाद। जग दुर्गम तें अवशि तुम, तरहु सहित अहलाद ॥१२७३॥
अर्जुन मम उपदेश तुम, सुनहु न वश अभिमान। अथवा मन धारौ न जो, पैहो क्लेश महान ॥१२७४॥
ध्रुव अविनाशी मुक्त तुम, होकर हु जो पार्थ। तन संबंधी घाव दुख, सहत सुअंग यथार्थ ॥१२७५॥
आतमहन प्रतिपद मिलै, जो शरीर संबध। लहै न कहुँ विश्राम वह, भोगै दुख प्रतिबंध ॥१२७६॥
इत अति दारुन मरण मिलि, बिना मरण सकलेश। ध्यानसहित यदि सुनसि नहिं, यह मेरो उपदेश ॥१२७७॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अर्थ—'लरिहौं नहिं' इमि दर्पवश, करसि वृथा व्यवसाय।
क्षात्र प्रकृति तुम कहँ अवशि, करहि नियुक्त सहाँय ॥५९॥

निमि पथ द्वेषी पोषि ज्वर, दीप द्वेषि अँधियार। करि विवेक तें द्वेष तिमि, पार्थ पोषि हंकार ॥१२७८॥

स्वजन नाम परदेह, अर्जुन नाम स्वदेह को। पापाचारहि येह, मलिन नाम संग्राम कर ॥१२७६॥
नामहु त्रय के तीन हैं, ऐमी निजमन मान। युद्ध न करहुँ कदापि मैं, ऐसो कहत अजान ॥१२८०॥
आपुन अन्तःकरण करि, निश्चय अपने जीव। क्षत्रियपनहि स्वभाव तुव, निश्चल रहहि न हीन ॥१२८१॥
अर्जुन मैं ते स्वजन मम, वध पातक को रूप। तात्विक दृष्टिहिं सत्य की, तजि माया नरभूप ॥१२८२॥
अर्जुन तत्पर समर हित, धारण करि हथियार। युद्ध तजहु नहिं शपथ करि, मोह न अन्य विचार ॥१२८३॥
समर त्यागि तुव व्यर्थ तिमि, निंदित लोकहु दृष्टि। शूरपनहिं मानैं नहीं, यह कायरता सृष्टि ॥१२८४॥
निश्चय मन में कीन्ह तुम, करहुँ न मैं रणचंड। अस तजि अवशहि रण करहु, क्षत्रिय प्रकृति प्रचंड ॥१२८५॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

अर्थ—अर्जुन निज स्वभाव जो, युद्ध कर्म तें बद्ध।
करत अनिच्छा मोहवश, करहु अवशि तुम युद्ध ॥६०॥

जल प्रवाह है पूर्व दिशि, पश्चिम चाहे जान। यह आग्रह उर महँ रहै, जाय प्रवाह ठिकान ॥१२८६॥
जो कहुँ तंदुल धान तें, उपजौ चाहे नाँहि। तो विपरीत स्वभाव किमि, मान होय तिहि पाँहि ॥१२८७॥
सिद्ध क्षात्र संस्कार, अर्जुन तुव प्रकृति रची। सो उठाय ललकार, करहुँ न रण किमि कहगि तुम ॥१२८८॥
गुण-धृति तेजहु दक्षता, शौर्य आदि सब पार्थ। तुव स्वभाव यह जन्मतः, ताहि विचार यथार्थ ॥१२८९॥
गुण स्वभाव अनुरूप जे, अर्जुन तुम्हरे कर्म। तिनहि त्यागि बैठहु सहज, शक्य नहीं अस मर्म ॥१२९०॥
अतः पार्थ त्रय गुणन तें, तुम तो तीनहुँ ओर। बद्ध अहो तातें गहहु, क्षत्रिय धर्म कठोर ॥१२९१॥
जन्म स्वभाविक सुधि बिसरि, केवल गहि हठधर्म। युद्ध न करिहौं अस गहहु, सहुभयो तागुन मर्म ॥१२९२॥
कर अरु पग को बाँधि के, रथ महँ देवै डार। सो कहि कतहुँ न जाउँ मैं, पै जावै दिशि पार ॥१२९३॥
आपन ओरहिं तुम कहहु, मैं न करहुँ कछु आन। स्वस्थ बैठु विश्वास मुहिं, करिहौ युद्ध निदान ॥१२९४॥
उत्तर वैराटी नृपति, भाग्यो तजि रण खेतु। क्षत्र प्रकृति तुम रन रच्यो, गोरक्षा के हेतु ॥१२९५॥

ग्यारह अक्षौहिणि सुभट, इकले तुम अनुसार । नसन छोनि करि नग्न सब, सत्र प्रकृति अनुसार ॥१२९६॥
दारिद चहै न रंक, चाहै रोग न रोगिया । अर्जुन नेकु न शक, पै भोगत प्रारब्ध बल ॥१२९७॥
कछु न करत प्रारब्ध को, सत्ता ईश सिराय । सो ईश्वर तुव हृदय महँ, राग करत गतिभाय ॥१२९८॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

अर्थ—अर्जुन प्रानी मात्र के, हृदय देश बसि ईश ।
मायहि यंत्रारूढ़ करि, सबहि नचाय क्षितीश ॥६१॥

सकल भूत के अंतरहि हृदयाकाश मझार । ज्ञानवृत्ति वपु सहस करि, उदयो ज्योति पसार ॥१२९९॥
सकल अवस्था तीन त्रय, लोक प्रकाश अशेष । पथिक जगावैं सकल जो, पथ विपरीतावेश ॥१३००॥
उदक वेध सरवर प्रफुल, कमल विषय रस पीन । ज्ञानेन्द्रिय मन षट्पदी, भ्रमर रूप जो जीव ॥१३०१॥
अस्तु तजहु रूपक सकल, भूतमात्र हंकार । तातें आवृत ईश है, विकसित सदा उदार ॥१३०२॥
नट धरि अन्तः सत्र इक, आड़ बसन निज भार । कैलि नित्र चौरासि लखि, लीला पाव दिखाव ॥१३०३॥
आदि स्वयंभू कीट लौं, भूतमात्र निःशेष । देहाकार जु योग्य जिहि, तिहिं तिमि देय विशेष ॥१३०४॥
जैसी चाहिय देह जिहि, मिलै तासु अनुरूप । ता कहँ मैं कहि भूत तहँ, आरूढ़ै नरभूप ॥१३०५॥
सूतहि सूत लपेटि, जिमि तृण बाँधै तृणहि को । जिमि शिशु गहै लपेटि, निज प्रतिबिंब विलोकि जल ॥१३०६॥
देहाकारहि दूसरो, ताहि जु मैं हौं जान । निरखि जीव स्वीकार करि, आत्मबुद्धि तिहिं मान ॥१३०७॥
देह स्वरूपहि यन्त्र पर, जीव चढ़ाय प्रवीन । हिलैं सूत्र अनुसार जो, पार्थ कर्म प्राचीन ॥१३०८॥
जाही को जैसो रच्यो, कर्मसूत्र निज तंत्र । वे तिहि गति के पात्र बनि, सोरैं ताहि प्रबन्ध ॥१३०९॥
नभ महँ तृणहिं उड़ाय कैं जिमि लै जाय समीर । अधिक कहा जग स्वर्ग तिमि, प्राणि भ्रमाय अधीर ॥१३१०॥
जैसे चुम्बक योग तें, चालै लोह यथेष्ट । ईश्वर सत्ता योग तिमि, प्राणीमात्र सचेष्ट ॥१३११॥
जिमि समुद्र चेष्टा करै, इक सन्निधि तारेन्द्र । निज योग्यतानुसार तिमि, सत्ता ईश नरेन्द्र ॥१३१२॥

चन्द्र निरखि द्रवि चंद्रमणि, सिंधु भराय उमंग । कुमुद चकोरहु की मिटै, जिमि संकोच प्रसंग ॥१३१३॥

अर्जुन प्राणि अनेक तिमि, परा प्रकृति संयोग । हृदय मर्म तुव ईश इक, चेष्टित सब जिहिं योग ॥१३१४॥

धरहु न निज महँ पार्थ, अर्जुन जो अभिमानपन । ईश्वर रूप यथार्थ, तो 'मैं पन' किमि उपजै ॥१३१५॥

अर्जुन हठवश युद्ध नहिं, करहु आपनी ओर । ईश्वर तुन प्रकृतिहि प्रवृति, करनै है घनघोर ॥१३१६॥

ईश्वर सर्वेश्वर स्वयम्, प्रकृति देय जस जीव । तिहिं वश इंद्रियगन सकल, करि आचरण स्वहीन ॥१३१७॥

करहुँ युद्ध वा ना करहुँ, दुहुँ करि प्रकृति अधीन । बसत हृदय महँ ईश जो, प्रकृतिहुँ जिहि स्वाधीन ॥१३१८॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

अर्थ—सर्वभाव ते शरण गहु, ताके अर्जुन जाय ।
परा शांति जो नित्य पद, तासु प्रसादहिं पाय ॥६२॥

अहं चित्त वच अंग सब, मुहिं अर्पहु सर्वस्व । लेहु शरण जिमि उदधि मनि, सुरसरि तजि गंगत्व ॥१३१९॥

सर्व विषय उपशांति प्रिय, स्वामी मनि निजरूप । तिहि प्रसाद रममाण ह्वै, निज आनंद स्वरूप ॥१३२०॥

जो उत्पति उत्पत्ति की, विश्रांतिहु विश्राम । अनुभव को अनुभव परम, आनँद आनँद धाम ॥१३२१॥

नृपति होय निज आत्मपद, अक्षय सुख भोगाय । लक्ष्मीपति कहि पार्थ तें, मनु मन नित बच लाय ॥१३२२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

अर्थ—कहि अशेष जो गुह्यतम, ज्ञान सुपूर्ण विचार ।
जैसी इच्छा होय तुव, तैसो करहु उदार ॥६३॥

गीता नाम प्रसिद्ध, सकल वेद को सार यह । आत्मज्ञान मणि सिद्ध, जातें करहिं स्वहस्तगत ॥१३२३॥

जा कहँ प्रतिपादन मिली, कीर्ति सकल संसार । ज्ञानदृष्टि वेदान्त इमि, ख्याति शिरोमणि सार ॥१३२४॥

ज्ञान प्रकाशै हीन प्रभ, बुद्ध्यादिक के ज्ञान । जिहि प्रकाश द्रष्टा सकल, सो कहँ लखै सज्ञान ॥१३२५॥
गुह्यहु ते जो गुह्यधन, सो मम आतम ज्ञान । पै तुहि आन विचार किमि, गुप्त करौं मतिमान ॥१३२६॥
आपुनि गुप्त धरोहरहिं, यातैं पांडुकुमार । तुमतैं ह्वै करि तृप्त अति, आतुर दियो उघार ॥१३२७॥
जैसे माता प्रेमवश, भूलि कहै शिशु पाँहि । तैसे मैं तुव प्रेमवश, भाषौं किमि नहि चाँहि ॥१३२८॥
जैसहि गगन गलाइये, अमृत की करि छाल । दिव्यवस्तु कहँ दिव्य पुनि, जिमि करि कुन्तीलाल ॥१३२९॥
जाके अंग प्रकाश तें, निरखै अणु पाताल । ता प्रकाशमय सूर्य दृग, जैसे अंजन घाल ॥१३३०॥
स्वयं सर्व सर्वज्ञ मैं, सबको करि निरधार । अति उत्तम तुमतैं कह्यो, आतम ज्ञान अनुसार ॥१३३१॥
निश्चय करि निरधार, भली भाँति अब याहि को । फिर तैसही विचार, जैसो योग्य दिखाय पुनि ॥१३३२॥
केशव प्रभु के वचन सुनि, बनि अर्जुन चुपचाप । कृष्ण रागहिं पार्थ तुम, लख्यो अनंचन आप ॥१३३३॥
जो परसैं तिहिं ते कहै, लजि कै गयो अघाय । तो इक तो भूख्यो अपर, पंचन दीपहि पाय ॥१३३४॥
श्री गुरु जो सर्वज्ञ तिहि, भेंटि आतम निरधारि । पूछै नहि संकोच तें, अर्जुन भूप सुधारि ॥१३३५॥
आपहि वंचै आपको, वचन दीपहि पाय । सत्यहु आपुन लाभ तें, वंचित रहै चुकाय ॥१३३६॥
अर्जुन तुम्हरी चुप्प तें, इमि तात्पर्य जनाय । एक बार पुनि ज्ञान को, सार कहौं समझाय ॥१३३७॥
अर्जुन विनवै हे प्रभो, जानहु मम हिय बात । अब किमि कहौं कि आप तजि, दूजे तें लखि जात ॥१३३८॥
सकल पूर्ण जग ज्ञेय इक, ज्ञाता आप स्वभाय । सूर्यहिं सूर्य बखानिबो, नहि गुरतुतिहिं बनाय ॥१३३९॥
सुनि अर्जुन के बैन प्रभु, कहि न प्रशंसा थोर । जानन चाहौ पार्थ यदि, सो सुनि लेहु बहोर ॥१३४०॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६३॥

अर्थ—सब तें उत्तम गुह्यतम, सुनु मम वचन यथार्थ ।
अति प्रिय मुहिं यह तुव हितहिं, तातें भाषौं पार्थ ॥६३॥

करि निज ध्यान विचार, इक बारहिं विस्तार तें । अर्जुन परम उदार, सुनु निर्मल मम वाक्य को ॥१३४१॥

जो मैं बोलहुँ तुम सुनहु, कहन सुनन को नाँहि । पै अर्जुन तुव भाग्य बड़, समझहु येगु मन माँहि ॥१३४२॥
कूर्मि देखि निज शिशुहिं जब, ताकी दृष्टि पन्हाय । अरु चातक के हेतु नभ, नीर उदर भरि लाय ॥१३४३॥
घटित न जो व्यवहार जहँ, तहँ हू सो फल प्राप्त । दैन रहे अनुकूल जो, ताहि न होय अनाप्त ॥१३४४॥
द्वैतपनहिं पुनि दूर करि, गृह एकता प्रवेश । इमि रहस्य उपभोग तब, होवहि पार्थ विशेष ॥१३४५॥
सादर मेरे प्रेम को, विषय प्रियोत्तम होय । तुम दूजे नहि आतम मम, ऐसहि जानहु सोय ॥१३४६॥
दर्पण पोंछत बार बहु, दर्पण हित नहिं पार्थ । केवल निजमुख हेतु मुख, देखन काज यथार्थ ॥१३४७॥
ऐसहि तुम्हरे मिष कहौं, अर्जुन अपने हेतु । हमरे तुम्हरे बीच नहि, द्वैतभाव कपिकेतु ॥१३४८॥
तुमहिं जीव अपनो समझि, कहउँ गुह्यतम ज्ञान । एकनिष्ठ की चा मुहिं, यहै व्यसन मुहि जान ॥१३४९॥
आपुनपन बिसराय, आपुनपन दे जल लवण । पार्थ जानि हरषाय, तत्स्वरूप हूँ लजत नहि ॥१३५०॥
देखत भेद न मोहिं तें, तुम अर्जुन मम पाँहि । तब मैं तुमतें करहुँ किमि, गुप्त उचित मुहि माँहि ॥१३५१॥
जाके सन्मुख गूढ सब, प्रगट होय अत्यन्त । इमि मम निर्मल गूढ़ वच, सुनहु पार्थ निश्चिन्त ॥१३५२॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

अर्थ—सुमन मोहि महँ, भक्त मम, अर्चन और प्रणाम ।
करहु सदा मुहिं पाइहौ, कहहुँ सत्य प्रिय साम ॥६५॥

अंतर बाह्यहु आपुनो, अर्जुन सब व्यापार । मुहि व्यापक को विषय करि, अपने मन निरधार ॥१३५३॥
जिमि समीर आकास मिलि, सब ओरहिं ते जाय । तिमि मन कर्मन्ह तुम करहु, मोरी आस सुभाय ॥१३५४॥
अधिक कहा सुरथान करि, अपने मन मम एक । कान भरहु मम यश श्रवण, सब प्रकार अभिषेक ॥१३५५॥
आत्मज्ञान संयुक्त जो, संत जानि मम रूप । तिन्हहिं देखि दृग चाह इमि, जिमि कामिनी स्वरूप ॥१३५६॥
सब कर मैं सुनिवास थल, निर्मल मेरो नाम । वाचा मार्गहिं लायके, हृदय करहु सुस्थान ॥१३५७॥
करहु हाथ तें जो कछू, चलहु पाँव ते जाय । मेरे कारण होय सब, तैसहि करहु सुभाय ॥१३५८॥

जो होवै उपकारु, दूजे को अथवा अपुन । मम याज्ञिक पशु चारु, उत्तम होय सुपक्ष यह ॥१३५६॥
काह सिखाऊँ पृथक करि, निज महँ सेवक भाव । सकल विश्व मद्रूप लखि, सेवहु सकल स्वभाव ॥१३६०॥
द्वेषपनहि नसि विश्व महँ, सकल ठौर मुँहि मानि । मम आश्रय अत्यन्त तुहि, मिलहि पार्थ इमि जानि ॥
सब जग में तीजोपना, नशैं रहै नहिं पार्थ । केवल हम तुम दो रहैं, अति एकांत यथार्थ ॥१३६२॥
उत्तम थिति अस मिलत ही मैं तुमतें तुम मोहि । भोगहि ऐसहि उभय मिलि तहँ अतिशय सुख होहि ॥१३६३॥
नाशहि जग प्रतिबन्ध के, जो तीजोपन बीर । तुम तो हमरे ही अहो, पावहु शेष गभीर ॥१३६४॥
जिमि जल को प्रतिबिंब मिलि, निजबिंबहि जल नास । अर्जुन तहाँ न होत है, कछु प्रतिबंधरु त्रास ॥१३६५॥
नभ महँ मिलै समीर जिमि, लहर समुद्र मिलाव । मिलै ताहि अड़चन कहा, आपहिं मिलै स्वभाव ॥१३६६॥
द्वैतहिपन लखि परत जो, केवल तन को धर्म । द्वैत नसे मद्रूप तुम, अर्जुन समझहु मर्म ॥१३६७॥
सत्य समझु नहि शंक, जो यह भाषण मैं कियो । मानहु तुम निःशाक, शपथ तुम्हारी करि कहौं ॥१३६८॥
शपथ तुम्हारी मैं कहौं, समुझ आत्म सुस्पर्श । अर्जुन लाज न प्रीति मैं, मानहु वचन सहर्ष ॥१३६९॥
जानैं वेद अभेद सत, जानैं जग आभास । आपसु शक्ति प्रताप तिहिं, कालहिं जीतहि हास ॥१३७०॥
आपहि सत संकल्प प्रभु, जग हितकारी बाप । पुनि शंकित ह्वै शपथ करि, यदि यह सोचहु आप ॥१३७१॥
अर्जुन तुम्हरे प्रेमवश, मैं तजि ईश्वर भाव । लही अर्धता, पूर्ण तुहिं, कीन्हो आप स्वभाव ॥१३७२॥
जिमि नरपति निज काज हित, प्रधानादि पद देय । शपथ लेय निज आपही, ऐसहि इत कौंतेय ॥१३७३॥
अर्जुन विनवै कृष्णप्रभु, कहिय न अद्भुत बैन । सिद्ध काज मम सकल प्रभु, नामस्मरण सुखैन ॥१३७४॥
आप सुभाषत ताहि पै, करि के शपथ उदार । सो विनोद प्रभु आपको, सत्यहि कृपा अपार ॥१३७५॥
दिनकर आपुन अंश इक, करि बन कमल विकाश । पै तिहिं सदा उदार रवि, देवै पूर्ण प्रकाश ॥१३७६॥
चातक त्रिषा निवृत्ति मिष, बरसैं मेघ अपार । तासें धरणी तृप्त करि, भरहि समुद्र विचार ॥१३७७॥
अति उदारता राज, कृपासिंधु दानीपने । विश्व उद्धरण काज, कह्यौ हमार निमित्त करि ॥१३७८॥
कहत कृष्ण अर्जुन सुनहु, नहिं सुस्तुति प्रस्ताव । पै इहिं यत्नहिं पाइहौ, सत्यहि मोहि स्वभाव ॥१३७९॥
जिहिं छन सैंधव सिंधु महँ, जाय तहाँ गलि जाय । शेष रहै कारण कछू, अर्जुन मुहिं न दिखाय ॥१३८०॥

सकल भाव मम भक्ति करि, सबहिं लखहु ममरूप। अहँभाव निःशेष हूँ, होहु पार्थ मद्रूप ॥१३८१॥
कर्म समीपहि ज्ञान लगि, तुमतें सकल उपाय। सब प्रकार तें मैं कह्यो, अति गुरुपद्ध प्रभाय ॥१३८२॥
अर्जुन प्रथमहिं कर्म सब, अर्पण मोहि करेहु। तातें लहौ प्रसन्नता, अर्जुन सहित सनेहु ॥१३८३॥
नंतर मोर प्रसाद तें, ज्ञान होय मम सिद्ध। ता ज्ञानहि तें पाइहौ, मद्रूपता विशुद्ध ॥१३८४॥
अर्जुन सो तिहिं ठौर महँ, होय न साधन साध्य। अधिक कहा कछु शेष नहिं, रहै न तहँ आराध्य ॥१३८५॥
सकल कर्म सब काल तुम, अर्पण कीन्हें मोहिं। मेरो लह्यो प्रसाद तिहि, आज विवेकहि जोहि ॥१३८६॥
अड़चन युद्ध प्रसंग, सो प्रसाद बल नहिं गन्यो। अपने प्रेम उमंग, एकाइक तुममय भयहु ॥१३८७॥
सह प्रपंच अज्ञान नसि, एकहि मोर लखाय। मम उपपत्ति उपाय इहि, गीता ज्ञानहि पाय ॥१३८८॥
नाना भाँतिहिं मैं कह्यो, तुम तें अपनो ज्ञान। तातें धर्माधर्म को, कारण तजि अज्ञान ॥१३८९॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अर्थ—धर्म अधर्महिं त्यागि सब, इक मम शरणहि आउ।
तुम्हरे सब पातक हरौं, शोकहि दूर बहाउ ॥६६॥

आशा तें दुख होत है, अरु निंदा तें पाप। दैन्य होय दुर्भाग्य तें, देत रहत संताप ॥१३९०॥
स्वर्ग नरक सूचक सदा, पार्थ जानि अज्ञान। तामें धर्म अधर्म सबु, अज्ञानहि को ज्ञान ॥१३९१॥
कर महँ डोरी लेत ही, सर्पाभास मिटात। ज्यों निद्रा के संग तें, स्वप्न प्रपंच नसात ॥१३९२॥
अर्जुन पाँडु प्रभाव तें, दिखत चंद्रमा पीत। ज्वर के विनसे जीभ मुख, कडुवापन तजि भीत ॥१३९३॥
दिन कहँ अथवत जानि के, मृग जल होत अदृश्य। काष्ठ त्याग तें होत है, पावक त्याग अवश्य ॥१३९४॥
धर्माधर्म विवाद में, मूल जान अज्ञान। ताके त्यागे धर्म सब, त्यागे जात सुजान ॥१३९५॥
आप रहत इक शेष, नासे तें अज्ञान को। जिमि आपहिं अवशेष, जगि निद्रा नसि स्वप्न सह ॥१३९६॥
इक मन बिन कछु है नहीं, भिन्न अभिन्न न आन। सोऽहँ बोध प्रभाव महँ, हो अनन्य मतिमान ॥१३९७॥

आपन भेद प्रभाव बिन, आपहि इकहि जनाय। सो ही मेरी एकता, शरणागति कहि जाय ॥१३९८॥

घटाकाश घटनाश तें, गगन माँहि मिलि जाय। तिमि मम शरणागत भये, तू मम माँहि समाय ॥१३९९॥

कंचन मणि जिमि स्वर्ण में, जिमि तरंग जल माँहि। तैसे मम शरणागतहिं, मोरे माँहि समाँहि ॥१४००॥

सिंधु उदर महँ शरण लहि, तिहि वडवाग्नि जराय। अर्जुन तजि तिहिं बात को, द्वैत कुभाग निहाय ॥१४०१॥

शरणहि मेरे आय के, रहै जीव अभिमान। धिक है ऐसे कथन को, लजै न बुद्धि निदान ॥१४०२॥

सेवत साधारण नृपहिं, दासीपन मिटि जाय। पावै तहाँ समानता, सब जग देत दिखाय ॥१४०३॥

ग्रन्थि न छूटै जीव की, विश्वेश्वर सम्बन्ध। मैं न गुनहुँ तुम जनि कहौ, वच विपरीत निबंध ॥१४०४॥

सहज पाइये भक्ति, यातें हो मम रूप जो। लहत ज्ञान की शक्ति, ऐसी भक्ति मुमुक्षुजन ॥१४०५॥

दधि महँ नीर मिलाय कै, मथि माखन बिलगाय। पुनि तामें नहि नहिं मिलै, देखहु ताहि मिलाय ॥१४०६॥

ज्ञान भयउ अद्वैत को, मम शरणागत आय। धर्म अधर्म रु सहज ही, नहिं समीप ठहराय ॥१४०७॥

जबहि मोरचा लौह लगि, पारस संग न होय। पारस लगि कंचन बनै, मैल लगै नहिं कोय ॥१४०८॥

अनल काढ़ि जो काठ मथि, पुनि तिहि मध्य धराय। ऐसो कबहुँ न हो सकै, सुनु अर्जुन चितलाय ॥१४०९॥

सूर्य उदय तें पार्थ सुनु, रहत न कहुँ अँधियार। जागे तें जिमि नहिं रहै, कबहुँ स्वप्न विकार ॥१४१०॥

अर्जुन तिमि मम रूप हो, मेरे रूप सिवाय। कतहुँ न कछु शेषहु रहे, कहौ कहा दरसाय ॥१४११॥

यातें पुण्यरु पाप की, अर्जुन करो न चित। पापपुण्य मम रूप हैं, गुनहु सुभद्राकन्त ॥१४१२॥

जहँ अघ-बंधन चिन्ह सब, बचत न रंचहु भिन्न। कारण मोरे बोध के, ज्ञान करै सब छिन्न ॥१४१३॥

सो सब जल ह्वै जाय, लवन परै जल माँहि जो। जन मो मांहि समाय, तिमि अनन्य मम शरण ह्वै ॥

इहि प्रकार बुधि जानि कै, आप मुक्त ह्वै जाय। मोंहि जान मम रूप ह्वै, जन मो माँहि समाय ॥१४१५॥

यातें चिंता छोड़ चित, सुमति सकल गुणखानि। आवहु प्रिय, मम शरण महँ मुहिं अनन्य पहिचानि ॥१४१६॥

सकल रूप के रूप प्रभु, सब नैनन के नैन। घट घट व्यापक कृष्ण प्रभु, बोले करुणा बैन ॥१४१७॥

श्याम, सकंकण कंज कर, दाहिन भुजा पसार। भक्तराज निज शरण को, दे स्वालिंगन सार ॥१४१८॥

जातें पार न पाय सकि, वाणी मानत हार। दाबि बुद्धि को काँख में, लौटन बारंबार ॥१४१९॥

अगम अगोचर वस्तु जो, सो देनैं को आज । आलिंगनमिस दै दियो, अर्जुन कहँ ब्रजराज ॥१४२०॥

एक हृदय इक तें मिलत, वस्तु भई दुहुँ माँहि । आपुन गहिरा गनाय कै, द्वैत मिटायो नाँहि ॥१४२१॥

दीपहि दीप लगाइये, दीपक दोउ दिखाय । कृष्ण पार्थ इकरूप ह्वै, दोऊ रूप कहाय ॥१४२२॥

सुख समुद्र कर पूर, दोउ मिले तें बढ़ि गयो । श्री केशव भरपूर, मग्न भये अर्जुन सहित ॥१४२३॥

सागर सागर तें मिलत, सो दूने ह्वै जायँ । पूर बढ़ै देखत बनै, मिलि आकाश समाय ॥१४२४॥

केशव अर्जुन को मिलब, नहिं आनंद सँभार । नारायणमय विश्व को, को है जाननहार ॥१४२५॥

यन्हि मूल सुवेद को, गीताशास्त्र पवित्र । सब ही को अधिकार प्रद, प्रगट्यो एक सुमित्र ॥१४२६॥

सकल वेद को मूल यह, कैसे जान्यो जाय । निर्णय तासु प्रसिद्ध जो, प्रगट कहौं दरसाय ॥१४२७॥

श्री नारायण श्वास तें, प्रगटे वेद अनूप । सोइ सत्य संकल्प सुन, गीता आप स्वरूप ॥१४२८॥

यातें गीता मूल है, सब वेदन को पार्थ । अहहि उचित तदपि कहौं, तासु विचार यथार्थ ॥१४२९॥

नाश न होय स्वरूप जो, लीन होय विस्तार । ताहि विश्व के बीज को, जानत सब संसार ॥१४३०॥

जिमि तरु बीजन माहिं हैं, तिमि गीतामहँ वेद । कर्म उपासन ज्ञान त्रय, कांड हरत सब भेद ॥१४३१॥

कोविद कवि सब संत, वेद बीज गीता लखत । कृष्ण अनादि अनंत, निज मुखतें भाषत भए ॥१४३२॥

जैसे रत्न अनादि तें, शोभित हों अँग अंग । तैसे गीता सोहती, वेदत्रयी प्रसंग ॥१४३३॥

कांड त्रयहु श्री वेद के, गीता महँ किहि ठौर । ताहि दिखावत हौं सुनहु, बुद्धिमान सिर मौर ॥१४३४॥

गीता प्रथमाध्याय महँ, शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्ताव । दूजे में वर्णन कियो, साँख्य शास्त्र सद्भाव ॥१४३५॥

दायक मोक्ष स्वतंत्र है, गीता ज्ञान प्रधान । वह हु दूजे में कह्यो, कृपासिन्धु भगवान ॥१४३६॥

औ' तीजे अध्याय महँ, कारन कह्यो बखान । जातें ज्ञान विहीन नर, पावें मोक्ष महान ॥१४३७॥

सो काया अभिमान तजि, त्यागहिं सद्य निषिद्ध । विहित कर्म अभिमान तजि, धारें शुद्ध प्रसिद्ध ॥१४३८॥

श्रीहरि पुनि वर्णन करैं, यह तीजे अध्याय । कर्मकांड ते जानिये, कर्म केर सद्भाय ॥१४३९॥

नित्य सुकर्महिं करत रहि, मोक्षहेतु किमि होय । हीन कर्म अज्ञान तें, जानत है सब कोय ॥१४४०॥

चाहै पावन मुक्ति, जो बंधन छूटन चहै । ब्रह्मार्पण है युक्ति, विहित करै फल ना चाहै ॥१४४१॥

काया वाचा चित्त तें, विहित कर्म जो होय । करै ईश अर्पण सकल, तातें बँधत न कोय ॥१४४२॥
ईश्वर कीर्तन भजन को, कर्म योग के साथ । अन्त चतुर्थाध्याय तें, बरन्यो त्रिभुवन नाथ ॥१४४३॥
बाहरवें अध्याय लगि, भजन ईश के साथ । कर्म योग भाष्यो परम, उत्तम गोपी नाथ ॥१४४४॥
सो चौथे अध्याय तें, ग्यारहवें पर्यन्त । वर्णन करी उपासना, अष्टाध्याय अनन्त ॥१४४५॥
ईश दया, श्री गुरु कृपा, तें पावत जो ज्ञान । कोमल मत्य अपूर्न जो, ताहि कथत भगवान ॥१४४६॥
'अद्वेष्टा' आरम्भ करि, पुनि द्वादश अध्याय । आदि 'अमानित' तेरहौं, तहाँ कह्यो समझाय ॥१४४७॥
बारहवें के आदि तें, पन्द्रहवें तक जाय । ज्ञान पाक फल सिद्धि को, बरनत हैं यदुराय ॥१४४८॥
ऊर्ध्वमूल तें लाय जो, पन्द्रहवें अध्याय । ज्ञान कांड वर्णन कियो, अष्टादश लगि जाय ॥१४४९॥
सोहत परम अनूप, गीता पद वपु रत्न तें । करि त्रय कांड निरूप, श्रुति लघु गीता जानिये ॥१४५०॥
गीता श्रुति त्रय कांड फल, मोक्ष ढंढोरा एक । मोक्ष रूप फल पाइहौ, कहि निरवत कार टेक ॥१४५१॥
ज्ञानहि साधन मोक्ष को, तासों राखत द्वेष । वर्णन सिहि अज्ञान को, सोलहवें के शेष ॥१४५२॥
शत्रुविजय की रीति को, केवल शास्त्राधार । सत्रहवें अध्याय मैं, वर्णन सकल विचार ॥१४५३॥
सो प्रथमहि अध्याय तें,सत्रहवें लगि आय । श्वास जन्य प्रभु वेद जो, सब दीन्हो समुझाय ॥१४५४॥
जहहिं विचारहिं अर्थ के, भाव गुप्त अभिप्राय । सो अध्याय अठारवों, जानहु कलशाध्याय ॥१४५५॥
ऐसे ही अध्याय सब, जानो संख्या सिद्ध । वेदों को ही रूप लै, गीता भई प्रसिद्ध ॥१४५६॥
यदपि वेद संपन्न श्री, तदपि न्यूनता एक । दाता तीनों वर्ण कहँ, कृपण शूद्र त्रय टेक ॥१४५७॥
सब भवसागर दुःखको, सहहि शूद्र अरु नारि । व्याकुल तदपि विलोक तिहि,कियो नहीं अधिकारि ॥१४५८॥
सबहिं दयो भरपूर, गीता की जो कथन करि । वह त्रुटि कीन्ही दूर, श्री केशव अवतार लै ॥१४५९॥
समुझै मन में अर्थ को,गुनै गान निज कान । मुख जीहा से जप करै,धरै हृदय महँ ध्यान ॥१४६०॥
सादर पढ़ै सप्रेम जो, गीता ग्रन्थ सुठौर । लिखै लिखावै मिस यही, अथवा देवै और ॥१४६१॥
एसहि मिस संसार के, भरै सकल चौराह । सदाबर्त यह वेद को, मिलै मोक्ष सुख चाह ॥१४६२॥
सूर्य उदय जब होत है, सम प्रकाश सब ओर । नभ धरनी व्यवहार महँ,गुरु लघु ठौर कुठौर ॥१४६३॥

सब जन गीता शास्त्र तें, तिमि पावत कल्यान । ऊँच नीच उत्तम अधम, आतुर अरु अज्ञान ॥१४६४॥
गीता गर्भहि आय के, वेद भये शिरमौर । त्रुटि आपुनी निवारि कै, कीर्तिमन्त सब ठौर ॥१४६५॥
सब कहँ सेवन योग्य है, सदा सुवेद महान । गीता ताको रूप है, कहि पार्थहि भगवान ॥१४६६॥
जैसे वत्सहिं प्रेम तें, सब जग पावत क्षीर । अर्जुन मिस उद्धार तिमि, करि जग को यदुवीर ॥१४६७॥
घन बरसावत नीर, चातक पर करि कै कृपा । अवशि होत वे पीर, तातें सचराचर जगत ॥१४६८॥
कमलहिं निरखि अनन्य गति, सूर्य उदय हो जाय । तातें त्रिभुवन सुख लहत, जल थल नभ समुदाय ॥
अर्जुन के प्रति प्रेम तें, गीता कही व्रजेश । ता गीता तें जगत के, नासत सकल कलेश ॥१४७०॥
गीतारत्न प्रकाश सो, त्रिभुवन भानु समान । निज स्वरूप आकाश सुख, उपदेशत भगवान ॥१४७१॥
कुल पवित्र पाण्डव भये, बने ज्ञान के पात्र । जेहि मिस पाये जगत महँ, तीरथ गीता शास्त्र ॥१४७२॥
श्रीकृष्णार्जुन एक हैं, ज्ञान कथा विस्तार । द्वैतभाव फैलाय कै, बोले बचन उदार ॥१४७३॥
अर्जुन गीता शास्त्र को, ज्ञान भयो वा नाँहि । नाथ भयो तुम्हरी कृपा, कहि अर्जुन हरि पाँहि ॥१४७४॥
जो न मिलो तिहिं प्राप्त को, भाग्य भले ही होय । प्राप्त वस्तु उपभोग को, विरलो पावत कोय ॥१४७५॥
क्षीर समुद्रहि पाय जो, शुद्ध दूध की खान । देव अदेवन मिलि मथ्यो, कठिन परिश्रम ठान ॥१४७६॥
शुभ फल पाय विलोकि कै, प्यारो अमृत रत्न । तदपि तहाँ अति भूल तें, कियो न सुन्दर यत्न ॥१४७७॥
जहँ जिहिं विधि उपभोग,चहिय वस्तु की प्राप्ति में । दैत्य मृत्यु के जोग, यत्न शिथिलता महँ भये ॥१४७८॥
स्वर्ग अधिप ह्वै कै नहुष, सके न ताहि चलाय । पतन भयो तहँ ते गिरे, भुजग शरीरहि पाय ॥१४७९॥
संचय करि बहु पुण्य तिहिं, हेतु धनंजय राय । गीता केर विचार को, आजहि विषय बनाय ॥१४८०॥
गीता क्षीर समुद्र मथि,अमृत काढ़ि पुनीत । सुन्दर विधि सेवन करो, त्यागि सकल भवभीत ॥१४८१॥
सदुपदेश की रीति तजि, करहु न कबहूँ भूल । अमृत मंथन की कथा, के सम होय न शूल ॥१४८२॥
अर्जुन आई सार में, उत्तम गाय दुधार । युक्ति सहित जब दोहिये, तब लहि दूध दुहार ॥१४८३॥
शिष्य लहहि विद्या परम, गुरु प्रसन्न करि लेय । संप्रदाय विधि तें लहहिं, उत्तम फल कैतेय ॥१४८४॥
सदुपदेश जिहि विधि अहहिं, गीता शास्त्राधार । सो अति आदर दृष्टि तें, सुनिये बचन उदार ॥१४८५॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

अर्थ—जो तप भक्ति विहीन अरु, श्रवणेच्छा नहिं जाहि।
अथवा मम निंदक अहै, गीता कहिय न ताहि ॥६७॥

कबहु न जानि अपात्र, तप विहीन कहँ सर्वथा। पायो गीता शास्त्र, अर्जुन अति आस्था सहित ॥१४८६॥
किंवा तापस होय जो, गुरु की भक्ति न होय। वेदहु ज्यों अंत्यज तजे, तैसे त्यागो सोय ॥१४८७॥
जरठ कागहू होय जो, यज्ञभाग नहि देय। तापस हू गुरुभक्ति बिन, गीता शास्त्र अदेय ॥१४८८॥
किंवा आपनि देह तें, धारै तप जो कोय। भक्ति करै गुरुदेव की, श्रवणेच्छा नहिं होय ॥१४८९॥
जो तप औ' गुरु भक्ति दुहूँ, उत्तम होवे जोग्य। केवल श्रवणेच्छा विना, गीता माँहि अयोग्य ॥१४९०॥
जो मोती उत्तम मिलै, पै बींध्यो ना होय। धागा पोहत ना बनै, देखहु ताहि पिरोय ॥१४९१॥
सागर होत गँभीर अति, कौन कहत है नाँहि। पै यहहू सब ही कहैं, वृष्टि वृथा तिहिं माँहि ॥१४९२॥
जो करि भोजन तृप्त तिहिं, वृथा देत मिष्टान्न। भूखे को भोजन मिलै, यह उदारता जान ॥१४९३॥
उत्तम होवै योग्यता, पै न सुनन की चाहि। तो विनोद हू के लिये, गीता कहहु न ताहि ॥१४९४॥
सो न सुगंधहि लेय, रूप पारखी नयन हैं। तिहिं तैसहि कौंतेय, जिहिं की जैसी योग्यता ॥१४९५॥
जो तपयुत अरु भक्त हों, लखहु सुभद्रा नाह। गीता ना चाहत सुनन, ताहि सुनाओ नाँह ॥१४९६॥
किंवा जो तपयुक्त हों, भक्ति करैं गुरुदेव। अभिलाषी गीता श्रवन, तहूँ एक अवरेव ॥१४९७॥
कर्ता गीताशास्त्र के, सकल लोक के नाथ। साधारण तिहिं मानि के, झुकि नहिं नावत माथ ॥१४९८॥
जो मुहिं औ' मम भक्त कहँ, निंदत औ' बतरात। तिन्ह तें या उपदेश की, करहु न कबहूँ बात ॥१४९९॥
निंदक केरे गुण सबै, सदा जानिये हीन। रँनहि बाती तैलयुत, दीपक ज्योति विहीन ॥१५००॥
गोर बरन तन तरुन वय, अलंकार शृङ्गार। हीन सबै इक प्रान बिन, सोहत नहीं असार ॥१५०१॥
कंचन निर्मित घर सुभग, परम प्रकाशित सर्व। पै नागिन तिहिं द्वार बसि, रूंधे आय सगर्व ॥१५०२॥

जेंवन जो अमृत सरिस, कालकूट दे डार । ऊपर ते हो मिश्रता, भीतर कपटागार ॥१५०३॥
निंदा करै अजान, मेरी मेरे भक्त की । जानहु नष्ट सुजान, ताकी सुधि तप भक्ति सब ॥१५०४॥
आगर बुद्धि सुभक्त जो, तप तें तापै देहु । पै निंदक को हाथ से, गीता छुवन न देहु ॥१५०५॥
निंदक को बहु का कहौं, जो विरंचि सम एहु । कौतुकहु ते ताहि कहँ, गीता छुवन न देहु ॥१५०६॥
जो तपरूपी नींव पर, पूर्ण भक्ति गुरु फेर । यह मंदिर सोहत सदा, भीतर औ' चहुँ फेर ॥१५०७॥
गीता मंदिर स्वर्णमय, कलश अनिन्द्य रत्न । श्रवणेच्छा घर द्वार जो, उघरे सदा सयत्न ॥१५०८॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

अर्थ—जो कहि परम रहस्यमय, गीता भक्तहिं गाय ।
परम भक्ति मो माँहि करि, असन्देह मुहि पाय ॥६८॥

गीतारत्न पधारि हो, मंदिर भक्त स्वरूप । मो समता तम पाय हो, जग महँ परम अनूप ॥१५०९॥
कारन एकाक्षर पना- ऽकार उकार मकार । त्रय मात्रन के गर्भ में, वास करत ओंकार ॥१५१०॥
गीता वृक्षहिं पाय कै, वेद बीज ओंकार । वेद मातु फल फूल शुभ, प्रति श्लोक विस्तार ॥१५११॥
सो कछु भक्तन पाउ, गीता माता मंत्रमय । शिशुहिं न जीवन आउ, जिमि माता सन तिहिं मिलन ॥१५१२॥
आदर तें मम भक्त को, गीता भेंटे जोय । देहानंतर मोहि में, अर्जुन एकहि होय ॥१५१३॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अर्थ—गीता भेंटत भक्त को, तिहिं सम प्रिय नहिं आन ।
होनहार प्रियतर नहीं, जग महँ ताहि समान ॥६९॥

धारण करिकै देह को, पृथक् रहत जो आपु । ताको जीवन-प्राण तें, चाहत आपुहिं आप ॥१५१४॥

ज्ञानी कर्मरु तापसी, ये जानति यदि मोंहि । गीता समुझनहार जन, अतिशय प्यारो सोहि ॥१५१५॥
जो गीता उपदेश करि, भक्त मण्डली माँहि । कोऊ पृथ्वीतल विषय, अतिशय प्रिय तिमि नाँहि ॥१५१६॥
चित थिर करि गीता पढ़त, ईश्वर ही को ध्यान । सर्वश्रेष्ठ तिहि मानिये, संत शिरोमनि जान ॥१५१७॥
नव किसलय रोमांच हैं, कंपन मंद बयारि । मधुर वचन आनंद है, पुष्प नयन वहि धारि ॥१५१८॥
कोकिल ध्वनि वाणी मधुर, गद्गद बोले बैन । वक्ता सत बसंत है, श्रोता बाग सुखैन ॥१५१९॥
चन्द्र उये आकाश में, सार्थक जन्म चकोर । नूतन घन की गर्जनहिं, सुनि नाचत मन मोर ॥१५२०॥
जहँ सज्जन समुदाय, गीता पद्य सुरत्न को । मम स्वरूप बरषाय, मोंहिं मैं भारत उरहिं जो ॥१५२१॥
ऐसे उत्तम पुरुष सम, प्रिय नहि अन्य दिखाय । सत्यहु भयो न प्रिय कबहूँ, नहि भवितव्य जनाय ॥१५२२॥
गीता अर्थ सुनाय के, सेवहि संत सुजान । धारण करि अन्तःकरण, मानि प्रमोद महान ॥१५२३॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अर्थ—जो पढ़ि गीता धर्ममय, यह संवाद स्वरूप ।
पूजे मोंहि सु ज्ञानमख, मेरी मति अनुरूप ॥७०॥

जो सत्संगति मोर तुव, यह उत्तम संवाद । मोक्षधर्म के विजयहित, आयो जग महँ नाद ॥१५२४॥
सकल अर्थदायक सुखद, आपुन यह संवाद । अर्थ न समुझें पढ़न को, केवल पठन सवाद ॥१५२५॥
ज्ञान अनल प्रज्वलित करि, मूल अविद्याहि होम । सो मोको तोषत सुमति, जैसे जग को सोम ॥१५२६॥
अनुभव गीता अर्थ को, ज्ञानी शोधक होय । अर्थ हीन गावत सुनत, इमि फल पावत सोय ॥१५२७॥
केवल गीता पढ़त इक, कोउक जानत अर्थ । फल समान दूहुँ सुतन जिमि, माता देति समर्थ ॥१५२८॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

अर्थ—श्रद्धायुत निन्दारहित, सुनि जो गीता गान।
सोइ मुक्त शुभ पुण्ययुत, पावत लोक महान ॥७१॥

सकल मार्ग निंदहि तजे, आस्था धारे शुद्ध। श्रद्धा तें गीता सुने, केवल भाव विशुद्ध ॥१५२९॥
गीता अक्षर जाँय, तिहिं श्रोता के कान में। पातक सकल विलाँय, श्रवनरन्ध्र तें जात ही ॥१५३०॥
आग लगत बन माँहि जिमि, आवहिं तें सुलगात। तैसहि लागत अनल के, वनचर सकल परात ॥१५३१॥
गिरि उदयाचल में जबै, झलकन लागत भानु। अंधकार आकाश में, पावत विलय सुजानु ॥१५३२॥
गीता गानहु कान के, महाद्वार में जाँय। आदि सृष्टि तें अघ जिते, अन्तःकरण विलाँय ॥१५३३॥
कुल पवित्र सब होय अस, आप पुण्यकर रूप। होवहि लाभ अलभ्य तिहि, या प्रमाण नरभूप ॥१५३४॥
गीताक्षर जे कान तें, अन्तःकरणहिं जाँय। प्रति अक्षर हयमेध तें, पुण्य होय अधिकाय ॥१५३५॥
गीतहि श्रवण प्रताप तें, पाप होयँ सब नाश। धर्मवृद्धि या योग तें, पावँ स्वर्गहिं वास ॥१५३६॥
स्वर्गहि प्रथमहि वास करि, मो पावन के काज। निज इच्छा पर्यन्त सुख, भोग मिलत कुरुराज ॥१५३७॥
गीतहि पढ़तहि प्रेम तें, अथवा सुनत सुजान। आनंद अति मद्रूप फल, अधिक न सकों बखान ॥१५३८॥
अधिक कहा विस्तार, आरंभ्यो जो कार्य यह। अब पूछों मनुसार, पूर्ण भयो तुव कार्य कह ॥१५३९॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्थ—अर्जुन कहु मेरो वचन, सुन्यो चित्त दै कान।
कहु तुम्हरे अज्ञान को, मोह नस्यो बलवान ॥७२॥

कहहु पार्थ सिद्धान्त सब, गीता के परिपूर्ण। तुम्हरो मन मानत भयो, अथवा रह्यो अपूर्ण ॥१५४०॥
जिहिं विधि अर्जुन मैं तुमहि, कानहि दियो विचार। तैसे तुम्हरे चित्त महँ, भयो कि नहि स्वीकार ॥१५४१॥
किंवा ऐसी बात जो, बिखरी बीच न ध्यान। अस्वीकृति के हेतु वा, यों ही छाड़यो जान ॥१५४२॥
जैसहि हम तुमसें कह्यो, तुम्हरे हृदय समाय। सो तुम अपने हृदय की, सत्वर देहु बताय ॥१५४३॥

मोहजनित अज्ञान तुव, तासेँ भूल भुलाय। गीता सुनि अवशेष सो, रह्यो कि नाँहि बताय ॥१५४४॥
अब बहु पूछहुँ मैं कहा, तुमहि कहो निज भाँय। कर्म अकर्म दिखात हैं, की नहिं कहुँ दिखाँय ॥१५४५॥
अर्जुन निज आनंद के, एक रूप रस मग्न। भेद बुद्धि लहि प्रश्न तें, उत्तर में संलग्न ॥१५४६॥
अर्जुन आतम पूर्णता, लहि यदि सधै न काज। मर्यादा सिंहि द्वैत की, राखत हैं यदुराज ॥१५४७॥
का नहिं जानत बात, श्रीकेशव सर्वज्ञ हैं। पूछत औ' बतरात, ता कारण करिके यहाँ ॥१५४८॥
याही कारण प्रश्न इहिं, अर्जुन पन में लाय। पारथ तें निजपूर्णता, को वर्णन करवाय ॥१५४९॥
क्षीरसिन्धु महँ रहत ही, क्षीरसिन्धु बिलगाय। पूर्णचंद्र जिमि गगन महँ, तेज पुंज दरसाय ॥१५५०॥
अहं ब्रह्मता भूल करि, सब जग ब्रह्मस्वरूप। पुनि ताहू को भूल करि, अर्जुन अर्जुन रूप ॥१५५१॥
इहि प्रकार तें ब्रह्म की सुस्मृति बिस्मृति पाय। सदुख सतन अर्जुन बने, देहभाव पर आय ॥१५५२॥
कांपत कांपत हाथ तें, रोमावली मिटाय। पोंछत पोंछत बिन्दुश्रम, पार्थ रहे सकुचाय ॥१५५३॥
अर्जुन प्राण समीर बढ़ि, डोलत अंग सँभाल। कंठ सगदगद स्वेदजल, भूलि भुलायो चाल ॥१५५४॥
नयन युगल तें बहि चले, अश्रु प्रवाह सुनीर। आनंदामृत बाढ़ को, पोंछत रोकत बीर ॥१५५५॥
उत्कंठा समुदाय तें, कंठ रुंध्यो जो आय। ताहू को पुनि हृदय महँ, दीन्हों पार्थ दबाय ॥१५५६॥
अर्जुन सकुचित ठाढ़, बहुरि यथाक्रम लाय के। प्राणवायु की बाढ़, वाणी की वैषम्यता ॥१५५७॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्थ—अच्युत आप प्रसाद तें, नस्यो मोह संदेहु।
अब थिति महँ सुस्मृति मिली, करिहौं आयसु देहु ॥७३॥

अर्जुन बोले कृष्ण तें, का पूछत भगवान। मोह गयो परिवार सह, मोंहि त्याग निज थान ॥१५५८॥
सूर्य उदय ते नयन महँ, दिसत न कहुँ अँधियार। तहँ यह कहब कि कहँ गयो, कौन ग्राम के पार ॥१५५९॥

श्रीकृष्ण मम नयन के,पथिक भये इत आय । मोहनाश निःशेष ह्वै,पुनि रहि सकत कि काय ॥१५६०॥
जो माता तें अधिकतर, पूर्ण कृपा सह प्रीति । ज्ञान कह्यो निस्तार तें, जो अलभ्य सब रीति ॥१५६१॥
सो पूछत कस नाथ अस,मोह रह्यो कछु शेष । प्रभु प्रसाद कृतकृत्य भो,आपुन रूप विशेष ॥१५६२॥
अर्जुन पन अभिमान वश मैं,पायो तो मोह । मुक्त भयो प्रभु एकतहि,कहव गुनब किमि मोह ॥१५६३॥
आतम बोधहिं प्राप्त करि, भगवन् आप प्रसाद । मोह समूह विनाश भो, रह्यो न वाद विवाद ॥१५६४॥
द्वैतद्विपन तें उठत जो, कार्य अकार्य विवाद । द्वैत नाश तें जगत में, प्रभु सिवाय सब बाद ॥१५६५॥
जहाँ कर्म निःशेष, मैं निश्चय वह वस्तु हौं । रह्यो न संशय लेश, अब मो महँ याके विषय ॥१५६६॥
क्रिया प्राप्त मद्रूपता, केवल आप अधार । निपट गये कर्तव्य सब, प्रभु आज्ञा सिर धार ॥१५६७॥
जाके देखे दृश्य सब, दूजेपन महँ दोष । नसत द्वैत सर्वत्र पसि, एकरूप मम कोष ॥१५६८॥
सबंधहिं संबंध जिहि, जिहिं आसहिं तें आस । जिहि भेटें ते भेंट सब, आपहि होय विनाश ॥१५६९॥
सो प्रभु तुम गुरु मूर्ति मम, एकाकी सहकारि । होत बोध अद्वैत मैं, ताकहँ परे निवारि ॥१५७०॥
स्वयं ब्रह्म ह्वै जात है, त्यागे कर्म अकर्म । पुनि असीम सेवा करै, जानि परम निज धर्म ॥१५७१॥
गंगा पहुँचत सिंधु महँ,होत समुद्र विशाल । तिमि निजपद को लाभ दै, भक्त मिलत तत्काल ॥१५७२॥
सोई सद्गुरु सेव्य प्रभु, भेद रहित भगवान । ब्रह्मरूपता देय मोहि, कीन्हों आप समान ॥१५७३॥
ओटहि भेद प्रभाव तें,रहि जे कठिन किवार । सो निवारि तिहिं सरिस करि,सेवा सुख आधार ॥१५७४॥
सकल लोक आधार, देवराज देवाधिपति । प्रभु मम पालनहार, जो अनुशासन देहु मुँहि ॥१५७५॥
अर्जुन के सुनि बैन सुख,-मग्न भये गुरुराज । मोहि कहत सब विश्वफल, ता कर फल कुरुराज ॥१५७६॥
जिमि निज मर्यादा तजत,पय निधि लखि सुत चंद । पूर्ण भक्त अर्जुनहिं लखि, तिमि नाचे गोविंद ॥१५७७॥
कृष्णार्जुन संवाद शुभ, मंडप सुंदर जान । लग्न लगी दुहुँ हृदय की, लखि संजयहु सुल्तान ॥१५७८॥
संजय बोले प्रेम तें, सुनु राजा धृतराज । व्यासदेव रक्षक भये, आनँद हिये सुराज ॥१५७९॥
ज्योति बिना तुव नयन हौ, देखत नहि संसार । ज्ञानदृष्टि दे मोहि को, शक्ति हेतु व्यवहार ॥१५८०॥
सारथि हाँकनहार रथ, घोड़ा परखन हार । सो मो कहँ परगट भयो, यह संवाद अपार ॥१५८१॥

ऊपर समर प्रसंग में, कठिन घोर घमसान। उभयपत्त की हार महँ, हार आपुनी मान ॥१५८२॥
ऐसहि जहँ संकट समय, तहाँ अनुग्रह गाढ़। श्री श्रीकृष्णहि की कृपा, ब्रह्मानंदी बाढ़ ॥१५८३॥
द्रवत न राजा अंध, संजय के ऐसहु कहे। द्रवै न जिमि प्रतिबंध, चंद्रकिरण पाषाण पै ॥१५८४॥
ऐसी राजा की दशा, लखि बैठे चुपचाप। जान्यो पुनि कछु हर्ष महँ, करन लगे आलाप ॥१५८५॥
आनँद वेगहिं भूलकर, संजय बोलन लाग। जान्यो अधिकारी नहीं, जनु सोवत तें जाग ॥१५८६॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

अर्थ—इमि मुकुन्द भगवान अरु, श्री अर्जुन संवाद।
यह अद्भुत रोमांचकर, सुन्यो सहित आह्लाद ॥७४॥

संजय कह कुरुराज सुन, अर्जुन भ्रातापुत्र। कमलनयन श्रीकृष्ण प्रति, भाषत मधुर पवित्र ॥१५८७॥
उदधि पूर्व पश्चिम दुवौ, नाममात्र दो बार। नीर दृष्टि तें एक ही, देखिय समुझि विचार ॥१५८८॥
कृष्णार्जुन तन भेद तें, परत दिखाई दोय। पै संवाद विचार तें, भेद न देखत कोय ॥१५८९॥
दो दर्पण अति स्वच्छ सम, धरे बराबर आन। दीख एक में एक के, रूपहिं एक समान ॥१५९०॥
केशव अर्जुन सहित हैं, अर्जुन कृष्ण समेतु। निज को देखत उभय तहँ, दोऊ खग कपिकेतु ॥१५९१॥
देव स्वरूपहिं आपुने, निरखि निजहि औ पार्थ। ताहि ठाँव महँ कृष्ण को, पार्थ विलोकि यथार्थ ॥१५९२॥
किंचित नहिं दूजोपनो, अतः करहिं कछु काहि। श्रीकृष्णार्जुन दोउ तहँ, भये एक इकताहि ॥१५९३॥
सुसंवाद सुख होय, भेद भाव के रहत ही। प्रश्नोत्तर किमि होय, यदि न भेद रहि जाय सो ॥१५९४॥
यातें प्रश्नोत्तर समय, बोलत वाणी द्वैत। ता सुख अनुभव हेतु तजि, द्वैत गुने अद्वैत ॥१५९५॥
उभय आरसी स्वच्छ करि, सन्मुख सरिस धराय। करै कल्पना तब तहाँ, को लखि को लखि जाय ॥१५९६॥
नाना भास्कर उदय तें, जो चहुँ दिशि उजियार। कौन प्रकाशित है तहाँ, कौन प्रकाशनहार ॥१५९७॥

दीपक सन्मुख दीप धरि,कौन करत निरधार । कौन दीप किहि दीप को, करत तहाँ उजियार ॥१५६८॥
कृष्ण धनंजय कथन में, दोउ भये तहँ एक । सब विचार तहँ थकि गये, रह्यो विचार न नेक ॥१५६६॥
दो प्रवाह जल जहँ मिलत,लवण धरै तहँ जाय । करि न सकै सो पृथकता,तिहि क्षण नीर समाय ॥१६००॥
श्रीकृष्णार्जुन कथन महँ,ध्यान धरत मन लाय । संजय को मन लवण जिमि,सो जल माँहि समाय ॥१६०१॥
उदय सात्विकहिं भाव, सजय के अस कहत अरु । संजयपनो दुराव, ता प्रभाव तें तहँ भयो ॥१६०२॥
जिमि जिमि बढ़ि रोमावली, तिमि शरीर सकुचात । स्वेद थकावट जीति कैं, एक कँपावत गात ॥१६०३॥
अद्वय के आनंद तें, दृष्टिहिं ब्रह्मानंद । तातें आँसू स्रवत जिमि, द्रवत प्रेम सानंद ॥१६०४॥
आनँद तें ताको हृदय, फूल्यो नाँहि समाय । कंठ रुकत श्वासें बढ़ति, कढ़त वचन कँप जाय ॥१६०५॥
आठौं सात्विक भाव तें, अतिशय कंठ रुकान । जनु चौपँथ संजय भये, संवादहि सुख खान ॥१६०६॥
शांति मिलत है आपुही, ता सुख की अस जाति । देह मान पावन भये,संजय सो इहि भाँति ॥१६०७॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

अर्थ—व्यास कृपा तें मैं सुन्यो, परम गुह्य यह ज्ञान ।
योगेश्वर श्रीकृष्ण मुख, स्वयं कहत भगवान ॥७५॥

आनंद पाइ उतार मैं,संजय बोले आप । जो उपनिषदन में न मिलि,मिलि सो व्यास प्रताप ॥१६०८॥
यह इक भावहि की कथा, ब्रह्मभाव मिलि जाय । 'मैं तू' पन की सुधि जो,सो सब डूबि विलाय ॥१६०६॥
सब जिहिं ठौरहिं योग पथ,आकरि के मिलि जात । सोइ वाक्य मम हृदय महँ,व्यास प्रसाद समात ॥१६१०॥
अर्जुन को धरि रूप, अर्जुन मिस श्रीकृष्ण प्रभु । बोले वचन अनूप, आपुन ही उद्देश तें ॥१६११॥
श्रीहरि के तिन वचन को,श्रवणयोग्य मम कान । अद्भुत गुरु सामर्थ्य को,कहँ लगि करहुँ बखान ॥१२१२॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

अर्थ— यह अद्भुत अति पुण्यमय, कृष्णार्जुन संवाद।
राजन सुमिरौं बहुरि बहु, बहुरि बहुरि आह्लाद ॥७६॥

संजयपन तजि कहि इतो, विस्मय पायो फेरि। रत्नप्रभा जिमि प्रगट दुरि, प्रगट होति है फेरि ॥१६१३॥
शशि उदये उपजत फटिक, हिमगिरि सर के नीर। पुनि सूर्योदय के भये, द्रवित होय बिन धीर ॥१६१४॥
सजय को तैसे मिलत, देहभाव जब आय। पुनि पुनि विस्मृति होति है, संवादहिं चित जाय ॥१६१५॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

अर्थ—नरपति हरि को रूप अति, अद्भुत वार न पार।
चित हर्षित आश्चर्य अति, सुमिरत वारंबार ॥७७॥

नरपति तें संजय कहत, उठि करिके सानंद। विश्वरूप लखि आप किमि, रहि हौ बिन आनंद ॥१६१६॥
जो देखे बिन दिखत है, अरु अमान तें मान। बिसरे ते सुमिरन बनत, कैसो चूको जान ॥१६१७॥
निरखि आचरज करन को, तहाँ नाँहि अवकाश। महापूर आनंद को, जिमि आवत आकाश ॥१६१८॥
कृष्ण किरीटी कथन के, संगम में सुस्नान। करत अहंता को तहाँ, मोह तिलांजलि दान ॥१६१९॥
कृष्णहि कृष्ण उचार, तहँ अखण्ड आनंद महँ। लेत सु वारंवार, गद्गद कंठहि श्वास चढ़ि ॥१६२०॥
संजय की ऐसी दशा, जानत नहिं कुरुराज। करि न सकत कछु कल्पना, जो तिहिं मनहिं विराज ॥१६२१॥
संजय तब सुख लाभ निज, दावत अपने ठाँव। तजि के सात्विक भाव को, धारन करि तनभाव ॥१६२२॥
संजय यह अवसर कहा, यातें कहा तुम्हार। इमि राजा धृतराष्ट्र कहि, कहु यह कौन प्रकार ॥१६२३॥
कहौ कौन उद्देश तें, ब्यास बसायो आनि। सो प्रसंग तुम छाँड़ि के, कहत जु कछु मनमानि ॥१६२४॥
जिमि वनवासिहि महल में, दश दिशि शून्य प्रतीत। सूर्योदय महँ रात्रि जनु, निशिचर करहिं ब्यतीत ॥
जा महँ जिहि गौरव नहीं, ता'ह भयंकर जानि। तातें अनुभवहीन नर, अप्रसंग तिहिं मानि ॥१६२६॥
कलह जनित जो युद्ध यह, प्रस्तुत है यहि ठाँव। ता महँ विजयी होय को, संजय मोहिं बताव ॥१६२७॥

यों साधारण जगत बुद्धि, मन तें आपो आप । दुर्योधन में अधिक है, संजय सदा प्रताप ॥१६२८॥
छिवढ़हि सैन्य जनाय, पांडव तें तुलना करत। मिलहि न किमि कहि जाय, निश्चय जय दुर्योधनहि ॥१६२९॥
ऐसहि हम तुमसे कहत, तुम्हरो कौन विचार । संजय तुम हम से कहौ, नेक न लावहु बार ॥१६३०॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

अर्थ—श्री योगेश्वर कृष्ण जहँ, अरु धनुधारी पार्थ ।
तहँ श्री, जय, ऐश्वर्य ध्रुव, नीति मोर मति सार्थ ॥७८॥

को जीते को हारिहै, कहि न सकत मैं तागु । आयुमान जो होत है, ताहि जियन की आगु ॥१६३१॥
जहाँ चन्द्र तहँ चाँदनी, जहाँ शंभु तहँ अंब । जहाँ संत तहँ ज्ञान है, बिंब तहाँ प्रतिबिंब ॥१६३२॥
नृपति जहाँ तहँ सैन्य है, जहँ सज्जन तहँ प्रेम । जहाँ अग्नि तहँ उष्णता, सदा रहत यह नेम ॥१६३३॥
जहँ करुणा तहँ धर्म है, धर्मस्थल सुखधाम । जहँ पुरुषोत्तम सुख तहाँ, मानहु वचन ललाम ॥१६३४॥
जहँ बसन्त उपवन तहाँ, वनमझार तहँ फूल । फूल जहाँ मधुदाय तहँ, रहत भ्रमर-गन भूल ॥१६३५॥
गुरुवर जहँ तहँ ज्ञान है, तातें आत्माभास । समाधान तहँ भास जहँ, होत मातु विश्वास ॥१६३६॥
जहाँ भाग्य तहँ होत है, सुख को अधिक विलास । जहँ विलास उल्लास तहँ, रवि जहँ तहाँ प्रकास ॥१६३७॥
केशव जी जहँ नाथ, लच्मी को तहँ वास ध्रुव । स्वामी जहाँ सनाथ, तासें सब पुरुषार्थ तहँ ॥१६३८॥
निजपति सह जगदम्बजी, रहतीं जाके पास । अणिमादिक दासी तहाँ, करि सर्वदा निवास ॥१६३९॥
कृष्ण विजय के रूप हैं, सदा रहत जिहिं साथ । विजय तहाँ निश्चय रहत, सत्य कहौं कुरुनाथ ॥१६४०॥
केशव विजय स्वरूप हैं, अर्जुन विजयी नाम । निश्चय श्री अरु विजय को, तहाँ अहै सुखधाम ॥१६४१॥
कृष्ण सरिस श्री मातु पितु, जाके होय सभाग । ताकी देशी तरु करँ, कल्पवृक्ष से लाग ॥१६४२॥
किमि न होत चिन्तामणिहिं, तहँ के सब पाखान । कंचनमय किमि होत नहिं, तहँ की भूमि निदान ॥१६४३॥
सरित तहाँ के ग्राम की, अमृत देय बहाय । या महँ नहि आश्चर्य कछु, समुझि देखि कुरुराय ॥१६४४॥

और अनर्गल वचन तिहिं, वेदवाक्य हो जायँ । सच्चित् आनँद देहयुत, कैसे सो न कहाँय ॥१६४५॥
दुहूँ पद स्वर्गहु मोक्ष के, जिहिं स्वाधीन लखातु । सोई पितु श्रीकृष्ण प्रभु, अरु श्री कमला मातु ॥१६४६॥
या अतिरिक्त अजान, स्वयं सिद्ध है सब तहाँ । लक्ष्मीपति भगवान, कुरुपति जाके पक्ष महँ ॥१६४७॥
जिमि समुद्र के मेघतें, जग विशेष उपयोग । तिमि पारथ के भाग्य में, कृष्णचन्द्र को योग ॥१६४८॥
कनकहिं दीक्षा देत हैं, लोहा पारस पाय । जगहिं पोप व्यवहार में, स्वर्ण महत्वहिं पाय ॥१६४९॥
अरु गुरुता को हीनता, या उपमा तें जोय । दीप रूप में आपुहीं, अग्नि प्रकाशित होय ॥१६५०॥
श्रीकृष्णहु की शक्ति तें,पार्थ शक्ति अधिकात । याकी स्तुति तें कृष्ण की,शक्ति अधिक दरसात ॥१६५१॥
चाहत पितु निज तें अधिक, सुत में सब गुण सोय । सा इच्छा श्रीकृष्ण की, यातें पूरण होय ॥१६५२॥
नरपति बहु मैं का कहौं, कृष्ण कृपामय पार्थ । जाको पक्ष सुधारि कैं, रीति निबाहत सार्थ ॥१६५३॥
अहे सोइ थल बिजय को,यामें का सन्देह । जो न बिजय अर्जुन लहै सोउ बिजय को खेह ॥१६५४॥
जहँहि बिराजत लच्छमी, तहँहि बसत श्रीमंत । भाग्योदय जय तहँ जहाँ, पारथ औ' श्रीकंत ॥१६५५॥
ध्रुवहि मानु तिहिं सोय,जो जो मैं बोलत खरो । तुमहिं भरोसो होय,व्यास वचन यदि सत्य है ॥१६५६॥
श्रीपति जहँ श्रीकृष्ण हैं, तहाँ भक्त समुदाय । तहँ मंगल सुखलाभ सब, रहहिं तहाँ ही जाय ॥१६५७॥
जो न कथन मम सत्य सो,व्यास शिष्य जनि मान । भुज उठाय करि गर्जना,संजय कहि सम्मान ॥१६५८॥
सकल भारतहिं सार लै, इहिं सुश्लोकहिं आन । हाथ दयो कुरुराज के, संजय परम सुजान ॥१६५९॥
अग्नि महत अति होत तिहिं, वार्ता के वपु लाय । सूर्यहि के अँधियार को, तातें दूर कराय ॥१६६०॥
अर्जुन वेद अनंत तें, भारत लक्ष सवाय । तामें गीता सात सौ, साररूप समभाय ॥१६६१॥
सो गीता को सार लै, इहि सुश्लोक महान । व्यास शिष्य संजय करत, पूर्णोद्गार बखान ॥१६६२॥
या एकहिं सुश्लोक तें, शेष रह्यो जो सर्व । जाति अविद्या की भगे, जीतत रहत न गर्व ॥१६६३॥
गीता के पद सात सौ, सोई यह सुश्लोक । गीता नभ परमामृतहिं, वर्षत करत अशोक ॥१६६४॥
श्री गीता के माँहि,मुँहि प्रतीति अस होत है । ये पद खंभहि आँहि, आत्मरूप नृप महल के ॥१६६५॥
सप्तशती गीता जु यह, मंत्ररूप जगदम्ब । मोह महिष मर्दन करत, आनन्दित अविलम्ब ॥१६६६॥

काया औ' मन वचन तें, याको सेवक होय। निजानंद साम्राज्य को, चक्रवर्ति है सोय ॥१६६७॥
अंधकार अज्ञान को, नाश करन के काज। भानु मात सों जनु उये, पदरूपी व्रजराज ॥१६६८॥
श्लोकाक्षर द्राक्षालता, मंडप गीता रूप। सृष्टि मार्ग श्रम हरण यह, प्रगटायो गुरभूप ॥१६६९॥
गीता के पद सब कमल, कृष्ण सरोवर माँहि। संत भ्रमर गुंजत तहाँ, भाग्यवंत सब आँहि ॥१६७०॥
केवल ये सुश्लोक नहिं, गौरवयुत कुरुराय। गीता महिमा अमय कही, वन्दीजन समुदाय ॥१६७१॥
सुंदर गीतापद सुखद,श्लोक कोट चहुँ ओर। सकल शास्त्र तहँ आय कैं,बसत परम रसबोर ॥१६७२॥
निज पति गीता आत्म तिहिं,प्रेमालिंगन देन। आवत बाहु पसारि मुदि,श्लोक रूप सुख लैन ॥१६७३॥
गीता कंज सुगंध महँ, गुंजत पुंजन भृंग। हरि के गीता रथ तुरग, गीता सिन्धु तरंग ॥१६७४॥
गीता गंगा पास, श्लोकहिं वपु सुखतीर्थ महँ। आवत परम हुलास,अर्जुन नर सिंहस्थ लखि ॥१६७५॥
ये श्रेणी सुश्लोक नहिं, चिन्तामणि दातार। अथा कल्पनातीत को, कल्पवृक्ष विस्तार ॥१६७६॥
सातहु सौ सुश्लोक सब, बढ़े एक तें एक। को विशेष अविशेष को, जानि परत नहिं नेक ॥१६७७॥
निरखि कामदुह धेनु को, यह बरनत नहिं लोग। की यह अधिक दुधारु है,की नहिं दोहन जोग ॥१६७८॥
दीपहिं अगिलो पाछिलो,सूरज को बड़ छोट। सुधासिंधु को गहरु अरु, उथल कहब अतिखोट ॥१६७९॥
गीता के सुश्लोक सम, अन्तिम प्रथम न अंक। पारिजात के पुष्प जिमि, जूने नये न शंक ॥१६८०॥
गीता के पद अतुल सब,कहा समर्थ न होय। जहँ वाचक अरु वाच्य को,भेद लखत नहिं कोय ॥१६८१॥
इकहि शास्त्र यह ही जहाँ,वाचक वाच्य मुकुंद। जानत जगत प्रसिद्ध अस,को न कहत मतिमंद ॥१६८२॥
साधन शंक विहीन, वाच्य वाचकहिं एकता। सोई पाठ प्रवीन, अर्थ समुझि जो फल लहत ॥१६८३॥
योग्य समर्थन मोहिं कछु, विषय न शेष जनाय। वाणीरूप मुकुंद की, गीता मूर्ति दिखाय ॥१६८४॥
इतर शास्त्र को बाँचि के,अर्थ समुझि फल पाय। तैसो गीताशास्त्र नहिं,सकल ब्रह्ममय आय ॥१६८५॥
देव जगत पै करि कृपा, अर्जुन को मिस पाय। ब्रह्मानंद महान को, सहजहि दियो मिलाय ॥१६८६॥
जिमि त्रिभुवन संतप्त लखि, मिस चकोर के चंद्र। उदय होत सब दुख हरत, तैसे ही व्रजचन्द्र ॥१६८७॥
गौतम मिस कलिकाल के, दोष निवारण हेतु। गंगा लाये जगत में, चन्द्रमौलि वृषकेतु ॥१६८८॥

अर्जुन वत्स निमित्त तिमि, कृष्णरूप गो होय । गीतारूपी दूध दुहि, कियो जगत हित सोय ॥१६८९॥
इत यदि जीव निमग्न ह्वै, गीतारूप अनूप । पाठ रूप श्रम जेहि लहि, सोऊ गीता रूप ॥१६९०॥
एकहि अंशहिं लोह जिमि, पारस परसै जाय । सकल अंश कंचन बनै, निश्चय ही कुरुराय ॥१६९१॥
जबहि होंठ लगि जाय, पाठ पंथ गश्लोक पद । ब्रह्म पुष्टि पहुँचाय, तब ही ताके अंग में ॥१६९२॥
करहिं पठन मुख देखि वा, करवट पौढ़े जाय । श्रवन भनक कानहु पड़े, सोऊ सो फल पाय ॥१६९३॥
दातहिं नहीं अदेय जिमि, कोई माँगै जाय । पढ़हि गुनहि समुझहि तथा, मुक्ति मिलै तिहिं धाय ॥१६९४॥
गीतहिं सेवहि चतुर नर, सकल शास्त्र को सार । इतर शास्त्र सेवन करैं, स्वार्थ कहा गुनि चार ॥१६९५॥
अर्जुन औ' श्रीकृष्ण को, गुप्त मुक्त संवाद । करतल गहि कै व्यासजी, कीन्ह सुलभ सुस्वाद ॥१६९६॥
शिशु कहँ माता लाय कै, भोजन देत सप्रेम । ग्रास करति मन अनुभवति, शिशु अनुकूलहि क्षेम ॥१६९७॥
किंवा जैसे चतुर नर, पंखा निर्मित कार । निज हाथहिं लावत भले, सुरुचि समीर बिचार ॥१६९८॥
जो वाणी मिलत नहिं, ताहि अनुष्टुप छन्द । समुझैं शूद्र त्रियादि सुधि, इमि विरच्यो सुखकन्द ॥१६९९॥
स्वाती के जल के पड़े, जो मोती नहिं होत । तो तिय सुंदर अंग किमि, शोभित होत उदोत ॥१७००॥
आवत नाद न वाद्य में, तो कैसे सुनि जात । फूल न फूलत जो कहुं, तो सुगंधि किमि जात ॥१७०१॥
नयन लखत नहिं ताहि, दर्पन बिन निजरूप को । रसना पावत काहि, स्वाद न जो पक्वान्न महँ ॥१७०२॥
निराकार गुरुमूर्ति श्री, होय न जो साकार । कौन उपास्य उपासना, कौन उपासन हार ॥१७०३॥
सांख्य न ब्रह्म अगाध है, गणना गिनी न जाय । सो संख्या शत सात बिन, कैसे जानी जाय ॥१७०४॥
उदधि नीर घन लाय कै, बरसत जग महँ आय । घन बिन जग महँ उदधि को, नहिं उपयोग दिखाय ॥
जिहिं वाचा पावत नहीं, तिहिं लहि गीताधार । जो न होत गुश्लोक वर, किमि सुख कानहिं द्वार ॥१७०६॥
याही तें श्रीकृष्ण के, संभाषण के रूप । व्यास रच्यो यह ग्रन्थवर, जग उपकारि अनूप ॥१७०७॥
सो गीता को अर्थ मैं, व्यास वदन कहँ पेखि । सुलभ कर्णपथ नागरी, ओवि मरहटी लेखि ॥१७०८॥
शंका को पावत जहाँ, व्यासादिक को ज्ञान । ताहि कहत मैं मन्दमति, कियो ढिठाई आन ॥१७०९॥
गीता मोला ईश वपु, व्यास सरोरुह माल । धारि कंठ पुनि दूबदल, मोतें लेत दयाल ॥१७१०॥

जाय हस्ति समुदाय, क्षीरसिंधु तट पय पियन। पय न पियें तट जाय, सो का बरजत मशक कहँ ॥१७११॥
सब गगनहिं आक्रमन करि, गरुड़ अकाश उड़ात। खग नभ फूटे पंख तें, जस तस नभ ठहरात ॥१७१२॥
गति अति सुंदर चलन की, राजहंस जग माँहि। तो पुनि दूसर जगत महँ, चलत कि कोऊ नाँहि ॥१७१३॥
अति अगाध जल तें कलश, जल लहि निज अवकाश। तिमि अंजलि अवकाश निज, नीरहि ले सहुलास ॥
अधिक प्रकाश मशाल तें, फैलत है चहुँ ओर। पै बाती निज बित सरिस, करत प्रकाश न थोर ॥१७१५॥
जो विस्तार समुद्र को, तैसो ही अवकाश। डाबर में अवकाश जस, तैसो ही तहँ भास ॥१७१६॥
उत्तम बुधि व्यासादि अति, या महँ कियो विचार। तामें चुप ह्वै मैं रहौं, युक्ति न यह अविचार ॥१७१७॥
जिहिं समुद्र महँ गिरि सरिस, जलचर बसत महान। तिनहिं जानि लघु मीन का, रहति न तहाँ निदान ॥
अरुन बसत है भानु ढिग, निरखत तिनहिं महानु। धरनी पर चींटी रहति, सो लखति का भानु ॥१७१९॥
देशी भाषा माँहि, यातें मैं प्राकृत मनुज। यह अनुचित कछु नाँहि, गीता अर्थहि मैं कह्यो ॥१७२०॥
जनक जात जिहिं पंथ तें, निरखत ताके पाँव। बालक का तिहि पंथ तें, चले न पावत ठाँव ॥१७२१॥
चालत पीछे व्यास के, भाष्यकार पथ ठाँव। मैं अयोग्य पूछत चलौं, तो का उतहिं न आँव ॥१७२२॥
क्षमहि जासु धरनी सहति, सचराचर उत्पात। जाके अमृत गुणहिं लै, शशि जग ताप मिटात ॥१७२३॥
जाके अंगहिं तेज लहि, तेज लहत है भानु। अंधकार संकट जगत, तातें नसत सुजानु ॥१७२४॥
उदधि लहत जातें उदक, उदक लहत माधुर्य। माधुर्यहि जाते मिलत, सहज सुभग सौन्दर्य ॥१७२५॥
और समीर पराक्रमहिं, नभ पावत विस्तार। उज्ज्वलता ज्ञानहि मिलत, चक्रवर्ति सुविचार ॥१७२६॥
जातें वक्ता वेद वर, सुख पावत आनंद। जगत विराजत सुयश कछु, तातें परमानंद ॥१७२७॥
सद्गुरु नाथ समर्थ श्री, पर उपकार समर्थ। हृदय बसत मम करि कृपा, मोहि बतावत अर्थ ॥१७२८॥
सकल अर्थ तात्पर्य, गीता सांगोपांग इमि। या महँ का आश्चर्य, देशी भाषा मैं कही ॥१७२९॥
गुरुवर द्रोणाचार्य की, पार्थिव मूर्ति बनाय। एकलव्य सेयो विपिन, अटल कीर्ति जग छाय ॥१७३०॥
चंदन के ढिग के विटप, सब चंदन ह्वै जायँ। श्री वसिष्ठ आश्रित बसन, रवि सम तेज कराय ॥१७३१॥
सद्गुरु सब मम चित्त अरु, गुरु मम धनी समर्थ। अवलोकत निज सम करत, चित्त विराजत अर्थ । १७३२॥

उत्तम दृष्टिहिं पाय कै,भानु प्रकाशहि पाय । पुनि कहु अस किमि ह्वै सकै,ताहि न परै दिखाय ॥१७३३॥
नित नर मम मुख श्वास प्रति, श्वासहि परम प्रबंध।ज्ञानदेव किमि होय नहि, गुरु प्रसाद संबंध ॥१७३४॥
देशी भाषा माँहि तिहिं, गीता अर्थ प्रकाश। लोग लखैं तहँ सहजही, पूर करैं निज आस ॥१७३५॥
उदासीनता तबहि नहीं, जो वक्ता नहि पास । देशी भाषा सरल पढ़ि, गीता अर्थ प्रकाश ॥१७३६॥
गायक उत्तम होय जो,तो यह भूषन योग्य । गायक बिन वाचक रहे,तोऊ कछु न अयोग्य ॥१७३७॥
सोहत सुंदर रंग, अभूषन भृंगार बिन । शोभित अधिक सुअंग, अलंकार धारन किये ॥१७३८॥
सुंदर अति मोती लगत, लगि कंचन के संग । कंचन बिन अगहु रुचिर, मोती अपने रंग ॥१७३९॥
सुमन मोगरा के गुंथे,ऋतु वसंत में माल । सो सुगधि बिनहु गुंथित, सुंदर सुखद रसाल ॥१७४०॥
गीता शोभित पठन तें, अरु गायक संबंध । सोहत दोई भांति ते, पद्य बद्ध सुप्रबंध ॥१७४१॥
समुझहिं बालक वृद्ध सब, पद्य बद्ध सुप्रबंध । सफल ब्रह्म रस स्वाद भरि, गुन्थि अक्षर संबंध ॥१७४२॥
चंदन के तरुवर निकट,जो सुगंधि हित जाय।सुमन न तामहँ देखि कछु, मन कहुँ दुखत कि काय ॥१७४३॥
श्रवन करत या ग्रंथवर,लावत तहाँ समाधि। का सुनि यहि व्याख्यान को,पुनि न सुनन की साधि ॥१७४४॥
कथन मिसहि पांडित्य तें, करि जो शुद्ध बखान । तो अमृत हूते मधुर, पावत स्वाद महान ॥१७४५॥
अमृत तें अति सुरस यह,काव्य सु गुरू प्रसाद । निदिध्यास मनन रु श्रवन, जीति सराहत स्वाद ॥१७४६॥
आतम वपु आनंद, यातें सबको ही मिलत । पोषण करि सानँद, श्रवण करत सब इंद्रियहिं ॥१७४७॥
चंद्र रसहिं निज शक्ति तें, भोगत चतुर चकोर । पै सब ही को चाँदनी, प्राप्त होत चहुँ ओर ॥१७४८॥
इंद्रियजित अधिकारि लहि, पावत सुख संचार । वचन चतुरता लोक लहि,पावत सुख संचार ॥१७४९॥
ऐसो नाथ निवृत्ति को, गौरव जानहु साँच । केवल ग्रन्थ न तिहिं कृपा, वैभव निश्चय जाँच ॥१७५०॥
क्षीर समुद्रहिं पार शिव, शक्तिहिं दियो सुनाय । ना जानै यह कब कह्यो,मो तें कह्यो न जाय ॥१७५१॥
क्षीर समुद्रहिं मध्य महँ,गुप्तरूप यह ज्ञान । मीन उदर बसि लहि लियो, श्रीमत्स्येन्द्र सुजान ॥१७५२॥
जहँ गिरि सत भृंगी तहाँ,बिन कर पद चौरंग । आये श्री मत्स्येन्द्र लखि,तिन्ह पाये सब अंग ॥१७५३॥
इच्छित अचल समाधि के, कारण श्री मत्स्येन्द्र । दीन्ही गोरखनाथ को, मुद्रा श्री ज्ञानेन्द्र ॥१७५४॥

सरवर योग सरोज जो, विषय विनाशक धीर । निज योगेश्वर पदहिं पे, अभिषेक्यो मतिधीर ॥१७५५॥

अक्षय आनँद दाय, आदिनाथ ते लाय सुख । सब पायो गखदाय, सो श्री गहिनीनाथ ने ॥१७५६॥

कलिमल ग्रसित त्रिलोक जन, आयसु गहिनीनाथ । दीन्ही नाथ निवृत्ति को, इमि गनि नायो माथ ॥१७५७॥

आदिगुरू शिव निकट तें, परम्परा संबंध । आयो है सो शिष्य कुल, बोधैश्वर्य प्रबंध ॥१७५८॥

सोही आप निवृत्ति लखि, कलिमल ग्रासित जीव । वेगि जाय रक्षण करहु, सब प्रकार सुख सींव ॥१७५९॥

आयसु लहि प्रथमतः, नाथ निवृत्ति कृपाल । नीरद नाद समान जिमि, उत्सुक वर्षा काल ॥१७६०॥

आरत के दुख हरन हित, गीता अर्थ सुभान । ग्रन्थनि मिस यह ग्रन्थ करि, शान्तरसहि वर्षान ॥१७६१॥

चातक रटत पियास जिमि, इच्छा गुरू प्रसाद । मुहिं लखि शिष्य अनन्य करि, कृपा कीर्ति मर्याद ॥१७६२॥

ऐसाहि सकल समाधि धन, गुरुक्रम द्वारा पाय । दीन्ही नाथ निवृत्ति मुहिं, ग्रन्थ इकत्र सँभाय ॥१७६३॥

कतहुँ न मम वाचन श्रवन, गुरु सेवा अनजान । ऐसे महँ यह ग्रन्थ की, का योग्यता सजान ॥१७६४॥

सत्यहु पै गुरुनाथ ने, मोहिं निमित्त कराय । सो प्रबंध मिस जगत के, रक्षा करत सनाथ ॥१७६५॥

ऊनो पूरो बोल, कहत पुरोहित गुणहि में । सहन करत जो ख्याल, सो मम गुरु माता सरिस ॥१७६६॥

किहिं विधि रचना शब्द की, कैसे अर्थ चढ़ाहिं । अलंकार कहिये कहा, सो मैं जानत नाहिं ॥१७६७॥

कठपुतली जैसे चलत, सूत्राधार प्रभाव । मैं भाषत तिमि स्वामि जिमि, मम हिय करत जनाव ॥१७६८॥

यातें याके दोष गुण, क्षमिय कहत मैं नाँहि । गुरु हिय बसि जो कहत सो, ग्रन्थहि धरि तुम काँहि ॥१७६९॥

आपुनि संत समाज महँ, त्रुटि न निवारन होय । जो न लहै परिपूर्णता, दोष आपको होय ॥१७७०॥

जो पारस को परसि कै, लोह न होवत सोन । तो लोहे के दोष को, कहिय बतावत कौन ॥१७७१॥

अघगन नाशन हेतु तें, जाय अन्हावत गंग । पातक दूर न होय जो, सो किहि दोष प्रसंग ॥१७७२॥

संत जनन के चरन लहि, महाभाग्य के योग्य । कहिये ऐसी वस्तु कहँ, जो जग मिलन अयोग्य ॥१७७३॥

संत समागम होय, कृपा कोर मम स्वामि की । रहत अपूर्ण न कोय, इच्छा सब पूरी भई ॥१७७४॥

आप सरिस सज्जन मिले, जो मो पर अनुकूल । सिद्ध भयो यह ग्रंथ सब, शेष न कछु प्रतिकूल ॥१७७५॥

क्षितितल सकल सुवर्णमय, होवहिं तासु प्रभाव । कुल गिरि चिंतामणि बनत, तपबल सहज स्वभाव ॥१७७६॥

सात उदधि अमृत भरे, तारा चंद्र प्रकाश । यहह कठिन न है कछू, सुनि जनि होय हताश ॥१७७७॥
कल्प विटपि के बाग हों, अगम न कछु या माँहि । पै गीता के अर्थ सब, गुरु बिन जानि न जाँहि ॥१७७८॥
सब प्रकार तें मूक मैं, भाष्यो भाषा माँहि । लखैं लोग निज नयन तें, सहजभाव श्रम नाँहि ॥१७७९॥
ग्रन्थ उदधि को पार करि, उतरयो तट पर जाय । कीर्ति विजय को तहं ध्वजा, नृत्य करति फहराय ॥१७८०॥
कलश सहित मंदिर महा, गीता अर्थ स्वरूप । मम गुरु मूर्ति पधारि कैं, पूजन करौं अनूप ॥१७८१॥
गीता माता कपट बिन, अपवश भूल्यो बाल । मातहिं शिशुहि मिलाइयौ, धर्म तुम्हार दयाल ॥१७८२॥
ऐसो नाँहि कहाय, ज्ञानदेव को कहब लघु । जो मैं विरच्यो आय, सज्जन जन तुव कृति निरखि ॥१७८३॥
कहहुँ बहुत का जन्म फल, पाया आनँद कंद । दियो मोहि करि कै दया, ग्रन्थ सिद्धि आनंद ॥१७८४॥
आशा मैं जैसी करी, आपुहि केर भरोस । सब विधि सो पूरी भयो, पायो सुख निर्दोस ॥१७८५॥
ग्रन्थ विरचि मुहि लाग प्रभु, सृष्टि दूसरी कीन । तिहिं लखि विश्वामित्र को, सृष्टि लगति हैं सिहीन ॥१७८६॥
नृप त्रिशंकु उद्देश तें, विधिहिं न्यूनता दैन । मरण सृष्टि मुनि कीन्ह यह, नित्यकथा सुख दैन ॥१७८७॥
क्षीर उदधि उपमन्यु लगि, शंभु कीन्ह उत्पन्न । सो उपमा इहि सम नहीं, वह विषगर्भासन्न ॥१७८८॥
निशिचर तम ग्रासित जगत, सचराचर कहँ पेखि । धाय निवारयो भानु तहँ, ताप रूप श्रुटि लेखि ॥१७८९॥
जगत तप्तता शांत करि, निज चाँदनि तें चन्द्र । शशि सदोष तिहि काहि किमि, ग्रन्थ सरिस ज्ञानेन्द्र ॥१७९०॥
या ही तें तुम सतजन, ग्रन्थ रचाय सुजान । उपकारी त्रिभुवन परम, उत्तम अनुपम मान ॥१७९१॥
कीर्तन धर्मस्वरूप, कहहुँ बहुत का तुव कृपा । सेवा करौं अनूप, भयो सिद्ध मम कार्य अब ॥१७९२॥
जो विश्वात्मक देव को, वचन यज्ञ तें तोष । करहि प्रसाद प्रदान मुहि, मान मनहिं सतोष ॥१७९३॥
सकल कुटिलपन त्यागि खल, प्रिय लागहिं सत्कर्म । बढ़हि परस्पर सबहि के, हृदय मित्रता धर्म ॥१७९४॥
अघगन तिमिर बिलाँय जग, सूर्य स्वधर्म प्रकासु । लहहिं सकल वाञ्छित फलहि, प्राणिमात्र सहुलास ॥१७९५॥
ईश्वरनिष्ठ समाज महँ, मंगलमय वर्षाय । सद्भावों ते शुचित लहि, प्राणी मात्र मिलाय ॥१७९६॥
कल्प विटपि चल वाटिका, चित् चिन्तामनि ग्राम । बोलत अमृतसिन्धु अति, सुंदर सुखद ललाम ॥१७९७॥
चंद्र अलांछन सुखद अति, तापहीन प्रिय भानु । प्रिय लागहिं सज्जन सदा, प्यारे सबहि सुजानु ॥१७९८॥

कहहुँ बहुत का सर्व सुख, पूर्ण होय त्रयलोक । आदि पुरुष अविनाशि भजि, होय प्रसन्न अशोक ॥१७९९॥
जो उपजीवी ग्रन्थ को, सुख पावै इहि लोक । उभय लोक सुख मिलै, विजयी सदा अशोक ॥१८००॥
दीन्ह सबहि वरदान, श्री विश्वेश प्रसन्न ह्वै । पाये वचन प्रमान, ज्ञानदेव सुखमय भये ॥१८०१॥
ऐसहि कलियुग के समय, महाराष्ट्र शुभ देश । गोदावरि दक्षिण तटहिं, सुखदायक गतक्लेश ॥१८०२॥
इक अनादि त्रयभुवन पैंच-, क्रोशी तीर्थ पवित्र । जग के जीवन सूत्र श्री,-मोहिनी राज सुमित्र ॥१८०३॥
सकल कला को धाम नृप, रामचंद्र जिहिं नाम । जो यदुवंश विलास नय, पालत धरनीधाम ॥१८०४॥
क्रमहि आदिनाथहि लह्यो, ज्ञान निवृत्तीनाथ । ज्ञानदेव तिहि शिष्य जिहि, गावत प्राकृत गाथ ॥१८०५॥
कृष्णार्जुन संवाद महँ, बरन्यो ज्ञान सुसिद्ध । ग्राम महाभारत वपुहि, भीष्म पर्व सुप्रसिद्ध ॥१८०६॥
उपनिषदों को सार यह, सर्वशास्त्र को गेह । परमहंस सरवर सुखद, सेवहि सहित सनेह ॥१८०७॥
यह सुपूर्ण अध्याय, अष्टादश गीता कलश । ज्ञानदेव चित लाय, श्री निवृत्ति के दास कहि ॥१८०८॥
उत्तर उत्तर कालक्रम, ग्रंथ पुण्य संपत्ति । जीव मात्र सब सुख लहैं, पूर्णतया महशक्ति ॥१८०९॥
द्वादश शत द्वादश शाके, करि टीका ज्ञानेश । साधु सच्चिदानंद तें, सादर लिखित अशेष ॥१८१०॥

ॐ तत्सदिति श्री संत-शिरोमणि श्रीमद् ज्ञाननाथ-विरचित भावार्थ-

दीपिकोपरि श्री अग्रवैश्यवंशोद्भव मंडला (माहिष्मती पुरी)

निवासि श्री सेठ (श्रेष्ठि) मद्दलालात्मज श्रीमद्

ज्ञाननाथस्य शिष्यानुशिष्यस्य किंकर

श्री गणेश प्रसाद—कृतायां गीता-

ज्ञानेश्वर्यां अष्टादशोऽध्यायः

शुभमस्तु

ॐ तत्सत् ३

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	दोहा	अशुद्ध	शुद्ध
१६	श्लो० ७८	(अमुद्रित)	अर्जुन उवाच
१७	१४८	सगद्	सगद
३०	श्लो० ११	(अमुद्रित)	श्रीभगवानुवाच
३४	१२७	अठच्	षठच्
३८	श्लो० २१	शचितु	शोचितु
४६	१६४	नराकार	निराकार
५१	२००	(अमुद्रित)	मिसि रागनिह चहुं दिशि गिरत,
			मीन मस्तक पर आय।
			मिसि स्वच्छ सहित मनुज को,
			महादोष लगदाय ॥ २०० ॥
५४	२३२	(अमुद्रित)	कुलिश कवच धारण करे,
			सहै शस्त्र सरीव।
			त्यों पुरुष रक्षित रहे,
			जीते गुरु स्वभाव ॥ २३२ ॥
५८	श्लो० ४६	नूरा	नूरंग
५०	२८६	निजराज	निजरूप
६७	श्लोक १८	गुह्यगते	गुह्यतमे
७४	१६६	कनमे	कर्दम
१०६	१००	(अमुद्रित)	जैसहि उठै हिलोर जल,
			पाकर पवन प्रसंग।
			अधिक कहा लिहि पृथक करि,
			ताको लोग तरंग ॥ १०० ॥

११६	७	अघुाई	नचाई
११६	२	जिमि मत नाहिं	मत नसात ही
११७	१६	गत	पत्र
१२३	१०६	सामर्थक	सामर्थ न
१३५	३४७	मन नाम्	मन न नाम्
१४२	४२३	मुमित	मुमिन
१४४	४३४	पालक	पागल
१४६	४६३	नायिका	नाविका
,,	४६६	माना	माया
१४७	४७६	बन्ध	वश्य
१५०	४	मत	मम
१५७	१७	प्रयतम	प्रियतम
,,	११३	पल्कि	पलिक
१५६	१२७	लुन	घन
१५६	१३१	क्रमा	कृपा
१६४	१८८	स्मृति	भृति
१६६	श्लो० २	श्रेयोऽसि	श्रेयोऽसि
१६७	१५	भग्यो	भगो
१६८	२६	करत	कहत
१६६	४१	विमद	निमह
१७३	६५	चिरा प्राण	देह प्राण
१७४	श्लो० १२	गूर्धन्या	मूर्ध्न्या
१८०	१६७	हिमहि	पवन
,,	२०६	ससय	समय
१८१	२१८	धीज	दीप
१८४	२६४	समास	समात

,,	२५७	भव्य सूल	दिव्य सुख
१८५	२६८	आरापित	आराधित
१८८	४६	जिज	जग
२०३	२८१	गृत	घन
२१५	४८२	कद्रू	रुद्र
२१६	४९६	माप	माथ
२२४	८४	मम	मन
२२५	१०९	पाश	पार्थ
२३०	१८०	आनदु	आनद्व
२४३	३२५	कवि	कवि
२४९	९१	गोहित	गोहि त
२५५	२०१	गुख	सुख
२७१	४२३	सहित	सरित
२७३	३२	उधय	उभय
२७४	२६४	बगर	नगर
२८०	४१	प्रसाद	प्रमाद
२८४	५९३	याये	यातें
२९१	६८२	शस्त्र	शास्त्र
२९२	५५	उर्द्दे प	उर्द्देश्य
२९४	श्लो० १	उवच	उवाच
२९८	८६	मन	मग
३०२	१४६	पेर	पेड़
३०४	१७४	हिय गिरि	हिम गिरि
३१९	१७६	पाग	पाप
,,	१७७	रूप	निरूप
३३९	५९५	पंग	पंथ

३४०	६७५	[illegible]	[illegible]
३५१	४४७	[illegible]	[illegible]
,,	९५०	[illegible]	[illegible]
३८७	९४०	[illegible]	बरातहि
३९४	७४३	[illegible]	[illegible]
३९५	३६३	[illegible]	[illegible]
४००	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४०२	श्लो० १	[illegible]	[illegible]
४०३	६१	[illegible]	[illegible]
४१८	२७१	[illegible]	[illegible]
४२०	४३६	[illegible], बचन	[illegible], बचन
४२६	६०	[illegible]	[illegible]
४३७	५६	[illegible]	नहि
४४६	२१७	[illegible]	[illegible]
४४८	४४१	[illegible]	[illegible]
४६४	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४७४	८६६	[illegible]	[illegible]
४९४	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५००	श्लो० १०	[illegible]	[illegible]
५०९	८८६	[illegible]	[illegible]
५१०	४०१	[illegible]	[illegible]
५१३	४४८	जीत	जीव
५२३	३६	[illegible]	मिलहि
५३६	४४१	[illegible]	[illegible]
५४४	३६८	[illegible]	[illegible]

परिशिष्ट

प्रथम अध्याय

परब्रह्म

पृष्ठ गाथा

१ १ आरम्भ में मंगल के लिये श्री ज्ञानेश्वर महाराज "वेदप्रतिपाद्य, केवल अनुभव से ही जानने योग्य, आदि परब्रह्म-स्वरूप आत्मरूप 'ॐकार' का जय जयकार करते हैं।"

गणेश

१ २-२१ तदनन्तर समस्त वाङ्मय साहित्य के बीज स्वरूप ॐकार को ही गणेश की प्रतिमूर्ति मान कर उनका पुनः मंगल स्तवन किया गया है।

"हे देव, आप ही समस्त अर्थ एवं बुद्धि को प्रकाशित करने वाले गणेश हैं। श्री निवृत्तिनाथ का यह नम्र शिष्य विनय करता है। इसलिये। शब्द रूपी ब्रह्म (वेद) ही आपकी सुन्दर मूर्ति (देह) है; वैदिक स्वर व्यञ्जन देहप्रभा, स्मृतियाँ अवयव, काव्यगत पंक्तियाँ अङ्गों के हाव भाव और अर्थ-सौन्दर्य उनका यौवन है। फिर, अठारह पुराण रत्नजटित आभूषण, नवीन पद-योजना आभूषणों का स्वर्ण, तत्त्वार्थ मणियाँ, सुन्दर काव्यरचना रंग बिरंगे वस्त्र और अनुप्रास, श्लेष, उपमा, रूपक आदि साहित्यिक चमत्कार उस वस्त्र के ताना-बाना (वस्त्र-तन्तु) के स्थान पर हैं। यदि इन काव्य नाटकों की छटा देखें तो इन्हें किंकिणिका (घुंघरू या क्षुद्रघंटिका) ही समझना पड़ेगा, जिनकी अर्थ ध्वनि रूपी "रुन-झुन, रुन-झुन" आवाज कानों को बहुत प्यारी लगती है। काव्यों की नानार्थयुक्त कुशल पदरचना पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो वे उन किंकिणिकाओं के बीच चमकने वाले मनोहर रत्न ही प्रतीत होंगे। वेदव्यासादि महर्षियों की प्रतिभा आपकी मणि-जटित मेखला है, जिसका तेज चारों ओर लटकने वाली झालर के समान चमकता है। षड् दर्शन आपकी छः भुजा और उन दर्शनों के परस्पर विरोधात्मक मतभेद भिन्न भिन्न आयुध हैं।

प्रश्न ओवी

१ २ से १८ इन आयुधों में तर्क को परशु, न्याय को अंकुश और अत्यन्त मधुर वेदान्त को मोदक जानो। और यह जो भग्न हुआ दाँत दिखाई देता है वह भगवान् शङ्कर की [illegible] प्रतिभा से निरस्त बौद्ध मत (वैनाशिक-शून्यवाद) है, जिसका खंडन [illegible] वार्तिककार¶ सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों में भी मिलता है। सत्कार्यवाद (सांख्य) [illegible] करकमल और धर्मप्रतिष्ठा (कणाद दर्शन‡) [illegible] है। और यह [illegible] गणेश की [illegible] आनन्द-रस [illegible] दार्शनिक संवाद [illegible] मीमांसादर्शन, बड़े बड़े कान हैं, जहाँ [illegible] मुनि-भ्रमर [illegible] ज्ञान का [illegible] पान किया करते हैं। द्वैत और अद्वैत नामक दोनों [illegible] गण्डस्थल के समान हैं, जो कि [illegible] होने के कारण [illegible] से प्रतीत होते हैं।†

दश उपनिषद् पुष्प गुच्छ हैं, जिनसे ज्ञान रूपी पराग बह रहा है। इस अलौकिक गणेश की मूर्ति को तो देखिए! यहाँ आकार चरण युगल, उकार विशाल उदर, और मकार

---

*जगद्गुरु शंकराचार्य (सं० [illegible]) ने बौद्धों के [illegible] मूलक शून्यवाद का युक्तिपूर्ण खण्डन कर पुनः श्रुति स्मृति सम्मत स्मार्तमार्ग (वैदिक धर्म तथा अद्वैतवाद) की स्थापना की।

¶वार्तिक ग्रन्थ की वह व्याख्या है, जिसमें कहे गये, न कहे गये या बुरी तरह कहे गये सिद्धान्तों का विचार हो।

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां, चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥'

‡कणाददर्शन में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इत्यादि सूत्रों में धर्म की प्रतिष्ठा की गई है।

†ज्ञानेश्वर प्रतिपादित ज्ञानमूलक भक्ति में द्वैत और अद्वैत या निर्गुण और सगुण का [illegible] नितान्त आवश्यक है। तत्त्वज्ञान द्वारा मायाजनित अज्ञानावरण को दूर कर ज्ञानमूलक अहैतुकी भक्ति का आनन्द प्राप्त करने के लिये अद्वैतभाव में द्वैतभाव का आरोप ही एक मात्र साधन है। यथा—

भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं, अद्वैतादपि सुन्दरम्।
जातं समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम्॥
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥ (बोधसार पृ० २००-२०१)

पृष्ठ दोहा

१ २ से २० —वाचक है। इस तरह अ-उ-म से बने इस शब्द अर्थात् ॐकार को मैं गुरु कृपा से बार बार नमस्कार करता हूँ।

सरस्वती एवं गुरुदेव

२ २१ से २७ इसके बाद निशविमोहिनी देवी सरस्वती की वन्दना की गई है। वाणी प्रथम साधन है और तत्वानुसंधान चरम साधन। किन्तु इन दोनों के बीच का मार्ग तय करने के लिये श्री गुरुचरणारविन्द ही एक मात्र अवलम्ब है। अतः इसके उपरान्त श्री गुरुदेव निवृत्ति-नाथ महाराज के प्रति आत्मनिवेदन किया गया है "जासु कृपा भव-निधि तरौं" आदि।

२३ अंजन नव - दिव्यांजन, जिसको आंखों में लगाते ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तथा पृथ्वी में गड़े पदार्थ दिखाई देने लगते हैं। मधि = में। ओतप्रोत = व्याप्त।

महाभारत महिमा

२८ कौतुक-जन्म-ठिकान = सभी कौतूहल जनक कथाओं को जन्म देने वाला।

३ २९ महानिधि तत्त्वार्थ = तत्त्व ज्ञान का महासागर। सुधा सिन्धु नव रसन को = शान्त शृङ्गार आदि नौ रसों का क्षीर-समुद्र।

३१ लक्ष्मी वाणी सुभगता महारत्न भण्डार = श्री और सरस्वती दोनों के सौभाग्यरूपी महा रत्नों का भण्डार।

३२ कहा तक कहूँ, साक्षात् देवी सरस्वती महामुनि व्यास की नवनवोन्मेषशालिनी अलौकिक प्रतिभा के रास्ते महाभारत के इस दिव्य कथा प्रबन्ध के रूप में त्रिभुवन में प्रकट हुई है।

३४ शब्दशास्त्र = व्याकरण। आत्म-विचार-विशेषता = आध्यात्मिक चिन्तन।

३८ जरा देखिये, लाल-पीले आदि रंगों को रंग बिरंगा आकर्षण महाभारत कथा से ही मिला है और गुणों को सद्गुण होने का सम्मान भी इसी से प्राप्त हुआ है।

४१ नागर = सभ्य।

४६ आंशिक प्रसिद्धि की आशा मनमें लेकर बड़ी नम्रता तथा उत्साह से समस्त पुराणों के

---

*'ओंकार' तथा 'अथ' ये दो शब्द सृष्टि के आदि में सब से पहले ब्रह्मा के मुख से निकले। इसी कारण इन्हें समस्त वाङ्मय का आदि बीजस्वरूप तथा मांगलिक माना गया है

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ, तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

पत्र पंक्ति

आख्यान (कथाप्रसंग) महाभारत में आ गये हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता महिमा

३-४ ५०-५२—"योगेश्वर [illegible] गीता [illegible] महाभारत [illegible] पराग ही है। इस [illegible] गीता [illegible] है। महर्षि [illegible] अलौकिक बुद्धि से समस्त साहित्य सागर का [illegible] ([illegible]) निकाला। फिर ज्ञान की [illegible] है।

४ ५३ जहाँ नित्य निरन्तर [illegible] "[illegible]" [illegible] करते हैं।

५४ राजन भीष्म पर्व महाभारत के [illegible] गीता है।

५८-६९ गीता [illegible] ऐतिहासिक तथ्यातथ्य-निर्णय, [illegible] से काम न चलेगा। इसके लिए आवश्यक है [illegible] ।

"गीतामृत पान का प्रकार कुछ [illegible] है। [illegible] कृष्णार्जुन-संवाद का कथन बिना शब्दों की सहायता के ही (मन ही मन) [illegible] बिना इन्द्रियों की [illegible] इस [illegible] मुख से निकलने से पहले ही इस परम [illegible] चाहिये। इस अतीन्द्रिय रहस्य को हृदयंगम करने का [illegible] भी नहीं [illegible] और [illegible] है। [illegible] पक्ष इस प्रश्न का [illegible] शान्त [illegible] चाहिये। [illegible] दूर आकाश में रहने वाले प्रियतम (चन्द्रमा) [illegible] में कोई कठिनाई नहीं होती। जिनका हृदय स्थिर एवं गम्भीर है उन्हीं को इस परम रहस्य का बोध हो सकता है। अतः अर्जुन के समान भावुक, शान्त एवं उदार श्रोता बनकर प्रस्तुत गीता-कथा-प्रसङ्ग को ध्यान से सुनें।"

पद गाथा

विनय

[illegible] [illegible] आत्मा [illegible], प्रतिपर्व [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] आकाश को [illegible] की सामर्थ्य उसमें किसी [illegible] ही हो सकती है। यही सोचते हुए यह गीतार्थ-प्रकाशनरूपी महान् कार्य हृदय में दुष्कर तथा कठिन प्रतीत होता है।

[illegible] पार्वती के प्रश्न पर शंकर ने गीता के महत्त्व पर प्रकाश डाला, "देवि, जैसे तुम्हारा काली-[illegible]-स्वरूप (समस्त तत्त्वों को प्रलय-काल में आत्मसात् करके परम-शिव को भी [illegible] करने वाला स्वरूप) दुष्कर तथा नित्य नवीन अर्थों को प्रकट करने वाला है, उसी तरह इस गीता-तत्त्व का भी जानो।"

[illegible] [illegible] — [illegible] — उसी [illegible] की अमर वैखरी वाणी में [illegible] प्रकाश हुआ है।

(सन्त-महिमा)

४ ७७ [illegible] संयोग से [illegible]।

७८ [illegible] नवीनता [illegible] इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। वस्तु की अलौकिक सामर्थ्य ही [illegible] है। उसके ही सिर पर [illegible] है।

८१ [illegible] के बल पर।

८४ [illegible] मोहित होकर। [illegible] - मैला।

६ श्लोक ८२ [illegible] मांगी। [illegible]।

श्लो० ८८ [illegible] - [illegible] होकर।

९० जैसे [illegible] प्रलय काल की वायु से [illegible] बड़वानल (समुद्र की आग) समुद्र को सुखा कर आकाश तक व्याप्त हो जाती है।

९४ [illegible] पर्वत रूपी [illegible]। द्रुपदकुमार = धृष्टद्युम्न।

श्लो० ४ युयुधान सात्यकि।

५ श्लो० ११ [illegible] पराक्रमी।

पृष्ठ दोहा

७ १०१ सुभद्रा हिय-सुखद – अभिमन्यु । सुयोधन – दुर्योधन ।

८ १०८ समितिंजयी – संग्राम में विजयी ।

श्लो० १० अपर्याप्त – अपरिमित या असीमित । पर्याप्त – परिमित या सीमित ।

९ दो० ११८ महावात – प्रलय वायु । गंगासुत – भीष्म ।

१२२ जितौ – जितना ।

१२४ सम इव – तुम्ह जैसा ।

श्लो० १२ फुंकात – बजाते हैं ।

दो० १२७ गर्जित भरगौ – गर्जना का शब्द भर गया ।

१२८ उभयनाद – दोनों आवाजों ने ।

१० १३२ श्रीनिवैपुल्य – अधिक बड़ ।

१३५ हृद-रव – हृदय रूपी शांत ।

श्लो० १४ हययुक्त महारथ – चार सफेद घोड़ा वाला रथ ।

११ १५ भीम कर्माकर – भयङ्कर काम करने वाला ।

१६ माद्रीसुत – नकुल एवं सहदेव ।

दो० १३८ गरुड़ सहोदर इव चपल – गरुड़ के समान तेज चलने वाले । (इनके अश्व, जो मानो गरुड़ के भाई हों)

१३९ सपक्ष – पक्ष वाले ।

१४० मूर्त महेश्वर , ... ध्वज – जहां ध्वजा पर शंकर के अवतार हनुमान विराजमान हैं ।

१४४ बाणनाद – बाणों की आवाज ।

१२ श्लो० १७ रिपुदल मर्दक – शत्रु-विजयी ।

१९ आपा-पृथ्वी – आकाश पृथ्वी । निःस्वान – आवाज

दो० १५१ नैकविध – अनेक प्रकार के

१५२ खसन लागे – खिसकने या हटने लगे ।

१५८ घोषावेश – आवाज का उमड़ना ।

१३ श्लो० २० शस्त्रपतन समकाल – जब मार काट शुरु होने वाली ही थी ।

पृष्ठ दोहा

१३ सो० १६४ भास परिवाह आधिक भग ।

श्लो० २१ मिन ठीक नीचा ।

१४ श्लो० २४ रागान उठे ।

१५ सो० १७५ रावस आार ।

१७७ जाने कौन कि काग कौन जाने क्या बात है ?

१८० श्गालक साला ।

१८४ होय गई ' ' वीरता अर्जुन के हृदय में दया का आविर्भाव वीरता का घोर अपमान था । इसी लिये संभवतः वीरवृत्ति उसके हृदय को छोड़ कर चली गई ।

१६ श्लो० २६ पेग्यु देखो ।

सो० १९५ काम्प । प्रति आ रम र अंगे सारे शरीर में रोमांच हो आया ।

१७ १६८ भयहु '' ' 'निश्चित मोहवश आज गज सम कठोर मन में भी स्नेह अधिक बलवान् हो गया ।

१६६ जिस अर्जुन ने किरातवेशधारी शङ्कर को युद्ध में परास्त कर मूर्तिमान काल के समान अमोघ पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया तथा इन्द्र के दिये हुए वज्रास्त्र द्वारा विशालकाय निवात, कवच आदि दैत्यों का नाश किया उसी गाण्डीवधारी अर्जुन के मन में करुणावश मोह छा गया ।

२०१ भ्रमर चाहे प्राण त्याग दे परन्तु कमल को चीर कर बाहर नहीं आ सकता । प्रेम की शक्ति भरने-सी कोमल हो कर भी पर्वत के समान कठोर है ।

२०२ प्रबाद्ु '' प्रबल आदिपुरुष की माया बड़ी बलवान है । इससे ब्रह्मा भी मुक्त नहीं ।

२०३ सिरानो समाप्त हो गया ।

२०४ पाहि रक्षा करो ।

२०५ तमास कुछ ।

१८ २१६ हम जो कमाते हैं उनका ही सुख, भोग देने के लिये कमाते हैं । इसलिये जीवन की सार्थकता इसी में है कि इसे भी उनके लिये उत्सर्ग कर दिया जाय ।

२० २३४ भोग नहीं कटु रोग -ओणजा को मार कर प्राप्त हुआ राज्य सुखोपभोग भयंकर रोग के

पृष्ठ दोहा

सामान [illegible] स्वार्थी होगा ।

२० २३५ ललितलावण्य हे ! परम सुन्दर [illegible] ।

२३७ रास्ता चलते यदि शेर सामने आ जाय तो [illegible] बचा लेने में ही भलाई है । अन्यथा संकट दूर न होगा ।

२३९ ज्वाला-कुण्ड आग की लपट से ।

२१ श्लो० ४१ संकर दोष वर्णसंकर दोष ।

दो० २४६ विधि-निषेध-व्यवहार कर्तव्याकर्तव्य मर्यादा, नियम ।

२२ २५४ जब नैमित्तिक [illegible] स्नानादि, नैत्यिक [illegible] आदि [illegible] क्रियाएँ लुप्त हो जायगी तो [illegible], पितरों को तिलांजलि कौन देगा ।

२५८ प्रतिवेशी पड़ोसी ।

२३ २६६ अलीक मिथ्या, पाप ।

श्लो० ४७ रथ-उपस्थ के सार्थ रथ के पिछले भाग में ।

दो० २७१ [illegible] [illegible] ।

२४ दो० २७५ अप्रति [illegible] ।

द्वितीय अध्याय

पृष्ठ दोहा

२५ श्लो० १ अति कृपालु अत्यन्त करुणायुक्त । मधुवाक् मधुर वचन ।

दो० ३ [illegible] [illegible] । [illegible] बहुत ।

४ कृपायुक्त करुणायुक्त । [illegible] [illegible] । [illegible] राजहंस ।

श्लो० २ आरज योग्य न श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरण न करने योग्य ।

२६ दोहा ९ ठाँव आश्रय स्थान ।

१० किरात वेशधारी शङ्कर, [illegible] आदि राक्षस (देखो परिशिष्ट अध्याय प्रथम दोहा [illegible])

पद्य दोहा

२६ १० तथा पाञ्चाल यात्रा के समय सोमाश्रयण तीर्थ के पास गङ्गा में जलक्रीडार्थ आये हुए अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) आदि गन्धर्वों को युद्ध में परास्त कर, हे अर्जुन ! तुमने उनसे अपना यशोगान करवाया ।

१७ अर्जुन'......'क्रोध हे अर्जुन, मेंढक साँप को कैसे खा सकता है ?

१८ कह कथा ।

२० "विवेक से काम लो, यह बात तुम्हारे लिये उचित नहीं । इस तरह तो तुमने अब तक जो कुछ किया है वह भी नष्ट हो जायगा ।"

२४ चिरपरिचय—पुराना परिचय ।

२७ २७ इहहिं ऐहिक प्रतिष्ठा ।

२८ पात अधोपात । अधोगमनात्मक पतन के लिये ।

३० पितामह भाग पितामह पर क्रोध ।

३१ दैव'......'क्रोध हे दैव, यह धर्मयुक्त नहीं पागलपन है । इसमें प्रवृत्ति (जूझना) अत्यन्त दोषपूर्ण है ।

३७ धनुर्वेद धनुर्विद्या या अस्त्रशिक्षा । चीन्ह जान पहिचान कर ।

३८ भस्मासुर'......'संहार भस्मासुर दैत्य की तरह, जिसकी कृपा से वरदान पाया उसको अर्थात गुरु (द्रोणाचार्य) को कैसे मार सकता हूँ ?

भस्मासुर ने भगवान शङ्कर से वरदान पाया कि जिसके सिर पर हाथ रखूँ वह भस्म हो जाय और फिर वह भगवान शङ्कर के ही सिर पर हाथ रखने दौड़ा ।

२८ आर्य ४ अति उदार- त्याग एवं दयायुक्त । श्रेय लहौं कल्याण पाऊँगा । अर्थ काम'......'भीख अर्थ-लोलुप गुरुजनों को मार कर उनके रुधिर से सने भोगों का आस्वाद प्राप्त करूँ ।

३९ सागर की गम्भीरता में भी ज्वारभाटा का महाविनाश छिपा रहता है । किन्तु द्रोणाचार्य के स्वरूप अगाध धैर्य-समुद्र में कभी भी क्षोभ का ज्वार नहीं देखा गया ।

४० मान माप

४१ सुधास्वाद'......'वशकाल चाहे अमृत के स्वाद में भी विकार पैदा हो जाय या दैववश वज्र भी टुकड़े टुकड़े हो जाएँ ।

पृष्ठ दोहा

२८ ४२ माता का प्रेम संसार में आदर्श माना गया है, किन्तु गुरु द्रोणाचार्य तो स्नेह की साक्षात् मूर्ति हैं, जिनसे करुणा का जन्म हुआ है।

४८ क्या नवीन तीखे बाणों से इनके मर्म स्थान पर प्रहार करके खून से लथपथ राज्य सुख भोगा जाय ?

५० नेकहु तनिक भी।

२९ ५४ श्रेय कह ठीक क्या है ?

अर्थ ७ कश्मल= मोह जनित शोक या कायरता। हेतु ज्ञान। निश्चय श्रेय जो मार्ग निश्चय ही श्रेयस्कर हो।

५६ सुपीन अति स्थूल। सहेतु युक्तिसहित।

५८ भवताप दैहिक, दैविक और आधिभौतिक तीन ताप संकट।

३० अर्थ ८ ऋद्ध धन-धान्य पूर्ण। इन्द्रिय-शोषक इन्द्रियों को सुखाने वाला।

दोहा ६५ महेन्द्र इन्द्र। अगाध अतिशय।

६७ परमामृत प्रभु का नाम रूपी अमृत (प्रभु नाम स्मरण)

६९ लहरि मोह की लहर।

७० काल व्याल काल रूपी साँप। लहरि दूसरी जोग दूसरे ही क्षण मोह की लहर उमड़ पड़ी।

७१ है मर्मस्थल··· ··· अपार मोह रूपी सांप ने इनके मर्मस्थलों को घेर लिया है। ये सर्पदंश की लहरें नहीं रुकतीं।

७२ दृष्टिहिं सब विष हारि जो भगवान कृष्ण कृपा दृष्टि से ही सारा विष दूर कर सकते हैं। गारुड़ी विषवैद्य।

७६ निदाघ ग्रीष्मकाल। दवारि जंगल की आग। आर्द्र आद्र।

७८ से ८०—भगवान् के दांतों की आभा मानों बिजली की चमक है, श्याम शरीर बादल और वाणी गर्जना है। आप देखिये, इस कृपालु मेघ की अमृत वर्षा से अर्जुन का जलता हृदयरूपी पर्वत कैसे जुड़ाता है। और ज्ञान-द्रुम का नवीन अंकुर फूट कर के सर्वत्र शान्ति बिखेर देता है! श्री निवृत्तिनाथ का नम्र शिष्य ज्ञानेश्वर यह सब कथा आप से कहूंगा। इसे प्रसन्नता से मन के समाधानार्थ सुनिये।

पत्र दोहा

३१ ८१ आनैन बेनैन।

अर्थ १० मोचित दुःखित।

दो० ८४ मान्त्रिक ज्योतिषी, मल्लाह। मदन की पीर मद दशा से आया संकट।

८६ निदान आदि कारण। दिव्यौषधि रासायनिक बहुमूल्य दवा।

८८ सटोपारम्भ विशेष रचना के साथ। रार्षभ--रुशागी।

३२ अर्थ ११ ज्यों जैसे। बतरात बातें करते हो।

९२ ज्ञानी (समझदार) हो कर भी अज्ञान नहीं छोड़ते। सीख देने पर बहुत सी मोह भरी नीति की बात कहने लगते हो।

९४ आपुन.........पसारि तुम अपने को तो जानते नहीं और कोरवों के विषय में शोक करने वाले हो।

९५ कहु कहाँ गया।

९७ प्रतीति जनि होय ऐसा न समझो कि।

९८ अहंभाव मैं "मारूंगा" इस तरह का अहंभाव।

९९ वाधक हिंसक मारने या मरने वाला।

१०० सब जग की रचना। अनुताप शोक।

१०१ अशोच के शोच जिस बात का सोच न करना चाहिये उसका सोच। पोच बुरा।

१०२ ताके जन्म मृत्यु के।

अर्थ १२ हुते थे।

३३ १०४ उद्भव उत्पत्ति। सत्यकनित्य सत्य और नित्य। योग वियोग- उत्पत्ति और नाश (मिलना और बिछुड़ना)

११० देह.........जाय जैसे शरीर एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है वैसे ही चैतन्य (जीव) भी एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है।

३३ अर्थ १४ इन्द्रिय विषय--रूप,रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। आवत जात अनित्य उत्पत्ति एवं विनाशशील होने से अनित्य हैं।

३३-३४ दो०१११ से ११८--तत्वज्ञान के मार्ग में अज्ञान सबसे बड़ी रुकावट है। इसी के सहारे इन्द्रियां

पृष्ठ दोहा

११९ से १२८ विषयों की दास बनती है और अन्त में मोह-माया के जंगल में फँस जाता है। इन्द्रियों के विषय हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। कहा गया है कि इन्द्रियाँ विषयों का सेवन करती हैं, उससे हर्ष-शोक आदि विकारों का जन्म होता है और जब अन्त में [illegible] में फँसा जाता है। यही कारण है कि इन्द्रियों के शब्द आदि विषय [illegible] नहीं रहते। इन्द्रियों के सम्पर्क से ये कभी सुखमय और कभी दुःखमय प्रतीत होते हैं। जैसे निन्दा और स्तुति का विषय एक ही है—शब्द। किन्तु श्रवणेन्द्रिय [illegible] पड़ते ही दोनों भिन्न—सुख एवं दुःख—रूप में सामने आते हैं। कोमलता और कठिनता (स्पर्श) त्वचा के संयोग से संतोष तथा खेदरूप सुख दुःख की सृष्टि करते हैं। सुन्दर और भयानक दोनों "रूप" नाम से एक ही विषय हैं किन्तु आँखों में पड़ते ही अच्छे और बुरे लगने लगते हैं। नाक के पास आते ही सुगन्ध और दुर्गन्ध हृदय में संतोष और असंतोष [illegible] है यद्यपि दोनों का एक ही विषय है—गन्ध। इसी तरह हे अर्जुन, रस के [illegible] एक ही विषय मीठा और कड़वा जीभ में पड़ते ही आनन्द और ग्लानि उत्पन्न करता है। इन [illegible] विषयों की संगति से पतन निश्चित है।

२४ १२१ मृगजल = मृगमरीचिका, मरुभूमि (रेगिस्तान) की चमकती रेत प्यासे मृग को पानी की लहरें सी मालूम पड़ती है और वह पानी की आशा में भागते भागते मर जाता है। यही मृग-मरीचिका है।

अर्थ १६ असत = नाम रूपात्मक जगत। सत्-ब्रह्म।

दो० १२६ आत्मस्वरूप चैतन्य = व्यापक चैतन्य-स्वरूप परब्रह्म।

१२७ पय = दूध।

१२८ चतुर = चतुर स्वर्णकार (सुनार)।

२५ १५० घनीभूत = भारी।

१५२ तत्त्वत: विचार करने से प्रतीत होगा कि यह नामरूपात्मक जगत् [illegible]—असार—है और एक मात्र विकारशून्य चैतन्य ही सार (नित्य) है।

अर्थ १८ पतनयुत = नाशवान। प्रमेय = जो जाना जा सके।

१९ चित् = आत्मा।

पृष्ठ गाथा

२६ २० ध्रुव सदा रहने वाला। अज अजन्मा, आदिपुरुष परमात्मा।

२१ अव्यय अविनाशी-आत्मा।

सं० १४१ १४२— पानी से भरे घड़े में सूर्य का प्रतिबिम्ब देखकर बाद में यदि घड़े को उलट दिया जाए तो सूर्य का प्रतिबिम्ब ही नष्ट होगा न कि सूर्य। इसी तरह मठ के अन्दर का आकाश (खाली स्थान को आकाश कहते हैं) मठ की आकृति का होता है, किन्तु मठ के भग्न होते ही आकाश आकाश में मिल जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का नाश नहीं होता।

१४३ आरोप कल्पना।

२७ अर्थ २२ जीव आत्मा—चैतन्य।

सं० १४४ जूने पुराने। स्वीकारत नवत तन नवीन शरीर में प्रवेश कर जाता है।

१४५ रहित उपाधि देहोपाधिशून्य। निष्कळ अवयव रहित।

१४६ प्रथित प्रसिद्ध।

१४८ १४९—तर्क वितर्क मूलक बुद्धि से तो यह आत्म-तत्त्व देखा नहीं जाता। परन्तु हे पार्थ, योगीजन निर्विकल्प समाधि द्वारा उसे सदा देखते हैं। मन या साधनों की यहाँ गति नहीं। युक्ति भी यहाँ नहीं चलती।

२८ १५२ से १५४—गंगा की धारा की भाँति आदि (उद्गम) मध्य (प्रवाह) तथा अन्त (समुद्र मिलन) तक आत्मा एकरूप, अखण्ड और आदि-अन्तहीन है। अतः अर्जुन, तुम जन्म-मरण का व्यर्थ भ्रम न करो। इस क्रम को कोई नहीं मिटा सकता।

१५९ रहँट कुआ से पानी निकालने का घटीयन्त्र।

२९ १६५ पूर्वपक्ष अव्यक्त, निराकार। थिति—स्थिति, दशा।

१६८ अभ्रपटल बादलों का समूह।

१७० विरक्त सुरत भक्तिलीन भक्त।

१७१ कुछ लोग चित्त को विषयों से हटा कर, वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर तल्लीनता प्राप्त करते हुए कठोर तपस्या में निरत रहते हैं।

१७२ एक एकमात्र ध्येय। लक्ष्य को।

१७३ चित्त को विषयों से हटा कर निरन्तर उस चैतन्य के साथ अगाध तल्लीनता प्राप्त कर कुछ

पृष्ठ दोहा

लोग उसका गुणगान करते हैं।

४० १७४ तद्रूपल स्वभाव आधीनता।

१७८ भार भटनाएं।

१८२ जोग जो।

१८४ गो-दुग्ध उत्तम (लाभप्रद) है। किन्तु वैद्य लोग ज्वर ही नव ज्वर में विष के समान हानिकारक समझ कर अपथ्य बता देते हैं*। इसी तरह अर्जुन का दया भाव गुण होकर भी युद्ध के समय अवगुण है।

१८५ आपर कर्म करि आन को मनमानी करने से दूसर (गों) का काम उनका अन्य (गों) का।

४२ अर्थ ३४ पोचु बुरा है।

दो० २०२ सुख पर्यंक सुख की सेज।

२०३ इन रात्रु के मन तुम्हारे प्रतिपक्षियों के मन।

४०४ नाखि फेंक कर।

अर्थ ३५ नासि गयो भाग गया।

दो० २०६ नेकहू जरा भी।

२०८ अपार्थ व्यर्थ।

४३ २१२ अन्तकहू यमराज भी।

२१५ वारण-दल हाथियों का समूह।

२१६ वैनतेय कहँ नाग जिमि जैसे गरुड़ को सांप।

२१९ कुरुकुल क्रौर्य कौरवों की क्रूरता।

२२४ विष मिला कर पीने से तो दूध से भी मृत्यु हो जाती है। इसी तरह सकाम बुद्धि से किया हुआ धर्माचरण भवबन्धन में डाल देता है।

२२५ अघ-संचार पाप लगना।

४४ अर्थ ३९ सांख्य की बुद्धि सांख्ययोग या संन्यास मार्ग। योगबुद्धि निष्काम कर्मयोग।

दो० २३० सांख्य सरनि सांख्य मार्ग अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानयोग।

---

* टि०—जीर्णे ज्वरे कफे क्षीणे क्षीरं स्यादमृतोपमम्। तदेव तरुणे दत्तं विषवद् हन्ति मानवम्॥ (चरक)

पृष्ठ दोहा

४३ दो० २३१ बुद्धियोग—निष्काम कर्मयोग-द्वारा किये गये कर्म मनुष्य को कर्मों के बन्धन में डाल कर पीड़ा नहीं पहुँचाते ।

४४ ४५ २३२ से २३७—वज्र का कवच धारण कर लेने पर बाणों की भीषण वर्षा मनुष्य का बाल भी बाँका नहीं कर सकती। समराङ्गण में वह विजयी होता है। वैसे ही कर्मयोग का सिद्ध कवच धारण कर लेने पर ऐहिक सुखों का क्षय तो होता ही नहीं साथ में मोक्ष भी मिलता है। आरम्भ किये हुए सब काम बुद्धियोग द्वारा सफल होते हैं। जैसे मन्त्रज्ञ को प्रेतबाधा नहीं सताती वैसे ही मन में फल की आशा न रख कर्म करने वाले व्यक्ति के मार्ग में कोई रुकावट नहीं आती। जिन्हें इस बुद्धियोग में पूर्णता प्राप्त है वे देहोपाधि एवं जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ते। जो बुद्धि अटल है, सूक्ष्म है, पाप पुण्य से निर्लिप्त है और जो सत्त्व-रज-तम के त्रिगुणात्मक विकारों से दूषित नहीं होती, हे अर्जुन, ऐसी निर्मल बुद्धि की यदि भाग्यवश एक किरण भी हृदय में प्रवेश कर जाए तो संसार के बन्धन टूटे ही जानो।

४५ अर्थ ४१ अर्थ—नाना प्रकार के भोग एवं ऐश्वर्य देने वाले वेदों के कर्मकाण्डात्मक फलश्रुति वाक्यों में उलझे हुए अव्यवसायी लोगों की बुद्धि कभी भी समाधि अर्थात् एक कार्य में स्थिरता नहीं पाती।

दो० २४० विपर असत्।

२४१ दुर्लभ...... ...ज्ञान व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् कार्याकार्यविनिश्चयरूप बुद्धि का पर्यवसान (समाप्ति) ईश्वर की प्राप्ति में है। इस बुद्धि की प्राप्ति बहुत कठिन है। उदधि-सलिलगान समुद्र में जानो।

२४३ गतविकार राग द्वेष आदि विकारों से मुक्त।

२४४ श्रुतिसार वेदों की सारभूत।

अर्थ ४२ वेदवादरत वेदों के स्वर्गादि फलश्रुति वाक्यों में भूले हुए लोग, मख-यज्ञ। ओक स्थान।

दो० २४६ सात्त्विक कर्म इष्टापूर्त अर्थात् सकाम श्रुति स्मृति विहित यज्ञादि कर्म। सीमा चर्म-चरम सीमा।

पद्य   व्याख्या

४३ अर्थ ४३   विविध क्रिया संकुल — अनेक प्रकार की कर्मकाण्डवाली क्रियाओं से युक्त।

टी० २४८   आसक्त   आसक्ति।

अर्थ ४४   समाधाव व्यवसाय बुद्धि — एक लक्ष्य में स्थिर बुद्धि। निस्त्रैगुण्य — [illegible]।

टी० २५०   यज्ञभुज — यज्ञ का भोक्ता, इन्द्र। अपवर्ग — मोक्ष।

२५५   अर्थवाद — फलश्रुति। वैदिक यज्ञ के स्वर्ग आदि फलों का वर्णन अर्थवाद कहलाता है। इसका उपयोग केवल कर्ता के मन को आकर्षित करने के लिए है।

अर्थ ४५   त्रिगुण की श्रुति — कर्मकाण्डात्मक वेद सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों की बातों से भरे पड़े हैं। निर्योगक्षेम — आवश्यक वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा की चिन्ता छोड़ कर।

४७ टी० २५७   अधिकारे — यज्ञादि कर्म।

२५९   "मैं" मम — अहंभाव और ममता।

२६१   एकदा — एक साथ।

२६२   अपेक्षायोग — आवश्यकतानुसार।

२६३   नित्य-सत्य — शाश्वत सत्य।

अर्थ ४७   अकर्मण — कर्म न करने में।

टी० २६५   परित्याग — निरादर करके।

४८ अर्थ ४८   समत्व योग उच्यते — समता ही योग का रहस्य कहलाता है।

२६८   हर्ष सागर — खुशी में पागल।

२७० से २७३—कर्म करते हुए सफलता मिल जाए तो समझो, 'अच्छा ही हुआ' और यदि किसी कारण असफलता हाथ लगे तो भी समझो 'ठीक ही हुआ'। चित्त को व्याकुल न होने दो। जो भी कार्य होते चलें, उन्हें ईश्वर को अर्पण करते चलो। फिर सफलता में सन्देह नहीं। अर्जुन, ध्यान दो, स्वधर्म चाहे सुकर (आसान) या दुष्कर (कष्ट साध्य) हो तो भी उसे करते समय चित्त की वृत्ति सम और शान्त रखनी चाहिये। बुद्धि और मन के सन्तुलन में ही योग का रहस्य छिपा है।

अर्थ ४९   कृपण-सकाम = फल की इच्छा से कर्म करने वाला कृपण या दया का पात्र है।

पृष्ठ दोहा

४८ ५० कौशल = कर्म करने की चतुराई।

४९ ५२ अर्जुन, जब तेरी बुद्धि मोह का दल दल पार कर जायगी तब तू लौकिक तथा पारलौकिक सब सुनी सुनाई बातों (वादों और भोगों) से विरक्त हो जायगा।

दो० २८१ गिलत''' '''सुभाय = तब तेरा मन स्वयं इच्छारहित हो जायगा।

२८२ हम कुछ नवीन अज्ञात बातों को जानते हैं या पहिले से ज्ञात वस्तु को स्मरण करते हैं। ये दोनों तरह का अनुसन्धान तब नहीं रहता जब आत्मप्राप्ति अर्थात आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

श्लो० ५३ समाहित = परमात्मा में अचल और स्थिर।

५० ५५ निज में निज से निरत = अपने आप में सन्तुष्ट।

५१ ५६ सस्पृह = इच्छा करने वाला।

दो० २९४ नाँघ = नाग।

२९६ हे अर्जुन, इस तरह जो सुख दुःख आदि भेदभाव से दूर, आधि व्याधियों की उपाधियों के बन्धन से मुक्त है उसे स्थिरबुद्धि व्यक्ति जानो।

२९७ सरिस = सुख दुःख में समान।

२९८ सींव = सीमा।

३०० बिनाबार = तुरन्त।

५२ ३०४ यम नियमादि योगसाधना द्वारा श्रवण आदि इन्द्रियों का दमन कर लेने पर भी यदि रसनेन्द्रिय (वासना) का दमन न किया जाए तो विषय दूसरे हजारों रास्तों से साधक की इन्द्रियों पर आक्रमण करते हैं।

३०७ रस बिन'''नहिं = हे अर्जुन, रसके बिना जीवन रह ही नहीं सकता, इसलिये रसनेन्द्रिय को हठ से नहीं हटाया जा सकता। उसके लिये तो ब्रह्म रसलीन होना ही एक उपाय है।

३०९ सोऽहं भाव = 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप ब्रह्मज्ञान या आत्मबोध। दैहिक भाव = देह बुद्धि।

३११ मुष्टिक-मान = अपनी मुट्ठी या सिद्धि को तुच्छ मान कर जो मन को मुट्ठी में अर्थात वश में रखते हैं।

३१२ भूत-सन्ताप = प्रेत-बाधा।

पृष्ठ दोहा

५२ अर्थ ६२ [illegible] मुक्ता।

दो० २१७ मद्य-[illegible]-भोग [illegible]

२२० शंकह् — थोड़ी सी आशंका। सन्देह [illegible]।

२२१ विषयों की ओर ध्यान रहने से परम वैराग्यशील मनुष्य भी इनके संग में पड़ जाता है। और उस विषय-चिन्तन से अतिशय कामना का हृदय में प्रादुर्भाव होता है।

२२४ [illegible] — अस्त होते ही। [illegible]

२२५ अज्ञानान्ध [illegible] — अज्ञानरूपी अंधेरा। [illegible] बुद्धि भी भीतर ही-भीतर व्याकुल हो जाती है।

५४ २२९ प्रौढ़ता — विस्तार।

२३३ [illegible] ज्ञान प्राप्त कर।

२३५ मृगसमान — मृग के समान।

२३६ थाह — [illegible]।

५५ अर्थ ६६ अयुक्त — योग रहित। भाव — स्थिर बुद्धि रूप भावना। शम — शान्ति।

दो० ३४५ [illegible] — पार जाना।

३४७ योग युक्ति — इन्द्रियनिग्रह।

३४८ जो लोग इन्द्रियों के दास हैं वे यदि इस अपार विषयरूपी समुद्र से किसी तरह पार भी हो जावें, तो भी उन्हें डूबा हुआ ही समझो।

३४९ [illegible] — तूफान।

५६ ३५१ प्रवीन — चतुर।

३५३ निश्चय भाव सुधार — सुन्दर निश्चयात्मक भाव।

३५५ जहँ — जिस ब्रह्मज्ञान की निशा में।

३६० [illegible] — [illegible]।

३६२ भिल्लकुटी - भीलों की कुटिया।

५७ अर्थ ७१ निरीह - इच्छा रहित।

७२ ब्रह्मानन्द सन्दोह = आत्म सुख-समुदाय।

पृष्ठ दोहा

५७ दो० २६८ नि:सीन सीमा रहित, नि:सीम।

२६९ अन्त प्रकान्त शरीर त्यागते समय।

५८ २७१ से २७२ यह सुन अर्जुन मन ही मन प्रसन्न हो सोचने लगा, "यह तो मेरे मन की बात हुई। जब श्रीकृष्ण ने ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने के लिये समस्त कर्मों का निषेध कर दिया तो मुझे भी युद्ध के भीषण कर्म से छुटकारा मिल जायगा।" अब वह अपने पक्ष को प्रबल करने के लिये भगवान से उत्तम प्रश्न करेगा।

तृतीय अध्याय

पृष्ठ दोहा

५६ अर्थ १ कर्म-सुयोग ते कर्मयोग से। बुद्धियोग ज्ञानयोग।

दो० ३ कर्ता कर्म न पृथक हैं=तत्त्व दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि ब्राह्मी स्थिति में कर्ता और कर्म दोनों की सत्ता नहीं रहती।

४ मतिसार श्रेष्ठ बुद्धि।

अर्थ ५ सुख सन्दोह=सुखों का समूह।

दोहा ६ विवक=नित्यानित्य वस्तु विवेक या विचार।

६० ७ अंस अग्रता।

१४ कुबात अज्ञान मूलक बुरी बात अथवा बुरी हवा (तूफान)। श्रामित विनाशित।

१६ खरो ठीक।

१७ प्राकृत सीधी सादी भाषा में।

२२ धेन सुरभि कामधेनु।

२४ त्यों लों तब तक। आयास= परिश्रम।

२५ करत उपासन जन्म बहु अनेक जन्मान्तर की तपस्या से।

२८ सेय सेवायोग्य, सेव्य।

पृष्ठ दोहा

६१ २१ कुच – स्तन ।

अर्थ ३ निष्ठा स्थिति, साधना की परिपक्व अवस्था । ज्ञानियों सांख्योग ज्ञान या सांख्ययोगियों की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की कर्मयोग से 'निष्ठा' प्राप्त है ।

दोहा २२ बुद्धि सरणि कर्मयोग । संख्य भरणि सांख्ययोग । प्रकटित भयी मर्मांत की राह । स्वभाव सों सहज ही ।

३५–४४—दूसरे अध्याय में कर्म की अपेक्षा ज्ञान की अधिक प्रशंसा सुनकर अर्जुन के मन में शङ्का सी पैदा होगई । वह समझ नहीं सका कि कौन श्रेष्ठ है ज्ञानयोग या कर्मयोग ? इसी कारण दोनों का पृथक् २ स्वरूप बताकर परिणाम में दोनों की एकता या ज्ञान और कर्म का समुच्चय रूप में समन्वय भिन्न-भिन्न उदाहरणों द्वारा दोहा नं० ३५ से ४४ तक प्रतिपादित किया गया है ?

"हे शूर शिरोमणि अर्जुन, ध्यान दो । अनादि काल से चली आई दो निष्ठाएँ उपासना-मार्ग मुझसे ही प्रकट हुई हैं । इनमें प्रथम है ज्ञानी पुरुषों द्वारा आचरित ज्ञान-योग (सांख्ययोग) इसका मूल मुख्यतः आत्मोपासना है । शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान द्वारा आत्मतत्त्व से परिचय हो जाने पर समस्त कर्मों से संन्यास ले केवल आत्मनिष्ठ जीवन बिताना ज्ञानयोग कहलाता है । इसे प्राप्त कर साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' के तत्त्वज्ञान द्वारा ब्रह्मरूप हो जाता है ।

दूसरा मार्ग कर्मयोग या योग है । इसमें कर्मोपासना द्वारा साधक निष्काम भाव से कर्म करते हुए शनैः शनैः अवसर आने पर मोक्ष प्राप्त करता है । प्रथम चित्त शुद्धि के लिये तथा बाद में लोकसंग्रह (लोक कल्याण) के लिये ही सही आजन्म कर्म करते रहना कर्मयोग है ।

प्रथम में ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कर्मों का सर्वथा त्याग और दूसरे मार्ग में सब अवस्थाओं में कर्म करते रहने का विधान है । यद्यपि व्यवहार दशा में उक्त दोनों मार्गों में भेद है तथापि भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष की परिणामावस्था में आगे जाकर दोनों एक हो जाते हैं । कच्चा खाओ या पक्का भूख दोनों से मिटेगी । नदी पूर्व से बहे या पश्चिम से, अन्त समुद्र ही है । पक्षी उड़कर सीधे फल तक पहुंचता है और माली डाल २ चढ़कर । फल प्राप्ति

पृष्ठ दोहा

दोनों को समान है। इसी तरह चाहे सांख्ययोग द्वारा कर्म त्यागकर या कर्मयोग द्वारा कर्म करते हुए साधना करो परिणाम है मोक्ष ही।

६२ अर्थ ४ निष्कर्म=कर्म-संन्यासी।

दोहा ४६ न वार=अविलम्ब।

५१–५२ यह समझना पागलपन होगा कि कर्म का होना या न होना कर्ता की मर्जी पर निर्भर है। कर्ता कर्म करेगा तो होगा, न करेगा तो न होगा।" अर्जुन, यह बात गांठ बांध लो कि कर्म छोड़े से नहीं छूटते। अनुभव इसका साक्षी है।

६२ अर्थ ५ छेंक=रोककर, हठात्, अन्ततोगत्वा।

दोहा ५३ गुणाधीन=सत्व-रज और तम प्रकृति के इन तीन गुणों के वश।

५४ इन्द्रिय जन्य स्वभाव=दर्शन स्पर्शन आदि इन्द्रियों के स्वभाव।

५६ तजहिं कि प्राणापानगति=शरीरस्थ प्राण एवं अपान वायु क्या अपनी चाल छोड़ सकते हैं?

६३ ६० कितना ही कसकर बैठिये रथ के चलते ही परवश सब निश्चलता समाप्त हो जाती है।

६४ कर्मातीत=कर्ममुक्त। निरोध=दमन।

६५ नहिं घट सके=संभव नहीं।

६६ राह नीति=ठीक से।

६४ ७२ बिम्बाभास=जल में पड़ी सूर्य की परछाईं की तरह।

७३ जान परत=दिखाई पड़ते हैं। लखि न परत जस भान=जिनका भान (साधारण पुरुषों जैसा व्यवहारिक ज्ञान) नहीं दीखता।

७५ नुति को पात्र=स्तुति का पात्र।

अर्थ ८ विहित=शास्त्र विहित। रक्षित=निर्वाह द्वारा पालित।

९ यज्ञ=स्वधर्माचरण रूपी यज्ञ।

६५ १० सरजि=बनाकर। सहयज्ञ=स्वधर्म विहित कर्तव्य कर्मों के साथ।

दोहा ६४ सोय=स्वधर्म।

अर्थ ११ अन्योन्यहि=आपस में। अनियासु=अनायास, सुगमता से।

६६ १२ तस्कर=चोर।

दोहा १०४ खल वृत्ति=दुष्ट स्वभाव।

पृष्ठ दोहा

७२ दो० १७७-१८६—दूसरेका बोझा यदि अपने शिरपर रखोगे तो क्या भारी न लगेगा? भला सोचो, भले या बुरे कर्मों का कर्ता कौन है? प्रकृतिके तीन गुण सत्व, रज, और तम ही न? किन्तु, मोह जालमें फँसे हुए, अविचारी शरीर को ही सब कुछ समझने वाले मूर्ख लोग अहंकारवश उन शुभाशुभ कर्मों का कर्ता अपने को मानकर सुख दुःख के नरक में पड़ते हैं। उन्हें इस परम गूढ़ परमार्थ रूप निष्काम कर्म का उपदेश कभी भी नहीं देना चाहिये।

अर्थ २८ हे अर्जुन, ज्ञानीजन मायाके गुण तथा कर्मों का रहस्य जानकर इनसे निर्लिप्त रहते हैं। उन्हें यह पता है कि संसारके प्रपञ्च गुणों का आपसी खेल है। सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरतते हैं।

७३ दो० १८१-१८३—समस्त कर्मों की जननी माया का प्रभाव उन ज्ञानियों पर नहीं पड़ता। हे अर्जुन! वे इस नश्वर देह का अभिमान छोड़ गुण कर्मों से निर्लिप्त रहकर इनके (गुण कर्मों के) बीच तटस्थ भाव से साक्षी बनकर रहते हुए परम पवित्र जीवन बिताते हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरणें संसार में व्याप्त होकर भी निर्लिप्त रहती हैं। उसी तरह वे लोग भी कर्मों से निर्लिप्त रहकर देह धर्मों का पालन करते हैं।

अर्थ २९ प्रकृतिवश प्रकृति के गुणों के कारण।

३० अध्यात्म विचार आत्म विचार, नित्यानित्य विवेक। निरस्य विकार शोक छोड़कर।

७४ दो० १८६ आत्मरूप आत्मा में तल्लीन

१८७-८८—हृदय से यह अभिमान निकाल दो कि "मैं कर्ता हूँ, यह कर्म है और अमुक फल प्राप्तिके लिये मैं यह कर्म करूँगा।" शरीर के द्वारा सब करो। समस्त इच्छाओं का त्याग कर दो। फिर, अवसर के अनुसार जो भी भोग सामने आवे, उसे निःशंक होकर भोगो।

१९४ इन्द्रिय लाड़ लड़ाय इन्द्रियों के वशवर्ती होकर।

१९५ स्तुति के वाक्य कहि—मेरे मत की अर्थवाद या निरर्थक स्तुति के वाक्य कहकर।

१९६-९८—विषय-वासना के विषसे सने हुए, अज्ञान रूपी कीचड़ में डूबे हुए और मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त मूर्खों को, हे अर्जुन, कर्मयोग का यह उपदेश अच्छा नहीं लगता। जन्मान्ध मनुष्य कहे कि 'मैंने देखा'—यह प्रमाण नहीं हो सकता। मुर्दे के हाथमें रखा हुआ रत्न सूना रहता है। चन्द्रोदय से कौवे को कोई लाभ नहीं रहता, उसी तरह विषयासक्त मनुष्यों को भी ज्ञान का उपदेश देना व्यर्थ है।

पृष्ठ दोहा

७५ अर्ध २३ निपट — हठ या जबर्दस्ती। बिचार — बेचारा।

दोहा २०८ पञ्चतत्त्वमय — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से बनी देह।

२१० अनुभव के आधार पर ऊपरी दृष्टि से देखो तो इन्द्रियों की इच्छानुसार विषयभोग करने से मन को सुख मिलता है। किन्तु, यह सुख—दुःख का ही बीज है। स्थायी सुख नहीं। इसी बात को दोहा संख्या २१० से २१८ तक भिन्न-भिन्न उदाहरणों द्वारा समझाया गया है।

७६ २१२ आमिष बिपाक — मांस के भीतर छिपा शूल या बंशी का कांटा जैसे मछली के प्राण ले लेता है।

२२० सुधेहि — खूब विचार कर।

२२२ अनअभिलषित — बिना मांगे।

२२३ लघुगृह — कुटिया।

७८ २४२ कोट — किला।

२४३ सहित सम्पत्ति समूल — मूल कारण (अविद्या) के साथ आसुरी सम्पत्ति।

२४४ तातें अथोर — इसी कारण तमोगुण ने इन्हें अपने सर्वस्व मोह तथा भ्रान्ति रूप अंधकार उपहार में दे दिये।

२४८ रसोइया — (लोभरूपी) पाचक अर्थात् रसोई बनाने वाला।

अर्ध २८ जरायु — गर्भवेष्टन, झिल्ली।

७९ दोहा २६२ कामान्धावृत — काम (अज्ञान) से ढँका। बैठ्यो — हो बैठा है।

२६६ तातें — इस कारण। यातें — इसीलिये।

अर्ध ४१ अघी — पापी।

८० दोहा २६८ मूल घर — जन्मस्थान। सर्व विधान — सब तरह से।

२७० अङ्क — चिह्न।

२७२ तहँ — ब्रह्मानन्द में।

चतुर्थ अध्याय

पृष्ठ दोहा

८१ दोहा १ उगो — उदित हुआ। गीता निधिहिं निहार — गीता का बहुमूल्य भण्डार हाथ लगा है। भयो……उदार — जो प्रतीति पहले स्वप्न-सी अस्पष्ट थी, वह अब प्रत्यक्ष-सी स्पष्ट हो गई।

२-३—कोकिल जैसा मीठा स्वर (संगीत), वसन्त ऋतु तथा सुगन्ध से तीनों एक जगह एकत्रित होकर सुखमय होते हैं। वैसे ही अध्यात्म की यह कथा, कहने वाले श्रीकृष्ण और श्रोता भक्तवर अर्जुन—इन तीनों के अपूर्व संयोग से आज महा आनन्द का सागर उमड़ आया है।

४ कान, नाक आदि समस्त इन्द्रियाँ अपना वर्तन त्यागे आदि काम छोड़कर कान के घर आ बैठी हैं, ताकि कृष्णार्जुन संवाद श्रवण का अवसर पूरा लाभ कर सकें।

७ नृप ते — राजा धृतराष्ट्र से।

१४ त्रिभुवन पट के पटक — त्रैलोक्य रूपी वस्त्र को बुनने वाला जुलाहा।

८२ अर्थ १ अनुयोग — क्रम से।

दो० १७ विवस्वत — सूर्य।

अर्थ २ परम्परा प्राप्त — परम्परा से चले आये।

दो० २० आसक्तिहि रथ शरीर — मोहवश शरीर को ही सब कुछ समझने लगे। आत्म विवेक — आत्मज्ञान।

२१ परिवर्तन — नित्य नवीन प्रतीत होने वाले सांसारिक परिवर्तन।

२२ क्षपणक जन — नंगे जैन साधु।

२४ वायस यो — यह कौआ।

२५ सीध — भोला।

८३ २८ गोय — गुप्त करके।

अर्थ ४ पूर्वतर=पहले के। परतर=बाद के। उभय मध्य संलाप=दोनों के बीच की बातें।

दो० ३४ पंगुतनय की जननियत्=लंगड़े बेटे की माँ के समान।

पृष्ठ दोहा

८३ दोहा ३६ तिहि कौसहुँ समझत नहीं—यह बात मेरी समझ में जरा भी नहीं आती।

८४ ४० समुझौं तोहि—(जिससे) आपका सच्चा स्वरूप जान सकूं।

४४ भूतेश्वर—सब प्राणियों के ईश्वर।

४५ मम ठायँ—मुझ में।

४६ अवतार काल में साधारण मनुष्यों की तरह कर्म करता देख लोग भ्रान्तिवश मुझे कर्मों से बँधा हुआ समझते हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है। मैं तब भी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, कर्मों से निर्लिप्त रहता हूं।

४७ आपर—(परछाईं में) दूसरी।

८५ अर्थ ७ स्वभाय—स्वभाव से।

दो० ५० तोरि—तोड़कर।

५३ धर्म सुनय को—धर्म एवं नीति का।

५४ उजोत करि—उजाला कर। मझारि—में।

८६ ६२ पावनता ते तीर्थ की—उनसे तीर्थों को पवित्रता प्राप्त होती है।

६३ वीचि—तरङ्ग।

६८ विपरीत ज्ञान—भ्रम।

६९ जो सर्वो . . तमाम—जो अनिर्वाच्य है, जो देवी देवता सब कुछ है।

७० भ्रम के राग—भ्रमवश।

८७ अर्थ १२ कै—कि।

दो० ७२ सच बात तो यह है कि कर्म के सिवाय फल का न कोई देने वाला है और न कोई लेने वाला।

७८ प्रकृति के अनुसार तीनों गुणों के आपस में मिश्रण से ही शास्त्रों में वर्ण धर्म की व्यवस्था की गई है।

८१ यदपि भेद मम पास तें—यद्यपि ये वर्ण भेद मेरे द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

८८ ८२ ऐसोहु—ऐसा हो—कर्मों से लिप्त न होने वाला।

८४ अर्जुन, एक बात सुनो। ज्ञानीजन कर्म और अकर्मका विचार मनमाने तौर पर नहीं करते।

गया।

[illegible] प्रकार [illegible] गा महान बुद्धि वाले।

भगवद् भक्ति [illegible] रहत [illegible] भी अपनी [illegible] पर [illegible] जाता है।

८६ ६० शास्त्र [illegible] शास्त्र [illegible] नित्य, नैमित्तिक और काम्य [illegible]।

निःस्वार्थ भाव से कर्म करने वाले - निष्काम कर्मयोगियों के कर्म करने का प्रकार (तरीका) विरोधाभास से [illegible] निरूपण करते हैं

"जो कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म [illegible] नहीं मनुष्यों में [illegible] समस्त कर्मों को करनेवाला है।" अर्थात्—

सं० ६२ १०२—जो मनुष्य कर्मों से निर्लिप्त (निष्काम) रहकर [illegible] की आशा नहीं रखते, और [illegible] कर्म के समान [illegible] नहीं [illegible] नहीं दीखती, उन्हीं कर्मयोगियों ने निष्कामता (निष्काम कर्मयोग) [illegible] अच्छी तरह पह[illegible] जाना है। ज्ञानी पुरुष [illegible] संसार के समस्त कर्मों का निबाहता हुआ भी [illegible] रहे। जैसे जल में अपनी परछाईं देखकर मनुष्य यह अच्छी तरह जानता है कि वह जल से अलग है और जैसे [illegible] चलायमान दिखाई देनेवाले [illegible] मनुष्य अचल (एक जगह खड़े हुए) ही समझता है [illegible] तरह ज्ञानवान व्यक्ति समस्त कर्मों की निःसारता को भली भाँति पहिचानते हुए "मैं ही कर्त्ता नहीं" [illegible] का अभिमान मन में नहीं लाता। उदय और अस्त होने के कारण [illegible] (एक जगह [illegible]) भी सूर्य चलता-सा दिखाई देता है। उसी तरह निष्कर्मी (निष्काम कर्मयोगी) कर्म करता हुआ भी कर्त्ता नहीं कहलाता। देखने में तो आवश्य यह मनुष्य जैसा है पर, [illegible] ही समझो। सूर्य का प्रतिबिम्ब कभी पानी में नहीं डूबता, वैसे ही यह संसार में रहकर भी निर्लिप्त रहता है, यह आँखों से [illegible] निर्लिप्त [illegible] है। सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता; समस्त भोगों को भोगता हुआ भी भोक्ता नहीं कहलाता। एक जगह रहकर भी सारे विश्व में विचरण करता है, अधिक क्या, हे अर्जुन, ऐसा युक्त योगी मानव विश्वरूप है।

८६ अर्थ १६ ज्ञान-अनल-ज्वल कर्म = ज्ञानाग्नि में जिसके समस्त कर्म भस्म हो गये हैं।

पृष्ठ दोहा

६० दो० १०४ "करिके करिहौं पूर" एक काम करके दूसरा पूरा करूँगा।

अर्थ २० नित्यतृप्त सदा सन्तुष्ट (तृप्त) रहनेवाला।

दो० १०७ जो व्यक्ति सन्तोष रूपी रसोई घर में बैठकर ज्ञान की दिव्य रसोई खाता है वह कहो, कैसे भूखा रहेगा ?

अर्थ २१ परिग्रह भोग सामग्री।

२२ सहज लाभ सन्तुष्ट अनायास जो भी मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहने वाला।

दो० ११० सोई . मतिमान - कर्म और कर्म में सम दृष्टि होने से उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलाप अपने आप यन्त्रवत सम्पन्न होते प्रतीत होते हैं।

६१ ११२ आपन सिराय न ओर आत्मराम (केवल आत्मा को ही)।

११३ पद निर्द्वन्द्व सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से मुक्त पद पर। धार सीधा ही (बिना विलम्ब के)।

११४ कर्म रहित करि कर्म = कर्म करके भी वे कर्म रहित हैं।

अर्थ २३ मख = यज्ञ।

दो० ११५ कसत . . . महान ब्रह्म रूपी कसौटी पर खरे उतरते हैं।

११६ ऐसेहु पै = ऐसे पुरुष यदि। तिहि ठिकान आत्मस्वरूप में।

११७ अभ्र अकाल के असमय (बेमौसम) के बादल।

११८ ते तिहि . . . उदार इस प्रकार देहयुक्त व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले यज्ञादि कर्म उसके आत्मिक भाव में मिलकर एकाकार हो जाते हैं। बन्धन के कारण नहीं बनते।

अर्थ २४ समर्पित हवन समर्पण की क्रिया। हवि -यज्ञ सामग्री। समाहित युक्त। ब्रह्म = नाम रूपात्मक सृष्टि का मूलभूत सत्यतत्त्व, ईश, आत्मा अर्थात इन्द्रियातीत ईश्वर।

दो० ११९-१२० कर्म—यज्ञादि। क्रिया—आहुति डालना आदि। कर्ता—यजमान आदि। करण—घृत आदि। सम्प्रदान—जिनके नाम से आहुति दी जाए वे इन्द्रादि देवता। इस प्रकार यह सब व्यवहार में अलग २ लगते हैं, किन्तु विबुध (विशेष विज्ञान-प्राप्त) की दृष्टि में एक अभिन्न ब्रह्म ही रहता है। अर्थात समस्त चराचर को भेदरहित केवल आत्मरूप से देखने वाला स्थिर बुद्धि-योगयुक्त—व्यक्ति, यज्ञ, यज्ञकर्ता आदि में भेदभाव न रखते हुए,

पृष्ठ दोहा

[illegible] में ब्रह्म के ही दर्शन करता है। [illegible], [illegible]। [illegible] [illegible] सन्निधि को ही पाता है। अतः "कर्म [illegible] भिन्न [illegible] नहीं है।" [illegible] सम्यग्ज्ञान [illegible] से उनके कर्मों की [illegible] ही [illegible] है। [illegible] रूपी [illegible] को पार कर '[illegible]' के [illegible] है और परम शुद्ध योगाग्नि ([illegible]) की उपासना प्रारम्भ करते हैं।

६७ श्लो २५ ब्रह्माग्नि [illegible] परमात्मा रूपी [illegible] में आत्मा [illegible], [illegible] हवन करना।

दोहा १२७ २६ [illegible] परमात्मा [illegible] को ([illegible]) [illegible] अग्नि में हवन करते हुए ([illegible] करते हुए) [illegible] यज्ञ किया करते हैं। [illegible] यज्ञ "[illegible]" कहलाते हैं [illegible]। [illegible] आत्मा को परम सुख मिलता है। [illegible] और [illegible] कुछ दूसरे [illegible] ब्रह्माग्नि [illegible] करते हुए ([illegible]) [illegible] यज्ञ [illegible] करते हैं। [illegible] शब्दों में [illegible] है। [illegible] के साथ [illegible] ब्रह्म में ब्रह्म [illegible] है।

१२७ ३० —"संयम-यज्ञ" अर्थात् [illegible] निरोध रूपी [illegible] यज्ञ ही है। यहाँ योगी [illegible], [illegible] और [illegible] को ही [illegible] आत्मा को पवित्र [illegible] इन्द्रियरूपी हवन सामग्री की आहुति देते हैं।

कुछ दूसरे [illegible] योगी [illegible] का [illegible] होने [illegible] (संयम) के [illegible] इन्द्रिय रूपी अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। [illegible] अग्नि में [illegible] विकारों का [illegible] की [illegible] की लपटें ऊँची उठने लगती हैं और ज्ञानेन्द्रिय रूपी [illegible] से [illegible] का धुआँ बाहर निकल जाता है। इसके बाद "[illegible]" आदि महावाक्यों ([illegible]) को पढ़ते हुए ये पवित्रात्मा इन प्रदीप्त यज्ञकुण्डों में निखिल विषयों की आहुति डालते हैं।

पृष्ठ टीका

६२ अर्थ २७ "एक तरह के योगीजन संयम रूप इन्द्रियों तथा प्राणों के व्यापार की आहुति ज्ञान द्वारा प्रदीप्त आत्म-संयम रूपी योगाग्नि में देते हैं।"

६३ टी० १२१ १४० यम नियमादि अष्टांग योग प्रणाली द्वारा तपश्चर्यारत योगियों को इन्द्रिय संयमरूप प्राणसाधना भी एक प्रकार का यज्ञ है।

"हे अर्जुन, कुछ लोग इस तरह बाहर भीतर प्राण से युक्त हो यज्ञ करते हैं। और कोई 'हृदय' रूपी अरणि पर 'निश्चयात्मक विवेक' की मथानी रखते हैं। फिर उसे 'धैर्य' के भार से दबाकर गुरु उपदिष्ट मन्त्रों का पाठ करते हुए मथानी पर कसी 'शान्ति' रूपी रस्सी को बार २ खींचकर अरणि मन्थन करते हैं। इस प्रकार चित्तवृत्तियों के एकत्रित होने का प्रभाव अति-शीघ्र सामने आता है। तत्पश्चात् 'ऋद्धि सिद्धि' रूपी धुएँ बाहर निकलकर अभीष्ट 'परमात्मा' की चिनगारी द्वारा स्वतः सिद्ध एवं माया ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। हे पार्थ, यम-नियम के कठोर तप (आसन, ध्यान) से सूखा गया मनरूपी ईंधन, वासना रूपी समिधाएँ एवं कामरूपी घी उस ज्ञानाग्नि में डालने पर विवेक (सदाचार) की ऊँची लपटें उठने लगती हैं। फिर "अहं ब्रह्मास्मि" का महामन्त्र पढ़ते हुए सब इन्द्रिय कर्मों की आहुति उस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि में डाली जाती है, प्राण कर्मों (प्राणायाम आदि) के स्रुवा (यज्ञ पात्र) से पूर्णाहुति देकर जीव ब्रह्मज्ञान का अवभृथ-यज्ञान्त स्नान किया जाता है और अन्त में आत्मानन्द रूपी दिव्य चरु (यज्ञ शेष हवि) को ग्रहण कर मोक्ष लाभ किया जाता है। इस तरह यज्ञ के प्रकार हैं तो अनेक, पर सबका मोक्ष प्राप्ति रूपी लक्ष्य एक ही है।

६२ अर्थ २८ द्रव्य यज्ञ।

टिप्पणी— यज्ञार्थ पवित्र धार्मिक अग्नि प्राप्त करने के लिये शमी नामक काष्ठ का बना अरणी नाम का यन्त्र काम में लाया जाता है। इसकी बनावट निचले भाग में "आरा" (? करने के आकार) के आकार का होता है। नीचे की शमी काष्ठ [illegible] ([illegible]) पर खड़े रखकर ऊपर से दबाकर वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए अरणि पर बनी रस्सी घुमाई जाती है। तब फिर चिनगारियाँ निकलनी शुरू हो जाती हैं। इन्हीं चिनगारियों द्वारा प्राप्त अग्नि से कुण्ड में अग्नि जलाई जाती है। यही अरणि-मन्थन है।

प्रष्ठ श्लोक

६३ श्लो० १४१ योग अष्टांग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं।

१४२ स्वाध्याय रूपि ज्ञान यज्ञ—स्वाध्याय या ज्ञान-यज्ञ में शब्द का यज्ञ (हवन) होता है। अर्थात् कोई कोई निष्ठापूर्वक शास्त्र के पठन पाठन स्वाध्याय द्वारा उस यज्ञ पुरुष की आराधना करते हैं।

१४४ जो जितेन्द्रिय मनुष्य [illegible] होता है वह आप लीन होकर जीवात्मा को परमात्मा में आहुति देता है।

६४ अर्थ २९ "प्राण" से तात्पर्य प्राणवायु से है। प्राणायाम क्रिया की तीन स्थितियाँ होती हैं—पूरक, रेचक और कुम्भक। इनमें बाहर से भीतर वायु खींचने की 'प्राण' क्रिया को 'पूरक', अन्दर से बाहर वायु फेंकने की 'अपान' क्रिया को "रेचक", और प्राणवायु को अन्दर रोक रखने की क्रिया को "कुम्भक" कहते हैं।

इसी प्रकार शरीर के भीतर रहने वाली वायु के भी पांच भेद हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। इनमें प्राण का स्थान हृदय, अपान का गुदा, समान का नाभि, उदान का कण्ठ और व्यान का सम्पूर्ण शरीर है।

इतना ज्ञान होने पर प्रस्तुत श्लोक का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। प्राणायाम करना भी एक यज्ञ है। अतः "प्राणायाम द्वारा प्राण और अपान की गति रोककर कोई प्राण का अपान में (पूरक द्वारा), और कोई अपान का प्राण वायु में (रेचक द्वारा) हवन करते हैं।"

६४ श्लो० १४७ [illegible] "प्राण सहित [illegible] नियमित प्राणवायु में शेष चार वायुओं का हवन (प्रवेश) प्राणायाम द्वारा करते हैं।

१४९ प्राणायाम आदि योग क्रियाओं द्वारा समस्त वृत्तियों का निग्रह कर लेने पर, अज्ञान दूर हो जाता है तथा योगी में अपना निज आत्मस्वरूप मात्र ही शेष रहता है। तब भला उस शुद्ध स्वरूप में "यज्ञकर्ता और यज्ञाग्नि के बीच क्या भेद रह जायगा?

पृष्ठ दोहा

१५१ "द्वैत दोष प्रसंग ते लिये नहीं परिनाम" अर्थात "माया रूप उपाधि से दूषित 'द्वैत-भावना' का जहाँ प्रवेश तक नहीं होता।"*

१५२ यजन शेष पीयूष तें 'चरु'—यज्ञ शेष हविर्भाग रूपी अमृत से। संयम अग्नि मख—संयम यज्ञ।

६५ दो० १६० परमात्म वपु—ईश्वररूप। दृग = नेत्र।

१६२ कर्मेच्छा पंगुता जहाँ—जहाँ कर्म करने के प्रति आसक्ति लंगड़ी हो जाती है। तर्क दृष्टि = तर्क-आलोचक बुद्धि।

१६३ मनस्तत्व—मन के संकल्प-विकल्प।

६६ १६६ श्रद्धा सुयोग्यता—श्रद्धात्व।

१७२ व्यामोह—मोह विकार।

१७४ संभ्रम = भारी भ्रम। साकार—निराकार। ज्ञान के प्रकाश द्वारा उस निर्विकार निराकार के साकार होने की भ्रान्ति रूपी छाया सर्वथा लुप्त हो जाती है।

६७ १७७ कहा काष्ठ तृण भान = काष्ठ और घास की तो बात ही क्या?

१८० चपेट महँ = हाथ में। लपेटो जाय = चटाई की तरह लपेट लिया जाय।

६८ १८७ अवभास = प्रतीत होना।

१८८ प्रकृति न निज कृति जान—जो प्रकृति द्वारा चलने वाले कार्यों का कर्ता स्वयं को नहीं समझ बैठता।

१९४ शून्यागार—सूना—बिना आदमी का—मकान।

---

* टिप्पणी—अद्वैतवादी 'सत्' को "एकमेवाद्वितीयम्" स्वीकार करके द्वैत बुद्धि को माया काल्पनिक विलास मानते हैं।

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि॥ (पंचदशी ६। २३६)

माया नाम की कामधेनु के दो बछड़े हैं—जीव और ईश्वर। अतः इस मायारूपी गाय का दूध पीकर भले ही द्वैत भावना पुष्ट हो जाय, किन्तु तत्त्व सिद्धान्त तो है अद्वैत ही।

पृष्ठ　ओवी

११　२०७　हेतु स्वाधीन = अपने आधीन करने का उपाय है।

२०८　खर = तेज।

२१०-२२४　अध्याय समाप्ति पर संजय-धृतराष्ट्र-संवाद के दीपक द्वारा श्री ज्ञानेश्वर महाराज गीता का दिव्य स्वरूप = माहात्म्य = वर्णन करते हैं

संजय ने कहा, "हे राजा धृतराष्ट्र, इस तरह ज्ञानप्रदीप योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कृपा-पूर्वक अर्जुन से जो बातें कहीं उन्हें आप भी ध्यान से सुनें। अब आगे अर्जुन श्रीकृष्ण द्वारा अब तक कही गई सारी बातों पर अच्छी तरह - पूर्वापर - विचार करके बड़ी चतुराई से उत्तम-उत्तम प्रश्न करेगा। यह कथा (संवाद) सुनिये, अलंकारों तथा शान्त रसोद्रेक की सजीव प्रतिमा है। जिस शान्त रस के अलौकिक रस माधुर्य पर शृङ्गार आदि शेष आठों रस न्यौछावर हैं; (दूर-दूर तर्क-वितर्क के जंगलों में भटकती) बुद्धि का जो विश्राम स्थल है उसी दिव्य शान्त रस से ओत-प्रोत भगवान की यह प्राकृत वाणी सुनिये। इसके अर्थों की गहराई सागर से भी अधिक गम्भीर है। जैसे छोटे से सूर्य बिम्ब का प्रकाश तीनों लोकों में भी नहीं समाता, उसी तरह इस कथा के शब्दों की व्यापकता का अन्त नहीं। जैसे कल्पवृक्ष सबकी मनोकामना पूर्ण करता है, वैसे ही गीता माता की यह व्यापक वाणी सभी मतानु-यायियों (शङ्कर, मधुसूदन, मध्वाचार्य, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि) को उनके मनोनुकूल अभिलषित अर्थों का दान देती है। अधिक क्या, आप सर्वज्ञ = सब तत्त्व जानने वाले हैं। आपसे प्रार्थना है कि इस कथा को ध्यानपूर्वक सुनिये।

जैसे किसी सुन्दर स्त्री में शील, सौजन्य आदि गुण तथा पातिव्रत्य एक साथ आकर उसकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अलङ्कार, भाषा-माधुर्य तथा शान्त रस ने अलौकिक चमत्कार पैदा कर दिया है। खाँड (चीनी) वैसे ही मीठी होती है, और यदि उस की औषधि बना दिया जाय, तो उसे कौन बार-बार खाने में हिचकिचायेगा? (शीतल) मन्द एवं सुगन्धित मलय-समीर (मलयाचल की वायु) में अमृत की मिठास और कोकिला का मधुर स्वर भी यदि आ जाय तो उसके स्पर्श से सारे शरीर में ठण्डक पड़ जायगी; जिह्वा मिठास के आनन्द से नाच उठेगी, और उस संगीत को सुनकर कानों से (श्रवण की शक्ति न होने पर भी) बरबस "धन्य! धन्य!!" कहला देगी। इसका श्रवण कानों के लिये

पृष्ठ दोहा

व्रतपारणा है। इससे बिना कष्ट उठाए संसार के दुःखों से छुटकारा मिल जायगा। यदि शत्रु को मन्त्र से ही मारा जा सके तो कमर में कटार बांधने की क्या आवश्यकता? चीनी से ही यदि रोग दूर हो जाय तो कौन नीम खायगा? यह कथा बिना इन्द्रियों को कष्ट पहुंचाये, बिना मन को मारे केवल श्रवणमात्र से ही मोक्ष की देने वाली है। श्री निवृत्तिनाथ का यह दास ज्ञानदेव कहता है, "हे सन्तों, हृदय के समाधानार्थ इस दिव्य गीता कथा-प्रसंग को ध्यान से सुनिये।"

पंचम अध्याय

पृष्ठ दोहा

१०१ दो० १ खोल = स्पष्ट, साफ-साफ।

३ अज्ञ चित्त = नासमझ मन।

४ एक तत्त्व सिद्धान्त को समझना हो तो उसके लिये एक ही प्रकार का निश्चित-मार्ग बताना चाहिये। कहिये, क्या यह मामूली बात भी आपको समझानी पड़ेगी।

६ प्रस्तुत को निरधार—प्रसंग को देखकर।

७ संत संजीवन मूर = संतों के लिये संजीवनी बूटी के समान।

१०२ ११ देखो, शिव के प्रसाद से उपमन्यु को महान लाभ हुआ। उसने मांगा था तनिक सा दूध, पर, औढरदानी आशुतोष शंकर ने उसे क्षीर-समुद्र (दूध का सागर) दे दिया।

१०२ १४ कर्मयोग संन्यास = कर्मयोग और सांख्ययोग।

१—कर्मयोग है लोकसंग्रह के लिये समबुद्धि द्वारा निष्काम कर्म करना; तथा भगवदर्पण बुद्धि द्वारा समय आने पर ज्ञान प्राप्त कर कर्म करते हुए मोक्ष प्राप्त करना।

२—संन्यास या सांख्ययोग है—चित्त शुद्ध्यर्थ शास्त्रविहित धर्माचरण द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मन वाणी एवं शरीर द्वारा होने वाले समस्त कर्मों में कर्तापन का अभिमान छोड़ संन्यास ले लेना।

पृष्ठ दोहा

व्यवहार दशा में दोनों मार्ग भिन्न होते हुए भी मोक्ष प्राप्ति रूपी परिणाम दशा दोनों की एक ही है।

१७ सारासार विवेक—सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने पर।

१८ अभिन्नभाव—अभिन्नता का ज्ञान।

आर्या ३ निर्द्वन्द्व—सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त।

दो० १९ अनाप्त—अप्राप्त। गिरिनाथ—पर्वतों में श्रेष्ठ।

२२ निःसंग चित्त—अनासक्त बुद्धि।

१०३ २३ आच्छादन—ढकना। निजभाव—निज स्वभाव से चलित किया गये।

२५ कल्पना—संकल्प-विकल्प भाव, दुविधाजनक स्थिति।

आर्या ४ विभागशः—अलग-अलग कर के।

दो० ३० अवकाश—खाली जगह। खाली जगह में आकाश व्याप्त रहता है। अतः खाली जगह का ही नाम आकाश है।

१०४ आर्या ७ आत्मेन्द्रिय स्वाधीन—जिसका मन और इन्द्रियाँ वश में हैं। सर्व भूतात्मक आत्मा—समस्त प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा समझने वाला।

दो० ३४-३७—जिसने मन को सांसारिक मोह-ममता (भ्रम) से हटा कर आत्मचिंतन और गुरुवाक्य द्वारा मन का सारा मैल धो डाला है वही आत्म स्थिति प्राप्त करने में समर्थ है।

जिसका मन संकल्प विकल्प छोड़ ब्रह्मरूप हो गया है, वह देश, काल और निमित्त इन तीन उपाधियों से घिरा अर्थात् एक शरीर में रहता हुआ भी इस विश्वात्मा में लीन हो जाने के कारण समुद्र में गिरी नमक की डली की तरह अनन्त या सर्वव्यापक है। मन सहज (स्वाभाविक या शान्त) स्थिति में वर्तमान इस व्यक्ति में कर्ता, कर्म और क्रिया आदि सब व्यवहारों का लोप हो जाता है। वह सब कुछ करते हुए भी देह बुद्धि के नष्ट हो जाने के कारण कुछ नहीं करता।

३९ स्वभाव—कर्मयोगियों में स्वभावतया प्राप्त।

१०५ ४० इतर—अन्य।

४२ त्यजत त्याग के योग=निषिद्ध वस्तुओं का सेवन नहीं करता।

पृष्ठ दोहा

१०४ ४८ इस तरह सब इन्द्रियों के आत्माधीन हो जाने पर उत्तम योग स्थिति प्राप्त हो जाती है, और तब समस्त आंख, कान आदि इन्द्रियां अपने २ दर्शन-स्पर्श आदि विषयों में स्वतः प्रकृति-वश बरततीं अर्थात व्यवहार करतीं हैं।

५१-७०-- आसक्ति-रहित निष्काम कर्मयोगियों का साधना-प्रकार बताते हैं:—

"बुद्धि और मन से निर्लिप्त व्यापारों का "कायिक" अर्थात केवल शरीर से होनेवाले कर्म कहना चाहिये। जैसे बालक निरुद्देश्य तरह २ की चेष्टाएँ करता है, वैसे ही योगी वासना-रहित हो केवल शरीर से (कायिक) कर्म करता है।

"जब यह पञ्चमहाभूत का पुतला (शरीर) योगनिद्रा में लीन हो जाता है, तब भी मन अकेला स्वप्नावस्था की भांति अपने सब व्यापार जारी रखता है। अर्जुन, आश्चर्य है कि वासनाएं अपना जाल अन्दर ही अन्दर इस प्रकार फैलाती है कि शरीर को पता भी नहीं चलता और मन सुख-दुःख के फन्दे में उलझ जाता है। इन्द्रियों के अनजाने केवल मन में ही पैदा हुए इस तरह के व्यापार 'मानस कर्म' कहे जाते हैं। किन्तु, योगियों पर इन वासना-प्रेरित मानस कर्मों का कोई असर नहीं होता। कारण कि वे लोग कर्म तो करते हैं किन्तु हृदय में अहंभाव (कर्तापन का अभिमान) न होने से कर्मबन्धन (आसक्ति) में नहीं पड़ते।

भ्रम में पड़ जाने से जैसे मनुष्य पिशाच के उत्पाती चित्त की तरह इन्द्रियों से विचित्र विचित्र चेष्टाएँ करता हुआ व्याकुल सा प्रतीत होता है; सब कुछ देखता, सुनता और बोलता है किन्तु उसके वे सब काम पागलपन (ज्ञानशून्य) समझे जाते हैं, "हे नरश्रेष्ठ, उसी तरह निष्कारण केवल इन्द्रियों द्वारा चलने वाले योगियों के इन व्यापारों को 'इन्द्रिय-कर्म' कहा जाता है।"

श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन, एक और तत्त्व की बात सुनो। जान बूझकर बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले कर्मों का नाम "बुद्धि-कर्म" है। योगनिष्ठ महात्मा बुद्धिपूर्वक मनोयोग से कर्म करते हुए भी कर्मजाल में नहीं फँसते। सदा स्वच्छन्द विचरते हैं। क्योंकि उनके बुद्धि से लेकर देह तक के कर्मों में अहंकार की गंध नहीं रहती। वे कर्म करते हुए भी निरहंकार शुद्ध सहज स्वभाव में स्थित रहते हैं। केवल गुरुकृपा से ही जानने योग्य यह रहस्य योगा-

पृष्ठ दोहा

जन अच्छी तरह जानते हैं कि कर्तृत्वाभिमान से रहित सारे कर्म "अकर्म" ही रहते हैं। इस प्रकार की योगस्थिति प्राप्त हो जाने पर शान्तरस की ऐसी बाढ़ आजाती है कि हृदय का पात्र डूब जाता है। उस आनन्द का वर्णन करने की सामर्थ्य भौतिक वाणी में कहां ? इस अपार वाणी को तो केवल वे ही सुन सकते हैं, जिनकी इन्द्रियां विषय वासना से मुक्त हो चुकी हैं।"

इसी बीच श्रोतागणों द्वारा प्रसंगान्तर के विषय में संकेत मिलने पर श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहने लगे, "प्रसङ्ग से दूर जाने पर प्रस्तुत गीता-कथा का सूत्र टूट जायगा। यद्यपि यह ठीक है कि जहां मन और बुद्धि की भी पहुंच नहीं, वही परम रहस्य भाग्यवश तुमसे मैंने कहा। यदि वाणी से अगोचर इस रहस्य का किसी प्रकार वर्णन हो सके तो, भला इससे बढ़कर बात क्या ? फिर भी मूल कथा को भंग करना ठीक नहीं।" श्रोता लोगों की उत्सुकता को देख श्री ज्ञानेश्वर महाराज पुनः श्रीकृष्णार्जुन संवाद की कथा सविस्तार कहने लगे।

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, अब कुछ ऐसे योगियों के लक्षण बताता हूं जिन्होंने अनायास ही परम निर्विकल्प सिद्धि प्राप्त करली है।"

१०६ अर्थ १२ अयुक्त=फल की इच्छा से कर्म करने वाला।

१०७ दो० ७१ सरल–आती है।

अर्थ १३ वशी=इन्द्रिय संयमी। नौद्वारी पुर देह एक मुख, दो आंख, दो कान, नाक के दो छिद्र, पायु और उपस्थ ये शरीर रूपी नगर के नव द्वार हैं।

दो० ७२ जो योगयुक्त नहीं हैं वे कर्म की रस्सी में, फल भोग की मजबूत गांठ देकर वासना के खूंटे से बांध दिये जाते हैं और तरह २ की यातना सहते हैं।

७५ तजि......रहाय फल की इच्छा न रहने के कारण निष्काम कर्मयोगी इस देह में रहते हुए भी इसमें नहीं रहता।

अर्थ १४ सब स्वभाव को भोग- सब प्रकृति का खेल है।

दो० ७७–८६—"यदि ईश्वर को इस चराचर का कर्ता भी कहें, तो वह ऐसा कर्ता है कि उस तटस्थ वृत्ति वाले विधाता के हाथ-पैर कर्मदोष से नहीं बँधते, योगनिद्रा भंग नहीं होती। सारे

पृष्ठ दोहा

पञ्चमहाभूतात्मक विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर देने पर भी वह अकर्ता ही बना रहता है। चराचर का जीवनाधार होकर भी किसी का नहीं होता और तो और, सृष्टि और प्रलय तक की खबर उसे नहीं रहती। हे अर्जुन, उस सरजनहार के समस्त क्रिया-कलाप यन्त्रवत् अपने आप चलते रहते हैं।'

१०७ अर्थ १५ अज्ञानावृत ज्ञान तें =माया जनित अज्ञान द्वारा ढँके हुए ज्ञान से। अथोर=अधिक।

१०८ दो० ८० अपर . नहिं =और बाता की तो कथा ही क्या, वह परमात्मा इन पाप-पुण्यों का तटस्थ भाव से साक्षी भी नहीं होता।

अर्थ १६ भयो अबोधि निरास =अज्ञान दूर हो गया।

दो० ८५ विललाय नष्ट हो जाता है।

८७ रागदृष्टि कर्मयोगी वही है, जिसने बुद्धि के स्थिर हो जाने से ब्रह्म स्वरूप आत्मा को पहचान लिया है और सदा आत्मानन्द में लीन रहता है।

८८ हीय हृदय। सुभद्रापोय==अर्जुन।

८९ को यार==का अवसर।

९० जिमि......दिखाय जैसे हँसी खेल के लिये भी दीनता भाग्यवान् आदमी के घर नहीं दिखाई देती।

९२ अमन्द =जो मन्द नहीं अर्थात बुद्धिमान।

१०९ अर्थ १८ मातङ्ग==हाथी।

दो० ९४ जागृत......प्रवीण==भावार्थ यह कि इस प्रकार के भेदभावपूर्ण स्वप्न उस रामदर्शी को नहीं दिखाई देते। वह सदा अविद्याकृत-संकीर्णता (भेदभाव) के प्रति जागरूक रहता है। जैसे जागता हुआ आदमी स्वप्न नहीं देखता, ऐसे ही विवेक से प्रवीण पुरुष भेद नहीं देखता।

९८ पदार्थन संग==सांसारिक वस्तुओं के साथ।

११० १०२ मृगजल के पूर =मृग-मरीचिका अर्थात चमकती रेत में मिथ्या प्रतीत होने वाले जल की बाढ़ से।

अर्थ २१ बहिरङ्गारक्त सांसारिक विषय भोगों के प्रति आसक्त। अन्तरङ्ग सुख =आत्मसुख।

पृष्ठ दोहा

११० दो० १०४ जाहिरे आत्मानन्द से बाहिर ।

आर्श २२ आदि अन्त युत उत्पत्ति और नाश वाले, अनित्य ।

दो० १०६ तुष भूसा ।

११५ यदि आकाश की छाया द्वारा ही गर्मी, हवा और वर्षा से रक्षा हो सकती तो तिमंजले मकान हे अर्जुन, कौन बनवाता ?

११० ११४ वज्रनाभ वज्रनाभ नाम का विष ।

१११ ११५ विषयों को 'सुख' कहना उसी तरह वृथा है जैसे चमकती रेत (मृगमरीचिका) को जल कहना और क्रूरग्रह भौम को मंगल कह कर पुकारना ।

११७ जिमि झषहीं भख जानहि जौं, आमिष मोन न रंग "मछली की सभी तरह भलाई है, जब तक वह बंसी में लगा हुआ मांस खाकर निगलती नहीं ।"

११८ थूल पुष्टि मोटे ताजे ।

१२१ दर्दुर कर्दम विषय के विषय वासना रूपी कीचड़ के मेंढक ।

१२४ दोष महा महापाप । 'संसार' स्वरूप पद 'संसार' यह नाम, ('संसरतीति संसार:' संसरण करने वाला या चलनेवाला) ।

१२०-१२४—योगनिष्ठ पुरुषों का तन्मयतामूलक सुख कुछ निराला ही है.

"निष्काम कर्मयोगी पक्षियों की तरह फल को चख-चख कर (सुखोपभोग का) आस्वाद नहीं लेते । इन्हें तो आत्मतृप्ति की उस पूर्णावस्था में अपने लोलुपन का ध्यान नहीं रहता । ये 'त्रिपुटी' अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय तक को भूल जाते हैं । इनको उस तन्मयावस्था में "अहं भाव" की छाया नहीं पड़ती । जैसे पानी में पानी मिलकर एकाकार हो जाता है वैसे ही उस तल्लीन अवस्था को प्राप्त कर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है । जैसे पवन आकाश में पहुँच कर आकाश रूप हो जाता है, वैसे ही इस साक्षी स्थिति में 'मुझे' का नाम तक नहीं रहता । और यदि यह कहा जाय कि वहां आकर दो वस्तु एक हो जाती हैं, तो बताओ उस एकता को पहचानने वाला साक्षी कौन है ? "भावार्थ यह है कि ज्ञान प्राप्ति पूर्वक आत्मनिष्ठ योगियों के आत्मसुख को बताने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं । वह आनन्द स्वतः प्रमाण है ।

पृष्ठ दोहा

११२ दो० १३८ स्वभाव — स्वरूप।

१३९ सात्विकपन — सात्विकता या सात्विकपन।

१४० १४२ आत्मानन्द-परायण योगियों के वर्णन-विस्तार को देखकर श्रीनिवृत्तिनाथ ने बीच ही में टोककर कहा, "बहुत हुआ। इस तरह एक ही वस्तु का विभिन्न प्रकार से वर्णन करने से क्या लाभ? तुम तो जब संतों की स्तुति में रम जाते हो तो प्रस्तुत गीता-कथा के प्रसंग को भी भूल जाते हो। अब सन्तों की गीता ज्ञान के प्रति अत्यन्त उत्सुकता को पूरी करो और ज्ञानदीप जलाकर सन्तों के हृदय मन्दिर में मंगलमय प्रकाश का प्रसार करो।" तब श्री गुरु का यह तात्पर्य जान श्री ज्ञानेश्वर महाराज आगे कथा कहने लगे।

१४३ सर — ज्ञानरूपी तालाब। आत्मानन्द दहार — आत्मानन्द रूपी जलभाग के गड्ढे में।

११३ १४८ निदान — कारण।

१५० १५६ साध्य एवं सिद्ध दोनों मार्गों के साधकों के लिए परमावश्यक ध्यानयोग का प्रकार बताते हैं.

'मनोनिग्रहार्थ पहले वैराग्य के सहारे विषयों को बाहर निकाल कर शरीर को शुद्ध मनोमय बना लिया जाता है (अपने स्वरूप में मन को एकाग्र कर लिया जाता है)। फिर भौंहों के बीच आज्ञाचक्र* में, जहाँ इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामक तीनों नाड़ियों का संगम होता है, दृष्टि को उलट कर स्थिर करते हैं। अब प्राणायाम क्रिया द्वारा प्राण और अपान नामक दोनों वायुओं का वाहिनी मार्ग नासाछिद्र बन्द कर —मन के साथ उस चिदाकाश (ब्रह्मज्योति) तक ले जाकर टिका देते हैं। तब जैसे गंगा में गिरी क्षुद्र नदियों के, सागर में जा मिले जल का पृथक् रूप नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्राण एवं अपान के साथ चिदाकाश में लीन मन की सब वासनाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। जिस मन के कपड़े पर यह संसार का चित्र खींचा गया था वह फट जाता है—मन की सत्ता ही मिट

---

* त्रिकुटी — भौंहों के मध्यभाग का आज्ञाचक्र कहा जाता है। इसी के समीप सात कोष में, जिनमें [illegible] कोष का नाम '[illegible]' है। योगशास्त्र के अनुसार मनुष्य [illegible] तक पहुँचने के बाद [illegible] मन में [illegible] जाता है। [illegible] में दृष्टि स्थिर करने का यही रहस्य है।

पृष्ठ दोहा

जाती है। वैसे ही तालाब के सूख जाने पर पानी में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब स्वतः लुप्त हो जाता है। जब आधारभूत मन ही नहीं रहा तो अहंभाव या वासना का कहाँ ठिकाना? अर्जुन, देह रहते जब सायुज्य का यही एक प्रत्यक्ष साधन है।"

११४ सं० १५७ तदाकार शरीर — जीते जी ब्रह्मरूप होकर।

१५८ जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा और समाधि रूपी अष्टांग योग के दुर्गम पर्वतों पर चढ़ कर और योगाभ्यास का समुद्र लाँघ कर, निजस्वरूप तक पहुँच गये हैं।

१५९. निर्लेप — उपाधि रहित। माप — अनुमान।

१६५ हे कृपानिधान, "यद्यपि इस योग साधना में कुछ समय अवश्य लग जाता है, तब भी हम जैसे दुर्बल प्राणियों के लिये यह मार्ग और यह योग की साधना सरल है।"

१७८ माता के स्नेहमय हृदय में यदि बालक को स्थान भी मिल जाय तो फिर उस की इस अद्भुत तृप्ति की बराबरी कौन कर सकता है?

१७९ योग रूप के संग — बिना सहारे का? योग मार्ग की साधना।

एकादश अध्याय

पृष्ठ दोहा

११६ सं० १–३८—संजय ने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस योग रहस्य का उपदेश दिया, उसे आप ध्यान से सुनिए। भगवान ने सहज ही अर्जुन के सामने ब्रह्मज्ञान की विश्व रसोई परोसी ही थी कि उसी समय संयोग से हम भी वहाँ पाहुना (अतिथि) बनकर पहुँच गया। अपने सौभाग्य को क्या कहूँ, तृषित (प्यासे) को तोय=(पानी) मिल जाए तो वह उसे अमृत के समान स्वादिष्ट लगता है। ज्ञानतत्त्व हमारे हाथ लगा तो हमारी तुम्हारी दशा भी उस प्यासे-सी हो गई। हम

पृष्ठ दोहा

उस अलभ्य ज्ञानयोग को श्रवण कर कृतार्थ हो गये।" यह सुनकर धृतराष्ट्र बोले—"यह बात तो हमने तुमसे नहीं पूछी।"

संजय राजा के मन की बात ताड़ गये कि राजा को इस समय केवल अपने पुत्रों की कुशलक्षेम से ही मतलब है। वह मन ही मन हँसे और सोचने लगे कि धृतराष्ट्र पुत्रों के मोह में पागल हो गया है। नातर (अन्यथा) अब तक तो बहुत सुन्दर संवाद चल रहा था। यह जन्म का अन्धा है, इसे यह ज्ञानदृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है? इसको स्पष्ट बात नहीं कहूंगा। यह नाराज हो जायगा।

किन्तु संजय को श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद सुनने को मिला। वह स्मरण करके उसका हृदय उल्लास से भर गया और उसी उल्लास में उसने धृतराष्ट्र के प्रति जो कुछ कहा, वही क्षीर-समुद्र का मन्थन करके निकाली गई सुधा (अमृत) के समान यह गीता का छठा अध्याय है। इस अध्याय का विषय (आत्म संयम-योग) समस्त गीता का सार, ज्ञानसागर का परला तीर और योग विभव (योगरूपी-सम्पत्ति) का खुला भण्डार है। यहां वेदों को भी मौन धारण करना पड़ता है। प्रकृति का तो यह विश्राम स्थल ही है। यहां गीतावधु (गीतारूपी) वेलि (लता) का सुन्दर अंकुर उगा है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि 'मैं आज ऐसे श्रेष्ठ छठे अध्याय को सुन्दर सालंकार भाषा में कहूंगा। इस सब तत्त्वों के सार को ध्यान से सुनिये। मैं यहां कौतुक से ही देशी (प्राकृत मराठी) भाषा में ऐसे ऐसे मधुर अक्षरों का मिश्रण करूँगा कि जो 'परि अमृत अंमृत जीत'। प्रतिज्ञापूर्वक अमृत को भी जीत लेंगे। कोमलता की तुलना में संगीत का आनन्द भी यहां फीका पड़ जायगा। इसके अलावा छन्द सुगंध की शक्ति को भी (मोरल मोड़ देंगे) हरा देंगे। इन शब्दों की रसता के लोभ में जीभ के भी कान लग जायेंगे और सब इन्द्रियां आपस में श्रवण-शक्ति प्राप्त करने के लिए भयङ्कर कलह करने लगेंगी। यद्यपि शब्द कानों का विषय है पर रसना कहेगी, 'यह शब्दों का रस मेरा अपना रस है। घ्राणेन्द्रिय (नाक) का काम सूंघना है, किन्तु वह कहेगी कि इन शब्दों में भी कम सुगंध नहीं है। कविता की शैली को देखकर नेत्र तृप्त हो

पृष्ठ　　दोहा

जायेंगे उन्हें ऐसा मालूम होगा कि यह शब्द की नहीं वरन् रूप की ही खान मिल गई है। वाक्य पूरा होते ही मन दोनों हाथ पसार कर इन शब्दों का आलिंगन करने के लिये बाहर दौड़ पड़ेगा। समस्त इन्द्रियाँ अपने अपने द्वार से रहती हुई इन शब्दों के श्रवण का आनन्द समान रूप से लेंगी, जैसे गगन सूर्य के प्रकाश को समान रूप से प्राप्त करता है। इन शब्दों की अलौकिक शक्ति और व्यापकता सराहनीय है। चिन्ता-मणि के समान ये शब्द अनेक अर्थों का देने वाले हैं। निष्काम साधकों के लिये मोक्ष रूपी रसराज (मोक्षरस) से भरी हुई यह ग्रन्थरूपी रसोई मैंने शब्दों के थाल में परोसी है। नित्यनवीन आत्मज्योति के प्रकाश में इन्द्रियों के जाने बिना जो लोग इस रसोई को जीमेंगे वे ही सच्चा आनन्द पायेंगे। जिस आत्मा को अनगोन्द्रिय सम्बन्ध के बिना ही केवल मन से इस सुन्दर कथा को श्रवण करना चाहिये। शब्द की खाल (शब्दों का पर्दा) हटाने पर ब्रह्मस्वरूप की भेंट होगी और सब सहज ही उस आनन्द रूप को प्राप्त कर अपने सुख में ही अनुपम सुख प्राप्त होगा। ऐसी ही सूक्ष्म दृष्टि से इस कथा का श्रवण किया जाय तो आनन्द आयेगा। नहीं तो यह संवाद गूँगे-बहरों का कथा-प्रसंग हो जायगा। अथवा आप लोगों को सावधः (सावधान) करने की कोई आवश्यकता नहीं, यहाँ जो श्रोतागण हैं वे स्वभाव से ही निष्काम हैं और इस कथा के अधिकारी हैं।

आत्मज्ञान की इच्छा से जिन्होंने लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों की कामना का त्याग कर दिया है, उनके सिवाय दूसरे लोगों को ग्रंथ का माधुर्य मालूम हो ही नहीं सकता। कौवा चन्द्रमा के सौन्दर्य को नहीं पहचान सकता। चकोर ही चन्द्रकिरण का आस्वादन ले सकते हैं। यह ज्ञानियों का ग्राम (विश्रामस्थान) है और अज्ञानियों के लिये पर ग्राम (पराया गांव) है इसलिये इस विषय में अधिक कहने की आवश्य-कता नहीं है। प्रसंगवश ही कुछ कहा गया। सन्तजन मुझे क्षमा करेंगे। अब मैं श्रीकृष्ण और अर्जुन का गीता कथा प्रसंग प्रारम्भ करता हूँ। यद्यपि इसका बुद्धि और शब्दों द्वारा निरूपण करना कठिन है। तथापि निवृत्ति (श्री निवृत्तिनाथ) की कृपा से मैं सहज ही सब भाव कहूँगा। जो ज्ञानेन्द्रियों से परे है और जहाँ दृष्टि नहीं

पृष्ठ दोहा

पहुँचती, वह ज्ञान भी गुरुदेव की कृपा से दृष्टि के बिना ही दिखाई देता है। यदि भाग्य से पारसमणि हाथ आ जाये तो किमियागर (रस रसायन के योग से धातु बनाने वाले) को भी न मिलने वाला सोना लोहे में से प्राप्त हो जाता है। गुरुदेव की कृपा हो जाए तो क्या दुर्लभ है? ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि मुझ पर तो गुरु महाराज की अगाध (असीम) कृपा है। इसीलिए तो जो तत्त्व इन्द्रियों से परे है, वह मेरे कथन से दृष्टि-गोचर हो जायेगा और जो निराकार है, वह साकार हो जायेगा। आप लोग उसे प्रेम से सुनें।

जिन में यश, श्री, उदारता, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य यह छः गुण समग्र रूप से विराजमान हैं, और जो आसक्तिहीन पुरुषों के ही सहचर हैं, उन श्रीकृष्ण भगवान् * ने अर्जुन से कहा—'हे पार्थ, ध्यान देकर सुनो।'

११८ कार्य १ विहित = शास्त्रोक्त। अनग्नि = जिसने अग्निकर्म (हवन आदि) छोड़ दिये हैं। अक्रिय = जिसने कर्म (नित्य नैमित्तिक) छोड़ दिए हैं।

दो० ४० भेदाभास = भेद की प्रतीति।

४४ भुवि = पृथ्वी। जनी = उत्पन्न करती है। वादि = वृथा, व्यर्थ।

४६ आग्रह = हठ। बकवाय = बकवाद।

११९ ५४ ६१—जो योगरूपी पर्वत के शिखर पर चढ़ना चाहता है, उसे कर्मयोग रूपी सीढ़ी नहीं छोड़नी चाहिए। यम-नियम के सहारे योगासनों की पगडंडी पर चलकर प्राणायाम के कगार से प्रत्याहार की पहाड़ी पर उसे संभलकर चढ़ना चाहिए। प्रत्याहार की पहाड़ी पर बहुत फिसलन है, यहाँ बुद्धि के भी पैर फिसल जाते हैं और हठयोगी भी लुढ़क जाते हैं। भय के मारे वे भी अपना पराकाष्ठा (कठोर) प्रण छोड़ देते हैं। तो भी अभ्यास के बल से प्रत्याहार रूपी निराधार आकाश में आते ही वहाँ वैराग्य का आधार मिल जाता है।

---

* टिप्पणी- "भगवान्" शब्द के छः पर्यायक हैं.—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां "भग" इतीरणा॥

पृष्ठ दोहा

हे अर्जुन, इस प्रकार अनिल (प्राण) रूपी घोड़े पर चढ़कर आत्मा के मार्ग पर चलते २ साधक ध्यान के शिखर पर पहुँच जाता है और तब उसका चलना रुक जाता है । मन की सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं । बस, इस ब्रह्मानन्द में साध्य (ब्रह्म) और साधन (योग) मिलकर एक हो जाते हैं । आगे चलना रुक जाता है, पीछे की सुधबुध नहीं रहती और ऐसी समान भूमिका पर सुखदायक समाधि लग जाती है । इस प्रकार मैं जो योगरूपी पर्वत पर आरूढ़ होकर अपार आनन्द से परिपूर्ण हो गया है उसकी पहचान के लिये अब उसके लक्षण कहूँगा* ।

११९. अर्थ ४ मूढ़ मोह को प्राप्त हुआ ।

दो० ६२ पाक गृह कोठरी ।

१२० ६३ जिसका मन सुख दुःख के संघर्ष काल में भी आकुल नहीं होता, अधिक क्या कहा जाय ? उसको तो पास आए हुए विषयों का भी स्मरण नहीं रहता ।

६६ तिमि योगयता वैरी सामर्थे ।

अर्थ ५ आप आपको त्राता आत्मा ही अपना बन्धु है ।

दो० ६७-६८—श्रीकृष्ण ने तब हँसकर कहा "अर्जुन, तेरा प्रश्न अजीब है । इस अद्वैत में कौन किसे क्या देता है ? मनुष्य जब भ्रम की शय्या पर प्रबल अज्ञान की निद्रा में सोता है तभी दुःस्वप्नों की (बुरे सपनों की) तरह दुःख की खान (जन्म और मृत्यु) भोगता है ।

६९ 'आस उपजै .....आप गुमाय' इस प्रकार का सद्भाव (आत्मज्ञान) भी अपने आप में ही उत्पन्न होता है ।

७० 'चित दे रात समझाल' ध्यान देकर उसे सत्य समझना है ।

अर्थ ६ अरु अजीति.....सोय और अपने ऊपर विजय प्राप्त न करने वाला (अपने आपको न पहचानने वाला) व्यक्ति अपने साथ शत्रु जैसा बर्ताव करता है ।

दो० ७२ कोश कीट = रेशम का कीड़ा ।

---

* टिप्पणी—यहाँ योग के आठ अङ्ग "यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि कैवल्य प्राप्ति में किस तरह सहायक होते हैं—यही बात सुन्दर रूपक द्वारा प्रस्तुत की गई है ।

पृष्ठ दोहा

७३ अन्धपनो........सोय -अभागे मनुष्यों की आँखों में लाभ के समय ही कैसा अन्धापन आ जाता है। वह खुली आँखों को भी उस समय मूँद लेता है अर्थात्—उपयोग नहीं कर सकता।

७४ 'लखि कै......नारा'- यथा स्वप्न में भयानक दृश्य देखकर कोई सचमुच मर जाता है।

१२१ ७६-८०-- तोते को पकड़ने के लिए रखी गई नली, तोते के ही शरीर के भार से उलटी फिरने लगती है। तोता चाहे तो उड़ जाए, पर वह भ्रम में पड़ जाता है कि मैं पकड़ा गया। व्यर्थ ही गर्दन ऐंठता है छाती फुलाता है, और चोंच से बलपूर्वक नली को पकड़ कर दबाता है। मैं सचमुच पकड़ा गया इस भावना के चक्कर में पड़कर खुले हुए पंजों को भी उसमें अधिक फँसाता है* ऐसे ही वह अपने आप ही फँसता है। तुम्हीं कहो, उसे दूसरे किसने फँसाया? उसे यदि आधा काट भी दिया जावे तो वह नली न छोड़ेगा। इसीलिये जो संकल्प-विकल्प बढ़ाता है वह अपने आप ही अपना शत्रु है। आत्मज्ञानी तो वही है जो मिथ्या संकल्प-विकल्प के चक्कर में नहीं पड़ता।

दो० ८१ इतर जनन जिमि रीति दूसरे (अज्ञानी) लोगों की तरह।

८२ स्वर्णहीनता सोने में रहने वाले मैल-मिलावट आदि दोष, जिनसे स्वर्ण खोटा या हीन-जाति का समझा जाता है।

१२२ ८६ फिर मैं व्यापक हूँ कि अव्यापक हूँ इस प्रकार का तर्क-वितर्क करना द्वैत का सम्बन्ध न रहने और अद्वैतभाव प्राप्त हो जाने से अपने आप ही दूर पड़ा रह जाता है।

९६ पारस कैर कसाव पारस की कसौटी।

१०२ समाधान हिय दर्श है जिसके दर्शन से हृदय में शान्ति होती है।

१२३ दो० ११२ १२८ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन, द्वैतभाव को मिटाने वाला यह ब्रह्मज्ञान यदि

---

* टिप्पणी— दक्षिण देश के बहेलिये तोता आदि पक्षियों को पकड़ने के लिये एक विशेष प्रकार का जाल प्रयोग में लाते हैं। जाल में बांस की नली इस प्रकार बांधी जाती है कि तोते के उस पर बैठते ही वह तेजी से घूमने लग जाती है। तोता घबराकर मैं फँस जाता हूँ और भ्रम वश प्राण रक्षा के लिये उसी विनाशक नली को अधिक दृढ़ता से पकड़ने की धारा में पकड़ा जाता है।

मूल दोहा

प्रकट कर दिया जाय तो 'तुम मेरे अत्यन्त प्यारे हो' यह बात ही नहीं रह पायगी। इसलिये जैसा [illegible] प्रेम का आस्वाद लेने के लिए [illegible] यहाँ [illegible] मन को अलग कर लिया है। जो लोग संसार में आसक्त हुए हैं और मोक्ष सुख के लिए रंक (दीन) बने हुए हैं, उनकी दृष्टि (एकात्मदर्शन) का कलंक, यहाँ तुम्हारे प्रेम को न लग जाए। यदि यह अहंभाव चला गया तो तुम और मैं का भेद जाता रहेगा और यह प्रेम प्रसंग सुनाना व्यर्थ हो जायगा, कौन किसको सुनायगा। फिर ऐसा कौन रहेगा जिसको हृदय से आलिंगन करके चैन (सुख) प्राप्त हो; जिसके साथ मनमानी बात हो और जिसके दर्शन से नेत्र तृप्त हों।। हे अर्जुन, यदि हमारी एकता हो जायगी तो मन में न समाने वाली ये उत्तम बातें मैं किसे समझाऊँगा ?

श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि [illegible] भगवान ने [illegible] के कारण [illegible], पर इस आकुलन (प्रेम में बाधा) के कारण मन ही मन [illegible] आलिंगन करते हुए कहने लगे। यद्यपि श्रोताजनों को यह बात पसंद लगेगी किन्तु अर्जुन को तो श्रीकृष्ण भगवान् के सुख की मूर्ति ही जानना चाहिए। आखिर कहा गया है अवस्था ढल जाने पर जैसे बाँझ को पुत्र हो जाए तो वह जैसे मोह की पुतली बन कर नाचती फिरती है, शान्त नहीं होती, वैसी ही दशा श्रीकृष्ण भगवान् की अत्यन्त प्रेम के कारण हो गई। मैं ऐसा न कहता यदि मैं उनका ऐसा अगाध अपार प्रेम न देखता। [illegible] प्रसंग (युद्ध के प्रसंग) में भला कौन उपदेश चाहेगा! तब यह तो श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति अपने अत्यधिक प्रेम के कारण नाच पड़े हैं (तुष्ट हो गए हैं)। प्रेम लज्जा नहीं करता। [illegible] उपजे और पिशाच लगने पर [illegible] भूले नहीं, यह कैसे हो सकता है ? मैंने जो यह कहा उसका यह सार है कि अर्जुन तो मित्रता का घर और सुख के [illegible] का दृष्टांत है। अर्जुन ही संसार में भक्ति के बीज बोने के लिए पका [illegible] है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम कृपापात्र है। आत्म निवेदन जो [illegible] भक्ति-भूमिका [illegible] है।

* टिप्पणी—भक्ति की नौ भूमिकाओं में से 'सख्य' आठवीं भूमिका है.

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (भागवत पु० ७।५।२३)

पृष्ठ दोहा

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसी भक्ति में मुग्ध जाना है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, कि मेरे सामने स्वामी (श्रीकृष्ण) और सेवक (अर्जुन) दोनों ही खड़े हैं किन्तु मैं स्वामी के यश का वर्णन न करके सेवक का गुणगान कर रहा हूँ। श्रीकृष्ण भगवान ने सहज ही मेरे मन में अर्जुन के प्रति प्रेम भर दिया है।

१२४ दो० १२३ 'उमड़त . . .अमाल।' हृदय में विजित होकर जमे हुए नौ अमूल्य (अलौकिक) रस उमड़ रहे हैं।'

१२४-२५ ज्ञानरूपी चन्द्र की चांदनी चमक रही है, भावार्थ रूपी शीतलता से मन आनन्दित हो रहा है और गीता श्लोकार्थ रूपी कुमुदिनी सहज ही विकसित हो उठी है। सब मनोरथ पूर्ण हो गये। निष्काम श्रोता भी आनन्द प्राप्ति के लिए सकाम हो गये। विस्मय से उनके सिर हिलने लगे। सुनते ही सुनते आत्म-प्रकाश होने से न आत्मानन्द प्रकाश हुआ।

१२४ दो० १२६ 'कौतुक . . . सुख खान।' पाण्डवकुल रूपी आकाश में कौतुक जनक और सुख की खान श्रीकृष्ण रूपी दिनकर (सूर्य) का प्रकाश हो रहा है।

१२७-२८—श्री देवकी ने तो श्रीकृष्ण को गर्भ में धारण किया और यशोदा ने प्रयत्न पूर्वक उनका पालन-पोषण किया, किन्तु अन्त में फल अर्जुन को मिला। इसीलिए बहुत दिनों तक सेवा करने का, यथायोग्य अवसर देखकर प्रार्थना करने का विशेष कष्ट भाग्यशाली अर्जुन को नहीं उठाना पड़ा।

१३१ कथा नेमि मधु आदिक किमि आदिक नाथ, अब प्रस्तुत कथा-प्रसङ्ग कहता हूँ। लालि लाय लाड़ करके, प्रेम से।

१४० यद्यपि इन शब्दों के लक्षण का तात्पर्य मैं अक्षर भी नहीं जानता। तब पूरा भला कैसे जान सकूँगा? और मैं अयोग्य भी हूँ। तो भी आपकी कृपा के प्रभाव से सब कुछ जान सकूँगा।

१४२ 'लक्षणा भव श्रोण भाव' = जब ये लक्षण मेरे ध्यान में बस जायेंगे, तब तो बहुत ही अच्छा होगा।

१४३ कालि नया।

१४४ सुदिन पिक भार—सौभाग्य परिपाक।

पृष्ठ दोहा

१२५ १४८-५० आस सुनि. . . .विचार। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने मन में विचार किया कि अर्जुन ब्रह्मरूप होना चाहता है, तो इसकी बुद्धि में निश्चय ही सच्चा वैराग्य उत्पन्न हुआ है अथवा अर्जुनरूपी नये वृक्ष पर वैराग्यरूपी वसन्त के आने से 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) इस प्रकार के विवेकरूपी सुन्दर पुष्प अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, अब इस पर मोक्षरूपी फल लगते देर न लगेगी। इस प्रकार अर्जुन को वैराग्य सम्पन्न जानकर श्रीकृष्ण के मन में विश्वास हुआ।

१५१ फलभास अच्छे परिणाम वाला।

अभ्यास साधन, योग का अभ्यास।

१५२ राजमार्ग योगमार्गों में श्रेष्ठ मार्ग। हठयोग।

१५४-५६- पहले तो योगीजन चित्ताकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही चले, फिर अनुभव के सहारे 'ब्रह्म' की प्रतीति रूप मार्ग मिल गया। फिर तो वे सब अन्य अज्ञानमय मार्गों को छोड़कर इस आत्मज्ञान के सरल मार्ग पर दौड़ने लगे। इस मार्ग पर आकर वे साधक से सिद्ध हो गये और आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ हो गए।

१५६-६०—प्रवृत्ति रूपी पूर्वदिशा के मार्ग पर जाओ या उसे छोड़कर निवृत्तिरूपी पश्चिम दिशा के मार्ग पर जाओ हे धनुर्धारी अर्जुन, निश्चल ही रहोगे तो इसको चलना कहें कि ठहरना। इस मार्ग पर चलकर जिस गांव में जाओगे स्वयं वही गांव हो जाओगे। हे बुद्धिमान अर्जुन, मैं क्या कहूँ? यह तो तुम अनुभव से सहज ही जान लोगे।

१२६ १६४ हौंस—उमग।

१६६ 'बिनहि कहनि रहनि रहि'—ऐसा स्थान कि जहां न रहने की इच्छा वाले भी रह जाएं।

१७१ उत्तम शुद्ध थल=श्रेष्ठ और पवित्र स्थान।

१७२ 'औरहु एक लखात' जो, एक और बात देखी जाती है कि जो।

१७४ सुरभित बहै समीर सुगन्धित पवन बहता हो।

१७६ श्वापद पशु।

१७८ मोर भी वहां आते-जाते रहें, सदा न रहें। और अगर रहें भी तो मैं कहता हूं कि मैं उनको 'नहीं (यहां मत रहो)' नहीं कहता।

पृष्ठ दोहा

१८२ साम्य दर्भ अग्रभाग-सहित कुशा के।

करि मढ़ी मढ़ करके।

१२७ १८७ सबाह्य .पर्यन्त जब तक हृदय बाहर भीतर सात्विक वृत्ति से ओत-प्रोत न हो जाए।

१८८ कसमसा मुरे आकर्षण दूर हो जाए। मन की घरी - मनरूपी वस्त्र की तह।

१८९-१९०—इस विधि से यह प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि शरीर ने अपने आप को स्वयं धारण कर रखा है और प्राणायाम सिद्ध हो रहा है। कर्मों की प्रवृत्ति लौटने लगी है और मन समाधि दशा के पास जाने लगा है तथा बैठते ही अभ्यास =(योगाभ्यास) सिद्ध हो गया है।

अब मुद्रा* =(बैठने के प्रकार) की प्रौढ़ता =(विशेषता) का वर्णन करता हूँ। हे अर्जुन, उसे सुनो। पहले पिंडी को जांघ के मूल में रखे और एक पांव के तलुवे पर दूसरा पांव ऐसे रखे कि जिससे डेढ़ पांव बन जावे, फिर उसे टेढ़ा कर गुदा के द्वार पर स्थिर करके दबाए। दायाँ पांव नीचे रखे और उससे अण्डकोश और गुदा के मध्य की सीवन (रेखा) को दबाए। अब बायाँ पांव सहज ही ऊपर होगा। गुदा और अण्डकोश के बीच में जो चार अंगुल का अन्तर है, उसमें ऊपर नीचे समान भाग (डेढ़ डेढ़ अंगुल जगह) छोड़ कर मध्य भाग (एक अंगुल जगह) को दबावे। इस प्रकार एड़ी के पिछले भाग से उस एक अंगुल जितने भाग को दबा कर उस पर अच्छी तरह अपने शरीर को तोले। फिर पीठ के नीचे का भाग ऐसा

---

* टिप्पणी "मुद्रा" आसन प्राणायाम प्रत्याहार आदि साधना की सिद्धि में सहायता प्रदान करनेवाली सुकौशल-पूर्ण नाम दिया है। "इसका प्रधान अर्थ इस 'शक्ति' का ऊपर की ओर ले जाना है।"

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो धारणध्यानके।
समाधिः साधनाङ्गानामेषां सिद्धौ हि या हिता ॥
साहाय्यप्रावधात्रीह सुकौशलभरा क्रिया।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

हठयोग संहिता, (मुद्रा प्रकरण)

संहा

अधार ऊपर उठाए, जिससे मालूम न हो कि शरीर को ऊपर उठाया जा रहा है और दोनों घुटनों को जमीन पर टिका लगा कर रखें कि मानो उनके ही सहारे शरीर तोला जा रहा है। किन्तु हे अर्जुन! वास्तव में तो शरीर का भार एड़ी के ही अग्रभाग पर रहेगा। इस आसन का नाम मूलबन्ध है, इसी का गौण (दूसरा) नाम वज्रासन समझो। इस आसन से अधोमार्ग रुक जाता है और अपान वायु भीतर से निकल कर संकुचित होता हुआ पीछे की ओर जाने लगता।

१२८ दो० २०१ संपुट कर फरि — दोनों हाथ द्रोणाकार (पत्ते के दोने की तरह) करके।

बायुमूल — कन्धे।

२०२ मूलबन्ध — मेरुदण्ड (रीढ़) का मध्य भाग।

गाड़ो सारखा — गड़ा या धँसा हुआ सा।

१२८ दो० २०३—पपराज — पलकें आपस में एक दूसरे को छूने लगती हैं मानो कि नेत्रों के किवाड़ बन्द हो रहे हों।

२०७-२११—पलकों की ज्योति आप ही आप झुक जाती है थोड़ी सी और अधिक झुककर नीचे के भाग में बैठ जाती है, और बाहर अधिक झुकने से बचावें। तब कंठमणि (श्वास नली का ऊँचा भाग) न दीखे। ऐसी लगाई गई मुद्रा को मुनि लोग जालन्धर बन्ध कहते हैं। पेट अन्दर धंसा कर सपाट कर दिया जाय और नाभि ऊपर उठ जाय, ऐसा करने से हृदयकोश अधिक ही अन्दर पैठ जाता है। इस प्रकार गुदाद्वार या लिंगमूल से लेकर नाभि कमल तक जो बन्ध होता है, मुनि लोग उसे 'उड्डीयान बन्ध' कहते हैं। इस प्रकार योगाभ्यास का असर बाहर शरीर पर भी पड़ता है और अन्दर भी मनोवृत्तियों का बल जाता रहता है।

२१३—कोर — कोने में।

२१४-२५२—पूर्वोक्त मूलबन्ध या वज्रासन द्वारा जब अपान वायु को बन्द कर दिया जाता है, तब वह पीछे लौटती है और संकुचित होते होते एक दम फूलने लगती है। क्षुभित होकर अति तीव्र गति से अन्तर्गुप्त स्थान लिंग-चक्र (तृतीय चक्र मणिपूर) में रह रह धक्के देती है। इस प्रकार आगे चलकर वह अपान वायु सारे पेट को रौंद डालती है।

पद्य दोहा

और बचपन से लेकर आज तक का सब मल-विकार बाहर निकाल देती है। वह केवल पेट में ही भर कर नहीं रहती बल्कि सभी कोठों में संचार करती है और कफ पित्त के स्थानों के सब विकार दूर कर देती है। सप्त धातुओं के समुद्र को पार कर मेदा (चर्बी) के पहाड़ को फाड़ती हुई वह अपान वायु हड्डियों के अन्दर की मज्जा को भी तत्काल निकाल देती है। फिर नाड़ियों को भी ढीला कर वह सारे शरीर को शिथिल कर देती है और इस प्रकार साधक को एक बार तो डरा देती है, किन्तु अर्जुन, उससे डरना नहीं चाहिये। वह शरीर में व्याधि (रोग) उत्पन्न करती है, किन्तु उसे हटा भी देती है। फिर जलतत्त्व (कफ आदि) और पृथ्वीतत्त्व (मांस आदि) को एक जगह मिला देती है। इसी समय आसन की उष्णता (गर्मी) से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। जैसे कुंकुम से नहलाया हुआ छोटा सा साँप का बच्चा कुण्डली मारकर (गुड़ी मारकर) सोया हो, वैसी ही छोटी सी कुण्डलिनी साढ़े तीन कुण्डलियां बना कर नीचे मुँह करके सर्पिणी के समान सोई रहती है। वह अग्नि की ज्वालाओं-सी, बिजली-सी और पिघले हुये स्वर्ण-सी चमकती है। यह कुण्डलिनी दृढ़-बन्धनों से जकड़ी हुई नाभि-कुण्ड में पड़ी रहती है, किन्तु वज्रासन के दबाव से जागृत हो जाती है। जैसे सूर्य का आसन हिल गया हो या नक्षत्र का तेज उलट गया हो या तेज के बीज में से अंकुर फूट निकला हो। इस प्रकार कुण्डलिनी अंगड़ाई सी लेती हुई कुण्डली को छोड़ कर नाभिकुण्ड में उठी हुई (जागृत हुई) दीखती है। यह जगाना तो भड़काना हो जाता है। बहुत दिनों की भूखी कुण्डलिनी बड़े आवेश से मुँह फाड़ कर खड़ी हो जाती है और हृदय कमल के नीचे जो पवन भरा रहता है, उसको पूरा खा जाती है। फिर अपने मुख की ज्वालाओं से हृदय कमल के नीचे ग्रास ग्रास करके वह मांस खाने लगती है। जो जो मांसल (मांस वाले) स्थान हैं, वहां सहज और अनायास ही ग्रास मिल जाता है। फिर तो वह हृदय के भी दो एक ग्रास भर लेती है। फिर पैरों के तलुआ और हथेलियों को भी भेदती हुई ऊपर के भागों और सन्धि-स्थलों (जोड़ों) की खोज करती है। नीचे के भागों को भी वह नहीं छोड़ती, नखों का भी सत्त्व निकाल लेती है और त्वचा को भी साफ करके हड्डियां (अस्थिपंजर) में

पृष्ठ दोहा

२१४ २७२ मड़ लेती है। हड्डियों की नलियों का रस निकाल कर नसों को भी धो डालती है, जिससे बाहर रोम कूपों की वृद्धि रुक जाती है और सारे शरीर का रस चूस कर सात धातुओं के समुद्र को पीकर सभी अङ्ग-उपांगों को शुष्क कर देती है, सुखा देती है। नाक में से जो श्वास बाहर बारह अंगुल तक जाता है, उसे भी खींच कर भीतर प्रवेश करा देती है। तब अपान (नीचे जाने वाला वायु) ऊपर चढ़ने लगती है और प्राण (ऊपर जाने वाली वायु) नीचे उतरने लगती है। दोनों के बीच में केवल सप्त चक्रों की आड़ रहती है, जिससे दोनों मिल नहीं पाते। इस प्रकार प्राण और अपान से मिलकर क्षण भर के लिये शक्ति (कुण्डलिनी) भड़क जाती है। मानों उन से पूछती है कि तुम दोनों का यहां क्या काम है? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि कुण्डलिनी माँस आदि पार्थिव भागों को बिलकुल खा गई और जलीय (कफ आदि) भागों को भी सुखा गई, और इस प्रकार दोनों तत्त्वों को खाकर अत्यन्त तृप्त हो गई है (अब वह प्राण अपान को नहीं खा सकती) इसलिए सौम्यरूप धारण करके सुषुम्ना के पास आ ठहरती है। यहां अपने मुख से विष उगल कर वह सन्तोष पाती है वही विष प्राण के लिये अमृत का काम करता है जिससे वह रक्षा प्राप्त करता है। इस विषमय अग्नि में से निकल कर भी प्राण बाहरी और भीतरी दाह को शान्त कर देता है और इस प्रकार मुनि वही पहला सामर्थ्य (बल) प्राप्त करता है। नौ प्रकार के वायु (प्राण को छोड़कर शेष अपान आदि) अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त व धनंजय के और नाड़ियों के मार्ग रुक जाने से शरीर के सब व्यापार नहीं-जैसे रह जाते हैं। षट्चक्र* के आवरण फट कर छूट जाते हैं क्योंकि इड़ा (नाक के दाहिने रन्ध्र की नाड़ी) और पिङ्गला (नाक के बाएं रन्ध्र की नाड़ी) तीनों गांठों को छुड़ाकर एक हो जाती हैं। फिर तो सूर्य-जैसी इड़ा और चन्द्र-जैसी पिङ्गला का ऐसा लोप हो जाता है कि दीपक लेकर ढूँढ़ें तो भी न मिलें। तब बुद्धि की ज्ञानकला (ज्ञान शक्ति) रुक जाती है और घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध भी कुण्डलिनी के साथ सुषुम्ना नाड़ी में चला जाता है। अब ऊपर से धीमा-सा धक्का लगने

* टिप्पणी—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, और आज्ञाचक्र नामक छ चक्र।

पृष्ठ ओवी।

वो चन्द्रामृत (चन्द्रमा की सत्रहवीं कला के अमृत) का सरोवर झुक कर कुण्डलिनी के मुख में एक धार अमृत गिराता है। फिर कुण्डलिनी की नली में जो अमृत भरा जाता है वह सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और प्राणवायु के सहारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँच कर समा जाता है। जिस प्रकार तपाए हुए मोम के साँचे का मोम पिघल जाता है और उसमें डाले हुए धातुरस का ही साँचा रह जाता है। इसी प्रकार शरीर का स्वरूप ऐसा लगता है कि मानो कान्ति का अवतार हो, क्योंकि उसमें चन्द्रामृत का रस ही तो ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़े रहता है। जैसे बादलों से ढका हुआ सूर्य बादलों के दूर हो जाने पर अपने तेजस्वी स्वरूप में प्रकाशमान होता है वैसे ही शरीर की पहली त्वचा पपड़ी सी होकर जब ऊपर से भौसा सा भूसी-सी उतर जाती है तब एक अति निर्मल शरीर निकल आता है।

१३० २५२ बीजांकुर मणिरूप मणि के बीज में से निकले हुए अंकुर जैसा रूप।

१३१ २६१ बाल अर्थ बल अधिक अति=तब 'बाल' शब्द का अर्थ अधिक बलशाली करना पड़ता है।

२६४ अणुकण तेज तेज के परमाणु जैसे।

२६६ सीपी पल्लव की सियनि सीपी के दो संपुट या भाग।

२७१ २६२—प्राणवायु का हाथ पकड़ कर जो कुण्डलिनी हृदयतलों को सीढ़ी के डंडे बनाकर सुषुम्णा नाड़ी के जीने से हृदयाकाश में पहुँचती है वह कुण्डलिनी जगदम्बा=(जगत-जननी) है। यही जीवात्मा की शोभा है और जगत के बीजरूप ओंकार के अंकुर (जीव) के ऊपर छाया है। वह निराकार ब्रह्म का साकार स्वरूप है, परमात्मा शिव का सम्पुट और ओंकार की एकमात्र जन्म-भूमि है। जब यह परम सुकुमार कुण्डलिनी हृदय में प्रवेश करती है, तब अपने आप होने वाला दिव्य-अनाहत नाद—ओंकार रूप शब्द उठने लगता है। कुण्डलिनी शक्ति के संग से बुद्धि में चैतन्य आता है, इसीलिये यह शब्द (अनाहत नाद) उसे थोड़ा-थोड़ा सुनाई पड़ता है। घोष (अनाहत नाद के प्रथम प्रकार) के कुण्ड में ओंकार के आकार के समान नाद का चित्र बनने लगता है। यह बात कल्पना से ही जानी जाती है किन्तु कल्पना कौन करे? यथार्थ में तो हृदय में होने वाला नाद समझ में नहीं आता। अर्जुन, हा एक बात तो रह ही गई। यह गम्भीर नाद हृदयाकाश में तब तक होता

पृष्ठ दोहा

ही रहता है जब तक प्राणवायु का नाश नहीं होता। तब [illegible] रूपी आकाश में भर जाता है, तब ब्रह्मरन्ध्र की [illegible] ही [illegible] काश में ऊपर कमल गर्भ के आकार वाला जो महाशून्य ([illegible]) है [illegible] निराधार स्थिति में रहता है। यह कुण्डलिनी परमेश्वरी [illegible] अपने तेजरूपी भोजन की भेंट उस चैतन्य के आगे धर देती है। और [illegible] शाक बनाकर उस भोजन का नैवेद्य लगाया जाता है [illegible] रहता। फिर कुण्डलिनी अपनी कान्ति छोड़कर [illegible] है, उस समय वह कैसी लगती है? सुनो।

१४२ २८८-९२ उसके बाद ही तब शक्ति का [illegible] है [illegible], किन्तु, कला और ज्योति का [illegible] नहीं रहता। [illegible] नहीं रहता कि मैं [illegible] रहा हूँ या पवन का आलम्ब ले रहा हूँ या [illegible] था नहीं यह भी ध्यान नहीं रहता। [illegible] इस महाभूत को [illegible] इस प्रकार के योग-साधन से 'पिण्ड से पिण्ड को ग्रसना' [illegible] है वही महाविष्णु ([illegible]) ने पूरी तरह [illegible] है। [illegible] महा राज कहते हैं कि [illegible] ज्ञान करके यह खोल-खोल कर दिखलाई है।

१४२ आर्थ १४ आनन्द-रत आत्मा के परमात्मा में [illegible] हुआ। [illegible]

२९४ [illegible] ([illegible])

२९६ [illegible] आकाश में [illegible] ([illegible]) [illegible] समुदाय [illegible]

२९७ अणिमादिक अणिमा आदि। [illegible] अणिमा, महिमा, गरिमा, [illegible], प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व।

२९८ त्रिभुवन [illegible] महाभूतों के [illegible]

१४३ २९९ नीर तत्त्व - जल [illegible] पृथ्वी [illegible]

३०० समीर - पवन (प्राणवायु)। [illegible]

पृष्ठ दोहा

२०१-२१४—'कुण्डलिनी .....नरनाह ।'—अब कुण्डलिनी नाम नहीं रहता बल्कि उसका नाम वायु प्राणवायु हो जाता है किन्तु उसकी शक्ति तब तक बनी रहती है जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं समा जाती। फिर कुण्डलिनी जालन्धर बन्ध को छोड़कर कंठ को फोड़ कर (सुषुम्णा में प्रवेश कर) ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है। अब यह ओंकार की पीठ पर पांव रखकर 'पश्यन्ती' (हृदयस्थ वाणी) की सीढ़ी पर चढ़ जाती है तथा ओंकार की अर्धमात्रा तक पहुंच कर आकाश में ऐसे समा जाती है जैसे समुद्र में महानदी। फिर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होकर वह सोऽहं भाव की बाहुएं फैलाकर परब्रह्म से मिलते ही एकाकार हो जाती है। तब पंच-महाभूतों का परदा दूर हो जाता है और वह आकाश समेत ब्रह्म में लीन हो जाती है, इस प्रकार शिव और शक्ति में एकता हो जाती है। हे अर्जुन, जैसे समुद्र बादलों के रूप में जाकर वर्षा करता है और नदी के रूप में फिर अपने आप में समा जाता है वैसे ही ब्रह्म (जीवात्मा) ही शरीर की सहायता से ब्रह्म (परमात्मा) में लीन होता है और जल में मिल गये जल के समान एकरूप हो जाता है। फिर मैं (जीवात्मा) और परमात्मा दोनों अलग २ हैं या एक हैं ऐसी अनेकता या एकता की विविध (भांति भांति की) कल्पनाएं नहीं रहतीं। आकाश (घटाकाश) आकाश (पूर्णाकाश) में समा जाता है, यह जो एक तत्त्व की बात है उसका अनुभव होते ही साधक सिद्ध हो जाता है। इसलिए किसी प्रकार भी यह बात शब्द के हाथ नहीं आती जिससे कि संवाद के गाँव में प्रवेश किया जाए। फिर तो जो वाणी (वैखरी) मन की बात कहने का बड़ा गर्व करती है वह भी कुछ नहीं कह सकती, दूर रह जाती है। भृकुटी की पिछली बाजू में तुरीया (अर्धमात्रा) का भी प्रवेश नहीं है, वहां जाते हुए तो प्राण को भी परिश्रम करना पड़ता है। भृकुटि में प्रवेश करते ही पवन (प्राणवायु) तदाकार हो जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है यह क्या कहें ? तब तो आकाश का भी नाश हो जाता है। अब अव्यक्त की स्थिति को कोई कैसे खोज सकता है ? जहां आकाश भी थाह नहीं पाता वहां शब्द की क्या शक्ति है कि वह थाह पा सके ! हे अर्जुन, मैं तीन बार सत्य की साक्षी करके कहता हूं, कि यह स्थिति अक्षरों द्वारा कही नहीं जा सकती और कानों से सुनी नहीं जा सकती।

पृष्ठ दोहा

३१७ प्रमान—यह बात प्रामाणिक (सत्य) है।

३१८ नतरु—नहीं तो, अन्यथा।

३२० यह स्थिति तो उन्मनी अवस्था की शोभा, तुरीया की तरुणता, (नवीनता) है और अनादि तथा अपरिमेय (जिसे नापा न जा सके) ब्रह्म का निजरूप है।

१३४ ३२२ आदिहु अन्त—आदि और अन्त भी।

३२२ श्रुति सेतु—वेद मार्ग।

३२७ देहाकृति—शरीर रूपी।

३२६ दीजे उचित आभार—ध्यान दीजिए।

३४० जिसे योग्यता कहते हैं वह तो प्राप्ति (सिद्धि) के अधीन है। योग्य होकर जो कार्य किया जाता है वह प्रारम्भ से ही फल देने लगता है।

३४२ कर्म ·····अधिकारि।' यदि कोई क्षण भर के लिये विरक्त होकर शास्त्रविहित (शास्त्रों के अनुसार) कर्म करने लगे तो क्या वह स्वाभाविक रूप अधिकारी नहीं होता? (अर्थात अधिकारी होता ही है)।

३४३ इसलिये हे बुद्धिमान अर्जुन, तुम्हारी योग्यता है, क्योंकि तुम्हारी लगन (योगाभ्यास करने) में रुचि है। कष्ट प्रसंग—सन्देह रूपी कष्ट का अवसर।

१३५ अर्थ १७ युक्त—नियमित।

३४६ क्रियामात्र—प्रत्येक कार्य।

१३६ अर्थ १६ आत्मविनिग्रह के योग महँ—आत्मसंयम के योग में।

३५८ नीके—अच्छी तरह।

३६०–६१—हे अर्जुन, तुम चतुर तो हो तभी तो तुम्हें ब्रह्म-प्राप्ति की चाह है, पर तुम अभ्यास नहीं करना चाहते, उदास होकर तुम मन में अभ्यास की कठिनता से डरते हो। किन्तु मन में कष्ट की कल्पना करके मत डरो। ये दुष्ट इन्द्रियां व्यर्थ ही 'हौवा' जैसा डर दिखाती हैं।

३६३ इसी प्रकार जो-जो वस्तु जीव के लिए हितकर है वही-वही इन्द्रियों को दुःखदायी लगती है, नहीं तो योगमार्ग जैसा सुलभ और अनुकूल मार्ग दूसरा है ही नहीं।

अर्थ २१ मतिभोग्य—बुद्धि से भोगने या जानने योग्य।

पृष्ठ दोहा

१२७ दो० ३६४ आत्म संग —आत्मस्वरूप से मिलने में।

३६६-६७—'अरु...... जाय।'—चित्त पीछे लौट-लौटकर अपने आप ही अपनी ओर देख-देख कर ठहरता है, देखते ही पहिचान जाता है यह तत्त्व मैं ही हूँ। फिर तत्त्व को पहिचानते ही वह सुख के साम्राज्य पर बैठ कर अत्यन्त तृप्त होता है और अपनी ही एकता में विलीन हो जाता है।

३६९-७१ - सुमेरु से भी भारी शारीरिक दुःखों का भार पड़ने पर, उसका दृढ़ चित्त नहीं दबता। अथवा शस्त्र शरीर को काट दे या आग लग जाए तो भी ब्रह्मानुभूति के महासुख में सोया मन नहीं जागता। क्योंकि आत्मस्वरूप में प्रवेश करके वह शरीर की ओर देखता ही नहीं, वह तो अनिर्वचनीय सुखरूप होकर सब कुछ भूल जाता है।

१२८ ३७२-७३ जिस सुख की मधुरता से मन लौकिक सुख की इच्छा और उसका चिन्तन तथा संसार की सभी उलझनों के प्रपंच का आनाजाना ही छोड़ देता है। यही योग की सुन्दरता है और सन्तोष का स्वराज्य है अधिक क्या कहें हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन, इसी के लिये ज्ञान की आतुरता (जानकारी) है।

३७४-७६ -'योग ...अरूप।' हे अर्जुन यदि संकल्प को काम, क्रोध आदि स्वपुत्रों के मरने का पुत्र शोक हो तो यह योग इस एक प्रकार से सुलभ है। संकल्प यदि विषयों (रूप, रस) आदि का लीन होना और इन्द्रियों का नियमित होना सुन ले तो वह निराकार संकल्प भी अपना हृदय फाड़ कर जीवन त्याग कर दे।

३७७ तोड़े निराश करे।

३७८ बुद्धि जब धैर्य का आश्रय लेती है तब मन अनुभव के मार्ग में चलने लगता है और धीरे-धीरे भाग्यशाली साधक को आत्मज्ञान के मन्दिर में बैठा देता है।

३८१ निःसन्देह अपने (साधक के) आधीन। 'थिर न ...... स्वतंत्र' यदि चित्त स्थिर न हो तो उसे स्वतन्त्र छोड़ दे।'

३८३ नंतर अनन्तर, बाद। भाग हो जाए।

१२९ ३८४ उस (साधक) को तद्रूप (ब्रह्मस्वरूप) हुआ देखकर द्वैत अद्वैत में डूब जाता है और उस एकता के प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशित हो जाते हैं।

पृष्ठ दोहा

३८७ अभ्र = बादल। निरभ्रवाड़ि = संसार भर में। शुद्धाकाश = निर्मल आकाश।

३८८ 'मन्दिर ब्रह्मानन्द' = ब्रह्मपुर के मन्दिर में। दीपमालिका सुख बड़ा की माल। पुण्य को दिखाती।

३९० 'ऐसे .. ..चलाय' इस प्रकार योगी (साधक) को स्वयं अपने पांव से उलटे पीछे की ओर अर्थात मूलस्वरूप की ओर चलना चाहिए।

१४० अर्थ ३० मम मौहि = मेरी (दृष्टि) में।

३९२ 'ऐसहि.. ...विचार।' इस प्रकार ईश्वर और संसार दोनों परस्पर मिले हुए हैं, बुद्धि से विचार कर ऐसे ही एकता को निश्चित रूप से समझना चाहिए।

३९३ एकनिष्ठ = एकाग्र। अभिन्न = अन्तर नहीं।

३९४ अनेकोभाव = शरीरों में एक होते हुए भी अनेक जैसा होना। विवेक = ब्रह्मात्म के विचार से।

३९६-३९७ 'एक.... भाग।' दीप और प्रकाश में जिस प्रकार का एकभाव होता है उसी प्रकार का मेरा और उस समदर्शी पुरुष का एकभाव है। जैसे वह पुरुष मुझमें रहता है वैसे मैं उसमें रहता हूं। जैसे पानी की सत्ता में रस रहता है और आकाश के माप का ही आकाश होता है वैसे ही मेरे स्वरूप से योगी का स्वरूप होता है।

३९९ ऐक्य अचल = एकतारूपी पर्वत।

४०१ यदि ऐसा योगी पाञ्चभौतिक शरीर भी प्राप्त करे, तो भी उसको शरीर का बन्धन किस प्रकार हो सकता है? वह तो ज्ञान की शक्ति से मेरे साथ एकता प्राप्त कर चुका है।

४०२ अत्र शरीरधारी होने पर भी उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका वर्णन कैसे करूँ? वह ऐसा ही है।

१४१ ४०५ मनधर्म = मनोवृत्तियां।

४०६-४०७—यह योगी दूसरी सभी विभिन्नताओं और सम-विषम भावों को स्वभाव से ही अपने अङ्गों के समान मानता है अधिक क्या कहूँ उसकी बुद्धि तीनों लोकों में सभी वस्तुओं को आत्मा ('मैं हूं ऐसा') ही समझती है।

४०८ करि उपासना = उपासना (आराधना) करता है।

पृष्ठ दोहा

४१३ 'मांगे रोके .....जात' जाते हुए महावात (तूफान) को मुख से बात कहकर रोके।

१४२ ४१४ जो मन निश्चय को टाल देता है, बुद्धि को भी धकमा देता है और धैर्य के हाथ से हाथ मिलाकर (उसे चुनौती देकर) भाग जाता है।

४१५ 'लाय सँतोषहि आस।'=सन्तोष को भी एक आशा लगा देता है।

४१६ जो निरोध ....महाय।' =दबाव रखने पर उछलता है और रोकने से आवेश में आ जाता है।

४१७ असम साम्यावस्था प्राप्त करना असम्भव है।

४१९ विरागाधार वैराग्य के सहारे। थिरैं—स्थिर हो जाता है।

४२३ 'युक्ति चिमट मन नाँहि' युक्ति से मन बँधा नहीं

१४३ ४२४ आरम्भ आरम्भ कर दे।

४२६ स्वाधीन आपंगु साधक के अधीन होकर अपंग (असमर्थ)।

४३१ हे प्रभु, कोई एक साधक योगाभ्यास रूपी उपाय के बिना ही श्रद्धा और अत्यन्त प्रेम से मोक्षपद पाने के लिए प्रयत्न करता है।

१४४ ४३३ समायु समर्थ हुआ।

४३४ पातल पतले।

४३६ 'श्रद्धा केर समाज। डूबो' श्रद्धा के ही (सागर) में डूबा है।

४३७ मोक्ष पदार्थ मोक्षपद की प्राप्ति के लिये।

४३८ पै सुर नर जो देव नहिं पर नर जो सुर देवताओं को भी नहीं होता।

४३९ यदि साधन के आरम्भ से अन्त तक यह सुभार (सुन्दर धारावत) चलता रहता तो आयु का सूर्य अस्त होने से पूर्व अर्थात् जीवन का दिन रहते रहते यह 'सोऽहं' सिद्धि को प्राप्त कर लेता।

४४० लौकिक स्वाभाविक। परी आहि निश्चित ही है।

४४१ 'शतमख कीर सायास' बड़े परिश्रम से सौ (अश्वमेध) यज्ञ करके।

४४२ उकतात मन मन से ऊकता जाता है (विरक्त हो जाता है)।

४४३ 'आहह विघ्न .....जात।' हा हा, हे भगवान, मोक्षमार्ग में जाते हुए यह विघ्न क्या पड़ा?

पृष्ठ ओवी

१४४ ४४४ नंतर—अनन्तर, इसके बाद। 'भानु ... पाय।' 'जैसे भानु से [illegible] पर लगती हैं वैसे ही यह विश्राम प्राप्त करता है।

४४६–४७—वेद जिसका आदिदेव (परम प्रकाशरूप ईश्वर) है, [illegible] और सार-असार का विचार जिसका मन्त्री है। [illegible] पतिव्रता है (प्रभु के सिवाय दूसरे की चिन्ता नहीं होती) और [illegible] गृह-देवियाँ हैं।

४४९–५१ अथवा जो ज्ञानरूपी अग्नि में हवन करते हैं, [illegible] है तथा परब्रह्म रूप क्षेत्र के मूलनिवासी [illegible] होकर जो तीनों लोकों पर राज्य करते हैं। [illegible] कल्पना करते हैं। जो [illegible] भरपूर रहते हैं। ऐसे योगियों के कुल में [illegible] लेते हैं।

४५४ सिद्ध बुद्धि... [illegible] पूर्व जन्म की योग-सिद्ध बुद्धि के प्रभाव से [illegible] प्राप्त कर लेता है।

४५६ [illegible]

४५८ क्रियाजनी—पागल अर्थात पैरों की ओर से लिया हुआ मनुष्य।

४६०–६२ उसकी प्रबल इन्द्रियाँ मन के वश हो जाती हैं, मन प्राण के साथ मिलकर एक हो जाता है, प्राण [illegible] में ही चिदाकाश में जा मिलता है और [illegible] महाकाश में समा जाता है। और [illegible] योगाभ्यास के आरम्भ [illegible] समाधि [illegible] मन का हाल पूछने के लिये सहज से ही आ पहुँचती है। ऐसा जान पड़ता है कि योगानन्द के देवता शङ्कर या श्रेष्ठ आरम्भ का गौरव या वैराग्य की अनुभूति ही [illegible] धारण करके आ गयी हो। ऐसा लगता है कि वह योगी [illegible] या [illegible] योग-रूपी द्वीप का श्रेष्ठ पदार्थ हो या [illegible] धारण करके आ गया हो।

४६७ जो......विवेक—जो विचार करता है वह प्रबल विवेक भी उसके सामने [illegible] (शिथिल) पड़ जाता है।

पृष्ठ दोहा

४६८ 'आधि नसे मन को जहां' मन पर लगे हुए वासनाओं के रोग तो नष्ट हो ही जाते हैं।

४६९ तुर्य मात्रा.. जान अनिर्वचनीय (जिसका वर्णन न हो सके ऐसा) सुख जानकर ओंकार की तुरीया मात्रा भी उसमें डूब जाती है।

१४७ ४७१ जगाभास मल जगत की प्रतीति रूपी विक्षेप नामक मल। लग्न घटिका विवाह का मुहूर्त जानने के लिए रखी गई जल घड़ी।

४७२ आरु.. पाय और तद्रूपता के साथ लग्न (विवाह) होते ही अभेद (एकता) प्राप्त कर लेता है।

४७६ तपस्वीजन जिस आत्मा को प्राप्त करने की चाह से, निपट निराश्रय (निराधार) और कटे हुए तपस्यारूपी पहाड़ी किले के किनारे पर उदास मन से निवास करते हैं।

४७७ अभिप्राय . होय जो भजन करने वाला तथा यजन (यज्ञ) करने वालों का आधार अर्थात भजनीय और यजनीय है।

४७९ कर्मनिष्ठ को वन्द्य कर्मकाण्डी के लिये पूजनीय।

४८२ देव देव को जान उसे देवों का भी देव जानो।

१४८ ४८३ ध्याता, ध्यान और ध्येय या भजक, भजन और भजनीय रूप जो भक्तिमार्ग की त्रिपुटी है।

४८८ ४९४ श्रीकृष्ण के मन में यह देखकर सहज ही सन्तोष हुआ कि प्रतिबिम्ब को जैसे स्वच्छ दर्पण ग्रहण करता है वैसे ही अर्जुन मेरे उपदेश को ग्रहण कर रहा है और इसी आनन्द में मग्न होकर वे आगे (सातवां अध्याय) कहने लगे। अब जो प्रसंग आगे कहा जाएगा उसमें शान्तरस इतना उत्कर्ष प्राप्त करेगा कि वहां ज्ञान के बीजों की गठरी खुल जाएगी। सात्त्विक भावनाओं की वर्षा से अध्यात्म-विचार रूपी कठोर ढेले फूट जाएंगे और चतुर श्रोताओं के हृदयस्थलों की सहज ही क्यारियां बन जाएंगी। समाधान रूपी सुनहरी बीज हाथ में लेकर श्री निवृत्तिनाथ महाराज बीज बोना चाहते हैं। श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि गुरुदेव ने मुझे कौतुक से ही चौंगा बना लिया है और मेरे सिर पर वरद् हस्त रख कर बीज बोना आरम्भ किया है। सन्तों का हृदय शुद्ध है यही जानकर वे बीजरूपी वचन मेरे मुख से निकल रहे हैं। अधिक क्या कहना? अब श्रीकृष्ण भगवान ने जो कहा सो कहता हूं। यदि कोई इसे मन के कानों से सुनेगा, बुद्धि की आंखों से देखेगा और उत्कंठित मन से ध्यान में धरेगा तो परम सुख पायेगा।

सप्तम अध्याय

पृष्ठ दोहा

१४९ २ यथार्थ स्वभाव — स्वभाव से ही ठीक।

४ ज्ञानी . . भवान।' — ज्ञानी के ज्ञान की पूर्णता के समय प्रपंच बुद्धि (व्यावहारिक ज्ञान ?) की आँखें बन्द हो जाती हैं।

६ उसका नाम 'ज्ञान' है और प्रपंच या प्रपंचरूप में ज्ञान 'विज्ञान' है। किन्तु प्रपंच को सत्य समझना अज्ञान है।

१५० १० हित ज्ञान — ज्ञान के लिए।

११ जोर — परख परख कर।

१३ परिवाह — प्रवाह। पैराये — तैरते हैं। पैले पार — दूसरे पार।

१६ सराग — राग या अनुराग सहित।

१८ मही — पृथ्वी। प्रज्ञाऽहंकार — बुद्धि और अहंकार।

१५१ २१ चातुर — चतुरता। कुशलपना — निपुणता।

२२ जब सूक्ष्म प्रकृति या महत्तत्त्व आदि स्थूल प्रकृति से संयोग होता है, तब भूतों (प्राणि-मात्र) की सृष्टि की टकसाल खुल जाती है।

२३ 'खानी चार प्रकार' — चार प्रकार के खानों में ढले सिक्के *।

२६ प्रकृति ही इन सिक्कों पर मुहरें लगाकर उनका विस्तार करती है, फिर अन्त में वही इन्हें गला भी देती है, और मध्य में कर्म-अकर्म के आचरण में प्रवृत्त भी वही करती है।

२८ भासत — प्रतिबिम्बित है।

१५२ २९ परतर कारण — मूल कारण।

३१ इमि नाना भाव्य — इस प्रकार भूतों। गोल — समूह।

३७ हित उपजीविका — आजीविका के लिए। अरोक — बिना रोक।

४० प्राण तजत (मूल प्रकरण) — महाभूतों के प्रलय।

४६ मँझार — में।

---

* टिप्पणी—चार प्रकार के खानों में ढले सिक्के हैं—उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज।

पृष्ठ दोहा

४९ मुकता — मुक्त होने के अधिकार का पट्टा।

५१ जोगी-पति — योगियों के स्वामी (योगीश्वर)।

१५४ ५४ जैसे . . . बुझाहिं = जैसे स्वप्न के प्रपञ्च से जाग्रत अवस्था नहीं बुझती।

६१ सत भास — सत्य प्रतीत होता है। वैसे ही प्रतिबिम्ब से मेरी छाया अर्थात माया त्रिगुण स्वरूप वाली होती है और वह मेरे आत्मस्वरूप के आगे परदा सी पड़ी रहती है।

६४ 'मोर न हो मद्रूप।' मेरा होकर भी मेरे समान रूप वाला नहीं होता।

६५ 'जीव दशा अनुरूप।' — जीव दशा को प्राप्त हुआ है।

१५५ ६७ मैं अरु मेरो — अहंकार और ममता।

७० जग प्रवाह।' जगत का प्रवाह।

७८ १-२—हे अर्जुन, अब यह देखना है कि अनुभव से मद्रूप होकर साधक महत्तत्त्व आदि माया के पार कौन पहुँचता है? ब्रह्मरूपी पर्वत के शिखर पर से मायारूपी नदी का संकल्प रूपी जल का पहला स्रोत महाभूतरूपी बुलबुलों के रूप में निकलता है। फिर तो कालस्वभाव के वेग से यह जगतरूपी प्रवाह प्रवृत्ति (कर्ममार्ग) और निवृत्ति (मोक्षमार्ग) रूपी दो ऊँचे तटों के बीच में बहने लगता है। अब सत्त्व, रज और तम त्रिगुणात्मक बादलों के बरसने से मोहरूपी बड़ी बाढ़ के रूप में वह यम-नियम-नगरों को बहाता हुआ न छोर -- (थाह नहीं पाता) चलता ही जाता है। जहां द्वेष रूपी भँवर और मत्सर रूपी चक्कर उठ रहे होते हैं तथा मद आदिक करोड़ों मछलियां चमक रही होती हैं और प्रपञ्चरूपी मोड़ों और कर्म-अकर्म रूपी लहरों सुख-दुःख रूपी लकड़ियां लहराती हुई बहती जाती हैं। तथा काम विषय के टापू से वासना की लहरें टकराती हैं तब जीव फेन के समूहों के समान चारों ओर बहते दिखाई देते हैं। फिर जब अहंकार की धारा में तीनों (विद्या, धन और बल के) मदों की लहरें उछलने लगती हैं और विषयवासना के हिलोरे आने लगते हैं तथा उदय और अस्त की बाढ़ में जन्म और मृत्यु की शिलाएँ पड़ जाती हैं जिससे पञ्चभूतों के बुलबुले उठकर शान्त हो जाते हैं। इस नदी में भ्रम और मोहरूपी मछलियां धैर्यरूपी मांस नोचने लगती हैं और अज्ञानरूपी भयंकर भँवर फेर लेते हैं। [illegible] के कारण श्रद्धा कीचड़ सी हो जाती है और रजोगुण रूपी प्रवाह की घोर गर्जना स्वर्ग तक

प्रश्न दोहा

सुनाई पड़ने लगती है। तमोगुण के पश्चात जो [illegible] होता है [illegible] गड्ढे भी कम भयंकर नहीं होते। [illegible] यह माया नदी [illegible] दुस्तर है। जन्म-मृत्यु की बाढ़ में तो यहाँ सत्य (सत्यलोक) के किले भी [illegible] अहंकार रूपी शिलाएँ तो लड़खड़ा कर ही गिर जाती हैं। इस (माया) नदी का [illegible] तीव्र है, रोके रुक नहीं सकता है। और एक [illegible] आश्चर्य तो यही है कि [illegible] जो उपाय किया जाता है वही-वही अपाय (दुःख का कारण) हो जाता है। कुछ लोग अपनी बुद्धि के बल से इसे पार करने चलते हैं पर उनको इसके पार [illegible] ही नहीं रहती तो किसी को ज्ञान के गड्ढे में अभिमान ही निगल जाता है। [illegible] कर्मरूपी नौका पर चढ़कर चलते हैं किन्तु [illegible] मछली के मुँह में जा पड़ते हैं। जो कोई [illegible] के सहारे [illegible] पड़ते हैं, पर वे विषय-व्याघ्र के मुख में [illegible] दिये जाते हैं। [illegible] की बाढ़ में बुढ़ापा-नाश के जाल में ऐसे [illegible] जाते हैं कि उन्हें [illegible] ही नहीं मिलता। [illegible] अज्ञान से [illegible] जाते हैं, [illegible] आपत्ति-रूपी गोता में डूबे जाते हैं फिर वे [illegible] की रेती में जा फँसते हैं, इस प्रकार काम के [illegible] जाते हैं। कुछ लोग अपनी छाती से यज्ञरूपी पेटी [illegible] कर तैरते हैं, पर वे [illegible] के [illegible] जा फँसते हैं। कई लोग कर्मफल रूपी बाहुओं के सहारे मोक्ष की आशा करते हैं वे इस माया-नदी में विधि-निषेध के [illegible] में पड़कर दुःख पाते हैं। यहाँ वैराग्य की नाव और विवेक की डोरी काम नहीं देती। योग के सहारे भी कोई विरला ही इसे पार कर पाता है। इस प्रकार जीव को अपने बल से इस मायानदी के पार जाने की उपमा क्या दी जाए? [illegible] अगर रोगी कुपथ्य (अहितकर आहार बिहार) से रोग को जीत ले, दुष्ट की बुद्धि साध (वश में कर) ली जाए और [illegible] सिद्धि प्राप्त कर सके और फिर उसे छोड़ सके। और यदि चोरों की न्याय-सभा भरी जाए, मछली बंसी को निगल जाए, तथा कोई गरीब डरपोक स्त्री पिशाच को दूर भगा दे। हरिण के पांव से जाल नष्ट हो जाए, चींटी सुमेरु पर्वत को लांघ जाए, तो कभी जीव मायानदी का दूसरा पार देख सकता है।

पृष्ठ दोहा

इसलिए हे अर्जुन, जिस प्रकार विषयी पुरुष स्त्री को वश में नहीं कर सकता वैसे ही इस मायामयी नदी को कोई नहीं तर सकता। किन्तु जो लोग अनन्यभाव (एकनिष्ठा) से मेरा भजन करते हैं वे ही इसके पार जा सकते हैं, या यों कहो कि उनके निकट तो इस माया-नदी का जल इसी किनारे सूख जाता है। जिन्हें तारनहार सद्गुरु मिल गए हैं और अनुभव की दृढ़ता प्राप्त है वे आत्म-निवेदन रूपी नौका प्राप्त करके इस नदी को तर जाते हैं। और जो अहंकार रूपी बोझा फेंककर विकल्प की लहरों से बचकर पुत्र कलत्र आदि के प्रेम-रूपी पानी की धार से हटकर ऐक्यरूपी भुजाओं के बल से तैरकर सोऽहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं) इस भाव की दृढ़ता से लहराते हुए अन्त में निवृत्ति रूपी तट पर पहुंच कर अनायास (बिना प्रयत्न) मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो इस प्रकार से मेरा भजन करते हैं वे इस माया नदी को तर जाते हैं, किन्तु ऐसे भक्त बहुत नहीं हैं ऐसा तो कोई एक बिरला ही दीखता है।

१५७ १०४ कार्य भार्थ — कर्तव्य पुरुषार्थ (करने योग्य प्रयत्न)।

११३ उदक फटिक आभास — स्फटिक मणि में जल का भ्रम।

१५८ ११४ भक्ति पैज — भक्ति का प्रण।

१५८ १२४ अन्तःकरण रूपी गुफा में से निकल कर जिसकी अनुभव रूपी गङ्गा सिन्धुरूप मुझमें आकर मिल जाती है वह तद्रूप हो जाता है। उसका कहां तक वर्णन करूँ।

१५९ १४२ अनुदार — वे उदार नहीं हैं। (क्योंकि जो कुछ अर्पण करते हैं उससे कई गुना अधिक फल चाहते हैं)।

१६० आर्या २१ मैं पन — मैं ही।

दो० १४४ भाव भिन्नता — भेद भाव।

आर्या २२ युक्त — योग्य।

दो० १४७ अमितादरायन लागु — उसी की आराधना करना ठीक है। दुलागु — उत्साह के साथ।

आर्या २३ मा को पावहिं — मुझको प्राप्त करते हैं।

१६१ दो० १५१ करि न प्राणि तिमि, — किन्तु प्राणी ऐसा नहीं करते।

१५२ ५० — अमृत समुद्र में गोता लगाते समय भींचकर होंठ बन्द कर लेना और मन में कभी

पृष्ठ ओंवी

एक कुण्ड तालाब की कल्पना करना' ऐसा क्या किया जाय कि जिससे आसन से [illegible] भी मरना पड़े, इसके विपरीत सुखपूर्वक आसन में रहकर अमृत (अमर) [illegible] हो जाया जावे ?

१६१ १५४ किंबहुना संसारि कर्मों न सेवाला [illegible] किया जाय।

१५५–१५७ उस प्रभु की तो ऐसी अपार ऊँचाई है कि उसमें इच्छा अनुसार कैसी छलांग लगाई जा सकती है फिर जिसका माप नहीं उसको मापना, निराकार को साकार बनाना और स्वयंसिद्ध होकर साधन करना यह सब व्यर्थ है। हे अर्जुन, यह कथन सत्य है किन्तु यदि इस पर विचार करोगे तो यह जोगों को विशेष कष्ट नहीं लगता।

आर्श २५ मागा सोगाहि आचरित गोसमाया से ढका हुआ।

१६२ ओ० १६२ उरगारज्जु—रस्सी में भ्रम से प्रतीत होने वाला सांप।

१६४–७१—अब तुम से एक बात कहता हूँ ध्यान दो। जब शरीर से अभिमान और प्रीति जुड़ जाते हैं तब उनसे इच्छा नामक बालिका का जन्म होता है। [illegible] जवानी आते ही उस इच्छा का द्वेष नामक पुरुष के साथ विवाह हो जाता है। उन दोनों से द्वन्द्व (सुख दुःख आदि सम्बन्धी) मोह नामक बालक का जन्म होता है जिसका पालन अहंकार नामक पिता करता है। ये बालक धैर्य के विरुद्ध रहते हैं, नियम के [illegible] इनको पीड़ा होती है [illegible], आशा रूपी दूध से ये हृष्ट-पुष्ट होते हैं। फिर असन्तोष रूपी मदिरा पीकर मस्त हुए विषय रूपी कोठरी में विकल्पिया के साथ [illegible] रहते हैं। ये शुद्ध भक्ति के मार्ग पर शंकारूपी काँटे बिखेर देते हैं और कुपन्थ (कुमार्ग) की अनेक शाखाओं पर चलना फेर नहीं लगाते। इसी से प्राणी भ्रम में पड़ जाते हैं और इस संसार रूपी घोर जंगल में दुःख का यह भार प्राप्त करते हैं जो टाले नहीं टलता।

१६३ १७७ जब तो जगत में कृतार्थता भर जाती है, अज्ञान (अविद्या) का अनुमान पूरा हो जाता है कर्म का काम नहीं रहता और मन पूर्ण विश्राम प्राप्त करता है।

१८२ जब आयु का सूत्र समाप्त हो जाता है और मरने वाला प्राणी व्याकुल हो रहा होता है, था-- (उस) समय फिर के मन को प्रलय का-सा अनुभव नहीं होता।

१६४ १८८ घुलिफर--तन्मय होकर, घुलकर।

पृष्ठ ओवी

१९० निवृत्त- दूर कर देते हैं, हटा देते हैं, तुच्छ कर देते हैं।

१९७ ये इकत्र पद सात — ये सात शब्द एक स्थान पर।*

१६५ २०६ भांडार = राजगृह।

२०७ देखो, मालती की पूर्ण कली की सुगन्ध पहले नाक को मिलती है फिर उसकी उत्तम शोभा देख कर नेत्रों को सुख मिलता है।

२०९ सिद्धान्ती नगर — सिद्धान्त रूपी नगर।

अष्टम अध्याय

पृष्ठ ओवी

१६६ १ निरूप — निरूपण।

१६७ ८ अर्जुन तो कल्पवृक्ष के मंडप में बैठा हुआ कामधेनु का बछड़ा है, फिर इसमें आश्चर्य नहीं कि उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जावें।

१३ बालक से दूर गई माता को बालक की भूख लगती है और वह आकर उसे दूध पिलाती है। हे अर्जुन, तुम ही कहो कि फिर बालक शब्द से क्यों कहे कि माँ, मुझे दूध दे।

१५ सच्छिद्र आकार- छिद्रयुक्त शरीर। भर्गो = भरा हुआ है।

१६-१७—जो वस्तु यद्यपि देखने में सूक्ष्म प्रतीत होती है, किन्तु स्वभाव से शून्य नहीं है। जिसकी विरलता तो इतनी है कि मानो आकाश के बारीक कपड़े में छानी गई हो। और जो अपञ्ज्ञान की खोल में इतना सूक्ष्म होकर रहता है कि झकोरने या हिलाने से तनिक भी नहीं गिरता, उसका नाम 'परब्रह्म' है।

२२ निर्विकल्प ...चाह — निर्विकल्प ब्रह्मरूपी भूमि में *"एकोऽहं बहु स्याम्"*—एक से बहुत होने के संकल्प रूपी बीज का अंकुर निकलता है।

---

* टिप्पणी—ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, प्रयाणकाल।' ये सात शब्द ये हैं।

पृष्ठ   दोहा

१६८   २३ जीव उपज खप की — उत्पन्न होने वाले और नाश पाने वाले जीवों की।

२४ आदि मनो व्यापार — (आदि संकल्प) ब्रह्माण्ड के [illegible] आदि [illegible] में [illegible] जाता है। [illegible], इस प्रकार सृष्टि बढ़ती जाती है।

४४-४५—जो बुद्धि का द्रष्टा है, इन्द्रिय जगत का राजा है और जो देहान्त के समय [illegible] पक्षियों का निवासस्थान वृक्ष है। जो दूसरा-[illegible] जगाता है [illegible] यथार्थ में परमात्मा ही है। अहंकार रूपी निद्रा में सोया हुआ है इसलिए स्वप्न की [illegible] में ही [illegible] सुखदुःख का अनुभव करता है।

१६९   ४८-५२—'ईंधन . . स्वरूप।' पहले वैराग्यरूपी ईंधन [illegible] इन्द्रियरूपी अग्नि को प्रदीप्त करे, तब [illegible] विषयरूपी [illegible] की आहुति देते हुए देर नहीं लगती। फिर [illegible]रूपी पृथ्वी का शोधन करके शरीर रूपी मंडप में मूलबन्ध नामक मुद्रा रूपी [illegible] वेदी बनाए और उस पर इन्द्रिय-[illegible] रूपी अग्नि के कुण्ड में इन्द्रियरूपी [illegible] का [illegible] द्वारा [illegible] यज्ञ करे, फिर मन और प्राणों की [illegible] रूपी [illegible] से [illegible] ज्ञानाग्नि को सन्तुष्ट करे, इस [illegible] को ज्ञानाग्नि में इस प्रकार अर्पण करे कि ज्ञान ज्ञेय में लीन हो जाए और वह ज्ञेय भी पूर्ण ज्ञेय के स्वरूप में ही शेष रहे।

५७ 'सुख सुगन्ध परिपक्व' — [illegible] (पूर्ण) सुख का सुगन्ध।

१७०   ६२ 'भव्यन भूत पंच आच्छादित' — [illegible] पंच महाभूतों के [illegible] आवरण [illegible] पड़ते हैं।

१७१   ८४ प्रवाह करि, [illegible] सिन्धु मिलाय। — प्रवाह [illegible] करता हुआ समुद्र में मिलता है।

८७ चित्त चेतन को रूप — चित्त [illegible] रूप हो जाता है।

१७२   ६४ योगाभ्यास के द्वारा मध्यमा नाड़ी (सुषुम्णा) के मध्यमार्ग से मूलाधार (आदि) चक्र से ब्रह्मरन्ध्र की ओर [illegible] ([illegible]) जाता है।

१७३   ६७ चित्त [illegible] = चैतन्य और जड़ को।

१११ हिय दरार में = हृदयाकाश में।

१७४   ११५-१६—जब तक ओंकार की तीनों मात्राएँ अर्धमात्रा में विलीन न हो जावें तब तक प्राण को ब्रह्मरन्ध्र के आकाश में धारणा के बल से इस तरह स्थिर करना चाहिये कि मालूम न हो कि वह आकाश में मिला कि नहीं।

पृष्ठ दोहा

१२२ 'व्याकुल अन्तर-भौन ।' अब अन्तःकरण भी (मृत्यु से भर लिया जाने के कारण) व्याकुल हो ।

१७५ १२४ भोगे सुभाग -परम सुख का उपभोग करते हैं ।

१२८ एक उपायहीन (निराश्रय) व्यक्ति व्याकुल होकर कहे कि 'दौड़ो दौड़ो मुझे बचाओ' तो हे नरश्रेष्ठ अर्जुन, मैं उस दीन (दुःखी) के संकट निवारण के लिए क्यों न दौड़ा जाऊँ ।

१७६ १४०-४१ —यहां शरीर को अनेक उपमाएँ देकर दुःखमय, अमंगलमय और अनन्त अनर्थों का हेतु बताया गया है ।

१४२-४४—जो केवल ब्रह्मत्व का अहंकार करते हैं उनका जन्म-मरण का चक्र नहीं छूटता, किन्तु जैसे मृतक (मर गये) का पेट नहीं दुखता वैसे ही जो ब्रह्मरूप हो जाता है वह जन्म-मरण के चक्र से (अग्नि) बच जाता है अथवा जागने के बाद जैसे कोई स्वप्न की बाढ़ में नहीं डूबता वैसे ही हे शत्रुनाशक अर्जुन, मुझे प्राप्त करके ज्ञानी जगत में लिप्त नहीं होता। हे वीर अर्जुन, जो जगतरूपी पर्वत का शिखर है, फिर जीवन धाम स्थानों में जो मुख्य है; जो त्रैलोक्य का मस्तक है उस अत्युत्तम ब्रह्मलोक नामक ग्राम (गांव) के एक पहर जितनी भी इन्द्र की आयु नहीं होती, वहां के एक दिन में लगातार चौदह इन्द्र समाप्त हो जाते हैं ।

१७७ १६० दिन आगमा (उस ब्रह्मा का) दिन आता है ।

१७८ १६२ पुरायें पूरे होते हैं । चौ जुग - चारों युग ।

१६४ अहोरात्र कहौं पाय (ब्रह्मा के) दिन रात को पाकर ।

१६८ साम्यता-भाव — समत्व या साम्य ।

१७४ व्यक्ताव्यक्त साकार और निराकार का ।

१७८ जीवाकार जीवत्व या जीवपना ।

१७९ १७९ नुति प्रशंसा, स्तुति ।

१८६ पवन स्फुरण वायु का हिलना ।

१९० बड़े विवेकशाली बंधु भी जिसका आंगन नहीं देखने, और जो आकाश को भी ढँक लेता है उसे दिव्य दृष्टि से देखो ।

पृष्ठ दोहा

१६१ रीग (ऐसा यह) शिग (अग्र) है।

१८० १६२ पीक पका हुआ।

१८१ २१० प्राण समुदाय प्राणों (पाँचों प्राणों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और चारों अन्तः-करणों) का समूह।

२२० 'शुक्लपक्ष .....प्रकाश' बाहर शुक्लपक्ष और दिन हो तथा हृदय में आत्मरूप ज्योति का प्रकाश हो।

२२३ सिताश -जिससे सब दिशायें सित (सफेद) हो जायें अर्थात् शुक्ल (पक्ष)।

२२५ अर्चिरादिक पथहि 'अर्चिरादि' अर्थात् सूर्य किरण द्वारा जाने का मार्ग।

१८२ २२६ आंधर रूप धुंधला प्रकाश।

२३५ योगी शशि पथ धार योगी चन्द्रमार्ग का आधार लेता है, (चन्द्रलोक में जाता है)।

१८३ २४१ 'राजमार्ग ... लागि।' सीधे रास्ते को जानने वाला टेढ़े रास्ते पर नहीं चलता।

२४६ "यह शरीर रहे या नष्ट हो जाय (इससे मुझे क्या ?) मैं तो स्वयं ब्रह्म हूँ।" जब योगी को ऐसा ज्ञान हो जाता है तब उसकी दृष्टि में शरीर का केवल इतना ही महत्व रह जाता है जितना कि रस्सी में से साँप का भ्रम दूर होने पर रस्सी का।

२५० 'उपजा न अन्य तरङ्ग हैं' तरङ्ग का आकार होने से जल का अन्य नहीं होता।

१८४ २६१ पीके मख खेतु— यज्ञरूपी खेत में पके हुए।

२६२ भले ही पुण्य का भाग सब फलों की बहार से भर जाए, पर हे अर्जुन, वह निर्मल परब्रह्म के समान नहीं हो सकता।

२६३ नित्यानन्द ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर रहने वाला आतैकालिक सुख।

२६४ समास संक्षेप, कमी।

२६७ करहिं .... सुजान हे बुद्धिमान अर्जुन, वे उस अलौकिक सुख रूपी स्वर्ग की सीढ़ी बनाते हैं।



नवम अध्याय

पृष्ठ दोहा

इस अध्याय में श्री ज्ञानेश्वर महाराज जिस विषय पर प्रवचन करेंगे वह समस्त गोपनीय भावों का राजा होने के कारण "राजविद्या राजगुह्य योग" नाम से कहा गया है। प्रवचन की सफलता का सारा श्रेय श्रोता की योग्यता तथा मनोयोग पर निर्भर है। इसी कारण प्रारम्भ के तैंतीस दोहों में (१—३३) उपस्थित सन्त समाज से अति विनय, श्रद्धा, अपार स्नेह और बाल सुलभ लाड़लेपन से प्रवचन के प्रति अनन्य अवधान—ध्यान देने—की प्रार्थना की गई है।

१८६ ४ ५ श्रोतृवृन्द। आपकी कृपा दृष्टि की वर्षा से प्रसन्नता रूपी बगिया में बहार आगई है। और इसकी शीतल छाया में विश्राम करके भवताप से खिन्न मेरे हृदय की सारी थकावट दूर हो गई है। आप अगम्य सुखरूपी अमृत के ऐसे दहार (गहरे पानी की जगह) हैं कि जहां से मैं यथेष्ट सुखामृत प्राप्त कर सकता हूँ। फिर भला यदि इसमें विहार करने की ढिठाई करते डरूं तो मेरा काम कैसे बनेगा?

१४ यद्यपि......अनूप—यद्यपि मेरा कथन निर्गुण्डी सदृश सामान्य है, तथापि आप इसे उत्तम समझकर स्वीकार करेंगे।

१८७ २०–२२—चांदनी अधिक माधुर्य के लिये क्या किसी पाल में रखकर पकाई जाती है? पवन को क्या "ऐसा चलो" कह कर चाल सिखाई जा सकती है? आकाश को क्या किसी खोल में भरा जा सकता है?........इसी प्रकार गीता के स्वतः प्रकाश्य ज्ञान पर व्याख्यान की असमर्थता को देखकर मेरी वाणी पीछे हट जाती है। अधिक क्या! शब्दब्रह्म वेद भी जिस गीतार्थ रूपी सेज पर निःशब्द हो सो जाते हैं (गीता का भावार्थ प्रकट करने में वेद भी समर्थ नहीं) भला, वह देशी भाषा (मराठी) में कैसे प्रकट किया जा सकता है।

२६–२६ ......वक्ता की वक्तृत्व कला को जब श्रोता का अवधान (ध्यान से सुनना) रूपी चारा मिल जाता है तब अक्षर समुदाय—सिद्धान्त प्रतिपादक-शब्दों की कोंपें फूट आती हैं। अर्थ शब्द की राह देखता है एक अर्थ से दूसरा अर्थ प्रकाशित होता जाता है और तब बुद्धि में नानाविध भाव-कुसुमों की वर्षा होने लगती है। यदि वक्ता श्रोता दोनों के सहयोग से सुन्दर संवादों की अनुकूल वायु बहने लगे तो हृदयाकाश में शास्त्र-ज्ञान के

पृष्ठ ओवी

बादल घिर आते हैं। और यदि श्रोताओं का ध्यान कहीं और हो तो व्याख्यान का रंग फीका पड़ जाता है। यद्यपि चन्द्रकान्त मणि स्वयं द्रवित होती है पर उसे द्रवित कराने की शक्ति चन्द्रमा के पास है। अधिकारी श्रोता के बिना वक्ता को वक्तृत्व-कला का विकास हो ही नहीं सकता।

१८८ ३६ करि न अवज्ञा अवज्ञा या अवहेलना नहीं करता।

४५ कोंडा – भूसे या घास के ऊपर का छिलका।

४६ जिन्हें परम गुह्य इस ज्ञान की प्राप्ति हो गई है, वे जगत् को जगत् के रूप में न देख कर आत्मानन्द से शून्य जन्म-मरण-धर्मी संसार को इसके ही नाम-रूपात्मक प्रपंच के अधीन कर—स्वयं मोक्ष लक्ष्मी के राज्य सिंहासन पर जा बैठते हैं।

४७-४८—अध्याय के आरम्भ से जिस परम गुह्य राजविद्या या गोपनीय ज्ञान की चर्चा चल रही है वह क्या है? ध्येय, ध्याता और ध्यान या दूसरे शब्दों में ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान रूपी त्रिपुटी (तीनों चीजों का मेल) का भी जहां अन्त हो जाता है वहीं लय वाली अवस्था का बोध। जल-तरंग न्याय से, उस सर्वान्तर्यामी का तत्त्वतः ज्ञान। यही तत्त्व-विचार ४७ से ६७ तक तथा आगे भी विस्तार से आख्यायिका तक चलता है'

"यह ज्ञान श्रेष्ठ विद्याओं में प्रधान, गोपनीय, पावन, समस्त धर्मों की जन्मभूमि और जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने वाला है।

४६-५२—यद्यपि यह गुरुमुख से निकल कर शिष्य के हृदय में प्रवेश करते समय नूतन उदित हुआ सा प्रतीत होता है, किन्तु यह (ब्रह्म-ज्ञान) हृदय में पहले से ही स्वयंभू या नित्य सिद्ध रहता है। (इसे उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा उपादान कारण नहीं है) और हे अर्जुन, इसकी अपने आप ही प्रत्यक्ष प्राप्ति होती है। आत्मसुख की सीढ़ी पर पैर रखते ही इससे (ब्रह्मज्ञान से) भेंट होगी, और फिर ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी का अन्त हो जाने के कारण उस लयावस्था में आत्मसुख का भी कहीं पता नहीं चलता। एकमात्र परम-तत्त्व सच्चिदानन्द मूर्ति ही शेष रहता है। यह तो हुई उस पूर्ण निर्विकल्प अवस्था के परात्पर सुख की बात। किन्तु—'उस आनन्द के अक्षय स्रोत के इस तट (स्वरूप-ज्ञान) पर भी चित्त सुख से परिपूर्ण रहता है। हे अर्जुन, इस प्रकार यह गुह्य ज्ञान सहज और

पृष्ठ दोहा

सुलभ ही नहीं स्वयं परमानन्द सन्दोह या आनन्दकन्द ब्रह्म स्वरूप ही है। इस ज्ञान में एक विशेषता और है कि प्राप्त हो जाने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता; अनुभव से नित्य बढ़ता है और इसमें कभी विकार उत्पन्न नहीं होता।

५३-५६—इस पर, यदि तुम ऐसी शंका करो कि "यदि यह ज्ञान उत्तम इतनी वस्तु है तो संसार से कैसे बच गया ? जो लोग एक रुपया प्रति सैकड़ा सूद के लिये भी आग में कूद पड़ते हैं उन्होंने इतनी सुगम, सुखकर, पवित्र, रमणीय और अपने आप हाथ में आजाने वाली वस्तु को कैसे छोड़ दिया ?" शंका के लिये पर्याप्त स्थान है। किन्तु हे अर्जुन, तुम ऐसी शंका न करो।

५७-६३—मनुष्यों के हृदय में बैठा अज्ञान इसकी प्राप्ति में सब से बड़ी बाधा है। ..... अहंकार और मोहके वशीभूत हो मनुष्य जन्म-मरणके दो तीरोंके बीच संसाररूपी नदी में गोते खाते हैं। अन्यथा मैं तो सूर्य की भांति प्रत्यक्ष हूँ—ऐसा सूर्य कि जिसमें उदय-अस्त होने की न्यूनता नहीं है !

१६० ६६-६७—अव्यक्तावस्था में मेरा जो स्वरूप जमा या संकोचित रहता है वही व्यक्तावस्था में पिघल कर नाम रूपात्मक विश्व का आकार धारण कर लेता है। इस प्रकार निराकार भी मैं, त्रैलोक्य के विस्तार के द्वारा साकार हो जाता हूँ। जिस प्रकार जल में फेन प्रकट होता है उसी प्रकार महत्तत्त्वादि समस्त भूत मुझमें प्रकट होते हैं।

७० पर .....माँहि—मेरे स्वरूप में अपनी दृष्टि का प्रवेश करो। मुझे तत्त्वतः पहिचानो।

अर्थ ४ ऐश्वर्य=प्रभाव। उत्पादक.. ..माहिं -सब भूतों का उत्पादक और धारण करने वाला होकर भी, उन भूतों में (स्थित) नहीं है।

७१-७८—यदि, कार्य-कारण वाली—कल्पना को दिमाग से दूर भगाकर प्रकृति से भी परे मेरा रूप देखोगे तो "सब महदादिक भूत मुझमें हैं" यह बात मिथ्या ठहरेगी। संकल्प की संध्या (अंधेरा) के कारण बुद्धि की आंखों पर पर्दा सा पड़ जाता है और अखण्डित वस्तु भी (विकार आकारहीन परब्रह्म भी) सविकार तथा भूतों से भिन्न-सा प्रतीत होने लगता है। जैसे भ्रम के दूर हो जाने पर "माला में सर्प की भ्रान्ति" समाप्त हो जाती है, वैसे ही सांझ (अविद्या) के सदृश संकल्प के हट जाने पर मेरा अखण्डित स्वरूप सामने आता है। क्या

पृष्ठ दोहा

घड़े और मटकों के आमीन में आकर फूटते हैं? नहीं। वे सब तो कुम्हार की बुद्धि में ही उत्पन्न होते हैं। समुद्र जल की तरंगें पवन की करतूत हैं, कपास के खेत में कपड़ा की पेटी नहीं रखी रहती, वह तो बनाने वाले (जुलाहे) की बुद्धि का ही खेल है। इसी प्रकार स्वर्ण और अलंकार, ध्वनि और प्रतिध्वनि, तथा दर्पण और प्रतिबिम्ब के भेद की बात भी बुद्धि-जन्य है।

७६-८१—मेरे शुद्ध अविकृत स्वरूप पर भूत सृष्टि की कल्पना के कारण ही मुझ पर भूताभास (भूतों का आरोप) कल्पित है। सत्य नहीं है। जब कल्पना करने वाली प्रकृति (माया) का अन्त हो जाता है तब भूताभास भी समाप्त हो जाता है और मेरा शुद्ध स्वरूप एक सा सामने आता है। जैसे यदि हम एक जगह खड़े होकर भागें और घूमें तो पास के पर्वत, भवन आदि भी भागकर घूमते प्रतीत होंगे। इसी प्रकार ब्रह्म में भूतों का आभास कल्पना के कारण ही है।

८२-८८—सूर्य और प्रकाश की भांति सकल भूतों का आश्रय होते हुए भी मैं उनसे अभिन्न हूँ।

१९१ ८९ तहँ=आकाश में। हवा बिना आधार पंखा आदि द्वारा हिलाने से वायु आकाश से पृथक् प्रतीत होता है—वैसे वह और आकाश एक ही है।

९१ प्रगटे प्रकट विचार कल्पना के बुद्धि में प्रवेश करते ही भूताभास पुनः प्रकट हो जाता है।

९२ लखि.........नहीं यदि भूत कल्पना का नाश हो जाय तो "है या नहीं है" (यह नाम रूपात्मक जगत् है या केवल शुद्ध सच्चिदानन्द रूप एक तत्त्व ही है) वाली स्थिति का लोप हो जाता है।

९३-९५—इस प्रकार यदि हे प्रिय ज्ञान-समुद्र में स्वयं लहर बन जाओ। तब तुम देखोगे कि समस्त चराचर में तुम ही तुम व्याप्त हो।.........और कदाचित् तुम्हारी बुद्धि को पुनः कल्पना की नींद आ जाय तो यह अभेद-ज्ञान समाप्त हो जायगा, और तुम फिर इसी स्वप्न लोकमें पहुँच जाओगे।

१९२ ९८ त्रिविध=अपरा और परा प्रकृति (अ० ७ श्लोक ४, ५) भेद आठ अपरा (क्षेत्र या जड़ रूप) प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार नामक आठ भेद। जीव स्वरूप=परा प्रकृति।

पृष्ठ दोहा

१०० सकल .. ..अनन्त समस्त भूत कल्पान्त में अनन्त (अव्यक्त) के गर्भ में विलीन हो जाते हैं।

१०२ अंकुर. ....विलाहिं शरद के आते ही वर्षा ऋतु का ठाठ बाट समाप्त हो जाता है।

१०४ मनहिं मन माय मन का स्वप्न मन ही में समा जाता है।

१०६–१०८ - तन्तु पुंज संयोग धागों का सम्बन्ध। चौकड़िया लघु भेद = छोटे छोटे चौखाने। पञ्चात्मक आकार पञ्च महाभूतों का बना आकार। जामन दही जमाने के लिये दूध में डाला गया स्वल्प दही।

१६३ ११० १३ —यह कहना ठीक है कि "नगर राजा का बसाया है।" किन्तु क्या इस काम में राजा के हाथों को तनिक भी कष्ट उठाना पड़ा? स्वप्न के बाद जागरण तक पहुँचने में पैरों को क्या कोई कष्ट उठाना पड़ता है? या स्वप्नावस्था तक पहुंचनेके लिये कोई प्रयास (यात्रा) करनी पड़ती है? *इन सब बातों से तात्पर्य यही है, कि भूत सृष्टि रचना के लिये मुझे कुछ करना नहीं पड़ता। प्रकृति के समस्त क्रिया-कलाप अपने आप ही होते रहते हैं।*

११६–२० -जिमि......घसरा अथवा जैसे बाल्यादि अवस्थाओं का प्रधान कारण शरीर-सम्बन्ध है। भूत-समुद्र भूत सृष्टि।

१२३ पानी में प्रतिबिम्बित चन्द्रकिरणों की जो बेल सी फैलती दिखाई देती है, उनके विस्तार से चन्द्रमा निर्लिप्त रहता है। इसी प्रकार संसारके उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय कर्म मुझसे दूर रहते हैं।

१२४ नमक के बांध द्वारा ऊंची उठती समुद्र की तरंगें नहीं रोकी जा सकतीं। इसी प्रकार जिन कर्मों का विलय मेरे अन्दर है, भला वे कर्म मुझे कैसे बांध सकेंगे?

१२५ ललकार "रुक जाओ" इस तरह कह कर।

१२६ कर्म जाल कर्म समूह।

१६४ १२८ जैसे घर में रखा हुआ दीपक (जो न किसी को काम करने के लिये कहता है और न ही रोकता है। यह तो यह भी नहीं जानता कि घर में कौन क्या कर रहा है) तटस्थ भाव से केवल साक्षीभूत होकर भी घर के लोगों की प्रवृत्ति का कारण है वैसे ही हे अर्जुन, भूतमात्र में मेरी स्थिति जानो। निखिल चराचर भूत-जगत में रहते हुए भी मैं उनके कर्मों से निर्लिप्त, उदासीन या तटस्थ रहता हूं।

[illegible]   दोहा

१३३ ४५ इस सत्य ज्ञान (विचार) के प्रकाश में मेरे "निसर्ग योग" को देखोगे तो मालूम होगा कि मुझमें सारे भूत हैं, परन्तु मैं भूतों में नहीं हूं। और हे भाई अर्जुन, यह रहस्य भी न भूलो कि भूत मात्र मेरे अन्दर नहीं हैं और न मैं भूतों में नहीं हूं। (भूत सृष्टि की उत्पत्ति मूल प्रकृति से है और प्रकृति या माया को स्वीकार करने के कारण ही लोग मुझे भूतान्वित में सम्मिलित समझते हैं।)

१३५–३८—भावार्थ यह है कि तर्क के सहारे यह स्वरूप ज्ञान हाथ लगा सा अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु बिना अनुभवयुक्त ज्ञान मृगतृष्णा मात्र है। लोग स्वर्ग की शब्दाडम्बर से अनुमान की आंखों में धूल झोंकने की चेष्टा करते हैं। सत्य ज्ञान के सम्मुख आने के समय इस कोरे ज्ञान का कहीं पता भी नहीं चलता। आत्मज्ञान तर्क से नहीं अनुभव से मिलता है। *"नैषा तर्केण मतिरापनेया"* (उपनिषद्)।

१४५ अर्थ ११ मेरे साकार स्वरूप के रहस्य से अपरिचित अज्ञानी जन यह नहीं जानते कि मैं सब भूतों का महेश्वर (स्वामी) हूं। इसी अज्ञान के कारण वे मेरे मानव रूप की अवहेलना करते हैं।

दो० १४७ मूर्ख लोग स्थूल दृष्टि से मेरे साकार स्वरूप को देखकर समझते हैं, कि वे मुझे पूर्ण रूप से जान गये। किन्तु उनका ऐसा समझना ज्ञान की आंख में धूल डालना है।

१४८ गार — सफेद पत्थर।

१४९ ओंगल — कपड़ा या पल्ला।

१५२ चित्त में श्रद्धा रख कर यदि कोई इस नाशवान स्थूल संसार में मुझ अविनाशी एवं विकार रहित को देखे तो भला, मेरे दर्शन कैसे होंगे?

१५३ मांजा — भूसा।

१५४ केवल..... लिपि — इस विकारवान संसार को (मेरे स्थूल शरीर को) जानने मात्र से मेरा वास्तविक (अक्षय) स्वरूप कैसे जाना जा सकता है?।

१५५ मोह ग्रस्त मनोवृत्ति के कारण लोग भ्रम से मेरे इस स्थूल शरीर को ही परमात्मा समझ लेते हैं और जन्म-मरण आदि देह-धर्मों को मुझ पर भी लादते हैं।

१५७ निरुपाधिक उपचार — देहोपाधिहीन मेरी षोडशोपचार से पूजा करते हैं। आवर्तन ....

पृष्ठ दोहा

आचार - विधि-निषेधात्मक (शास्त्र मर्यादा रूप) कर्म और अकर्म नामों से रहित मुझ पर आचार आदि व्यवहार लगा देते हैं।

१४६ अरू .. ठिकान और मेरे अमाप (अपरिमित) होने पर माप (परिमाण) का तथा सर्वव्यापक होने पर भी एकदेश का मुझ पर आरोप करते हैं।

१६६ १६१ घृत रूप मूर्तहि मैं जो स्वयं पूर्ण हूं उस पर मूर्ति की कल्पना करते हैं।

१६२ मूर्ति प्रतिष्ठा मूर्ति पर प्राण प्रतिष्ठा।

१६७ इन्द्रक ....अभिराम- स्वानन्द में मग्न मुझे अनेक सुखों का इच्छुक बताते हैं।

१७१ बहुरि.. ......अभिगार इस प्रकार उनका विपरीत ज्ञान सच्चे ज्ञान को अंधकार में रखता है।

१७२ रोहिणी जलाश मृगजल की तरह मिथ्या रोहिणी नक्षत्र का जल।

१७३ मृत्तिकाहि आगार मिट्टी के-खिलौने के भण्डागार। छेरी गल गलथना बकरी के गले के थन—अजागलस्तन।

१६७ १८१ ८३—इन तीन दोहों में "माया रूपी राक्षसी" का सालंकार वर्णन है। ......जो राक्षसी आशाओं के कान पर्यन्त ओष्ठ चाटती हुई बाहिर निकलती है तथा जो मानो प्रमाद-रूपी पर्वत की भरकर गुफा हो॥ १८२॥ जो द्वेष रूपी दाढ़ से ज्ञान को खस खस चबाकर चूर्ण कर देती है और जो स्थूल बुद्धि वाले मूर्खों के लिये अस्थि-चर्ममय आवरण के समान है।

१८६ छीजै यतन विचार त्यागी को व्यर्थ कष्ट होगा।

१८७ भगवान श्रीकृष्ण की बात सुनकर अर्जुन बोला, "महाराज, ठीक है।" इस पर श्रीकृष्ण बोले, "अर्जुन, जिस साधु कर्ता व त्यागी को विश्राम मिलता है वह सुनो।"

१८८ मैं जिनके निर्मल मन रूपी क्षेत्र में स्वतंत्र सन्यासी होकर रहता हूँ; निद्रा दशा में भी वैराग्य जिन्हें नहीं छोड़ता। ......इसी प्रकार आगे पृ० सं० २२८ तक साधु पुरुषों की स्थिति का ही वर्णन है।

१९१ अंकुर यदि परिणाम इस विश्व-प्रपञ्च का जहां अन्त हो जाता है उस परिणाम या पूर्णावस्था के जो अंकुर स्वरूप हैं।

पृष्ठ दोहा

१९८ १९७-९९—इति [illegible] इस प्रकार [illegible] [illegible] [illegible] आत्मानन्द का [illegible] [illegible] किया है। [illegible] [illegible] ध्यान [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] तिहि लोग—पापनको नीचे पूछते है, "[illegible] [illegible]?"

२०१ कारत देत है। प्रकाश सूर्य। प्रात ज्ञान प्रभात। [illegible] [illegible] [illegible] मात्र दर्शन करते है।

१९९. २१७ १८—इन सात दोहा में [illegible] [illegible] [illegible] के लिये [illegible] होकर [illegible] [illegible] [illegible] भक्तों का साधन प्रकार वर्णित है॥ [illegible] [illegible] शरीर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आन्तर। [illegible] [illegible] [illegible] करना। [illegible] [illegible]॥२१७॥

२२० [illegible] आयसहि [illegible] [illegible]।

२२६-२७ तिहि [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]।

२३२ जाति परि पुनः।

२०० २३४-४०—[illegible] [illegible] भक्ति का प्रतिपादन हो चुका। अब ज्ञान यज्ञ द्वारा ज्ञानात्मक भक्ति का प्रकार तीन तरह से दो० सं० [illegible] से [illegible] तक बताया गया है

ज्ञान यज्ञ क्या है? [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भावना से [illegible] करना। आत्मैक्य [illegible] से समस्त विश्व का [illegible] [illegible] [illegible] हो जाना। दो० सं० २३४ से २४७ तक इसी ज्ञानयज्ञ के साधना [illegible] [illegible] का [illegible] वर्णन है। यहां आदि-पुरुष का मूल संकल्प ही बलि-पशु [illegible] का [illegible] है, पंच महाभूत यज्ञ मंडप है, द्वैत भावना पशु है; इन्द्रिय, प्राण और शब्द, स्पर्श आदि पंच महाभूतों के विशेष गुण यज्ञ-सामग्री है और अज्ञान है घृत। (२३४-२४०)

२४१ साम्य [illegible] दुःख आदि द्वंद्व [illegible] से [illegible] की समता।

२४२ आत्मानात्म विचार की बुद्धि की कुशलता मन्त्र है, [illegible] [illegible] है और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यज्ञपात्र है।

२४४ तब अज्ञान के नष्ट हो जाने के कारण यज्ञकर्ता और यज्ञ में कोई भेद नहीं रहता। [illegible] जीव आत्मैक्यभाव रूपी अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान करता है।

२४५ तब यज्ञकर्ता, शब्दादि विषय एवं इन्द्रियां, पंचमहाभूत सब आत्मबुद्धि द्वारा एक हो जाते है।

पृष्ठ ओवी

२४६–४८—अर्जुन जैसे जागने पर स्वप्न की सेना समाप्त हो जाती है। स्वप्न देखने वाले और स्वप्न में कोई भेद नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान ग्रहण करने वाले के आलोक में [illegible] के कारण सर्वत्र एकता प्रतीत होती है। जो [illegible] समाप्त हो जाने से [illegible] समस्त सारा जगत् एक हो जाता है।

२४९–५० अथवा अनादि काल से इस जगत् में अनेक नाम-रूप मूलक विषमताओं के कारण भिन्नता चली आ रही है किन्तु उससे ज्ञानी भक्त के ज्ञान में कोई भेद उत्पन्न नहीं होता। जैसे अवयवों की भिन्नता से शरीर की एकता नष्ट नहीं होती।

२०१ २५५ अथवा उन्हें ऐसा बोध हो जाता है कि जहाँ जहाँ जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

२५८ मेरी तरह उनका ज्ञानानुभव भी सर्वव्यापक है। उसी अनुभव के आधार पर वे इस विषमतामय जगत में मद्रूप होकर व्यवहार करते हैं।

२६१ अथवा जितना मैं संपूर्ण हूँ उतना ही उनका साक्षात्व (ब्रह्म-बोध) भी है। इसी कारण हे अर्जुन, वे भजन नहीं करते वरन भजन रूप हो जाते हैं।

२०२ २७० अर्धनारि नर ईश — अर्धनारीश्वर शंकर।

२७३–७४—समस्त ज्ञान मार्गों का चौराहा-केन्द्र मैं ही हूँ तथा समस्त शास्त्र [illegible], पवित्र, ज्ञान का पथ प्रदर्शक परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन चार प्रकार की वाणियों का आधार और ब्रह्म बीज ओंकार मैं ही हूँ।

२७७ आत्माराम — सोऽहम। शब्द ब्रह्म काय — वेद वेदान्त आदि।

२०३ २८४–८६—साक्षिभूत — तटस्थ वृत्ति वाला। जीवन — आधार। नाम वपु — नाम रूप।

२८८ हे पार्थ, मैं अनेकता का अनेक रूप धारण करके भिन्न-भिन्न प्रकृति गुण के अनुसार जीवित जगत के प्राण रूप से वास करता हूँ।

२९० आगर — [illegible]। प्रकाश — [illegible]।

२९२–९३ जैसे बीज से वृक्ष शाखा आदि उत्पन्न होकर अन्त में समस्त वृक्षत्व उसी बीज में लीन हो जाता है वैसे ही संकल्प के योग से सब की उत्पत्ति होती है और अन्त में सब

पृष्ठ ओवी

संकल्प में ही रखा जाता है। इसी प्रकार [illegible], [illegible] जाता है,
[illegible] में जहाँ सूक्ष्म रूप से रहता है, [illegible]।

१४ बरसों यहीं [illegible] मैं [illegible] का आकर्षण करता हूँ और वर्षा भी करता हूँ। अन
अधिकारी। अनन्त नाशवान।

२०४ २६७ आग जलाती है। मारें और मरें मारने और मरने वाले।

३०० मैं [illegible] दुर्भाग्य।

३०१ हे अर्जुन, आश्चर्य है कि संसार के प्राणी मद्रूप होकर भी मुझे नहीं देखते (और नाना प्रकार के कष्ट उठाते हैं) मानों (जलमय) लहरें जल के बिना (प्यास आदि की नाशि) मरी जा रही हो और (प्रकाशमय) सूर्य किसी दीपक के बिना दिखाई न देता हो।

३०२ नान्द घर [illegible] लोगों का दुर्भाग्य कैसा है?

३०४ अकाल हाँफता हुआ।

अर्थ २० सोमप यज्ञ में सोमरस को पीने वाले। [illegible] प्राप्ति की इच्छा करने वाले।

२०५ ३१२ मेरी प्राप्ति के बिना स्वर्ग अज्ञान का पुण्य-मार्ग है। बुद्धिमान ज्ञानीजन जन्म-मरण युक्त इस मार्ग को विघ्न समझते हैं।

३१५ प्राप्ति मार्ग में मेरी ओर आने मार्ग।

३१७ और, हे अर्जुन, जिन यज्ञादि कर्मों से प्राणी मद्रूप होने से वंचित रह जाते हैं, (वे कर्म मुझे मेरे ही रूप से अलग कर देते हैं) उन्हें पुण्य कहने वाली जीभ के टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो जाते?

२०८ ३५८ वेदवित् ... [illegible] वेद रूपी पर्वत के [illegible] भूत प्रेतों की पूजा करने वाले लोग प्रेत-योनि में चले जाते हैं।

२०९ ३८० प्राकृत लिंगाचार अज्ञानी जन।

३८३ झुझुवा अंठल।

२११ ४१२ भक्त बाह्य-नाम-रूपात्मक भेददृष्टि में उसी प्रकार अनुराग रखते हैं जैसे सोना गला कर पहने हुए आभूषणों पर लोगों को ममत्व नहीं रहता।

पृष्ठ दोहा

४२३ प्राण मुट्ठी तन माय — तन का शरीर प्राण की मुट्ठी में, अर्थात् आयु बिताने मात्र के लिए, है।

२१३ ४३३ आम परचौ। बहु रोग—इलाज या चीराना।

२१४ ४४१ मेरे और भक्त प्रह्लाद के बीच यदि उपासना का निर्णय किया जाय (किसकी भक्ति की जाय? मेरी या प्रह्लाद की?) तो प्रह्लाद ही श्रेष्ठ ठहरेगा, क्योंकि मैं जो ईश्वरानुराग उसे देना चाहता था वह तो उसके पास पहले से ही था।

४४३-४४ चाम स्वरूप — चमड़े का सिक्का। राज देश—राजाज्ञा।

४५० भक्ति विषय रिपु [illegible] — भक्ति से, विषय-वासना से, वैर भावना से या वैराग्य से (चाहे जिस मार्ग से भी हो—सब का अन्तिम निर्वाण-स्थल मैं ही हूँ)।

२१५ ४७७ उपकार — उपकार द्वारा प्राप्त जागीर।

४८१ [illegible] शान्तिदान — जिनसे आदि [illegible] रूप 'भगवान्' नाम (की रक्षा के हेतु)।

४८७ (जो ब्राह्मण मेरे चन्दन के समान हैं जो) दाह शान्त करने वाला, पूर्ण और सुगन्ध के कारण चन्द्रमा से भी बढ़ कर है उसका शरीर में लेप क्यों न किया जाय?

२१६ ४९६-९७ भाई, मरण दुःख से कैसे छुटकारा मिल सकता है! यह मृत्युलोक जन्म-मरण से भरा एक ऐसा बाजार है कि जहाँ दुःख के बादल के बादल लगातार आ रहे हैं। तब, बताओ इस बाजार में सुख का सौदा कैसे हो? जल फूंकने से कभी दीप जलता है?

५०२ ५०३—उदय — सूर्य का उदय। आसमान — आसमान के नीचे। ढूँढत.... जाय — जहाँ यहाँ [illegible] पहुँचती है।

५०४ ५०६ अरे भाई अर्जुन, सब लोगों को अच्छी तरह ढूँढ लिया किन्तु यहाँ एक भी ऐसा प्राणी नहीं मिला जो मृत्यु के मुख में आकर लौट आया हो। यहाँ मृत्यु की ही सत्ता रही है। इस अनित्य क्षणभंगुर संसार की नश्वरता का वर्णन ब्रह्मा की आयु पर्यन्त भी किया जाय तो भी इसका अन्त नहीं होगा।

[illegible]

पृष्ठ   ओवी

२१७ ५२२ आश्चर्य है कि संजय की बात सुनकर भी धृतराष्ट्र शान्त [illegible] । जैसे [illegible] नदी का पानी बढ़ जाने पर भी आराम से बैठा रहता है ।

५२५-२६—आश्चर्य । जो महामुनि व्यास ने मुझे यह कृष्णार्जुन संवाद [illegible] अवसर दिया । संजय के हृदय में आनन्द की सीमा न रही । [illegible] हो गये । बड़ी ही कठिनाई से वह [illegible] ।

२१८ ५३३ भगवान श्रीकृष्ण के वचन [illegible] है, संजय [illegible] किया हुआ [illegible] है । श्रोताओं के लिए [illegible] ।



दशम अध्याय

पृष्ठ   ओवी

दशम अध्याय के प्रारम्भ में [illegible] महिमा [illegible] तक [illegible] अध्याय [illegible] के [illegible] अध्याय की [illegible] किया जाता है

२१९ १ [illegible] ....
[illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] ।

५ [illegible] पात्र ।

७ जो गुरु महाराज की [illegible] प्राप्त [illegible] समुद्र की थाह मिल सकती है ।

१२ आकाशाहि......ताहि आकाश को किस प्रकार और ऊँचा किया जा सकता है ?

१४ [illegible] ।

पृष्ठ   दोहा

२२०   १६–१९—जो समस्त ब्रह्म-विद्याओं में उत्तम है, निखिल वाङ्मय का आश्रयधाम है उसी भगवद्गीता का मैं देशी (मराठी) भाषा के छन्दों में गान कर रहा हूं। गीता के शब्दरूपी बीहड़ वन में मारा-मारा फिरा परन्तु एक अक्षर तक का अभिप्राय समझ में नहीं आया, किन्तु श्री गुरु महाराज की कृपा का आश्रय मिलते ही मेरी वाणी विवेक की कल्पलता बन गई। जो मेरी बुद्धि केवल इस पार्थिव शरीर तक ही सीमित थी उसे आनन्द का भण्डार बना दिया है और मन को गीतार्थ रूपी क्षीर समुद्र में सुख पूर्वक शयन करने की क्षमता प्राप्त हो गई।

२० जो अभिप्राय समस्त ब्रह्म (शब्द, ब्रह्म, वेद) में कहा गया है और जो कुछ एक लाख श्लोक वाले महाभारत में वर्णित है वह सब नवम अध्याय में एक जगह मिलता है।

२१ गीतारत्न सात सौ गीता के सात सौ श्लोक।

२२ और नवम अध्याय का वास्तविक रहस्य बताते समय जब मैं भी ठीक से कुछ समझ-समझा न सका, तब व्यर्थ में क्यों गर्व करूं ?

२४ गीता के कुछ अध्याय ब्रह्म के स्वरूप को ठीक तरह से समझ कर उसका वर्णन करते हैं, कुछ उस ब्रह्मतत्त्व का निर्देश मात्र करके रह जाते हैं और कुछ ब्रह्मज्ञान की खोज में स्वयं तद्रूप-ब्रह्मरूप हो गये हैं।

२६ हे गुरुदेव ! जैसे प्रभु की कृपा से एक (विश्वामित्र) ने इस सृष्टि की प्रतिस्पर्धा में दूसरी सृष्टि रच दी, एक (वसिष्ठ) का वस्त्र सूर्य के समान प्रकाश देने लगा, एक (श्री रामचन्द्र जी) की सेना पत्थर का पुल बांध कर समुद्र पार कर गई, एक (अगस्त्य) ने चुल्लू में भर-कर सारा समुद्र पी लिया, और एक (श्री हनुमान जी) ने आकाश में सूर्य को निगल लिया; वैसे ही आपने मूक मुझ द्वारा नवम अध्याय में उस अकथनीय परम तत्त्व का निरूपण करवाया।

अधिक क्या, जैसे राम और रावण का युद्ध राम-रावण युद्ध के ही समान है—इसकी उपमा अन्य किसी दूसरे युद्ध से नहीं दी जा सकती—उसी प्रकार इस नवम अध्याय में श्रीकृष्ण के कथन की क्या उपमा ? जिन भाग्यशील तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने गीता के अर्थ को आत्मसात कर लिया है वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं।

पृष्ठ   व्याख्या

२२२   ४१ [illegible] ... आदि [illegible] पहले [illegible] थोड़ा पानी [illegible] हैं और [illegible] नहीं [illegible] है
४७ [illegible] मन और प्राण । [illegible] ([illegible]) हो जाते हैं ।

२२३   ७७ ८० फिर भी [illegible] लोग [illegible] से मुक्त [illegible], [illegible] की ओर से पीठ फेर, देह बुद्धि को त्याग एवं पंच महाभूतों [illegible] कर [illegible] आत्म-प्रकाश युक्त [illegible] अनादि स्वरूप को देखता है और [illegible] मूल कारण से भी परे—"सर्वलोकमहेश्वरम्" के रूप में मुझे जानता है [illegible] पारसमणि के समान अलौकिक पुरुष है । इसी तरह आगे दोहा सं० ७८ से [illegible] ज्ञानी की महिमा का भिन्न भिन्न उपमा तथा दृष्टान्तों से [illegible] किया गया है ।

२२४   [illegible] ४ भूत भाव प्राणियों के भाव, [illegible]
४२ कश्यप आदि कश्यप, [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] सात ऋषि । [illegible] प्रधान स्वायंभुव आदि चौदह मनु । [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], देवसावर्णि, इन्द्र सावर्णि आदि चौदह मनु [illegible] हैं । प्रत्येक [illegible] काल मन्वन्तर कहलाता है और [illegible] मन्वन्तर [illegible] बीस हजार ३०६७२०००० बताई गई है ।

२२५   १२०–२६ - [illegible] भक्ति [illegible] भक्तों के [illegible] सं० १२० से १२८ तक किया गया है । "और [illegible] ज्ञानी [illegible] हैं तो [illegible] का सागर [illegible] है । [illegible] से [illegible] केवल ज्ञान का ही [illegible] करते हैं । जैसे [illegible] पानी [illegible] से मिल जाय तो [illegible] होता है वैसे ही [illegible] के हृदय की [illegible] परस्पर [illegible] हो जाते हैं । ज्ञान से ज्ञान का शरीर [illegible] ज्ञान का गहना [illegible] किया है । [illegible] यहाँ की एकरसता के प्रवाह में सात्त्विक भाव की बाढ़ आ जाती है, [illegible] में स्थापित [illegible] बन जाते हैं । ब्रह्मानन्द में विभोर हो वे [illegible] से बाहर (शरीरभाव से मुक्त होकर) परम संतोष से [illegible] की चतुर्दिक घोषणा करते हैं ।

७५ दोहा

गुरु-मुख सुनकर वे सुनते ही जाते हैं पूर्ण आत्मानन्द में डूब जाते हैं। गुरु जिस एकाक्षरी (ॐ) मन्त्र को गोप्य बनाकर एकान्त में शिष्य के कानों कहता है उसे वे सन्त-ज्ञानेश्वरी भक्त मेघ के समान गर्जना करके तीनों लोकों के लिये सर्वजन-सुलभ बना देते हैं।

२२७ १३१ स्वर्ग-मोक्ष...सलिमान स्वर्ग और मोक्ष नामक दोनों ही रास्ते उन्हें टेढ़े-मेढ़े चक्करदार प्रतीत होते हैं।

१३३ यह मम करन स्वभाव यह मेरा स्वाभाविक कर्तव्य है।

२३१ १७६ विषयरूपी विष की यही एक विशेषता है कि इसके सेवन से परिणाम में कटु विषय-भोग मधुर लगते हैं और दिव्य परमार्थ-रस (ज्ञान) कटु प्रतीत होता है।

१६१ कहि नहीं। तजि "यह चिन्तामणि नहीं है" ऐसा कह के त्याग कर।

१६२ पुन्य छाया . फलाय आपके कृपायुक्त वचनों की वर्षा से मेरी हृदय-भूमि में बोया गया ऋषि-मुनियों का ज्ञान-बीज अंकुरित हुआ—इसमें एकवाक्यता रूपी फल लग गये।

१८२ सिंह-शिरस् अग लोक संसार रूपी हाथी के लिये सिंह के समान।

१९१-९८—सुधापान ..किंतु साधारण अमृत के लिये भी कोई पूरी तरह तृप्त नहीं होता—तब फिर आपके वचनामृत की तो बात ही क्या? आगे श्लो० सं० १९८ तक इसी परमामृत के अलौकिक प्रभाव का वर्णन किया गया है।

१९९-२०५—"और हे योगेश! यदि यह ज्ञानामृत किसी के हाथ लग जाय तो वह तद्रूप ही हो जाता है। मुझे भी आज यह सौभाग्य मिला है फिर मैं कैसे 'नहीं' कहूं? आपका नाम ही मुझे प्यारा है, फिर यह सत्संग और उस पर आपकी वाणी इन सब बातों से तो मेरे आनन्द का पारावार नहीं।"

२०६ प्रेम विभोर हो उठा यह सुन सबसे कि वे पितामह (ब्रह्मा) के भी पिता हैं और बोल उठे, "आओ आ पुन, वाह, खूब कहा!"

२३७ २४८ आपद जंगली जानवर।

२३८ २६७ २६८ जो समस्त शास्त्रों व एकवाक्यता लाने के हेतु कभी नहीं करता, जिसको सुनने से लोक को बल मिलता है, जिससे निरन्तर तक पहुँचने के लिये नई-नई शुभ-प्रेरणा मिलती है

पृष्ठ दोहा

और जिससे प्रजा के मन में मधुरता आती है [illegible] (आत्मा में) करने वालों में [illegible], [illegible] मैं ही हूँ।

२३९ २८० कुंजर गज केसरी — संसाररूपी मदमत्त हाथी का [illegible] करने वाला सिंह।

२४० २९४ भाग भगिनि — सुभद्रा।

२४१ ३०५ मित न अमित — छोटा-बड़ा।

२४२ ३०६–१७ किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि तुम मुझे एक [illegible] लगो। [illegible] क्या लोगों की मनोकामना पूरी करने के लिये [illegible] जाती है? .... सब विभूतियाँ [illegible] अन्तर [illegible] है। [illegible] एक ही शक्ति अनुस्यूत है। इस कारण विभूतियों में [illegible] करना पागलपन होगा। यही बात [illegible] है।

२४३ ३२७–२६—"अब तक विभूतियों में [illegible] तुम्हारी [illegible] करने के लिये ही बताया गया। हे बुद्धिमान अर्जुन! यह बात तुम्हारी समझ में आई कि नहीं? [illegible] बातों का [illegible] तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिये था। विभूतियों का मर्म तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ गया [illegible] का विषय है।"

३२८ नृपराज — धृतराष्ट्र। [illegible] .... [illegible] की बात [illegible] चुप रहा।

एकादश अध्याय

पृष्ठ दोहा

२४४ १–४३—अपनी प्रवचन प्रणाली के अनुसार श्री सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने आरम्भ के ४३ दोहों में एकादश अध्याय में वर्णित प्रधान-विषय—विश्वरूप दर्शन—की भूमिका दी है। दोहा सं० ७१२ तक अर्जुन के शान्त प्रधान हृदय में विराजमान "शान्त रस" के, घर पाहुना मेहमान बनकर आये हुए—विराट् रूप दर्शन से उत्पन्न विस्मय पर आश्रित—"अद्भुत रस"

पृष्ठ दोहा

के समागम का सुन्दर वर्णन है। अन्य उपमाओं के साथ इस "शान्त–अद्भुत–सम्मेलन" को तीर्थराज प्रयाग का सांग-रूपक बनाया गया है। यहाँ शान्तरस गंगा, अद्भुतरस यमुना और गीतार्थ सरस्वती है। इस अलौकिक त्रिवेणी-संगम के संस्कृतवाणी विषम कगारों को ज्ञानेश—(मराठी) शब्द-सोपान द्वारा श्री गुरु निवृत्तिनाथ की कृपा ने सर्व साधारण के लिये सुगम बना दिया है ताकि विराट् रूप '[illegible]' के दर्शन कर संसार को तिलांजलि दी जा सके। फिर दो० सं० २४ तक अर्जुन के भाग्य की सराहना करते हुए उपस्थित सन्त समुदाय से अति विनय के साथ ध्यान पूर्वक कथा-श्रवण की प्रार्थना की गई है। क्योंकि अति गम्भीर गीतार्थ को सरल सरस भाषा में प्रस्तुत कर सकने की सफलता का सारा श्रेय सन्तजनों को ही है। अन्त में दो० सं० २५ से ४३ तक अर्जुन के हृदय में जागी विराट्रूप के प्रत्यक्ष दर्शन की उत्कंठा तथा तदर्थ श्रीकृष्ण से प्रार्थना करने का संकोच आदि का वर्णन है।

२४८ ४७ प्रलय काल में जब महाभूतों के साथ जीव, माया आदि सब ब्रह्म में समा जाते हैं, उस समय ब्रह्म जिस रूप में रहता है वही उसका अन्तिम विश्राम-स्थल या रूप है।

४९ "संसार में मैं एक अर्जुन नाम धारी हूँ" इस प्रकार का देहाभिमान मेरे अन्दर था और मोह वश मैं इन कौरवों को 'स्वजन' कह कर पुकारता था।

२४९ ५४ सत्य ... सांप — कपड़े के सांप की लहर को सत्य मान कर अपने को उससे डसा हुआ समझता था।

५८ "वास्तव में मेरी कोई सत्ता नहीं है, फिर भी भ्रम वश मैंने अपना नाम (अर्जुन) तथा गोत्र रख लिया। इस प्रकार भ्रान्तिज्ञान रूपी विकट पिशाच मुझ पर सवार था। किन्तु, हे भगवन्, आपने मेरी रक्षा की।"

६१ यदुनाथ — श्रीकृष्ण।

६२ आप ... एक बार — आपके प्रयत्न से एक बार फिर मेरी भ्रान्त-बुद्धि ठिकाने आई।

६४–६५ जिस पर आप की कृपा हो उसे मोह कैसे छू सकता है? ... ... क्या बड़वानल (समुद्र की आग) को मृगजल (दूर से जल की भांति प्रतीत होनेवाली मरुस्थल की रेत) से बुझाया जा सकता है?

पृष्ठ   ओवी

७१-७८ "आपकी प्रकृति (माया) से समस्त भूत उत्पन्न होकर अन्त में आपही में विलीन हो जाते हैं" यह रहस्य हे देव, आपने मुझे समझाया। और प्रकृति का वर्णन करते हुए उस मूल पुरुष को भी बता दिया, जिसकी महिमा का गान करके वेदों को—सम्पूर्ण सुहाग—ऐसी पदवी मिली तथा जिस तेजोमय प्रभु के चरणों का आश्रय लेकर समस्त शास्त्र विस्तार को प्राप्त करता और धर्म के सिद्धान्त-रत्नों को उत्पन्न करता है।

७४ प्रकलिकार=हुंकार।

८२ आसु......मीच=जिस स्थान को आप भी स्वयं "मैं" कहते हैं।

२४१   ८९ पै इक इस=पर यहाँ एक बात है।

९० नाहि आन=क्यों नहीं जानते ?

९१ आकळिति.........शुलाय=इच्छा का वेग इतना प्रबल है कि मैं अपनी योग्यता भी भूल गया।

९२ सैंभरि समस्या नाहि=संभालने की सामर्थ्य नहीं है।

१०४ वनवासिहिं=दुखियों को। सुत=नारायण नामक पुत्र।

१०५ शंखासुर रिपु तन=शंख के रूप में प्रच्छन्न पंचजन नामक असुर को मार कर श्रीकृष्ण ने उसकी अस्थि से 'पांचजन्य' नामक अपना शंख बनाया था।

१२६ साथ सहित=समाविष्ट।

१३० साक्षीभूत=तटस्थ।

२४२   १४६ गवाक्ष रन्ध्र से घर के भीतर आई हुई सूर्य किरणों से जैसे परमाणु स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं वैसे ही मेरे अवयवों की सन्धियों में महाप्रभ घूम रहा है।

२४३   १५६ कोहि न्यून=किसका दोष ?

१६० न्यून कहब प्रभुगन न भला=प्रभु के दोष दिखाना ठीक नहीं।

२४४   १६८ किन्तु वे सब एक ओर रह गये और पाण्डव सिरमौर अर्जुन के जन्म लेने के बाद से तो कृष्ण-सुख (भगवत्कृपा) इस एक स्थान पर आकर केन्द्रित हो गई है।

२७०-२७१—पाला हुआ—क्रीड़ा मृग—भी इस तरह न भागता। पढ़ाया पक्षी भी इस प्रकार न बोलता। किसी तरह भी समझ में नहीं आता कि अर्जुन का भाग्य इस तरह अनुकूल कैसे

पृष्ठ दोहा

हो गया ? आज समस्त ब्रह्म-दर्शन रस के भोग के लिये पार्थ के नेत्र खुले हैं। इस भाग्यवान् की सब इच्छा भगवान् कैसे प्रेम से पूरी कर रहे हैं !

१८०-१८१—ये समस्त अवतार जिस समुद्र की लहरें हैं, जिसकी किरणों के संयोग से मृगजल मृग-तृष्णावत् मिथ्या यह संसार दिखाई देता है और जिस अनादि-भूमि पर यह चराचर का चित्र स्पष्ट उतरता है वही पवित्र स्वरूप भगवान् ने अर्जुन को दिखाया।

१८३ सावकाश चौदह भुवनों के बीच का अन्तर—खाली स्थान।

१८७ जैसे मार्कण्डेय मुनि को ब्रह्मलोक पर्यन्त परिपूर्ण जल में अकेले वट-पत्र पर बालक रूप में पैर का अंगूठा चूसते भगवान दिखाई पड़े थे, वैसे ही यहाँ अर्जुन आश्चर्य के समुद्र पर उतरा रहा है। ✻

२५५ १९१-९२ अर्जुन एकटक विश्वरूप को देखने लगा—उसके मन के संकल्प-विकल्प सभी रुक गये, बुद्धि सोचने में असमर्थ बन गई और चित्तवृत्तियाँ उलट कर हृदय में समा गईं—अन्तर्मुखी हो गईं। एकाग्रता तथा स्तब्धता अपनी चरम सीमा तक पहुँच गईं, मानो उसके समस्त ज्ञान के मर्मस्थलों पर किसी ने मोहनास्त्र फेंका हो।

२०४ प्रलय काल में जैसे काले मेघों में बिजली चमकती है वैसे ही वहाँ विराट् रूप की काली भृकुटि के नीचे प्रलयाग्नि की तरह उद्दीप्त पीली दृष्टि दिखाई पड़ती थी।

२५६ २१४ १५—ज्ञान दृष्टि से जब अर्जुन ने विराट् के हाथों को देखा तो वे ऐसे दिव्य अस्त्र प्रतीत हुए कि मानों प्रलयाग्नि की लपटों को काट रहे हों। समस्त चराचर उस विराट रूप में दिखाई पड़े—प्रभु आप ही हाथ और आप ही हथियार थे, आप ही अंग और आप ही

✻ टिप्पणी—मार्कण्डेय मुनि ने नर नारायण से "भगवान् की माया" देखने की इच्छा प्रकट की। तदनुसार अचानक ज़ोर की आँधी आई और प्रलयकाल सारा ब्रह्माण्ड जलमग्न हो गया। सहस्रों वर्ष उस जल में तैरते रहने के बाद एक दिन सहसा मुनि को वट-पत्र पर पैर का अंगूठा चूसता एक तेजस्वी बालक दिखाई पड़ा। वे ज्यों ही बालक की ओर बढ़े कि उसके श्वास से खिंच कर बालक के उदर में प्रविष्ट हो गए। वहाँ चराचर समस्त विश्व दिखाई पड़ा। "भगवान् की माया" को देख चुकने के बाद मुनि पुनः प्रश्वास द्वारा बाहर फेंक दिये गये। पलक मारते ही जल, वट-वृक्ष, बालक सब लुप्त थे। "भगवान् की माया" का खेल समाप्त हुआ।

पृष्ठ दोहा

जहाँ आभूषण थे, तथा आप स्वयं ही शरीर और आप ही उसके अन्दर का निवासी जीव थे।

२१६ जाके.... गुंजहिं [illegible] जिसके मन की प्रसन्नता से आकाश के नक्षत्रगण (तारे) [illegible] अर्थात् भौंरे की तरह गूँज रहे हैं।

२२२ क्षीरोदक सरिस दूध के समान सफेद वस्त्र।

२२३ अर्जुन को विराट् के सर्वांग पर लिप्त चन्दन की सुगन्ध ऐसी प्रतीत हुई कि मानो आनन्द की लहर उठाकर आकाश ने सुन्दर रूप धारण कर लिया था।

२२४ २७—जिस चन्दन की सुगन्ध से आत्म-प्रकाश [illegible] है, ब्रह्मानन्द की [illegible] शान्त होती है, [illegible] है, और निराकार [illegible] साकार बन जाता है उस सुगन्ध की श्रेष्ठता की बराबरी कौन कर सकता है ?

२५७ २३१-३२ अर्जुन एक आश्चर्य [illegible] आता है [illegible] उसके सामने आप खड़ा है इस प्रकार [illegible] सामर्थ्य की कुशलता अर्जुन को प्रदान की। [illegible] श्रीकृष्ण [illegible] की प्रार्थना की थी किन्तु वह स्वयं ही विश्वरूप हो गया।

२५८ २४१ श्री मुनि कथा महामुनि व्यासजी [illegible] संजय [illegible] दिव्य दृष्टि मिली थी।

२४२-४४—आठों सात्विक-भाव शीघ्रता से अर्जुन [illegible] प्रतिष्ठित हो जाने के लिए परस्पर होड़ करने लगे। तब उसे मानो सम्पूर्ण ब्रह्मानन्द का साम्राज्य मिल गया। किन्तु इस सुखानुभव के उपरान्त भी उसके हृदय में भक्त और भगवान का द्वैत भाव बना ही रहा। और तब एक ऊँची साँस लेकर सामने विराजमान स्वरूप को देखा और हाथ जोड़ कर विनति करने लगा।

२५९ २५६ संतोष स्वभाय हृदय में संतोष या समाधान हुआ।

२५७ नभ की ओक - आकाश का विस्तार।

२५८ देख गिरिहिं........अरण्य =मरुस्थल में जैसे स्थान-स्थान पर हिंस्र पशुओं के दल रहते हैं।

पृष्ठ ओवी

२६० २६५ [illegible] कि आपके [illegible] अनन्त आकाशों के अंकुर निकल रहे हैं।

२६६-२६८ आपके उदर को देखता हूं तो ऐसा जान पड़ता है कि मानों [illegible] के विस्तार में [illegible] और श्रुति में वर्णित आपके सहस्रशीर्ष रूप (सहस्रशीर्षा पुरुष) [illegible] दिखाई दे रहे हैं, जिनकी उपमा [illegible] की जा सकती है।

२६१ २८३ [illegible] की आंखें [illegible]।

२६२ २८५-३०६ आपके इस विराट [illegible] की क्षमता, हे प्रभु, मुझमें नहीं है। [illegible] विराट रूप की [illegible] है।

३०४ [illegible] ॐकार से भी परे हो।

३०८ मानों [illegible] अतीत और [illegible] से निराला सर्वोत्तम तत्त्व—एक अलौकिक पुरुष है, ऐसा मैं जानता हूं।

२६३ ३११ चन्द्र और सूर्य [illegible] लीला दिखाते हैं किसी पर आप [illegible] करते हैं तो किसी पर कृपा दृष्टि की अमृत वर्षा करते हैं।

३१२ [illegible]।

२६४ ३२० [illegible] तो आपके माहात्म्य से परिचित हो जाने पर भय और दुःख का क्या काम? परन्तु जो सामने दिखाई दे रहा है वह सुख नहीं है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। [illegible] किन्तु [illegible] आपका [illegible] आलिंगन [illegible] (आलिंगन) [illegible]

पृष्ठ दोहा

गुन रहे हैं। आपके दर्शन करके अब यह बात मेरे मन में स्पष्ट हो गई। इस संसार की गति भी यही है—आपके विराट् रूप को देख कर सब तिलमिला रहे हैं। और इस संसार के उस पार जो ज्ञान संपन्न देवताओं के ठिकाने हैं—वे फिर भी भले हैं।

२६६ ३४३ आई......कल्पान्त आपके अनेक मुखों में ऐसा भयानक आवेश है कि मानो समस्त भूतों (प्राणियों) की खिचड़ी परोसने के लिये रखे गये कल्पान्त शक्ति के पात्र हों।

३४४ न गुहा समाय अत्यन्त बड़ा।

३५७ कह........सिन्धु=मानो वायु अनुचित बन गया हो और समुद्र प्रलयकाल बाढ़ में डूब गया हो।

२६७ ३५९-६०—ये मुख इतने दीर्घ और विशाल हैं कि मानो आकाश टूट कर गिर गया हो और उसके टुकड़े जहाँ तहाँ बिखरे पड़े हों। ......शङ्कर ने पाताल को गहरा खोला हो।

३६१ अतः कौतुकहिं मार इसी कारण कौतुक से ये विश्व को नहीं निगलते।

२६८ ३७५ जिमि... .अस्ताध जैसे फूट कर सामने बिखरे महा भय-प्रद-पात्र (मृत्यु) पर मेरी टकटकी बंध गई हो।

३७७ पिशाच भुखागा आग। भूत आदि प्रेत बाधा हो।

३८८ नहीं......पाग किन्तु देव, यह बात (स्वर्ग में जाकर दुर्दान्त राक्षसों को जीतना, मृत्यु से भी टक्कर लेना आदि) ऐसी अपरिमित भयानक विराट्रूप दर्शन जैसी नहीं थी। आपने तो मृत्यु को भी मात कर दिया।

२६९ ४०१ तिमि थिति सन्मुख नाहिं क्योंकि ग्राम दहन अग्न्यागार नहीं—इन विभूतियों की स्थिति मेरे सामने इतनी भयानक न थी।

४०२ अतः भोग......होग होनी होकर रहती है। और नव बुद्धि भी उसी प्रकार बदल जाती है।

२७० ४११ बीस इक स्वर्ग इक्कीस स्वर्ग।

४१७ कालरूपी विराट् से मानो लोगों के शरीर और बल तो निगल लिये हैं और नाम मात्र को ये मस्तक—उत्तमाङ्ग होने के कारण—बाकी रख छोड़े हैं।

४१८ शेष=शरीर।

पृष्ठ दोहा

२७१ ४२५ गिरिवर = जलता हुआ पर्वत ।

२७२ ४२९–३०—नाम = नाम मात्र । ब्रह्म कटाहहिं = ब्रह्माण्ड को ।

४२६ वेद न कर्म स्वरूप = ये वेद नहीं, कर्मों के फल ही हैं ।

४२८ दाहकतामय दाह किमि = दाह की जलन कैसी होती है ।

२७३ ४४८ जब तब क्रोधावेश में आकाश से भी अधिक विशाल बन कर भयंकर नेत्रों से आप हमें क्यों डराते हैं ?

२७४ ४५३ मन में यह सोच कर कि इस कठिन बात को सुनकर अर्जुन कहीं निराश एवं दुःखी न हो जाय, श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन, एक बात और है ।"

४५५ मरन महामारी व्याधी, तिहि लागे = मृत्युरूपी महाव्याधि के वशीभूत होकर ।

४६० पैजहि = प्रतिज्ञा करके ।

४६४ सिद्ध......असार = इन सब वीरों को गन्धर्व नगरी के अन्दर से खाली—पोले या खुक्खारे समझो ।

२७५ ४६६ जब कौरव विराट् की साठ हजार गौओं को हर कर ले गये थे और उन्हें छुड़ाने के लिये विराट् का पुत्र उत्तर युद्ध से डरकर भागने लगा था तो तुमने सम्मोहनास्त्र फेंककर एक साथ समस्त शत्रु सेना को मूर्छित करके उत्तर द्वारा शत्रु महारथियों के कपड़े उतरवा दिये थे ।

४७३ नामांकित = प्रसिद्ध ।

४७५–७६–युद्ध जमि = युद्ध में आये हुए । हुए मगुराग = गुस्सा ।

२७७ ४९२ शरीर का यौवन निकाल कर उसकी जगह बुढ़ापा कैसे लाया जा सकता है ?

४९८–५००—'(जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन ३ अवस्थाओं का समय निश्चित है) किन्तु आज मेरी समझ में एक बात नहीं आती कि इस समय योग-सम्पन्न 'स्थिति' की अवस्था में वर्तमान इस जगत को, हे प्रभु, असमय में आप क्यों निगल जाना चाहते हैं ?' अर्जुन की यह बात सुन कर श्रीकृष्ण ने संकेत से ही कहा, "हमने तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा दिया कि इन दोनों सेनाओं की आयु समाप्त हो चुकी । फिर भी यह सब यथाकाल अर्थात् अपने उपयुक्त समय आने पर ही होगा ।" कृष्ण के इस तरह संकेत करते ही अर्जुन की आंखों के सामने फिर वही विराट् रूप का प्रलयंकर दृश्य उपस्थित हो गया ।

पृष्ठ दोहा

२७८ ४७७ [illegible] आप [illegible] मैं यह [illegible] किया [illegible] ?

४९९ [illegible] का मूल कारण आप की इच्छा ही [illegible] है।

४९६ [illegible] ... जैसे [illegible] परमाणु [illegible] होता है [illegible] आप ही हो।

२८० ४९९ [illegible] ([illegible]) पर [illegible] किन्तु, [illegible]

४५४ जैसे [illegible] आकाश है, वैसे ही आप अपने [illegible] व्यापक [illegible]

२८२ ५४० [illegible] दिशा में [illegible] जाता है।

५५८ [illegible] ([illegible]) [illegible]

२८३ अर्थ ४५ [illegible]

२८५ ६०० जिस [illegible] शरीर में [illegible] प्राप्त होता है [illegible] भी [illegible] आदि [illegible] प्राप्त करने का [illegible]

६०५ [illegible] (शोभा) है।

२८६ ६११ [illegible] ..... [illegible] है [illegible] ?

६१२ किन्तु, आज मुझे [illegible] विश्वरूप में प्रकट कर दिया।

२८७ ६२६–२७—पोसं नहीं [illegible] की शक्ति नहीं है। [illegible] कहि—'तुम्हारी छाया हम पर पड़ती है'—[illegible]

पृष्ठ दोहा

६३६ (अन्दर से तो तुम इस विश्वरूप से प्रेम करो) और बाहर से पूर्ण मैत्री सुख प्राप्त करने के लिये हे अर्जुन, मेरी चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करो।

२८८ ६४८ यह ..... समान 'तत्त्वमसि' में जैसे 'त्वम्' पद वाची जीव 'तत्' पद वाची ब्रह्म में लीन हो जाता है।

२९० ६७८ काल बिना पतझार समय बीतता है।

६७९ चातक जैसे हृदय रूपी मस्तक पर आशा की अञ्जलि रख कर एक टक आकाश की ओर देखता रहता है।

२९२ ६९४ तब 'मैं', यह भक्त और यह सम्पूर्ण जगत स्वभावत: एक हो जाते हैं। अधिक क्या, पूर्ण ऐक्य-भाव से सब कुछ तरा भक्त में समा जाता है। वह एक रूप हो मुझमें मिल जाता है।

६९९ निघातुक घात, पित, कफ-युक्त।

७०३ व्यापक........अभिमान क्योंकि ब्रह्म के व्यापक (विश्वरूप) शरीर से एकदेशीय (चतुर्भुजी) रूप श्रेष्ठ नहीं है।

७०८ प्राकृत रूप प्रबन्ध--मराठी भाषा की ओवी प्रबन्ध रूपी पुष्पांजलि



द्वादश अध्याय

पृष्ठ दोहा

२९३ १ २ --द्वादश-अध्याय (प्रतिपाद्य-विषय—भक्तियोग) पर प्रवचन प्रारम्भ करने से पूर्व श्री ज्ञानेश्वर महाराज शुद्ध, उदार, प्रसिद्ध, एवं निरन्तर आनन्द की वर्षा करने वाली गुरु श्री निवृत्तिनाथ महाराज की कृपादृष्टि का जय जयकार करते हैं। हे गुरुकृपादृष्टि! जो मनुष्य विषयवासना रूपी जहरीले साँपों के विष से मूर्छित हो गये हैं उन्हें तू निर्विष अर्थात निर्विकार बना देती है। यदि तेरी प्रसन्नता की बाढ़ आजाय तो संसार के शोक-संताप कैसे टिक सकते हैं?।

पृष्ठ दोहा

४ १०- स्नेहमयी माता के समान आपने प्रिय शिष्यों की साधना में सहायता करते करते साधक को आनन्द योग का सुख प्राप्त होता है और उसकी ब्रह्मपद की लालसा पूरी होती है। हे माता, तू योगमार्ग में प्रवृत्त साधक अथवा शिष्य का [illegible] साधना के समय 'मूलाधार' की गोद में बैठा कर, हृदयाकाश रूपी पालने में अनाहत और आत्मज्ञान युक्त उपदेशों के झोंके देती है। आत्म-ज्योति के प्रकाश में तू उसे मन और पवन के खिलौने देकर आत्मसुख के बाल अलङ्कार पहनाती है। फिर [illegible] अन्तःकरणरूपी सत्रहवीं जीवन कला का दूध पिलाकर निरंतर अनाहत नाद की लोरी गाते हुए समाधि-ज्ञान रूपी [illegible] थपकी देकर सुला देती है। हे सद्गुरु कृपानिधि! आप साधकों की माता हो, तथा समस्त विद्याएं आपके चरणों की सेवा से ही प्राप्त होती हैं। इसी कारण मैं आपका आश्रय नहीं छोड़ूंगा। जिस पर सद्गुरु की कृपा हो वह समस्त विद्याओं का निर्माता ब्रह्मा---बन जाता है। अपने बच्चों के मनोरथ पूर्ण करने वाली [illegible] माता! अब शीघ्र आज्ञा दें, मैं ग्रन्थ निरूपण प्रारम्भ करता हूँ।

११–१७ आगे सात दोहों में ग्रन्थ निरूपण की सफलता के लिए पुनः प्रार्थना है। हे सद्गुरु कृपादृष्टि! मेरे इस निरूपण में तू शान्त, अद्भुत आदि नव रसों के समुद्र भरता है; अलंकाररूपी रत्नों के भण्डार खुलवाता है और सरस सुबोध (गीता के) भावार्थों के [illegible] पर्वत खड़े होते हैं। प्राकृत (मराठी) भाषा की भूमि में साहित्य रूपी सुवर्ण की खानें खुलवाता है तथा आत्मानात्म-विवेकरूपी लता की बेलों के चारों ओर फैलाता है। मुझे ऐसी शक्ति दे कि प्रश्नोत्तर चर्चा के परिणाम स्वरूप सिद्धान्तों के बड़े बड़े बगीचे लग जाय, पाखण्ड की गुफाओं को तोड़ तथा वितण्डावाद के टेढ़े मेढ़े रास्तों को सीधा बनाकर कुतर्क रूपी दुष्ट हिंसक जंगली जानवरों को खदेड़ दिया जाय। हे माता! निरन्तर श्रीकृष्ण के गुणगान में मुझे तत्पर कर और श्रोताओं को ब्रह्मानन्द साम्राज्य के राज सिंहासन पर बैठा दे। इस देशी भाषा की नगरी में आत्मज्ञान का सुकाल (भरमार) कर दे, ताकि यहाँ के लोग केवल ब्रह्मानन्द का ही आपस में लेन-देन कर सुखी हो सकें। यदि तेरी कृपा के प्रेम-पूर्ण अंचल की छाया मुझे प्राप्त हो जाय तो इस ग्रन्थ-निरूपण में यह सब निर्माण मैं अभी संभव कर दूँ।

पृष्ठ दोहा

२६४ २२ तब ... फेर तब, हे प्रभु ("मेरे सगुण रूप से प्रेम करना ठीक नहीं" ऐसा कह कर) आपने अपनी कृपादृष्टि के संकेत द्वारा उस ओर से मुझे क्यों हटा दिया?

२५-२६—सगुण और निर्गुण दोनों मार्गों की मंजिल एक ही है। जो कस सौ तोले सोने का कसौटी पर उतरेगा वही उससे पृथक् किये हुए एक रत्ती के टुकड़े का भी। अतः एक-देशीय सगुण और सर्वव्यापक-निर्गुण दोनों में वस्तु की योग्यता समान है। अमृत के समुद्र में अमर बना देने की जो सामर्थ्य है वही उसकी एक चुल्लू में भी है।

२८-३२ हे योगेश्वर! मैं यह बात जानना चाहता हूं कि आपने अभी जो विश्वरूप धारण किया था वह आपका सच्चा स्वरूप था या क्षणभर की लीला मात्र? सगुणोपासक भक्त तथा निर्गुणोपासक ज्ञानयोगियों में से यथार्थ बोध किसको होता है? सगुण रूप की आराधना करने वाले भक्त अपने समस्त कर्म आपको अर्पित करते हैं और आपको ही श्रेष्ठ मानकर अपने समस्त मनोभावों को आपकी भक्ति के बदले बेच देते हैं। इस प्रकार वे आपको अपने हृदय मन्दिर में बांधकर उपासना करते हैं।

दूसरे—ज्ञानयोगी वे हैं, जो अक्षरातीत (आकार से भी परे), वैखरी वाणी से भी अवर्णनीय तथा जिसकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती ऐसे अक्षर, अव्यक्त और देश नाम रहित परब्रह्म को सोऽहंभाव—तादात्म्य—से अङ्गीकार करते हैं।

२६६ ४७ निज बगहिं अपनी सामर्थ्य से।

४६-५१ अव्यक्तोपासना या उस अक्षर, अनिर्देश्य, कूटस्थ, परब्रह्म तक पहुंचने के लिये एक-मात्र राजमार्ग हठयोग है। यहां १२ दोहों में इन्द्रिय निग्रह से लेकर कुण्डलिनी जागरण द्वारा दशम द्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र का दरवाजा हटाकर "सोऽहं" सिद्धि ('सः' के साथ "अहम्" का अभेद अनुभव करना) द्वारा उस परात्परज्योति-स्वरूप सच्चिदानन्द-मूर्ति से मिल जाने की प्रक्रिया का सुन्दर सालंकार वर्णन है:—

"जो लोग वैराग्य की प्रखर ज्वाला में समस्त विषयों की सेना को भस्म कर धैर्य से तपी हुई इन्द्रियों को वश में रखते हैं। और फिर उन्हें संयम रूपी रस्सी से बांध एवं उलटे मोड़कर (अन्तर्मुखी कर) इन्द्रियों के सब दरवाजे बन्द करके हृदय की गुफा में हठपूर्वक डाल देते हैं। आसनमुद्रा द्वारा गुदद्वार को रोककर "मूलबन्ध" का मजबूत किला तैयार

पृष्ठ दोहा

करते हैं । आशा से नाता तोड़, धैर्य से निद्रा का अंधकार दूर कर देते हैं । मूलबन्ध की प्रचण्ड अग्नि में माया मातृका की होली जलाकर रोगों के मार्ग पर पञ्चनाभी के यन्त्र फोड़ते हैं । आधार-चक्र पर कुण्डलिनी की मशाल जलाकर उसके प्रकाश से मस्तक तक की समस्त शारीरिक स्थिति को देख लेते हैं । अब कुण्डलिनी को सहस्रार की ओर अग्रसर करने के लिये जो मुख, कर्ण, नासिका, पायु और उपस्थ के नवद्वारों पर इन्द्रिय निग्रह की अर्गला या साँकल लगा देते और दशमद्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की "सुषुम्ना नाड़ी" नामक खिड़की खोल देते हैं । फिर प्राणशक्ति रूपी चामुण्डा देवी के लिये संकल्प रूपी बकरे एवं मनरूपी महिषासुर के मस्तक का बलिदान करते हैं । इड़ा और पिंगला इन दो नाड़ियों को एक २ करके अनहद नाद का जयघोष करते हुए शीघ्रता से चन्द्रमा की कला वाले पूर्णामृत सरोवर पर अधिकार कर लेते हैं । सुषुम्ना मार्ग खोलकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए अन्त में—ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचते हैं । इस दशमद्वार (ब्रह्मरन्ध्र) की सीढ़ी पार करके आकाश को बगल में दबाकर वे वीर योगी परात्पर शक्ति—ब्रह्म से जा मिलते हैं । .....
हे अर्जुन, इस बल प्रयोग या हठयोग द्वारा योगियों को व्यक्तोपासक भक्तों की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं मिलता । उल्टे उन्हें अधिक प्रयास से दुःख प्राप्त होता है ।

" २६७ ६० आश्रित नहिं निरालम्ब, आश्रयहीन ।

६६ 'अधिक क्या, हे अर्जुन, यह योग मार्ग अविवाहित स्त्री के अग्नि प्रवेश अर्थात् सती होने के सदृश निरर्थक कायापीड़न मात्र है ।

६७–६८—नहिं निमित्त इत्यादि कछु किसी मूलाधार निमित्त के बिना ॥ औसर लीलत समय पर्यन्त निगलते समय ।

७२ समर भूमि में बिना प्राण त्यागे क्या सूर्यलोक की प्राप्ति हो सकती है* ?

---

* टिप्पणी—सूर्यमण्डल भेद कर अनन्त में जा मिलने की सामर्थ्य दो ही में है — युद्ध में लड़ते हुए प्राणत्याग करने वाले योद्धा तथा परिव्राजक योगी में.—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके, सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च, रणे चाभिमुखो हतः ॥

पृष्ठ दोहा

२९८ ८१-८२—जिन्होंने प्रेम से केवल मुझ से ही लेन-देन व्यापार—करके ऐहिक एवं पारलौकिक भोग, मोक्षरूपी तीन- दिवालिया—आसामियों को छोड़ दिया है। इस प्रकार तन-मन-प्राण से एकनिष्ठ भाव से जो मेरे हाथ बिक गये हैं, हे अर्जुन, उनके एक क्या, सारे काम मैं पूरे कर देता हूं।

२९९ ९१ बाहर भीतर परिग्रह-रहित विरक्त उपासकों को मैं ध्यान के मार्ग में लगा देता हूं तथा गृहस्थों को 'नाम' रूपी नाव पर बैठा देता हूँ।

९३ नामहिं भक्त जु पशहु परि- भक्त होना चाहिये, फिर चाहे वह पशु या पक्षी ही क्यों न हो।

१११-११३ इन तीन दोहों में योगसिद्धि द्वारा संभव आकाश-गमन, सर्प-व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं का वश करना, विषभक्षण, समुद्र-गमन, वेदविद्या-पारंगत होना, आदि अलौकिक सामर्थ्य-प्राप्ति का कथन है।

३०० ११४ तो जिहि………सुपास तो तुम जैसे हो वैसे ही रहो। उसी रास्ते से चलो।

११५ तोरहु जानि मत त्यागो। स्वजाति संयोग स्वजात्यभिमान।

११६ विधि निषेध कहं पाल कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान रखते हुए। आयसु है - नहीं करने की आज्ञा है।

३०१ १२६ बुद्धि एवं कर्मों के आदि अन्त में परमात्मा को ही प्रेरक मानकर और कर्तृत्वाभिमान त्याग-कर यदि मेरा स्मरण कठिन जान पड़े तो (बुद्धि को संयम की ओर मोड़ दो)।

१३० यदि समस्त कर्मों को मुझे अर्पण कर देना तथा मुझमें अनन्य भक्ति रखना तेरे लिये संभव न हो तो भी कर्मों से आसक्ति न रख। इन्हें शून्य में ही विलीन हो जाने दे।

१३२ आहत . अभिलाष तेरे अपनी इच्छा के अनुसार बिना निष्काम (विषयेच्छा रहित) होता है।

१४४ यदि यद्यपि।

३०२ १४४ जिमि . भाव जैसे सर्वव्यापी चैतन्य अपना-पराया रूपी संकुचित भाव नहीं जानता।

३०३ १४८, १४९—इन चार दोहों में एकनिष्ठ भगवद्भक्त के लक्षण कहे गये हैं। उसमें योग्यता

पृष्ठ टीका

अंग जो पृथ्वी के समान क्षमाशील है ॥१९७॥ जिहि...... मुतान जिसके सम्पर्क से "निश्चय" को भी प्रामाणिकता मिलती है अर्थात् जिसका निश्चय अटल होता है।

२०४ १७१ जो निजानन्द (आत्मानंद) से परितृप्त हो गया है। जो मनुष्य का रूप धर कर पृथ्वी पर अवतरित ब्रह्म के समान है। और जो पूर्णता रूपी स्त्री का जन्म है।

१७४ हिमालय पापों का नाश करता है किन्तु वहां भी प्राणी तो अति दुःखी पहुंचता। सज्जनों की पवित्रता वैसी नहीं।

१७६ सरितहि भक्ति अपार परि भक्ति की धारा अपार है।

२०५ १७८ कृपामहि दोषों को। मन मल अज्ञानादि मन के दोष।

१७९ पारदर्शि......मतिमान जो अज्ञान को पचानेवाली बुद्धि से पच्छन्न परमगुह्य तत्त्वार्थ रहस्य को "पायस" की भांति जानते हैं। अर्थात् पैर में देखने की शक्ति रखने वाले मनुष्य (पायस) को जैसे भूमि गड़े समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही ज्ञान की दृष्टि से तत्त्वार्थ ओझल नहीं।

१८४ विभाग में हिस्से में।

२०७ २०८ जो नगर और वन में प्रायवृत्ति अर्थात् उदासीन वृत्ति (समभाव) से विचरण करते हैं।

२०९ भोग प्राप्त विति भौन अमानी या राग रस नामक 'आली' वियति।

२१६ अधिक क्या, शङ्कर की स्तुति से तो "अपने मुख अपनी बड़ाई होती है।"

२१९ जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से चौथे पुरुषार्थ को हाथ में ले भक्ति-मार्ग से संसार को मोक्ष बांट रहा है।

२२४ जिससे मिलने के लिये नाम रूप हीन निराकार भी मैं साकार बन जाता हूं।

२२८ आद्य से लेकर इति तक—आद्यन्त—योग का स्वरूप तुमसे कह सुनाया। हे अर्जुन, इसे श्रेष्ठ भक्तियोग जानो।



त्रयोदश अध्याय

पृष्ठ दोहा

प्रस्तुत अध्याय में ज्ञान-विज्ञान-निरूपण की पूर्णता के लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर और आत्मा के स्वरूप का विचार किया गया है। ये दोनों अज्ञानवश भले ही एक-से प्रतीत हों, किन्तु शरीर जड़, नाशवान एवं विकारयुक्त होने के कारण चेतन अविनाशी तथा विकाररहित आत्मा से सर्वथा भिन्न है। इसी विभाग को लेकर अध्याय का नाम भी "क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग" रखा गया।

३११ ८-१६—संमोह—सब ॥८॥ अघाय (बादल) बहुत बढ़ता है ॥११॥ पीक सहित—उपजाऊ। कौन अहै किसका है ॥१२॥ तर्क-जल्पना ताप तर्कशास्त्र वाचाल बना रहता है ॥१४॥ मनोज्ञता घनिष्ठ सम्बन्ध ॥१६॥

२० पाखण्डी लोग कहते हैं कि वेद निर्मूल अर्थात् आधार-रहित हैं, झूठे शब्द-जाल हैं और यदि यह बात असत्य हो तो हम शर्त लगाते हैं।

३१२ २१ कोई .....केश उन पाखण्डियों में कोई नग्न (वेदोक्त कर्ममात्र की निन्दा करने वाले नग्न दिगम्बर जैन साधु) और कोई मुंडित (शिर के बाल एक एक करके हाथ से उखाड़ फेंकने वाले श्वेताम्बर जैन साधु एवं मुंडित-मस्तक बौद्ध भिक्षु) होते हैं।

२२ २५—भीजि भांति मृत्यु में ॥२२॥ राज कैलाश का राज ॥२४॥ पैज=प्रण। लुभायक—उद्दीपक (योग साधना में बाधक) ॥२५॥

२७-७१—इन चालीस दोहों में यह क्षेत्र देह या पांचभौतिक निर्माण किसका है? कितना है?—आदि प्रश्नों पर जीववादी, प्रकृतिवादी, संकल्पवादी, स्वभाववादी और कालवादी इन पांच परस्पर विरोधी मतों का अनुवाद करके अन्त में यही बताया गया कि इस दिशा में ऋषि मुनि, वेद तथा दूरदर्शी महाकवियों तक ने अपनी विलक्षण प्रतिभाशालिनी बुद्धि का जोर आजमाया, किन्तु आज तक यह तत्त्व किसी के हाथ न लगा:—

एक—जीववादी ॥२७॥ भाई चार प्राण, अपान, उदान और समान नामक चार वायु ॥२८॥ इन्द्रिय वृषभ युग कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय रूपी दो बैलों की जोड़ी। आठ पहरे मेहनत करता है ॥२९॥ पीक उत्पन्न होते हैं ॥३१॥ विधि—शास्त्र विहित ॥३२॥

पृष्ठ टीका

(१) अपर प्रकृतिवादी ॥२३॥...... [illegible] प्रकृति को मूल प्रकृति* कहकर पुकारता है, [illegible] और प्रकृति के इस घर में [illegible] प्रकृति अपना खेल स्वयं खेलती है ॥२४-२५॥ [illegible] तैयार किया जाता है और [illegible] फसल की खुदाई (दाहनी) होती है।

(२) एक मतियन्त [illegible] संकल्प "एकोऽहं बहु स्याम्" रूपी [illegible] अनेक होने की [illegible] चार भांति [illegible] उद्भिज और जरायुज ये चार प्रकार के [illegible] कारण [illegible] जन्म-मरण रूपी [illegible] तैयार कर दी है ॥२८॥

(४) अपर [illegible] ॥२९॥

(५) अपर [illegible] ॥३०॥

निरखि... ....अति शुद्ध ज्ञानदृष्टि में अत्यन्त पवित्र [illegible] वैसा ॥३१॥ जिस [illegible] वैसा है ॥३२॥

३९४ ५ [illegible] पाँच महाभूत । अहं अहंकार ।

७६-१६०—इस क्षेत्र के निर्माण में प्रकृति के ३६ [illegible] का हाथ है । ये ३६ [illegible] हैं

* टिप्पणी [illegible] मूल प्रकृति कहा गया है

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सांख्यकारिका ३)

मूल प्रकृति विकार रहित है, महत्तत्व, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ [illegible] पंच महाभूतों के कारण तथा मूल प्रकृति के कार्य होने से प्रकृति और विकृति दोनों हैं। [illegible] इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत कुल सोलह विकार या विकृति हैं, किन्तु चेतन पुरुष [illegible] न प्रकृति है, न विकृति ।

१३ दोहा

५—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पांच महाभूत; ६—अहंकार ७ बुद्धि, ८—अव्यक्त अर्थात प्रकृति ९–१८—आंख, कान, नासिका, त्वचा और जिह्वा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और वाणी, हाथ, पैर, पायु एवं उपस्थ नामक पांच कर्मेन्द्रियां १९–मन, २०–२९— रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के और चलना-बोलना सूंघना लेना देना और मल-मूत्र का त्याग करना ये पांच कर्मेन्द्रियों के विषय, ३०—विषयों में प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाली मनोवृत्ति—इच्छा ३१—द्वेष, ३२—सुख, ३३—दुःख ३४ जड़ को चेतन में परिणत करने वाली साक्षिभूत ज्ञान-शक्ति - चेतना ३५—परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पांच महाभूत जिस धारणा शक्ति द्वारा शरीर में एकत्र रहते हैं वह—धृति और ३६- इन तत्त्वों का बना स्थूल शरीर संघात।

उपरोक्त छत्तीस तत्त्वों का स्वरूप ही आगे (७४ १६०) स्पष्ट किया गया है—

चन्द्रग्रहण वाले मान चन्द्रमा गुप्त रूप से छिपा रहता है ॥७७॥ अवसर निमित्त निहार अवसर की राह देखता रहता है ॥८०॥ पंच महाभूतों के मिलने पर (पंचीकृत अवस्था के प्रकट होते ही) ज्यों ही शरीर का आकार प्रकट होता है त्यों ही जो इसे घर्द्दु और नचाने लगता है (कर्म प्रवृत्त करता है) उस तत्त्व का नाम है—अहंकार ॥८१॥ लूट लो प्राप्ति का ॥८४॥ विकार पाप ॥८६॥ ज्ञान तत्त्व की प्राप्ति—ज्ञानेन्द्रियों का गुण है। निरवाधि निर्विवाद ॥८८॥ उभय प्रकार परा अपरा प्रकृति के रूप में ॥९१॥ अपर परा प्रकृति ॥९२॥ आश्रये स्खलित हो जाते हैं ॥९३॥ वैसे ही हे अर्जुन, जिस तत्त्व में पंच महाभूत अपने प्राणि समुदाय सहित स्थूल भाव छोड़कर सूक्ष्म रूप से प्रवेश कर जाते हैं (उसका नाम है अव्यक्त) ॥९५॥ पाचवु इन्द्रिय पांचवी इन्द्रिय—रसना ॥९८॥ इन ज्ञानेन्द्रिय रूपी पांचों तत्त्वों के मिलाप द्वारा बुद्धि सुख-दुःख का विचार करती है ॥९९॥ अध द्वार गुदा। शिश्न गुह्येन्द्रिय ॥१००॥ एकहि.. निरधार—एक ही जो वायु-तत्त्व (मन) स्थान भेद से—पांच प्राण और पांच उपप्राण रूप से—दश प्रकार का हो जाता है ॥१०६॥ गा ल्हं.. नान इन पांचों मार्गों से क्रिया बाहर दौड़ती है (क्रिया के सब व्यवहार चलते हैं) ॥१२०॥ वृत्ति मनक व्यापार ॥१२४॥ अब जिसे सुख कहते हैं, उसे देखा जावे, जिस एक के मिलने पर जीव सब कुछ भूल जाता है ॥१२७॥

पृष्ठ   दोहा

जिससे लाभ की यह अवस्था प्राप्त नहीं होती हे अर्जुन, [illegible] ॥१२३॥ आदि न [illegible] जैसे राजा अपने कुटुम्ब (राज्य कर्मचारी तथा सैनिक वर्ग) का व्यक्तिश नहीं जानता, किन्तु उसकी आज्ञा ही [illegible] है ॥१२३॥ [illegible] स्वभाव= पाँचों महाभूतों का परस्पर [illegible] विशेष [illegible] है ॥१४३॥

२१८ द्वैत [illegible] ॥१४७॥ [illegible] ॥१४८॥ [illegible] ([illegible]) इसी भौतिक [illegible] (खेत) में पाप और पुण्य [illegible] (विकार) होते हैं ॥१४९॥

२१९ १६१–१८४ –इन चौबीस दोहों में उस उत्तम ज्ञान की बात कही गई है [illegible], ऋषि मुनि वेदपाठी सतत प्रयत्नशील रहते हैं और जो [illegible] है। इसका वर्णन शब्दों में अशक्य है। यह अनुभव से ही जाना जा सकता है। यद्यपि इसका [illegible] प्रत्यक्ष दर्शन संभव नहीं तथापि जब यह [illegible] ज्ञान [illegible] शरीर में प्रवेश करता है तब इन्द्रियों के व्यापारों द्वारा इसके लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। ये लक्षण आगे श्लोक सं० ७ में कहे गये हैं। यह (१६१–१८४) ज्ञान का [illegible] स्वरूप है।

जिस ज्ञान के कारण योगीजन स्वर्ग के [illegible] [illegible] पार कर ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर आकाश को निगलते हैं (भावाभाव विनिर्मुक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं।) ॥१६०॥

१७६ जीव बुधिहिं... आदि जिसकी [illegible] को पाकर आत्मा—[illegible] 'बुद्धि' [illegible] की बीमारी लगी हुई है—रोग से छुटकारा पाकर स्वस्थ हो जाता है। [illegible]।

२२० १८६–८७—(ज्ञानी के लक्षणों का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं) जो अपने में गुण हैं उनकी चर्चा होने पर, या संसार उसका सम्मान करे [illegible], अथवा किसी विशेष रूप की योग्यता का अपने साथ [illegible] जुड़ना [illegible] तो इस प्रकार [illegible] लगता है कि जैसे व्याध के जाल में फँसा हुआ हिरण छटपटाता है या [illegible] में तैरता हुआ व्यक्ति (थककर) घबड़ा जाया करता है।

१८८ सांसत=कष्ट।

१९२ कहँ=को। सहार=सौंप कर देता है। भोलिपन=पागलपन।

१९७ की=कि। काढ़ि=प्राप्त करके।

पृष्ठ दोहा

३२१ २०४ पगहा पाँव में बाँधने की रस्सी। जिमि गनिका प्रति जार = जैसे वेश्या जार से अपनी आयु छिपाती है।

२०८ जन रंजन नहिं सोधि = जो लोगों की खुशामद नहीं करता।

२१४ अंग घन बादल का शरीर।

३२२ २२२ कारण कारण बतलाया जाता है कि...

२२५ हतनु -हिंसा।

२३२ कुंजर हाथी। लागि मैल।

२३८ कहि अब . .. हित ज्यों ही मैंने अहिंसा का वर्णन करने का विचार किया त्यों ही मन में इच्छा हुई कि (इस प्रसंग में) अन्य सब मतों (के विचार) का भी वर्णन करूं।

३२३ २५८ झूलत लाँघता है।

२६१ जिसकी चाल में इस प्रकार दयारूपी फल फूल लगते हैं और जिसकी वाणी साक्षात् दया की मूर्ति है।

२६२ नैहर पितृ-गृह, उत्पत्ति-स्थान। अंकुर...निहार दाँत ऐसे दिखाई देते हैं मानो मधुरता के अंकुर निकल आये हैं।

२६४ शक न चले--किसी को (मेरे वचन से) सन्देह न उत्पन्न हो या मेरी बात दिल में न चुभ जाय।

३२४ २७२ ठगिहार प्रतारणा, छल। पैज प्रतिज्ञा। आश आशा।

२७६ इकतार एक साथ एकटक।

२८७ परि लेकिन। आदि पहिले तो। तो अभ्यास .. ..अभग तो जिसके हाथों को जुड़ जाने के अतिरिक्त और दूसरा अभ्यास नहीं होता।

३२५ २९२ अर्थ के शब्द अपक्ष को छोड़कर कह सकते हैं कि जिसके हाथ ऐसे ही होते हैं जैसे शील स्वभाव वाले सज्जन होते हैं।

२९४ आन दूसरा, अन्य। सुबंधु अच्छे भाई।

२९६ बहिरंग बाहरी रूप, स्थूल रूप। फेर = फे।

३०२ उगम = उद्गम, स्रोत।

पृष्ठ दोहा

२०६ इसलिये उस समय इन्द्रियाँ मन की पूँजी के बल पर ऐसा व्यापार करती हैं, [illegible] 'परम अहिंसा' कहा जाता है। अर्थात् वे अहिंसा रूपी व्यापार चलाती हैं।

३२६ २१६ नेहहिं प्रेम की। सुख के पिआसो, पुनि पूरित।

२१७ निरधार निश्चय ही। परि [illegible]।

२१८ मत आसर दूसरे मत। मलिन [illegible]।

२२० यदि कोई जौहरियों के गाँव में जाय तो उसे चाहिये कि (अपने रत्नों की अच्छाई का प्रमाण देने के लिये) वहाँ शालिग्राम शिला (अर्थात् वह पत्थर जिस पर घिसकर सोना आदि परखा जाता है, कसौटी) उनके सामने रक्खे। वहाँ स्फटिक शिला (एक बहुमूल्य पत्थर) की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि [illegible] अन्य मतों में अहिंसा का क्या स्थान है यह नहीं जाना जा सकता।

२२१ जिमि . . विमान जहाँ कपूर [illegible] पर बना [illegible]।

२२५ यदि (किसी ज्ञान को ग्रहण करने के समय) उस ज्ञान [illegible] रूपी पूजा से मलिन हो जाय या [illegible] सावधानता [illegible] नहीं जाती है। अर्थात् जो कुछ कहा जा रहा है उसके विषय में यदि यह सन्देह उत्पन्न हो जाय कि "शायद यह गलत हो?" तो हमारा मन फिर उस ध्यान में नहीं लगता।

२३१ जब आप श्रोता लोग अपना सर्वस्व (सम्पूर्ण ध्यान) देंगे तभी आप इस गीता ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे। तब मेरा यह कथन कि यह (गीता ज्ञानेश्वरी) एक सामान्य ग्रन्थ ही नहीं है' (किन्तु जिज्ञासु ज्ञानी जनों की धरोहर है) सत्य हो हो जायगा।

३२७ २३६ ३७—यदि खाते समय ग्रास में कंकर आजाये तो उसे थूकना पड़ता है और उसमें समय भी लगता है परन्तु यह समय-नाश दोष नहीं, क्योंकि कंकर तो थूकना ही चाहिये। ऐसे ही यदि अपना पुत्र (घर आते हुए मार्ग में) चोरों से घिर जाय और घर आने में [illegible] विलम्ब हो जाय, तो माता को पुत्र पर क्रोध न करना चाहिये किन्तु उस पर राई नोन उतारना चाहिये।

२४२ कहँ = को।

२४५ जिस प्रकार भले और बुरे सभी प्रकार के प्राणियों में रहने में प्राण-तत्त्व समान व्यवहार

पृष्ठ दोहा

करता है अर्थात् सभी में समान रूप से रहता है, वैसे ही जिस गुण के कारण सब से समान रूप से बर्ताव किया जाय उसे 'सरलता' या 'आर्जव' कहते हैं।

३२८ ४५४–६८—तक के इन दोहों में विविध प्रकार से आर्जव (सरलता) का ही निरूपण है :—

जिस प्रकार अच्छे और बुरे व्यवहार में प्राण समान रूप से रहता है, (अच्छा और बुरा काम करने वाले प्राणों में प्राण-वायु बिना किसी भेदभाव के रहता है) उसी प्रकार सरलता सब के लिए अनुकूल है ॥२५५॥ राग—रागी सम्बन्धी ॥२५८॥ नैहर—उत्पत्ति स्थान ॥२६७॥

३२८ ४५८ इन दोहों में श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने 'गुरु भक्ति' तथा गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा और प्रेम रखने वाले शिष्य की भावनाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है :—

३२९ गिरवहिं रस्सी ॥२७०॥ आखर क्षुद्र जलाशय ॥२८१॥ पखार धाम ॥२८४॥ जो ज्ञानरूपी सुगंध के उत्पन्न होते ही बुद्धिरूपी अंजलि में शुद्ध सात्त्विक भाव के फूल लेकर शिवरूपी गुरुमूर्ति पर लाखों बार चढ़ाता है ॥२८८॥

अथवा जो अन्तःकरण रूपी शय्या पर गुरु को पति मानकर भोगता है। इस प्रकार जिसकी बुद्धि गुरु प्रेम से पूर्ण रहती है, कभी प्रेम का वियोग नहीं सहती। अथवा जो किसी समय अन्तःकरण में विद्यमान गुरु प्रेम को क्षीर सागर मानकर ध्येय अर्थात् गुरु के ध्यानरूपी सुख का निर्मल शेषशय्या बना गुरु को वहाँ भगवान् विष्णु के रूप में देखता है। ऐसे समय में जो स्वयं को भगवान् के चरण दबाने वाली लक्ष्मी, और कभी अपने को गरुड़ बनाकर भगवान् के समीप खड़ा रहता है तथा भगवान् विष्णु की नाभि से जन्म लेने वाला ब्रह्मा भी अपने को ही मानता है, इस प्रकार जो गुरु प्रेमवश ध्यान में ही सुख का अनुभव करता है ॥२९१-२९४॥

३३० जो अपनी सेवावृत्ति को पौधा समझता है और गुरु कृपा को अमृतरूपी वर्षा मानता है जिसके मन में ऐसी ही कल्पनाएं उठती हैं ॥३९९॥ पीला—चिड़िया का बच्चा ॥४०७॥ भोला—भोलापन ॥४१४॥

३३१ इस तरह जीते जी और मरने पर भी मैं कभी गुरुसेवा से भिन्न अर्थात् अलग न रहूँगा। क्षण भर भी दूसरे को गुरु की सेवा में न लगाकर कल्प २ पर्यन्त उनको अपनी सेवा के आधीन रखूँगा ॥४२३॥

पृष्ठ दोहा

५२२ ४४४ जो गुरु के कुल के कारण ही कुलीन है और गुरु भाइयों की प्रीति से सज्जन बना है, ऐसा पुरुष ज्ञान की शोभा है, सम्यक्ज्ञान का भण्डार है, यही देखता है और ज्ञान उस नित्य सुखी पुरुष का भक्त बन कर रहता है। करलून हाथों से लूना ॥४५॥

४६२-८४ इन २२ दोहों में शुचिता अर्थात पवित्रता का वर्णन किया गया है :—

शुचिता से पूर्ण वह व्यक्ति है जिसका अन्तर और बाह्य कपूर की तरह, या निर्मल रत्न की तरह अथवा सूर्य के प्रकाश की भांति सब ओर से स्वच्छ ही स्वच्छ है। उसका बाह्यरूप शुभ कर्मों से निर्मल होता है और हृदय ज्ञान के प्रकाश से स्वच्छ हो जाता है, फलतः दोनों ओर से शुद्ध होता है ॥४६२-६४॥ ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि के बिना निरी बाह्य-शुद्धि ऐसी ही है जैसे लाश का शृङ्गार करना, गधे को गंगा स्नान कराना, कड़वी तुम्बी पर गुड़ लपेटना, उपवासी (निराहार व्रती) को अन्न से ढक देना, उजड़े घर पर बन्दनवार बांधना, विधवा की मांग में सिन्दूर रचाना, मिट्टी के बर्तन पर किसी धातु का मुलम्मा चढ़ाना और भुस की तस्वीर में लिखे हुए फलों की भेंट करना ॥४६६-७१॥ ज्ञान कर्मे... . नरराय, हे अर्जुन, किन्तु ज्ञान एवं कर्म दोनों से उत्पन्न होने वाली पवित्रता देवताओं के लिये भी दुर्लभ है ॥४७३॥

५२३ मृषा—मिथ्या ॥४७७॥ अधिक क्या कहें जैसे स्त्री जिस शरीर से पति का आलिंगन करती है उसी से पुत्र का भी आलिंगन करती है, परन्तु पुत्रभाव होने के कारण उसके मन अर्थात पुत्र प्रेम में काम का प्रवेश नहीं होता। जिसका हृदय सदा शुद्ध रहता है; जो ऊंच नीच को समझता है, भले और बुरे का सर्वदा विचार करता है, वह पुरुष 'शुचि' है ॥४८१-८२॥

५२४ ४८५-५००—इन दोनों में क्रम प्राप्त "स्थैर्य" अर्थात निश्चलता का वर्णन किया गया है :—

जैसे गाय का प्रेम अपने बछड़े में होता है, वन में जाने पर भी वह प्रेम वन में नहीं जाता, सती का प्रेम चितारोहण तक स्थिर रहता है केवल प्राणों के साथ समाप्त नहीं होता, लोभी दूर चला जाय पर मन धन में ही पड़ा रहता है वैसे ही देह के चलने से भी स्थिर पुरुष का चित्त चंचल नहीं होता ॥४८७-८८॥ धाराधर—बादल ॥४८६॥

५५ दोहा

"हे अर्जुन, जैसे राहगीरों के चलने पर रास्ता नहीं चलता। अथवा जैसे वृक्ष कभी अपनी जगह से विचलित नहीं होते, उसी प्रकार इस पांचभौतिक तथा चलायमान शरीर में रहकर भी, स्थिरतायुक्त पुरुष का मन क्षुधादि भौतिक विकारों की लहरों से कदापि विचलित नहीं होता ॥४६०-४६१॥

५०१-१२—तक के पदों में विविध दृष्टान्तों द्वारा आत्म-विनिग्रह के लक्षण बताये हैं :—

हे अर्जुन, जो इस प्रकार (स्थैर्य द्वारा) अंतःकरण को यत्नपूर्वक वश में रखता है, तथा इसे इन्द्रियों के द्वार तक इस डर से नहीं जाने देता कि "कहीं काम रूपी हौवा इसके विषय में सुन न ले।" या आशा रूपी पिशाचिनी यदि इसे देख लेगी तो इस पर आ झपटेगी"—अपने जाल में फांस लेगी ॥५०४-५०५॥

जो शरीर में मनरूपी महाद्वार पर प्रत्याहार की चौकी बैठाकर सर्वथा शम-दम रूपी पहरेदारों से पहरा दिलाता है। मूलाधार में, नाभिमें और कण्ठ में वज्रासन, उड्डियान और जलन्धरबन्ध नामक तीनों बन्ध बांधकर चित्त को इड़ा पिंगला के सान्निध्य में स्थापित करता है। ध्यान उसकी समाधि शय्या के पास बंधा पड़ा रहता है। ऐसे पुरुष का चित्त चैतन्य आत्मा से मिलकर एकरस हो जाता है—विद्वान लोग ऐसा कहते हैं ॥५०८-११॥

३३५ ५१५ शारदूल व्याघ्र।

३३६ ५२५-३५- इन ग्यारह दोहों में अनहंकार (अहंकार न करना) का वर्णन है :—

"(अच्छे से अच्छे प्रशंसनीय कर्म करते हुए भी) "मैंने यह कार्य किया है, अथवा यह कार्य मेरे कारण सिद्ध हुआ है ऐसी वासना या भाव जिसके हृदय में नहीं उठते। जैसे वायु सहज ही सर्वत्र घूमती है; सूर्य जैसे निरभिमान स्वतः प्रकाश करता है; श्रुति (वेद) जैसे स्वभावतः बोलती है; गंगा जैसे निष्कारण बहती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, ज्ञानी पुरुष का आचरण अभिमान शून्य—कार्य में स्वतः प्रवृत्ति वाला—होता है। वृक्ष ऋतुकाल में फलते-फूलते हैं पर यह नहीं जानते कि हम फल रहे हैं। ज्ञानी के चित्त की वृत्ति भी इसी प्रकार कर्म में रत रहती है ॥५२७-५३०॥

"शराबी को जैसे वस्त्र की सुधि नहीं रहती; चित्र के योद्धा के हाथ का शस्त्र एवं बैल पर लदा शास्त्र जैसे निरर्थक हैं, उसी प्रकार निरभिमानी व्यक्ति द्वारा किया गया कर्म

पृष्ठ दोहा

भी उसके लिए प्रयोजन कौन होता है।" [illegible], जब [illegible] हुए भी अपनी सत्ता का भान नहीं रहता कि "मैं हूँ", [illegible] माना जाता है ॥४३३–३४॥

५३६ ६२—इन ४६ पद्यों में जन्म, मृत्यु, रोग, बुढ़ापा आदि [illegible] ज्ञानी का इन में पहले ही दोष देखकर सावधान होना बताया गया है

जिस प्रकार [illegible] ([illegible]) [illegible] ठीक जांच कर [illegible] विशेष का ज्ञान होता है ॥४३५–३६॥ [illegible] मानो कोई [illegible] अथवा पुत्र बाप के बैर का बदला लेने के लिये [illegible] ॥४[illegible]॥

ज्ञानी पुरुष जन्म-मृत्यु रूपी दुःख के [illegible] से पूर्व ही [illegible] सावधान रहता है। "[illegible] जैसे नदी के [illegible] ([illegible]) [illegible] होता है और तब उस जल की गहराई का कोई भय नहीं रहता। [illegible] का उपाय आज ही कर लिया जाता है। युद्ध में [illegible] पूर्व ही [illegible] लगाते हैं। प्राण निकलने से पूर्व ही [illegible] घाव, भाला, [illegible] व्यर्थ नहीं है? [illegible] जैसे [illegible] भांति जान बूझकर संसार सागर में आ डूबता है, वह तो व्यर्थ में ही जान देता है। उसके लिये कौन क्या करेगा ?" ॥४४६–४४७॥ [illegible] ॥४६०॥ [illegible] ॥४६१॥ (बुढ़ापा आने पर) [illegible] जैसे [illegible] ॥४६३॥ [illegible] ॥४६४॥

५३८ "रात में आदमी की [illegible] और कहेंगे, "यह बूढ़ा [illegible] ऐसा है।" ॥४७४॥ "जब ऐसी बुरी दशा आवेगी तब [illegible] न रह सकेगा। अतः वह दूरदर्शी ज्ञानी पुरुष बुढ़ापा आने से पूर्व ही आत्मज्ञान को [illegible] करता है ॥४८१॥ वृद्धावस्था के आते ही सारा [illegible] व्यर्थ हो जाता है। फिर भी [illegible] नहीं [illegible] कि उस व्यक्ति को लोग "शतायु"—सौ वर्ष का [illegible]—क्यों कहते हैं।

पृष्ठ दोहा

जो पहले ही बुढ़ापे का स्मरण कर तरुणावस्था के वश में नहीं होता उसमें ज्ञान अवश्य है, ऐसा समझो ॥४८७॥ ज्ञानी पुरुष जिस जिस ओर से पाप शिर उठाते प्रतीत होते हैं उन्हीं २ कर्मेन्द्रियों के छिद्र में नियम रूपी पत्थर रख देते हैं" ॥५६१॥

३३९ ५९७—और जो अपने से उत्पन्न हुई सन्तान को ऐसे समझता है जैसे प्रवासी हों या बहुत से पशु किसी पेड़ के नीचे एकत्रित होकर बैठे हों।

६०२—जैसे तीनों काल में (प्रातः, मध्याह्न, सायं) सूर्य तीन प्रकार का नहीं होता किन्तु एक ही होता है। इसी प्रकार सुख-दुःख आदि विकारों के आने पर भी जिसका चित्त एक ही प्रकार का रहता है।

३४० ६०४-११ तक के पद्यों में विविध उदाहरणों द्वारा अनन्य-भक्ति की व्याख्या की गई है:—

'अनन्य भक्त वह है जो शरीर, मन और वाणी से प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी को उत्तम मानकर नहीं भजता, जिसे संसार में प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई नहीं देता, जो पतिव्रता स्त्री की तरह निश्शंक भाव से प्रभु के चरणों में पहुँचने में नहीं सकुचाता, समुद्र में मिलने वाली गंगा की भाँति जो भगवान से मिला रहता है अथवा जो सूर्य की प्रभा (चमक) की भाँति सदा प्रभु से संयुक्त रहता है। हवा के बहने से भूमिगत जल में हलचल उत्पन्न होती है, और संसार में उसे 'तरंग' नाम से पुकारा जाता है पर वस्तुतः वह जैसे 'पानी' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार लोगों की दृष्टि में भिन्न भिन्न २ नामों वाला होने पर भी जो सर्वथा शुद्ध बुद्ध चैतन्य आत्मा ही बना रहता है।

३४१ ६२१ जैसे २ ज्ञान की वृद्धि हो वैसे ही वैसे जिसकी बुद्धि बढ़ती जाती है, वह ज्ञान-स्वरूप है इस बात का शब्दों से वर्णन नहीं किया जा सकता।

६३४ श्री ज्ञानेश्वर द्वारा ज्ञान के विस्तृत वर्णन को सुनकर श्रोताओं ने कहा कि अब अधिक विस्तार को रहने दो, आप विस्तार करके व्यर्थ ही ग्रन्थ के प्रसंग में रुकावट डाल रहे हो।

६३६ जिनकी बुद्धि ज्ञान के विषय में विकसित नहीं हुई है वे अन्य वर्णन में व्यर्थ की कल्पना करते हैं परन्तु महाराज, आपका कथन तो नितान्त उत्तम है।

३४२ ६४४-४७ यदि कोई श्रीमान् पाहुना घर आवे और भोजन परोसने वाली सुगृहिणी हो तो मन में ऐसा लगता है कि अभी भोजन पूर्ण नहीं हुआ (अर्थात खाते २ तृप्ति नहीं होती) इसी

पृष्ठ दोहा

प्रकार जैसा ही रुचिकर तो ज्ञान का प्रसंग था और वैसे ही आप सदृश ज्ञानानुरागी श्रोता मिल गए तो यहाँ भी पूरी नहीं स्थिति हो गई।

६४६ नहीं कहत नहि जाहि लखि = आपके द्वारा वर्णन को सुनकर 'नहीं' नहीं कहा जाता।

६५३ से ७५३ तक के पदों में 'अज्ञान' का विस्तार से निरूपण किया गया है। यद्यपि अबतक बताए गये "अमानित्व" आदि ज्ञान के १८ लक्षणों की उल्टी स्थिति का नाम ही 'अज्ञान' है, तथापि ज्ञान को भली प्रकार जानने के लिये अज्ञान के स्वरूप से भी परिचित होना आवश्यक है :—

५४२ ६५९-६६०—"जो स्वधर्म रूपी डोर से यज्ञरूपी पीपल की वंदनवार बांधता है (स्वकृत धर्म की डींग दूसरों के सामने हांकता है) और जैसे मन्दिर के द्वार पर जान बूझकर झाड़ू (झाड़ू) खड़ी करके रख दी गई हो वैसे ही यह विद्या का प्रचार करता है, अपने पुण्य का ढिंढोरा पीटता है और अपनी प्रसिद्धि के लिये ही सत्कर्म करता है।"

५४३ ६७१ गार सेवारहि तें लिपिन = शैवाल से लिपटा सफेद पत्थर।

६८२-६८४—"नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान का अवसर चूक जाने पर भी जिसके मन में दुःख नहीं होता; जो पापाचरण में रत रहता है; पुण्यकर्मों से जी चुराता है, जिसके मन में संकल्प-विकल्प का प्रबल वेग उठता रहता है और जो आशाओं पर धनाशा का पहरा लगाए रहता है, उसे अज्ञान का पुतला समझो।'

६९४ जिस प्रकार नाले में आई बाढ़ रेत के बांध की परवाह नहीं करती उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष शास्त्रविहित कर्मों के विपरीत आचरण से भय नहीं खाता।"

६९५ नाकि = लांघते हैं।

६९६-७००—अन्धा हाथी जैसे पागल हो जाए, अथवा वन में जैसे दावाग्नि लगे, वैसे ही जिसका चित्त विषयों में निर्बाध घूमता है। वन में, कहो, कौन नहीं चलता? घूरे पर क्या कुछ नहीं फेंका जाता? और नगर के दरवाजे की देहली को कौन नहीं लांघता? अर्थात् जिसके विवेकशून्य चित्त में विषयों का बेरोक-टोक प्रवेश है, उसे अज्ञान का भंडार जानो।

७०४ अरु नहाय..... सुजान = जो संसार से विरक्त पुरुष का मुख देखकर सचैल स्नान करता है। अर्थात् विरक्त साधु पुरुषों से घृणा करता है।

पृष्ठ दोहा

७०८ भाग--दौड़ते २।

२४५ ७१० १२—जो बचपन में माता-पिता के प्रेम में भूला रहता है; युवावस्था आने पर उसे भुलाकर स्त्री के शारीरिक प्रेम में बेसुध हो जाता है, स्त्री उपभोग के अनन्तर बुढ़ापा आ जाने पर वही प्रेमभाव उत्पन्न हुए बालकों में फँसा देता है और अंधे सांप की भांति सदा घर बाल-बच्चों के प्रेम में पड़ा रहता है, तथा जन्म से मृत्यु पर्यन्त जिसकी विषयों में रुचि समाप्त नहीं होती।

७१६ उतान ऐंठकर, शिर ऊंचा करके।

७१६ आँत अंतःकरण।

७२३ ज्यों औषधि ...... कुपाथ जैसे दवाई के नाम से भी दूध पी लेने पर नया बुखार कुपित हो जाता है।

७३१ ३२—जिस प्रकार मेंढक सांप के मुख में चला जाय परन्तु मक्खियों को निगलना फिर भी नहीं भूलता। उसी प्रकार नयों द्वार बह रहे हैं और शरीर के अंग क्षीण होते जा रहे हैं फिर भी जो विषयों की ओर झपटता है। इस दयनीय अवस्था को देखकर भी आश्चर्य है, कि उसके हृदय में चिन्ता क्यों नहीं होती?

२४६ ७३४ हींक घृणा।

७३८ जिसको जीवन पर पूरा भरोसा है और मन में कभी यह विश्वास नहीं करता कि संसार में 'मृत्यु' नामक कोई वस्तु भी रहती है।

७३९ ४२- मछली जैसे थोड़े जल वाले जलाशय को कभी न सूखने वाला समझती है, मृग जैसे व्याध के गान को सुनता है पर व्याध को नहीं देखता, मछली मांस के टुकड़े को ही देखती है, वंशी के कांटे को नहीं, पतंगे दीपक की चमक को ही देखते हैं अपनी मृत्यु को नहीं; मूर्ख आग लगे घर को नहीं देखता अपनी नींद की ही फिकर करता है, जहर मिले अन्न को खाते हुए जैसे कोई व्यक्ति उसके स्वाद को ही देखता है परिणाम को नहीं, वैसे ही जीवन के बहाने मृत्यु ही उसके सामने आई हुई रहती है, परन्तु राजस सुख में भूला हुआ अज्ञानी पुरुष उसे नहीं जान पाता।

ग दोहा

७५० [illegible] शरीर का [illegible] (शरीर का) [illegible] होता है ([illegible] हुए) [illegible] में [illegible] है ([illegible] है) ।

७५१ [illegible] [illegible] होती और [illegible] नहीं [illegible] ।

३४७ ७५७ [illegible] पर [illegible] गिरती हुई [illegible] गिरता हुआ [illegible] नहीं [illegible] । इसी प्रकार [illegible] नहीं देखता ।

७५८ [illegible] ([illegible]) [illegible] है । [illegible]

७६० [illegible] है ।

७६४ [illegible] ... ... [illegible] यदि [illegible] है ।

७६५-६६ [illegible] हो जाता है. इसी प्रकार [illegible] मनुष्य [illegible] हो जाता है ।

३४८ ७८० उसकी संगति को पाकर संसार में अज्ञान खूब फैलता है और [illegible] होकर [illegible] के संग भी घूमने लगता है ।

७८२ जो सब तरह से स्त्री को प्रसन्न रखता है [illegible] प्रसन्नता के [illegible] की कोई चिन्ता है और न [illegible] की ही ।

७८५ गोत [illegible] भाई बन्धु को ।

३४९ ८०० "यदि स्त्री को कोई आंख उठाकर देखे (नाराज हो) या उसका विरोध करे तो युग ही डूब जायगा"—ऐसा जिसका विचार रहता है ।

८०१ जैसे [illegible] के [illegible] हो जाने के डर से नागों की शरण नहीं [illegible] जाती [illegible] ही [illegible]

पद्य भाषा

([illegible]) [illegible] करता है और उससे जरा भी विपरीत [illegible]।

[illegible] करता ऐसा [illegible]।

[illegible]

[illegible] क्योंकि यह आकार-स्वरूप [illegible] उत्पन्न [illegible] आकार ज्ञान आगे [illegible] है।

[illegible] के पंखों पर [illegible] आयु के बिना शरीर के उत्तम [illegible] के बिना [illegible]।

५४१ [illegible] जानता है कि मानो अज्ञान के पुतले हैं और उससे जो पुण्य [illegible] अज्ञान ही है।

[illegible]।

[illegible] क्योंकि उसके साथ [illegible] है, ([illegible] आवश्यकता नहीं होती) इसी प्रकार ज्ञान निरूपण के प्रसंग में यहाँ अज्ञान का [illegible] हो गया।"

[illegible] विस्तृत वर्णन करने के कारण [illegible] पर इस प्रकार [illegible] श्रोताओं ने कहा "ठहरो [illegible], [illegible] परिहार [illegible] कर रहे हो, आप व्यर्थ ही [illegible] हो।

[illegible] "[illegible], [illegible] ये जो [illegible] बताए हैं इन्हें अज्ञान के समस्त [illegible]। इस अज्ञान-विभाग की ओर पीठ फेर कर ज्ञान के विषय में भली भाँति [illegible]

पृष्ठ दोहा

निश्चयी बनना चाहिये। और तब इस निर्मल ज्ञान द्वारा ज्ञेय-वस्तु (ब्रह्म) से भेंट होगी। यह सुन अर्जुन के हृदय में उस "ज्ञेयवस्तु" को जान लेने की आशा का उदय हुआ।"

६५२ ८६९ उस ब्रह्म को यदि कहा जाय 'नहीं' है तो विश्व के इतने बड़े आकार को देखकर उसका होना मानना पड़ता है और यदि इस संसार को ही ब्रह्म कहें तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि संसार तो वास्तव में माया रूप है।

८७१ फुर सच।

८७२ याहनु न याहनु वखान कथन। हे परमवीर अर्जुन। जिसके विषय में 'यह है' या 'यह नहीं है' कहने वाली वाणी ही गूंगी हो जाती है।

८७३ घट सराव आकार पृथ्वी ही घड़ा सुराही आदि के आकार में रहती है।

८७४ भूल सूक्ष्म की सब क्रिया समस्त शारीरिक एवं मानसिक व्यापार। आसन स्थित हैं।

६५३ ८७६ आहैं है। विश्व आंति सब ओर पांव वाले (भगवान)।

८८० अग्नि के समान जिसका सारा शरीर ही मुख है। जो अग्नि के समान ही सब प्रकार से अखिल विश्व का उपभोग करता है। इसीलिये जिस ब्रह्म की यह अखिल व्यवस्था है उसे श्रुतियों में 'विश्वमुख' यह सुन्दर नाम दिया गया है।

८८३ आग्रहु तत्र यहां भी, वहां भी।

८८५ वारताः चर्चा।

८८६–८७—एक लहर दूसरी लहर को निगलती हुई दिखाई देती है पर क्या ग्रसने वाली और ग्रसी जाने वाली लहर भिन्न २ हैं? इसी प्रकार जो यथार्थ में एक ब्रह्म है उसमें व्याप्य और व्यापक भाव क्या सम्भव है? वस्तुतः नहीं, परन्तु श्रुति वर के लिये दूसरे को समझाने के वास्ते उसको भिन्न २ करके दिखलाया जाता है।

८८८ शून्य यद्यपि रूप रहित है पर जैसे उसका रूप दिखलाने के लिये एक बिन्दी ० रख दी जाती है इसी प्रकार अद्वैत का वर्णन करने के लिये द्वैत का आश्रय लिया जाता है।

६५४ ८९५ कंचन-रवा=सोने का कण।

९०२–३—जिस प्रकार घी जब दूध की दशा में रहता है तो दूध के ही आकार का होता है परन्तु

५४ दोहा

जैसे दूध घी नहीं हो जाता। इसी प्रकार सारे संसार में सब ओर ब्रह्म भरा हुआ है, परन्तु संसार (विकार) ही ब्रह्म नहीं है। जिसको हम 'भूषण' नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में सोना ही तो है!

६१२ इसलिये, "निर्गुण का सत्त्वादि गुणों से संग है अथवा वह गुणों का भोग करता है",—निर्गुण के सम्बन्ध में ऐसी बात कहना उचित नहीं है।

३५५ ६१६ कोरी भरि -बीस।

६२६ आकाश की शून्यता को विलीन करके और सत्त्वादि तीन गुणों का नाश करके यह ब्रह्म शून्य कहा जाता है। उसी महाशून्य को श्रुतियों में 'ब्रह्म' नाम से पुकारा गया है।

३५६ आर्या १७ थित—स्थित।

६३१ जो प्राणों का प्राण है; जिसके कारण गति को चलने की शक्ति प्राप्त होती है और क्रिया कर्तापन को प्राप्त करती है।

६३३ जो पृथ्वी को धारण करता है, जो जल की भी प्यास को मिटाता है, अर्थात् जल को प्यास बुझाने की शक्ति प्रदान करता है और अग्नि भी जिसके संयोग से तेज को प्राप्त करता है।

६३६ हे अर्जुन, जिसके दर्शन से दृश्य (जगत) द्रष्टा, (देखने वाला) दर्शन आदि सब एक मिल और एकरस होकर एक में मिल जाते हैं।

६३६ आपर कथन करियार =अधिक कहना व्यर्थ है।

३५७ ६४१ मति दैन हे बुद्धि के भण्डार अर्थात् बुद्धिमान्।

६४६–५४—श्री ज्ञानेश्वर महाराज अब तक के वर्णित विषय का अद्वैतपरक उपसंहार करते हुए बतलाते हैं कि हे अर्जुन, 'यह सब कुछ परमात्मा है' इतना कह देने मात्र से यह ज्ञान तुम्हारे मन में बैठना कठिन था। अतः तुम्हारी बुद्धि की जड़ता को देखकर एक ही ब्रह्म का १—क्षेत्र, २—ज्ञान, ३—ज्ञेय, ४—अज्ञान इन चार रूपों में वर्णन किया है। जैसे बालक जब भोजन करता है तो उसके लिये एक ही कौर के अनेक छोटे २ ग्रास बना दिये जाते हैं, इसी प्रकार इस ज्ञान को सुगमतया उपभोग योग्य बनाने के लिये हमने एक ब्रह्म के ही ये चार विभाग कर दिये हैं। यदि अब भी यह विचार तुम्हारे गुज -हाथ न आवे

[illegible]

[illegible]

४९८ [illegible]

[illegible]

४९९ [illegible]

९८४ [illegible] (अर्थात् जो) [illegible] का [illegible] किया करता है।

९९९–१००७ — तक के पद्यों में माया के गुण और आत्मा का वर्णन [illegible] द्वारा यह समझाया गया है कि संसार में जो भासमान प्रपञ्च दिखलाई पड़ रहा है वह सब मायाकृत है।

टीका

नाना इसी के कारण प्रसिद्ध होते हैं, प्रेम इसी के कारण सफल होता है। यही इन्द्रियों को जाग्रत करती है। मन नपुंसक है, पर इसी से वह त्रिलोक में घूमता है इसकी ऐसी अद्भुत करनी है, यह प्रकृति भ्रम का महाद्वीप है व्याप्ति (व्यापकपन) का रूप है काम (वासना) का मंडप है, मोहरूपी वन की वसन्त ऋतु है, हे अर्जुन, इसी को दैवी माया कहते हैं ॥९९२॥ वाणी की विस्तारक, प्रपंच की जननी, सम्पूर्ण विद्या कला, इच्छा ज्ञान और क्रिया को जन्म देने वाली ध्वनि की टकसाल, चमत्कारों का भण्डार, अधिक क्या संसार के सम्पूर्ण खेल की संचालिका यही प्रकृति है ॥९९४॥ यह माया अद्वैत का दूसरा रूप है, निःसंग ब्रह्म की संगिनी है और ऐसी लगती है कि शून्य घर (ब्रह्म) को भी (अपनी शक्ति से) गुंजायमान रखती है ॥९९७॥ निराकार, व्यापार रहित, निरहंकार, निर्लेप, निर्गुण ब्रह्म को साकार, सव्यापार, अहंकारी और सगुण आदि बनाने वाली यही है ॥१००४॥

१००९ एक बात पल भर भी। कस हलकी होजात जिमि जैसे सोने का कस (कसौटी पर खिंची लकीर) हलका हो जाता है।

१०१० औरहिं मलिन विकार- मैले कुचैले विकार (आश्रय) में डाल देता है।

१०१५-१६ हे अर्जुन, नित्य और जन्म-मरणादि विकार रहित उस आत्मा के शरीर में गुणों का संग करने से ही जन्म-मृत्यु रूपी घाव पड़ने लगते हैं। परन्तु वे घाव ऐसे ही होते हैं जैसे तपे हुए लोहे को पीटते हुए देखकर लोग कहें कि देखो अग्नि पर चोट पड़ रही है।

१०२२ पुरुष प्रकृति के मध्य में ऐसा खड़ा है जैसे वृक्ष लताओं के मध्य में (सहारा देने के लिए खड़ा किया गया) खम्भा (पुरुष प्रकृति का आश्रयमात्र है)। वास्तव में पुरुष और प्रकृति के बीच पृथ्वी और आकाश जितना महान अन्तर है।

१०३१-३३ -"यह रस्सा है और यह उसकी छाया है, यह जल है और यह मृगतृष्णा है इत्यादि निर्णय जैसे हो सके, इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष विषयक सम्पूर्ण ज्ञान जिसके हृदय में भली भांति हो जाता है वह व्यक्ति शरीर से सब कर्मों को करता हुआ भी उनसे ऐसे अलिप्त रहता है। जैसे आकाश धूल से मैला नहीं होता।

पृष्ठ ओवी

१०३७ ८८ [illegible] बहुत सोना आ जाने पर [illegible] प्रकार [illegible] सोना निकाल लेता है। [illegible] आत्मा को जान लेने की प्रक्रिया समझाई गई है।

३६३ १०४४ सारी बड़ी आपदाएँ [illegible] आचरण करते हैं।

१०४५ उनके (गुरु के) वचनों को सुनने के लिए [illegible] (अपने अहंकार को) छोड़ देते हैं और [illegible] आचरण करते हैं।

१०४८ [illegible]

१०५० ४९ [illegible] और क्षेत्रज्ञ (प्रकृति पुरुष) के संयोग से यह सम्पूर्ण संसार [illegible] होता है जैसे पानी और वायु के संयोग से लहरें, तेज और सूर्य किरणों के संयोग से मृग-मरीचिका और बादल भूमि के संयोग से अनेक प्रकार के पौधे व अंकुर।

१०५५ [illegible] (संसार में) 'जीव' नाम से कहा जाता है।

३६४ १०५७ [illegible]

१०६० किरीटी हे अर्जुन।

१०६३ ६६ अनेक शरीरों में व्याप्त होने पर भी आत्मा एक ही है इस तत्त्व को श्री ज्ञानेश्वर महाराज दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं- जैसे अग्नि की चिनगारियाँ बहुत हैं पर सब में ज्वलन शक्ति एक समान है; आकाश से जल की अनेक धाराएँ गिरती हैं पर उनमें जल एक ही होता है; घट, मठ आदि में आकाश भिन्न २ है अर्थात् छोटा-बड़ा गोल-चौकोना आदि है परन्तु वस्तुतः जैसे एक ही आकाश उन सब में व्याप्त है और आभूषणों के भिन्न-भिन्न होने पर भी जैसे उन सब में सोना एक ही रहता है। इसी प्रकार भिन्न २ जीवों में व्याप्त होने पर भी आत्मा एक ही है।

१०६७ समष्टि=समता में।

अर्थ २८ परगति=उत्कृष्ट दशा, परम गति।

३६५ १०६६–७१—यह शरीर, गुण और इन्द्रियों की थैली है, वात, पित्त और कफ को धारण करने वाला है। इसमें पृथिव्यादि पाँच तत्त्वों का अत्यन्त बुरा मिश्रण है; यह पाँच डंकवाला

दोहा

(पाँच ज्ञानेन्द्रिय वाला) सिंह है जो पाँच स्थानों पर चोट मारता है। जीवरूपी शेर को बड़े भाग्य से यह किसी हिरण की कुटिया मिल गई है। इतना होने पर भी इस देह के अनित्यभान रूपी पेड़ में कोई नित्य ज्ञानरूपी पुड़ी नहीं मारता।

१०७४ जो पद आकार रूपी नदी का पर तट है (निराकार) है, ध्वनि का परला पार है (शब्दातीत है) और तुरीयावस्था (मुक्ति) का मध्यगृह है वह परब्रह्म है।

१०७७ अमित –बहुत से।

१०८३ अनुभव रूप सिद्धि जिसके अन्तःकरण में इस प्रकार के निश्चयात्मक अनुभव का प्रकाश होता है उस अकर्ता को आत्मा का 'पूर्ण-भास' ज्ञान हो जाता है और वह पूर्णरूप से आत्म-साक्षात्कार कर लेता है।

१०८७ तरणि नौका।

१०८८ सो तुम जान्यो काय ? क्या तुमने यह राज समझ लिया है।

१०९१ हे अर्जुन, जो केवल अनुभव के आधार पर अपने चित्त में विचार करने लगे हो, उसको इस समय न करो। इस समय तो हम तुम्हारे प्रति एक दो और गहन विचार रखते हैं उन्हें मन लगाकर सुनो।

आर्या ३१ इ भी। गुणराशि गुण सम्पन्न अर्जुन।

१०९९ आगी लाग कपास की अग्नि और कपास का धागा दोनों (क्या साथ रह सकते है)।

११०४ यह शरीर कालरूपी अग्निकुण्ड में डाली हुई मक्खन की एक गोली है, मक्खी के पंख हिलाने मात्र समय में (पल भर में) ही यह नाश को प्राप्त कर लेता है।

११०७ ११ तक के पदों में आत्मा की विशेषताओं को समझाया गया है।

"यह आत्मा, नित्य, सहज, अनादि और अनन्त है। न यह कृश है और न स्थूल, सम्पूर्ण गुणों से रहित है, न क्रिया रहित है न क्रियावान, न पूर्ण है न अपूर्ण। न निराभास है न भासमान, न कम न ज्यादा, न भरा न रीता, न रूपवाला न अरूपी, न आनन्द रहित न सानन्द, न एक न अनेक, न मुक्त न बँधा हुआ, न इतना न उतना, न बना न बनाया जाता है। न बोलने वाला है न गूंगा। संसार के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होता मिटने पर मिटता नहीं, यह उत्पत्ति और नाश दोनों का लय स्थान है। न इसे मापा

टीका

जा सकता है न वर्णन किया जा सकता है यह न कहा जा सकता है, न [illegible] होता है ॥११२०-२४॥ जैसे आकाश में [illegible] और [illegible] है, [illegible] शरीर में भी वही स्थिति है। आत्मा शरीर में [illegible] और न किसी शरीर के व्यापार में आसक्त होता है ॥११२१-२४॥

११०४-२६ क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) [illegible] ज्ञानी [illegible] जानते हैं—"[illegible] जहाँ [illegible] घर के सब [illegible] पर दीपक और घर [illegible] है, [illegible] परन्तु [illegible] ही [illegible] नहीं है, [illegible] नहीं होता, सूर्य भी [illegible] नहीं होती इसी प्रकार यह प्रकृति क्षेत्रज्ञ से [illegible] भिन्न है।

११२६ जो अपनी बुद्धि से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के इस अन्तर को [illegible] जानता है वही [illegible] के सार को जाननेवाला पंडित है।

११३१ इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए वे [illegible] शास्त्र [illegible] हैं और [illegible] वाली शास्त्ररूपी गायों को पालते हैं।

११३४ नीराजन आरती।

११३८ रूपों के आकार के [illegible] के ज्ञान से।

११४० इसी प्रकार जो आत्मा से प्रकृति को [illegible] से भिन्न जानता है 'मैं' कहता हूँ यह साक्षात् ब्रह्म हो जाता है।

११४३ [illegible] सर्वज्ञानी। [illegible]।

११४४ कहो कहा, बतलाया।

११४७ [illegible] .... .. कहकर और अर्जुन को भी भगवान कृष्ण, "मैं ही हूँ" अर्थात् "अर्जुन मेरा ही रूप है", ऐसा कहते हैं।

११५० [illegible] रसज्ञ।

११५४ अगाधबुद्धिमति—अपार बुद्धि वाले।

११५६ मैं जो शान्ति की कथा कहता हूँ यह शृङ्गार-रस के माथे पर लात मारती है।

दोहा

११५८ पल्हारा उत्पन्न करना।

११६४ गुर बहुत शक्ति, युक्ति।

७-६८ इसपर श्री गुरु आप जैसे सन्तों के चरणों की कृपा प्राप्त हुई है इसलिये हे प्रभु, मुझे (ग्रन्थार्थ वर्णन करने में) कोई रुकावट न पड़ी। (पड़े भी कैसे ?—) भला स्वामिन्, कहीं सरस्वती के पेट से सत्य वेल से भी गूंगा बालक उत्पन्न हुआ है? या लक्ष्मी के हाथ भी कभी सामुद्रिक लक्षणों से रहित हो सकते हैं। करी कभी वाले।

११६६ नव-रस साहित्य शास्त्र में प्रसिद्ध शृंगारादि नव रस।

चतुर्दश अध्याय

प्रारम्भ के इक्कीस दोहों तक परब्रह्म-स्वरूप गुरु श्री निवृत्तिनाथ महाराज की स्तुति करने के उपरान्त (२२-४० तक) अध्याय संगति एवं प्रस्तुत चतुर्दश अध्याय में प्रतिपाद्य मूल विषय सत्त्व, रज, तम या गुणत्रय विभाग—का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है।

२ सोऽहंभाव मैं 'वही शुद्धस्वरूप परमात्मा हूँ' —ऐसी भावना

४ संसार में कौतुकी—तमाशा करने वाले ऐसे ही होते हैं कि दूसरों की दृष्टि को चुरा लेते हैं, परन्तु आपमें तो अद्भुत चातुर्य है कि आप स्वयं अपने को चुरा लेते हो अर्थात् अदृश्य बना लेते हो।

८ मौन राम सिपाही के समान।

११ जब तक आपका दर्शन नहीं होता तभी तक वेद आपका वर्णन करते हैं दर्शन हो जाने पर तो उनको तथा हम दोनों को ही समान रूप से मौन धारण करना पड़ता है।

१२ परा वैखरी वाणी के ४ भेदों में से २ भेद, जिनसे साधारण वाणी से अधिक वर्णन करने की शक्ति होती है।

१६ निज गोष्ठि ऐसे ग्रन्थ कथन रूपी व्यापार के लिये, हे प्रभु, आप साहूकार बनें।

३४ दोहा

२७ हे सद्गुरु, आपकी करुणापूर्ण दृष्टि से ऐसी धारा बहती थी कि मेरी बुद्धि रूपी नौका न अद्वैत-सिद्धान्त रूपी परमानन्द निर्वाण की बाढ़ आ जाय।

२८ कृतार्थ स्थिति में।

२९ वृथा ही स्तुति कथा विस्तारित: व्यर्थ ही हे स्वामी की कथा का विस्तार करता हूँ। गुरु की पृथक स्तुति में गुरु—ब्रह्म और शिष्य अथवा जिज्ञासु—जीव भाव का समर्थन और प्रतिपादन करने वाला त्रिपुटी सिद्धान्त व्यर्थ पड़ जायगा।

३० जैसे "राहु" जिससे जीव के अन्तःकरण में चन्द्र वाली मलिनता को नाश हो जाय।

३२–३७ इस प्रकार ३० पदों में गुरुदेवकी स्तुति आदि करने के अनन्तर चौदहवें अध्याय का विषय आरम्भ करनेसे पूर्व उसका संक्षिप्त निदर्शन कराते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, कि गत तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि यह संसार, आत्मा प्रकृति संयोग अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग से उत्पन्न होता है और गुणों के संग से यह संसारी बनता है। गुणोपाधि अर्थात् माया के जाल में फंस कर सुख दुःख भोगता है और इससे पूर्व अपने शुद्ध स्वरूप में वह गुणों से पृथक निर्गुणातीत रहता है ऐसी अवस्था में इस १४वें अध्याय में मुख्यतः इन विषयों का निरूपण किया जाएगा कि यह असंग आत्मा किस प्रकार त्रिगुण संयोग से संसार में फंस जाता है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग क्या है? उसे सुख दुःख की प्राप्ति क्यों होती है? गुण कितने और कैसे हैं? किस प्रकार वे बन्धन में डाल लेते हैं। गुणातीत के लक्षण क्या हैं?

३७४ ३८ अर्जुन प्रति प्रशंसा भगवान ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन, इस ज्ञान में [illegible] की सारी सेना (पूर्ण सावधानता) को इकट्ठी करके लगो इसमें यह प्रगल्भ ज्ञान प्राप्त हो जायगा।

४२ यों तो यह सब ज्ञान जिसका ही है पर इसे 'पर' ज्ञान इसलिये कहा जाता है कि हे अर्जुन, लोग इतर (सांसारिक) ज्ञान से ही स्वर्ग के सुख को प्राप्त करना चाहते हैं।

५१ और शरीर के प्रतिबन्ध को एक बार ही लांघकर वे ज्ञानी लोग योग्यता में आप समान ही हो जाते हैं।

पृष्ठ दोहा

३७४ ५४ दीपक जिमि अथवा ज्ञान दृष्टि से देखो जैसे अनेक दीपकों की शिखायें दीपकों की मूल ज्योति (अग्नि) से मिल कर एक रूप हो जाती हैं (वैसे ही इस ज्ञान को प्राप्त कर द्वैत-भाव नष्ट होने से ज्ञानी मुझ में मिलकर एक हो जाते हैं।)

६१ (भगवान के प्रेममय वचन सुनकर) अर्जुन की ऐसी स्थिति हो गई, वह ऐसा अवधानमय हो गया कि मानो उसके सम्पूर्ण शरीर में कान उत्पन्न हो गये हों।

६४ यद्यपि मैं एक ही हूँ फिर भी सत्व रज तम त्रिगुण रूपी बहेलिये अनेक देहरूपी पाशों से मुझे कैसे बाँध लेते हैं ?

३७५ ६९–७० सांख्य मत वाले इस महद् ब्रह्म को 'प्रकृति' कहते हैं और अव्यक्त मत के मानने वाले लोग इसे 'अव्यक्त' कहकर पुकारते हैं। हे बुद्धिमान अर्जुन वेदान्ती इसे 'माया' कहते हैं और अधिक क्या कहूँ इसी का नाम 'अज्ञान' भी है।

७२ इस अज्ञान के बारे में एक और विचित्र बात है कि विचार अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होने पर यह अज्ञान दिखाई नहीं देता जैसे दीपक हाथ में रखकर अंधेरे को ढूँढे तो वह कभी नहीं मिलता है।

३७६ ७३ सांझी मलाई।

७८–७९ अथवा जैसे जब न रात हो न दिन उस स्थिति को सन्ध्याकाल कहते हैं उसी प्रकार आत्म ज्ञान और पूर्ण सांसारिक ज्ञान के मध्य की जो कोई स्थिति है उसे 'अज्ञान' नाम से पुकारा जाता है और जो प्रकाशमय आत्मा उस अज्ञानावरण से बद्ध है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है।

८३ जिस प्रकार कोई भिखारी स्वप्न में पड़कर कहने लगे 'अरे जा, मैं राजा बनकर आया हूँ' अथवा कोई बेहोश व्यक्ति कहे कि 'मैं स्वर्गलोक में गया था।'

३७७ ८६ पै माया पाण्डु कुमार परन्तु हे अर्जुन, माया रूपी भूल से (सृष्टि के मूल में) अपने को न भूलो।

८९ जब मैं सो जाता हूँ तब मेरी यह माया जागती है और मेरी सत्ता के (आत्म सत्ता के) संयोग से वास्तव में सर्ग को धारण करती है।

३७७ ९०-९४ इन आठ दोहों में ज्ञानेश्वर महाराज ने सृष्टि रचना के प्रमुख तत्वों—बुद्धि, मन, अहंकार

५५५ श्लोक

सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए माया के पेट में बढ़ते हुए संसार रूपी गर्भ की वृद्धि का सजीव चित्र उपस्थित किया है। वे कहते हैं कि आठ विकार माया के उदरस्थ गर्भ की अनेक प्रकार से वृद्धि करते हैं। "आत्मा और प्रकृति के संयोग से सर्व प्रथम बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, बुद्धि तत्त्व से मन, मन की ममता से ममता होने पर अहंकार", अहङ्कार से पञ्च महाभूत का विषय और इन्द्रियों के साथ सहज सम्बन्ध है अतः [illegible] ये दोनों उत्पन्न होते हैं। विषय और इन्द्रियों के क्षोभ से [illegible] त्रिगुण उत्पन्न होते हैं और तभी वासना का जन्म होता है। जैसे जल के संयोग से बीज से निकले वृक्ष के विविध आकार स्पष्ट होने लगते हैं वैसे ही अविद्या या माया से [illegible] अनेक रूप जगत के अङ्कुर फूटने लग जाते हैं।

७७७ ४०३–१४ ब्रह्म की सत्ता के संयोग से माया के गर्भिणी होने की बात पिछले श्लोक में कही गई है। यह विश्व रूपी बालक उस गर्भ से परिपुष्ट होकर उत्पन्न होता है। रूपकालंकार द्वारा इस अद्भुत बालक का वर्णन करते हुए श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं 'अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज ये चारों इस बालक के हाथ पैर हैं, महा प्रकृति सिर है, प्रवृत्ति पेट है, और निवृत्ति पीठ है, आठ विध देव योनियाँ इसके शरीर का ऊर्ध्व भाग है, आनन्द दायक स्वर्ग लोक इस का गला है और मृत्युलोक मध्यभाग है और पातालादि इसके विपुल जघन नितम्बादि हैं। इस प्रकार का एक सुन्दर बालक यह माया उत्पन्न करती है, जिसके शैशव की पुष्टि तीनों लोकों के विस्तार से होता है। चौरासी लाख योनियाँ इस बालक की अंगुलियों की गांठें हैं जो कि प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं। माया इस बालक के शरीर में 'नाम' रूपी अनेक तरह के आभूषण सजा कर उसे प्रतिदिन नित्य नवीन मोह रूपी दूध पिलाकर बढ़ाती है। भिन्न २ सृष्टियाँ इस बालक के हाथ की अंगुलियाँ हैं और भिन्न भिन्न देहों का अभिमान उनमें धारण की हुई अंगूठियें हैं। ब्रह्मा इस बालक के प्रातःकाल हैं, विष्णु मध्याह्नकाल और शङ्कर सायंकाल हैं। यह सुन्दर बालक महा प्रलय रूपी शय्या पर खेलता २ सो जाता है और फिर नये कल्प के उदय होने पर विपरीत ज्ञान के वश जाग जाता है। इस प्रकार यह बालक एक एक युग रूपी पग को बढ़ाता हुआ क्रीड़ा करता है। संकल्प इस बालक का मित्र है, अहङ्कार सेवक है, और ज्ञान इसकी मृत्यु है।'

पृष्ठ दोहा

३५८ ११६ माम - माँ, सुवन - पुत्र, अहै = है।

१२०-२१-श्रीकृष्ण कहते है मेरा संसार के प्राणियों के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है जैसे कपड़े को कपास का नाती पौत्र, या घड़े को मिट्टी का पुत्र कहा जाय, अथवा जैसे समुद्र में अपार तरंगें उत्पन्न हों। (अर्थात जैसे ये वस्तुएं अपने मूल उपादान कारण से भिन्न प्रतीत होने पर भी उससे पृथक कुछ भी अस्तित्व नहीं रखती ऐसे ही यह संसार भी है)

३७६ १२३-२४ यदि संसार के उत्पन्न होते ही मेरा रूप लुप्त हो जाए तो बताओ संसार को कौन उत्पन्न करे? भला कहीं माणिक्य के प्रकाशित होने पर माणिक्य का लोप हो जाता है? गहना बन जाने पर क्या उसमें से सोनापन उड़ जाता है? कमल विकसित होकर क्या कमलत्व को खो देता है?

३७९ १३०-३४ जैसे मनुष्य स्वप्न में स्वयं ही अपनी मृत्यु को देख कर बड़ा दुःखी होता है, जैसे पीलिया रोगग्रस्त मनुष्य की आंखों में पीलापन आ जाता है और वही आंखें सबको पीला देखने लग जाती है। जैसे प्रातःकाल सूर्य के प्रकाशित होने पर बादल-से दिखाई पड़ते है और वही सूर्य का प्रकाश उनका अस्त भी करता दिखलाई पड़ता है। या एक व्यक्ति अपनी ही छाया को देखकर भयभीत होता हो तो बतलाइये क्या वहां कोई दूसरी वस्तु होती है? ऐसे ही हे अर्जुन, मैं स्वयं ही अनेक रूप बनकर इन अनेक शरीरों में भासता हूं और इस प्रपञ्च को देखता भी मैं ही हूं।

१३६ प्रबन्ध - वर्णन

३८० १४० आश्रो - आ बैठना है, सुषुप्ति - गहरी नींद।

१४७ यह आत्मा जीव दशा में थोड़ा सा प्रवेश करके, 'मैं देह-रूप ही हूं' पूर्णतया यही कल्पना कर लेता है।

१४८ सत्व गुण रूपी व्याधा सुख और ज्ञान रूपी पाश से इस जीवात्मा को मृग की भांति बांध लेता है और तब यह मृग के समान ही कष्ट सहता हुआ तड़फड़ाता है।

१५४-५५ जैसे कोई राजा स्वप्न में भिखारी बनकर भिक्षा मांगे और दो दाने मिलते ही अपनेको इन्द्र के समान समझने लग जाय उसी प्रकार यह देहासीन आत्मा अपने को देहवान् मान कर थोड़ा सा भी बाह्य ज्ञान प्राप्त होते ही अपने को देहवन्त समझने लगता है।

पृष्ठ ओवी

३८१ १५६ प्रवृत्ति के आरंभ — सांसारिक प्रवृत्तिमूलक नीति आरंभ।

१५७ वह कहता रहता है कि मेरे जितना भाग्यशाली कोई नहीं। मेरा हृदय चातुर्य रूपी चन्द्रमा के लिये महान आकाश है।

१६० इसलिये 'रजोगुण' कहते हैं कि यह प्राणियों का रंजन करना जानता है। यह नई नई कामनाओं से सदा तरुण बना रहता है।

१६७-६९ (रजोगुण की वृद्धि होने पर) पुरुष की कामना रूपी अग्निकुण्ड में घृत की आहुति पड़ने पर प्रचण्ड अग्नि ज्वाला धधक उठती है और थोड़ी बहुत सभी वस्तुओं को जला देती है। उसकी इच्छाएँ बड़ी प्रबल हो जाती हैं और वे इस तरह सुखदायक या इस तरह होती हैं कि इन्द्र की लक्ष्मी भी उसके मन को तृप्त करने के लिये अपर्याप्त मालूम होती है।

३८१ १९१ वह कहता है कि यदि मैं स्वर्ग में जाऊँगा तो वहाँ क्या खाऊँगा इसलिये वह यज्ञादि करने की चेष्टा करता है।

१९० बालिसिंह में बिजली में भी। पीतम मङ्गली।

३८२ १९७ हे अर्जुन, इस प्रकार वह देहातीत होते हुए भी तृष्णा के वश होकर नाना प्रकार कर्म रूपी शृंखला को अपने ही गले में डाल लेता है।

अर्थ ८ मोहि—मोहने वाला, अलस आलस्य, आदि बढा।

२७४ ओढहि परम, काले अनुसार जो मोहरूपी रात्रि के काले बादल के समान है।

२७६ जो मूर्खता रूपी शराब का पात्र है, अज्ञान का महा मंत्र है और अधिक क्या कहें जो जीवों के लिये मुश्किल करने वाला महान अस्त्र है।

३८२ २८४ सोते हुए उसका मन स्वस्थ रहता है, उसे उस समय उचित अनुचित का कोई ध्यान नहीं होता वह मूर्ख तो सिर्फ यही चाहता है कि जहाँ सो रहा हूँ वहीं सोता रहूँ।

३८३ २९१-२९२ जैसे पतंगा सम्पूर्ण वन की अग्नि को अपने पंखों से पोंछ लेने की अभिलाषा से उसमें कूद पड़ता है उसी प्रकार जिसका मन अकरणीय कार्यों में बड़े साहस से कूदता है और प्रमाद आलस्यादि जिसे उस पतंगे की भांति ही अच्छे लगते हैं—उसके विषय में अधिक क्या कहा जाय!

३८४ २०६ (सत्त्व-प्रवृत्त पुरुष की) इन्द्रियों के आंगन में विवेक (उचितानुचित विचार) सदा

पृष्ठ दोहा

करता है और साथ ही उसके हाथ पांवों को भी अनेक नयन -अच्छा बुरा देखने की शक्ति प्राप्त हो जाते है।

२०७ नवेरहिं = निर्णय को।

२०८ नियम ' योग नियम इसीलिये सात्त्विक पुरुष का आश्रय लेते है कि उन्हें उसकी सेवा करके प्रसन्नता होती है।

२१५–१६ इस प्रकार जब शरीर में सत्त्व गुण बढ़ा हुआ हो तब यदि मनुष्य का मरण हो जाय तो समझो सुकाल के समय, जब कि घर में अनेक प्रकार के पकवान्न बने हुए थे, स्वर्ग से कोई प्रेमी अतिथि आ पहुंचा। तो इधर जैसी घर में विपुल सम्पत्ति है वैसी ही उदार बुद्धि होने के कारण उसे संसार में यश और स्वर्ग में अपार सुख की प्राप्ति क्यों न होगी ?

५८८ २२४-२५ वेदान्त मत में जो छत्तीस तत्त्वों से परे सैंतीसवां तत्त्व है और सांख्य मतानुसार जो चौबीस तत्त्वों से परे पच्चीसवां तत्त्व है एवं बाल्य यौवन वार्धक्य इन तीन अवस्थाओं से परे जो नित्य मकरन्द चौथी अवस्था स्वरूप है इस प्रकार के सर्वोत्तम ब्रह्म से जिसे एकत्व प्राप्त हो जाता है उस ज्ञानी पुरुष को देह की प्राप्ति अनुपम लाभ ही है।

२२७ जिस समय शरीर रूपी गांव में रजोगुण बढ़कर अपने कार्यों में ढिंढोरा पीटता है कि मैं आ गया हूं, 'उस समय ये लक्षण प्रकट होते है।'

२३५ आगी मोल विहीन उसकी भड़की हुई कामनाओं के आगे अग्नि की भी कुछ कीमत नहीं।

२३८ आन दूसरा, रनधीर अर्जुन।

२४० तहां नाम विचार= किसी बात के अनुचित उचित विचार करने का नाम तक नहीं रहता।

२४१ कर्म निषेधहि भाव निषिद्ध कर्मों के नाम मात्र से उसके हृदय में उन पर आचरण करने की उत्कट इच्छा जाग जाती है।

२४३ परि न समाधि ध्यान अवकाश नहीं होता।

२४४ सम सम

२४६-४८ यदि सरसों बोयें तो पहले बीज अपना रूप नष्ट कर देता है फिर बढ़ता है, फूलता है, तो भी सरसों ही बनकर फूलता फलता है, अथवा एक दीपक जला लो और आगको बुझा

९१३ होता

" तथापि यह जानति आहे सरीरी वहाँ राम अभिनय ही हो जाता इसी प्रकार [illegible] के रंग [illegible] की पोटली भानकर यदि शरीर छोड़ा जाता हो फिर वह शरीर [illegible] रूप ही तो होगा।

९८८ २६४ पीकहि पकता है (उत्पन्न होता है)।

२६० जिसि [illegible] [illegible] अर्थात ज्ञान रूप [illegible]।

९८६ २७८ ऊरथ ऊपर, ऊर्ध्व।

अर्थ १९ जब द्रष्टा आत्मा यह समझ लेता है कि [illegible] अतिरिक्त [illegible] और कोई भी कर्ता नहीं है' और अपने स्वरूप को गुणों से सर्वथा पर जान लेता है तब वह 'मद्भाव' अर्थात मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

२७९ अब यह कथन विस्तार करिए अब यह बात रहने दो।

२८१ जैसे अग्नि ईंधन के आकार वाली दिखाई देती है। [illegible]

९९० २८२ वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, [illegible] प्रकट होता है, इसी प्रकार [illegible] यही बन्धन का वास्तविक कारण है।

२८४ इतो इतनी।

२८७ हे अर्जुन मैं यह तत्त्व पहले ही (अ० १३ श्लो० ३१) [illegible] चुका हूँ कि आत्मा समानता नहीं और न ही वह गुणों से लिप्त होता है (परन्तु वह अपने को ऐसा मानकर आत्मा की गुणों से कोई बन्धन में पड़ जाता है।)

२९० जैसे नट कुशलतापूर्वक वेश परिवर्तन कर लेने पर भी (अभिनय के समय राम आदि बन जाने पर भी) अपने को भूलते नहीं हैं वैसे ही आत्मा गुण [illegible] को धारण कर लेने पर अपने को नहीं भूलता।

२९२ जो गुणों में रहता हुआ भी गुणों से परे रहता है अपने विशुद्ध रूप में ही [illegible] रखता है जिसका अहंकार शुद्ध अहङ्कार से ही जा मिलता है अर्थात उसमें पृथक् रूप से अहं-स्फुर्ति न रहे।

२९६-९७ जैसे सूर्य के उदय होने पर सूर्यकान्त मणि चमक उठती है, अन्धकार नष्ट हो जाता है,

पद्य दोहा

तारे छिप जाते है और कमल खिल जाते है, परन्तु सूर्य इनमें से किसी कार्य को स्वयं नहीं करता, इसी प्रकार मैं अकर्ता होता हुआ देह में गुणों के अधिष्ठान रूप या सत्ता रूप से विराजता हूँ।

३११ ३०१ वृद्धि भांति की = ऐसे गुण वाले पुरुष की। सत्ता मोर = मुझ में स्थिति हो जाती है।

३०२ अशोर = खूब। बहोर = फिर।

३०४ हे अर्जुन उस (गुणातीत) पुरुष के हाथ से बुद्धिभेद रूपी मोह का दर्पण गिर पड़ता है, जिससे वह प्रतिबिम्ब या प्रकृति के गुण की झलक नहीं देख पाता।

३१० सत्व रज तथा तम तीन गुण अपने अपने बल से उस त्रिगुणातीत ज्ञानी पुरुष के शरीर को अनेक रूपों में नचाते है पर आश्चर्य है वह पुरुष अपने आत्मभाव को उनके रूप देखने के लिये नहीं भेजता, अर्थात त्रिगुण-जनित कर्मों से अपने को लिप्त नहीं करता।

३१३ उरग = सांप, पाताल = बिल, त्वचा = केंचुली।

३१४ ज्यों ही पुरुष आत्म स्वरूप में लीन हो जाता है, उसे इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि शरीर के धर्म कैसे और कितने हैं ?

३१६-१७ जब घड़ा टूट कर टुकड़े टुकड़े (खपरी) हो जाता है तब उसके अन्दर समाया हुआ आकाश (रिक्त स्थान) स्वभावतः महाकाश में जा मिलता है। उसी प्रकार शरीर-बुद्धि के नष्ट हो जाने पर पुरुष जब आत्मस्वरूप बन जाता है तो, हे अर्जुन, उसे सिवाय आत्मा के कहीं कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

३१२ ३२० गुणातीत = बात (तुम्हारे इस प्रश्न से) उस पुरुष का गुणातीत = गुणों से पार गया हुआ-यह वास्तविक नाम ही असत्य हो जाता है। अर्थात यदि तुम्हारे कथनानुसार वह पुरुष भी कुछ अच्छे बुरे आचरण करे, गुणों का विस्तार करे और कोई विशेष चिन्ह धारण करे तो वह गुणातीत कैसा ?

३२२ शरीर में सतोगुण की वृद्धि होने पर और ज्ञान का प्रकाश आ जाने पर भी वह व्यक्ति इस उत्तम ज्ञान के कारण इतराता या खुशी से फूलता नहीं मालूम होता।

३२३ आवर = और। से, बरसात = वर्षा।

३२४ अथवा मोह के उत्पन्न होने से क्या उस पुरुष के ज्ञान का नाश हो सकता है ? क्या

१४ दोहा

सीसा धातु की गगरी कभी अग्नि को कष्ट पहुँचा कर गला सकती है ?

३३७ वह गुणातीत पुरुष शरीर में ऐसे निवास करता है जैसे कि कोई बटोही मार्ग में चलता हुआ किसी स्थान पर ठहर जाए।

३३६ चौपथहिं रहि थान — चौराहे का खम्भा।

३४१ यह अति किमि बोले—अधिक क्या कहा जाए।

३४३ वह पुरुष गुणों के वश में नहीं होता — दूर से ही उनके खेल को ऐसे देखता है, मानो वे गुण रूप कठपुतली हैं और वह तमाशा देखने वाला है।

३६४ ३४७ निश्चय = निश्चल। गुन की सुखराश — गुणों की गड़बड़ से हे अर्जुन, वह ज्ञानी पुरुष विचलित नहीं होता।

आर्या २४ शिर — शिर। पखान — पत्थर।

३५१ हे अर्जुन, इसके अतिरिक्त स्वभावतः अपने सुख दुःख औरों भी तो ऐसे ही मानें हैं कि शरीर रूपी जल में मछली बन कर रहे।

३६०-६१ 'आप तो ब्रह्म हैं' इस प्रकार कह कर स्तुति करो, अथवा 'तू नीच है' ऐसा कह कर निन्दा करो, परन्तु राख जैसे न जलती है, न बुझती है, इसी प्रकार उसे निन्दा अथवा स्तुति कुछ भी नहीं जान पड़ती। सूर्य के घर में न अंधेरा रहता है न दिया जलाने की कोई जरूरत होती है।

३६५ ३६९ तस्कर — चोर।

३७१ निरवार — छुटकारा। सुभग — सुन्दर।

३७२ वह अव्यभिचारिणी भक्ति क्या है, कैसे की जाती है, हे अर्जुन, अब मैं निश्चय-पूर्वक इसका वर्णन करता हूँ सो तुम सुनो।

३७३-३७६ सात पदों में भगवान विविध दृष्टान्तों द्वारा विश्व के साथ अपने एकत्व-भाव को समझाते हुए कहते हैं कि—जैसे मणि और मणि का प्रकाश एक है, पानी और द्रवत्व (बहने की शक्ति) में कोई अन्तर नहीं, अवकाश और आकाश में तथा मिश्री और मिठास में भी कोई अन्तर नहीं, जैसे अग्नि ही ज्वाला है, कमल के दल ही कमल है, पत्ते, फूल और शाखायें जैसे वृक्ष का रूप हैं, जैसे हिम बर्फ का स्थान ही हिमाचल

पृष्ठ ओवी

पर्यंत है, वृक्ष का जमा हुआ रूप ही जैसे वही कहा जाता है, वैसे ही जिसे 'संसार' कहा जाता है वह मेरा ही है भिन्न कुछ नहीं। चन्द्र-कला भला कहीं चन्द्रमा से भिन्न हुआ करती है ? ॥ ३७७ ॥ उकलि- तह खोल कर उघाड़ना ॥ ३७६ ॥

३६६ ३८० मैं ऐसा नहीं हूं कि यह विश्वपन सांसारिकता नष्ट हो तभी दिखाई दूँ। सब विश्व समेत मैं ही हूं।

३८३ हे अर्जुन, सोने का दाना यदि सोने के ऊपर बैठाया जाय तो जैसे उसके स्वर्णत्व में कोई अन्तर नहीं आता उसी प्रकार जगत और मुझ में कोई भेद नहीं।

३८६ समुद्र और मेघ दोनों के बीच में जैसे अखण्ड धारा लगी रहने से दोनों एक हुए दिखाई देते हैं इसी प्रकार उस पुरुष की भक्ति या चित्तवृत्ति का आधार, वृत्ति का विषय तथा स्वयं वृत्ति इन तीनों की त्रिपुटी उस अखण्ड परमात्म-तत्त्व से ओतप्रोत है।

३६२ ऐसे ही जब उस ज्ञानी की 'सोऽहं वृत्ति' (मैं ब्रह्म ही हूं यह भावना) मुझ तक विस्तृत हो जाती है तब उसका उस वृत्ति सहित मुझ ईश्वर में ही लय हो जाता है।

३६३ रवा- टुकड़ा। नरराय अर्जुन।

३६४ जैसे अग्नि तिनकों को जला कर आप भी स्वयं शान्त हो जाती है वैसे ही भेद का नाश कर 'ज्ञान' आप स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

३६५ भगति भक्त। परि लेकिन। रहति रहती है।

२१७ ३६८ ताकी ब्रह्मता=ब्रह्मता (ब्राह्मी भावना) उसकी पति परायणा स्त्री बन जाती है।

४०० हे अर्जुन, जो ज्ञान दृष्टि से मेरी भक्ति करता है वह ब्रह्मता के मुकुट का चूड़ामणि बनता है।

४०१ इसी ब्रह्मप्राप्ति को 'सायुज्य' मुक्ति कहा जाता है और चौथा पुरुषार्थ भी यही है।*

४०२ धनुर्पाणि अर्जुन।

४०४ 'ब्रह्म' इस नाम का जो अर्थ है वह मैं ही हूं और इन शब्दों से मेरा ही वर्णन किया जाता है।

४०७ अज्ञान का विनाश करके स्वयं ज्ञान भी जहां आकर लय होता है, अधिक क्या वर्णन करूं

*टिप्पणी—चार पुरुषार्थ हैं—१ धर्म, २ अर्थ, ३ काम और ४ मोक्ष।

पृष्ठ दोहा

यह वही प्रसिद्ध 'ब्रह्म सिद्धान्त' है।

४११ सरसाहि रस परिपूर्णता । गालित झरें (धृतराष्ट्र को)।

७६८ ४१२ कृपा सिन्धु ईश्वर सद्गुरु की विवेकरूपी पूरी औषधि करें (धृतराष्ट्र को) ताकि इसका मोहरूपी महा रोग दूर हो जाय।

पञ्चदश अध्याय

७६९ १—६—पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में आत्मिक गुरु पूजा के आध्यात्मिक प्रकार का तथा उसकी आत्मस्थ फलप्राप्ति का वर्णन करते हुए श्री सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं "अब मैं हृदय की चौकी पर श्री गुरु के चरणों की प्रतिष्ठा करता हूँ। उन पर एकतारूपी अञ्जलि में सर्वेन्द्रिय रूपी फूल भरकर पुष्पाञ्जलि का अर्घ्य अर्पण करता हूँ। फिर अनन्यभाव रूपी जल से शुद्ध किया हुआ वासना रूपी चन्दन उन चरणों पर अपनी अंगुली से विधिवत् लेप करता हूँ। प्रेम रूपी सोने से निर्मित दिव्य नूपुर, तथा पवित्रता से प्रकाशित प्रगाढ़ अनुराग रूपी अंगूठी से उनके अंगूठे को शोभित करता हूँ। आनन्द रूपी सुगन्धि से भरा अष्ट सात्त्विक भावों का खिला हुआ कमल उनके चरणों पर चढ़ाता हूँ। अहङ्कार रूपी धूप जला कर, निरभिमानता रूपी दीपक प्रकाशित कर निरन्तर सामरस्य भाव से उन्हें आलिङ्गन देता हूँ। (और अन्त में) अपने शरीर और प्राण रूपी पादुकायें गुरु चरणों में पहिराकर उनके श्रीचरणों पर से भोग व मोक्ष रूपी राई नोन उतारता हूँ।

१३ यह वाणी श्रोताओं के सामने ज्ञान की ऐसी दिवाली प्रकाशित कर देगी जैसे सूर्य के आश्रय से पूर्व दिशा में जगत को प्रकाश की सम्पत्ति प्रदान करती है।

१४ उस वाणी रूपी लता का ऐसा विकास होगा कि सारा संसार को सदा पूर्ण रूपी मण्डप के नीचे बसन्त ऋतु के सुख का उपभोग मिल रहा हो।

पृष्ठ दोहा

४०० १५ और सब से अधिक चमत्कार की बात यह होगी कि जिसके स्थान को न पाकर मन सहित वाणी पीछे लौट जाती है वह ब्रह्म उस वाणी के वश में हो जायगा।

२१ (गुरु की कृपा हो जाने पर अब) यदि मैं अपने मुख से व्यर्थ बकबक भी करता हूं तो स्वभावतः ही यह गीता का माधुर्य निकलता है।

२३ उबलते पानी में चाहे कांकर को रंधने के लिये डाल दो किन्तु यदि जगन्नाथ जी की कृपा हो तो भोजन के समय वे चावल बन जाते हैं।

२५ गाय पुरानन्ह गाथ -पुराण जिनकी गाथा को गाते हैं।

३० जैसे तदर्थ - जैसे सौ यज्ञ करने वाले को स्वर्ग की सम्पत्ति प्राप्त होती है।

३२ नयन बान नेत्र वाला। सुखराशि सुख का भण्डार।

३४ परि मुजान पर वे आंखें उस व्यक्ति की होनी चाहियें जो पायाल (पांवों की ओर से जन्मा, उल्टा जन्मा) हो।

४०१ ४१ उकठि कर=सूख कर।

५० साधारण वृक्ष यदि जड़ से टूट जाये तो शाखा सहित गिर-पड़ता है पर इस (पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित संसार रूपी वृक्ष के विषय में वह टूटने की बात कहां ? यह वृक्ष सरलता से नहीं टूटता।

५२ जैसे सूर्य की ऊंचाई न जाने कितनी है परन्तु उसकी किरणों का समुदाय नीचे की ओर फैलता है वैसे ही यह संसार भी एक विचित्र वृक्ष है।

४०२ ६७ अर्जुन, सुनो यह प्रसंग तुम्हारे सुनने के योग्य है। तुरन्त ही मनके सहित सम्पूर्ण अवयवों को कानों में स्थापित करदो।

७० अगस्त्य=महर्षि अगस्त्य, जिन्होंने समुद्र को एक ही घूंट में पी लिया था।

अर्थ १ तर नीचे तले। अश्वथ=पीपल॥

७३ मधि मध्य, ऊरध -ऊर्ध्व। अधः=नीचे।

४०३ ७४ जो (ब्रह्म) सेवन अर्थात इन्द्रिय-ग्राह्यत्व का विषय नहीं है, सूंघी न जाने वाली सुगन्ध है, कानों से सुनाई न देने वाला शब्द है और स्वयं आनन्द-स्वरूप है।

पृष्ठ ओवी

७४ जो अलक्ष्य — अगोचर जो स्वयं अलक्ष्य है और अन्य किसी दृश्य के न रहते हुए भी सारे संसार को देखता है।

७६ ओपना — आरोप।

८२-८३ जो सम्पूर्ण आकारवान् वस्तुओं का घड़ी अर्थात् तह किया हुआ वस्त्र है, अनेक सिद्धान्तों की पिटारी है, संसार रूपी बादलों का आकाश है, प्रपंच का चित्र है, संसार रूपी वृक्ष का मूल है और विपरीत ज्ञान का प्रकाशमान दीपक है।

८६-८७ जैसे स्वप्न में प्रियतम के पास सोई हुई तरुणी जो जगा कर [illegible] को सन्मुख में आलिङ्गन किये बिना ही उसको आलिङ्गन करती है वैसे ही ब्रह्म स्वरूप में माया प्रकट हुई है। अतः जो स्वकीय स्वरूप का अज्ञान है वही इस वृक्ष की पहली जड़ है।

८९ यहाँ आवृत्ति — जाप — जागृति और शयन अर्थात् फल बतलाये गये हैं।

९० वेदान्ती इसे इस प्रकार की शैली से वर्णन करते हैं किन्तु छोड़ो, इस समय तो यह सिद्ध हुआ कि इस विश्व वृक्ष का मूल अज्ञान है।

९१-१०४ तक के पद्यों में संसार वृक्ष का रूपक द्वारा विस्तृत वर्णन किया गया है यथा — इस उपाधि रहित ब्रह्म का माया के साथ एक सम्बन्ध है अतः निर्मल आत्मा इस वृक्ष का माया रूपी दृढ़ आलवाल (थाँवला) में बोया हुआ बीज है जिसमें से नीचे ऊपर जड़ें निकलती हैं, और इसके सन्देह रूपी भिन्न भिन्न अङ्कुर फूट कर चारों ओर फैलते हैं ॥ ९२ ॥ फल [illegible] और करता है ॥ ९३ ॥ हृदय में प्रथम उत्पन्न होने वाली ज्ञान वृत्ति अर्थात् महत्तत्त्व इसकी पहिली कोमल पत्ती है। सत्त्व, रज, तम रूपी जो तीन प्रकार का अहङ्कार है वही इस वृक्ष का अधोमुख द्वार से फूटने वाला तीन पत्ती वाला अङ्कुर है ॥ ९४-९५ ॥ यह त्रिगुणात्मक अहंकार बुद्धि रूपी शाखा को धारण करके अनेक भेदाङ्कुरों की सृष्टि करता है और उनसे हरी भरी मन रूपी शाखा निकलती है ॥ ९६ ॥ इस प्रकार इस मूल में से उसकी दृढ़ता और भेद रूपी कोमल रस के द्वारा, हे अर्जुन मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार इन अन्तःकरण-चतुष्टय रूपी शाखाओं के अङ्कुर निकलते हैं ॥ ९७ ॥ तब तामस अहंकार से उत्पन्न आकाश वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत रूपी कोंपलें निकलती हैं और उनमें से श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ और उनके विषय रूपी कोमल और अङ्कुर पत्तियाँ फूटती हैं। ॥ ९८-९९ ॥ स्पर्शाङ्कुरों में शरीर की त्वचा

पृष्ठ दोहा

रूपी बेल और पल्लव मानो दौड़कर आ लगते है और फिर उनसे और भी अनेक नूतन विकार उत्पन्न होते है ॥ १०१ ॥ पेन भली भांति ॥ १०२ ॥ इस प्रकार महत्तत्त्व अहंकार मन और महाभूतों का समुदाय ये सब संसार के अन्त तक विस्तृत होते रहते हैं ॥१०५॥

४०४ १११ इस प्रपंच रूपी वृक्ष का 'अश्वत्थ' नाम इसी कारण पड़ा है कि यह कल से आज तक एक समान नहीं रहता । 'श्व' का अर्थ है विहान - कल ।

११२ सय सब ।

११३ नहीं थिरात=स्थिर नहीं रहता ।

११७ क्षणिकत्वहि के भेव -'एक क्षण भी टिकने वाला नहीं' इसी भाव से इसे अश्वत्थ कहा है ।

४०५ ११६ जैसे समुद्र एक ओर से मेघ द्वारा खाली किया जाता है और दूसरी ओर वर्षा से उत्पन्न सरिताएँ उसे पुनः भरती रहती है ।

१२५ प्राणि रूपी शाखा कालान्तर में जब टूट कर गिर जाती है तो उसके स्थान में दूसरे करोड़ों अङ्कुर निकल आते हैं ।

१२६ कलियुग के अन्त में चारों युगों की जीर्ण शीर्ण छाल जब गिर जाती है तो उसी समय सतयुग की नवीन तथा मोटी छाल निकल आती है ।

१३५ कौआ अपनी एक ही पुतली को चपलता से दोनों ओर फेरता है तो जैसे लोग भ्रमवश उसकी दो आंखें समझ लेते है ।

१३६ भौंरा 'आनि=लट्टू अत्यन्त वेग से घूमने के कारण जैसे पृथ्वी में गड़ा हुआ दिखाई देता है ।

१३७ बनैठी - तेल सिक्त कपड़ा लपेट कर प्रज्वलित बांस का डंडा ।

१३८ चाहि को इसके । छनक प्रमान क्षण भर स्थिर रहने वाला ।

४०६ १४१ लक्ष उसे जानने वाला ।

१४२ ज्ञानहि जीवन जोग उसी के संयोग से ज्ञान भी जीता है ।

अर्थ २ पसरि —फैली है । पात=पत्ते । तर—नीचे ।

१४७—२०० तक के पद्यों में संसार रूपी वृक्षकी वृत्तिका रूपकालंकार द्वारा वर्णन किया गया है ।

पृष्ठ दोहा

१४८ कौशाल विशाल तने।

१४६ यह शाखायें अपने २ भार से झुकती और आपस में एक दूसरे से उलझ जाती हैं जिससे गुण क्षोभ उत्कर्ष रूपी वायु उत्पन्न होती है।

४०७ १५६ यह मनुष्य जाति रूपी शाखा न ऊपर न नीचे बल्कि बीच में ही बढ़ जाती है और उस में से (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) चार वर्ण रूपी शाखायें फूटती हैं। उनमें वैदिक विधि निषेधमय वाक्यों से विस्तार पाए हुए वेद रूपी सुन्दर पल्लव अपनी २ शक्ति के अनुसार डोलते हैं।

१६१ और सुन्दर शब्दादि की सहायता से इच्छा रूपी एक शाखा फूटती है जिस पर रूप रस गन्धादि विषय रूपी नित्य नवीन पत्ते लगते हैं।

१६२ रज पवन सें रजोगुण रूपी आंधी से।

१६५ तत्काल निषिद्ध कर्म (कुमार्ग) रूपी सीधे परन्तु मजबूत अंकुर निकलते हैं जिनमें से प्रमाद रूपी पल्लव, पत्ते और डाल उत्पन्न होते हैं।

१६७ परमारक दूसरे को नष्ट करने वाले। अभिचार – हिंसापरक शास्त्र।

४०८ १७८–१७७ परन्तु तमोगुण से उत्पन्न बुरे कर्म और सतो गुण से उत्पन्न पुण्य कर्म रूपी अंकुर इसी मध्यवर्ती शाखा से उत्पन्न होते हैं और वेद त्रय रूपी पत्ते भी इसी शाखा पर लगते हैं अन्यत्र नहीं क्योंकि वेद का जितना विधान है वह सब मनुष्य को छोड़ कर और के लिये नहीं है।

१८३ सत्राण – सुरक्षित, दारुण = भयंकर।

१८६–८७ बुद्धि की लम्बी डालें स्फूर्ति के सहारे दृढ़ होती और बुद्धि के प्रकाश की सहायता से विवेक पर्यन्त विस्तार प्राप्त करती हैं। फिर उनमें से बुद्धि रस से भरे हुए आस्था रूपी पत्तों से सुशोभित सीधे सद्वृत्ति रूपी अंकुर फूटते हैं।

१८८ चहुं'''धनुधार = हे अर्जुन, जो चारों ओर वैदिक वाक्यों की ध्वनि से शब्दायमान होती रहती हैं।

१६० इस प्रकार यम नियम रूपी पत्तों से युक्त तपश्चर्या की शाखायें बढ़ती हैं और उससे वैराग्य की कोमल शाखा विस्तार को प्राप्त होती हैं।

पृष्ठ दोहा

१६२ जब तक सत्त्व रूपी वायु चलती है तब तक हे अर्जुन, सुविधा की झड़ी लगी रहती है और उस शाखा में से वेद रूपी सघन कोंपलें फूटती रहती हैं।

१६३ धर्म की शाखाएं फैलती हैं और उनमें से जन्म रूपी सरस (हरी भरी) शाखा निकलती हुई दिखाई देती है और हे अर्जुन, उसमें स्वर्गादि फल लगते हैं।

४०६ १९९ अंकुर · उदार हे अर्जुन, उनमें ब्रह्मा और शिव पर्यन्त नोकदार अंकुर निकलते हैं।

२०७ हे अर्जुन, ऊपर जो ब्रह्मादि लोक हैं उनका मूल मनुष्य-लोक ही है। इसलिये हमने इन शाखाओं को नीचे की ओर की जड़ कहा है।

२०९ अब किमि लहि उन्मूलता अब इसे उखाड़ा कैसे जाता है।

२२० हमने इस भवतरु का जैसा वर्णन किया है यदि यह वस्तुतः वैसा ही होता तो कौन माईका लाल ऐसा है जो इसे नष्ट कर सकता? क्या कभी आकाश किसीकी फूंक से उड़ सकता है।

२२१ कूर्मी घृत कछुई का घी अर्थात असंभव वस्तु।

२२५ सिरात · समाप्त होती है।

२३२ तो सजि आदि बखान · तो उसके 'आदि' का वर्णन करना ठीक होता ! ताकी = इसकी।

२३३ कहहु कौन · बताओ उसकी माता कौन है? मति भौन = बुद्धि के भण्डार (अर्जुन)

४११ २३४ फेर की। निबेर · पूरी हो सकती है।

२३६ जैसे घड़े का प्रागभाव घड़े की उत्पत्ति के बिना स्वयं सिद्ध है वैसे ही इस वृक्ष को भी अनादि समझो।

२३८ जैसे गोदावरी ब्रह्मगिरि से निकलती है और समुद्र से जा मिलती है क्या मृगतृष्णा का जल भी ऐसे ही किसी पर्वत से निकलता और किसी समुद्र में मिलता है? नहीं वह तो केवल बीच में ही दिखाई देता है।

२४१ जैसे बहुरूपिया अपने स्वांग से लोगों के मन का हरण करता है वैसे ही इस संसार की स्थिति के समय लोगों की दृष्टि अज्ञान के कारण भूल में पड़ जाती है।

२४५ इस (भवतरु) का उत्पत्ति और विनाश इतनी शीघ्रता से होता रहता है कि बिजली की गति भी उस से होड़ नहीं लगा सकती और समुद्र की लहरें भी किनारा कस लेती हैं, अर्थात हार के भय से दूर जा बैठती हैं।

पृष्ठ   ओवी

२४१ त्याग – त्याग । विलक्षः – अलग । [illegible] – [illegible] ।

२४३ बाद् विवेकादिक [illegible] में पड़ कर ।

२४४ अतः बुद्धि में इतना वैराग्य रूपी तथा और अटूट बल होना चाहिये कि जिससे हे अर्जुन, मनुष्य इस ज्ञान-खड्ग को अनायास धारण कर सके ।

४१२ २४७ जब संसार के सब पदार्थों से छींक आने लगे तब समझना चाहिए कि यथार्थ वैराग्य हो गया है ।

२४८ प्रत्यग् – सर्वथा ।

२४९ पजाय – पैनी करके ।

२६१ इसके अनन्तर ज्ञान रूपी हथियार तथा अपना निदिध्यासन ये दोनों एक रूप हो जावेंगे तो इस हथियार से [illegible] को मारने वाला कोई दूसरा नहीं होगा ।

२६७ लाने परे – इसके परे (ब्रह्म पुनि के परे)

२६८ है, और वह देखना ऐसा है जैसे जलका भरना कुएं में भरने के पूर्व अपने उद्गम में ही भरा रहता है ।

४१३ २७४ हे अर्जुन, जिस स्थान को पुराणों ने 'पुरुष' नाम से वर्णन किया है उसे जानने के बिना ही अर्थात् ज्ञाता बने बिना ही अनुभव करना चाहिये ।

२७७ मुक्ति के अभिलाषी लोग संसार और स्वर्ग से ऊबकर योग और ज्ञान का आश्रय लेकर फिर लौटकर वापिस न आने की प्रतिज्ञा पूर्वक जिस स्थान को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं ।

२७८ विजय पत्र धरि हस्त– हाथ में विजय का पत्र धारण करके ।

४१४ २८७ जैसे केले का वृक्ष आत्मलाभ अर्थात् फल आते ही बढ़ने से रुक जाता है वैसे ही जिनकी क्रिया आत्म-स्वरूप के लाभ से प्रबल हो धीरे धीरे बन्द हो जाती है ।

२९१ आयुष्यहीन पुरुष के शरीर को जैसे जीव एकदम छोड़ देता है वैसे ही जिन्हें मोहकारक द्वैत ने छोड़ दिया है ।

२९२ जैसे पारस को सदा लोहे का अकाल बना रहता है अथवा जैसे सूर्य को अंधेरा ढूंढे नहीं मिलता वैसे ही जिन्हें द्वैत-बुद्धि का सदा अकाल बना रहता है ।

पृष्ठ दोहा

२९८ करि एकोर ज्ञान दृष्टि की कोर से जिस बिखरे हुए ब्रह्म को ज्ञानी लोग एक कर लेते हैं।

३०२ जिमि मंदिर निकरि जब   जब मन्दराचल पर्वत बाहर निकल आया था।

२२२–२८ तक के पदों में अर्जुन ने भगवान कृष्ण से अपने हृदय की शंका का निरूपण किया है। 'उस परम धाम को प्राप्त करके वे वापिस नहीं लौटते' भगवान् के इस कथन को और अधिक स्पष्ट कराने के लिये अर्जुन पूछता है कि भगवन्, वहां जाने वाले लोगों का आप से कैसा सम्बन्ध है ? यदि वह आपसे भिन्न हैं तो जैसे भौंरे जो फूलों के पास जाते है वे (फूलों का रस लेकर) वापिस आ जाते हैं फूल बन कर वहीं तो नहीं रह जाते ? धनुष से छूटकर बाण लक्ष्य तक पहुंचता है और गिर पड़ता है क्योंकि वह धनुष से और लक्ष्य से भिन्न है (ऐसे ही वे भी अवश्य वापिस लौटते होंगे) यदि वे पुरुष स्वभावतः आपके ही रूप है तो कौन किस में आ मिलता है ? भला शस्त्र अपने आप में किस प्रकार घुस जाता है। जब आप (श्रीकृष्ण) और जीव एक ही है तो फिर मिलना और अलग होना कैसा ? भला अवयव—शिर हाथ पांव आदि का और शरीर का संयोग वियोग क्या सम्भव है ? (शिर आदि अवयवों के बिना शरीर की ही क्या सत्ता ?) हे सर्वतोमुख श्रीकृष्ण, मुझे समझाइये वे कौन हैं जो आप को प्राप्त करके फिर पलट कर नहीं आते।

४१६ २२९–४२ तक के पदों में अर्जुन की इस शंका का निवारण करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने समझाया कि जैसे पानी और तरंग, सोना और आभूषण व्यवहार दृष्टि से देखने पर भिन्न हैं परन्तु परमार्थ दृष्टि से एक हैं वैसे ही विश्व के साथ मेरा भी सम्बन्ध है। हे अर्जुन, ज्ञान की दृष्टि से वे पुरुष मुझसे अभिन्न हैं परन्तु मेरे अज्ञान के कारण भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं ॥२३४॥ यह भिन्न दर्शन ऐसा ही है जैसे प्रवाह के वश हो जल का तिरछा हो जाना, पानी में अलग २ सूर्यों का दिखाई देना, घड़े में गोल और मकान (मठ) में आकाश का चौकोन हो जाना। जिस प्रकार सोलह के भाव का सोना अन्य धातु में मिलकर 'हीन' बन जाता है ऐसे ही ब्रह्म मेरा शुद्ध स्वरूप मायामिश्रित होकर मलीन हुआ है।

३ दोहा

१७ २४४-४५ हे अर्जुन, वायु के कारण समुद्र का जल जब तरंगाकार होकर उछलता है तब जैसे वह समुद्र का छोटा सा टुकड़ा ही दिखाई देता है, ऐसे ही इस जीव लोक में मैं शरीराश्रय होकर अहङ्कार को जन्म देने वाला 'जीव' नाम से जाना जाता हूं।

२५१ अधिक क्या कहूं, शुद्ध आत्मा ही प्रकृति से एकता को धारण करके, प्रकृति के धर्मों को अपने पर आरोप कर लेता है।

२५५-६० यह आत्मा ही कभी मन रूपी रथ पर चढ़ कर श्रवण रूपी द्वार से निकल शब्द रूपी वन में घूमता है, कभी प्रकृति की बागडोर त्वचा रूपी दिशा की ओर खींच कर स्पर्श रूपी घोर वन में घुसता है, कभी नेत्र-द्वार से निकल रूप रूपी पर्वत पर स्वच्छन्द विचरता है, कभी रसना के रास्ते रसरूपी अरण्य में जाता है, कभी घ्राण-मार्ग से निकल कर सुगन्ध रूपी झाड़ी वन को लांघ जाता है। ऐसे यह जीव मन को स्वामी से लगा कर अतृप्त भाव से शब्दादि विषयों को भोगता है।

४१८ २६५-६७ जैसे अतिथि अपमान होने पर अपने साथ अपमान कर्ता का पुण्य खींच ले जाता है। जैसे डोरी कठपुतलियों को इधर उधर खींच ले जाती है, अथवा अस्तगामी सूर्य जैसे लोगों के नेत्रों के प्रकाश को भी साथ ले जाता है, अधिक क्या कहें जैसे पवन सुगन्ध हर ले जाता है। हे अर्जुन, वैसे ही जब जीव शरीर छोड़ कर जाता है तो पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठे मन को साथ ले जाता है।

अर्थ ः जीह जिह्वा, जीभ।

२६९. अंजोरिये जलाइये।

२७२ इस प्रकार जन्म-मरण या कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये प्रकृति के धर्म हैं जिनको आत्मा अपना समझता है।

४१९ २७५ विषयों को भोगते २ जब शरीर क्षीण हो छूट जाता है और चेतना नहीं दिखाई देती तब कहते हैं 'मृत्यु' हो गई।

२७७-७८ क्या दर्पण सामने रखकर जब अपना स्वरूप दिखाई पड़े तभी अपनी उत्पत्ति जाननी चाहिये ? क्या उससे पहिले हमारा शरीर न था। अथवा दर्पण दूर करने पर जब हमारा रूप छिप जाता है तो क्या समझना चाहिये कि हम ही नहीं रहे ?

दोहा

३७६ शब्द वास्तव में आकाश का धर्म है पर लोग उसे बादलों के सिर लगा देते हैं (लोक में कहते हैं न—कि 'बादल गर्ज रहा है') तथा जैसे बादलों की चाल को चन्द्रमा का चलना समझ लेते हैं।

३८२–८३ जो ज्ञान के कारण केवल स्थूल शरीर को देख कर ही नहीं रह जाते। किन्तु जैसे सूर्य की किरणें ग्रीष्म काल में बड़ी तेजी से फैलती है इसी प्रकार जिनकी दृष्टि स्वरूप में अवस्थित हो जाती है वे ज्ञानीजन ही आत्मा को ऐसा (तत्त्वतः) देखते हैं।

४२० ३९१–९२ परन्तु चाहे ज्ञान भी प्राप्त हो जाय, बुद्धि समस्त पदार्थों के मर्म को समझ ले और सम्पूर्ण शास्त्रों का तत्त्व भी मिलजाए परन्तु यदि मन में वैराग्य नहीं है तो मुझ सर्वव्यापक से भेंट होनी सम्भव नहीं है।

३९३ तो मम "विचार उदार हे अर्जुन, 'उसे मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती, नहीं हो सकती, नहीं हो सकती—यह सत्य है।

३९४ आँखों पर पट्टी बाँधकर यदि मोती को नाक से लगाकर सूँघा जाय तो मोती का मोल भला कैसे जाना जा सकता है।

४२१ ४०१ रजकन ढेला धीर—हे अर्जुन, जो मिट्टी के कणों के ढेले के समान है वह पृथ्वी।

अर्थ १४ चौविध चार प्रकार का—रूखा, स्निग्ध, अग्नि पर पकाया हुआ और भूना हुआ। गमोय—युक्त होकर।

४०७ कंदर्पठ नाभि स्थान। असह श्वास।

४११ अब इससे अधिक अपनी व्यापकता की अपूर्वता का और क्या वर्णन करूँ ? संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है, सर्वत्र मुझे ही देख लो।

४२२ ४१५ अथवा सूर्य तो एक ही है परन्तु उसके उदय होने पर लोग उसका उपयोग भिन्न भिन्न प्रकार की चेष्टाओं अर्थात व्यवहारों में करते हैं।

४१९ जिस प्रकार ज्ञानहीन और चतुर पुरुषों के सम्मुख रखा हुआ दो लड़ियों वाला हार अज्ञानियों को सर्प प्रतीत होता है पर ज्ञानियों के लिये तो वह सुख का आधार है।

४२० अति किमि व्याख्या क्या करूँ।

४२४ व स्वयं अपना स्वरूप देखकर आत्म-रूप मुझ आत्मा में सुख अनुभव करते हैं। भला

पृष्ठ टीका

[illegible] का कारण तेरे सान्निध्य से आलिंगन [illegible] नष्ट हो सकता है।

४२१ ४२७ स्वर्ग और संसार की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड [illegible] के पूर्ण रूप आत्मा को ही प्राप्त करते हैं।

४२८ जागृत नींद को [illegible] जैसे जागने वाले की निद्रा और स्वप्न में जागृति की कल्पना होती है अर्थात् जब पुरुष पर्याप्त समय तक जागता रहता है तभी तो उसे नींद आती है, स्वप्न दीखते हैं।

४२९ घूंघटे [illegible] छिपता था प्रकाशित। [illegible] जाता है।

४३२ जैसा मैं हूँ वैसा मुझे न पहिचान कर [illegible] ने मुझे जानने की चेष्टा की। बुद्धियों ने उसकी अनेक शाखायें बनाई और विभाग हो गए।

४३४ ब्रह्म [illegible] अर्थात् ब्रह्म के समीप पहुँचने ही शब्द सहित श्रुति शान्त हो जाती है।

४३७ निजांग [illegible] अपनी एकता भी जिनको ही प्रतीत होती है।

४४१ यदि कोई और समूल जल को ही भूख कर [illegible] सकता है? अगर ऐसी कोई बुद्धि हो जाती है तो [illegible]।

४४४ अनुभव मूल को [illegible]।

४४८ कहा 'भगवान् परन्तु क्या किसी ने ऐसा प्रश्न ही नहीं किया? अर्थात् कोई ऐसा प्रश्न करने वाला नहीं मिलता।

४२४ ४५१ जैसे दर्पण सम्मुख आ जाने पर अपने नेत्र आप ही दिखाई देते हैं वैसे [illegible] सभासदों के शिरोमणि तुम (दर्पण रूप) हो।

४५२ हे तात, तुम्हारा हमारा ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि जब तुम किसी बात को नहीं जानकर प्रश्न करते हो, और तब मैं फिर तुम्हें उसका उत्तर सुनाने बैठता हूँ।

४५३ काढ़ल दूर शोक — कहते हुए उन्होंने पार्थ के शोक को दूर किया।

४५४ जैसे दोनों ओठों से मिलकर एक ही शब्द निकलता है, दोनों चरणों से एक ही गति उत्पन्न होती है, वैसे ही तुम्हारा प्रश्न करना और मेरा उत्तर देना है।

४५६ प्रेम न इतो यथार्थ—इतना प्रेम उचित नहीं है।

४५७ जैसे जब ईख से गुड़ बनाया जाता है तो उसमें (विभिन्न-रसता उत्पन्न करने के

पृष्ठ दोहा

लिये थोड़ा सा नमक डालना पड़ता है ऐसे ही इस रसपूर्ण संवाद में यदि हम और तुम दोनों पृथक् न हो. तो. यह हमारा ऐक्य उसे नीरस बना देगा।

४६३-६४ यदि किसी को यह आशंका हो कि प्रश्न तो निरुपाधि के विषय में किया गया है और उत्तर में उपाधि का वर्णन क्यों किया जाता है तो छाछ को पृथक् करना ही जैसे माखन निकालना कहलाता है, उत्तम सोना प्राप्त करने के लिये जैसे खोट को दूर करना जरूरी होता है (ऐसे ही निरुपाधि के ज्ञान के लिये उपाधि का ज्ञान जरूरी होता है।)

४६८ कुण्ठित शब्द बिजोग=वर्णन शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

४२५ ४७३ तीसरा एक पुरुष और भी है जो इन दोनों के नाम को भी नहीं सह सकता, जिसके उदय हो जाने पर नगर के यह दोनों नष्ट हो जाते हैं।

४७४ इन दोनों (क्षर और अक्षर) पुरुषों में से एक अन्धा, (ज्ञान-दृष्टि-शून्य) भ्रम-युक्त, ('अस्थि-चर्ममय देह' को अपना समझने वाला) और लंगड़ा (सोपाधिक प्रपंच की दुनियां से बाहर चलने में असमर्थ) है, दूसरा पूर्णांग है। इन दोनों का समागम ग्राम-गुण एक ही ग्राम में निवास गुण के कारण हुआ है।

४८३ भ्रान्ति रूपी जंगल की लकड़ी से जिस सम्पूर्ण सृष्टि के आकार की रचना हुई है, अभिप्राय यह कि जिस वस्तु का नाम जगत है।

४२६ ४८८ या जैसे आकाश विद्यमान है फिर भी उसमें बाह्य आकाश प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही हे अर्जुन अद्वैत में भी द्वैत का निवास जानो।

४६० बररी लागे अर्थात=(निद्रा में) बहुत बर्राने लगता है।

४६६ उसे पूर्ण होने के कारण से 'पुरुष' कहा ही जाता है किन्तु वह इसलिये भी पुरुष कहा जाता है कि वह शरीर रूपी नगर में शयन करता है। ('पुरि शेते' इति पुरुषः)

५०३ जैसे सुमेरु पर्वत पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल इन तीन लोकों से भिन्न नहीं होता वैसे ही 'पुरुष' ज्ञान और अज्ञान इन दोनों से भिन्न नहीं होता।

५०४ यह (अक्षर) उस मिट्टी के पिण्ड के समान मध्यस्थ है जिसका रजःकणत्व तो (पानी डालकर गूंधने से) नष्ट हो गया है परन्तु अभी वह घड़े आदि बर्तनों के रूप में नहीं बना है।

१५ पृष्ठ

४२७ गाढ़ घना ।

५१२ और जो घोर अज्ञान रूप सुषुप्ति है वह बीज भाव कही जाती है और स्वप्न या जागृति फल भाव कहलाता है ।

५१४ बहु प्रकाश बुद्धि का अपार बल प्रकट होता है ।

५१७–१८ जो अज्ञान, घोर सुषुप्ति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है वही जिसमें एक कमी है, अन्यथा जिसका परिणाम भी ब्रह्मप्राप्ति ही होता, जिसके अनन्तर है जागना, यदि निद्रा स्वप्न या जागृत दशा न आती तो जिसे निःसंदेह मोक्ष कह सकते थे ।

५२५ जो जीव रूपी कार्य (क्षर पुरुष) का कारण है और माया का सदा संग करना ही जिसका चिन्ह है उस चैतन्य को अक्षर पुरुष जानो ।

४२८ ५३५ है या नहिं नहिं जाना कुछ है या नहीं यह भी नहीं जाना जाता ।

५३७ ईश्वर का यह सब वर्णन भी हे अर्जुन, उसे पद से न मिलने के कारण तथा मैं जानता हूँ ऐसा अभिमान रखने के कारण ही किया जाता है और यह वर्णन ऐसा है जैसे कि किसी डूबते हुए मनुष्य का वर्णन तट पर खड़ा कोई व्यक्ति करे । अर्थात् जैसे डूबा हुआ आदमी अपने डूबने की दशा तथा अनुभव का वर्णन करने नहीं आता, वैसे ही ब्रह्म का वर्णन भी जीव उसी समय तक करता है जब तक वह उसमें डूबता नहीं । तदाकार हो जाने पर उसका वर्णन कैसे कर सकता है ?

५३९ पर तीरस्थ उद्गार पर तीरस्थ आत्मा को कहते हैं ।

५४१ जिसका मौन ही शब्द है, समस्त वस्तुओं का ज्ञान न होना ही ज्ञान है, और जिसका अस्तित्व किसी वस्तु के स्वरूप का अभाव है । ऐसी जो महान वस्तु है ··· ।

५४३ अरु ··· जाय तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु नहीं है ।

५४७ महानाद को सुनने के लिये जो स्वयं नाद है स्वाद का आस्वाद लेने योग्य स्वाद है, जो आनन्द के ही भोगने योग्य भावातीत आनन्द है ।

४२९ ५५१ जैसे सीपी चांदी (रूपो) नहीं होती, पर चांदी जैसी दिखाई देती है उसके अन्दर चांदी होने का आभास तो अज्ञानी को ही होता है ।

५५३ कल्लोल—तरंग ।

पृष्ठ ओवी

४३० ५६१ माल=माला। सर्पाभासी=सर्प के कारण उत्पन्न हुआ।

५६६ पहुनई=आतिथ्य सत्कार। सकाय=समर्थ होता है।

५७१ जो "उपमान=कमलदल के समान उपनिषदों की सुगन्ध है।

४३१ ५७७ दिवि-अस्त्र=दिव्यास्त्र,

५७६ हे अर्जुन, गुप्त चैतन्य रूपी शङ्कर की जटा में गुप्त गंगा (गोदावरी) रूपी धन को प्रकट करने के लिये आज तुम श्रद्धानिधि गौतम बन गए। तुम्हारे कारण ही यह गुह्य ज्ञान लोकोपकारार्थ प्रकट हुआ।

५६४ सेवती=एक फूल का नाम।

४३२ ५६८ लाड़=लाड़ प्यार।

षोडश अध्याय

४३३ १ अद्वय=अद्वैत स्थिति। हुलास=प्रसन्नता से।

१० जिस गुरु निवृत्तिनाथ रूपी सूर्य के सोऽहं भाव रूपी मध्याह्न-काल में आत्मबोध रूपी शिखर पर आते ही आत्मस्वरूप विषयक भ्रान्ति की परछाईं पावों तले छिप जाती है, अर्थात् नष्ट हो जाती है।

४३४ २३ रविनीराजन "निरार=दीप-वर्तिका जल कर सूर्य की आरती उतारने में आरती करने वाले की भक्ति ही देखी जाती है।

२४ जो न "काहि=यदि बालक अच्छा बुरा समझने लगे तो उसका बालकपन ही कैसा?

२७ अन्धकारमय आकाश जब सूर्य के सम्मुख आता है तो क्या उससे सूर्य यह कहता है—'दूर हट जा।'

पृष्ठ ओवी

३२ मेरी वाणी ने अनेक कल्प पर्यन्त सत्य-भाषण रूपी तप किया होगा जिससे हे प्रभु, मुझे इस गीता रूपी महा द्वीप की फल प्राप्ति हुई।

४३५ ३७ तो ' किति ' तो अंधेरे का नाश हो जाने पर क्या उसे संसार 'उजाला' नहीं कहेगा ?

४४ बाद में 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' आदि श्लोकों द्वारा उत्तम पुरुष के वर्णन के बहाने से सरल शब्दों में परम उत्कृष्ट 'आत्मतत्त्व' ही दिखा दिया।

४५ जिज्ञासुओं को जबतक भलीभांति ज्ञान की प्रतीति नहीं होती तब तक उन्हें योग क्षेम की अर्थात् अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति और प्राप्त ज्ञान की रक्षा करने की उत्कण्ठा अवश्य होगी।

४३६ ६६ संसार में सम्पत्ति उसे कहा जाता है जिस एक के सम्पादन से एक दूसरे की वृद्धि करने वाले अनेक पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है।

६८ कृति'''नोहि बाढ़ के पानी में यदि न घुसें तो डूबने का भय नहीं रहता।

७५ अथवा जैसे चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदा वाली वृद्धि एवं अमावस्या की क्षय स्थिति की अपेक्षा न करते हुए इन दोनों स्थितियों के मध्य अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अपने मूल स्वरूप में रहता है (ऐसी साम्यावस्था का नाम है--'सत्त्व शुद्धि')

४३७ ७६ सन्धिकाल (वर्षा और ग्रीष्म का) मध्यकाल - शीतकाल।

८८ अंजन मोक्ष निधान - मोक्ष रूपी गुप्त धन को प्रकट करने वाला दिव्यांजन (सुरमा) है।

९४ ब्राह्मण को अग्र भाग में करके अर्थात् ब्राह्मण से लेकर, प्रमदा (स्त्री आदि) पर्यन्त अपने अपने अधिकार के अनुसार वर्णाश्रम-धर्म का आचरण करना।

९६ द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, एवं वैश्य को षट् कर्म - यजन याजनादि शास्त्रोक्त ६ कर्मों को करने से जो फल मिलता है वही फल शूद्र को केवल उन्हें नमस्कार करने मात्र से मिल जाता है। ये दोनों द्विज एवं शूद्र की स्वधर्मानुकूल क्रियायें यज्ञ के बराबर ही हैं।

४३८ ९८ भाव - भाव। आश्रम - आश्रय स्थान।

१०३-१०४ वेद प्रतिपाद्य ईश्वर का साक्षात्कार हो सके इसलिये निरन्तर श्रुतियों का अभ्यास करना, ब्राह्मणों का ब्रह्मसूत्र पढ़ना और अन्य लोगों का तत्त्व-प्राप्ति के लिये बार २ स्तोत्र या नाम-मन्त्र का पाठ करना यही स्वाध्याय कहलाता है।

४३ दोहा

१०६ दान स्वयं सर्वस्व रो अपना सर्वस्व दान दे देना। जैसे ' जात=जैसे इन्द्रायन अर्थात वनस्पतियां फलकर स्वयं सूख जाती हैं।

११० हे अर्जुन, जो तप अन्तःकरण में ऐसा विवेक उत्पन्न करता है कि उसके उत्पन्न होते ही देह और जीव का सङ्गठन टूट जाता है। (अनित्य देह तथा नित्य आत्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है।)

१११ कुंठित ''आत्म विचार=तप के द्वारा आत्म-विचारको प्राप्त करते ही बुद्धि विषम—भेद-युक्त मार्ग में कुण्ठित हो जाती है।

अर्थ २ कोप विन=क्रोध रहित होना। थिरान्त=स्थिरता।

११५ जाती चमेली।

१२० भक भ्रतारणा, ठग। भका न पाय=चोट नहीं पाता, अर्थात किसीको कष्ट नहीं पहुंचाता।

१२१ वास्तविक सत्य कभी कभी घातक भी होता है जैसे बहेलिये का गाना सचमुच मधुर होता है परन्तु घातक होता है, अग्नि भी सचमुच मधुर होता है परन्तु वह भी जैसे विनाशक है। अतः ऐसा सत्य जल जाय (तो अच्छा है।)

१२६ उरग पसार- सांप की केंचुली के सिर पर पैर रखदो परन्तु वह फिर भी अपना फन नहीं फैलाती।

१२८-१२६ जिन शब्दों से बालक भी क्रोध में आ जाए ऐसे अनेक शब्दों को इकट्ठा करके उसे क्रोधित करने के विचार से बोला जाय फिर भी उसके हृदय में क्रोध उत्पन्न नहीं होता। जैसे समाप्त-आयु मरणासन्न पुरुष एक घड़ी और जीने के लिये ब्रह्मा के पास भी पहुंच जाय तो भी वह नहीं जीवित होता।

४४० १४० ज्ञेय (परमात्मा) की प्राप्ति होते ही जब ज्ञातृत्व ही पेट में समा जाय, हे अर्जुन, तब जो शेष रहता है वही शान्ति का स्वरूप है।

१४२-४६ जैसे पूजा करके फिर देव का दर्शन प्राप्त किया जाता है, बीज बोकर (उसकी देख भाल के लिये) फिर खेत में जाया जाता है, अतिथि को सन्तुष्ट करके फिर प्रसाद ग्रहण किया जाता है, वैसे ही अपने गुणों के बल से दूसरे की कमी को दूर करके फिर उनकी ओर दयापूर्ण दृष्टि डालना, अपैशुन्य' कहाता है। चखु— चक्षु।

पृष्ठ　दोहा

१४८ खाली भरै रिताव　खाली (मनुष्य आदि) को भरै रिता।

४४१　१६८ बिन प्रतिबन्ध　निर्बाध रूप से फैला हुआ आकाश।

१७० कूर्म दृष्टि तिहि बाल　अपने बच्चों पर कछुवी की दृष्टि (कछुई अपने बच्चों को नेत्रों से ही सेती है)

१७५–८२ तक के दोहों में कमा प्राप्त 'ह्री' अर्थात लज्जा का निरूपण किया गया है ॥ १६६ ॥ सार्धत्रय कर देह　साढ़े तीन हाथ का शरीर।

४४२　१८४ गोय　छिप जाती है।

१८५ हे अर्जुन इस प्रकार मन और प्राणों का संयमन करने से सभी इन्द्रियाँ पंगु हो जाती हैं। 'अचापल्य' का यही वास्तविक अभिप्राय है।

१९१ सब सहने वालोंमें श्रेष्ठ होते हुए भी गर्व का न होना ही क्षमा है, जैसे कि शरीर ने असंख्य रोगों को धारण किया हुआ है लेकिन उसे उनकी खबर भी नहीं होती।

४४३　२०१ छोरहिं= छुड़वाते हैं। निरवान =दूर करना।

२०२ अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये अन्य किसी के अहित करने की इच्छा रूपी अकुशल भावना जिसे अच्छा नहीं लगता।

२०८ यह दैवी सम्पत्ति मानों वैराग्य रूपी सगर पुत्रों के भाग्य से गुण-गीतों से युक्त नित्य-नूतन गंगा ही आ गई है।

२०६ अथवा हे अर्जुन, मानों मुक्ति रूपी बाला इन छब्बीस गुण रूपी पुष्पों की माला लेकर निरपेक्ष वैराग्य रूपी वर के कण्ठ में पहिनाती है।

२१४ अबल शक्ति निजकर गही　अपनी अबला शक्तिको सावधान करके अर्थात् आसुरी गुणों।

४४४　२१६ चौहाटहिं= चौराहे पर। अपराय = प्रकट करने से।

२२० तिहि नौकहिं सिर बांधि तिमि　उस नौका को सिर पर बांधने से।

२२५ शराब से मस्त हुआ योद्धा जैसे गजेन्द्र (ऐरावत) को भी अपने सामने तुच्छ गिनता है। कंटीले वृक्ष पर चढ़ा हुआ गिरगट जैसे स्वर्ग को भी नीचा समझता है।

२२६ मदजात=मस्त हो जाता है। जान जानि=मत जानो।

पृष्ठ दोहा

२३४ जुगनू को जैसे सूर्य की रोशनी से त्रास पहुँचता है, पतंगे को जैसे प्रकाश नहीं भाता और टिटिहरी ने जैसे समुद्र से बैर साधा था* वैसे ही वह आसुरी प्रकृति वाला व्यक्ति अभिमान के वशीभूत रहता है।

४४५ २४३ जिसका मन सर्प की बांबी हो, आंखें छूटे हुए बाणों की नोक हों, जिसकी वाणी मानों निरन्तर अग्नि की वर्षा हो।

२४८ दर्वी कड़छी।

४४६ २५१ किंवा थकि वश चोर=अथवा डर कर भागता हुआ मनुष्य जैसे थक कर महा पूर (बाढ़) में पड़ जाय या विश्वास करने वाला मनुष्य चोरों के वश में आ जाय (वैसे ही लोगों को ये दम्भोप आ घेरते हैं।)

२६२ पागरी सीढ़ियां।

४४७ अर्थ ७ शौचाचार सदाचार अर्थात पवित्रता और अपवित्रता का विचार तथा आचरण।

२८२ कोश कृमि रेशम का कीड़ा।

२८७ वह विधियुक्त कर्मों की इच्छा को छोड़ देता है, पूर्वजों के मार्ग पर नहीं चलता, हे अर्जुन, शास्त्रविहित कर्मों को करना तो वह जानता ही नहीं।

४४८ २६८ मख यज्ञ। करिके भगवे भेष—भगवां वेष धारण करके।

३०० अतः आँहि= विषय सुख से हीन होकर दुखित होना ही 'पाप' है।

४४९ ३०४ आसुरी प्रवृत्ति के लोग कहते हैं कि 'चोरी करके लाया हुआ धन जो आदमी खाते हैं उन्हें वह धन विष के समान मार नहीं डालता और अनुचित प्रेम के द्वारा जो व्यभिचार करते हैं उनमें से कौन कोढ़ी हुआ है।

३१४ प्रगट उघार प्रकट एवं खुले रूप में=खुल्लम खुल्ला।

३१६ वासना इच्छा, यहां स्वर्ग प्राप्ति एवं नरक से बचने की इच्छा से अभिप्राय है।

३१७ कर्दम विषय स्वरूप- विषय रूपी कीचड़ में।

३१८ ओहहिं धीवर जाय तब ओहहिं (गहार में) धीवर (मछुवा) चला जाता है।

---

*टिप्पणी—समुद्र ने एक बार एक टिटीहरी के अण्डे बहा दिये तो उस पर नाराज हो वह अपनी चोंच द्वारा जल बाहर निकाल २ कर समुद्र को सुखाने का प्रयत्न करने लगी। ('पंचतन्त्र')

पृष्ठ दोहा

४४० ३२६ मगं धेनु = मार्ग में खोई हुई गाय।

३३१ चिन्तातल पाताल ते = चिन्ता पाताल से भी गहरी है।

४४१ ३४१ काम ऊंचे से ढकेलता है तो वे (आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य) क्रोध की टेकरी पर आकर टिक जाते हैं, फिर भी वे काम-क्रोध के प्रेम के कारण मन में फूले नहीं समाते।

३४३ भोगों के लिये अवश्य धन को इकट्ठा करने के लिये वे छीना-झपटी करते हैं।

३४५ खांसी—खिचड़ी। श्वान कुत्ता। बोरा = नाज का थैला।

४४२ ३५२ बहुरि जीतिहौं आन = और दूसरों को भी जीतूंगा।

४४३ ३६० अभिचार—किसी को मारने के लिये किया जाने वाला मारण प्रयोग, जो लुप्त हो गया है, हम उसका जीर्णोद्धार करेंगे। शत्रुओं को पीड़ा देने वाले यज्ञों की स्थापना भी हम करेंगे।

३७३ जिस नरक में तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्तों के वृक्ष हैं, खैर के अंगारों के पर्वत हैं और तपे हुए तेल के उफनते हुए समुद्र हैं।

४४४ ३७४ यजनादिक सदुपाय = यज्ञ यागादि रूप उपाय करते हैं।

३७८ जो न आहि सामान्य = असामान्य अर्थात् विशेष।

३८७ लेहिं नैंगियाय = लूट लेते हैं। निपटें = बहाने से।

४४५ अर्थ १८ सहारि = सहते।

३८२ फिर मानो दूसरे बलवान की कीर्ति ही बिलकुल मिटा देने के लिये अनेक बलवानों से भी अधिक बल आ जाता है।

४६८ मुठभेर = दुराग्रह से।

४०० अभिचारक = हिंसा करने वाले। चैतन्यहिं = अर्थात् आत्मा का।

४४६ ४०७ उन मूर्खों को क्लेश रूपी गांव का कूड़ा या संसार का पनघट जैसी नरक-योनियों की वृत्ति में ही देता हूं।

४१२ काढ़ि न अवधि महान् = इतनी लम्बी अवधि होने पर भी बाहर नहीं निकालता।

४१६ असगुन उपजि अमंगलहि = अमङ्गल भी जिन्हें देख अपशकुन मानता है।

पृष्ठ ओवी

४४७ ४२१ आइह काहल रोवत बचन = उन (आसुरी वृत्ति वालों) का वर्णन करते हुए वाणी रो उठती है।

४२६ हे अर्जुन, सम्पूर्ण दुःखों ने लोगों को अपना दर्शन देने के लिये, काम, क्रोध और लोभ को अपना मार्गदर्शक बना रखा है।

४३२ त्रिपुटी काम, क्रोध और लोभ का समुदाय।

४४८ ४३७ ठांव ' सुजान हे अर्जुन इनका जड़ मूल से नाश करके इनका नाम ही मिटा दो।

४३६ त्रिदोष शरीर से निकल जाएं, चोरी, जारी, हत्या की त्रिकुटी से नगर मुक्त हो जांय, अथवा अन्तःकरण के आध्यात्मिक, आधि-भौतिक और आधि-दैविक सन्ताप शान्त हो जांय तो जैसा सुख होता है।

४४९ ४५१ मानो मछली के लालच में यदि मछुआ की भांति जल में डुबकी लगा कर बाहर आवे तो वह दोनों खो देता है—मछली तो हाथ लगती ही नहीं, नास्तिकता के कलंक का टीका भी लगता है—ब्राह्मणत्व भी चला जाता है।

४६१ हे अर्जुन, यदि वेद के विषय में ऐसी एक-निष्ठता हो जाए तो कौन अनिष्ट है जो उसके पास फटक सके।

४५० ४७२ ज्ञानदेव जी कहते हैं कि हे नाथ, मुझे प्रसाद रूप में आप लोग अपना एकत्र किया हुआ ध्यान दें तो मैं सनाथ हो जाऊं। अर्थात् आप लोग सावधान होकर गीतार्थ का श्रवण करें।

सत्रहवां अध्याय

सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भिक २० पद्यों में श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने गुरु श्री निवृत्तिनाथ की गणपति के रूप में वन्दना करते हुए विविध रूपकों द्वारा उनकी आध्यात्मिक सामर्थ्य का वर्णन किया है। जिनकी योगसमाधि से यह विकसित संसार संकुचित हो जाता है, त्रिगुण रूप असुरों से घिरा, जीव-किले में बन्द यह आत्मा रूपी शङ्कर

पृष्ठ दोहा

आपके स्मरण-मात्र से मुक्त हो जाता है। जो गरुता में शिव की अपेक्षा भारी होते हुए भी भक्त के उद्धार के लिये नौका से भी हलके हैं, जो अज्ञानी के लिये तो वक्रतुण्ड (टेढ़े मुख वाले) हैं परन्तु ज्ञानी के लिए बड़े सरल। दीखने में इन गणेश महाराज के नेत्र छोटे २ मालूम होते हैं परन्तु उनके खोलने और बन्द करते ही सृष्टि और प्रलय जैसे महान कार्य होते हैं। इनके प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपी दो कान हैं जिनके हिलाने से जीव क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति की ओर आकर्षित होते हैं। गणेश जी की मोहिनी माया के सुन्दर ताण्डव नृत्य का आभास रूप यह संसार उन्हीं की कौशल का परिचायक है। ये भगवान गजराज जिसमें सम्बन्ध कर लेते हैं उसका द्वैतभाव से सम्बन्ध छूट जाता है।

४६१ १२ आपको भेदबुद्धि से अलग समझ कर जो अनेक मार्ग द्वारा आप तक पहुँचने को दौड़ता है उसे आप नहीं मिलते उससे आप प्रायः दूर ही रह जाते हो।

४६२ १८ जाचन बिलग नहि जलहि परि जैसे पानी में पड़ने पर नमक उससे दूर, भिन्न नहीं रह जाता।

२१ अशोक भगवान कृष्ण।

२२–२६ सोलहवें अध्याय में भगवान के इस वचन को सुनकर कि "शास्त्र विधि पूर्वक कर्म करने से ही सिद्धि मिलती है अन्यथा नहीं", अर्जुन मन में सोचता है कि यह कैसी कठिन बात है कि शास्त्र-विधि के आचरण के बिना मुक्ति होना सम्भव नहीं। यथा सांप के फण में से मणि निकाल कर और उसे शेर की नाक में से उखाड़े हुए बाल में पिरोकर ही कण्ठाभूषण बनाया जा सकता है अन्यथा क्या वह रिक्त ही रहेगा? इसी भांति नाना शास्त्रों के वचनों की एकवाक्यता करके उनके अनुसार कौन उसका उपयोग कर सकता है।

३१–३३ इन तीन दोहों में अर्जुन की विशेषताओं का वर्णन किया गया है यथा जो अर्जुन सब विषयों से निरीह है, सकल कला-पारगत है, जो श्रीकृष्ण का ही दूसरा रूप है परम शूरवीर, चन्द्रवंश का शृङ्गार, बुद्धिरूपी स्त्री का प्रियतम और ब्रह्म-विद्या का विश्रान्ति स्थान है।

पृष्ठ गाथा

४६३ ३६ अधिक क्या, शास्त्र के विषय में जो एक नख के बराबर भी प्राप्ति नहीं कर सकते इसलिये जिन्होंने शास्त्र की ऊहापोह— विचार विमर्श को ही छोड़ दिया है।

४६-५८ तीन पद्यों में विशेषणों द्वारा श्रीकृष्ण का वर्णन है यथा—जो वैकुण्ठ के अधिपति हैं, वेद कमल के पराग हैं जिनके अंगों की छाया से यह संसार जीवन धारण करता है, सहज बलवान् काल तथा अलौकिक, दुर्गम, अद्वितीय एवं आनन्दमय मोक्ष ये दोनों जिसकी सामर्थ्य के आधार से महत्ता प्राप्त करते हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण बोले।—

४६४ ५६ प्राणि तो सब स्वभावतः अनादि माया के प्रभाव के कारण त्रिगुणों के ही बने हुए होते हैं।

६५ जब अन्तःकरण में तमोगुण की आग भड़कती है तब उससे वही श्रद्धा भिन्न होकर यथेच्छ मनचाहे अनेक भोगों को भोगती है।

४६५ ६८ जैसे जल यों तो जीवनप्रद है, परन्तु विष के संसर्ग से मारने वाला बन जाता है, मिरच के साथ मिलकर चरपरा हो जाता है और गन्ने के रस के संयोग से मीठा हो जाता है।

७७ नवेरु विधिविधान से। नदि वेरु अविलम्ब।

४६६ ८४-८७ सात्विक पुरुष ने चाहे सम्पूर्ण शास्त्रों का और महासूत्र का अभ्यास न किया हुआ हो, सिद्धान्त स्वतन्त्रतया उसके हाथ चाहे कभी न लगे हों, तथापि जिन्होंने मानों स्वयं ही श्रुति एवं स्मृति के अर्थों का रूप धारण किया है और तदनुसार आचरण करके जो संसार में प्रसिद्ध हुए हैं—ऐसे सत्पुरुषों के आचरण रूपी चरण-चिन्हों पर श्रद्धापूर्वक चलने से वही फल उसे इस प्रकार प्राप्त होता है मानों वह उसके लिए पहले से ही तयार रखा हो।

६२ जो अधिक से अधिक शास्त्रानुष्ठान में निपुण हैं, जो श्रद्धालु उनका अनुकरण करता है वह मूर्ख हो तो भी तर जाता है।

६५ विराय बिखाते हैं।

६७ जरत ' रिताय =श्मशान के अग्नि कुण्ड में रक्त मांस से भरे हुए यज्ञ-पात्र में रखी हुई हवन सामग्री को डालते हैं।

पृष्ठ　दोहा

४६७　९८ जो बड़ी जिद पूर्वक सात २ दिन तक अनशन व्रत करते हुए जल भी ग्रहण नहीं करते और इस प्रकार भूत प्रेत आदि तुच्छ देवताओं को रिझा कर वर प्राप्त करते हैं।

१०४ अधिक''''बीन अधिक क्या कहूं दुखरूपी पत्थर बीन बीन कर वे मुझे उनसे पूर देते हैं।

१०६ हे अर्जुन, ऐसे पापियों का तो वाणी से नाम भी न लेना चाहिये, पर प्रसंगानुसार हमें इसलिये उनका वर्णन करना पड़ा कि जिससे उनको पहिचान कर उनका त्याग किया जा सके।

११२ देखिय हमि साधारणहु=सामान्य दृष्टि से अगर देखा जाय तो

४६८　१२१ और रहत''''' बनिहार खाने वाला तीन गुणों का दास बन कर रहता है।

४६६　१२६ जो भी गुरु मुखसे निकले अक्षरों के समान देखने में छोटे, पर परिणाम में बड़े होते हैं जिन पदार्थों का भोजन तो थोड़ा किया जाता है पर तृप्ति अधिक होती है।

१३२ जब इस प्रकार शरीर में सात्त्विक रस रूपी मेघ बरसते हैं तब आयुष्य रूपी नदी की बाढ़ प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।

१३७ यह''''लगाम=यह सात्त्विक भोजन अन्तर (मन) और बाह्य (शरीर) दोनों का परम उपकारी है।

अर्थ ६ खर=तीखे। रूक्ष=रूखे।

१३६ जो''''मान=केवल मारक गुण के अतिरिक्त जो कालकूट के ही समान हैं।

१४२ राजसी मनुष्य ऐसे गरम पदार्थ खाना चाहता है कि जिनकी भापों के अग्र भाग पर अगर दिये की बत्ती लगा दो तो वह भी जल जाए।

१४३ साबल=सब्बल, पत्थर उखाड़ने का डंडा।

४७२　१५८ हे अर्जुन, जिस प्रकार गन्तव्य मार्ग सूर्य उदय होने पर स्पष्ट दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार जो वेद के प्रकाश में ही कर्म करते हैं।

१८६ आम=अन्य। आमह=हठ।

४७३　१६२ तमोगुणी पुरुष को न शास्त्र-विहित कर्मकी परवाह रहती है और न ही मन्त्र स्वर आदि से उसे मतलब। मक्खी के समान उसका मुख किसी भी अन्न को स्पर्श करनेसे नहीं चूकता।

पृष्ठ दोहा

अर्थ १४ तप-काय--शारीरिक तप।

४७४ २०६ हे बुद्धिमान् अर्जुन, जो स्वधर्मरूपी अग्नि में देहाभिमान रूपी स्वर्ण की मैल को योग-विद्याध्ययन की बहुत सी पुट देकर भस्म कर डालते हैं (वे शारीरिक तप से युक्त हैं)।

२११ जन्म के प्रसंग से स्त्री का स्पर्श हुआ, सो हुआ, किन्तु इसके पश्चात् जन्म भर जो स्त्री के शरीर को छूते तक नहीं (वे तपयुक्त पुरुष हैं)।

४७५ २३१ नासहि भावन भीतिमन =मन का डर और कम्पन नष्ट हो जाता है।

२३२ कारन--करने के लिये।

२३५ देखो जैसे हथेली बालों से रहित होती है ऐसे ही उस पुरुष का मन भी विकारों से रहित शुद्ध हो जाता है।

४७६ २४१ प्रपूर्न -पूरी तरह। सत बुद्धितें सात्त्विक बुद्धि से।

२४२ जो तप महत्त्व रूपी पर्वत के शिखर पर बैठने के उद्देश्य से किया जाता है और जिससे संसार में शील का विस्तार होता है, उसे राजस् तप समझिए।

२४८-४६ जिस गाय का दूध एक प्रकार का कीड़ा पी जाता है वह जैसे ब्याने पर भी दूध नहीं देती अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे खेतों से अनाज नहीं मिलता, इसी प्रकार जो तप अपनी प्रसिद्धि के लिए किए जाते हैं, वे राजस् हैं, हे अर्जुन, उनका सारा फल नष्ट हो जाता है।

४७७ २५७ श्वास रोक कर व्यर्थ उपवास करते तथा पैर ऊपर शिर नीचे करके उल्टे लटक कर धूम्रपान करते हैं।

२५८ पाहन तीर पहाड़ी चट्टान।

२६० अपने भारीपन के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े २ हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीजों को भी रगड़ कर नष्ट कर देता है।

४७८ २६७ ओल न मिलें सुखेतु--अच्छा खेत और अनुकूल भाफ न मिले।

४७६ २८५ बाखा खत्ती, अन्न भरने की कोठी।

२८७ छांचहि गांठ धरि=-घूस या रिश्वत को गांठ में रख कर।

पृष्ठ दोहा

२८६ जहाँ दान का पात्र कोई वेश्या या जुआरी हो, भाँड या नट (तमाशा दिखाने वाला) हो, जो मूर्तिमान् भ्रम के रूप में दाता को मोह लेता है।

५८० २८८ तब भ्रम...प्रबन्ध तब वह दान देने वाला तत्काल भ्रम का बनाल ही बन जाता है।

३०१ तालहिं काग गिराय=ताली बजाते ही कौआ गिर पड़े।

३१० यदि संसार बन्धन से छुड़ाने वाला एक सात्विक कर्म ही है तो फिर शेष दूसरे—राजस् तामस् कर्मों का वर्णन क्यों करते हो।

३१२ हे अर्जुन, शुद्ध सत्त्व की ओट करके बाहर से जब रज और तम के किवाड़ लगे हुए हैं, तब क्या (सत्त्व को ...) ... वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

५८१ ३२१ पै श्रुति...रात्रि= परन्तु अविद्यारूपी रात्रि में ब्रह्म को पहिचाना जाता है इसलिये वेदों ने उसका एक नाम रख दिया है।

३३२ दुरि= दूर हो जाती है।

३३४ किन्तु यह प्रतीति उन्हीं को होती है जो वेद रूपी पर्वत के शिखर पर उपनिषदों के अर्थ रूपी नगर में ब्रह्म की ही पंक्ति में बैठे हुए हों।

५८२ ३३६ द्विज...हित= और उनके (ब्राह्मणों के) निर्वाह के लिये यज्ञ का अनुष्ठान नियत कर दिया।

३५० अन्न और भूख दोनों समीप हों तथापि बालक यदि खाना न जानता हो तो उसके लिये 'लंघन' ही शेष रह जायगा।

५८३ ३५४ कर्मधाम=कर्म करने के स्थल में अर्थात् समय में।

३५५ कर्मके आरम्भ में ओंकार को ऐसा लगाओ जैसे अँधेरे में जाने के लिये किसी बलवान साथी की संगति मिल जाए।

३६१ आहवनीयादिक=शास्त्र में अग्नि तीन प्रकार की बतलाई गई हैं उनके नाम हैं—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण।

३६६ जिस प्रकार थल अर्थात् जमीन पर जो नाव जड़ (बेकार) रहती है वही यदि पानी में

पृष्ठ ओवी

छोटी नौका को पार लगा देती है। वैसे ही बन्धन कारक कर्म इस नाम के सहारे मुक्ति दिलाने में समर्थ हो जाते है।

४८४ ३७१ और फिर वे विज्ञ पुरुष कहते हैं कि "तत्" रूपी ब्रह्म को ये सब क्रियाएं उनके फलों सहित अर्पित हों। हमारे भोगों के लिये कुछ शेष न रहे।

३७२ न मम मराय "न मम" (यह मेरा नहीं है) कह कर अपने शरीर से उसके सर्वांश को झाड़ देते हैं, अर्थात् स्वयं को कर्म-बन्धन से अलग कर लेते है।

३७५ लवणता = खारापन।

३७७ अतएव निज से परे जो ब्रह्म है उसका पर्यवसान आत्म-स्वरूप में हो इस बात की पूर्ति के लिये देव ने 'सत्' शब्द की योजना की है।

३८५ ऐसा इस 'सत्' शब्द का अन्तर्गत विनियोग है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं यह बात स्वयं ही रंगनाथ भगवान ने कही है मैंने (अपनी कल्पना से) नहीं कही।

४८५ ४०१ ऐसे 'ॐ तत्सत्' यह अक्षर मुमुक्षु को उस स्थान की प्राप्ति करा देते हैं जहां से यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत प्रकाशित होता है।

४०२ जैसे आकाश का आश्रय आकाश ही है वैसे ही इस 'ॐ तत सत्' नाम का आश्रय वही नाम गर्भित परब्रह्म है तथा वह इस नाम से अभिन्न है।

४८६ ४१२ फल काम।

४१५ हयमेध = अश्वमेध नामक यज्ञ।

४२० खापरी = खप्पर।

४८७ ४२५ गज़ भी एक प्रकार का संग्राम है। इसमें बाणों की नोक मानो हैं और मानो उनमें शरीर और प्राण मारे जाते है।

४२७ संजय कहते हैं हे कुरुराज, अर्जुन यद्यपि शत्रु है, तथापि उसके सद्गुणों से आनन्द होता है। इस समय तो वह इसे आनन्द की प्राप्ति करा देने वाला गुरु ही है।

४३० अतः मनुसार इसलिये वह (अर्जुन) मुझे गुरुत्व की दृष्टि से व्यासमुनि का भाई ही दिखाई देता है।

पृष्ठ ओवी

अष्टादश अध्याय

४८८ १ हे गुरुदेव, हे निर्मल, भक्तों का कल्याण करने वाले तथा जन्म और जरा रूपी मेघों के समूह का नाश करने के लिए वायु रूप प्रभु, आपका जय जयकार हो।

४ हे देव, हे निश्चल, आपकी यह भुजा (कोल, चेंड) भक्तों के अज्ञान विघ्नों का घात करने के कारण विशाल (दिखाई देती) है और संसार की उत्पत्ति करके उसमें निरन्तर क्रीड़ा करने में प्रेम रखने वाले आप प्रभु की जय हो जय हो।

१० जगत...बीज के हे देव, आप आत्मज्ञान रूपी वृक्ष के बीज उत्पत्ति के स्थान हो।

१४ चन्द्रकान्त मणि द्रवित होकर जल बहाती है परन्तु उसका यह द्रव चन्द्रमा को दे देने के लिये नहीं अपितु चन्द्रमा ही उसे अपने लिये द्रवीभूत कर लेता है।

४८६ १८ हे देव, आपने मेरी ऐसी हालत कर दी है कि मेरी ममता (अहंकार) का देश निकाला हो गया और मेरी वाणी को आपकी स्तुति करने की ऐसी भूख लगी है कि वह तृप्त नहीं होती।

२५ मौन रहना ही वास्तव में आपकी स्तुति है, कर्म करने से विरत हो जाना ही आपकी पूजा है, किसी विषय के समीप न जाना ही आपका सान्निध्य है।

२६ बाउर पागल।

२७ मुकुता मुद्रा मोती जड़ित अंगूठी। पविराम पवित्राम्यां।

२८ लोहा पर्वत परिसातें पारस मणि को लोहे पर बार बार नहीं घिसा जाता।

४० यह अठारहवाँ अध्याय अर्थ रूपी चिन्तामणि के समूह से निर्मित गीता-रत्न मन्दिर का कलश है और इसका दर्शन सम्पूर्ण मर्म (गीता रहस्य) का बोध कराने में समर्थ है।

४५-४१ तक के दोहों में गीता मन्दिर के निर्माण का इतिहास सांग-रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि—

'श्री व्यास जैसे कुशल शिल्पी हैं' उन्होंने सर्व प्रथम गुरुवाराक (आदा) सूत्रों की रचना की।

पृष्ठ टीका

वेद रूपी रत्नों के पर्वत पर उपनिषदार्थ रूपी पृथ्वी को खोदा और उसमें से जो धर्म, अर्थ कामरूपी बहुत सी मिट्टी निकली उसका चारों ओर महाभारत रूपी कोटा बना दिया। उस खदान में आत्म-ज्ञान की एक अखण्ड शिला निकली उसे चतुराई से साफ करके श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूपी समतल भूमि तयार की गई। फिर निवृत्ति सूत्र से नापकर नीवमें सम्पूर्ण शास्त्रों को भरा गया। और तब वहां मर्यादा=चार दिवारी खड़ी हुई। १५वें अध्याय तक इस प्रकार क्रमशः उस मन्दिर की १५ मंजिले पूरी हो गईं। अध्यात्म-मन्दिर पूरा बन गया। १६ वां अध्याय मानो उस मन्दिर का घण्टा है और १७ वां अध्याय कलश स्थापन की भूमि। यह अठारहवां अध्याय मानों उस पर कलश चढ़ाया गया है और उस पर श्री व्यास जी ने गीता के नाम की ध्वजा लगा दी है।

४१० ४३ छिपत ' रूप कलश होने से जैसे मन्दिर का निर्माणरूप कार्य छिपा नहीं रह सकता।

४५ कोई ''आंच कोई श्रवण के बहाने से मानों गीता-मन्दिर की छाया का सेवन कर ताप से बचते हैं।

४६ अर्थ ज्ञान वपु गर्भगृह अर्थ ज्ञानरूपी मन्दिर का भीतरी हिस्सा।

५२ अर्धनारीश्वर महादेव के चित्र में जैसे दोनों आकृतियों की कुछ हानि न होकर दोनों का एक संयुक्त रूप दिखाई देता है।

५८ भेद पेख परन्तु श्रीकृष्ण ने जिस तत्त्व का निरूपण किया है वह एक ही है दूसरा नहीं।

४११ ७१ जो श्रीकृष्ण ज्ञान के आवाहन मन्त्र हैं, अथवा ज्ञान के पके हुए उत्तम खेत हैं, अथवा ज्ञान को आकर्षित करने वाले सूत्र हैं और जो द्वैत भाव (दुई) का हरण कर लेते हैं।

७७ यों तो अर्जुन को भगवान के उपदेश से तत्त्व का निश्चय हो गया था परन्तु भगवान् को चुप देख कर उस से रहा न गया (अर्थात कृष्ण के मुख से वह हर समय कुछ न कुछ सुनना ही चाहता था)।

४१२ ८४ यह अठारहवां अध्याय अध्याय-मात्र नहीं किन्तु इसे एकाध्यायी गीता ही समझो। बछड़े को देख कर जब गाय पौसती है तो क्या उसके लिये वह समय असमय का ध्यान करती है ?

पृष्ठ गाथा

९६ [illegible] पगतल से ही [illegible] जाता है।

४९२ ९९ [illegible] जहाँ [illegible] है उसे पास में रखना।

१०२ [illegible] अब तक [illegible] न किया [illegible] मनुष्य को उससे छुटकारा नहीं मिलता।

१०६ सो 'व्यर्थ' मोक्षाभिलाषी पुरुष को ऐसा (काम्य) कर्म कभी भूलकर भी नहीं करना चाहिये क्योंकि वह व्यर्थ है।

४९४ ११६ [illegible] 'पाव' [illegible] लाई नहीं जाती।

१२४ त्यागयोग से ज़रा सा चूक जाने पर यह कर्म का त्याग मनुष्य के लिये बोझ हो जाता है। इसलिए वैराग्यसम्पन्न लोग निषिद्ध कर्मों का ही त्याग करते हैं (अन्य का नहीं)।

४९५ १२६ [illegible] सबको पर।

४९६ १४९ [illegible] 'विलाप' जैसे पकाने से पूर्व फल का [illegible] नहीं तोड़ा (जाता) जाता और [illegible] वस्तु मिलने से पहिले [illegible] नहीं छोड़ा जाता।

१५८ आंखन देखे भाग आँखों से देखा हुआ अर्थात् प्रत्यक्ष (जैसा) मालूम पड़ता है।

१६३ रीति रसायन [illegible] जैसे रसायन की रीति से ग्रहण करने पर

४९७ १६९ उपरोहित [illegible] पुरोहित जैसे यजमान का अभिमान नहीं कर सकता।

१७३ अश्वत्थ = पीपल का पेड़।

४९८ १८६ [illegible] दौड़ी लाग [illegible] जैसे पहिले पकवान खाने में कड़ी सी लगती है।

१८७ भोजन [illegible] भोजन का सुख प्राप्त करने से पहिले जैसे पकाते हुए हाथ के जल जाने का भय लगा रहता है।

४९९ २०० अपने अधिकारानुसार स्वभावतः जो कर्म प्राप्त होते हैं, सात्विक पुरुष उनका विधि की सहायता से शृंगार करके अर्थात् अत्यन्त विधि पूर्वक तथा शास्त्रानुकूल सम्पादन करते हैं।

२०१ त्याग'' को [illegible] जो कर्म फल की आशा के समूह को [illegible] देता है।

२०२ सार = [illegible]।

पृष्ठ ओवी

४०१ २२३-२४ हम मस्तक पर तिलक लगाकर उसे पोंछ सकते हैं, फिर लगा कर फिर पोंछ सकते हैं, फिर लगा कर फिर पोंछ सकते हैं—पर यह बतलाओ कि क्या ऐसा करने से माथा भी मिट सकता है ? इसी प्रकार हम इस वक्त के विहित कर्म को जिसको कि हम आदर से कर रहे थे छोड़ सकते हैं, परन्तु जो कर्म शरीर रूप में परिणत हो गये हैं वे कैसे मिट सकते हैं ?

२२६ इस प्रकार देह के बहाने कर्म ही हमारे पीछे लगा हुआ है वह जीते जी तथा मृत्यु के अनन्तर भी हमारा पीछा नहीं छोड़ता।

२३१ डंडा मार मुक्का मार- जैसे कोई डंडे की मार खाने की बजाय घूंसे की मार खाना पसन्द करे।

४०२ २४४ मीठे और खट्टे रस का मिला देने से एक तीसरा रस, दोनों से भिन्न एक तीसरारस, दोनों से मधुर अनिर्वाच्य उत्पन्न हो जाता है इस बात को सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं।

२४६ जैसे योग-प्रक्रिया-वश रेचक और पूरक, कुम्भक का कारण बन जाता है वैसे ही सत्य और असत्य की समरसता से सत्य और असत्य दोनों जीते जाते हैं।

२५४ अमि अस्तंगत।

२५७ जाती चमेली का फूल।

२५८ नरो * जाय बीज के लिए रखा हुआ धान्य यदि खाने-पीने के काम में ले लिया जाय तो जैसे खेती का काम रुक जाता है।

२५६ गुरु की करुणा रूपी अमृत वर्षा से और सत्त्व-शुद्धि की सहायता से ज्ञान की सिद्धि हो जाती है और द्वैत रूपी दीनता का नाश हो जाता है।

२६० आभास- मालूम नहीं होता।

४०३ २६६ इस संन्यास से जब सब वस्तुओं की मूल-स्वरूप अविद्या ही नाश को प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके लेन देन आत्मक कर्म का भय ही कहाँ रह जाता है।

२६८ जब तक कर्तृत्व के अभिमान से युक्त हो आत्मा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है तब तक उसकी दृष्टि भेदरूपी ऐश्वर्य पर स्थिर रहती है।

२६६-७४ तक के पद्यों में विविध दृष्टान्तों द्वारा आत्मा और कर्म के भेद का निरूपण करते

पृष्ठ दोहा

हुए भी ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—"कर्तृत्व अभिमान रखने के कारण आत्मा और कर्म में उस इतना अन्तर होता है जितना पूर्व और पश्चिम में। अथवा जैसे आकाश और बादल, सूर्य और मृगजल, पृथ्वी और वायु भिन्न हैं। कहाँ तक कहूँ, पत्थर जैसे नदी में पड़ा रहता हुआ भी नदी नहीं बन जाता, काजल जैसे दीपक से उत्पन्न होने पर भी दीपक नहीं कहाता, सेवार पानी में रहते हुए भी पानी नहीं बन जाता, चन्द्रमा में रहते हुए भी कलंक जैसे चन्द्रमा नहीं है, उसी प्रकार आत्माश्रित होते हुए भी कर्म उससे भिन्न हैं। दृष्टि और आँखों में, राहगीर और रास्ते में, प्रवाहित नदी में और प्रवाह में, द्रष्टा और दर्पण में जितना अन्तर है उतना ही आत्मा और कर्म में है, पर अज्ञान के कारण यह मालूम नहीं होता।

५०४ २६१ एकाकार शरीर आनन्दमय मनोभाव।

२६८ पैज प्रतिज्ञा।

५०५ ३०५ आहिक आड़, ऊपरी।

३०६ इस विषय में आत्मा उदासीन रहता है, कर्म का न वह उपादान कारण है और न निमित्त कारण। वह कर्मसिद्धि में सहायक भी नहीं होता।

३११ कुमार कुम्हार।

५०६ ३२१–३२५ कर्म का दूसरा कारण है—कर्ता जीव, जो कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब है। जीव में चेतन का प्रतिबिम्ब ऐसे झलकता है जैसे आकाश पानी बरसा कर और तालाबों को भर कर उनमें झलका करता है।

३२६ प्रकृति कर्म करती है परन्तु भ्रम में पड़ा हुआ जो कहता है कि "मैं करता हूँ" उस जीव को यहाँ कर्ता नाम से पुकारा गया है।

३२७ दृष्टि एक है किन्तु वह जैसे पलक के बालों के कारण बहुधा विभक्त चमरी गाय के बालों की भाँति चिरी-फटी सी प्रतीत होती है।

३३० वैसे ही बुद्धि एक ही ज्ञान श्रोत्र आदि इन्द्रियों की भिन्नता से बाहर प्रकाशित होकर इन्द्रियों के अनुसार ही भिन्न भिन्न दिखाई देता है।

३३६ शरीर में जो वायु नाभि से लेकर हृदय तक ओंकार की अभिवृद्धि करती है उसे ही

पृष्ठ दोहा

मुनिजन लोग जगत्प्रसिद्ध 'प्राण' के नाम से पुकारते हैं। इसके आगे चालीस संख्या तक के दोहों मे अपान, उदान, व्यान, तथा समान नामक वायु के कार्यों का वर्णन किया गया है।

४०७ ३४८-४६ वैसे ही सम्पूर्ण वृत्ति—ऐश्वर्य से युक्त बुद्धि ही उत्तम होती है और उस उत्तम बुद्धि के प्रभाव से इन्द्रियाँ प्रौढ़ हो जाती हैं। इन्द्रिय-मण्डल की शोभा तभी होती है जब प्रत्येक इन्द्रिय का अभिष्ठाता देवता उसके अनुकूल हो।

४०८ ३६१ मन वाणी और शरीर के कर्म का हेतु मन वाणी शरीर ही है, जैसे कि हीरों के ढेर का हेतु हीरा ही होता है।

३६४ वाग्देवी की स्तुति करने के लिये जैसे वाणी को ही श्रम करना पड़ता है। अथवा वेदों की महिमा वेदों से ही बखानी जा सकती है।

३६८ सराकि सूख जाता है।

३७० हेतु और कारण के मेल से उत्पन्न कर्म "अन्ध कर्म" भी कहे जाते हैं। परन्तु यदि उन पर शास्त्र की दृष्टि पड़े तो वही 'न्याय्य कर्म' में परिणत हो जाते हैं।

४०६ ३७८ जैसे सूर्य नेत्रों का विषय रूप नहीं है किन्तु नेत्रों के सामने विभिन्न विषयों का प्रकाशक है ऐसे ही आत्मा कर्म रूप न होकर कर्तापन को प्रकाशित करता है।

३८१ धी बुद्धि।

३८४ अति ' कौतु = अत्याश्चर्य है वह अज्ञानी उस उल्लू की ही भांति है, जो दिन को भी रात्रि के रूप में स्वीकार करता है।

३८८ रज्जु रस्सी। उरगभाव = सर्प की भ्रांति।

४१० ३१७ जैसे अपनी खोई हुई वस्तु दीपक से देखने पर मिल जाती है वैसे ही जीवन-मुक्त का निश्चय करते हुए स्वयं को ही मुक्ति लाभ हो जाता है।

४०१ चर्म'''हलास जैसे चर्म चक्षुओं में निवास करने वाली दृष्टि आंखों के चमड़े से नहीं ढंकती।

ख दोहा

४७६ मृग जल पूर — मृग मरीचिका के जल की बाढ़ ।

४७८ अंधेरे की खोज करने के लिए सूर्य यदि किसी स्थान में प्रवेश करे पर जैसे तीन लोक के पालक को उसका मिलना जैसे असंभव (सूर्य के) भाग्य में लिखा ही नहीं है ।

११ ४२४ क्या पूर्णता को प्राप्त हुई आत्मज्ञान सर्वात्मभावना देह भाव से छुआई जा सकती है ? क्या सूर्य के बिम्ब को पकड़ने को जगत से सूर्य हाथ आ सकता है ?

४२४ मुनि ' गंगा [illegible] पानी पर पड़ा जल बह जाने पर भी जैसे धरती गीली रहती है ।

४३० कर्म कलाप — कर्म उत्पन्न होते हैं ।

४३७ स्पर्श — छोड़ने से छूटना।

५१२ ४३६ जैसे जागता हुआ पुरुष स्वप्न नहीं देखता वैसे ही वह आत्मज्ञानी पुरुष देहादि के कर्मों से होने वाली सृष्टि की उत्पत्ति अथवा प्रलय जैसी बड़ी घटनाओं को भी नहीं देखता ।

४४१ सिढ़ी — पालक । पाय — पाप ।

४४० जैसे सती स्त्री के सती होने के समय की [illegible] नगाड़ा, वस्त्र परिधानादि [illegible] सब लोग देखते हैं परन्तु सती न तो अपने शरीर को देखती है, न अग्नि में शरीर के जलने का विचार करती है किन्तु वह तो अपने प्रियतम के ध्यान में रमी (लीन) रहती है ।

४४६ चित्र कमल — चित्रपट, चित्र लिखित कमल ।

४४८ वस्तुतः उसके कर्मों से यदि त्रैलोक्य का नाश भी क्यों न हो तथापि ऐसा न समझना चाहिये कि इस नाश का कर्ता वह (ज्ञानी) है ।

४४९ अंधेरे में सूर्य के दिखाई पड़ जाने पर अन्धकार स्वयं भाग जाता है, फिर कहो, सूर्य किसका नाश करे ? वैसे ही आत्म-ज्ञान के उदित होने ही द्वैत भावना स्वयं नष्ट हो जाती है । फिर ज्ञानी किसका नाश करे ?

४४२ हथियार यदि हथियार पर पड़े तो क्या घाव होगा ? आग यदि आग पर पड़े तो क्या वह जलेगी ?

४४४ कर्म करने वाला जीव कुशलता के साथ अपने को ही कर्ता मान कर शारीरिक पांच हेतु और दश इन्द्रिय रूपी भवनों का निर्माण कर रहा है ।

५१३ ४६०–४६१ किन्तु अज्ञान रूपी भीत पर जो द्वैत या विपरीत ज्ञान का चित्र खींचा जाता है

५१३ दोहा।

उसकी चित्रकार त्रिपुटी है। यह ज्ञाता–ज्ञान और ज्ञेय इन तीन वस्तुओं की बीजभूत है और इसीसे सब कर्मों की उत्पत्ति होती है।

४६२–४६४ जीवरूपी सूर्यबिम्ब की किरणें श्रोत्र इत्यादि पञ्चेन्द्रियों के विषय रूपी कमल को विकसित करती हैं अथवा जीवरूपी राजा के चढ़े बिना ही जब देह अर्थात् मानसिक संकल्प रूपी घोड़े इन्द्रिय-समुदायरूपी देश पर चढ़ाई करके सुख दुःख आदि विषयों की खूब लूट मार करते हैं।

४६७–४६८ यह अज्ञान अविद्या के गर्भ में रहता है और उत्पन्न होते ही अपने को तीन रूपों में विभक्त कर लेता है। अपनी दौड़ के सम्मुख 'ज्ञेय' रूपी लक्ष्य खड़ा करके पीछे की ओर 'ज्ञाता' को खड़ा करता है।

५१४ ४७४ मिलि ' जान अपना लक्ष्यभूत वासस्थान प्राप्त हो जाने पर जिस प्रकार पाँवों की गति रुक जाती है।

४८३ पारावती कबूतरी।

५१५ ५०८ विस्तारहि पर्याप्त- जिस प्रकार फैली हुई बेल में सुन्दरता व्याप्त रहती है।

५१६ ५१८ सगरथ रात सुखरास सत्त्व-गुण ही सुख-सन्दोह अर्थात मुक्ति दिलाने में समर्थ होता है।

५२० जो (सांख्य शास्त्र) विचारों का सागर है, आत्मज्ञान रूपी कुमुदिनी का चन्द्रमा है, हे अर्जुन, ज्ञान रूपी नेत्रों से युक्त शास्त्रों का शिरोमणि है।

५२२ हे अर्जुन, अपरिमित मोह राशि को चौबीस तत्त्वों के माप से माप कर जिस सांख्य शास्त्र में परतत्त्व का सुख वर्णन किया है।

५२३ से गुण भेद चरित्र सब उन सत्त्व रजसतम रूप तीनों गुणों के भेद का ही यह सब चरित्र है।

५२४ सें हि उन तीन गुणों से ही।

५१७ ५४२ चित्र भित्ति पर कर धरे- दीवार पर (सखा) लिखे हुए चित्र पर हाथ रखने से अर्थात पोंछ देने से।

५४६ ज्ञातहि मद्यु विसराम— ज्ञाता को जिसने विस्मृति- विभ्रम में डाल दिया।

पृष्ठ   ओवी

५४१ जिस राजस ज्ञान के कारण [illegible] [illegible] की सीमा में आवृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में [illegible] जाता है।

५१८ ५४६ विधि वसन बिन शास्त्रीय [illegible] [illegible]।

५५१ भुतार - पागल।

५५५ माखी [illegible] [illegible] मक्खी [illegible] [illegible] कि वह जी रहा है या मरा है।

५६० निश्चय ' भगवान [illegible] [illegible] पवित्र मान लेता है।

५१९ ५६५ जग के [illegible] [illegible] [illegible] का साधन मात्र समझता है।

५६६ स्वर्ग और नरक देनेवाले जो कार्य हैं उनका कारण [illegible] प्रवृत्ति और निवृत्ति है। इस प्रकार के ज्ञान की रात्रि (अज्ञान) के कारण उसके हृदय में अज्ञान का अंधकार रहता है।

५७५ धूहर एक वृक्ष का नाम है जिसका कोई उपयोग नहीं होता।

५७६ कणस गुहूं। [illegible] [illegible]।

५७९ इसे (तमोजन्य ज्ञान को) ज्ञान नाम देना ऐसा ही है जैसे कोई [illegible] के बारे में कहे कि उसकी आँखें जो कि फूट गई हैं बहुत बड़ी [illegible] हैं।

५८० बाहुर अपेयापान [illegible] पीने लायक जल को पीने योग्य बताना।

५२० ५८९ जिव - ज्यों, जैसे।

५९५ जिस प्रकार मूर्ख पुरुष जैसी मीठी वाणी से संसार में अन्य लोगों से बातचीत करता है, घर में माता पिता से वैसी मधुर वाणी नहीं बोलता।

५९६ ग्राणा सद "अपारि [illegible] [illegible] को दूध से सींचता है।

५२१ ५९९ [illegible] वाढ़ी [illegible] वृद्धि।

६०४ कर्तापन ' ज्ञान [illegible] कर्मों को अपने गुरु से [illegible] पीजता है।

६११ जनमी सार्थ निषिद्ध = जिसने उत्पन्न होकर 'निषिद्ध' शब्द को सार्थक कर दिया।

५२२ ६१७ फांदा वाली जाल = फंदीला जाल।

पृष्ठ दोहा

६२० उबांत -वमन या उल्टी कराकर।

५२४ ६४० करकट घर - कूड़ा करकट डालने का स्थान।

६४६ तो ' भीर तो वह खुशी से पागल हो संसार की मजाक उड़ाने लगता है।

अर्थ २८ जरुवा ईर्ष्यालु।

६६३ मत लगे -मेरे लगने से।

५२५ ६६८ जैसे कदापि- जैसे बैल के बालों के अन्दर चिपटी हुई किलनी (एक विशेष प्रकार का कीड़ा) उसे कभी नहीं छोड़ती।

६७० मूरो - ग्राम के बाहर कूड़ा डालने की जगह।

६७४ उसका जन्म ऐसा है जैसा कि कुत्सित अभिलाषाओं से भरे भीलों का ग्राम। जैसे कोई भी राहगीर उस ग्राम से होकर नहीं निकलता है ऐसे ही (उसकी संगति भी सभी को छोड़ देनी चाहिये)।

६८२ समय द्राक्षारस आम्ररस अंगूर और आमों में रस भरने की ऋतु में।

६८४ जीवन 'अपान से=जैसे अपान वायु में दुर्गन्ध मिली रहती है ऐसे ही जिसका जीवन अज्ञान से भरा रहता है।

५२६ ६८८ असन्देह निःसन्देह, निश्चय ही।

६९०-९१ अविद्यारूपी नगर में मोहरूपी वस्त्र पहिन कर और सन्देहरूपी अलंकार धारण कर आत्मनिश्चय रूपी निज की सुन्दरता जिस बुद्धिरूपी दर्पण में मूर्तिमती दिखाई देती है उस बुद्धि के भी ३ भेद हैं।

५२७ ७१३ यह कर्म निषिद्ध है ऐसा दृढ़ निश्चय करके जिस बुद्धि को (कर्माचरण से) बड़ा भय

५२८ लगता है और वह उसे छोड़ देती है।

७२२ औचकून=कदाचित्।

७२५ जैसे' ' ' ' राम जैसे अभाग्यशाली मनुष्य के लिए गड़ा हुआ प्रच्छन्न धन कोयलों के ढेर के समान हो जाता है।

७२९ तामसी बुद्धि की पहचान के लिये किसी से मत पूछो। रात्रि की सत्यता सिद्ध करने के लिए किसी शास्त्रीय ज्ञान=प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

पृष्ठ   ओवी

५२९   ७३८ दश — ताप — दसों इन्द्रियाँ मन रूपी माता के पेट में समा जाती हैं और किसी प्रकार का ताप शेष नहीं रहता।

७४२ और मन उन सब को आनंदरूपी गोद की शक्ति से ध्यान के हृदय कमल में बंद कर देता है।

७४३ आँच लगे बिना — बिना विश्राम लिए।

५३०   ७४६ मनोरथ रूपी समुद्र में धर्म, अर्थ और काम की नाव है। जिस धैर्य के बल से पुरुष इस नाव पर चढ़ कर व्यापार करता है वह धैर्य 'राजस' है।

७५० सत्पुरुष — पुण्य जन। कोश ग्रन्थों में राक्षस का पर्याय 'पुण्य जन' भी है। 'यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातु रक्षसी' — अमरकोशः।

७५१ भय — भय

५३१   ७६१ उत्तम वर्णन शब्दों से कैसे निरूपण किया जा सकता है ? क्योंकि वर्णन करते हुए 'शब्द-जाल' और सुनते हुए कानरूपी हाथ का मैल लग जाता है।

७७४ जिमि संयोग — जिस प्रकार आग के स्पर्श की भावना देने से सोना चोखा बन जाता है।

५३२   ७८२ कुपन्न — प्रतिकूल।

७८८ वैसे ही यदि पहले वैराग्यरूपी विष के लिये धैर्यरूपी शंकर बनना पड़े आगे चलें तो वही ज्ञान रूपी अमृत का आनन्द दिखाई देता है।

७९० ऐसा जोबन काल को — कच्ची और हरी अवस्था में आम की मिठास।

५३३   ७९४ भमराह — बढ़ने लगता है।

८०४ जागहि मधुर विष मधुर — 'मधुर' नामक विष खाने में तो मधुर है पर परिणाम में मारक होता है।

५३५   ८३७ जैसा दिन से कटी रात को जैसे दिया नहीं बुझाया जाता वैसे ही दिन में निरन्तर ईश्वर का विचार करना (ही तप है)।

८४७ सत्त्व-शुद्धि के समय शास्त्र के विचार द्वारा अथवा ध्यान बल से निश्चयात्मिका बुद्धि ईश्वर-तत्त्व को प्राप्त कर लेती है।

५३७   ८५९ अत्र — इस संसार में।

८६६ जैसे रजस्वला स्त्री विविध प्रकार के प्रयत्न द्वारा पुरुष-समागम को टाल कर अपने प्राण

पृष्ठ दोहा

की रक्षा करती है ऐसे ही जो युद्ध-भूमि में शत्रु को पीठ न दिखाकर वीरता का पालन करता है।

५३८ ८७७ अथवा उसकी क्रिया संसार में शौर्यादि सात गुणरूपी प्रवाहों में बहती हुई गंगा है, उसका क्षत्रिय शरीर मानों समुद्र है जिसके अथाह अन्तस्तल में मिलकर वह शोभा पाती है।

८८५ चारों वर्णों के लिये अलग २ चतुर्विध कर्मों का स्पष्ट वर्णन किया गया है, वह इसी प्रकार उचित है जैसे भिन्न भिन्न इन्द्रियों के लिये भिन्न २ विषय निश्चित हैं।

५३९ ८९२ जैसे घर में द्रव्य रखा हो और वह दीपक के द्वारा दिखाई दे तो कहो उसकी प्राप्ति में कुछ रुकावट कहां रहती है।

९०१ जो वैराग्य पद सौभाग्य की सीमा है, मोक्ष का निश्चित लाभ कराने वाला है और हे बल-शाली अर्जुन सम्पूर्ण कर्मों के परिश्रम का जहां अन्त हो जाता है।

५४० ९१२ अन्तःकरण की कसौटी में उतरने वाली दासी भी स्वामिनी बन जाती है। उसी प्रकार स्वामी के लिए प्राण न्योछावर करने वाला सेवक मालिक से इनाम-पत्र लिखवा कर उसका आदर-पात्र बन जाता है

९१४ शास्त्र-विहित कर्म वास्तव में कर्म नहीं वह तो उस ईश्वर की मनोगत इच्छा का पालन करना मात्र है जिससे कि यह सब प्राणि उत्पन्न हुए हैं।

९१५ जो जीव रूपी गुड़िया को अविद्या रूपी धज्जियां लपेट कर सत्त्व रजस्तम तीन गुणों से बटी तीन लड़ों वाली अहङ्कार रूपी डोरी से उसे नचाता है।

९१८ पसाय = प्रसाद

५४१ ९२५ यदि अपने सुख के लिये नीम ही उपयोगी है तो कड़वाहट के कारण उसे कभी छोड़ा तो नहीं जाता।

९३१ धरना = बन्धन।

५४२ ९३८ (राही के लिये) कलेवा बंधा हो या पत्थर बंधा हो बोझ की दृष्टि से तो दोनों ही समान हैं, परन्तु जो वस्तु विश्राम काल में सुख देने वाली है वही साथ लेजानी चाहिये।

पृष्ठ टीका

९४४ भाविक [illegible] पहिले ज्ञान वैराग्य [illegible] करता [illegible] को [illegible] देता है।

९४५ जीति मुनिका [illegible] आसक्ति रहित।

४४३ ९५७ जैसे पके हुए फल को डंठल धारण नहीं कर [illegible] छोड़ देता है इसी प्रकार ज्ञानागत पुरुष का देह स्वयं [illegible] रहता है।

९६१ आपने जिस को पुकला की मुट्ठी में देकर [illegible] प्राप्ति करी [illegible] देता है।

९६६ [illegible] छोड़ देता है…

४४४ ९७८ शांति नाम।

९८० [illegible]।

९८७ गुह्यांश प्रसन्न।

९९४ जो इन्द्रियां विविध विषयों के [illegible] में बिगड़ी हुई थी [illegible] के अनुसार सभी तीर्थों ने पवित्र किया है।

४४५ ९९८ क्या औषधि लेने के साथ ही तुरन्त पूरा लाभ हो जाता है क्या सूर्योदय होते ही [illegible] का प्रभाव—तेज गर्मी हो जाती है?

९९९ ओस [illegible], पानी आदि की [illegible]।

१००६–७ यह उस ब्रह्म से मिल कर ब्रह्म स्वरूप ही हो रहता है परन्तु हे अर्जुन, यह भी क्रम क्रम से ही होता है जैसे कि भूखे मनुष्य के पास पकवान की थाली परोस कर आ रखी परन्तु तृप्ति तो ग्रास एक एक ग्रास करके खाने से ही मिलती।

१०१८ अनन्तर वह पुरुष इन इन्द्रियों का सात्विक धैर्य से शोधन कर उन्हें मन सहित योगधारणा में प्रवृत्त करता है।

१०२३ इसलिए समय सुपात्र और काम के लिए उसके पास अवसर ही नहीं होता।

१०२४ जीव मनोरथ पूर्णाहुति जीव की हवि पूर्ण हो।

पृष्ठ दोहा

१०२५ संतोषित लागि अल्पाहार से ही सन्तुष्ट रहता है पर उसका माप कभी नहीं करता।

१०२८ छुवै जागि स्पर्श करता है। कुभाय = बुरे भाव से।

५४७ १०३० मन दिहरी पर्यन्त- मनरूपी देहली तक।

१०३२–१०४० तक का संक्षेप में यही भाव है कि ध्याता ध्यान और ध्येय इन तीनों में एकता के दर्शन करने वाला आत्मदर्शी अष्टांग-योग के सहारे आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है।

१०३८ हैं म यमा विकासु = सुषुम्ना का विकास करके। चक्राधार लगि = आधार चक्र से लगाकर।

१०३९ फिर सहस्रदल कमलरूपी सोम में से जो उत्तम अमृत की वर्षा होती है उसके पूर (प्रवाह) को मूलाधारचक्र तक ला छोड़ता है।

१०४० अनन्तर शून्याकाशरूपी शून्य पर्वत पर नाचते हुए चैतन्य रूपी भैरव के भिक्षा-पात्र में पवन और मन रूपी खिचड़ी ला भरता है।

१०४३ वीतरागसम मीत वैराग्य सदृश मित्र को।

१०४४ यदि प्रसंग यदि (अन्धेरे में) दीपक और दृष्टि दोनों मिली रहें तो वस्तु को ढूंढ पाना क्या कठिन है?

१०४७ राजयोग तुरंग राजयोग रूपी अच्छे घोड़े पर।

५४८ १०५० अहंकार तन देहाभिमान।

१०५२ दूजो रिपुबल जानिये दूसरा शत्रु 'बल' को समझो।

१०५४ यह बल सम्पूर्ण दोषों का राजा है, विष का घर है परन्तु वह ध्यानरूपी खड्ग का घाव कैसे सह सकता है?

१०६०–१०६३ (परिग्रह अत्यन्त दुर्जेय है) जिस प्रकार राजा जिसे बेड़ियाँ पहिनाने का प्रण कर लेता है, उसी के माथ पर उन बेड़ियों को ढुलवाता भी है, उसी प्रकार यह परिग्रह रूपी शत्रु जिसके मन में घुस जावे उसके सिर पर नाना दुर्गुणों को लाद देता है तथा हाथ में ममत्व अर्थात् "अहंभाव" का दंड धरा देता है। (आत्मज्ञानी ऐसे दुर्जेय परिग्रह को भी वश में कर लेते हैं।)

५४८ टीका

१०६४ परी कुटिल कुटिल = बुरे फंदे में और बुरे फेर में पड़ जाता है।

५४९ १०६७-७८ तक के टीका में रूपकालंकार द्वारा मुमुक्षु पुरुष को विजय विजयी राजा के रूप में चित्रित किया गया है। यथा- 'पर दुर्जय 'परिग्रह' रूपी शत्रु का नाश करके, उसके ठौर ठिकाने को मिटा कर वह मुमुक्षु संसार के विजयोत्सव का आनन्द उपभोग करता है। अमानित्वादि सम्पूर्ण गुण राजाओं के समान भेंट ले लेकर उसके पास आते हैं और सम्यक् ज्ञान रूपी भेंट चढ़ा कर उसके पारिवारिक ही बन जाते हैं। जब प्रवृत्ति रूपी राजपथ पर से उसकी सवारी निकलती है तो वाणी आदि अवस्था रूपी स्त्रियां पद पद पर उसपर आनन्द पुष्पों का छिड़काव करती हैं। विवेक रूपी प्रतिहारी ज्ञान रूपी बेंत लेकर दृश्य विषयादि की भीड़ को दूर हटाता हुआ चलता है और योग-भूमिका रूपी स्त्रियां मार्ग में उसकी आरती करने लिये खड़ी होती हैं। मार्ग में उसे ऋद्धि सिद्धि रूप विशिष्ट जनों के अनेक समुदाय मिलते हैं। उनकी पुष्प वर्षा से वह मानों नहा जाता है। इस प्रकार जैसे - जैसे वह स्वाराज्य समीप आता जाता है वैसे ही उसे तीनों लोक आनन्द से फूलते हुए दिखाई देते हैं।

१०८५ गोधूलि = सायंकाल। दशा योगपरिपाक फल = योग फल की परिणाम दशा।

१०८८ गंगा समुद्र में जाकर मिल जाय तो पानी तो दोनों का एक समान ही होता है परन्तु जब तक उसमें प्रवाह है उसे गंगा कहते हैं और जब शान्त निश्चल स्थिति आ जाती है वही जल समुद्र बन जाता है।

५५० १०९२ गायन गये रागांग = गाना समाप्त हो जाने पर जैसे उसके अंग - बाजा तबला आदि—भी शान्त हो जाते।

१०९७-१०९८ हे अर्जुन, सूर्य उदित होते ही जिस प्रकार सब नक्षत्र तेज हीन हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मानुभव के उदित होते ही वह आत्म ज्ञानी पुरुष जिधर देखता है उधर ही प्राणि मात्र में भेद-भावात्मक बुद्धि का अन्त हो जाता है।

११०३ नियरात = पास आता जाता है। ठिकान = स्थान, ठिकाने।

५५१ १११८ आर्ति पदार्थ = इच्छा रूपी पदार्थ।

११२३ तिमिर = आंखों का एक रोग विशेष, जिससे पदार्थ अन्यथा दिखाई देते हैं।

पृष्ठ ओवी

५५२ ११३२ मिष भागवत बनाय—श्रीमद्भागवत पुराण रचना के बहाने से। बिधिहिं=ब्रह्मा के प्रति।

११३६ पैलें पैले- उरला, परला।

११४२ जो कहते हैं कि एक रूप होने पर उस वस्तु का उपभोग नहीं हो सकता वे शब्द से ही शब्द का उच्चारण कैसे करते है ?

११४३ ऐसी शंका करने वाले के गांव में सूर्य को देखने के लिये शायद दीपक के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, या आकाश को रखने के लिये मंडप बनाया जाता है।

५५३ ११५२ वह कैवल्य-युक्त पुरुष प्रारब्धवश जो कुछ बोलता है, वह सब कुछ मेरी भक्ति ही है और उसका मैं 'हां' कह कर तुरन्त उत्तर देता हूं।

११५७ दृश्य का लोप होकर द्रष्टत्व जब द्रष्टा में ही लीन हो जाता है तब केवल एकता रहने के कारण द्रष्टापन भी नहीं रह सकता।

५५४ ११६८ आश्रय =हैं सहीन। रोके आवन जान=आवागमन बन्द हो जाता है।

११७२-११७३ इस प्रकार जल-तरङ्गवत् मद्रूप होकर वह भक्त मेरे अन्दर ही समा जाता है और इस प्रकार उसकी यह सारी यात्रा मेरी ही यात्रा होती है। यदि शरीर के स्वभाव-वश वह कुछ करने भी लगे तो उस कर्म के व्याज से मैं ही उसे मिलता हूं।

११७८ मद्रूप हो जाने पर की जाने वाली सभी क्रियाएं वास्तव में क्रिया रूप में घटित नहीं होतीं। वह तो मेरी सांकेतिक पूजा के नाम से ही संसार में कही जाती है।

११८१ कल्पै जप मोर—जो कुछ वह कल्पना करे वह मेरा जप है।

११८५-८७ अनन्य भक्ति के कारण वह दृश्यमात्र में शुद्ध द्रष्टा को ही देखता है। जागृति स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा उपाधि (क्षेत्र) और उपाधि-युक्त (क्षेत्रज्ञ) रूपों के कारण भाव और अभाव रूपों से (अर्थात जागृत और स्वप्न अवस्था में विद्य-मान तथा सुषुप्ति अवस्था में अविद्यमान रूप से) जो कुछ दृश्य (सारा जगत) प्रतीत होता है वह सब 'मैं ही द्रष्टा हूं' ऐसे ज्ञान के बीच, हे अर्जुन, आत्मानुभव के आनन्द से नाचता है।

५५५ ११६२ फुरत होय ज्ञान होता है।

पद्य टीका

१२०५ हे अर्जुन, मेरी व्यापक अद्वितीयता के कारण इस बात का विश्वास हो जाता है कि जो ज्ञान बना है वह ईश्वर मैं ही हूँ।

१२०७ मेरे भजन को [illegible] से ही [illegible] बिना ही [illegible] में आत्म साक्षात्कार का निश्चय हो जाता है।

१२१० जब द्वैत भाव का ही नाश हो जाता है तब वहाँ 'मैं' का भाव कैसे रह सकता है? इस प्रकार हे अर्जुन 'मैं' और 'तू' इन दोनों का ही सार एक ही प्रकाश हो जाता है।

५५६ १२१७ अनुभवता...भाव हे अर्जुन, अनुभव [illegible] के कारण संकुचित हो जाता है।

१२१८ क्रमयोग कर्म योग

१२१९ भावार्थ यही है कि हे अर्जुन, क्रमयोग रूपी [illegible] पर लगा ज्ञानरूपी ओ मैं हूँ यह भक्त अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर मद्रूप हो जाता है।

१२२० शैवल शैव मन्दिर। अवकाश आकाश।

१२२९-३० यदि कोई पूछे कि, "हे देव! [illegible] के वर्णन के अनन्तर फिर [illegible] का आग्रह क्यों करते हैं," तो उसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि गीता में ही यह सामर्थ्य है कि वह मोक्ष प्राप्ति के उचित उपाय का निर्देश कर सकता है अन्य शास्त्रों में अनुभव सिद्ध उपाय का वर्णन नहीं है।

१२३१ [illegible] "सारीर वायु [illegible] कोई [illegible] (प्रभाव) नहीं होता।

५५७ १२३४ इन शास्त्रों से आत्मानात्म के निर्णय के विषय में जब पूछा जाए तो वे गीता का ही आधार ग्रहण करते हैं।

१२४१ मानो यह व्यापार कहीं गीता को इन बहुल में सिद्धान्त का वर्णन करने वाला न मान लें।

१२४२ इसलिये श्रीकृष्ण एक महा सिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक सिद्धान्तों को अंगीभूत करके आरम्भित विषय को पूर्ण निश्चय के साथ समाप्त करते हैं।

१२४३ अविद्या का नाश ही इस ग्रन्थ की भूमिका है, मोक्ष सम्पादन ही इसका फल है और इन दोनों का साधन केवल ज्ञान है।

पृष्ठ ओवी

५४८ १५४० विनत्र प्रतिबन्ध ।

१५६४ इस प्रकार प्रकृति का नाश होने पर अनायास ही कारण सहित कर्मों का विनाश होकर कर्म-संन्यास प्राप्त हो जाएगा ।

५४९ १५७२ हे अर्जुन, मेरी कृपा से इसी प्रकार जब जीवांश नष्ट हो जाता है तो उसे संसार के होने का डर कैसे कष्ट पहुंचा सकता है ।

१५७६ यदि तुम मेरा उपदेश न सुनोगे तो तुम्हें इतनी दारुण, बिना मृत्यु की मृत्यु प्राप्त होगी ।

१५७८ पथ्यद्वेषी परहेज से द्वेष रखने वाला ।

५५० १५८४ वैराटी विराट् का पुत्र ।

५५१ १६११ ज्ञान'' पसार ज्ञानवृत्ति रूपी हजारों किरणों को साथ लेकर उदित हुआ है ।

१६२१ जो अर्थात् दृश्य जगत् रूपी सरोवर में विषय-कमल खिले हैं। इन कमलों का उपभोग पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन इस प्रकार छः पाँव वाले षट्पद जीवरूपी भ्रमर से (वह ईश्वर रूपी सूर्य) करवाता है ।

१६२४ ताकहू'' नरनृप हे अर्जुन, उस शरीर को, 'मैं'रूप समझता हुआ जीव उस पर आरूढ़ हो जाता है ।

१६२८ प्रतन्त्र परतन्त्र ।

१६३२ तारेन्द्र चन्द्रमा ।

५५२ १६३५ इसी प्रकार हे अर्जुन, मूल प्रकृति के वश से अनेक जीवों को जो व्यापार में प्रवृत्त करता है वह एक ईश्वर तुम्हारे हृदय में भी निवास करता है ।

१६४७ स्वहृदि अपने हृदय में ।

१६५४ ज्ञान म्हणिजे सार सुप्रसिद्ध वेदान्त में 'ज्ञान' नाम से जिसकी महिमा वर्णन की है

५५३ १६६४ बुद्धि इत्यादि के ज्ञान जिस ज्ञान के सामने हीनप्रभ हो जाते हैं। जिस ज्ञान के प्रकाश में वह व्यक्ति सर्वद्रष्टा मुझको देखने में समर्थ होता है ।

१६७६ मैं मतिमान पर, हे अर्जुन, तुम्हें पराया समझकर उस गुप्त को कैसे छिपा सकता हूं ?

पृष्ठ दोहा

१३३८ आन किति ' आन ' आन और क्या कहूँ ? आपको छोड़कर दूसरा मेरे अन्तःकरण को देखने वाला कौन है ?

४६४ १३५४ पन्हाय: पोसती है। बच्चों को दूध पिलाती है।

१३४६ चा मु'झि—मुझे चाह है।

अर्थ ६५ तुमन मोहि माहँ - मेरे में अनन्य प्रकार से मन को रखो। मुहि मुझे।

१३६५ जिमि कामिनी स्वरूप -जैसे कामी की दृष्टि अपनी प्रेमिका कामिनी पर पड़ती है।

*४६५ १३६४ पावहु शेष मुझीर—अन्त में, हे अर्जुन, मुझ में मिल जायगा।

१३६६ यदि तुम्हारी शपथ उठा कर कहूँ तो वह आत्मस्वरूप को स्पर्श करना ही होगा। परन्तु हे अर्जुन, प्रेम में लज्जा नहीं होती— मेरे इस वचन को प्रसन्न मन से स्वीकार करो।

१३७० वेद जानते हैं जो निर्मेद हैं, सत्य हैं अर्थात् जिनकी सत्ता से विश्वाभास होता है जिनकी आज्ञा की शक्ति के प्रताप से काल को हमी - में ही जीत लेते हैं।

१३७६ सूर्य कमलों के वन को अपनी एक किरण से ही प्रकाशित कर सकता है। परन्तु वह उदार-हृदय इन्हें अपना सम्पूर्ण प्रकाश दे देता है।

४६६ १३८२ कर्म समीवहि कर्म से आरम्भ करके।

१३८४ त्रिशुद्ध तीन बार निश्चयपूर्वक कहता हूँ।

१३८८ एकहि मोर लखाय एकमात्र मेरा ही दर्शन होता है। उपपत्ति-युक्ति।

१३९३ पांडु प्रभाव से पीलिये के रोग के कारण।

४६७ १३९८ अपनेको मुझसे भिन्न न समझते हुए मेरी एकता का जानना ही मेरी शरण में आना कहलाता है।

१४०१ समुद्र के भीतर शरण लेकर जैसे बाड़वाग्नि समुद्र के ही जल को जलाता है, हे अर्जुन, इस प्रकार द्वैत भाव वाला उदाहरण (मेरी शरण आकर मुझसे भिन्न रहने वाली बात) छोड़ दो।

१४०४ वच विपरीत निबंध = ऐसा वचन विपरीत और बन्धन-कारक है।

१४०५ अतः ऐसा करो जिससे तुम मेरा ही रूप बन सको और मेरी भक्ति सहज में हो सके। मुमुक्षुजन ज्ञान के द्वारा ही ऐसी भक्ति को प्राप्त किया करते हैं।

पृष्ठ दोहा

१४०६ हे अर्जुन, ध्यान से सुनो। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि काष्ठ को मथ कर निकाली हुई अग्नि फिर उसी तरह काष्ठ में वापिस रख दी जाय।

१४१८ सकंकरण कंजकर- कंकण सहित कमल रूपी हाथ।

४६८ १४२१ आपुन''' नाहि=इस प्रकार द्वैत का नाश न करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने जैसा बना लिया।

१४३० जो अपने स्वरूप से नष्ट न होते हुए भी किसी अन्य वस्तु के विस्तार को अपने में लीन रखता है वह संसार में उस वस्तु का बीज कहा जाता है।

१४३८ देहाभिमान रूपी बन्धन और निषिद्ध कर्मों को छोड़ कर निरभिमान हो विहित कर्मों को धारण करना चाहिये।

४६९ १४४० इस प्रकार इस गीता को एक कायत्रयरूपिणी छोटी सी श्रुति ही समझना चाहिये जो कि सुन्दर २ पद्यरूपी रत्नों के अलंकार धारण किये हुए है।

१४४५ जहहिं''' अभिप्राय -और जहां उन सब अर्थों के गूढ़ अभिप्राय का विचार किया गया है।

१४४७ वेद स्वयं श्री-सम्पन्न है परन्तु उनमें भी एक कमी है वह तीनों वर्णों को ज्ञान देता है परन्तु स्त्री और शूद्रों के लिये अत्यन्त कृपण है।

४७० १४७६ नहुष एक पुराण प्रसिद्ध राजा, जिन्हें अपने शुभ कर्मों से इन्द्र का पद मिला था, परन्तु पापाचरण में प्रवृत्त होने से वहां से पतन हो गया।

१४८२ यदि सम्प्रदाय के अतिरिक्त शास्त्रों के अनुष्ठान की चेष्टा करोगे तो क्या अमृत मन्थन- की कथा के समान कष्ट न उठाना पड़ेगा।

१४८३ सार गोष्ठ, गाय बांधने की जगह।

४७१ १४८८ जरठ''' नेय यज्ञ का शेष पुरोडाश जैसे वृद्ध कौवे को नहीं दिया जाता।

१४६७ तहू एक अवरेख--वहां भी एक कमी है।

१५०० सब गुण होने पर भी निन्दा को इसी प्रकार गुण-शून्य तथा व्यर्थ समझना चाहिये जैसे किसी अंधियारी रात में एक ऐसा दीपक जिसमें तेल और बत्ती तो है परन्तु है वह प्रकाशरहित।

४७२ १५१० एकाक्षरपन--ॐकार।

५४ [illegible]

१५१० भक्तों के पास मंगलमयी गीता माता का [illegible] से भेंट कराता है।

आर्या ५१ होनहार बिगरत नहीं [illegible] कोई न होगा।

१५१४ और जब यह (भक्त) देह रूपी उपाधि धारण करके [illegible] में रहता है तब भी मैं उसे अपने जीवन और प्राण से प्रिय समझता हूँ।

५७४ १५३५ हयमेध अश्वमेध नामक यज्ञ।

१५४० बिलारी बीज न आवत [illegible] बीज में ही बिलाय गई, [illegible] आई।

५७५ १५४६ अर्जुन अपने एक असाधारण आनन्द में डूबा हुआ था। भगवान के [illegible] प्रश्न से [illegible] बुद्धि (कृष्ण से एकत्व रूपी बुद्धि) को प्राप्त करके उत्तर देने के लिए सन्नद्ध हुआ।

१५४७ अर्जुन ने यदि आत्मा (ब्रह्म) के साथ एकता को प्राप्त कर लिया तो बातचीत [illegible] न हो सकेगी, इसलिये भगवान चतुराई से द्वैतभाव की [illegible]।

१५५१-५२ 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बात को [illegible] देखने लगा, फिर इस दृष्टि को भी [illegible] कर अपने शरीर को 'अर्जुन' मानने लगा। इस प्रकार अर्जुन (भगवत्कृपा से) ब्रह्म भाव का सर्वथा [illegible] कर [illegible] 'मैं अर्जुन हूँ' ऐसी प्रतीति सहित देह स्थिति पर आ पहुँचा।

१५५७ फिर अर्जुन, जो कि संकुचित सा खड़ा था, [illegible] अश्रुबिन्दुओं को तथा गद्गद् हुई वाणी के विभिन्न स्वर को यथावत ठीक करके (कहने लगा)।

५७६ १५६२ मैंने 'अर्जुनपन' के अभिमान के कारण इस मोह को प्राप्त किया था जो आप से एक रूप हो कर मुक्त हो गया। अब पूछना और उत्तर देना दोनों बातें ही नहीं रहीं।

१५६४ वाद - व्यर्थ है।

१५६८ मम तोय - मेरा तेरा।

१५७४ ओटहि - आड़ में।

१५७६ मोहि'' कुरुराज - मुझे सब विश्व का कर्ता कहते हैं परन्तु अब मुझसे एक कर्ता, अर्जुन रूपी और उत्पन्न हुआ है।

पृ ओवी

१५८१ रथ हाँकने वाले सारथी, या घोड़ों की परीक्षा मात्र जानने वाले मुझ (संजय) को यह अपार श्रीकृष्णार्जुन-संवाद ज्ञात हो गया।

५७७ १५८२ अपराध मान दोनों (कौरव-पाण्डव) पक्ष में से कोई भी हारे परन्तु हार तो अपनी ही होगी।

१५९१ खगकेतु कपिकेतु दोनों खगकेतु (गरुड़ध्वज) और कपिकेतु (अर्जुन)।

१५९८ श्रीकृष्ण में अर्जुन कृष्ण सहित निज को देखने लगा तथा श्रीकृष्ण अर्जुन में अर्जुन सहित निज को देखने लगे।

५७८ १६०३ ज्यों ज्यों उसके रोमांच खड़े होते त्यों त्यों शरीर सकुचता जाता था फिर स्तब्धता और स्वेद को जीत कर कम्प सारे शरीर को कँपाता था।

५७९ १६१४ जैसे हिमालय के सरोवर चन्द्रमा के उदय होने के साथ (जमकर) स्फटिक हो जाते हैं, और सूर्योदय होते ही द्रवित होकर फिर जल रूप हो जाते हैं।

१६२४–२६ किसी जंगल निवासी को किसी महल में रखा जाय तो जैसे उसे दशों दिशाएं सूनी प्रतीत होती हैं, अथवा निशाचर जैसे सूर्योदय में ही रात्रि होना समझते हैं इसी प्रकार जो जिस विषय के महत्त्व को नहीं जानता उसे वह भयकारक जान पड़ता है इसीलिये अनुभवहीन धृतराष्ट्र जैसा पुरुष इन बातों को अप्रासंगिक ही कहता है।

५८० १६२९ निधर्दिश ज्योंही।

१६३२ अंब- पार्वती।

१६४२ लाग ओज।

५८१ १६४७ या अतिरिक्त नाजान इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं जानता।

१६५४ जोन रहे अगर (फिर भी) अर्जुन को विजय न मिली तो विजयपन व्यर्थ हो जाएगा।

१६६० जैसे अग्नि तो बहुत विशाल और व्यापक होती है परन्तु उसे बत्ती के अग्रभाग पर रख कर सूर्याभाव से जनित अन्धकार को उसीसे दूर किया जाता है।

१६६१ जो पुरुष इस (यत्र योगेश्वरः आदि) एक ही श्लोक को भली भांति हृदयंगम कर लेगा वह अकेला इसी की सहायता से सम्पूर्ण अविद्या को अच्छी तरह जीत सकेगा।

टीका

१६६६ अथवा गीता मानों सप्तशती है मन्त्रों से पूजन करने योग्य जगदम्बा है, जो मोह रूपी महिषासुर को मार अतिशीघ्र ही आनन्दित हुई है।

१६६९ द्राक्षालता = अंगूर की बेल। सृष्टि मार्गश्रम हरण संसार रूपी रास्ते की थकावट दूर करने के लिये।

१६७२ ये श्लोक नहीं है किन्तु गीता अपने पति 'आत्मा' को आलिङ्गन देने के लिये प्रसन्न होकर इन श्लोकरूपी बाहुओं को फैला कर आई है।

१६७४ अथवा अर्जुनरूपी 'सिंहस्थ*' को आया देख कर सम्पूर्ण तीर्थ श्लोकों के रूप में गीता-रूपी गंगा की सन्निधि में आ गये हैं।

१६८८ चन्द्र मौलि धूम्रकेतु भगवान् शंकर।

१६९४ जैसे दाता के लिये कोई अदेय नहीं होता, चाहे कोई भी उसके पास मांगने चला जाय, वैसे ही चाहे जो कोई गीता को पढ़े, सुने या समझे उसे मुक्ति दौड़ कर आलिंगन करती है।

१६९९ त्रियादि बुधि स्त्री आदि की बुद्धि में।

१७०४ सांख्य संख्या करने के योग्य। शत सात -७००।

१७०८ ओवि मरहट्टी लेखि मराठी भाषा के ओवी नामक छन्द में लिखा है।

१७१० गीतारूपी ईश्वर अत्यन्त भोला है, वह व्यासोक्तिरूपी पुष्पों की माला धारण करता है लेकिन वह दयालु मेरे द्वारा अर्पित दूर्वादलों को भी कण्ठ में धारण कर लेता है।

१७२३-२८ तक के पद्यों में श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने गुरु श्री निवृत्तिनाथ जी के महत्व का व्याख्यान किया है।

१७२५ माधुर्यीं''सौन्दर्य जिसके कारण मधुरता को सौन्दर्य प्राप्त होता है।

---

* टिप्पणी—'सिंहस्थ', ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से वह योग है जब बृहस्पति सिंह राशि पर आते हैं और सूर्य चन्द्रादि के उनकी सन्निधि में आने पर 'कुम्भ योग' बन जाता है। प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक इन चार स्थानों पर जिसका मेला 'कुम्भ' नाम से प्रति १२ वर्ष बाद पड़ा करता है।

पृष्ठ ओवी

१७३१ श्री वसिष्ठ करावा वसिष्ठ का आश्रय पाकर उनके दुपट्टे ने भी सूर्य की बराबरी की थी।

५८५ १७४४ येरी ही यह प्रबन्ध कान में पड़ते ही समाधि सुख का अनुभव करा देता है फिर इसका व्याख्यान सुनने से क्या इसको बार बार सुनने की इच्छा न होगी।

१७४६ इस अध्यात्म-शास्त्र में अन्तःकरण से अधिकारियों का ही सुखी होगा परन्तु वाक् चातुर्य से साधारण लोक भी सुख प्राप्त करेंगे।

१७५२ क्षीर समुद्र की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में जो मत्स्येन्द्रनाथ छिपे हुए थे उन्होंने इसे प्राप्त किया।

१७५३ वे मत्स्येन्द्रनाथ सप्तश्रृंग पर्वत पर श्री चौरङ्गीनाथ से मिले जो कि बिना हाथ और पाँव के थे परन्तु मत्स्येन्द्र के देखते ही जिनके सब अंग पूर्ण हो गये।

५८६ १७५५ उसने उन्होंने मानों योगरूपी कमलों के सरोवर तथा विषयों का विनाश करने वाले एक ही वीर भगवान् गोरखनाथ का योगेश्वरी पद पर अभिषेक किया।

१७५८ बोधैश्वर्य-प्रबन्ध=ज्ञानरूपी ऐश्वर्य निधि।

१७६४ अन्यथा मैं भी अनजान हूं। मेरे जैसे पुरुष के मुख से यह ग्रन्थ-प्रवचन की योग्यता कैसे हो सकती है।

१७६६ पुरोहित गुणहिं=पुरोहित के समान।

१७७६ कुल गिरि चिन्तामणि बनत=(जिनकी कृपा से) सभी पर्वत चिन्तामणि बनाये जा सकते हैं।

५८७ १७८२ गीतारूपी निश्छल माता को भ्रमवश जो बालक भूल गया था उसे उस माता से मिला देना आप लोगों के धर्म के ही कारण सम्भव हुआ।

१७८७ क्योंकि वह (विश्वामित्र वाली) सृष्टि त्रिशंकु राजा के लिये और ब्रह्मा जी की न्यूनता दिखाने के लिये रची गई थी परन्तु मुनि ने इस सृष्टि को मरण-धर्मी ही बनाया, जब कि (नवसृष्टिरूप) यह गीता कथा नित्य और सुखप्रद है।

१७८८ विष गर्भाम्ल=उसके गर्भ में विष है।

पृष्ठ दोहा

१७९६-९७ चलते फिरते कल्पवृक्ष पूर्ण उपवन-स्वरूप सचेतन चिन्तामणियों के गाँव-सदृश अथवा अमृत के बोलते हुए सागर-समान, भगवद्भक्तों का समाज मंगल की वर्षा करता हुआ सद्भावों से युक्त होकर प्राणिमात्र को मिले।

५८८ १८०० विशेष कर जो पुरुष इस लोक में इस ग्रन्थ पर ही जीवन धारण करते हैं उन्हें अमरलोक का सुख प्राप्त हो और शोकरहित होकर सदा विजयी बनें।

१८०९ उत्तरोत्तर काल में सब प्राणिगण इस ग्रन्थ की पुण्य सम्पत्ति द्वारा सब सुखों से सम्पूर्ण हों।

१८१० द्वादश शत द्वादश शके-१२७२।



